GURUKUL SHODH BHARTI

No. 13 - 14 2010 Mar. Oct.

ओ३म्

ISSN 0974 - 8830

गुरुकुल-शोध-भारती

मूल्याङ्कित शोधपत्रिका

(A Refereed Research Journal)

अंक १३, मार्च २०१०



सम्पादक

प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष

श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-249404


कुलपिता, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय
स्वामी श्रद्धानन्द जी
१८५६-१९२६

ISSN 0974 – 8830

ओ३म्

गुरुकुल-शोध-भारती

मूल्याङ्कित शोधपत्रिका

(A Refereed Research Journal)

अंक १३, मार्च २०१०



सम्पादक
प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-२४९४०४

सम्पादक-मण्डल

मुख्यसंरक्षक	प्रो. स्वतन्त्र कुमार, कुलपति, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार. (उत्तराखण्ड)
संरक्षक	प्रो. वेद प्रकाश शास्त्री, आचार्य एवं उपकुलपति, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.
सम्पादक	प्रो. ज्ञान प्रकाश शास्त्री, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार. (उत्तराखण्ड) चलदूरभाषः-09219513135, gyanprakashshastri@gmail.com or gyanprakashshastri@live.com
परीक्षकत्वम्	प्रो. बलवीर आचार्य, प्रोफेसर संस्कृत-विभाग, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक (हरयाणा)
व्यवसाय-प्रबन्धक	डॉ. जगदीश विद्यालङ्कार, पुस्तकालयाध्यक्ष, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार. (उत्तराखण्ड)
वित्तनियन्त्रक	डॉ. देवराज खन्ना, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार. (उत्तराखण्ड)
प्रकाशक	प्रो. ए.के. चोपड़ा, कुलसचिव, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार. (उत्तराखण्ड)
एक प्रति का मूल्य	रु० ७५.०० पचहत्तर रुपये
वार्षिकमूल्य	रु०१५०.०० एक सौ पचास रुपये
पञ्च-वार्षिकमूल्य	रु०५००.०० पाँच सौ रुपये (ग्राहक बनने हेतु पुस्तकालयाध्यक्ष, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, से सम्पर्क अथवा **कुलसचिव, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार**, के नाम धनादेश प्रेषित करें।) दूरभाषः-01334-243037
प्रकाशनीय शोधलेख	शोधलेख विषयक दिशानिर्देश अन्तिम से पूर्व पृष्ठ में दिये गये हैं।

परामर्शदात्री समिति

१. प्रो. मनुदेव बन्धु, अध्यक्ष वेद-विभाग एवं अध्यक्ष प्राच्यविद्या संकाय, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार. (उत्तराखण्ड)

२. प्रो. ज्ञानचन्द्र शास्त्री, अध्यक्ष मानविकी संकाय, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार. (उत्तराखण्ड)

३. प्रो. ईश्वर भारद्वाज, अध्यक्ष योग-विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार. (उत्तराखण्ड)

४. प्रो. यू. एस. विष्ट, अध्यक्ष दर्शनशास्त्र-विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार. (उत्तराखण्ड)

विषय-सूची

ऐकपदिक पदों की निर्वचनशैली

प्रो. ज्ञान प्रकाश शास्त्री[१]

आचार्य दुर्ग के अनुसार नैगम-काण्ड के ऐकपदिक नामकरण करने में दो हेतु हैं:-प्रथम-अन्य प्राचीन आचार्य नैगम-काण्ड को ऐकपदिक नाम से अभिहित करते हैं। द्वितीय-पूर्व प्रकरण में एक अर्थ के वाचक अनेक शब्दों का पाठ किया गया था, परन्तु प्रस्तुत प्रकरण में अनेक अर्थों के वाचक एक शब्द का प्रतिपद पाठ किया गया है।[२] इससे पूर्व वाले नैघण्टुक प्रकरण में भी गौ, काश, निर्ऋति इत्यादि शब्दों के अनेक अर्थों का प्रतिपादन आचार्य ने किया है, परन्तु वहाँ उन शब्दों के अनेक अर्थ बताना गौण विषय है। नैघण्टुक शब्दों का सङ्कलन अनेकार्थक होने के कारण नहीं, प्रत्युत अमुक अर्थ के वाचक कितने शब्द हैं, इस आधार पर किया गया है।

प्रस्तुत प्रकरण की अपेक्षा नैघण्टुक प्रकरण को गौण माना जाता है और इसी आधार पर उस प्रकरण का नाम नैघण्टुक प्रकरण रक्खा गया है। नैघण्टुक प्रकरण के गौण होने का कारण यह है कि उसके शब्द सङ्ख्या की दृष्टि से अधिक होते हुए भी अर्थ प्रतीति की दृष्टि से उतने दुरूह नहीं हैं, जितने ऐकपदिक प्रकरण के। इसका कारण यह है कि वे प्राय: किसी एक अर्थ में प्रसिद्ध हैं। जबकि ऐकपदिक प्रकरण के शब्द अनेकार्थक हैं और इस कारण यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि कौन-सा अर्थ यहाँ अभिप्रेत है, इस प्रकार के शब्दों के अर्थ की प्रतीति कराना ही निरुक्त का लक्ष्य है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत प्रकरण में वे शब्द भी आते हैं, जो अनेकार्थक होने के साथ-साथ स्वर-संस्कार की दृष्टि से अनवगत हैं या अनेकार्थक न होते हुए भी अनवगत स्वर-संस्कारवान् हैं। इसलिये निष्कर्ष रूप में यह माना जा सकता है कि निरुक्त का वास्तविक प्रारम्भ यहीं से होता है। किसी भी दृष्टि से अनवगत शब्द के स्वरूप को अवगत बनाना ही निरुक्त का कार्य है और वह यहीं से प्रारम्भ होता है।

इस प्रकार प्रस्तुत प्रकरण में दो प्रकार के शब्द व्याख्या के लिये ग्रहण किये गये हैं, प्रथम-वे जो अनेकार्थक हैं, द्वितीय-वे जो अनवगत स्वर-संस्कारवान् हैं।[३] जहाँ इन दोनों प्रकार के शब्दों की व्याख्या होती है, उस प्रकरण का नाम ऐकपदिक है।

शब्द के अनवगत होने के कारण

शब्द का अर्थ किन-किन कारणों से मिथ्या ग्रहण होता है, इस विषय को स्पष्ट करने के लिये आचार्य दुर्ग बृहद्देवता के निम्न श्लोक को उद्धृत करते हैं:-

'शब्दरूपं पदार्थश्च व्युत्पत्तिप्रकृतिर्गुण:।
सर्वमेतदनेकार्थं दशानवगमे गुणा:।'[४]

दुर्ग के अनुसार अनवगत होने के निम्न दश कारण हैं:-१.पदजाति, २, अभिधेय, ३.स्वर, ४.संस्कार, ५.गुण, ६.विभाग, ७.क्रम, ८.विक्षेप, ९.अध्याहार, १०.व्यवधान।[५] परन्तु ये कारण उपर्युक्त बृहद्देवता के वचन से

---

१ अध्यक्ष श्रद्धानन्द वैदिक शोधसंस्थान, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
२ दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०,२९३.
३ दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०,२९३.
४ बृह०,२.१०८. दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०,३०१.

स्पष्ट नहीं होते हैं। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त श्लोक में अनवगत होने का सर्वप्रमुख कारण 'शब्दरूप' बताया गया है, दुर्ग ने अनवगत होने के कारणों में उसका परिगणन नहीं किया है।

१.पदजाति-नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात-इनमें से पद किस जाति का है, यह अनिश्चय भी पद के अनवगत होने में एक महत्त्वपूर्ण कारण है, जैसे-'त्व' यह निपात है या नाम।

२.अभिधेय-अनवगत होने का सर्वप्रमुख कारण पद के अर्थ का ज्ञात न होना है, जैसे-'शिताम' यहाँ अर्थ (भुजा, योनि यकृत तथा मेद इत्यादि) के अनवगत होने के कारण भिन्न-भिन्न अर्थ के आधार पर 'शिताम' पद को भिन्न-भिन्न प्रकार से व्युत्पन्न किया गया है। इसलिये अभिधेय भी शब्द के अनवगत होने का प्रमुख कारण है।

३.स्वर-पद का स्वर अनवगत रहने से भी पदार्थ अनवगत रहता है, जैसे-'वने न वायो'[6] यहाँ मन्त्रगत 'वाय:' पद को आचार्य शाकल्य एक पद नहीं मानते, उनके अनुसार 'वा' तथा 'य:' ये दो पृथक्-पृथक् पद हैं, किन्तु यह उचित नहीं है, ऐसा विग्रह करने से प्रथम तो मन्त्र का अर्थ अपूर्ण रह जाता है तथा दूसरा 'न्यधायि' आख्यात पद उदात्त हो जाएगा।[7] इस प्रकार पद-स्वर के कारण भी पद अनवगत हो जाता है।

४.संस्कार-प्रकृति-प्रत्यय आदि का स्पष्ट न होना भी पद के अनवगत होने का एक कारण है, जैसे-'ईर्मान्तास:' इस पद के प्रकृति-प्रत्यय के स्पष्ट न होने के कारण दो अर्थ ग्रहण किये जा सकते हैं, प्रथम-'ईरयन्तीति ईर्मा: विस्तृत:, ईर्मा: समीरिता: अन्ता: येषां ते ईर्मान्तास:=सुनिर्मित लम्बे अन्तभाग वाले। द्वितीय-'ईर्म: ईरित: पुरोभागे उन्नत: अन्तो जघनो येषाम्=कि जिनके जघनों का अन्तिम भाग स्थूल है।[8] इसलिये संस्कार की अस्पष्टता भी अर्थ अनवगत होने का कारण है।

५.गुण-गुण अर्थात् विशेषण के कारण भी अर्थ अनवगत हो जाता है, जैसे-'करूउती'। भग पद के समीप पठित होने से 'करूउती' को सामान्यतया 'भग' पद का विशेषण माना जाना चाहिये, पर पूषा विना दाँत का होता है और 'करूउती' का अर्थ भी यही है, इसलिये उसे पूषा का विशेषण माना जाता है। अत:, विशेषण के अवगत न होने के कारण भी अर्थ अन्वित नहीं हो पाता है।

६.विभाग-पद-विभाग के अवगत न होने पर भी अर्थ अनवगत हो जाता है, जैसे-'मेहना'। यह पद 'महि' वृद्धौ'[9] धातु से 'मंहितुं वर्द्धितुं योग्यमिति मेहना' इस प्रकार व्युत्पन्न किया जा सकता है। द्वितीय-'म+इह+ना'=यन्म इह नास्तीति वा'[10] इस प्रकार से भी निष्पन्न कर सकते हैं। ये दो प्रकार के अर्थ पद-विभाग के अवगत न होने के कारण हैं।

७.क्रम-जहाँ वाक्यार्थ किसी अन्य क्रम की आकाङ्क्षा से युक्त है तथा वाक्य का पदक्रम किसी अन्य क्रम में है, जैसे-'उपरमध्वं मे वचसे सोम्याय'[11] मन्त्र में यह पदक्रम है, जबकि पदक्रम निम्न होना चाहिये-'मे सोम्याय वचसे उपरमध्वम्।' इस प्रकार पदक्रम के भङ्ग हो जाने से अर्थ अनवगत रह जाता है।

---

५ दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०,३०१-३०२.

६ ऋ०,१०.२९.१. दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०,३०२.

७ निरु०,६.२८.

८ निरु०,४.१३.

९ धातु०,१.६२३.

१० द्रष्टव्य, निरु०,४.४.

११ ऋ०,३.३३.५.

८.विक्षेप-क्वचित् समस्त रूप से प्रयुक्त होने वाले पद को विगृहीत करके दूर-दूर विक्षेप कर देते हैं, जैसे-'द्यावा नः पृथिवी इमं सिन्धुमद्य'[१२] इस मन्त्र में सामान्यतया समस्त रूप में पढ़े जाने वाले द्यावा, पृथिवी पदों का पृथक्-पृथक् पाठ किया गया है। इस कारण भी अर्थ अनवगत रह जाता है।

९.अध्याहार-क्वचित् अध्याहार करके अर्थ को अवगत करना पड़ता है, जैसे-'दनो विश इन्द्र'[१३] इस मन्त्र के प्रसङ्ग में आचार्य यास्क ने दकार के आधार पर 'दानमनसः' पद का अध्याहार किया है।[१४] इस प्रकार क्वचित् विना अध्याहार किए भी अर्थ अनवगत रहता है।

१०.व्यवधान-कभी-कभी अर्थ की दृष्टि से समीपस्थ पद को व्यवधान देकर रखा जाता है, जैसे-'वायु पूषा स्वस्तये नियुत्वान्'[१५] यहाँ 'वायु' के साथ 'नियुत्वान्' पद का सम्बन्ध है, परन्तु 'पूषा' और 'स्वस्तये' इन दो पदों के मध्य में डालकर तब 'नियुत्वान्' शब्द को रखा गया है।[१६] इस कारण भी अर्थ अनवगत हो जाता है।

आचार्य दुर्ग कहते हैं कि पद के अर्थ के अवगत करने के लिये निम्न युक्तियाँ और काम में लायी जाती हैं, जैसे-'वयः प्रपतान् पुरुषादः'[१७] मन्त्र में आये 'पुरुषादः' एक प्रतीत होने वाले पद को, आचार्य दो पद मानकर विग्रह करते हैं, १.पुरुषान्, २.अदनाय।[१८]

२.कहीं दो पदों को मिलाकर एक पद कर लेते हैं, जैसे-'चकारगर्भं सनितुर्निधानम्'[१९] इस मन्त्र में आये 'गर्भम्' और 'निधानम्' पदों को मिलाकर 'गर्भनिधानम्' एक पद कर लेते हैं।

३.कहीं आख्यात पद को भी नामपद मानकर अर्थ करते हैं, जैसे-'विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत'[२०] इस मन्त्र में आये 'भक्षत' पद का आचार्य ने 'विभक्ष्यमाणः' नामपद रूप अर्थ किया है।[२१]

आगे आचार्य दुर्ग कहते हैं कि पूर्वोक्त १० प्रकार से अर्थ अनवगत होने पर अभिधेय को ध्यान में रखकर निर्वचन करना चाहिये॥[२२] परन्तु दुर्ग ने यहाँ स्पष्ट नहीं किया है कि जहाँ अर्थ अनवगत हो, वहाँ किस विधि से अर्थ की प्रतीति होगी? वैसे दुर्ग इस समस्या का समाधान पीछे दे आये हैं। उनके अनुसार अनवगत अर्थ को अवगत करने के लिये निम्न उपाय अपनाये जाने चाहिये-१.प्रकरण, २.पूर्वोत्तरपदाविरोध, ३.शब्दसारूप्य।[२३]

१.प्रकरण-अनवगत अर्थ को अवगत करने के लिये सर्वप्रथम प्रकरण को देखना चाहिये और जब प्रकरण का निश्चय हो जाये, तब-

---

१२ ऋ०,२.४१.२०.
१३ ऋ०,१.१७४.२.
१४ निरु०,६.३१. दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०,५९९.
१५ ऋ०,७.३९.२.
१६ निरु०,५.२८. दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०,४८७.
१७ ऋ०,१०.२७.२२.
१८ निरु०,२.६. दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०,३०३.
१९ ऋ०,३.३१.२.
२० ऋ०,८.९९.३.
२१ निरु०,६.८. दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०,३०३.
२२ दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०,३०१.
२३ दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०,२९६.

२.पूर्वोत्तरपद अविरोध-उस अनवगत अर्थ वाले पद के लिये इस प्रकार के अर्थ की कल्पना करनी चाहिये कि जो प्रकरण के पूर्व तथा उत्तरपदों को देखते हुए असङ्गत प्रतीत न हो।

३.शब्दसारूप्य-प्रकरण तथा पूर्वोत्तरपद अविरोध के साथ-साथ इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि जिस अर्थ की कल्पना उस अनवगत अर्थ वाले पद के लिये की जा रही है, उस अर्थ के वाचक शब्द (ध्वनिरूप) का भी अपने अर्थ के साथ अवश्य सामञ्जस्य होना चाहिये।

४.आकाङ्क्षित अर्थ-उपर्युक्त उपायों के अतिरिक्त अनवगत पदों की समस्या का समाधान करने के लिये आचार्य दुर्ग ने एक और महत्त्वपूर्ण युक्ति प्रस्तुत की है, वह यह है कि संस्कार की दृष्टि से अनवगत तथा अर्थ की दृष्टि से गौण पदों में उनकी सामर्थ्य के अनुसार आकाङ्क्षित अर्थ का अवस्थापन करना चाहिये।[२४]

अर्थ को अवगत कराने के लिये उपर्युक्त दुर्गकृत प्रतिपादित उपायों पर आचार्य यास्क के निम्न वचनों का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है:-१.अर्थनित्यः परीक्षेत।[२५] २.नैकपदानि निर्ब्रूयात्।[२६] शब्द सारूप्य तथा आकाङ्क्षित अर्थ- ये दो उपाय आचार्य दुर्ग के चिन्तन का परिणाम हैं। अप्रत्यक्ष रूप से शब्द-सारूप्य का आधार यास्क का निर्वचन-सिद्धान्त है तथा आकाङ्क्षित अर्थ का आधार सम्भवतः, काव्यशास्त्र है।

निर्वचन करने के उपाय

उपर्युक्त पङ्क्तियों में शब्द अनवगत होने के दुर्ग ने १० कारण प्रतिपादित किये हैं, उनका समाधान आचार्य दुर्ग ने यह कहकर किया है कि अभिधेय को ध्यान में रखकर निर्वचन करना चाहिये। उसी क्रम में आचार्य दुर्ग कहते हैं:-

धातूपसर्गावयवगुणसत्त्वं द्विधातुजम्।
बह्वेकधातुजं वापि पदं निर्वाच्यलक्षणम्॥
धातुजं धातुजाज्ञातं समर्थार्थजमेव वा।
वाक्यं व्यतिकीर्णं च निर्वाच्यं पञ्चधा पदम्॥'[२७]

१:धातु-उपसर्ग-अवयवगुणसत्त्व, २.द्विधातुज, ३.बहुधातुज ४.एक धातुज, ५.केवल धातुजरूप (आख्यात में उस धातु का प्रयोग न होना), ६.धातुज से उत्पन्न अर्थात् तद्धित प्रत्ययान्त, ७.समर्थार्थज, ८.वाक्यज, ९.व्यतिकीर्ण।

इस प्रकार आचार्य दुर्ग ने बृहद्देवता की उपर्युक्त कारिकाओं के माध्यम से यह प्रतिपादित किया है कि अनवगत शब्द को अवगत बनाने के लिये उपर्युक्त नव उपाय आवश्यकतानुसार अपनाये जा सकते हैं। **'विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति'**[२८] के प्रसङ्ग में आचार्य यास्क ने जिन शब्द प्रवृत्तियों का विवेचन किया है, उन्हीं को यहाँ आचार्य दुर्ग ने पुनः आचार्य शौनक के मुख से प्रस्तुत कराया है।

---

२४ दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०,२९८.

२५ निरु०,२.१.

२६ निरु०,२.३.

२७ शौनक, बृहद्दे०२.१०३-४. दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०,३०१.

२८ निरु०,२.१.

ऐकपदिक शब्दों की व्याख्याशैली

ऐकपदिक प्रकरण की व्याख्या-शैली का स्वरूप दुर्ग निम्न श्लोक के द्वारा स्पष्ट करते हैं-

'तत्त्वं पर्यायशब्देन व्युत्पत्तिश्च द्वयोरपि।
निगमो निर्णयश्चेति व्याख्येयं नैगमे पदे।'[२९]

१.**तत्त्वं पर्यायशब्देन**-पर्यायवाची शब्द के द्वारा तत्त्व (वास्तविक अर्थ) की प्रतीति कराना, जैसे-'निधा' पद का अर्थ 'पाश्या' होता है।

२.**व्युत्पत्तिश्च द्वयोरपि**-दोनों शब्दों की व्युत्पत्ति, जैसे-'निधा' यन्निधीयते। पाश्या पाश- समूहः' और इसके पश्चात् पदार्थ की व्युत्पत्ति बतलाते हैं:-पाशः पाशयतेर्विपाशनात्।'[३०]

३.**निगमः**-अमुक मन्त्र में अमुक अर्थ का वाचक अमुक शब्द प्रयुक्त होता है, जैसे-'**वयः सुपर्णा.........निध्येवबद्धान्**'[३१] इस मन्त्र में 'निधा' पद 'पाश' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

४.**निर्णयः**-अन्त में निर्णय करना है कि अमुक शब्द का वस्तुतः अमुक अर्थ है, जैसे-निर्णय करना 'पाश्या' ही 'निधा' है।

आगे आचार्य दुर्ग कहते हैं कि इस प्रकरण में एक शब्द के अनेक अर्थ प्रतिपादित किये जायेंगे और वे अनेक अर्थ भी अनेक शब्दों के द्वारा वाच्य हो सकते हैं। इस प्रकार एक-दूसरे के विशेषण और विशेष्य होते हुए इनकी ऐकपदिक प्रकरण में व्याख्या की जायेगी।[३२]

यह व्याख्या भी दो प्रकार की है-एक में पर्यायवाची शब्द के द्वारा अर्थ का प्रतिपादन तथा दूसरे में शब्द की व्युत्पत्ति प्रदर्शित की जाती है। इस प्रकार एक व्याख्या अर्थ का परिज्ञान कराती है और दूसरी शब्द का। इन दोनों व्याख्याओं को यथासम्भव एक ही मन्त्र में निर्दिष्ट करने का प्रयास किया जायेगा।[३३]

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि आचार्य दुर्ग की निर्वचन शैली का स्वरूप यह है कि अनवगत पद में उस अर्थ की कल्पना करनी चाहिये कि जिस अर्थ को ग्रहण करने से पद समर्थ हो जाये तथा वाक्य के पदों के मध्य आकाङ्क्षा शेष न रह जाये।[३४]

---

२९ दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०,२९२.
३० निरु०,४.२. दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०,२९६.
३१ ऋ०,१०.७३.११. निरु०,४.३.
३२ दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०,२९२.
३३ दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०,२९३.
३४ दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०,२९८.

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०१० अङ्क १३ (पृ०६-११)

वेदेषु मनस्तत्त्वमीमांसा

प्रो० वेद प्रकाशः शास्त्री[१]

चेतनाबद्ध निखिलं जगद् विद्यते। चेतनामेवाधारीकृत्य सर्वंज्ञानं विज्ञानं च शब्दब्रह्मणा प्रकाश्यते। परमात्मना मानवाभ्युदयार्थं यदपेक्षितं ज्ञानं तदेव वेदमाध्यमेन प्रदत्तम्। अत एवोच्यते-

अनादि निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥

मानव बुद्धि विनिर्मिते शास्त्रनिकरे मनोजगत बहुधा व्याख्यातं विद्यते। परं येनापि मतिमता मनीषिणा मनस्तत्व विचिन्तने या प्रतिभा प्रकटिता तन्मूले वेदविद्यैव विभासते। वेदेषु मनस्तत्वं यदाख्यातं तदेवाविकलतया सर्वाङ्गत्वेन विकलतयैकाङ्गत्वेन च मनस्तत्वविवेचन संपृक्तधिया धीमता समुदीरितम् अद्यत्वे वैज्ञानिके युगे मनोविज्ञानविद्भिर्मनोविषये यद्यद् महदूहनं क्रियते तत्सर्वं बीजत्वेन वेदे प्रविद्यते। मनोविज्ञान वेत्तारः सम्प्रति स्नायुमण्डलं, संवेदनां, प्रत्यक्षीकरणं, ध्यानं, शिक्षणं, स्मरणं, विस्मरणं, कल्पनां, चिन्तनं, अनुभूतिं, संवेगं, प्रेरणां, चेतनां, स्वप्नं, बुद्धिं योग्यतां, व्यक्तित्वं वंशानुक्रमतां सफलतां विफलताञ्च मनोविज्ञान विद्यया ध्यायन्ति। एतत् सर्वं चिन्तनं वेदेषु पदेपदे मन्त्रेषु विलोक्यते। अथर्ववेदस्यैकस्मिन् मन्त्रे यज्ञवेदिमधिश्रितेन यज्ञकर्त्रा यजमानेन निगद्यते यद् यज्ञाग्नौ हव्यंप्रयच्छता मया मनसा मनन शक्तिरवाप्यते, प्रेरणात्मकगुणोऽनुगृह्यते, चेतसा चेतनानुचीयते, धिया अवधानत्वमवाप्यते आकूत्या संकल्पः संकलप्यते, संवेगोऽभिवर्ध्यते, चित्तेन चिन्त्यते विचिन्त्यते स्मर्यते विस्मर्यते, मत्या बुद्धि व्यापारो वितन्यते ज्ञानशक्तिरुपचीयते, श्रुतेन श्रवणाध्ययनमभिवर्ध्यते चक्षसा परिवर्धनपुरःसरं प्रत्यक्षीकरणमनुभूयते। मन्त्रेऽस्मिन् मनसो विविधाः शक्तयः बहवश्च गुणा अष्टधात्वेन समाख्याता यार्थाथ्यविधिना- यथा

मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चिन्तये।
मत्यै श्रुताय चक्षसे विधेम हविषा वयम्॥[२]

संकल्पशक्तिस्रोतोमनः-

मनुष्या मनसः प्रोद्भूतेन संकल्पजेन बलेन बलवत्तां प्रकटयन्तः शुभे वा अशुभे वा कर्मणि भवन्ति प्रवृत्ताः। सत्संकल्पेन सत्कर्मनिपुणा असत्संकल्पेन चासत्कर्म निपुणा भूत्वा सुखं वा दुःखं वा जनयन्ति। शिवसंकल्पी देवानपेत्य दिव्यतां प्रसारयन् प्रसरति पुरस्तान्निर्वाधं, अशिवसंकल्पी रक्षांसि व्युपेत्य, अदिव्यतां प्रसारयन् प्रसरति पुरस्ताद् सबहुबाधमनुदिनम्। वेदे सत्संकल्पनाय मनुष्या दिव्यया वाचा निर्दिष्टाःयथा-

मनसा संकल्पयति तद् देवाँ अपि गच्छति।
अथोह ब्रह्माणो वशाम् उप प्रयन्ति याचितुम्॥[३]
मनसः काममाकूतिं वाचः सत्यमशीय।
पशूनाँ रूपमन्नस्य रसो यशः श्रीः श्रयतां मयि स्वाहा॥[४]

---

१ आचार्य उपकुलपतिश्च गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालयः, हरिद्वारम्
२ अथर्व ६/४१/१
३ अथर्व १२,४,३१

वेदेमनो विद्यतेऽनश्वरम्-

अनश्वरं दिव्यं रुपम् अतित्वरया गत्या प्राप्तुं देवा यथा देवान् हविषा प्रीणयन्ति तथैव प्रसन्नेन मनसा मनुष्या मनुष्यान् सार्थयन्ति। वयं सर्वे मनुष्या मनसः शक्त्या शक्तिमन्तो भवेम। यथा मनो नास्ति परिमितम् तथैव संसाध्यमनः संसारे वयमप्यपरिमिता स्याम। यत् शक्त्या द्युलोक द्युतिं वेत्ति जनो यत् शक्त्या व्योम विलोकयति यत् शक्त्या पृथिवीप्रथितां पश्यति। येन मनोबलेन पुरुषो दूरस्थोऽप्यदूरस्थ इव अदूरस्थोऽपि दूरस्थ इव भवति तन्मनोबलं दिव्यमेव। सर्वादिव्यशक्तयो मनसि संस्थिताः।

यथा देवा देवान् हविषायजन्त अमर्त्यान् मनसाऽमर्त्येन।
मदेम तत्र परमे व्योमन् पश्येम तदुदितौ सूर्यस्य॥[५]
अवः परेण पितरं यो अस्यवेद अवः परेण पर एनावरेण।
कवीयमानः क इह प्रवोचद् देवं मनः कुतो अधि प्रजातम्॥

वेद मन्त्र पठनानन्तरं विज्ञायते यत् सर्वासां शक्तीनां स्रोतो नु मन एव/मनस्विनो मनसि महान् वेगो भवति अत एव महद्भिर्वेदविद्भिर्मनसो वेगवत्ता वायोरपि वरीयसीति कथितम्। मनसा वायुना सप्तविंशति गन्धर्वैश्च मनुष्यरुपापन्नमश्वमाश्रित्य जवत्वमाहितम्-यथा-

वातो वा मनो वा गन्धर्वाः सप्तविंशातिः
ते अग्ने अश्वमयुञ्जन् ते अस्मिन् जवमादधुः।[६]
न वै वातात् किञ्चन आशीयोऽस्ति न मनसः किञ्चन आशीयोऽस्ति तस्मादाह वातो वा मनो वेति॥[७]

लोके मनसो गतिरतितीव्रा भवति, विचारैः सह मनो वा मनसा सह विचारा वा दूराद्दूरं प्रयान्ति। केनापि यन्त्रेणाश्वस्य वायोर्वागतिरनुमाप्यते परं मनसो गतिरननुमेयाननुमाप्या च कस्यचिदन्यस्य गतिरेकस्यांदिशि प्रभवति परं मनसो गति विश्वव्यापिनी भवति क्षणांशेनापि का लेन। यथा

यथा मनो मनस्केतैः परापतत्याशुमत्।
एवा त्वं कासे प्रपत मनसोऽनुप्रवाच्यम्॥[८]
यत् ते दिवं पृथिवी मनो जगाम दूरकम्।
तत् त आवर्तयामसि इह क्षयाय जीवसे॥[९]
यत् ते विश्वमिदं जगत् मनो जगाम दूरकम्।
तत् आवर्तयामासि इह क्षयाय जीवसे॥[१०]
आ ते मह इन्द्रोऽत्युग्र समन्यवो यत् समरन्त सेनाः।
पताति दिद्युन् नर्यस्य बाह्वोर्मा ते मनो विश्वद्रयग् विचारीत्॥[११]

---

४ यजु० २९/४
५ अथर्व ७/५/३
६ मनु९-७
७ शत-५/१/४/८
८ अथर्व ६/१०५/१
९ ऋक् १०/५८/२
१० ऋक् १०/५८/१०
११ ऋग् ७/२५/१

सत्त्वगुणशालिभिर्मनीषिभि स्तपश्चर्या शमित किल्विषैः सूक्ष्मतया मनसि वर्तमाना ज्ञान सत्ता संदृष्टा। ब्रह्मणःसत्तां मनस्यनुभूय तत्त्वविदा तपस्विना "मनो वै ब्रह्म इति निगद्य" "मनो ब्रह्मा इत्युदीर्य" "मनो वैप्रजापतिः" "मन एव सर्वम्" "अनन्तं वै मनः" "मनो देवः" "मनो वै समुद्रः" इत्यादीनि पीयूषवर्षीणि वाक्यानि प्रथितानि। शतपथ ब्राह्मणे मनसोऽग्निरुपमालोक्य मनो वै अग्निः" इति निगद्य अग्निसत्तया सह मनो वर्णनं कृतम्। यथा अग्निः सर्वत्र गच्छति सर्वं जीवयति सर्वेषु प्राणं सञ्चारयति तथैव मनुष्योऽपि मनसा आत्मसत्तां प्रसारयति दुर्भावं मनोबलेन नाशयति, ऋतस्य सूक्ष्मतां मनसः सूक्ष्मशक्त्या पश्यति। विश्व धारका ये शाश्वतिका ऋतस्य तन्तवः सन्ति तान् ऋतस्य तन्तून् मनसा मिमाति मनुष्यः। साधकः साधनां संसाध्य मनसिवर्तमानया चिन्तन शक्त्या भूतकाले यज्ञातं तत्सर्वं पश्यति वर्तमाने काले यज्ञायते तदपि जानाति यद् अद्य ना अपितु श्वो भविष्यति तत्सर्वं ज्ञातुं प्रभवति। मनसः सूक्ष्मतत्त्वज्ञातृतायां त्रिकालज्ञतायां मन्त्रद्वयी प्रस्तूयते। यथा-

अष्टधा युक्तो वहति वह्निरुग्रः पिता देवानां जनिता मतीनाम्।
ऋतस्य तन्तुं मनसा मिमानः सर्वा दिशः पवते मातरिश्वा॥ [१२]
यत् ते भूतं च भव्यं च मनो जगाम दूरकम्।
तत् त आ वर्तयामसि इह क्षयाय जीवसे॥ [१३]

मनसि निर्देशान शक्तिः-

कदाचित् पुरुषाणां मनसि संकल्पा विकल्पाः प्रादुर्भवन्ति। कर्त्तव्याकर्त्तव्य विषये पुरुषो न भवति निश्चलः अतस्तस्य हृदयं दुःखावेष्टितं भवति तदा मनुष्य हृदयं ऋतस्य जिज्ञासायां मनः कथयति यन्मे मित्राणि सन्ति दुःखितानि कुर्वन्ति च विलपनम्। हर्षशोक चिन्ता क्षोभादि विषये यदा निर्देशनावश्यकता भवति तदा मन एव भवति निर्देशकः। हृदयगतं दुखं द्रोहं शत्रुतां विपन्नतां क्षीणतां दीनतां मन एव सुखेन प्रेम्णा मैत्र्या-सम्पन्नतया-पूर्णतया साहसतया च यथासंख्येन परिणमयति। यस्मिन् काले पुरुष आत्मानं नाशयितु मिच्छति तस्मिन्नेव काले मनसः शक्तिमवाप्य जीवितुमिच्छति। कदापि चिन्तयति यन्नष्टोऽहंजातः कदापि चिन्तयति हृष्टोऽहं पुष्टोऽहं पूर्णोऽहमस्मिजातः।

आ यन्मा वेना अरुहन्नृतस्यँ, एकमासीनं हर्यतस्य पृष्ठे।
मनश्चिन्मे हृद आ प्रत्यवोचद् अचिक्रन्दन शिशुमन्तः सखायः॥ [१४]

ऋग्वेदस्यैकस्मिन् मन्त्रे दृश्यते यत् मन एव अक्षय्यं ज्ञानं बिभर्ति। परमात्मना ज्ञानमयेन तपसा मनसा वेदत्रयी घृता। शरीरेवर्तमानः प्राणवायुरेव मनसा अभि हतेनाग्निना प्रेरितो भूत्वा भवति स्वरोत्पादकः। तेजस्विनीं ज्योतिष्मती वाचं मनसि संस्थाप्य तपोबलेन तामुदीर्य जगत्कल्याणाय प्रवर्त्तन्ते महामनीषिणाः। यथा-

पतङ्गो वाचं मनसा बिभर्ति तां गन्धर्वोऽवदद् गर्भेऽन्तः।
तां द्योतमानां स्वर्यं मनीषिणाम् ऋतस्य पदे कवयो नि पान्ति॥ [१५]

यत्र ऋग्वेदस्य यजुर्वेदस्य सामवेदस्याथर्वस्य च प्रत्यक्षपदवाच्याः परोक्षपदवाच्या आध्यात्मिक पदवाच्याश्च मन्त्रास्तिष्ठन्ति। सर्वाणि तपांसि विततानि रथनाभौ यथा अरा आश्लिष्टास्तथैव मनसा भवन्ति समाश्लिष्टा

---

१२ अथर्व १३/३/१९
१३ ऋक् १०/५८/१२
१४ ऋग् ८/१००/५
१५ ऋग् १०/१७७/२

सर्वे वेदाः। सर्वासां प्रजानां चित्तं यत्र सर्वथोतं प्रोतं भवति तदैव मन इति निगद्यते। मनस एव शिवां संकल्पशक्तिं प्रेरयितुं साधकस्तपस्वी प्रार्थयते सर्वज्ञं परमात्मानम्।

यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

जाग्रतः पुरुषस्य यथा मनो सुदूरमपि समीपमपि स्वगतिं करोति तथैव सुप्तस्यापि पाश्ववर्ति दूरवर्ति च भवति। एतन्मनः सर्वेषां ज्योतिषां ज्योतिर्विद्यते एतद् विना नहि किमपि विचारयितुं कर्तुं विकर्तुम् अपकर्तुं प्रभवति यथा-

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु॥ [१६]

येन मनसा श्रद्धया कर्मवीराः सात्विकवृत्या यज्ञं वितन्वन्ति वाचावाचं योजयन्ति देवैर्देवानुद्बोधयन्ति च तस्य मनसः शिवसंकल्पता समीहिता-

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मेमनः शिव संकल्पमस्तु॥ [१७]

मानसिक्या शक्त्या अखण्डं ज्ञानं प्राप्यते यत् एव ''प्रज्ञानं मन'' ज्ञानरूपं मन इति निगद्यते। ज्ञातस्य वस्तुनः स्मरणं मनसैव क्रियते अत एव स्मृति कोशो मनः। मनसैव कर्म क्रियते मनसा वागुच्यते मनसा दृश्यते मनसा समूह्यते। सुखदुःखयोः स्थली मन एवं मनसश्च हृदये वासः, मन एव प्रजापतेरपूर्वा तनूः। ज्योतिषामरता मनस्येव। यथा-

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तर मृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मेमनः शिव संकल्पमस्तु॥ [१८]
न ह्ययुक्तेन मनसा किञ्चन संप्रति शक्नोति कर्तुम्। [१९]
मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति। [२०]
येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतमृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्त होता तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु॥
सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान् नेनीयते अभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत् प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु॥ [२१]

मनोनिग्रहेण मृत्युञ्जयः

मनसि वर्तमाना चञ्चलतैव मानवं पतनगर्ते पातयति। रथं स्थिरयितुं शकटंवा साधयितुं युगं परिदृढैस्तन्तुभिर्बध्नन्ति जनाः। रज्जुपट्टिकाभिरबध्दो युगं रथे शैथिल्यं जनयति, स्थिरतया रथो न भवति गतिमान्।

---

१६ यजु० ३४/१
१७ यजु० ३४/२
१८ यजु ३४/३
१९ शत० ६,३,१,९१६
२० शत० १४,३,१६
२१ यजु० ३४,४,६

अतएव रथरूपं देहं उच्चमार्गेण नेतुं मनो प्रग्रहस्य प्रबन्धनमपेक्ष्यते। जीवनाय मृत्युवारणाय अनिष्ट विनाशाय मनो निग्रहो नूनमनिवार्यः। मनो निग्रहेण पुरुषः सर्वं कर्तुमर्हति। निश्चलमनसां मानवानां किमपि नास्त्य साध्यं भूतले, परमति चञ्चलमनसां पुरुषाणां मार्गे तु पदे-पदे भवति दुःखोत्पातः। त्रिविधतापतप्तः कश्चित् चञ्चलचित्तोनरः शान्त्यर्थम् आचार्यं गुरुं तपस्विनमुपदेष्टारं सम्यगुपेत्य स्वदुःखं विज्ञापयति। आचार्यस्त न्मनोव्यथाकारणं मनश्चाञ्चल्यं विज्ञाय मनसः स्तभ्मनायोपायमुपायान्तरं च निगद्य मनो व्यथामपहरति। संस्तभ्य तन्मनस्तेनाचार्येण तज्जीवनं सञ्जीवितम्। मनोनिग्रह भेषजं निपीय पुरुषो बलवान् भवति संसारे तत्कृते किमप्य सम्भवं न भवति। तज्जीवनं नानेति, भावं न स्पृशति, चञ्चलचित्तं पुरुषं नकारात्मको भावो पुनः पुनर्मृत्युमुखे प्रक्षिपति। दुश्चिन्तनेन यन्मनो दूरं गत्वा नैराश्यमुत्पादयति तदेव मनः साधनया स्थिरतामुपेत्य मनुष्यं साधयति सततं कर्मकरणाय प्रेरयति दक्षतां च ददाति। साधकानां चिन्तनानुसारं मनोनिग्रहः सञ्जीवनीशक्ति रूपः सन् मानवजीवनं विकासयति। निग्रहवान् पुरुषो मनोबलेन पतितोऽपि उद्गतः उद्ग्रसितोऽप्युन्मुक्तः हीनोऽप्यहीनः दीनोऽप्यदीनः निष्क्रियोऽपि सक्रियः निर्बलोऽपि सबलः, अक्षमोऽपि सक्षमः,। अपण्डितोऽपि पण्डितो भवति, भवति च लोके प्रशस्यः।

यथा युगं वरत्रया नह्यन्ति धरणाय कम्।
एवा दधार ते मनो जीवातवे न मृत्यवे अथो अरिष्ट तातये।। [२२]
मनसैवेदमवाप्तव्यं नेह ना नास्ति किञ्चन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति।। [२३]
यमादहं वैवस्वतात् सुबन्धोर्मन आभरम्।
जीवातवे न मृत्यवे अथो अरिष्ट तातये।। [२४]
आ न एतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे।
ज्योक् च सूर्यं दृशे।। [२५]

मनोबुद्धि समन्वये जायते मनोनिग्रहोदयस्तेनैव सह सौख्यं सौमनस्यं सौभाग्यं दाक्ष्यं भद्रत्वं माङ्गल्यं च वर्धते।

त्वं धियं मनोयुजं सृजा वृष्टिं न तन्यतुः।
त्वं वसूनि पार्थिवा दिव्या च सोम पुष्यसि।। [२६]

मानवानां मनसि पापधारा पुण्यधारा च सदैव प्रवहति। एकस्मिन्नेव काले द्वे धारे न प्रवहतः। कदाचित् मनः पापाश्लिष्टं कदाचिच्च पुण्याश्लिष्टं जायते। अशुभचिन्तनान्विते मनसि प्राणानां गतिरसमा शुभचिन्तनान्विते च मनसि प्राणानां गतिः समा भवति। प्राणानामसमत्वे रोगोत्पत्तिर्जायते सति रोगे आयुरपि क्षीयते। येषां प्राणाः समाः प्रवहन्ति ते रोगरहिता दीर्घजीविनश्च भवन्ति। सत्कर्मव्यापृतं मनो न संस्पृशन्ति दुर्विचाराः। रिक्ते मनसि पापानां निवासः प्रवर्धते। शुभकर्मरतं पुरुषं यदि कदाचित् पापवृत्तिरात्मायत्तीकर्त्तुं कामयते तदा सत्कर्मलग्नः पुरुषः पापमुद्दिश्य कथयति यत् रे पाप! त्वं मामपहाय दूरं गच्छ। यतो हि मे मनो सद् गृहकार्ये संलग्नं जातम्। शिवसंकल्पावृते मनसि न पापवासावसरो मनागपि वर्तते अतस्तव वासस्तु हे पाप! वने वा वृक्षे वा भवतु। यथा-

---

२२ ऋग् १०/६०/८
२३ कठोप० २/४/११
२४ ऋग् १०/६०/१०
२५ यजु ३/५४
२६ ऋग् ९/१००/३

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि।
परेहि न त्वा कामये वृक्षान् वनानि सं चर गृहेषु गोषु मे मनः॥[२७]
अपेहि मनस्पतेऽप क्राम परश्चर।
परो निर्ऋत्या आचक्ष्व बहुधा जीवतो मनः॥[२८]

येषां पुरुषाणां मनसि बलवत्ता विराजते ते जगत्यां सर्वं कर्तुं क्षमन्ते। न केवलमेकं वस्तु ते लभन्तेऽपितु समग्रं विश्वमपि जेतुं शक्नुवन्ति ते। मनोबलेन दिग्विजयो जायते जायते च विश्वविजयः परं परविजयात् प्राग् आत्मविजयो विधेयः। येन स्वमनो जितं तेनैव जगज्जितम्। स्वमनोजयेनाभिवर्धितमनोबलानां मनीषिणां समये-समये कुर्वन्त्यात्मोल्लासमिमे वेदमन्त्राः-

अभिद्यां महिना भुवम् अभीमां पृथिवीं महीम्।
कुवित्सोमस्यापामिति॥[२९]
अहमिन्द्रो न परा जिग्य इद् धनम्
न मृत्यवेऽवतस्थे कदाचन।
सोममिन्मा सुन्वन्तो याचता वसु
न मे पूरवः सख्ये रिषाथन

मनोबलहीनानां पुरुषाणां मनसि प्रायो नैराश्यमुत्पद्यते, नैराश्यशमनाय मनोबल वर्धनाय च वेदमन्त्रो बलहीनान् सबलयितुं निर्दिशति यद् यदा नैराश्यमभि जायेत् तदा पूर्वेषामृषीणां जीवनपद्धति ग्राह्या, महापुरुषाणां जीवनचरितं पठनीयं महतां स्मरणं करणीयम्। यथा-

मनो न्वाह्वामहे नाराशंसेन स्तोमेन।
पितृणां च मन्मभिः॥[३०]
समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥[३१]
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सु सहासति॥[३२]

अतोऽन्ते प्रोच्यते यत् शिवसंकल्पावृतं भवतु नो मनः

---

२७ अथर्व० ६/४५/१
२८ अथर्व २०/९६/२४
२९ ऋग् १०, ११९, ८
३० यजु० ३/५३
३१ ऋग् १०/१९१/३
३२ ऋग् १०/१९१/४

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०१० अङ्क १३ (पृ०१२-१७)

वैदिक वाङ्मय में स्व-प्रबन्धन

डॉ० वेदपाल[1]

सुपर कम्प्यूटर के इस युग में कतिपय शब्दों का अर्थ विस्तार अति तीव्र गति से हुआ है। इनमें प्रमुख है-प्रबन्धन। आज कृषि से लेकर होटल तक तथा ऋण वितरण से बीमा तक प्रबन्धन का विस्तार है। तद्यथा-समय प्रबन्धन (Time Management), होटल प्रबन्धन (Hotel Management), बैंकिग प्रबन्धन (Banking Management), कृषि प्रबन्धन (Agriculture Management), फार्म प्रबन्धन (Farm Management), बीमा प्रबन्धन (Insurance Management) कचरा निपटान प्रबन्धन (Solid waste Management) आदि।

उक्त बहुविध प्रबन्धन कौशल में दीक्षित करने के लिए अनेकत्र उच्च शिक्षा संस्थान स्थापित हैं, जहाँ मात्र प्रबन्धन कौशल की ही शिक्षा दी जा रही है। ऐसे प्रबन्धन प्रधान काल में व्यक्ति से राष्ट्र अथवा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सर्वत्र सुव्यवस्था की उपेक्षा अनुचित नहीं है, किन्तु व्यक्तिगत जीवन से सामाजिक ताने-बाने तक व्यवस्था ही अदृश्य है। कारण स्पष्ट है कि सब प्रबन्धन के मूलकेन्द्र व्यक्ति के प्रबन्धन को कहीं स्थान नहीं मिला है, जिसके लिए सर्वविध प्रबन्धन है उसके (स्वयं के) लिए कोई प्रबन्धन नहीं है।

समष्टि का मूल व्यष्टि है, उसका प्रबन्धन प्राथम्येन अपेक्षित है। इसके व्यवस्थित/मर्यादित होने पर सभी कुछ मर्यादित होना सम्भव है। व्यक्ति के अमर्यादित हाने पर सभी व्यवस्थाएँ ध्वस्त हो जाती हैं। सम्प्रति यही हो रहा है। बहुविध प्रबन्धन के मध्य 'स्व प्रबन्ध' Self Management इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

स्व-प्रबन्धन के लिये सर्वप्रथम 'स्व' की पहचान जरूरी है। स्व के अनेक अर्थो में अन्तर्जात, अन्तर्निहित भी है। वस्तुत: स्व अन्तर्जात ही नहीं, अपितु अन्तर्निहित भी है और अतिनिगूढ़ भी। बहुविध प्रबन्धन का यह परिणाम हुआ है कि व्यक्ति स्वकेन्द्रित न होकर पर केन्द्रित हो गया है। वह सदैव दूसरों के पास है और स्वयं से दूर हो गया है। एक क्षण के लिए भी वह स्वयं के पास नहीं होता है। सदैव बाहर ही बाहर रहता है। इस परकेन्द्रित होने का कारण है-मनुष्य के पास जितने भी प्राप्ति (चाहे वह ज्ञान की हो अथवा भौतिक पदार्थों की) के साधन हैं, वे सभी बहिर्मुख हैं। इसलिए निरन्तर बाहर ही देखता है, किन्तु उपनिषद् के ऋषि ने इनके प्रति सचेत भी किया है।[2] इस निरन्तर बाहर रहने/स्वयं से अलगाव के कुछ दुष्परिणाम हैं। तद्यथा-असन्तोष, ईर्ष्या, मद, मत्सर आदि।

(क) असन्तोष-सदैव दूसरों की व्यवस्था करते-करते उन्हीं पर दृष्टि, उन्हीं का चिन्तन, उन्हीं की भौतिक समृद्धि आदि को देखते-देखते उसे लगता है कि उसके पास कुछ भी नहीं, यह सब उसके पास भी होना चाहिए, भले ही उसकी प्राप्ति का साधन कुछ भी हो। अपने पास उपलब्ध संसाधनों के प्रति असन्तोष ने साधनों की पवित्रता को उपेक्षित कर दिया है। साधन की पवित्रता का विचार छूटते ही संसाधन संग्रह की अन्धी दौड़

---

१ रीडर, संस्कृत विभाग, जनता वैदिक कॉलेज, बड़ौत बागपत उ०प्र०

२ पराञ्चि खानिव्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मनमेक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥ पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्। अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते॥ कठ० २.४.१-२

प्रारम्भ होती है और तब तस्कर, करवञ्चक, अपहर्त्ता आदि का जन्म होता है। इन सबके परिणाम जहाँ राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को क्षीण करते हैं, वही सामाजिक जीवन को अव्यवस्थित ही नहीं, अपितु पूर्णतः असुरिक्षत भी बना देते हैं। इसके दुष्परिणाम प्रतिदिन होने वाले अपहरण आदि के रूप में दिखाई दे रहे हैं। वेद ने इन प्रवृत्तियों के उदय से पूर्व ही व्यक्ति को संस्कृत करने के लिए पिशाच, स्तेन, स्मगलर (वनर्गु) से समझौता न करने का ही नहीं, अपितु इन सबके क्षेत्र छोड़ जाने का उपदेश दिया है। तद्यथा-

न पिशाचैः संशक्नोमि न स्तेनैर्न वनर्गुभिः।
पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति यं ग्राममहमाविशे॥[3]

असन्तुष्ट व्यक्ति अनेकविध साधन सम्पन्न होते हुए भी बहुविध दुःखी रहता है। जिसका एक मात्र समाधान है-सन्तोष। यतः सन्तोष से ही व्यक्ति तृष्णा रहित होकर अनुपम सुख का लाभ करता है।[4] संसार के अन्दर जितने भी सुख हैं वे सभी तृष्णाक्षय से उत्पन्न सुख का षोडशांश भी नहीं है।[5]

(ख) पर प्रेक्षण के नैरन्तर्य से होने वाले अनेक दुष्परिणामों में दूसरा महत्त्वपूर्ण है-ईर्ष्या इस ईर्ष्यावृत्ति के परिणामस्वरूप व्यक्ति अपने संसाधनों की अपेक्षा दूसरे के संसाधनों को देखता है और उनसे पीड़ित होता है। भले ही उसके पास भौतिक संसाधनों का प्राचुर्य क्यों न हो। युधिष्ठिर के राजसूय में यद्यपि राजाओं ने जो भी भेंट दी वह सब स्वीकारने का दायित्व दुर्योधन पर ही था, किन्तु वह उस सम्मान से भी (यतः वह युधष्ठिर के प्रतिनिध रूप में प्राप्त था) इतना दुःखी हुआ कि-आत्म दाह अथवा विषभक्षण द्वारा जीवन समाप्त करने तक की बात करने लगा[6]। वेद ने ईर्ष्यालु व्यक्ति को मृतमना कहकर ईर्ष्यात्याग का संदेश दिया है।[7] जिस प्रकार किसी राष्ट्र के समग्र विकास के लिये आवश्यक है कि वहाँ सड़कें, चिकित्सालय, विद्यालय, यातायात के अधुनातन साधन, भरपूर अन्नोत्पादन तथा एक अच्छी विकासदर की उपलब्धता के साथ-साथ वहाँ के नागरिकों का इन सबके साथ वैयक्तिक जीवन मानवीय मूल्यों से भी समृद्ध हो अन्यथा बहुविध बाह्य प्रबन्धन की दृष्टि से सम्पन्न व्यक्ति कभी सुशील शर्मा-नैना साहनी तन्दूर काण्ड, मनु शर्मा-जेसिका लाल हत्याकाण्ड, आर०एस० शर्मा-शिवानी भटनागर हत्याकाण्ड, अमरमणि त्रिपाठी-मधुमिता हत्याकाण्ड, शिबू सोरेन-शशीनाथ झा हत्याकाण्ड तथा मोनिन्दर सिंह पण्ढेर व सुरेन्द्र कौली-निठारी काण्ड सदृश होता है। ऐसी स्थिति में यह पंक्ति सटीक लगती है-

झर चुके रोम, झर चुकी पूंछ, पशुता का झरना बाकी है।
बाहर-बाहर तन संवर चुका, अन्दर से संवरना बाकी है॥

शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक उन्नति होने पर ही वास्तविक उन्नति होना सम्भव है। शारिरिक उन्नति के साधन बाह्य संसाधन है। इनके सम्यक् प्रबन्धन से बाह्य-शारीरिक उन्नति होगी और यदि वह केवल शरीर तक ही सीमित होगी, तब आसुरी ही होगी। समग्र विकास के लिए आन्तरिक प्रबन्धन अनिवार्य है। इसीलिए वेद ने इन बाह्य के साथ-साथ आन्तरिक पर भी बल दिया है। तद्यथा-

को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति।

---

३ अथर्व० ४.३६.७
४ सन्तोषादनुत्तम सुखलाभः-योगदर्शन साधन पाद० ,४२
५ यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्। तृष्णाक्षय सुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥
६ वह्निमेव प्रवेक्ष्यामि भक्षयिष्यामि वा विषम्। अपो वा प्रवेक्ष्यामि न शक्ष्यामि जीवितुम्॥
७ यथा भूमिमृतमना मृतात्मृतमनस्तरा। यथोत मम्रुषोमर्न एवेर्ष्योर्मृतं मनः॥ अथर्व० ६.१८.२

भूम्या असुरसृगात्मा क्व स्वित्को विद्वांसमुपगात्प्रष्टुमैतत्॥[८]

साधन

(क) आत्मयजन-प्राचीनकाल से ही तत्त्वचिन्तक इस स्वप्रबन्धन पर विचार करते रहे हैं और निष्कर्ष रूप में इस बाह्य प्रबन्धन की अपेक्षा अन्तः प्रबन्धन पर बल दिया गया है। यह बोध कि-मेरे इस कर्म से मेरे इस अंग का उपधान/संस्कार हो रहा है उसी प्रकार के हेतुभूत कर्म को करना, क्योंकि वेद ने स्वयं पुरुष के उत्थान का निर्देश किया है-'**उद्यानं ते पुरुष नावयानम्**'[९]। पुरुष की इस उन्नति के आधार को कर्मकाण्डीय परिभाषा में आत्मायजन कहा गया है[१०]

मनु ने भी सभी प्राणियों में स्व-भाव तथा स्व में सभी प्राणियों को देखने वाले को आत्मयाजी कहा है और ऐसा पुरुष ही स्वाराज्य को प्राप्त करता है[११]। वेद के अनुसार-ऐसा पुरुष ही शोक-मोह से छूट जाता है तथा वही एकत्व का द्रष्टा होता है। तद्यथा-

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥[१२]

स्व प्रबन्धन की यह ऐसी उत्कृष्ट दशा है, जिसे प्राप्त कर लेने पर ऐसे व्यक्ति को कोई गाली दे, पत्थर मारे, विष दें, अपमानित करे अथवा पुष्पहार देकर सम्मानित करे, वह दोनों ही अवस्थाओं में सम रहता है। महर्षि दयानन्द इसके उदाहरण हैं। वह सभी के अभ्युदय की कामना करते हैं। इस आत्मप्रबन्धन के बाद सभी बाह्य प्रबन्धन बहुत तुच्छ हो जाते हैं।

(ख) योग-स्व प्रबन्धन की दृष्टि से दूसरा महत्त्वपूर्ण साधन है-योग। चित्तवृत्तियों के निरोध को योग कहा गया है।[१३] चित्त का स्वभाव शील तीन प्रकार का होता है[१४]-१. प्रख्या = दृष्ट अथवा श्रुत पदार्थों का विचार। प्रख्या तीन प्रकार की है- (क) चित्त का सत्त्वगुण प्रधान होना, इसमें केवल ईश्वर का चिन्तन होता है। (ख) सत्त्व के साथ रजोगुण का भी प्राधान्य होना, इसमें धर्म-नैतिक एवं वैराग्य-बाह्य पदार्थों के प्रति अनासिक्त। (ग) चित्त का तमोगुण प्रधान होना, इस स्थिति में अधर्म-अनैतिक, अज्ञान एवं विषयासक्ति का चिन्तन। २. प्रवृत्ति = पदार्थों-विषयों के साथ सम्बन्ध ३. स्थिति = पदार्थों -विषयों में स्थिति। यह चित्तवृत्तियाँ क्लेश (आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक दुःखों) की हेतु होने से क्लिष्ट तथा गुणविकार (सत्त्व, रजस्, तमस् के संसर्ग) से रहित होने पर अक्लिष्ट-द्विविध होती हैं।[१५] प्रत्येक वृत्ति से तदनुकूल संस्कार उत्पन्न होते हैं। पुनः वे संस्कार उसी वृत्ति को उत्पन्न करते हैं। वृत्ति फिर संस्कार और संस्कार फिर वृत्ति को-इस प्रकार यह वृत्ति-संस्कार का चक्र प्रवर्तित रहता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि से सम्बन्धित क्लिष्ट वृत्तियां व्यक्ति को दुःख चक्र में चलाती रहती हैं।

---

८ ऋ- १.१६४.४

९ अथर्व० ८.१.६

१० आत्मयाजीति ह ब्रूयात्। अथ यो वेदेदं मेऽनेन अङ्ग संस्क्रियतेऽनेन मेऽअङ्ग उपाधीयते। स यथा अहिस्त्वचो निर्मुच्यते। एवमस्मात्-। श०प० ११.२.६.१३-१४

११ सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।

१२ यजु० ४०.७

१३ योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः यो० द० समाधिपाद २

१४ चित्तं हि प्रख्याप्रवृत्तिस्थिति शीलत्वात् त्रिगुणम्। व्यासभाष्य वही १.२

१५ वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः। वही० सू० ५

इन वृत्तियों के संस्कार चित्त पर पड़ते हैं। वह चित्त उन संस्कारों से भावित होकर तत्तत् अवस्थाओं-शरीरों-योनियों की प्राप्ति का कारण बनता है। भरतमुनि का मोहवृत्ति में पड़ने से मृगयोनि प्राप्त करने का वर्णन इसका निदर्शन है।

काम-क्रोध आधि वृत्तियाँ जब अमर्यादित होती हैं तब व्यक्ति मनुष्यत्व से पशुत्व की ओर अभिमुख होता है। वेद ने इनकी उपमा पशु-पक्षियों से देकर इनके नष्ट करने का आदेश दिया है।[१६] इनमें कुछ आभ्यन्तर हैं तो कुछ बाह्य। यदि कोई मनुष्य जीवन के चरम लक्ष्य मोक्ष को नहीं भी पाना चाहता है तब भी वह संसार में तो सुखी रहना ही चाहेगा। योग के अंग[१७] यम एवं नियम सहित अष्टांग का पालन आभ्यन्तर एवं बाह्य उभयविध चित्तवृत्ति के निरोध का प्रमुख एवं महत्वपूर्ण साधन है। यथा अहिंसा की प्रतिष्ठा किए बिना नैतिक मानवीय मूल्य दया एवं करुणा की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। इसी प्रकार अपरिग्रह की प्रतिष्ठा के अभाव में परद्रव्याभीप्सा पर अंकुश क्या सम्भव है? महर्षि पतञ्जलि ने यम के इसी महत्त्व को दृष्टिगत कर इन्हें सार्वभौम महाव्रत[१८] कहा है अर्थात् यह जाति-देश-काल और समय की सीमाओं में आबद्ध नहीं किये जा सकते हैं।

(ग) संस्कार-प्राचीन काल से ही मानव जीवन को सुव्यवस्थित बनाने के लिए किए जाने वाले उपायों में संस्कार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन ये तीन संस्कार जन्म से पूर्व किये जाते हैं। जन्म ग्रहण करने पर सर्वप्रथम सम्पाद्य संस्कार जातकर्म है। यहाँ पिता नवजात शिशु से कुछ कहता है। वहाँ पिता अग्नि-सोम आदि की आयु से आयुष्मान् करने की बात कहता है। इस सन्दर्भ का अन्तिम मन्त्र-ओ३म् समुद्र आयुष्मान् स सव्रतीभिरायुष्मान् तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि[१९] है। यहाँ ऋषि ने उपलक्षण रूप में सुमद्र को लिया है। इसके निहितार्थ समुद्र पद के निर्वचन तथा अर्थ[२०] में सम्यक् प्रकार से दृष्टिगत होते हैं। मर्यादित जीवन ही उन्नति का आधार है और यहाँ मर्यादित जीवन का ही सन्देश है। इसी प्रकार माता का स्तनपान कराने से पूर्व नवजात को यव अथवा चावल का रस पिलाया जाना भी प्रतीकात्मक ही है। साथ में पढ़े जाने वाले मन्त्र तत्तत् भावों को संस्कार रूप से भावित करने का एक और प्रयास हैं। इसी प्रकार उपनयन और विवाह आदि संस्कार के समय पठित मन्त्र एवं क्रियमाण क्रियाएँ भी स्वप्रबन्धन के अच्छे संकेतक हैं। जिनकी उपेक्षा के दुष्परिणाम प्रतिदिन पदे-पदे दिखाई देते हैं।

(घ) अहं/मम का त्याग-मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। दूसरों की सहायता के बिना एक क्षण के लिए भी हमारा कोई कार्यपूर्ण नहीं होता है, किन्तु सम्यग् निर्देशन के अभाव में व्यक्ति अधिकांशतः इस तथ्य की उपेक्षा करता रहता है। वह अपने संसाधनों को मात्र अपने विकास का आधार मानकर अन्यत्र से प्राप्त सहयोग को भूला रहता है। अपने आपको समष्टि का एक भाग ही व्यक्ति जानता और मानता रहे इसलिए यह मेरा नहीं है-इस भाव प्राबल्य के लिए मनीषियों ने प्रत्येक आहुति के अन्त में द्रव्य त्याग के अनन्तर-'इदन्न मम' अथवा 'न मम' यह कथन करने का विधान किया है। ममत्व का भाव स्वार्थपरता का जनक है और न मम का भाव स्वार्थ त्याग का। इसीलिए मम के दो अक्षरों का अभिप्राय मृत्यु कहा गया है। तद्यथा-

---

१६ उलूकयातुं शुशूलकयातुं जहिश्वयातुमुत कोकयातुम्। सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृशदेव प्रमृण रक्ष इन्द्र॥ ऋ० ७.१०.४.२२

१७ यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि-यो० द० २.२९

१८ क अहिंसा सत्याऽस्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। यो०द० २.३०

१९ पारस्करगृ १.१६.९

२० तत्र समुद्र इत्येतत्पार्थिवेन समुद्रेण सन्दिह्यते। समुद्रः कस्मात् समुद्द्रव्यन्त्यस्मादापः। समभिद्रवन्त्येनमापः। सम्मोदन्तेऽस्मिन् भूतानि। समुदको भवति। समुनत्तीति वा!-निरुक्त २.३.१०

द्व्यक्षरस्तु भवेन्मृत्युः त्र्यक्षरं ब्रह्मशाश्वतम्।
ममेति च भवेन्मृत्युर्न ममेति ब्रह्मशाश्वतम्॥ [२१]

(ङ) प्रार्थना-मनुष्य का ज्ञान व प्रयत्न सीमित हैं। इनके सीमित होने के कारण पदे-पदे दूसरों का साहाय्य जब अपने पूर्ण पुरुषार्थ/प्रयत्न के पश्चात् उचित कार्यों में सफलता के लिए मांगा जाता है तभी प्रार्थना है।[२२] प्रार्थना से व्यक्ति में निरभिमानिता आती है[२३]। वेद में यह प्रार्थना सुपथ से ले जाने अर्थात् सत्पथ पर चलने का सामर्थ्य मांगने तथा कुटिलता युक्त पाप कर्मों से विरत रहने के लिए मांगने का विधान है।[२४] बहुधा व्यक्ति यह जानते हुए भी कि यह कर्म त्याज्य है, किन्तु चाहते हुए भी उसे छोड़ने में असमर्थ रहता है और यह कार्य कर्त्तव्य है, पुनरपि उसे करने में असफल रहता है। यदि जानने मात्र से ही कृतकार्यता हो जाया करती तब प्रार्थना की आवश्यकता ही नहीं रहती, किन्तु व्यक्ति जानते हुए भी ऐसा करने में असमर्थ रहता है। दुर्योधन का यह कथन सत्य है-

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः, जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
केनापि देवेन हृदयस्थितेन यथा नियोक्ष्ये तथा करोमि॥

यह सामर्थ्य प्रार्थना से प्राप्त होता है। इसीलिए प्रार्थना अपेक्षित है। उपर्युक्त साधन व्यक्तित्व के सन्तुलित विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। व्यक्तित्व का सन्तुलित विकास ही वास्तविक स्व प्रबन्धन है। जिस प्रकार सभी कार्यों चाहे सांसारिक हों अथवा योगांगों का अनुष्ठान में अनेक बाधाएँ आती हैं, उसी प्रकार उक्त कार्यों के सम्पादन में भी अनेक व्यवधान आते ही हैं। पातञ्जल योग में जिन्हें अन्तराय-चित्त के विक्षेप करने वाले कहा गया है, वे इस विषय में भी उतने ही बाधक हैं जितने अष्टांग योग में-

व्याधि-स्त्यान-संशय-प्रमाद-अविरति-भ्रान्तिदर्शन-अलब्ध-भूमिकत्व-अनवस्थितत्त्वानि चित्तविक्षेपा-स्तेऽन्तरायाः।[२५]

स्त्यान-चित्त द्वारा अनुचित कर्म का चिन्तन अथवा कर्म रहित होने की चेष्टा।

संशय-परस्परविरोधी पक्ष का खण्डन अथवा समर्थन, जिससे मनुष्य द्विविधा ग्रस्त हो जाए कि किसी कार्य विशेष को करे अथवा नहीं।

प्रमाद-उक्त साधन या उपायों के चिन्तन अनुष्ठान में उपेक्षा भाव।

आलस्य-शरीर व चित्त के भारीपन से चेष्टारहित हो जाना।

अविरति-चित्त का विषय के संसर्ग से मोहित अथवा प्रलोभित होना।

भ्रान्तिदर्शन-मिथ्याज्ञान, कुछ का कुछ देखना या समझना।

अलब्धभूमिकत्व-उक्त साधनों को अपनाने की पात्रता का प्राप्त न होना।

अनवस्थितत्त्व-पात्रता के होते हुए भी चित्त का स्थिर न होना।

---

२१ म०भा०आश्व०प० १३.३-४

२२ अपने पूर्ण पुरुषार्थ के उपरान्त उत्तम कर्मों की सिद्धि के लिए परमेश्वर वा किसी अन्य सामर्थ्यवान् से सहाय मांगना प्रार्थना है-महर्षि दयानन्द-आर्योद्देश्यरत्नमाला।

२३ सत्यार्थ प्रकाश समु० ७

२४ क अग्ने नय सुपथा रायेऽअस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम॥यजु० ४०.१६

२५ यो० द० १.३०

यह नौ विघ्न योगमार्ग के ही नहीं, अपितु किसी भी कार्य में देखे जा सकते हैं। उपरि वर्णीत आत्मजयन आदि साधनों के अनुष्ठान तथा अन्तरायों के परिहार के साथ-साथ यदि सुखी व्यक्तियों के प्रति मैत्रीभाव, दुःखियों के प्रति करुणा, पुण्यात्मा के प्रति मुदिता तथा अपुण्यात्माओं के प्रति उपेक्षाभाव[२६] को क्रियात्मक रूप दे दिया जाए, तब स्वप्रबन्धन से प्रबन्धित ऐसे व्यक्तित्व का निर्माण सम्भव है, जिसके पास बाह्य प्रबन्धन यदि न्यून भी होंगे, तब भी उसके विचलन की सम्भावानाएँ बाह्य प्रबन्धन प्रधान किन्तु स्वप्रबन्धन न शून्य व्यक्ति की अपेक्षा न्यूनतम होंगी। समग्र वैदिक वाङ्मय जागतिक पदार्थों की कामना के साथ ही आत्मिक उन्नति की भी कामना करता है। यद्यपि जागतिक पदार्थ प्रेयरूप हैं और व्यक्ति को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं, किन्तु विवेकी पुरुष प्रेय की अपेक्षा श्रेय-आत्मिक अभ्युदय को प्राथमिकता देते हैं। श्रेय पथ का अवलम्बन ही वस्तुतः स्वप्रबन्धन है और बाह्य भौतिक प्रबन्धन बाहुल्य के साथ-साथ इस आभ्यन्तर प्रबन्धन/स्वप्रबन्धन का महत्त्व सदैव अक्षुण्ण ही है।

---

२६ मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्-योग द० १.३३

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०१० अङ्क १३ (पृ०१८-२७)

दयानन्दवेदभाष्यवैशिष्ट्यम्

डॉ. अरुणिमा रानी[1]

स्वामिदयानन्द एकोनविंशतिशताब्द्या भाष्यकारो विद्यते। अस्य पूर्ववर्त्तिभाष्यकाराः यास्कस्कन्दस्वाम्युद्गीथवेंकटमाधवानन्दतीर्थात्मानन्दसायणोव्वटमहीधरभट्टभास्करमाधवभरतस्वाम्येत्यादयः सन्ति। एभिः वेदभाष्यकारै एकस्यैकाधिकस्य वा वेदस्य सम्पूर्णमांशिकं वा भाष्यं कृतम्। स्कन्दस्वामिना[2] स्ववेदभाष्यप्रयोजनमृग्वेदभाष्यारम्भे निर्दिश्यते- "एवं सर्वमन्त्राणां कर्माङ्गत्वसिद्धयर्थं यतो बोद्धव्योऽर्थः, अत ऋग्वेदस्यार्थबोधार्थमस्माभिर्भाष्यं करिष्यते।" एवमन्येऽपि भाष्यकाराः वेदभाष्यं कुर्वन् कर्मकाण्डप्रक्रियामेवानुसरन्ति। आध्यात्मिकमर्थं तु केचन भाष्यकारा एव विदधति। स्वामिदयानन्देनाचार्ययास्कं प्रमुखाधाररूपेणाङ्गीकृत्य स्वमन्तव्यानां वेदभाष्ये दाक्षिण्येन प्रतिपादनं कृतम्। तथापि बहव एतादृशाः मन्त्राः सन्ति येषां मन्त्राणां भाष्यमाचार्ययास्केनापि स्वनिरुक्तग्रन्थे विहितं परं दयानन्देन तेषामपि मन्त्राणां तेभ्योऽतिरिक्तो भिन्नो वाऽर्थः प्रस्तुतः। निजवेदभाष्यात्पूर्वं दयानन्देन १९३३ तमे संवते पराक्षेपानां समाधानार्थमेका विस्तृता भूमिका 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' इति नाम्ना प्रकाशिता। तदनन्तरं १९३४ तमे संवते मार्गशीर्षमासस्य शुक्लपक्षस्य षष्ठ्यां तिथौ ऋग्वेदभाष्यस्यारम्भः कृतः। सप्तत्रिंशद्दिवसानन्तरमेव १९३४ तमे संवते पौषमासस्य शुक्लपक्षस्य त्रयोदश्यां तिथौ शुक्लयजुर्वेदस्य भाष्यस्यारम्भः कृतः।[3] तस्य यजुर्वेदभाष्यं तु सम्यक्तया समाप्तिमगात् परमृग्वेदस्य भाष्यं सप्तममण्डलस्य एकषष्टितमस्य सूक्तस्य द्वितीयमन्त्रपर्यन्तमेवाभूत्। तस्य वेदभाष्यस्य पद्धतिः सैव वर्तते या ऋषिभिर्मुनिभिश्चानुमोदिताभिनन्दिता च। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकारम्भ एव तेन लिख्यते- "आर्याणां मुन्यृषीणां या व्याख्यारीतिः सनातनी। तां समाश्रित्य मन्त्रार्था विधास्यन्ते तु नान्यथा।"[4] अर्थात् अस्मिन् वेदभाष्ये किञ्चिदप्रमाणं न लिखिष्यामि परं ये ब्रह्माप्रभृतयः व्यासपर्यन्ता ऋषयः मुनयः सन्ति तेषां या व्याख्यारीतिः, एतद्वेदभाष्यं तयान्वितमेव प्रस्तोष्यामि। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां पुनस्तेन लिख्यते- "पूर्वाचार्यैः कृतं प्रकाश्यते। तद्यथा-यानि पूर्वैर्देवैर्विद्वद्भिर्ब्रह्माणमारभ्य याज्ञवल्क्यवात्स्यायन-जैमिन्यन्तैर्ऋषिभिश्चैतरेयशतपथादीनि भाष्याणि रचितान्यासन्, तथा यानि पाणिनिपतञ्जलियास्कादिमहर्षिभिश्च वेदव्याख्यानानि वेदाङ्गाख्यानि कृतानि, एवमेव जैमिन्यादिभिर्वेदोपाङ्गाख्यानि षट्शास्त्राणि, एवमुपवेदाख्यानि तथैव वेदशाखाख्यानि च रचितानि सन्ति। एतेषां संग्रहमात्रेणैव सत्योऽर्थः प्रकाश्यते। न चात्र किञ्चिदप्रमाणं नवीनं स्वेच्छया रच्यत इति।"[5] एवं येषां ग्रन्थानां मन्तव्याः प्रकाशं नेतुं दयानन्दर्षिणा घोषणा कृता ते सर्वे ग्रन्था आर्षाः प्रामाणिकाश्च विद्यन्ते। एते सर्वे ग्रन्थाः वेदज्ञैः

---

१. प्रवक्त्री संस्कृतविभागे, एस० डी० महाविद्यालयः, मुजफ्फरनगरम्

२. ऋग्वेदस्य यजुर्वेदस्य च भाष्यारम्भ एवोल्लिख्यते दयानन्दमहाभागेन। तद्यथा- वेदत्र्यङ्के विधुयुतसरे मार्गशुक्लेऽङ्गभौमे।। वेद=४, त्रि=३, अङ्क=९, विधु=१ अर्थात् १९३४ । यजुर्वेदे च- चतुत्र्यङ्कैरवनिसहितैर्विक्रमसरे। शुभे पौषे मासे सितदलभविश्वोन्मिततिथौ। चतुत्र्यङ्कैः=४ व ३, अङ्क=९, अवनि=१

३. ऋग्वेदस्य यजुर्वेदस्य च भाष्यारम्भ एवोल्लिख्यते दयानन्दमहाभागेन। तद्यथा- वेदत्र्यङ्के विधुयुतसरे मार्गशुक्लेऽङ्गभौमे।। वेद=४, त्रि=३, अङ्क=९, विधु=१ अर्थात् १९३४ । यजुर्वेदे च- चतुत्र्यङ्कैरवनिसहितैर्विक्रमसरे। शुभे पौषे मासे सितदलभविश्वोन्मिततिथौ। चतुत्र्यङ्कैः=४ व ३, अङ्क=९, अवनि=१

४. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकांयामीश्वरप्रार्थनाविषयप्रकरणम्-श्लोक-६ ऋषिदयानन्दः

५. तत्रैव- भाष्यकरणशङ्कासमाधानादिविषयप्रकरणम्।

वेदव्याख्यातृभिश्च भाष्यकारैश्च प्रामाणिकरूपेणोररीक्रियन्ते। एतेन इदमपि स्पष्टं भवति यत् ब्राह्मणग्रन्थान् वेदनाम्ना नैव स्वीकरोत्याचार्यो दयानन्दः। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायामग्र एवोद्घोषितम्- 'ब्राह्मणानि तु वेदव्याख्यानान्येव सन्ति नैव वेदाख्यानीति।'[६]

ऋषिवरदयानन्दः सर्वेभ्यः पदार्थेभ्यः प्रधानत्वादीश्वरं प्रधानं मन्यते। तेषाञ्मते सर्वेषां वेदानां तात्पर्यमीश्वर एव सिध्यति। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां स्वामिदयानन्द उद्घोषयतीममभिप्रायम्- 'अत्र चत्वारो वेदविषयाः सन्ति, विज्ञानकर्मोपासनाज्ञानकाण्डभेदात्। तत्रादिमो विज्ञानविषयो हि सर्वेभ्यो मुख्योऽस्ति। तस्य परमेश्वरादारभ्य तृणपर्यन्तपदार्थेषु साक्षाद् बोधान्वयत्वात्। तत्रापीश्वरानुभवो मुख्योऽस्ति। कुतः? अत्रैव सर्वेषां वेदानां तात्पर्यमस्तीश्वरस्य खलु सर्वेभ्यः पदार्थेभ्यः प्रधानत्वात्।[७] एतद्विषयकं वेदान्तसूत्रमुल्लिखति तत्रैव- '**तत्तु समन्वयात्**'[८] अस्य सूत्रस्यायमर्थः- तदेव ब्रह्म सर्वत्र वेदवाक्येषु समन्वितं प्रतिपादितमस्ति। क्वचित्साक्षात् क्वचित् परम्परया च। अतः परमोऽर्थो वेदानां ब्रह्मैवास्ति। वेदस्य प्रयोजनविषये प्रमाणरूपेणोपनिषद्वाक्यमुद्धरति दयानन्दः- (तत्रापरो) वेदेषु द्वे विद्ये वर्तेते, अपरा परा चेति। तत्र यया पृथिवीतृणमारभ्य प्रकृतिपर्यन्तानां पदार्थानां ज्ञानेन यथावदुपकारग्रहणं क्रियते सा अपरोच्यते। यथा चादृश्यादिविशेषणयुक्तं सर्वशक्तिमद्ब्रह्म विज्ञायते सा पराऽर्थादपरायाः सकाशादत्युत्कृष्टास्तीति वेद्यम्।[९] एवमिममुपनिषदुद्धरणं स्वीकृत्यैव ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायाः प्रतिज्ञाविषये दयानन्दः प्रतिजानीते-''अथात्र यस्य यस्य मन्त्रस्य पारमार्थिकव्यावहारिकयोर्द्वयोरर्थयोः श्लेषालङ्कारादिना सप्रमाणः सम्भवोऽस्ति, तस्य तस्य द्वौ द्वावर्थौ विधास्येते। परन्तु नैवेश्वरस्यैकस्मिन्नपि मन्त्रार्थेऽत्यन्तं त्यागो भवति।''[१०] एवं दयानन्देन तत्रापरा० ' इति उपनिषद्वाक्यं स्वीकृत्यैव प्रतिज्ञाविषये पारमार्थिकव्यावहारिकयोर्द्वयोरर्थयोः सम्भावना लिखिता। व्यावहारिकीव्याख्यायां कृत्स्नस्य जगतः पदार्थानां, गुणाः, ज्ञानं, प्रयोगः, परिचालनं निर्माणञ्च सर्वं समागतम्। इतोऽतिरिक्तं नास्ति किञ्चित् वेद्यं वस्तुजातमिह। तथा च अपर ईश्वरो यस्य ज्ञाते सति न किमप्यवशिष्टं भवति परिज्ञातव्यम्। उपनिषदपि तथ्यमिदं सत्यापयति- 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।'[११] ऋषिवरदयानन्दः स्ववेदभाष्यप्रयोजनमृग्वेदादिभाष्यभूमिकारम्भ एव लिखति-''येनाधुनिकभाष्यैर्ये टीकाभिर्वेददूषकाः। दोषाः सर्वे विनश्येयुरन्यथार्थविवर्णनाः। सत्यार्थश्च प्रकाश्येत वेदानां यः सनातनः।''[१२] ईदृशा एव भावा अग्रेऽपि प्राप्यन्ते। तत्र दयानन्दः स्वपूर्ववर्त्तिनामाचार्याणां सायणोव्वटमहीधरप्रभृतीनां वेदभाष्यकाराणां विषये स्वाभिमतं सप्रमाणेनोल्लिलेख-''यानि रावणोव्वटसायणमहीधरादिभिर्वेदार्थविरुद्धानि भाष्याणि कृतानि, यानि चैतदनुसारेणेङ्गलेण्डशारमण्यदेशोत्पन्नैर्यूरोपखण्डदेशनिवासिभिः स्वदेशभाषया स्वल्पानि व्याख्यानानि कृतानि, तथैवार्य्यावर्त्तदेशस्थैः कैश्चित्तदनुसारेण प्राकृतभाषया व्याख्यानानि कृतानि वा क्रियन्ते च, तानि सर्वाण्यनर्थगर्भाणि सन्तीति सज्जनानां हृदयेषु यथावत् प्रकाशो भविष्यति। टीकानामधिकदोषप्रसिद्धया त्यागश्च।[१३] अस्मिन्नेव भाष्यकरणशङ्कासमाधानादिप्रकरणे ऋषिदयानन्देनाचार्यसायणमहीधरयोः भाष्ययो उद्धरणानि प्रदर्श्य तेषां सप्रमाणं

---

६. तत्रैव- वेदसंज्ञाविचारप्रकरणम्
७. तत्रैव- वेदविषयविचारप्रकरणम्
८. वेदान्तदर्शनम् अ०१/पा०१/सू०४
९. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका- वेदविषयविचारप्रकरणम् स्वामिदयानन्दः
१०. तत्रैव- प्रतिज्ञाविषयप्रकरणम्
११. मुण्डकोपनिषद् २.२.८
१२. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका- ईश्वरप्रार्थनाविषयप्रकरणम्। श्लोक ७,८
१३. तत्रैव- भाष्यकरणशङ्कासमाधानादिविषयप्रकरणम्

विवेचनं यथायथं विहितम्। सायणस्यावधारणा वेदविषये ''सर्वे वेदाः क्रियाकाण्डतत्पराः सन्तीति वर्तते। ऋषिदयानन्द एनां धारणामपाकृत्य कथयति-**'तेषां सर्वविद्यान्वितत्वात्।'** अस्यायमर्थो यत् वेदेषु सर्वा विद्या उपलभ्यन्ते। अस्मिन्नेव प्रकरणे ऋषिवरदयानन्देन सायणाचार्यस्योदाहरणपुरस्सरमेकस्य मन्त्रस्यालोचना उपस्थाप्यते। तद्यथा- (इन्द्रं मित्रं०) अस्य मन्त्रस्यार्थोऽप्यन्यथैव वर्णितः। तद्यथा- तेनात्रेन्द्रशब्दो विशेष्यतया गृहीतो मित्रादीनि च विशेषणतया। अत्र खलु विशेष्योऽग्निशब्द इन्द्रादीनां विशेषणानां सङ्गेऽन्वितो भूत्वा, पुनः स एव सद्वस्तुब्रह्मविशेषणं भवति। एवमेव विशेष्यं प्रति विशेषणं पुनः पुनरन्वितं भवतीति, न चैवं विशेषणम्। एवमेव यत्र शतं सहस्रं वैकस्य विशेष्यस्य विशेषणानि भवेयुः, तत्र विशेष्यस्य पुनः पुनरुच्चारणं भवति, विशेषणस्यैकवारमेवेति। तथैवात्र मन्त्रे परमेश्वरेणाऽग्निशब्दो द्विरुच्चारितो विशेष्यविशेषणाऽभिप्रायत्वात्। इदं सायणाचार्य्येण नैव बुद्धम् अतस्तस्य भ्रान्तिरेव जातेति वेद्यम्। निरुक्तकारेणाप्यग्निशब्दो विशेष्यविशेषणत्वेनैव वर्णितः। तद्यथा- 'इममेवाग्निं महान्तमात्मानमेकमात्मानं बहुधा मेधाविनो वदतीन्द्रं मित्रं वरुणमित्यादि०।।'[१४] स चैकस्य सद्वस्तुनो ब्रह्मणो नामास्ति। तस्मादग्न्यादीनीश्वरस्य नामानि सन्तीति बोध्यम्। एवमेव सायणाचार्यकृतभाष्यदोषा बहवः सन्ति।[१५] महीधराचार्यस्य तु नात्र प्रदर्शनमर्हति अश्लीलत्वात्। एवं दयानन्दस्य मन्त्रस्यास्य विवेचनेन ज्ञायते यत् इन्द्राग्निमित्रवरुणादीनि ईश्वरस्यापि नामानि सन्ति। परमेतादृशमुद्घोषं न कोऽप्यन्यो भाष्यकारः कथमपि कर्तुं शशाक, किन्तु बहुषु स्थलेषु सर्वे भाष्यकारा एभिः पदैरीश्वरमपि विदाञ्चक्रुः। महीधराचार्यस्य भाष्ये महर्षिणा या अश्लीलता संकेतिताः दिग्दर्शनमप्यत्र नावश्यकम्। एवमृग्वेदादिभाष्यभूमिकायाः भाष्यकरणशङ्कासमाधानादिविषये सायणमहीधरकृतभाष्ययोर्खण्डनमुदाहरणपुरस्सरं कृत्वा एतेषां भाष्यकाराणां भाष्यं नैव श्रद्धेयमिति भणितं दयानन्दस्वामिना-''नैवैतेषां व्याख्यानानामाश्रयं कर्तुमार्य्याणां लेशमात्रापि योग्यता दृश्यते। तदाश्रयेण वेदानां सत्यार्थस्य हानिरनर्थप्रकाशश्च। तस्मात् तद्व्याख्यानेषु सत्या बुद्धिः केनापि नैव कर्त्तव्या। किन्तु वेदाः सर्वविद्याभिः पूर्णाः सन्ति, नैव किञ्चित् तेषु मिथ्यात्वमस्ति।''[१६]

दयानन्दवेदभाष्यवैशिष्ट्यप्रसङ्गे श्रीअरविन्दमहाभागस्योद्घोषं प्रस्तौमि। श्रीअरविन्दमहाभागेन गुरुकुल-कांगड़ी-विश्वविद्यालयतः प्रकाशितायामाङ्ग्लपत्रिकायां 'वैदिकमैगजीन' इति नाम्नि १९१६ ईसवीये 'वेद और दयानन्द' इति शीर्षकान्विते लेखे लिखितम्- **'मेरा पूरा विश्वास है कि वेद की व्याख्या के विषय में महर्षि दयानन्द उसके सच्चे सूत्रों के प्रथम आविष्कर्ता के रूप में सदा समादृत किये जायेंगे, भले ही वेद की अन्तिम सर्वाङ्गपूर्ण व्याख्या कोई भी क्यों न हो।'**

आचार्ययास्को वेदमन्त्राणामाध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकव्याख्याः अङ्गीचकार। तद्यथा-'अर्थं वाचः पुष्पफलमाह, याज्ञदैवते पुष्पफले, देवताध्यात्मे वा।[१७] एवं प्रबुवन् यास्कः कृत्स्नायाः वेदवाण्या अधियज्ञाधिदैविकाध्यात्मिकांश्चार्थान् पुष्पफलस्थानीयमिति कृत्वा उररीकरोति। स्कन्दस्वामी अस्मिन् विषये लिखति- 'सर्वदर्शनेषु च सर्वे मन्त्रा योजनीयाः। कुतः ? स्वयमेव भाष्यकारेण सर्वमन्त्राणां त्रिप्रकारस्य विषयस्य प्रदर्शनाय 'अर्थं वाचः पुष्पफलमाह' इति यज्ञादीनां पुष्पफलत्वेन प्रतिज्ञानात्।[१८] ऋषिवरदयानन्दः प्रतिज्ञाविषये प्रतिजानीते-

---

१४. निरुक्त ७.१७

१५. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः। ऋ०२.३.२२ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-भाष्यकरणशंकासमाधानादिविषयः स्वामिदयानन्दः

१६. तत्रैव- भाष्यकरण

१७. निरुक्त १.१९

१८. निरुक्त ७.५- भाग-३ स्कन्दभाष्यम्

'अत्र वेदभाष्ये कर्मकाण्डस्य वर्णनं शब्दार्थतः करिष्यते परन्त्वेतैर्वेदमन्त्रैः कर्मकाण्डविनियोजितैर्यत्र यत्राऽग्निहोत्राद्यश्वमेधान्ते यद्यत् कर्त्तव्यं तत्तदत्र विस्तरतो न वर्णयिष्यते। कुतः ? कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैतरेयशतपथ-ब्राह्मणपूर्वमीमांसाश्रौतसूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात्। पुनस्तत्कथनेनानृषिकृतग्रन्थवत् पुनरुक्तपिष्टपेषणदोषापत्तेश्चेति।

उपर्युक्तकथनेन ज्ञायते यत् ऋषिवरदयानन्दः स्वभाष्ये कर्मकाण्डविनियोजनं विस्तरतो न वर्णयिष्यते यतो हि कर्मकाण्डानुष्ठानस्य यथार्थं विनियोजनमैतरेयशतपथब्राह्मणादिषु वर्तते। अन्यच्च प्रत्येकं मन्त्रस्यार्थः परमेश्वरपरकोऽपि भविष्यतीति स्वामिवर्यस्य विशदं मन्तव्यमस्ति। अधुना कतिपयाः वेदमन्त्राः प्रस्तूयन्ते यत्र ऋषिवरदयानन्देन विविधाः अर्थाः बोधिताः। तेन द्विशतमन्त्राणां भाष्ये श्लेषालंकारो लिखितः। 'अग्निमीळे पुरोहितम्०'[१९] अत्राग्निशब्देनपरमार्थव्यवहारविद्यासिद्धये परमेश्वरभौतिकौ द्वावर्थौ गृह्येते। 'इन्द्रायाहि चित्रभानो०'[२०] अत्र इन्द्रशब्देन ईश्वरसूर्य्यौ गृह्येते। अस्यायं भावः- अत्र श्लेषालङ्कारेणेश्वरस्य सूर्य्यस्य वा यानि कर्माणि प्रकाश्यन्ते तानि परमार्थव्यवहारसिद्धये मनुष्यैः समुपयोक्तव्यानि सन्तीति। 'इन्द्रेहि मत्स्यन्धसो०'[२१] अत्रापि इन्द्रशब्देनेश्वरसूर्य्यौ गृह्येते। अत्र श्लेषलुप्तोपमालंकारौ। यथेश्वरोऽस्मिन् जगति प्रतिपरमाण्वभिव्याप्य सततं सर्वान् लोकान् नियतान् रक्षति, तथा सूर्योऽपि सर्वेभ्यो लोकेभ्यो महत्त्वादाभिमुख्यस्थान् पदार्थानाकृष्य प्रकाश्य व्यवस्थापयति। '**वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरंकृताः**'[२२] अत्र श्लेषालंकारेणेश्वरभौतिकावर्थौ गृह्येते। ... प्रेम्णा जीवेन प्रयुक्तां स्तुतिं वाणीं चेश्वरः सर्वगतः प्रतिक्षणं शृणोति। तथा जीवो वायुनिमित्तेनैव शब्दानामुच्चारणं श्रवणं च कर्तुं शक्नोतीति। 'इह त्वष्टारमग्रियं विश्वरूपमुपह्वये'[२३] अत्र त्वष्टाशब्देन परमेश्वरभौतिकाग्नी गृह्येते। अस्यायं भावः- मनुष्यैरनन्तानन्दप्रद ईश्वर एवोपास्योऽस्ति। तथाऽयमग्निः सर्वपदार्थच्छेदको रूपगुणः सर्वद्रव्यप्रकाशकोऽनुत्तमः शिल्पविद्याया अद्वितीयसाधनोऽस्माकं यथावदुपयोक्तव्योऽस्तीति मन्तव्यम्। 'कदुद्राय प्रचेतस०'[२४] अत्र रुद्रशब्देन त्रयोऽर्था गृह्यन्ते। परमेश्वरो जीवो वायुश्चेति तत्र परमेश्वरः सर्वज्ञतया येन यादृशं पापकर्म कृतं तत्फलदानेन रोदयिताऽस्ति जीवः खलु यदा मरणसमये शरीरं जहाति पापफलं च भुङ्क्ते तदा स्वयं रोदिति वायुश्च शूलादिपीडाकर्मणा कर्मनिमित्तः सन् रोदयिताऽस्त्यत एते रुद्रा विज्ञेयाः। 'अस्मे सोम श्रियमधिनिधेहि०'[२५] अत्र सोमशब्देन परमेश्वरसभाध्यक्षौ गृह्येते। अस्यायं भावः- न हि कश्चित् परमेश्वरस्य कृपया सभाध्यक्षसहायेन स्वपुरुषार्थेन च विना पूर्णां विद्यां पशूंश्चक्रवर्तिराज्यं लक्ष्मीं च प्राप्तुं शक्नोतीति। 'त्वं सोमासि सत्पतिस्त्वं राजोत् वृत्रहा०'[२६] अत्र सोमशब्देन परमेश्वरः, शालाध्यक्षः, विद्वान्, सोमोषधिश्च गृह्यते। अस्यायं भावः-परमेश्वरो विद्वान् सोमलताद्योषधिगणो वा सर्वैश्वर्यप्रकाशकः सतां रक्षकोऽधिपतिर्दुःखविनाशको विज्ञानप्रदः कल्याणकार्यस्तीति सम्यग् विदित्वा सेव्यः। 'अहं सो अस्मि यः पुरा०'[२७] अत्र श्लेषोपमालंकारौ। सर्वान्मनुष्यान्प्रतीश्वर उपदिशति हे मानवा! यूयं यथा मया सृष्टिं रचयित्वा वेदद्वारा

१९. ऋग्वेद १.१.१
२०. ऋग्वेद १.३.४
२१. ऋग्वेद १.९.१
२२. ऋग्वेद १.२.१
२३. ऋग्वेद १.१३.१०
२४. ऋग्वेद १.४३.१
२५. ऋग्वेद १.४३.७
२६. ऋग्वेद १.९१.५
२७. ऋग्वेद १.१०५.७

यादृशा उपदेशाः कृताः सन्ति तान् तथैव स्वीकुरुत। उपास्यं मां विहायाऽन्यं कदाचिन्नोपासीरन्। यथा कश्चिन्मृगयायां प्रवर्त्तमानश्चोरो व्याधो वा मृगं प्राप्तुं कामयते तथैव सर्वान् दोषान्हित्वा मां कामयध्वम्। एवं विद्वांसमपि।।

एवं निरुक्तकारयास्केन इतरैः वेदभाष्यकारैश्च मन्त्राणामनेकार्थकपद्धत्याः यः सूत्रपातः कृतः तस्यैव संवर्धनं ऋषिवरदयानन्देन स्वभाष्ये कृतमिति निश्चप्रचम्।

ऋषिवरदयानन्दस्य वेदभाष्यस्य वैशिष्ट्यमपरमिदमस्तीति यत् स वेदेषु लौकिकमितिहासं नैव मन्यते। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायाः वेदसंज्ञाप्रकरणे तेनोल्लिखितम्- 'नात्र मन्त्रभागे हीतिहासलेशोऽप्यस्तीत्यवगन्तव्यम्। अतो यच्च सायणाचार्यादिभिर्वेदप्रकाशादिषु यत्र कुत्रेतिहासवर्णनं तद् भ्रममूलमस्तीति मन्तव्यम्।' एवमेव **'त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्०'**[२८] अत्र जमदग्निकश्यपेत्यादीनि नामानि दृश्यन्ते। एतौ जमदग्निकश्यपौ देहधारिणो मनुष्यस्य नाम्नी नैव स्तः। शतपथानुसारेण जमदग्निश्चक्षुर्नाम, कश्यपश्च प्राणो नाम। एवमेव ऋग्वेदे- 'यदिन्द्राग्नी यदुषु तुर्वशेषु यद्द्रुह्युष्वनुषु पुरुषु स्थः०'[२९] अत्र यदुतुर्वश-द्रुह्यु-अनु-पुरु-इत्यादीनि नामानि दृश्यन्ते। अस्य व्याख्यायां स्कन्दस्वामी लिखति- 'पञ्चाप्येतानि राज्ञां नामधेयानि।' एषामपत्यानां तद्गृहाणां च वर्णनं वर्ततेऽस्मिन् मन्त्रे।

वेंकटमाधवेन लिखितम्-'यदुप्रभृतयः बहुयज्ञाः कुत्ससमकालीना इति। अत्र विल्सनग्रिफिथावपि ऐतिहासिकनामानि मन्येते। परं महर्षिदयानन्देन यौगिकार्थं मत्वा मन्त्रस्यास्य भाष्यं कृतम्। 'यदुषु प्रयत्नकारिषु मनुष्येषु, तुर्वशेषु तुर्वन्तीति तुरस्तेषां वशा वशं कर्तारो, मनुष्यास्तेषु, द्रुह्युषु द्रोहकारिषु, अनुषु प्राणप्रदेषु, पूरुषु परिपूर्णसद्गुणविद्याकर्मसु मनुष्येषु। यदव इत्यादि पञ्चविंशतिः मनुष्यनामसु पठितम्।'[३०] सायणाचार्येणाप्यत्र यौगिकार्था एव गृहीताः। यथा- 'यदुषु नियतेषु परेषामहिंसकेषु मनुष्येषु, तुर्वशेषु हिंसकेषु मनुष्येषु, द्रुह्युषु द्रोहं परेषामुपद्रवमिच्छत्सु मनुष्येषु, अनुषु प्राणत्सु सफलैः प्राणैर्युक्तेषु ज्ञातृष्वनुष्ठातृषु मनुष्येषु, पुरुषु कामैः पूरयितव्येष्वन्येषु स्तोतृजनेषु।' अन्येषु स्थलेषु एतान्येव ऐतिहासिकानि मन्यते सायणाचार्यः। यथा-'य आनयत्परावतः सुनीती तुर्वशं यदुम्०'[३१] अत्र तुर्वशं यदुं च एतत्संज्ञौ राजानौ इति सायणाभिमतम्। परं दयानन्द अत्रापि यौगिकार्थमेव मन्यते। यथा- तुर्वशं हिंसकानां वशकरम्, यदुं प्रयतमानं नरम् इति।

वेदेषु यान्यन्यानि नामानि नहुष-कौशिक-शुनःशेप-कक्षीवान्-पुरुकुत्स-अगस्त्य-नमुचि- भृगु-इत्यादीनि दृश्यन्ते तेषामपि महर्षिणा दयानन्देन यौगिकोऽर्थ कृतोऽन्यैः भाष्यकारैस्तु तत्रापि ऐतिहासिकोऽर्थो गृहीतः। 'आ तू न इन्द्र कौशिक मन्दसानः सुतं पिब०'[३२] अत्र 'कौशिक' इत्यस्य कुशिकस्य पुत्र इन्द्र इति कृतः सायणादिभिः। परं दयानन्देन 'कौशिक सर्वासां विद्यानामुपदेशे प्रकाशे च भवस्तत्संबुद्धौ, अर्थानां साधूपदेष्टर्वा।' **'सोमानं स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते। कक्षीवन्तं य औशिजः।'**[३३] अत्र 'कक्षीवान् इत्यस्यार्थः सायणवेंकटस्कन्दादिभि ऋषिविशेषः कृतः। परं दयानन्देनात्रापि यौगिकोऽर्थो गृहीतः।' यथा- 'कक्षीवन्तम्=याः कक्षासु कराङ्गुलिक्रियासु भवाः शिल्पविद्यास्ताः प्रशस्ता विद्यन्ते यस्य तम्। कक्षा इत्यङ्गुलिनामसु पठितम्।'[३४] तदिन्नक्तं तद्दिवा मह्यमाहुस्तदयं केतो

---

२८. यजुर्वेद ३.६२
२९. ऋग्वेद १.१०८.८
३०. निघण्टु २.३
३१. ऋग्वेद ६.४५.१
३२. ऋग्वेद १.१०.११
३३. ऋग्वेद १.१८.१
३४. निघण्टु २.५

हृद आविचष्टे। शुनः शेपो०[३५] अस्मिन् मन्त्रे शुनःशेप इत्यनेन सायणादिभिः व्यक्तिविशेषः गृहीतः। दयानन्देन 'शुनः शेपः शुनो विज्ञानवत इव शेपो विद्यास्पर्शो यस्य सः' इति गृहीतः। 'त्वामग्ने प्रथममायुमायवे देवा अकृण्वन्नहुषस्य०[३६] अस्मिन् मन्त्रे 'नहुषस्य' सायणादिभिः नहुषनामकराजविशेषो गृहीतः। दयानन्देन च 'नहुषस्य मनुष्यस्य' नहुष इति मनुष्यनामसु पठितम्[३७] इति गृहीतः। 'युधायुधमुप घेदेषि ..... नमुचिं नाम मायिनम्०[३८] इत्यत्र 'नमुचि' इत्यनेन मायाविन असुरस्य ग्रहणं सायणादिभिः। दयानन्देन तु 'नमुचिं न विद्यते मुचिर्मोक्षणं यस्य तम्' इति यौगिकोऽर्थो गृहीतः। 'नमुचि'= पापी मनुष्यः। 'दधुष्ट्वा भृगव०[३९] इत्यत्र 'भृगनामकः महर्षिः' इति सायणादिभिः कृतोऽर्थः। दयानन्देन च 'परिपक्वविज्ञानाः मेधाविनो विद्वांसः' इति कृतः। 'दनो विश .... पुरुकुत्साय रन्धीः।'[४०] इत्यत्र 'पुरुकुत्स' इत्यनेन पुरुकुत्सनामकराजविशेषो गृहीतः सायणादिभिः। दयानन्देन च 'पुरुकुत्साय पुरवो बहवः कुत्सा वज्राः किरणा यस्मिन् सूर्ये' इति गृहीतो यौगिकोऽर्थः। 'अगस्त्यः खनमानः खनित्रैः०[४१] इत्यत्र 'अगस्त्य इत्यनेनैतिहासिकर्षिर्गृहीतः' सायणादिभिः। दयानन्देन तु 'ये धर्मादन्यत्र न गच्छन्ति तेऽगस्तयस्तेषु साधुः' इति गृहीतः।

ऋषिवरदयानन्देन स्ववेदभाष्ये सर्वत्र जडपदार्थाय प्रथमपुरुषप्रयोगः कृतः। केचनोदाहरणा अत्र प्रस्तौमि। यथा- 'इषे त्वोर्ज्जे त्वा०[४२] इत्यत्र स्थः सन्ति। 'वसोः पवित्रमसि०[४३] इत्यत्र असि= भवति। 'धूरसि धूर्व धूर्वन्तं०[४४] इत्यत्र असि अस्ति। 'अह्रुतमसि०[४५] इत्यत्र असि= अस्ति। 'पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ०[४६] इत्यत्र स्थः भवतः वः ताः। 'युष्मा इन्द्रोऽवृणीत०[४७] इत्यत्र स्थ= भवन्ति। अत्र सर्वत्र दयानन्दभाष्ये भौतिकपक्षे व्यत्ययेन प्रथमपुरुषो गृह्यते। अस्मिन् विषये ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां निर्दिश्यते- 'व्याकरणरीत्या प्रथममध्यमोत्तमपुरुषाः क्रमेण भवन्ति। तत्र जडपदार्थेषु प्रथमपुरुष एव, चेतनेषु मध्यमोत्तमौ च। अयं लौकिकवैदिकशब्दयोः सार्वत्रिको नियमः। परन्तु वैदिकव्यवहारे जडेऽपि प्रत्यक्षे मध्यमपुरुषप्रयोगाः सन्ति। तत्रेदं बोध्यं जडानां पदार्थानामुपकारार्थं प्रत्यक्षकरणमात्रमेव प्रयोजनमिति। इमं नियममबुद्ध्वा वेदभाष्यकारैः सायणाचार्यादिभिस्तदनुसारतया स्वदेशभाषयाऽनुवादकारकैर्यूरोपाख्यदेशनिवास्यादिभिर्मनुष्यैर्वेदेषु जडपदार्थानां पूजास्तीति वेदार्थोऽन्यथैव वर्णितः।'[४८] दयानन्दमहाभागस्यैषा सुदृढ़ा बलवती च धारणा विद्यते यत् जडपदार्थस्योपासना न कदापि कथमपि कर्त्तव्या इति।

---

३५. ऋग्वेद १.२४.१२
३६. ऋग्वेद १.३१.११
३७. निघण्टु २.३
३८. ऋग्वेद १.५३.७
३९. ऋग्वेद १.५८.६
४०. ऋग्वेद १.१७४.२
४१. ऋग्वेद १.१७९.६
४२. यजुर्वेद १.१
४३. यजुर्वेद १.२
४४. यजुर्वेद १.८
४५. यजुर्वेद १.९
४६. यजुर्वेद १.१२
४७. यजुर्वेद १.१३
४८. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका- वैदिकप्रयोगविषयः स्वामिदयानन्दः

स्वामिदयानन्दस्य वेदभाष्ये देवताविषयको यो भेदो दृश्यते सोऽपि ऋषिप्रोक्तत्वात् विषयभेदत्वात् पूर्वाचार्याणां निर्देशत्वात् यास्केनोक्तत्वात् च प्रामाणिको युक्तिसङ्गतश्च। यजुर्वेदभाष्ये प्रथमाध्यायस्य एकत्रिंशन्मन्त्राणां मध्ये एकोनत्रिंशन्मन्त्राः देवताभेदेन प्रतिपादिताः दयानन्दमहाभागेन। अस्मिन् विषये यजुर्वेदभाष्यारम्भे उव्वटाचार्यो लिखति- 'गुरुतस्तर्कतश्चैव तथा शातपथश्रुतेः। ऋषीन् वक्ष्यामि मन्त्राणां देवता छान्दसं च यत्।।' अस्मिन् विषये यास्काचार्योऽपि निर्दिशति नियमम्। यथा- 'तद्येऽनादिष्टदेवता मन्त्रास्तेषु देवतोपपरीक्षा' 'यद्देवतः स। यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा तद्देवता भवन्ति।'[४९] अस्य व्याख्यायां दुर्गो लिखति- ''यद् देवतः स यज्ञः यद् देवतं प्रधानं हविः, तद्यथा प्रकृतावैन्द्रं सान्नाय्यं माहेन्द्रं वा, तत्संस्कारपरा 'इषे त्वादयः' तेऽनाविष्कृतदेवतालिङ्गा ऐन्द्रा एव भवन्ति माहेन्द्रा वा।'' देवतापरिवर्तनविषये स्कन्दोऽपि निगदति- 'इषे त्वादयस्तद्देवत्याः' अत एवमन्यत्रापि देवताभेदः प्राचीनर्षिमुनिसम्मत एव। यास्कादिभिः परमर्षिभिर्बृहद्देवतासर्वानुक्रमण्यादिनिर्दिष्टदेवतावादमनपेक्ष्य भिन्नदेवतावादस्य प्रदर्शितत्वात्। 'पारोवर्य्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवतीति'[५०] इत्यादिशास्त्रवचनस्याश्रयणाच्च।।' 'चत्वारि शृङ्गा त्रयोऽस्य पादा०'[५१] अस्य मन्त्रस्य विवेचनं यास्कपतञ्जलिदयानन्दादिभिः विहितम्। परं त्रयाणां व्याख्यायां देवताभेदो दृश्यते। यास्केन अस्य मन्त्रस्य व्याख्या यज्ञविषया कृता पतञ्जलिना च शब्दविषया। दयानन्देन तु उभयोः तयोः भाष्ययोः मिश्रणं कृत्वा भावार्थः प्रदत्तः। तद्यथा- 'हे मनुष्या अस्मिन् परमेश्वरव्यासे जगति यज्ञस्य चत्वारो वेदा नामाख्यातोपसर्गनिपाताः विश्वतैजसप्राज्ञतुरीयधर्मार्थकाममोक्षाश्चेत्यादीनि शृङ्गाणि त्रीणि सवनानि त्रयः कालाः कर्म्मोपासनाज्ञानानि मनोवाक्छरीराणि चेत्यादीनि पादाः द्वौ व्यवहारपरमार्थौ नित्यकार्यौ शब्दात्मानावुदगयनप्रायणीया अध्यापकोपदेशकौ चेत्यादीनि शिरांसि गायत्र्यादीनि सप्त छन्दांसि सप्त विभक्तयः सप्त प्राणाः पञ्च कर्मेन्द्रियाणि शरीरमात्मा चेत्यादयो हस्तास्त्रिषु मन्त्रब्राह्मणकल्पेषूरसि कण्ठे शिरसि श्रवणमनननिदिध्यासनेषु ब्रह्मचर्य्यसुकर्मसुविचारेषु सिद्धोऽयं व्यवहारो महान् सत्कर्त्तव्यो मनुष्येषु प्रविष्टोऽस्तीति सर्वे विजानन्तु।' एवमुक्तरीत्या सम्पूर्णं मन्त्रं वीक्ष्य प्रतीयते यत् दयानन्दमहाभागेन यास्कादिभिर्परमर्षिभिरनुमोदिताऽभिनन्दिता या वेदभाष्यपद्धतिः, तामेवानुसृत्य स्ववेदभाष्यं सुस्पष्टीकृतं विशदीकृतञ्च। यास्केन 'नामपदानि धातुजानि भवन्ति'[५२] इति निर्दिष्टं स्वनिरुक्ते। सर्वेषां नैरुक्तानामपि अयमेव सिद्धान्तः। दयानन्दमहाभागेन सर्वत्रैवास्य परिपालनं कृतमिति निश्चप्रचम्।

ऋषिवरदयानन्देन मन्त्राणां स्वतन्त्रः विनियोगः कृतः स्ववेदभाष्ये। 'इषे त्वा ऊर्जे त्वा०'[५३] इत्यत्र कर्मकाण्डविध्यनुसारेण 'इषे त्वा० अनेन मन्त्रांशेन पलाशशाखायाः छेदनं भवति 'ऊर्जे त्वा' अनेन च शाखायाः रेणोरपाकरणम्। परं मन्त्रे शाखायाः न कुत्रापि उल्लेखो भवति। ऋषिवरदयानन्दः विनियोगविषये संकेतयति नियमम्- 'तस्माद् युक्तिसिद्धो वेदादिप्रमाणानुकूलो मन्त्रार्थानुसृतः तदुक्तोऽपि विनियोगो ग्रहीतुं योग्योऽस्ति।'[५४] यतो ह्यत्र मन्त्रार्थानुसृतः विनियोगो नास्ति अत एव ग्रहीतुं योग्योऽपि नैव भवति। ऐतरेयब्राह्मणे गोपथब्राह्मणे[५५] च विनियोगविषये एकं पारिभाषिकं पदमागच्छति रूपसमृद्धमिति। रूपसमृद्धो विनियोगः स भवति य

४९. निरुक्त ७.४
५०. निरुक्त १३.१३
५१. ऋग्वेद ४.५८.३
५२. निरुक्त १.११
५३. यजुर्वेद १.१
५४. ऋग्वेदादिभाष्यो- प्रतिज्ञाविषयः।
५५. एतद् वै यज्ञस्य समृद्धं यद् रूपसमृद्धं यत् कर्म क्रियमाणमृगभिवदति। ऐ०ब्रा०१.१६ एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं, यद् रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाभिवदति। गो० ब्रा० २.६

मन्त्रार्थेनानुमोदितो भवति। रूपसमृद्धिरहितो विनियोगः- यत्र विधेः क्रियाया वा मन्त्रार्थेन सम्बन्धो नैव भवति। रूपसमृद्धिहीनेन विनियोगेन विनियोगकर्तुरयोग्यतैव सूच्यते, एवमेतादृशो विनियोगो ग्रहीतुं योग्यो नास्ति। अश्वमेधप्रकरणे यजुर्वेदस्य त्रयोविंशतितमस्याध्यायस्य द्वाविंशतितमादारभ्य एकत्रिंशत्तमं मन्त्रपर्यन्तं यः संवादो वर्तते तस्य गम्भीरार्थो विद्यते परं महीधरेण तत्राश्लीलार्थः कृतः। स्वामिदयानन्देन ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां तस्य खण्डनं विधाय राजनीतिपरोऽर्थः प्रस्तुतः।

यजुर्वेदस्य षष्ठाध्याये सप्तत्रिंशन्मन्त्राः सन्ति। कर्मकाण्डीयविध्यनुसारेण त्वग्निषोमीयपशुप्रधानः अध्यायोऽयम्। यूपं संस्कृत्य, तं भूमौ संस्थाप्य यूपेन अजपशुं निबन्ध्य, पश्चात् क्षुरिकामुपरि घृतमवलेप्य पशुकर्त्तनं भवति एभिः मन्त्रैः। पश्चात् पशोरङ्गेषु मार्जनं, तस्य मेदेन होमः। मृतस्याङ्गेषु पुनः प्राणप्रतिष्ठा इत्यादयो विनियोगाः क्रियन्ते। तत्पश्चात् 'समुद्रं गच्छ स्वाहा' इत्यनेन पशोः पृष्ठभागस्य एकादशभागं कृत्वा अग्नावाहुतिं ददति। परं दयानन्दस्य नवीनं विषयविभाजनमध्यायेऽस्मिन् द्रष्टव्यमस्ति। प्रथमे मन्त्रे राज्याभिषेकाय सुशिक्षितं सभाध्यक्षं विद्वांसं प्रत्याचार्यादीनामुपदेशः, द्वितीय अभिषिक्तं सभाध्यक्षं प्रति कर्त्तव्योपदेशाः। 'समुदं गच्छ'[५६] अस्मिन् राष्ट्रकर्मानुष्ठातुमर्हाय शिष्याय गुरोरुपदेशः। 'मापो मौषधीर्हिंसीर्धाम्नोः०[५७] अस्मिन् वाणिज्यार्थं राजप्रबन्धस्योपदेशः, 'हविष्मतीरिमाऽआपो'[५८] अस्मिनन्योन्यं मिलित्वा राजप्रजे केन किं किं कुर्यातामिति उपदेशः, 'सोम राजन् विश्वास्त्वं०', 'देवीरापोऽअपांनपाद्यो०[५९] एतयोर्द्वयोर्मन्त्रयोः गुरुजनः क्षत्रियं शिष्यं प्रजाजनांश्च प्रत्युपदिशति, 'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे०[६०] मन्त्रेऽस्मिन् सभापतिः करधनप्रदं प्रजापुरुषं कथं स्वीकुर्य्यादित्युपदेशः 'मनो मे तर्प्पयत०[६१] इत्यस्मिन् राजा सभ्यजनान् सभा राजानञ्च किमुपदिशेदित्याह 'इन्द्राय त्वा वसुमते०[६२] राज्यव्यवहारः सभाधीन एव तर्हि कस्मै प्रयोजनाय प्रजापुरुषैः सभापतिस्वीकार्य्य इत्युपदिश्यते मन्त्रेऽस्मिन् 'श्वात्रा स्थ वृत्रतुरो०[६३] इत्यस्मिन् सभापत्यादिविदुषां पत्न्यः कीदृशकर्मानुष्ठात्र्यो भवन्त्वित्युपदिश्यते 'त्वमङ्ग प्रशंसिषो देवः'[६४] इत्यस्मिन् प्रजाजनाः निर्वाचितं सभापतिं कथं प्रशंसेयुरित्युपदिश्यते। 'रेवती रमध्वं बृहस्पते०[६५] इत्यस्मिन् मन्त्रे पित्रादयः स्वसन्तानान् कथमध्यापकाय प्रददुः स च तान् कथं गृह्णीयादित्युपदिश्यते, 'देवस्य त्वा सवितुः०[६६] सः गुरुः शिष्यं किमुपदिशेदित्याह, 'देवीरापः शुद्धा वोड्ढ्व०[६७] इत्यस्मिन् मन्त्रे वटुभिर्ब्रह्मचारिणीभिश्च गुरुपत्न्यः कथं सम्माननीया इत्युपदिश्यते, 'वाचं ते शुन्धामि प्राणं ते शुन्धामि०[६८] इत्यस्मिन् ता गुरुपत्न्यो गुरवश्च यथायोग्यशिक्षया

---

५६. यजुर्वेद ६.२१
५७. यजुर्वेद ६.२२
५८. यजुर्वेद ६.२३
५९. यजुर्वेद ६.२६,२७
६०. यजुर्वेद ६.३०
६१. यजुर्वेद ६.३१
६२. यजुर्वेद ६.३२
६३. यजुर्वेद ६.३४
६४. यजुर्वेद ६.३७
६५. यजुर्वेद ६.८
६६. यजुर्वेद ६.९
६७. यजुर्वेद ६.१३
६८. यजुर्वेद ६.१४

स्वस्वान्तेवासिनः सद्गुणेषु कथं प्रकाशयन्तीत्युपदिश्यते, 'अग्नेर्वोऽपन्नगृहस्य०'[६९] इत्यस्मिन् मन्त्रे च गुरुपत्न्यो ब्रह्मचर्यमनुवर्त्तिनीः कन्याः किं किमुपदिशेयुरित्याह।

उपर्युक्तकर्मकाण्डीयदयानन्दीयव्याख्ययोः दृष्ट्वा स्फुटीभवति यत् दयानन्दवेदभाष्यस्य किं वैशिष्ट्यम्। तस्य भाष्ये न कुत्रापि मांसभक्षणं, न च पशुबलिः वर्तते। एवं स्वामिदयानन्दस्य वैशिष्ट्यमिदं विद्यते यदसौ भाष्यकारः व्यावहारिकं लोकोपकारिकमर्थमधिकं विदधाति।

महर्षेः दयानन्दस्य वेदभाष्यस्य महद्वैशिष्ट्यमिदं वर्तते यत् तेन महाभागेन वैदिकदेवतानां वैदिकदेवानाञ्च स्वरूपनिर्धारणं कृतम्। वेदेषु उषाराकासिनीवालीडासरस्वतीमहीभारतीपृथिव्यदितिशचीप्रभृतीनां देवतानामग्नीन्द्र-सवितृविष्णु-इत्यादीनां देवानाञ्चोल्लेखो प्राप्यते। अधुनात्रोदाहरणरूपेण 'सरस्वत्यग्नी' इत्येतौ देवौ प्रस्तौमि-

सरस्वती- सरस्वतीति पदं निघण्टौ वाणीनामसु नदीनामसु च पठितम्।[७०] शतपथब्राह्मणे च नारी' इत्यर्थः प्राप्यते।[७१] सायणादिभिस्तु वाणीनद्यौ एतौ द्वावेवार्थौ कृतः। महर्षिदयानन्दस्य भाष्ये अस्य पदस्य विविधार्थाः प्राप्यन्ते। 'सरस्वती' इति पदं मुख्यत्वेन 'विदुषी कन्या'[७२] 'प्रशस्ता ज्ञानवती विदुषी स्त्री'[७३] 'प्रशस्तविद्याविज्ञानयुक्ता पत्नी'[७४] 'शिक्षिता माता'[७५] 'योगिनी स्त्री'[७६] 'वेदादिशास्त्रविज्ञानयुक्ता अध्यापिका स्त्री'[७७] 'सर्वविद्याप्रापिका वाणी'[७८] 'वेगवती नदी'[७९] 'विज्ञानवती नीतिः'[८०] इत्यादीनां बहूनामर्थानां वाचकः। 'आपप्रुषी पार्थिवान्युरू रजो अन्तरिक्षम्। सरस्वती निदस्पातु।'[८१] इत्यस्मिन् मन्त्रे 'सरस्वती' इति पदेन 'विद्यासुशिक्षिता वाक्' गृहीता। अस्य मन्त्रस्यायं भावः- 'हे मनुष्या! या वाणी सर्वत्राकाशे व्याप्ताऽस्ति तां विदित्वाऽनया कस्यापि निन्दामर्थाद् गुणेषु दोषारोपणं दोषेषु गुणारोपणं च कदाचिन् मा कुर्वन्तु।'

अग्निः-दयानन्दभाष्ये 'अग्निः' इति पदं मुख्यत्वेन परमेश्वरजीवात्माविद्वान्मनुष्यनृपसेनाध्यक्षन्यायाधीश-वीरपुरुष यज्ञाग्निभौतिकाग्निविद्युदित्यादीनां बोधकः। 'अग्ने सहस्व पृतना०'[८२] इत्यस्मिन् मन्त्रे 'अग्नि' इति पदेन वह्निवद् दुष्टानां दाहकः नृपः राजपुरुषश्च गृहीतः। अस्यायं भावः- 'राजपुरुषैः स्वप्रजासेना बलवतीः कृत्वा दुष्टाञ्छत्रून्निवार्य्य प्रजावर्द्धनाय धनविद्योन्नतिः सततं कर्त्तव्या।'

एवमुपर्युक्तेनानुशीलनेन ज्ञायते यद् दयानन्दवेदभाष्यमृषिभिर्मुनिभिश्चानुमोदितमभिनन्दितञ्च वर्तते। तस्य मते सर्वेषां वेदानां तात्पर्यमीश्वर एव विद्यते। तेन पारमार्थिकव्यावहारिकयोर्द्वयोरर्थयोर्या सम्भावना प्रदर्शिता सर्वेषु

---

६९. यजुर्वेद ६.२४
७०. निघण्टु १.११, १.१३
७१. योषा वै सरस्वती। श०ब्रा०२.५.१.११
७२. ऋग्० १.१८८.८, ६.४९.७
७३. ऋग्० २.४१.१७, यजु० २१.४९
७४. यजु० १९.१५
७५. यजु० २०.६२,६४
७६. यजु० १९.९३
७७. यजु० ९.२७
७८. ऋग्० १.३.१०, यजु० ११.२६
७९. ऋग्० ६.५२.६, यजु० २१.४६
८०. ऋग्० १.१३.९, यजु० २१.५६
८१. ऋग्० ६.६१.११
८२. ऋग्० ३.२४.१

मन्त्रेषु, तस्याः परिपालनमपि कृतम्। सायणोव्वटादीनां यथावत् खण्डनमपि कृतम्। प्रायशः श्लेषालंकारेण लुप्तोपमालंकारेण च मन्त्राणामर्थाः बोधिताः दयानन्दमहाभागेन। स वेदेषु लौकिकमितिहासं नैव मन्यते। जडपदार्थाय सर्वत्र तेन प्रथमपुरुषप्रयोगः कृतः। बहुषु स्थलेषु देवताभेदोऽपि प्रदर्शितः। ऋषिवरेण पूर्वकृतेभ्यो विनियोगेभ्यः स्वतन्त्रविनियोजनं कृतम्। देवानां देवतानाञ्च स्वरूपनिर्धारणं विहितम्। एवं महर्षेः वेदभाष्यानुशीलनेन स्फुटमेतदवगम्यते यत् स क्रान्तदर्शी, निर्भीकः, धर्मपरायणः, परार्थैकधीः, नारीसम्मानसंवर्धकः, वैदिकधर्मप्रतिष्ठापकः, मूर्तिपूजा-अवतारवाद-मांसभक्षण-पशुबलीत्यादिदोषसंहारकः एकेश्वरवादसंपोषकः समाजोन्नायकः, राष्ट्रियचेतनाप्रबोधकः महापुरुषश्चासीत्।

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०१० अङ्क १३ (पृ०२८-३३)

महर्षि दयानन्द के वेद-भाष्य में अग्नि देवता-सूचक गृहस्थ-धर्म

डॉ० सुधीर कुमार आर्य[1]

वेदों में जहाँ अन्य विषयों का वर्णन है, वहाँ गृहस्थ-विषय का भी वर्णन विस्तार के साथ मिलता है। महर्षि दयानन्दकृत वेदभाष्य के अग्निदेवतासम्बन्धी लगभग तीस मन्त्रों में गृहाश्रम का विषय वर्णित है। स्वामी जी अग्नि का शब्दार्थ गृहपति एवं चरित्र का बहुत सुन्दर रीति से प्रतिपादन करते हैं। दयानन्द-भाष्य के एतद्विषयक प्रकरण के अध्ययन से हमें ज्ञात होता है कि गृहस्थ पति-पत्नी कैसे हों, उनका पारस्परिक व्यवहार कैसा हो, सन्तान के प्रति उनके क्या कर्त्तव्य हों, वे सन्तान को कैसी शिक्षा दें, सन्तान का माता-पिता के प्रति क्या कर्त्तव्य हो, विवाह के समय वर-वधू क्या प्रतिज्ञाएँ करें, स्वयंवर विवाह की क्या श्रेष्ठता है, क्यों विवाह दूर देश में होना उचित है आदि।

अग्नि का गृहपति अर्थ करने में प्रमाण-

अग्नि का गृहपति अर्थ करने में वेदमन्त्रों के प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं, जो साक्षात् रूप से या विशेषण-विशेष्यभाव से अग्नि को गृहपति सिद्ध करते हैं। यथा-

१. दमूना गृहपतिर्दम आँ अग्निर्भुवद्रयिपतीरयीणाम्। (ऋग्०१.६०.४)
२. वयमु त्वा गृहपते जनानामग्ने। (ऋग्०६.१५.१९
३. त्वमग्ने गृहपतिस्त्वं होता। (ऋग्०७.१६.१५)
४. अग्ने गृहपते सुगृहपतिस्त्वयाऽग्नेऽहं भूयासम्। (यजु०२.१७)
५. अयमग्निर्गृहपतिर्गार्हपत्यः। (यजु०३.३९)
६. अग्नये गृहपतये स्वाहा। (यजु०१०.१३)
७. अग्निं गृहपतिम्। (यजु०२८.३४)
८. सायं सायं गृहपतिर्नो अग्निः। (अथर्व०१९.५५.३)
९. प्रातः प्रातः गृहपतिर्नो अग्निः। (अथर्व०१९.५५.४)
१०. अग्निर्गृहपतिः। (तै०सं०२.४.५.२)
११. अग्ने गृहपते सुगृहपतिरहम्। (मै०१.५.१४, काठ०५.५.७.३)
१२. अग्ने गृहपतये। (मै०२.६.६)

उपर्युक्त सभी प्रमाणों से महर्षि दयानन्द का अग्नि को गृहपति के अर्थ में ग्रहण करना उचित ठहरता है।

गृहपति

गृहपति को किन-किन गुणोंवाला होना चाहिए, एतद्विषयक कतिपय प्रसंगों का अग्निदेवताक मन्त्रों के दयानन्द-भाष्य से हम यहाँ उल्लेख कर रहे हैं।

---

१ असिस्टेण्ट प्रोफेसर, वेद विभाग, गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार उत्तरखण्ड

गृह-व्यवहार का पालक गृहस्थ-जन ब्रह्मचर्यानुष्ठान के पश्चात् ही गृहाश्रम में प्रविष्ट होकर, बहुत सुवर्णादि से युक्त होकर सब व्यवहार एवं धन का धारण करनेवाला, इन्द्रियों और अन्तःकरण का दमनकर्त्ता तथा पूजनीय व वरणीय हो।[२] उसे अतिथि के सदृश उपदेशकर्ता, प्राचीन विद्वानों से प्राप्तविद्य, न्याय के व्यवहार का प्रकाशक, महाप्रज्ञा, सुन्दर आकृतिवाला, धन की इच्छावाला, प्रशंसित गृहवाला, श्रेष्ठ रक्षणादि साधनों से युक्त एवं विनष्ट-शत्रुओं वाला होना चाहिए।[३] वह अग्नि के सदृश तेजस्वी, यज्ञ (हवन) के गुणों को जाननेवाला, रत्नों का धारक, बहुतों की सेवा करनेवाला एवं अन्य विविध गुणों से प्रकाशित हो।[४]

गृहस्थजनों को चाहिए कि वे आलस्य का त्याग एवं सृष्टिक्रम से विद्या की उन्नति करके अन्य विद्यार्थियों को भी विद्याग्रहण कराएँ।[५] वही मनुष्य गृहाश्रम के योग्य होता है जो सत्य धर्म से युक्त, सम्पूर्ण संसार के उत्पादक ईश्वर के समान व्यवहार करनेवाला, स्त्री का साथी, सुन्दर गतिवाला, बुद्धि वा सत्यकर्मों से युक्त तथा युद्ध में गति करते हुए शत्रुमनुष्यों के सम्मुख सूर्य के सदृश स्थित होकर, जैसे सूर्य मेघ के साथ युद्ध करते हुए विजयी होता है तद्वत् विजयशील हो।[६]

विद्वान् गृहपति को सम्बोधित करते हुए एक मन्त्र के भाष्य में महर्षि दयानन्द लिखते हैं-हे शोभन, अहिंसनीय एवं मानवीय व्यवहार करने वाले विद्वान् गृहस्थ, आप निरन्तर उन्नति को प्राप्त होवो, सदैव प्रयत्नशील रहो, शुद्ध विद्या और शिक्षा से युक्त प्रज्ञा वा क्रिया से हमारी रक्षा करो। हे अग्नि के समान प्रकाशमान गृहपति, आप प्रशंसित गुणों के साथ सब विद्याओं को प्राप्त होवो तथा हमें भी प्राप्त कराओ, जैसे सूर्य महान् प्रकाश के साथ सबको प्राप्त होता है।[७]

कन्या-शिक्षा, स्वयंवर एवं वर-वधू की योग्यता-

महर्षि दयानन्द कन्याओं की शिक्षा के प्रबल पक्षपाती थे, अतः उन्होंने अपने वेदभाष्य में भी इस विषय पर समुचित प्रकाश डाला है। वे चाहते थे कि कन्याएँ पूर्ण विदुषी होकर सुयोग्य वर से स्वयंवर-विवाह करके राष्ट्र को उत्तम सन्तान दें। अग्निदेवताक मन्त्रों के दयानन्द-भाष्य से इस विषय के कुछ विचार यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं-

माता-पिता को चाहिए कि अपनी कन्याओं को व्याकरणादि शास्त्र पढ़ाके वैद्यकशास्त्र पढ़ावें, जिससे वे कन्याएँ आरोग्यकारक तथा गर्भस्थापक ओषधियों को जानकर एवं श्रेष्ठ सन्तानों को उत्पन्न करके निरन्तर आनन्द

---

२ त्वामग्न ऋतायवः समीधिरे प्रत्नं प्रत्नास ऊतये सहस्कृत। पुरुश्चन्द्रं यजतं विश्वधायसं दमूनसं गृहपतिं वरेण्यम्॥ ऋग्०५.८.१

३ त्वामग्ने अतिथिं पूर्व्यं विशः शोचिष्केशं गृहपतिं निषदिरे। बृहत्केतुं पुरुरूपं धनस्पृतं सुशर्म्माणं स्ववसं जरद्विषम्॥ ऋग्०५.८.२

४ त्वामग्ने मानुषीरीळते विशो होत्राविदं विविचं रत्नधातमम्। गुहा सन्तं सुभग विश्वदर्शतं तुविष्णवं सुयजं घृतश्रियम्॥ ऋग्०५.८.३

५ ऋग्०६.१५.१९

६ कीदृशाः स्त्रीपुरुषाः गृहाश्रमं कर्तुं योग्याः सन्तीत्याह। निवेशनः सङ्गमनो वसूनां विश्वा रूपाभिचष्टे शचीभिः॥ देव इव सविता त्यधर्मेन्द्रो न तस्थौ समरे पथीनाम्॥ यजु०१२.६६, दया०भा०

७ यजु०११.४१, हे स्वध्वर सज्जन विद्वन् गृहस्थ त्वं सततमुत्तिष्ठ सर्वदा प्रयतस्व। देव्या धिया नोऽव। हे अग्ने अग्निवत्प्रकाशमान सुशुक्वनिस्तवम् दृशे बृहता भाषा सूर्य इव सुशस्तिभिः सर्वाः विद्या आ याहि, अस्मांश्च प्रापय-अन्वय।

भोगें।[८] कुमार-कुमारियाँ धर्मानुकूल सेवन किये गये ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्याओं को पढ़, स्वयं धार्मिक हो, पूर्ण युवावस्था की प्राप्ति में कन्याओं की पुरुष और पुरुषों की कन्याएँ परीक्षा कर, अत्यन्त प्रीति के साथ चित्त से परस्पर आकृष्ट होकर, अपनी इच्छानुकूल विवाह करके धर्मपूर्वक सन्तानों को उत्पन्न करें।[९]

स्वयंवर में कन्या किन-किन गुणों वाले वर का चयन करें, इस विषय में अग्निदेवताक मन्त्रों के वेदभाष्य में महर्षि के विचार निम्न प्रकार हैं-कन्या को चाहिए कि वह अपने से अधिक बलवाले और विद्यावाले अथवा अपने तुल्य पति को स्वीकार करे, किन्तु छोटे या न्यून विद्यावाले को नहीं।[१०] जो अग्नि के समान ग्रहणकर्त्ता एवं दानशील, ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्या प्राप्त करनेवाले एवं कमनीय हो, ऐसे पुरुष को कन्या पतित्व के लिए स्वीकार करे।[११] जो बहुत ओषधियों वा अन्नों का स्वामी, घृतादि उत्तम पदार्थों का सेवनकर्त्ता, अद्भुत गुण-कर्म-स्वभाववाला, ब्रह्मचर्यसाधन द्वारा बलवान् हुए पिता का पुत्र तथा वरणीय हो, ऐसा पुरुष ही गृहाश्रम में प्रवेश करने योग्य है।[१२]

पुरुष स्वयंवर-विधि से कैसे कन्या को चुने इस विषय में वेदभाष्य में महर्षि दयानन्द लिखते हैं कि मनुष्यों को पूर्ण ब्रह्मचर्याश्रम का सेवन करके, युवावस्था में स्वयंवर-विधान की रीति से अपने तुल्य स्वभाव, विद्या, रूप, बुद्धि और बल आदि गुणोंवाले सुपरीक्षित स्त्री से विवाह करके सब साधनों सहित अच्छे-अच्छे व्यवहारों में स्थित रहना चाहिए।

गृहाश्रम का महत्त्व एवं दूरस्थ विवाह-

गृहास्थाश्रम का महत्व बताते हुए महर्षि लिखते हैं कि किसी को भी गृहाश्रम के अनुष्ठान से भयभीत नहीं होना चाहिए। क्योंकि वह गृहस्थाश्रम सब अच्छे व्यवहारों वा सब आश्रमों का मूल है, अतः इसका अनुष्ठान सम्यक्तया करना चाहिए। इसके बिना मनुष्यों की वृद्धि एवं राज्यादि व्यवहारों की सिद्धि नहीं होती।[१३]

गृहाश्रम का महत्त्व एवं दूरस्थ विवाह-

गृहाश्रम का महत्व बताते हुए महर्षि लिखते हैं कि किसी को गृहाश्रम के अनुष्ठान से भयभीत नहीं होना चाहिए, न काँपना चाहिए। क्योंकि यह गृहस्थाश्रम सब अच्छे व्यवहारों वा सब आश्रमों का मूल है, अतः इसका अनुष्ठान सम्यक्तया करना चाहिए। इसके बिना मनुष्यों की वृद्धि एवं राज्यादि व्यवहारों की सिद्धि नहीं होती।[१४]

---

८ ओषधयः प्रतिगृभ्णीत पुष्पवतीः सुपिप्पलाः। अयं वो गर्भ ऋत्वियः प्रत्नं सधस्थमासदत्। यजु०११.४८ मातापितृभ्यां कन्याभ्यो व्याकरणादिकमध्याप्य वैद्यकशास्त्रमध्यापनीयम्, यत इमा -आरोग्यकारिका गर्भसंपादिनीरोषधीर्विज्ञाय सुसन्तानानुत्पाद्य सततं प्रमोदेरन्-भावार्थ।

९ यजु०१५.५३, कुमारा धर्म्येण सेवितब्रह्मचर्येण पूर्णा विद्या अधीत्य स्वयं धार्मिका भूत्वा पूर्णयुवावस्थायां प्राप्तायां कन्यानां पुरुषाः पुरुषाणां च कन्याः परीक्षां कृत्वाऽत्यन्तप्रीत्याऽऽकर्षि हृदयाः स्वेच्छया विवाहं विधाय धर्मेण सन्तानानुत्पाद्य-भावार्थ

१० य०११.७१, कन्यया स्वस्या उत्कृष्टस्तुल्यो वा वरः स्वीकार्यः न नीचः-भावार्थ।

११ अग्निं होतारं मन्ये दास्वन्तं वसुं सूनुं सहसो जातवेदसं विप्रं न जातवेदसम्॥ ऋग्०१.११७.१

१२ द्रवन्नः सर्पिरासुतिः प्रत्नो होता वरेण्यः। सहसस्पुत्रो अद्भुतः॥ यजु०११.७०

१३ य०३.४१, मनुष्यैः पूर्णब्रह्मचर्याश्रमं संसेव्य, युवावस्थायां स्वयंवरविधानेन स्वतुल्यस्वभावविद्यारूपबलवतीं सुपरीक्षितां स्त्रीमुद्वाह्या, शरीरात्मबलं संपाद्य, सन्तानोत्पत्तिं विधाय, सर्वैः साधनैः सद्व्यवहारेषु स्थातव्यम्-भावार्थ।

दूरस्थविवाह की महत्ता प्रदर्शित करते हुए वे एक मन्त्र के भावार्थ में लिखते हैं कि मनुष्यों को चाहिए कि अपनी कन्या वा पुत्र का समीप देश में विवाह कभी ना करें। जितना ही दूर विवाह किया जावेगा उतना ही सुखकारी, तथा जितना निकट होगा उतना ही क्लेशदायक होगा।[१५]

महर्षि दयानन्द ने अपने ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश के चतुर्थ समुल्लास के प्रारम्भ में विवाह तथा गृहस्थाश्रम-विधि के अन्तर्गत निकट एवं दूरस्थ विवाह के सम्बन्ध में लाभ तथा हानि की सूक्ष्मता के साथ विवेचना करते हुए आठ हेतु उपस्थित किये हैं,[१६] जिनसे उनका दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है।

विवाह-समय में वर-वधू की प्रतिज्ञा-

विवाह के अवसर पर स्त्री पुरुष क्या प्रतिज्ञा करें, इस विषय में अग्निदेवताक मन्त्रों के दयानन्द भाष्य में निम्न निर्देश मिलते हैं।

विवाह-समय में स्त्री-पुरुष का सङ्ग सर्वथा छोड़, आपस में भी अति विषयासक्ति से रहित तथा ऋतुगामी होकर परस्पर प्रीति के साथ पराक्रमवाले सन्तानों को उत्पन्न करें, क्योंकि स्त्री व पुरुष के लिए अप्रिय, आयु का नाशक, निन्दा के योग्य कर्म व्यभिचार के समान दूसरा कोई भी नहीं है, इसलिए इनको सर्वथा त्यागकर धर्माचरणवाले होकर दीर्घायुष्य के सुख को भोगें।[१७]

विवाह की प्रतिज्ञाओं में ये प्रतिज्ञाएँ भी करानी चाहिएँ कि हे स्त्री-पुरुषों! तुम दोनों जैसे अपने हित के लिए आचरण करोगे, वैसे माता-पिता, आचार्य और अतिथियों के सुख के लिए भी निरन्तर व्यवहार करना।[१८] जिस ब्रह्मचर्य और जिस विद्या के साथ तुम दोनों स्त्री-पुरुष कृतकृत्य हो जाओगे उस-उसको सदैव प्रचारित किया करना तथा पुरुषार्थ से धनादि पदार्थ को बढ़ाकर उसको अच्छे कार्यों में व्यय किया करना।[१९]

विवाहित स्त्री-पुरुषों के कर्त्तव्य-

अग्निदेवताक मन्त्र के दयानन्द-भाष्य में स्त्री-पुरुषों के कर्त्तव्यों का वर्णन निम्न रूप में मिलता है- विवाहित स्त्री-पुरुषों को चाहिए कि जैसे सूर्य अपने प्रकाश से सब जगत् को प्रकाशित करता है, वैसे ही अपने सुन्दर वस्त्र और आभूषणों से शोभायमान होके गृह आदि वस्तुओं को सदा पवित्र रखें।[२०] गृहस्थ मनुष्यों को योग्य

---

१४ गृहा मा बिभीत वेपध्वमूर्जं बिभ्रतऽएमसि। ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः। यजु०३.४१, द्रष्टव्य भावार्थ।

१५ य०११.७२, मनुष्यैः स्वस्याः कन्यायाः पुत्रस्य वा समीपदेशो विवाहः कदाचिन्नैव कार्यः। यावद् दूरे विवाहः क्रियते तावदेवाऽधिकं सुखं जायते, निकटे कलह एव-भावार्थ।

१६ द्रष्टव्य, स०प्र०समु०४ का प्रारम्भ।

१७ विवाहसमये स्त्रीपुरुषौ किं किं प्रतिजानीयातामित्युपदिश्यते-वि पाजसा पृथुना शोशुचानो बाधस्व द्विषो रक्षसो अमीवाः। सुशर्मणो बृहतः शर्मणि स्यामग्नेरहं सुहवस्य प्रणीतौ॥ यजु०११.४९ भावार्थ द्रष्टव्य

१८ यजु०१५.५५, विवाहप्रतिज्ञास्वियमपि प्रतिज्ञा कारयितव्या, हे स्त्रीपुरुषौ, युवां यथा स्वहितायाचरतं तथास्माकं मातापित्राचार्यातिथीनां सुखायापि सततं वर्तेयाथामिति-भावार्थ

१९ यजु०१५.५६, येन ब्रह्मचर्येण यया विद्यया च युवां स्त्रीपुरुषौ कृतकृत्यौ भवथस्तत् तां च सदैव प्रचारयतम्। पुरुषार्थेन धनादिकं च वर्धयित्वैतत् सन्मार्गे वीतम्-भावार्थ।

२० यजु०११.४०, विवाहितौ स्त्रीपुरुषौ यथा सूर्यो भास्वरतया सर्वं प्रकाशते तथा सुवस्त्रालङ्कारैरुज्ज्वली भूत्वा गृहादीनि वस्तूनि सदा पवित्राणि रक्षेताम्-भावार्थ।

है कि जैसे पशुपालकजन अश्व आदि पशुओं के भक्षण के लिए यव और दूध आदि पदार्थों को नित्य एकत्र करते हैं, वैसे अपने ऐश्वर्य को बढ़ाके सबको सुख देवें तथा धन के अहङ्कार से किसी के साथ ईर्ष्या कभी न करें, अपितु दूसरों का उत्कर्ष सुनकर और देखकर सदा प्रसन्न होवें।[२१] जिसके प्रति पति अथवा पत्नी दोनों में से कोई भी प्रवृत्त हो उसके अनुकूल पति-पत्नी दोनों वर्तें। जो स्त्री का पदार्थ है वह पुरुष का और जो पुरुष का है वह स्त्री का भी होवे। किसी भी प्रकार द्वेष न करें, किन्तु मिलकर आनन्द भोगें।[२२]

विवाहित स्त्री-पुरुष दोनों परस्पर सम्यक् प्रीतिवाले, विषयासक्ति को त्यागकर रोचिष्णु होते हुए, विद्वान् मित्रों के तुल्य आचरणवाले, सुन्दर वस्त्र और आभूषणों से भूषित, अपनी इच्छाओं को तथा पराक्रम-बलादि को एक ही प्रयोजन की पूर्ति में लगाने वाले हों, अर्थात् इन दोनों के विचार और कार्य एक हों।[२३] जैसे विज्ञानयुक्त पति अतिशय प्रकाशयुक्त व सुख को प्राप्त करानेहारी क्रिया के साथ जीवन के हेतु प्राण के लिए, दुःखों की निवृत्ति के लिए, अनेकविध उत्तम व्यवहारों की सिद्धि के लिए, उत्तम बल, सत्कार तथा धर्म के आचरण के लिए सम्मुख होकर पत्नी की रक्षा करता है, वैसे ही पत्नी का भी कर्त्तव्य है कि वह दिव्यस्वरूप पति के साथ कार्य-कारण-सम्बन्ध के सदृश स्थिरता के साथ प्रतिष्ठित हो।[२४]

विद्या से सुप्रकाशित स्त्री व पुरुष दोनों ही उत्कृष्ट रीति से ज्ञान को प्राप्त कर, अविद्यारूप निद्रा का त्याग कर, वर्तमान और आगामी काल में इष्टापूर्त अर्थात् विद्वानों का सत्कार, ईश्वर का आराधन, सत्संगतिकरण, सत्यविद्या आदि का दानरूप इष्ट तथा पूर्ण बल, ब्रह्मचर्य, विद्या की शोभा, पूर्ण युवावस्था, साधन और उपसाधनरूप पूर्त को सिद्ध करें।[२५]

माता-पिता द्वारा सन्तान को शिक्षा-

महर्षि दयानन्द द्वारा व्याख्यात अग्निदेवता-सम्बन्धी कतिपय मन्त्रों से माता-पिता द्वारा सन्तान-शिक्षा का भी उल्लेख मिलता है, यथा-हे विज्ञानयुक्त पुत्र, तू विद्याग्रहण के लिए निश्चल अर्थात् स्थिर हो, सुदृढ़ एवं बलवान् अङ्गोंवाला तथा क्षिप्रकारी हो, तू अग्निसम्बन्धी कार्यों में अर्थात् आग्नेय अस्त्रादि-निर्माण के सुन्दर व्यवहारों में स्थित होकर पालन आदि शुभ कर्मों का प्रापयिता एवं सुखों का विस्तारक बन।[२६] हे प्राणवत् प्रिय सुसन्तान, तू मनुष्य आदि प्रजाओं के लिए कल्याणकारी एवं मङ्गलमय हो तथा विद्युत्, भूमि, अन्तरिक्ष और वट

---

२१ अहरहरप्रयावं भरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमस्मै। रायस्पोषेण समिषा मदन्तोऽग्ने मा ते प्रतिवेशा रिषाम्॥ यजु०११.७५ भावार्थ द्रष्टव्य

२२ यजु०११.७४, यत्प्रति पतिः प्रवर्त्तते स्त्री वा तदनुकूलौ दम्पती स्याताम्। यत्स्त्रियाः स्वं तत्पुरुषस्य, यत्पुरुषस्य तत्स्त्रिया भवतु, नात्र कथंचिद् द्वेषो विधेयः, किन्तु परस्परं मिलित्वाऽऽनन्दं भुञ्जीयाताम्-भावार्थ।

२३ समितं सङ्कल्पेथां संप्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ। इषमूर्जमभिसंवसानौ। य०१२.४७ संप्रियौ परस्परं सम्यक् प्रीतियुक्तौ, रोचिष्णू विषयासक्तिविरहत्वेन देदीप्यमानौ, सुमनस्यमानौ सुमनसौ सखायौ विद्वांसाविवाचरन्तौ, संवसानौ सम्यक् सुवस्त्रालंकाररेणाच्छादितौ-पदार्थ, भावार्थ भी द्रष्टव्य।

२४ विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय। अग्निष्ट्वाभिपातु मह्या स्वस्त्या छर्दिषा शन्तमेन तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद॥ यजु०१३.१९

२५ उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्ते संसृजेथामयं च। अस्मिन्त्सधस्थे अध्युत्तरस्मिन् विश्वेदेवा यजमानश्च सीदत॥ यजु०१५.५४, अग्ने विद्या सुप्रकाशितस्त्रि पुरुष वा-पदार्थ

२६ अथ पितरौ स्वापत्यानि कथं शिक्षेयातामित्युपदिश्यते-स्थिरो भव वीड्वङ्ग आशुर्भव वाज्यर्वन्। पृथुर्भुव सुषदस्त्वमग्नेः पुरीषवाहणः॥ यजु०११.४४

आदि वनस्पतियों के विषय में कभी शोक को प्राप्त न हो अर्थात् इनका सुष्ठु ज्ञान और सुरक्षा करके इनसे यथावत् उपयोग ग्रहण कर।[२७]

एक मन्त्र में अग्नि का अर्थ सुसन्तान करते हुए उपदेश किया गया है कि वह अश्व के सदृश गतिमान् होकर कार्य करता हुआ पूर्ण आयु से पूर्व न मरे, रक्षक पदार्थों में उत्तम विद्युत् की शिक्षा को जाने तथा वृष्टिकर्त्ता सूर्य के गुणों को धारण करता हुआ सबके लिए सुखप्रापक बने।[२८]

इसके अतिरिक्त अन्यत्र भी अग्निदेवताक मन्त्रों के भावार्थ में महर्षि ने माता-पिता और आचार्य के कर्त्तव्य का बोध कराते हुए जो वर्णन किया है, उसका आशय है कि वे माता-पिता आदि श्रेष्ठ सन्तान उत्पन्न करके उनमें ईश्वरीय ज्ञान एवं विद्यायुक्त बुद्धि उत्पन्न करें तथा उन्हें ब्रह्मचर्यपालन की शिक्षा के साथ-साथ श्रेष्ठ विद्या का उपदेश करें।[२९]

माता-पिता और सन्तान का परस्पर व्यवहार-

माता-पिता और पुत्रादि के परस्पर व्यवहार के सम्बन्ध में दयानन्द-भाष्य के निम्न स्थल द्रष्टव्य हैं-पुत्रों को चाहिए कि जैसे माताएँ अपने पुत्रों को सुख देती हैं, वैसे ही सन्तानें अनुकूल सेवा से अपनी माताओं को निरन्तर आनन्दित करें और माता-पिता के साथ विरोध कभी न करें। माता-पिता को चाहिए कि अपने पुत्रों को अधर्म तथा कुशिक्षा से युक्त कभी न करें।[३०] एक मन्त्र में अग्नि पद से माता-पिता का ग्रहण करते हुए भावार्थ द्वारा स्पष्ट किया गया है कि जैसे विद्वान् माता-पिता अपने सन्तानों को विद्या और सुशिक्षा द्वारा दुष्टाचरण से पृथक् करते हैं, वैसे ही सन्तान भी अपने माता-पिता को पापाचरण से निरन्तर बचावें, क्योंकि इस व्यवहार के बिना सभी मनुष्य धर्मात्मा नहीं हो सकते।[३१]

---

२७ शिवो भव प्रजाभ्यो मानुषीभ्यस्त्वमङ्गिरः। मा द्यावापृथिवीऽअभिशोचीर्मान्तरिक्षं मा वनस्पतीन्॥ यजु०११.४५

२८ प्रैतु वाजी.....। भरन्नग्निं पुरीष्यं मा पाद्यायुषः पुरा। यजु०११.४६ हे अग्ने सुसन्तान-पदार्थ।

२९ द्रष्टव्य, १२.५१, ५२ भावार्थ।

३० यजु०१२.३९, भावार्थ।

३१ यजु०१२.४०, भावार्थ। हे अग्ने मातः पितश्च-अन्वय

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०१० अङ्क १३ (पृ०३४-५३)

राजशेखर-साहित्य में वैदिक सन्दर्भ

प्रो० राजेश्वर मिश्र[1]

यायावर कुल के ब्राह्मण-परिवार (जिसका उल्लेख बौधायन-धर्म-सूत्र में हुआ है)[2] में जन्म लेने के कारण राजशेखर की न केवल वेदों तथा वैदिक वाङ्मय के प्रति प्रत्युत वैदिक संस्कृति के प्रति भी गहन आस्था प्रतीत होती है। इनके प्रपितामह का नाम अकालजलद था। विद्धशालभञ्जिका की टीका के अनुसार वे महान् तान्त्रिक थे, जो अपने मन्त्र सामर्थ्य से नदी की धारा को लाने और वृष्टि कराने में भी समर्थ थे।[3] इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनके पूर्वजों का सम्बन्ध प्रकाशन्तर से वेद एवं वैदिक वाङ्मय के साथ रहा होगा। स्वयं राजशेखर ने भी अपने 'काव्यमीमांसा' ग्रन्थ में कवियों में अनेक गुणों के सन्निपात की चर्चा करते हुए इस बात पर बल दिया है कि श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, प्रमाणशास्त्र, ज्योतिष आदि विषयों में कवियों को निष्णात होना चाहिए।[4] इनके अतिरिक्त व्याकरण, छन्दशास्त्र, अलंकार शास्त्र आदि में भी कवियों की निपुणता राजशेखर को अभीष्ट है। इससे यह ध्वनित होता है कि वे स्वयं इन विषयों में निपुण रहे होंगे। आगमशास्त्र के ज्ञाता ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होने के कारण इनमें परम्परया पाण्डित्य स्वाभाविक है, जिसका संकेत वे स्वयं 'कर्पूरमञ्जरी' में विदूषक के माध्यम से करते हैं।[5] अतः उनकी रचनाओं में विविध शास्त्रों के साथ-साथ श्रुतिपरक अनेक सन्दर्भ भी परिलक्षित होते हैं, जो वैदिक ज्ञान के प्रति राजशेखर की गहन आस्था के परिचायक हैं और उन पर वैदिक प्रभाव के पुष्कल प्रमाण प्रस्तुत करते हैं-

राजशेखर ने अपनी कृतियों में वेदों का उल्लेख-वेद,-वेदविद्या[6], त्रयी[7], श्रुति[8], ब्रह्म[9], त्रिवेदी[10], निगम[11] तथा आम्नाय[12] शब्दों से किया है। यही नहीं, उन्होंने वेदपाठ तथा वेदाध्ययन के महत्त्व का भी यत्र-तत्र

---

१ प्रोफेसर संस्कृत विभाग, कु०वि० कुरुक्षेत्र

२ बौधा० धर्मसूत्र, ४.१.१: यथाह देवलः। द्विविधो गृहस्थो यायावरः शालीनश्च तयोर्यायावरः प्रवरो याजनाध्यापनप्रतिग्रहरिक्थसंचयवर्जनात्। वृत्या वरया यातीति यायावरत्वम्।

३ विद्धशाल०, टीका, पृ० १६ अकालजलस्य प्रणप्तुः प्रपौत्रस्य। फणत इति महाराष्ट्राः मान्त्रिकैर्मन्त्रसामर्थ्येन अकालेऽप्यस्यावदानीयन्ते वृष्टयश्च निपात्यन्त इति लोके तत्र तत्रानुभवसिद्धम् कर्पूरमञ्जरी, भूमिका, पृ० ४।

४ द्रष्टव्य काव्यमीमांसा, अध्याय ८ श्रुतिः स्मृतिः, इतिहासः, पुराणं, प्रमाण-विद्या, राजसिद्धान्तत्रयी......।

५ कर्पूरमञ्जरी, प्रथम जवनिका, पृ० २० विदूषक-अकालजलदवंशसंभूतानां परम्परया पाण्डित्यम्।

६ कर्पूरमञ्जरी, १.२४ वेदपठनेन; बालरामायण, १.१४ वेदविद्या; बालभारत, १.१६ वेदवदादृता; काव्यमीमांसा, अध्याय २, पृ० ८ वेदाश्चत्वारः; वही, अध्याय ८, पृ० ९४ तद्वेदं वेदहरणम्; वही, अध्याय ८, पृ० ९६ वेदार्थस्य निबन्धनेन; वही, अध्याय १०, पृ० १४१ ततः परं वेदविद्यांविदः; वही, अध्याय १४, पृ० १९९ सहस्त्रशाखं साङ्गं च वेदमवगाह्य; वही, अध्याय १८, पृ० २४९ वेदोदितः कृत्स्नोऽपि क्रियाकल्पः।

७ बालरामायण, १.२८ त्रयीं, पाठभेद के साथ; वही, अंक २, पृ० ३६ त्रयीविद्याशिष्येण; बालभारत, १.१९ त्रयीध्यायिभिः; काव्यमीमांसा, अध्याय २, पृ० ११ त्रयीवार्त्तानम्।

८ बालरामायण, १.३५ श्रुतीः सतपथाः; वही, २.१३ सकलश्रुत्यर्धवीधीगुरुः; वही, अंक २, पृ० ४६ श्रुतिषु वैचक्षण्यम्; वही, २.३३ ऋषीणां श्रुतिदृशाम्; वही, अंक २, पृ० ५१ श्रुत्यर्थवीथीविदग्धः; वही, ९.१ कविता श्रुतीनाम्; वही, १०.१०४ श्रुतीनां कविः; बालभारत, १.८२ श्रुत्यर्थवीथीस्मर; काव्यमीमांसा, अध्याय ३, पृ० १६ श्रुतिरपि; वही, अध्याय

संकेत किया है।[१३] वे वेदपाठ एवं यज्ञादि को मुक्ति का साधन मानते हैं।[१४] उन्होंने तो कविचर्या के रूप में प्रात:काल सन्ध्या-पूजा के उपरान्त सरस्वती सूक्त के पाठ का विधान भी किया है।[१५] वे सहस्रशाखाओं वाले वेदों के अंगों सहित अध्ययन का भी उल्लेख करते हैं।[१६] राजशेखर ने अपनी नाट्य कृति 'बालरामायण' में दो स्थलों पर वेदों का अध्ययन-अध्यापन करने वाले तथा श्रुतिप्रतिपादित यज्ञ-यागों का सम्पादन करने वाले श्रोत्रिय व्यक्तियों का भी उल्लेख किया है।[१७] वेदाध्यायी के लिए एकत्र उन्होंने 'अनूचान' शब्द का प्रयोग किया है।[१८] वे 'स्वाध्याय' शब्द के प्रयोग से वेदशाखा-अध्ययन का भी संकेत करते हैं।[१९] यही नहीं, राजशेखर ने अङ्गों और शाखाओं सहित वेदों के अभ्यास को कवित्व की औषधि[२०] तथा वेदार्थ-उपनिबन्धन (वर्णन) को कवियों की प्रशंसा का कारण माना है।[२१] इसके अतिरिक्त उन्होंने चारों वेदों (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद)[२२] तथा शुक्लयजुर्वेद[२३] का तो नाम्ना उल्लेख किया है। 'काव्यमीमांसा' के द्वितीय अध्याय में विभिन्न शास्त्रों का निर्देश करते हुए राजशेखर ने अपौरुषेय शास्त्र की भी चर्चा की है, जिसमें उन्होंने वैदिक वाङ्मय का सामान्य परिचय प्रस्तुत करते हुए तत्तद् ग्रन्थों के प्रतिपाद्य विषय का भी उल्लेख किया है। इससे ऐसा ज्ञात होता है कि राजशेखर भलीभाँति यह जानते थे। कि वेद अपौरुषेय माने जाते हैं तथा मन्त्र और ब्राह्मणों को 'वेद' संज्ञा से अभिहित किया जाता है।[२४] यही नहीं, उन्होंने सामान्यत: वैदिक मन्त्रों का संकेत 'मन्त्र' एवं 'छन्दस्' शब्दों से

३, पृ० १९ पृ० ७४ श्रुतौ शास्त्रे च; वही, अध्याय ७, पृ० ७६ स्वयम्भुवः प्रथमं वचःश्रुतिः, श्रुतेरन्यद्य स्वायम्भुवम्; वही, अध्याय ८, पृ० ९२ श्रुतिः वही, अध्याय ८, पृ० ९६ श्रुतीनां साङ्गशाखानाम्।

९ बालरामायण, १.५२ न ब्रह्मोपनिषन्निषेवणारतिर्नो; वही, अंक १, पृ० भारत, २.५ ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च।

१० बालरामायण, अंक २, पृ० ४७ मीमांसमानस्त्रिवेदीम्; वही, ३.८६ देवास्त्रिवेदीतनुः।

११ बालरामायण, ३.७९ विश्वरक्षाक्रमनिगमविधेः; वही, १०.७४ निगमस्याङ्गम्; काव्यमीमांसा, अध्याय २, पृ० ८ निगमवाक्यानाम्; वही, अध्याय ७, पृ० ७७ नैगमैर्विविधैः शब्दैः।

१२ काव्यमीमांसा, अध्याय ३, पृ० १५ तामाम्नायदृष्टचरीमुपलभ्य।

१३ कर्पूरमञ्जरी, १.२४: मुक्तिं भणन्ति हरिब्रह्ममुखादिदेवाः ध्यानेन वेदपठनेन क्रतुक्रियाभिः।; बालरामायण, २.८; वही, अंक १०, पृ० ३५७ पठ्यमानवटुचरणाः।

१४ कर्पूरमञ्जरी, १.२४ उपर्युक्त श्लोकांश।

१५ काव्यमीमांसा; अध्याय १०, पृ० १३५-१३६ प्रातरुत्थाय कृतसन्ध्यावरिवस्यः सारस्वतं सूक्तमधीयीत।

१६ काव्यमीमांसा, अध्याय १४, पृ० १९९ सहस्त्रशाखं साङ्गं च वेदमवगाह्य।

१७ बालरामायण, अंक १, पृ० १० परमसुहृदः श्रोत्रियक्षत्रियस्य; वही, १.३८ श्रोत्रियाय विशस्यते।

१८ बालभारत, १.१० अनूचानो हि यद् ब्रूते..।

१९ बालरामायण, अंक १, पृ० १२ तत् कथमयं स्वाध्याय प्रत्यूहः; वही, १०.६१ स्वाध्यायान्ते; काव्यमीमांसा, अध्याय २, पृ० ७ नानाशाखाधीतानां मन्त्राणाम्।

२० काव्यमीमांसा, अध्याय ८, पृ० ९६ श्रुतीनां साङ्गशाखानामितिहासधुराणयोः। अर्थग्रन्थः कथाभ्यासः कवित्वस्यैकमौषधम्॥

२१ काव्यमी०, अध्याय ८, पृ० ९६ वेदार्थस्य निबन्धेन श्लाघ्यन्ते कंवयो यथा

२२ काव्यमी०, अध्याय २, पृ० ५ ऋग्यजुः सामवेदास्त्रयी। अथर्व तुरीयम्, ऋचो यजूंषि सामानि चाथर्वाणि त इमे चत्वारो वेदाः।

२३ बालरामायण, अंक ३, पृ० ७० याज्ञवल्क्याद्यजुर्विज्ञानविभवः; शुक्लान्यपि यजूंषि विज्ञाय...।

२४ काव्यमीमांसा, अध्याय २, पृ० ५ अपौरुषेयं श्रुतिः। सा च मन्त्रब्राह्मणो विवृतक्रिया तन्त्रा मन्त्राः। मन्त्राणां स्तुतिनिन्दाव्याख्यानविनियोगादिग्रन्थो ब्राह्मणम्; तुलनीय यज्ञपरिभाषा आपस्तम्ब-३१ मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्।

किया है[२५] तथा त्रिविध मन्त्रों (ऋक्, याजुष और साम) का नामतः उल्लेख करते हुए उनके लक्षणों का भी संकेत किया है। वे यह जानते थे कि अर्थानुसार पदों की व्यवस्था को ऋक्, ऋक् मन्त्रों को गीतियुक्त करने पर साम और छन्दहीन तथा गतिहीन मन्त्र यजुष् कहे जाते हैं।[२६] विषय-वस्तुसहित छः वेदाङ्गों का भी उल्लेख 'काव्यमीमांसा' में प्राप्त होता है।[२७] इसके अतिरिक्त उनके द्वारा प्रयुक्त 'उपनिषद्', 'उपनिषद्भूतम्'[२८] तथा 'ब्रह्मनिदर्शनी'[२९] शब्द उपनिषद् साहित्य के परामर्शक हैं। उनकी रचनाओं में आपतित मातरिश्वा, रोदसी, निपात, शिपिविष्ट, ओंकार आदि शब्दों से भी उन पर वैदिक प्रभाव परिलक्षित होता है।[३०] इन साक्ष्यों से वेदाङ्गों सहित वैदिक वाङ्मय विषयक उनके ज्ञान का पुष्कल प्रमाण प्राप्त होता है।

'वाजसनेयि-संहिता' अर्थात् शुक्लयजुर्वेद के प्रोक्ता ऋषि याज्ञवल्क्य को इन मन्त्रों की प्राप्ति सूर्य से हुई थी'' इस वैदिक तथ्य संकेत भी राजशेखर ने 'बालरामायण' में किया है। 'वैदिक वचन आप्त-प्रमाण माना जाता है' इस तथ्य का उल्लेख भी राजशेखर ने प्रकारान्तर से 'बालरामायण' में किया है। 'वेद अपौरुषेय है' इस मत से वे सर्वथा सहमत हैं, तभी तो वे वेद को 'स्वयम्भू ब्रह्म का प्रथम वचन' मानते हैं।[३१] इस विषय में उनके कथन- ''आर्षं हि वचनं विभिन्नवक्तृकमपि न विसंवदति''[३२] से वेद के प्रति उनकी श्रद्धा सुदृढ़ प्रतीत होती है। राजशेखर ने एकत्र इस बात का भी उल्लेख किया है कि श्रुति में भी यत्र-तत्र अर्थवाद दृष्टिगोचर होता है[३३] और उन्होंने ऐतरेय-ब्राह्मण से एक उदाहरण भी प्रस्तुत किया है, तद्यथा-

---

२५ कर्पूरमञ्जरी, १.२२; वही, जवनिका २, पृ० ६० भैरवानन्ददत्रमन्त्रप्रभावेण; बालरामायण, ३.४ मन्त्राक्षरैः कतिपयैः; बालभारत, १.५ छन्दसां द्रष्टा; वही, २.३.७ मन्त्रपूतैः पयोभिः; काव्यमीमांसा, अध्याय २, पृ० ५,७ मन्त्राः, मन्त्राणाम्, नानाशाखाधीतानां मन्त्रणाम्; वही, अध्याय ४ पृ० ३४ मन्त्रानुष्ठाननिष्ठस्य, पृ० ३२ मन्त्रतन्त्राद्युपदेशप्रभावा; वही अध्याय ६, पृ० ६८ परमं च मन्त्राः।

२६ काव्यमीमांसा, अध्याय ६, पृ० ६८ तेषां च सामर्ग्यजुषां पवित्रं; वही, अध्याय ८, पृ० ९३; वही, अध्याय २, पृ० तत्रार्थव्यवस्थितपादा ऋचः। ताः संगीतयः सामानि। अच्छन्दांस्यगीतानि यजूंषि; तुलनीय-जैमिनीय सूत्र, २.१.३५ तेषामृग् मन्त्रार्थवशेन पादव्यवस्था; वही, २.१.३६ गीतिषु सामाख्या; वही, २.१.३७ शेषे यजुः शब्दः।

२७ काव्यमीमांसा, अध्याय २, पृ० ५-६,७ शिक्षा, कल्पो, व्याकरणं, निरुक्तं छन्दोविचितिः, ज्यौतिषं च षडङ्गानि इत्याचार्याः। तत्र वर्णानां स्थानकरणप्रयत्नादिभिः निष्पत्तिनिर्णायिशिक्षाग्रहगणितं ज्यौतिषम्।

२८ बालरामायण, १.५२ उपनिषद्; वही, १०.१०५ संसारविद्याविषदमुपनिषद् भूतम्।

२९ काव्यमीमांसा, अध्याय २, पृ० ८ ब्रह्मानिदर्शनी च।

३० काव्यमीमांसा, अध्याय १७ पृ० २३५ दक्षिणमातरिश्वा; वही, अध्याय ७ पृ० ७७ निपातबहुलं च; बालरामायण, ८.५१ रोदसी वारिपूरः; वही, अंक १, पृ० २३ इदं शिपिविष्टान्यस्मात्; वही, अंक २, पृ० ४६ शिपिविष्टपरितुष्टये; यद्यपि यह शब्द यहाँ शिव के लिए प्रयुक्त है, परन्तु वेद में यह शब्द विष्णु का वाचक है।; तुलनीय ऋ० ७.१००.६ किमित्ते विष्णो परिचक्ष्यं भूत प्र यद् ववक्षे शिपिविष्टो अस्मि; नि०, ५.२.८ शिपिविष्टो विष्णुरिति, शिपिविष्टोऽस्मीति प्रतिपन्नरश्मिः। शिपयोऽत्र रश्मय उच्यन्ते तैराविष्टो भवति; बालरामायण, अंक २, पृ० ४८ ओमिति ब्रूमः; वही, ३.७९ ओङ्कारो विस्वरक्षाक्रमः; बालभारत, अंक २, पृ० १५ ओम्/अस्तु, वस्तुतः यह पद यहाँ सत्य अथवा सत्य स्वीकृति के अर्थ में प्रयुक्त है, पर इसमें निहितार्थ वैदिक सत्यरूप ब्रह्म है।

३१ काव्यमीमांसा, अध्याय ७, पृ० ७६ स्वयम्भुवः प्रथमं वचः श्रुतिः।

३२ बालरामायण, अंक १०, पृ० ३६९, राम की उक्ति।

३३ काव्यमीमांसा, अध्याय ६, पृ० ६७ नासत्यं नाम किञ्चन काव्ये यस्तु स्तुत्येष्वर्थवादः। स न परं कविकर्मणि श्रुतौ च शास्त्रे च लोके च॥

पुष्पिण्यौ चरतो जङ्घे, भूष्णुरात्मा फलग्रहिः।
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हतश्चैवेति।। [३४]

उन्होंने काव्यमीमांसा के 'पदवाक्यविवेक' प्रकरण में निरुक्त वेदाङ्ग के प्रमुख प्रयोजन का भी संकेत किया है कि निरुक्त, निघण्टु आदि से शब्द का अभिधेयार्थ सूचित होता है।[३५] इसप्रकार उन्होंने अनेक वैदिक तथ्यों और विषयों का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त अशिष्ट वर्णन, वर्ण्य, अर्थ, आदि काव्यविषयक बातों की चर्चा करते हुए कतिपय वैदिक मन्त्रों को भी उद्धृत किया है। 'कहीं-कहीं काव्य में अशिष्ट (अश्लील) वर्णन उपलब्ध होते हैं; अतः वह उपदेष्टव्य नहीं है, इस विषय में अपना मत उपस्थापित करते हुए राजशेखर ने यह माना है कि प्रसङ्गवशात् ऐसे वर्णन करने चाहियें, क्योंकि मन्त्रों में ऐसा वर्णन वेदों और शास्त्रों में भी प्राप्त होता है। उन्होंने यहाँ कुछ वैदिक मन्त्रों को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत भी किया है, तद्यथा-

उपोप मे परामृश मा ते दभ्राणि मन्मथाः।
सर्वाऽहमस्मि रोमशा गान्धारीणामिवाविका।। [३६]

यही नहीं, उन्होंने आर्षवचन का लक्षण भी दिया है कि "जो वचन कुछ मन्त्रों से संयुक्त हों तथा नाम (संज्ञा) (विभक्तियों से युक्त हों एवं प्रत्यक्षार्थ के अवबोधक हों, उसे आर्षवचन कहा जाता है।[३७] एवमेव काव्यपुरुष के विभिन्न अवयवों की चर्चा करते हुए उन्होंने काव्यमीमांसा के 'काव्यपुरुषोत्पत्ति' प्रकरण में[३८] ऋग्वेद के उस प्रसिद्ध मन्त्र को उद्धृत किया है जिसको 'वेदपुरुष', 'यज्ञपुरुष', आदित्य एवं शब्द-ब्रह्म आदि की दृष्टि से नाना रूपों में व्याख्यायित किया गया है, तद्यथा-

चत्वारि शृङ्गास्त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासोऽस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यानाविवेश।। [३९]

पुनः प्रशंसादि के अर्थ में प्रयुक्त अतिशयोक्तियों को अर्थवादमात्र बताते हुए राजशेखर ने उदाहरणार्थ ऐतरेय-ब्राह्मण का एक मन्त्र उद्धृत किया है।[४०] इस विषय में उनका मन्तव्य है कि अत्युक्तिपूर्ण कथन न केवल कविता में रहता है, प्रत्युत वेद-शास्त्र और लोक आदि में भी होता है।[४१] इसी ग्रन्थ के 'वाक्यार्थयोनि' प्रकरण में[४२] काव्य के वर्ण्य अर्थों (काव्यार्थों), काव्यशास्त्र के आचार्यों ने जिन्हें 'काव्ययोनि' कहा है, की मीमांसा करते हुए उन्होंने प्रथमयोनि वेदविषयक अर्थ के उदाहरण के रूप में एक वैदिक वचन-"**उर्वशी हाप्सराः पुरुरवसमैडं चक्रमे**" (शत०ब्रा०, ११.५.१.१) तथा तैत्तिरीयारण्यक की कुछ पँक्तियाँ उद्धृत की हैं। जिनमें सूर्यमण्डल में

---

३४ ऐत० ब्रा० ३३.३

३५ वही, अध्याय ६, पृ० ५५ निरुक्तनिघण्ट्वादिभिर्निर्दिष्टस्तदभिधेयोऽर्थः तुलनीय नि०, १.१५ अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते।

३६ ऋ० १.१२६.७

३७ काव्यमीमांसा, अध्याय ७, पृ० ७७ यत्किंचिन्मन्त्रसंयुक्तं युक्तं नाम विभक्तिभिः प्रत्यक्षाभिहितार्थं च तदृषीणां वचस्तु तत्।।

३८ वही, अध्याय ३,पृ० १६.

३९ ऋ० ४.५८.३

४० ऐतरेय-ब्राह्मण, ३३.३: पुष्पिण्यौ चरतो जङ्घे भूष्णुरात्मा फलग्रहिः। शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हतश्चैवेति।।

४१ काव्यमीमांसा, अध्याय ६, पृ० ६८ मूलपाठ हेतु द्रष्टव्य पादटिप्पणी सं० ३३।

४२ वही, अध्याय ८, पृ० ९२-९३।

ब्रह्म की उपासना का वर्णन है, यथा- **''यदेतन्मण्डल तपति तन्महदुक्थं ता ऋचः स ऋचां लोकोऽथ यदेतदर्चिर्दीप्यते तन्महाव्रतं तानि सामानि स साम्नां लोकोऽथ य एष तस्मिन्मण्डले पुरुषः सोऽग्निस्तानि यजूंषि स यजुषां लोकः सैषा त्रय्येव विद्या तपति।''** (अनुवाक १४)। काव्यमीमांसा के इसी प्रकरण में राजशेखर ने काव्यों में वेदार्थ आहरण का एक पृथक् निदर्शन प्रस्तुत करते हुए एक पद्य में उस श्रुति को नमस्कार किया है, जिसका ऋषि, शास्त्रकार एवं कवियों ने यथामति दोहन किया करते हैं।[४३] इस पद्य में कवि ने प्रकारान्तर से वेद की प्रशंसा की है और उसके महत्त्व को भी रेखाङ्कित किया है। राजशेखर की कृतियों में कतिपय श्लोक (पद्य) ऐसे भी दृष्टिगोचर होते हैं, जिन पर वैदिक मन्त्रों अथवा भावों की छाया अथवा प्रभाव या सादृश्य दिखाई पड़ता है। कर्पूरमञ्जरी की प्रथम जवनिका में विदूषक के मुख से कहलवायी गई सौ वर्ष दीर्घायु की कामनापरक उक्ति-**''यूयं पुनर्वर्षशतं जीवत**[४४]**''** पर वैदिक **''जीवेम शरदः शतम्''** (यजु० ३६.२४) मंत्रांश का प्रभाव द्रष्टव्य है। इसी ग्रन्थ के इसी जवनिका में 'राजा के लिए सन्ध्या सुखद हो' ऐसी मंगलकामना करने वाले वैतालिक द्वारा कहे गये पद्यांश-**''एत द्वासरजीव पिण्डसदृशं चण्डांशोर्मण्डलम्। को जानाति कुत्रापि संप्रतिगतं प्राप्तकालान्तरे।।''**[४५] पर सवितृ सूक्त के निम्न मन्त्र की छाया दृष्टिगोचर होती है तद्यथा-**क्वे३दानीं सूर्यः कश्चिकेत कतमां द्यां रश्मिरस्या ततान''।।**[४६] एवमेव कर्पूरमञ्जरी की अन्तिम चतुर्थ जवनिका के अन्त में भरतवाक्य के रूप में उक्त श्लोकांश- **''मेघो मुञ्चतु संचितमपि सलिलं शस्योचितं भूतले''**[४७] पर यजुर्वेद के राष्ट्र की मङ्गल कामनापरक मन्त्रांश-

''निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवस्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्'' (२२.२२) का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। इसी प्रकार बालरामायण के प्रथम अंक में राक्षस की उक्ति-**''भगवान् साप्तपदीनं सख्यं मा मुखरयति''**[४८] पर अथर्ववेद के **''युज्यो में सप्तपदः सखासि''** तथा **''युज्यस्ते सप्तपदाः सखाऽस्मि''** मन्त्रांशों[४९] की छाया देखी जा सकती है। सम्भवतः कालिदास ने भी 'कुमारसम्भव' में[५०] इसी वैदिक मैत्रीभाव का संकेत किया है। उनके इसी नाटक के द्वितीय अंक के एक श्लोक[५१] पर तो स्पष्टतः यजुर्वेद के एक मन्त्र[५२] का पूर्णतया सादृश्य देखा जा सकता है। इस प्रकार राजशेखर के उपर्युक्त पद्यों, पद्यांशों अथवा वाक्यांशों में वैदिक मन्त्रों अथवा मन्त्रांशों के स्पष्टसन्दर्भ परिलक्षित होते हैं, जो वैदिक मान्यताओं के प्रति उनकी प्रगाढ आस्था के परिचायक हैं।

---

४३ वही, अध्याय ८, पृ० ९४ नमोऽस्तु तस्यै श्रुतये यां दुहन्ति पदे पदे। ऋषयः शास्त्रकाराश्च कवयश्च यथामति।।
४४ कर्पूरमञ्जरी, प्रथम जवनिका, पृ० २९
४५ वही, १.३५;
४६ ऋग्वेद १.३५.७:
४७ कर्पूरमञ्जरी, ४.२२; तुलनीय यजु०, २२.२२
४८ बालरामायण, अंक १, पृ० १२.
४९ अथर्ववेद, ५.११.९; ५.११.१०.
५० कुमारसम्भव, ५.३९: यतः सतां सन्नतगात्रि संगतं मनीषिभिः साप्तपदीनमुच्यते।
५१ बालरामायण, २.३२: असुर्या इति ते लोका अन्धेन तमसा वृताः। तांस्ते मृत्वाभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।।
५२ यजुर्वेद, ४०.३: असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः। ईशोपनिषद् ३ ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।।

राजशेखर ने अपनी रचनाओं में इन्द्र[५३], अग्नि[५४], सूर्य,[५५] वरुण,[५६] विष्णु,[५७] त्र्यम्बक-रुद्र,[५८] पूषा,[५९] चन्द्रमा,[६०] मातरिश्वा, मरुत,[६१] बृहस्पति,[६२] पवमान[६३] इन वैदिक देवों और सरस्वती,[६४] पृथ्वी[६५] पौलोमी एवं शची,[६६] तथा अग्निपत्नि स्वाहा[६७] इन वैदिक देवियों का उल्लेख किया है। नाटककार ने ग्रन्थों में इन्द्र के लिए अमरपति,[६८] आखण्डल,[६९] इन्द्र[७०], त्रिदशेश्वर,[७१] नमुचिसूदन,[७२] नाक-नायक,[७३] पाकशासन,[७४] पुरन्दर,[७५]

---

५३ बालरामायण, १.३६ शक्र; वही, अंक ४, पृ० ११४ इन्द्रसारथी; वही, ९.५३, ५८ इन्द्र; वही, १०.४६ इन्द्रकुलिश; काव्यमीमांसा, अध्याय ९, पृ० १११ शक्रोऽपि

५४ वह्नि बालरा०, १.३१; १०.६;१०.६३, पावक बालरा० १०.४, शिखी बालरा०, १.६३; १०.७,१३, चित्रभानु बालरा० ४.५ बर्हिरुथ बालरा०, ४.४९, हुतभुक् बालभारत, २.३४, हुतवह कर्पूरमञ्जरी, जवनिका ४, पृ० १७५; बालरामायण, अंक १०, पृ० ३३६, ३३७, ३५६; विद्धशालभञ्जिका, अंक २, पृ० ४०, ११२, हव्यवाहन बालरा० १०.१०, हव्यलेही बालरा= १०.१२, स्वाहापति बालरा०, ८.५०, स्वाहा वल्लभ बालरा०, अंक १०, पृ० ३३४।

५५ अर्क कर्पूर०, १.२१; बालरा०, १.२१, १०.१८, अंशोर्मण्डलम् कर्पूर०, १.३५, दिनकरः बालरा०, ८.५७; बालभा०, १.१३, दिनमणिः कर्पूर०, २.५०; बालारा० ६.६५, १०.५९, भानुः बालरा०, ३.८७, भास्कर बालरा०, ५.२२; अंक १०, पृ० ३७०, मार्तण्ड कर्पूर० , जवनिका ३, पृ० १११; बालरा०, १.३१, अंक ८, पृ० २८७, अंक १०, पृ० ३३३, ३४७, रवि कर्पूर० १.२५; वही, जवनिका ४,पृ० १४६, १४८; बालरा० ५.३५; ८.५४, ८३; १०.९६; बालभा०, १.२२; विद्धशाल०, २.२२, सविता बालरा०, ४.९, सूर्य बालरा०, अंक २, पृ० ६०; अंक ३, पृ० ९३, ४.५, देवस्त्रिवेदीतनुः बालरा० ३.८६, द्युमणिः बालभा= १.२५, वैकर्तन बालरा० अंक १, पृ० ३०, विरोचन बालभा०, २.२१, स्वर्मणिः बालरा०, १०.९३ विवस्वान् बालरा० १०.८५।

५६ बालरामायण, ४.५; ५.२२; ८.५२; वही, अंक १०, पृ० ३५०।

५७ बालरामायण १.६; ४.११; ४.४५ उपेन्द्र।

५८ त्र्यम्बक बालरा०, ४.१४; १०.६८; विद्धशाल०, १.२२; काव्यमीमांसा, अध्याय १३, पृ० १९३, त्रैयम्बक बालरा०, २.३९; अंक २, पृ० ५२; ३.३७; ४.६०, रुद्र कर्पूर०, १.४; बालरा०, १.४१; २.४; ३.७६, ८२; ४.५१; ४.७०; १०.३१; १०.४७; काव्यमीमांसा, अध्याय १३, पृ० १८४।

५९ बालरामायण, १.८; अंक १, पृ० ६ पूषणम्; वही, १.२२; ३.६८; ९.४६।

६० चन्द्र कर्पूर०, १.३२; बालरा०, ४.४९; बालभा०, १.३१; २.१५; विद्धशाल०, १.१५,१७; अंक १, पृ० १२, २८; २.४; २.२०; ३.८-९; ५.७१; १०.४१; १०.१००; विद्धशाल०, १.११; काव्यमीमांसा, अध्याय १३, पृ० १७९।

६१ बालरामा०, ३.७७ मरुत्; काव्यमीमांसा, अध्याय १७ पृ० २३५ मातरिश्वा।

६२ बालभारत, २.१० वाचस्पति।

६३ बालरामा०, ४.५।

६४ कर्पूरम० १.१; बालरामा०, १.१४ वाङ्मूर्तिः; १.१५; ५.५०; १०.२; बालभा०, १.१०; काव्यमीमांसा, अध्याय ३, पृ० १५, २६; अध्याय १५, पृ० २११।

६५ बालरामा० १.४८; वही, अंक १०, पृ० ३५८ वसुमती; बालभा०, २.१,२४ वसुमती।

६६ बालरामा०, अंक ४, पृ० १०७ पौलोमीवल्लभ; अंक ५, पृ० १६६; वही, ८.७४ शची; काव्यमीमांसा, अध्याय ९, पृ० १११.

६७ बालरामा०, ८.५०; अंक १०, पृ० ३३४.

६८ बालरामा० २.४६; ५.८; अंक १०, पृ० ३५२.।

६९ बालरामा०, अंक १०, पृ० ३५२.

७० बालरामा०, ९.५३, ५८; अंक ४, पृ० ११४ इन्द्रसारथी; १०.४६ इन्द्रकुलिश।

पौलोमीवल्लभ[७६], पुरुहूत[७७], शुनासीर[७८], महेन्द्र[७९], वासव[८०], शक्र[८१], शतक्रतु[८२], शतमख[८३], संक्रन्दन[८४], सुरपति[८५], सुरेन्द्र[८६], सुरेश[८७] तथा हरि[८८] इन अभिधानों का प्रयोग किया है, जिनमें महेन्द्र, शतमुख, सुरपति, सुरेन्द्र, सुरेश, त्रिदशेश्वर, नमुचिसूदन, नाक-नायक और हरि को छोड़कर शेष वैदिक हैं। उन्होंने इन्द्र के आयुध वज्र[८९], पत्नी शची एवं पौलोमी,[९०] सारथी मातलि[९१] तथा इन्द्रपुत्र जयन्त[९२] का भी उल्लेख किया है। इनमें उनके वज्र का वैदिक साहित्य में अनेकत्र उल्लेख है। इन्द्रपत्नी का उल्लेख ऋग्वेद, शतपथ-ब्राह्मण आदि में हुआ है।[९३] शचीपौलोमी

---

७१ बालभार०, १.३८ त्रिदशेश्वराय।

७२ बालरामा०, अंक ४, पृ० १०७.

७३ बालरामा०, ४.५.

७४ बालरामा०, ५.६०.

७५ बालरामा०, अंक ९ पृ० ३०४, ३२९; अंक १०, पृ० ३४६.

७६ वही, अंक ४, पृ० १०७.

७७ वही, अंक ४ पृ० ११४; वही, अंक ९, पृ० ३०४.

७८ वही, अंक ९, पृ० ३२० यहाँ यह ध्यातव्य है कि कवि ने इन्द्र को 'शुनासीर' नाम से सम्बन्धित किया है, जबकि वेद में शुनासीर वृष्टि के अधिष्ठातृ देव माने गये हैं, जो युग्मदेव हैं। द्रष्टव्य ऋ० ४.५७.५: शुनासीराविमं वाचं जुषेथां यद्दिवि चक्रथुः पयः। तेनेमामुप सिञ्चतम्॥।

७९ बालरामा०, अंक १०, पृ० ३३१.

८० वही, २.४ वासवः।

८१ बालरामा०, १.३६; ५.६०; काव्यमीमांसा, अध्याय ९, पृ० १११.

८२ बालरामा०, अंक ४, पृ० १२३ शतक्रतुरथेन।

८३ वही, १.२६ शतमखविमुखः।

८४ वही, २.४८ संक्रन्दननन्दन।

८५ बालरामा०, ५.१९ सुरपतेरस्ति; ६.५९ सुरपतेर्जङ्गमत्वम्; ६.६७ सुरपतिरिपोः; ८.९ सुरपतिर्दृष्टवान्; बालभारत, १.५६ कृतसुरपतितोषः।

८६ बालरामा०, ६.६३ सुरेन्द्रवैरि।

८७ वही, ८.१० सुरेशा।

८८ वही, ९.३ हरेरक्षणाम्।

८९ वही, १०.४६ इन्द्रकुलिश

९० वही, ८.७४ शची; अंक ५, पृ० १६६ शचीरमणः; अंक ४, पृ० १०७ पौलोमीवल्लभ; काव्यमीमांसा, अध्याय ९, पृ० १११ शचीवक्त्रे।

९१ बालरामा०, अंक ४, पृ० ११४ पुरुहूतसूत तथा मातलि पात्रविशेष के रुप में।

९२ वही, अंक ६, पृ० १९६.

९३ शतपथ-ब्राह्मण १०.५.२.९१ इन्द्रपत्नी को इन्द्राणी माना गया है ऋ० १.२२.१२; २.३२.८; ५.४६.८; १०.८६.११, १२; शतपथ-ब्राह्मण १४.२.१.८: इन्द्राणी हवा इन्द्रस्य प्रिया पत्नी। ऐतरेय-ब्राह्मण ३.२२.७ में प्रासहा तथा सेना इन्द्र की पत्नियाँ हैं, जो वस्तुतः इन्द्राणी के तद्रूप हैं तैत्तिरीय ब्राह्मण, २.४.२.७-८; मैत्रायणीसंहिता ४.१२.१। इन्द्राणी इन्द्रपत्नी ऋ० १०.८६२-६, ९, १०, १५-१८, १४५ की कृषिका हैं। शांखायनगृह्यसूत्र १.१२ में इन्द्र की पत्नी का नाम 'शची' आया है।

ऋग्वेद (१०.१५९) की ऋषिका भी हैं। इसी वेद में स्वय इन्द्र भी ऋषि के रूप में आते हैं।[९४] इन्द्रशत्रुओं में राजशेखर ने नमुचि[९५] का उल्लेख किया है। इन्द्र की यह वैदिक महिमा पौराणिक काल में लुप्तप्राय हो चुकी है।

विष्णु के लिए राजशेखर ने अच्युत[९६] उपेन्द्र[९७], केशव[९८], नारायण[९९], पद्मनाथ[१००], विष्णु[१०१], वैकुण्ठ[१०२], शार्ङ्गधन्वा[१०३], सुपर्णकेतन[१०४] तथा हरि[१०५] आदि अभिधानों का प्रयोग किया है, जिनमें उपेन्द्र और विष्णु ही शुद्ध वैदिक हैं। अग्नि तथा इन्द्र की अपेक्षा वेद में विष्णु गौण देव हैं, परन्तु पौराणिक काल तक आते-आते वे एक प्रमुख देव का रूप ले लेते हैं। इन देवों के अतिरिक्त राजशेखर की कृतियों में शिव के लिए अनेक अभिधानों का प्रयोग हुआ है। यदि वैदिक देवशास्त्र की दृष्टि से विचार किया जाय तो इनका विकास वैदिक रुद्र से हुआ है। उन्होंने शिव के लिए इन्दुमौलि[१०६], ईश्वर[१०७], इन्दुशेखर[१०८], उमापति[१०९], कपालिन्[११०], गिरिश[१११], गौरीपति,[११२] चन्द्रमौलि,[११३] धूर्जटी,[११४] त्रिनयन,[११५] त्रिपुरद्रुह,[११६] त्र्यक्ष,[११७] त्रियम्बक-त्र्यम्बक,[११८] नीलकण्ठ,[११९]

---

९४ ऋग्वेद, १.१६५.१-२, ६, ८, १०-१२; १.१७०.२, ३,४,; ४.१८.१,४; ४.२६.१-३; ८.१०.४-५; १०.२८.२,६,८,१०,१२; १०.८६.१,८,११,१२,१४,१९-२२।

९५ बालरामा०, अंक ४, पृ० १०७।

९६ वही, १०.४२ अच्युत।

९७ वही, ४.४५; ८.४५।

९८ वही, १०.३६ केशवभुजैः।

९९ बालरामायण, २.५; ४.७४; ७.३; वही, अंक १०, पृ० ३४६; विद्धशालभञ्जिका, अंक ३, पृ० ७१ नारायणतनुः; काव्यमीमांसा, अध्याय १३, पृ० १८४।

१०० बालरामा०, अंक १०, पृ० ३४६ पद्मनाभमाहात्म्येन।

१०१ वही, १.६; ४.११.

१०२ वही, १०.३७ वैकुण्ठकण्ठे; वही, अंक १०, पृ० ३४६ वैकुण्ठकमेठन।

१०३ काव्यमीमांसा, अध्याय १७, पृ० २२८ शार्ङ्गधन्वने।

१०४ बालरामायण, २.३९ सौपर्णकेतनम्।

१०५ कर्पूरमञ्जरी, १.२४; विद्धशालभञ्जिका, ४.२७.।

१०६ बालरामायण, ४.७२; ७.५८; १०.२९.।

१०७ वही, ५.४ ईश्वरस्य।

१०८ वही, २.४४।

१०९ वही, २.३।

११० वही, ४.७० कपालिनम्।

१११ कर्पूरमञ्जरी, १.३ गिरिशगिरीन्द्रसतयोः।

११२ बालरामायण, १०.८९ गौरीपतिमौलिमाला।

११३ वही, २.३६ चन्द्रमौलिः।

११४ वही, ३.७५; ४.५७।

११५ वही, १०.९३।

११६ वही, ४.३२।

११७ वही, ४.२४।

११८ बालरामा०, २.३९; ३.३७; ४.६०; ४.१४ त्र्यम्बक; १०.६८ त्र्यम्बक; विद्धशाल० १.२२ त्र्यम्बक; काव्यमीमांसा, अध्याय १३, पृ० १९३ इत्यादि।

पशुपति,[१२०] पिनाकी,[१२१] पिनाकपाणि,[१२२] भर्ग,[१२३] भूतपति,[१२४] महादेव,[१२५] महेश्वर,[१२६] मृड,[१२७] रुद्र,[१२८] वृषभध्वज,[१२९] वृषलाञ्छन,[१३०] वृषकेतु,[१३१] वृषभलाञ्छन्,[१३२] वृषाकपि,[१३३] शङ्कर,[१३४] शम्भु,[१३५] शशिशेखर,[१३६] शिपिविष्ट,[१३७] श्रीकण्ठ,[१३८] स्थाणु[१३९], हर,[१४०] आदि अभिधानों का प्रयोग किया है। इनमें त्र्यम्बक का ऋग्वेद[१४१], वाजसनेयिसंहिता,[१४२] तैत्तिरीयसंहिता,[१४३] वाजसनेयिसंहिता,[१४४] काठकसंहिता[१४५] तथा अथर्ववेद[१४६] में; रुद्र का

---

१९९ बालरामायण, अंक १०, पृ० ३४६; कर्पूरमञ्जरी, जवनिका ३, पृ० १३१.।

१२० बालरामा०, २.६२; ४.६९.।

१२१ वही, ४.१५.।

१२२ वही, ४.१६.।

१२३ विद्धशालभञ्जिका, २.१ भर्गेण।

१२४ बालरामायण, १.३६.

१२५ वही, अंक १, पृ० २३ महादेवोऽपि।

१२६ वही, ४.५८.।

१२७ वही, ३.७२.।

१२८ कर्पूरम०, १.४; बालरामा= १.४१; ३.७६; ३.८२; ४.५; ४.५१; १०.३१, ४७; काव्यमीमांसा अध्याय १३, पृ० १८४ इत्यादि।

१२९ बालरामायण, २.६०.।

१३० वही, ३.८१.।

१३१ वही, ५.४ वृषकेतु।

१३२ वही, अंक ४, पृ० ११० वृषभलाञ्छनः।

१३३ वही, ४.७३.।

१३४ वही, १०.४२.।

१३५ वही, २.४; ४.७१; ५.५; १०.९१.।

१३६ वही, २.४०; १०.१७.।

१३७ वही, अंक १, पृ० २३ शिपिविष्टोन्यस्माद्। यहाँ ध्यातव्य है कि यह शब्द शिपिविष्ट वेद में विष्णु का वाचक है परन्तु राजशेखर ने यहाँ शिव के लिए प्रयोग किया है; तुलनीय-यज्ञो वै विष्णुः शिपिविष्टः। ताण्ड्यमहाब्राह्मण, ९.७.१०; काण्वीय शतपथ-ब्राह्मण, ३.२.३.३।

१३८ बालरामायण, ४.६४; १०.२७.।

१३९ वही, १०.५९; बालभारत, १.२.।

१४० बालरामा०, १०.७१; काव्यमीमांसा, अध्याय १७, पृ० २२९.।

१४१ ऋग्वेद, ७.५९.१२ त्र्यम्बकम्।

१४२ वाज०सं०, ३.६०.।

१४३ तैत्ति० सं०, १.८.६.२.।

१४४ मैत्रा० सं०, १.१०.४.।

१४५ काठ० सं०, ३६.१४ रुद्रास्त्र्यम्बकाः।

१४६ अथर्व० १४.१.१७.।

ऋग्वेद,[१४७] सामवेद,[१४८] वाजसनेयिसंहिता,[१४९] काठकसंहिता[१५०] तथा अथर्ववेद[१५१] में; गिरिश,[१५२] पशुपति, शम्भु, शङ्कर[१५३] आदि का वाजसनेयिसंहिता में प्रयोग हुआ है। शिव के पिनाकित्व के संकेत ऋग्वेद[१५४] तथा वाजसनेयिसंहिता[१५५] में मिलते हैं। अथर्ववेद तथा मैत्रायणीसंहिता में पशुपति तथा भूतपति[१५६] और शतपथ-ब्राह्मण[१५७] तथा शांखायन-ब्राह्मण[१५८] में पशुपति तथा महादेव का प्रयोग है। इसी प्रकार 'स्थाणु' शब्द का प्रयोग शतपथ-ब्राह्मण में यद्यपि यूप के लिए हुआ है,[१५९] तथापि इसमें शिव के प्रतीक की एकरूपता द्रष्टव्य है। अतः राजशेखर द्वारा प्रयुक्त अनेक अभिधान वैदिक हैं। यायावर कवि द्वारा देवों में अग्नि की श्रेष्ठता का कथन[१६०] भी वेदसम्मत है। उनके द्वारा संकेतित सूर्य का सात अश्वों से युक्त रथवाला होने का वर्णन भी वेदानुसारी है।[१६१] बालरामायण में 'इन्द्र से बादलों को हटाने का' उनका वर्णन भी सर्वथा वैदिक है। क्योंकि वेद में मेघों को हटाने की प्रार्थना इन्द्र से की गयी है।[१६२] राजशेखर ने अन्य देवियों में लक्ष्मी[१६३], उमा[१६४] एवं वरुणानी[१६५] का भी

---

१४७ ऋग्वेद, १.२७.१०; १.४३.१; १.६४.२; १.८५.१; १.११४.१-११; १.२२.१; १.१२९.३; २.१.६; २.३३.१-१५; २.३४.२; २.३८.९; ३.८.५; ४.३.१; ५.३.३; ५.४१.२; ५.४२.११; ५.४६.२; ५.५१.१३; ५.५२.१६; ५.५९.८; ५.६०.५; ६.१३.३६; ६.२८.७; ६.४९.१०; ६.५०.४; ६.६६.३; ६.७४.१-४; ७.१०.४; ७.३५.६; ७.३६.५; ७.४०.५; ७.४१.१; ७.४६. १-४; ७.५६.१; ७.५८.५; ८.१३.२०; ८.२०.१७; ८.२२.१३; ८.२९.५; ८.६१.३; १०.६४.८; १०.६५.१; १०.६६.३; १०.९२.५; १०.९३.४; १०.१२५.६; १०.१२५.५; १०.१३६.१; १०.१६९.१।

१४८ सामवेद, १.१५, ४३३।

१४९ वाज० सं०, १६.४८; ३३.४८; ३४.३४

१५० काठकसंहिता, ३६.१४.

१५१ अथर्ववेद, १.२८.५; ४.२१.७; ३.१६.१; ४.३०.५।

१५२ वाज०सं०, ३.६१.

१५३ वही, १६.१-६६.

१५४ ऋग्वेद, २.३३.१०-११; ५.४२.११; ७.४६.१ इुमा रुुद्राय स्थिुरधन्वने गिरः, १०.६४.८; १०.१२५.६ अुहं रुुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मणे द्विषे शरवे हन्तु वाउ; अथर्व०, ४.३०.५।

१५५ अवततधन्वा पिनाकावस; १६.५१ पिनाकावस; १६.५१ पिनाकं बिभ्रद् आगहि।

१५६ अथर्व०, ११.२.१-३१; मैत्रायणीसंहिता, ४.२.१२ यत्पशुपतिरिति रुद्रइति च।

१५७ शत०ब्रा= ६.१.३७-१९; १.७.३.८।

१५८ शांखायन-ब्रा, ६.१-९।

१५९ शतपथ-ब्राह्मण, ३.६.२.५ यूपः स्थाणुः।

१६० बालरामा०, १०.४; तुलनीय-शत०ब्रा० १४.३.२.५ अग्निर्वै सर्वेषां देवानामात्मा; शत०ब्रा०,१.६.२.८; ३.१.३.१ अग्निर्वै सर्वा देवताः; शत०ब्रा०, ७.४२.२५ अग्निर्वै प्रथमा विश्व ज्योतिः; जैमिनीय ब्राह्मण, १.६६ अग्निर्देवतानां ज्योतिः इत्यादि।

१६१ बालरामायण, ८.३९; तुलनीय ऋग्वेद, १.११५.३,४,५; १.५०.८ सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देवसूर्य; १.५०.९ अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः सूरो रथस्य नप्त्यः ताभिर्याति स्वयुक्तिभिः; ७.६०.३ अयुक्त सप्त हरितः सधस्थाद्या ई० वहन्ति सूर्यं घृताचीः।

१६२ बालरामायण, ५.६०; तुलनीय ऋ०, २.११.५, ९;२.१२.३,७; २.१९.३ आदि।

१६३ बालरामा० ७.३७; १०.२,३७,४२,४४ लक्ष्मी; ७.५९ श्रियः ३.८४ पद्मा; ५.४५ कमला।

उल्लेख किया है, जिनमें लक्ष्मी सम्भवतः शतपथ-ब्राह्मण की देवी श्री से विकसित हुई प्रतीत होती हैं[१६६] तथा उमा का प्राचीनतमा उल्लेख केनोपनिषद् में उमा-हैमवती के रूप में हुआ है।[१६७] सम्भवतः इसी से उमा पार्वती का विकास हुआ होगा। इस प्रकार राजशेखर की रचनाओं में उल्लिखित देवी-देवताओं का स्वरूप ऐतिहासिक विकास क्रम में वेदों से दूर होते हुए भी किन्हीं अंशों में इनमें वैदिक देवताओं का मूल निहित है।

राजशेखर ने अपनी कृतियों में गन्धर्वों[१६८] यक्षों,[१६९] किन्नरों,[१७०] (किं पुरुषों), विद्याधरों,[१७१] सिद्धों,[१७२] लोकपालों[१७३] आदि अर्द्धदिव्य जातियों का भी उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अप्सराओं[१७४] का भी संकेत किया है। इनमें से कुछ का उल्लेख वैदिक साहित्य में भी हुआ है।[१७५] राजशेखर ने अपने ग्रन्थों में हिमवान्,[१७६] पारियात्र[१७७] और मैनाक[१७८] पर्वतों तथा न्यग्रोध[१७९] (वट) का भी उल्लेख किया है, जो सर्वथा वैदिक है। राजशेखर ने वैदिक ऋषियों का न केवल उल्लेख किया है, प्रस्तुत उनका वर्णन भी किया है। उनके अनुसार

---

१६४ कर्पूरमञ्जरी, १.३ गिरीन्द्रसुता; बालरामायण, २.३,१०.२७ उमा; वही, ४.६४ रुद्राणीधर्मसूनुः, १०.२ रुद्राणी; ३.७२, ४.२५ मृडानी; १०.३३ भवानी; १०.२८ गिरिसुता; १०.४२ गौरी; १०.८९ गौरीपति; काव्यमीमांसा, अध्याय ३, पृ० २६ गौरी।

१६५ बालरामा= १०.२ वरुणानी।

१६६ शतपथ-ब्राह्मण, ११.४.३.३।

१६७ केनोपनिषद्, ३.१२;४.१। द्रष्टव्य तैत्तिरीयारण्यक १०.१.१.५० पर सायणभाष्य हिमवत्पुत्र्या गौर्य्या ब्रह्मविद्याभिमानिरुपत्वाद् गौरीवाचक उमाशब्दो, ब्रह्म विद्यामुपलक्षयति। अत एव तलवकारोपनिषदि ब्रह्मविद्यामूर्तिप्रस्तावे ब्रह्मविद्यामूर्तिः पठ्यते 'बहु शोभमानामुमां हैमवतीं तां होवाच' इति। तद्विषयः तया उमया सह वर्त्तमानत्वात् सोमः''।

१६८ बालरामायण, अंक १०, पृ० ३४१ सरचारण; काव्यमीमांसा, अध्याय ९, पृ० १११ तुम्बुरोरुद्गीतं, नलकूबरस्य।

१६९ कर्पूरमञ्जरी, १.२५ यक्षसुरसिद्धगणाङ्गनाः।

१७० बालरामायण, ४.५ किन्नरपते; वही अंक १०, पृ० ३४-१ किन्नरैः; बालभारत, अंक २, पृ० ७६ किन्नरकण्ठएष; विद्धशाल०, ४.११ किन्नरकष्ठी

१७१ बालरामा०, ४७ विद्याधराः; वही, अंक ४, पृ० १०५ विद्याधरान्; अंक ७, पृ० २२३ विद्याधरजन; अंक १०, पृ० ३४१ विद्याधरसंकुलम्; १.२४ विद्याधराः; बालभारत, २.१० भूखण्डविद्याधरः।

१७२ कर्पूरमञ्जरी, १.२५ सिद्धगणाङ्गना; बालरामायण, अंक ४, पृ० १०५ सिद्धांश्च; वही, अंक ७, पृ० २२३ सिद्ध।

१७३ बालभारत, २.१ हे विश्वे लोकपालास्त्वभपि।

१७४ बालरामा०, अंक ३,पृ० ६७ चाप्सरोभिः; २.५४ अप्सरोऽद्य; वही, अंक४, पृ० १०५ देवानप्सरसो; ५.४५ अमराङ्गना; विद्धशाल०, ४.२४ देवाङ्गनानामिति; काव्यमीमांसा, अध्याय ९, पृ० १११ रम्भया।

१७५ अप्सराओं तथा गन्धर्वों के लिए द्रष्टव्य सूर्यकान्तः वैदिक देवशास्त्र दिल्ली, १९६१, पृ० ३४८-५७; यक्षों के लिए ऋग्वेद, ७.६१.५; अथर्ववेद, १०.२.३२;१०.८.४३; वाजसनेयिसंहिता, ३४.२; तैत्तिरीय ब्राह्मण, ३.१२.३.१; कौशिकसूत्र ९५; केनोपनिषद्, ३.२-१२; किं पुरुषो के लिए ऐतरेयब्राह्मण, २.८; शतपथ-ब्राह्मण. १.२.३.९; ७.५.२.३२; गन्धर्वों एवं अप्सराओं के लिए द्र० अथर्व० ८.८.१५ गन्धर्वाप्सरसः।

१७६ बालरामा०, ७.१२, ८.२३ तुहिनगिरि।

१७७ वही, ८.२३ पारियात्राचल; काव्यमीमांसा, अध्याय १७, पृ० २३३ पारियात्र। तुलनीय-ऋ० १०.१२१.४; यजु०, २४.१२,३०; अथर्व०, ४.९.९; ४.२.५; ६.९५.३; १९.२.१ इत्यादि। बौधायनधर्मसूत्र, १.१.२-१०।

१७८ बालरामा०, १०.४६ मैनाक; तुलनीय, तैत्तिरीयारण्यक, १.३१.२.

१७९ बालरामा०, १०.९१ न्यग्रोध; तुलनीय, ऐतरेय-ब्राह्मण, ३५.४।

ऋषि साक्षात्धर्मा होते हैं, अतः तपः प्रभाव से उन्हें सब कुछ प्रत्यक्ष रहता है, वे मन्त्र दृष्टा हैं।[१८०] उनका यह कथन ऋषिविषयक यास्क की उक्ति-"**साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूव**" का स्मरण करवाता है।[१८१] ऋषियों के विषय में उनकी ऐसी धारणा है कि उनकी वाणी कभी असत्य नहीं होती।[१८२] वे ऋषियों का बहुत आदर करते थे।[१८३] उन्होंने विश्वामित्र के ब्रह्मतेज तथा क्षात्रतेज की प्रशंसा करते हुए वशिष्ठ शाप को व्यर्थ करने वाले उनके तपोबल का भी बखान किया है[१८४] तथा अगस्त्य ऋषि के तपः प्रभाव का भी संकेत किया है।[१८५] राजशेखर ने अपने साहित्य में सप्तर्षियों,[१८६] अगस्त्य,[१८७] अङ्गिरसगोत्रीय शतानन्द,[१८८] अत्रि,[१८९] आपस्तम्ब,[१९०] काण्व,[१९१] कश्यप,[१९२] कुशिक,[१९३] ऋचीक,[१९४] त्रिशंकु,[१९५] भृगुवंशी परशुराम,[१९६] याज्ञवल्क्य,[१९७] शाण्डिल्य[१९८] वसिष्ठ,[१९९] वामदेव,[२००] व्यास,[२०१] विश्वामित्र[२०२] सुगीथ,[२०३] यम[२०४] आदि का उल्लेख किया है। उन्होंने वैदिक ऋषिका लोपामुद्रा[२०५] का भी उल्लेख किया है, जिसका संकेत ऋग्वेद[२०६] में भी अगस्त्य की पत्नी के रूप में हुआ है।

---

१८० बालरामा० २.३३ ऋषीणां तु श्रुतिदृशाम्; वही, अंक २, पृ० ५१ श्रुत्यर्थवीथीविदग्धः; वही, १.३५ यन्मीमांसयतः श्रुतीः शतपथाः साक्षात्कृतब्रह्मणो, जनक द्वारा महर्षि विश्वामित्र के विषय में उक्ति; बालभारत, १.१५ योगीन्द्रश्छन्दसां द्रष्टा।

१८१ निरुक्त, १.६.२०: साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूव। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान्सम्प्रादुः।

१८२ बालभारत, १.१०; अनूचानो हि यद् ब्रूते सा स्वयम्भूः सरस्वती। तदार्षं न मृषार्थं स्यात् सा दृष्टिर्विदुषां दृढा॥

१८३ वही, १.२५.

१८४ बालरामायण, १.२६-२७,३५।

१८५ वही, १.२८.।

१८६ वही, १.२६ गगनमुनीन् सप्त; विद्धशालभञ्जिका, अंक २, पृ० ४०।

१८७ बालरामा०, १.२८; अंक १, पृ० १४; १०.६१; १०.६३ मित्रावरुणयोः पुत्रः; वही= अंक १०, पृ० ३५३, ३६९।

१८८ वही, अंक १, पृ० १७ एवं पात्र विशेष के रूप में।

१८९ वही, ३.३४; ४.४; बालभारत, १.२५.

१९० बालभारत, १.२५

१९१ बालरामायण, ४.४.

१९२ वही, २.२३.

१९३ वही, ४.४८; वही, अंक ३, पृ० ६३ कुशिकनन्दनः।

१९४ वही, अंक २, पृ० ३८ ऋचीक।

१९५ वही १.२६ त्रिशङ्कु।

१९६ वही, २.२८; अंक १०, पृ० ३६७; एवं पात्र विशेष के रूप में।

१९७ वही, १.२२; १.३४; १.५२; १.५६; ४.४५ इत्यादि; बालभा०, १.२५।

१९८ बालरामा०, ४.४।

१९९ वही, १.२६; १०.९८; अंक १०, पृ० ३६९; एवं पात्र विशेष के रूप में; बालभारत, १.२५।

२०० बालरामा०, ६.१२ एवं पात्रविशेष के रूप में।

२०१ बालभारत में पात्र के रूप में।

२०२ बालरामा०, १.२६-२७, ३५; ३.७०; ४.४५-४६; ७.३ इत्यादि; बालभारत, १.२५.।

२०३ बालरामा०, ४.४.।

२०४ वही, ४.४.।

२०५ वही, ९.३६; १०.६१; एवं पात्रविशेष के रूप में।

सप्तर्षियों का उल्लेख वेद में हुआ है।[२०७] शतपथ-ब्राह्मण में भी उनका उल्लेख है[२०८] और वहाँ उनके नाम भी दिये गये हैं-गोतम, भरद्वाज, विश्वामित्र, जमदग्नि, वसिष्ठ, कश्यप तथा अत्रि[२०९]। अगस्त्य का उल्लेख अथर्ववेद[२१०] की ऋषि-सूची में आता है। 'अङ्गिरस्' शब्द ऋग्वेद में लगभग ६० बार आया है, जिसमें से दो-तिहाई बार इस शब्द का बहुवचन में प्रयोग हुआ है। वे स्वर्ग सूनु[२११] तथा देवपुत्र[२१२] ऋषि हैं। अत्रि भी प्राचीन ऋषियों में से एक हैं, जो पाञ्चजन्य ऋषि कहे जाते हैं।[२१३] ऋग्वेद का समग्र ऋषियों में अन्य गोतम, भरद्वाज, विश्वामित्र, वसिष्ठ तथा कश्यप प्रमुख वैदिक ऋषि हैं। ऋग्वेद का चतुर्थ मण्डल प्रायः गोतमों से सम्बद्ध है, इसका १८वाँ सूक्त गोतमपुत्र वामदेव का है। भरद्वाज ऋग्वेद के षष्ठ मण्डल के ऋषि हैं और विश्वामित्र तृतीय मण्डल के, वसिष्ठ सप्तम मण्डल के तथा कश्यप ऋग्वेद-१.९९; ८.२९; ९.६४; ६७.४-६; ९१,९२,११३,११४; तथा १०.१३७.२ के ऋषि हैं।[२१४] वसिष्ठ अथर्ववेद-१.२९; ३.१२, २०,२१,२२; ४.२२ तथा २०.१२,११७ के मन्त्रदृष्टा ऋषि हैं। अथर्ववेद के कुछ मन्त्रों में भी वसिष्ठ का उल्लेख है।[२१५] कण्व' शब्द ऋषिविशेष तथा कण्वकुल के अर्थ में ऋग्वेद में लगभग ६० बार प्रयुक्त है। ऋग्वेद के अष्टम मण्डल के ऋषि कण्व अथवा तत्कुलोत्पन्न ऋषि हैं।[२१६] कुशिक सायण के मत में ऋग्वेद (१०.१२७) के कृषि हैं। भृगु जमदग्नि के साथ ऋग्वेद (९.६५) और मथित तथा च्यवन के साथ (१०.१९) के द्रष्टा माने जाते हैं। ऐतरेय-ब्राह्मणों[२१७] में भृगु के वर्ग विशेष के प्रतिनिधिभूत ऋषि के रूप में आते हैं। त्रिशङ्कु तैत्तिरीयोपनिषद् (१.१०.१) में एक ऋषि के रूप में आते हैं, किन्तु वसिष्ठ के अभिशाप और विश्वामित्र के प्रतिकार के फलस्वरूप उनके लिए आकाश के मध्य में स्वर्ग की सृष्टि का संकेत[२१८] वहाँ नहीं प्राप्त होता। कालिदास ने भी अभिज्ञानशाकुन्तलम् में इसका संकेत किया है।[२१९] शाण्डिल्य ऋषियों का उल्लेख शतपथ-

---

२०६ ऋग्वेद, १.१७९.४; तुलनीय बृहद्देवता, ४.५७.।

२०७ वही, १.३१.५; ४.४२.८; १०.१३०.७; १०.१०९.४; वाजसनेयिसंहिता, १४.२४; अथर्ववेद, ११.१.१,२४; बृहदारण्यकोपनिषद्, २.२.६।

२०८ शतपथ-ब्राह्मण, २.१.२.४ सप्तर्षी नु ह स्म वै पुरक्षा इत्याचक्षते।

२०९ वही, १४.५.२.६ इमावेव गोतमभरद्वाजौ। अयमेव गोतमोऽयं भरद्वाज इमावेव विश्वामित्रजमदग्नी अयमेव विश्वामित्रोऽयं जमदग्निरिमावेव वसिष्ठकश्यपाववयमेव वसिष्ठोऽयं कश्यपो वागेवात्रिः

.२१० अथर्ववेद, १८.३.१५। विस्तर हेतु दृष्टव्य सूर्यकान्तः वैदिक कोश, वारणसीः काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, १९६३.

२११ ऋग्वेद, ३.५३.७; १०.६७.२; ४.२.१५।

२१२ वही, १०.६२.४.।

२१३ वही, १.११७.३१ विस्तर हेतु द्रष्टव्य सूर्यकान्तः वैदिक कोश, पृ० ३७६-७९; V.G Rahurkar: The Seers of the Rgveda, Poona, १९६४, PP.६१-८८ ।

२१४ इन ऋषियों के सविस्तर विवरण के लिए द्रष्टव्य V.G Rahurkar का पूर्वोल्लिखित ग्रन्थ, पृ० १६-१७६।

२१५ अथर्व०, ४.२९.३; १८.३.१६; २०.१२.१, ६;२०.११७.३।

२१६ विस्तर हेतु द्रष्टव्य V.G Rahurkar की पूर्वोल्लिखित ग्रन्थ, पृ० १५४-७६; सूर्यकान्तः वैदिक कोश, पृ० ८२; वैदिक देवशास्त्र, पृ० ३७९-८०।

२१७ ऐतरेय-ब्राह्मण, २.२०.७। भृगु के विवरणार्थ द्रष्टव्य सूर्यकान्तः वैदिक देवशास्त्र, पृ० ३६२-६४; V.G Rahurkar का पूर्वोद्धृतग्रन्थ, पृ० २१५-२०।

२१८ बालरामायण, १.२६: वासिष्ठीं शापमुद्रां सपदि विदलयन् यो महासत्रसम्बन्धे। मध्ये व्योम त्रिशङ्कोशतमखविमुखः स्वर्गसर्गं चकार॥

२१९ अभिज्ञानशा०, अंक २, पृ० ८४ त्रिशङ्कुरिवान्तरातिष्ठ।

ब्राह्मण[२२०] एवं छान्दोग्योपनिषद्[२२१] में हुआ है।[२२२] यम ऋग्वेद (१०.१०) में ऋषि के रूप में आते हैं, जिसमें यम और उसकी बहन यमी का संवाद है।[२२३] इस प्रकार राजशेखर की रचनाओं में उनके द्वारा अनेक वैदिक ऋषि उल्लिखित हैं।

कविवर राजशेखर ने अपनी कृतियों में कुछ ऐसे पात्रों का भी समायोजन किया है, जो वैदिक पृष्ठभूमि के हैं। बालरामायण के शुनःशेप, विश्वामित्र, मातलि, वामदेव, पुरुहूत, अगस्त्य, लोपामुद्रा और वसिष्ठ तो स्पष्टतः वैदिक भूमि से ही हैं। इनमें शुनःशेप का सम्बन्ध ऐतरेय-ब्राह्मण से है, जहाँ इनके 'देवरात' संज्ञा से प्रख्यात होने का सम्पूर्ण आख्यान दिया गया है।[२२४] शेष तो देव एवम् ऋषि हैं जिनकी पृष्ठभूमि ही वेद है।

राजशेखर के साहित्य में प्रकारान्तर से कतिपय वैदिक आख्यानों का भी संकेत मिलता है। बालभारत में वर्णित द्यूतक्रीड़ा के अवसर पर पृथ्वी के राजसिंहासन को दाँव पर लगाते हुए उस पर बैठने वाले अपने पूर्व पुरुषों के उल्लेखपरक युधिष्ठिर की उक्ति[२२५] में दो वैदिक आख्यान संकेतित हैं-(१) पुरुरवा-उर्वशी एवं (२) दुष्यन्त-शकुन्तला से सम्बद्ध आख्यान, जिनका उल्लेख वैदिक साहित्य में मिलता है। पुरुरवा-उर्वशी से सम्बद्ध आख्यान ऋग्वेद[२२६], यजुर्वेद[२२७], काठकसंहिता[२२८], और शतपथ-ब्राह्मण[२२९] में द्रष्टव्य है तथा दुष्यन्त-शंकुन्तला विषयक आख्यान शतपथ-ब्राह्मण[२३०] तथा ऐतरेय-ब्राह्मण में[२३१] मिलता है। एवमेव बालरामायण के द्वितीय अंक में राक्षस के कथन में भी दो वैदिक आख्यानों का संकेत है-(१) शुनःशेपाख्यान[२३२], जिसमें शुनःशेप को विश्वमित्र के धर्मपुत्र होने का गौरव प्राप्त है तथा (२) त्रिशङ्कु-विश्वमित्र आख्यान[२३३], जिनमें प्रथम का ऐतरेय-ब्राह्मण[२३४] और शांखायन श्रौतसूत्र[२३५] में तथा द्वितीय का तैत्तिरीयोपनिषद्[२३६] में उल्लेख मिलता है।

---

२२० शतपथ-ब्राह्मण, ९.४.४.१७;९.५.२.१५; १०.१.४.१०; १०.४.१.११; १०.६.३.५; १०.६.५.९।

२२१ छान्दोग्योपनिषद, ३.११.४।

२२२ शाण्डिल्य के सविस्तर विवरण के लिए द्रष्टव्य सूर्यकान्तः वैदिक कोश, पृ० ५१३-१४

२२३ वैदिककाल से 'यम' मृत्यु के अधिष्ठातृ देवता भी माने गये हैं, परन्तु यहाँ वे ऋषियों के साथ उल्लिखित हैं। इस रूप में इनका संकेत ऋग्वेद में प्राप्त होता है। एतदर्थ विवरणार्थ द्रष्टव्य सूर्यकान्तः वैदिक कोश, पृ० ४२६।

२२४ द्रष्टव्य ऐतरेय-ब्राह्मण, अध्याय ३३ सम्पूर्ण।

२२५ बालभारत, २.२३: ऐलः प्राक् स पुरुरवाः प्रभुरभूद्यस्योर्वशीवल्लभो। दुष्यन्तः स च योऽभ्यसूत भरतं शाकुन्तलं शास्तये॥

२२६ ऋग्वेद, १०.९५.१-१८।

२२७ यजुर्वेद, ५.२; १५.१९।

२२८ काठक संहिता, ८.१०।

२२९ शतपथ-ब्राह्मण, ११.५.१.१-१७;३.४.१.२२ उर्वशी वा अप्सराः पुरुरवा पतिरथ यत्तस्मन्मिथुनादजायत तदायुः।

२३० शतपथ ब्राह्मण, १३.५.४.११,१३।

२३१ ऐतरेय-ब्राह्मण, ८.३९.२३।

२३२ बालरामायण, अंक १, पृ० १२ पर राक्षस की उक्ति- तत्रापि विश्वामित्रधर्मपुत्रः शुनःशेपः।

२३३ वही, अंक १, पृ० ११ पर राक्षस की उक्ति-"तत्त्वया मेनकाकामुकस्य त्रिशङ्कुयाजिनः क्षत्रिय ब्राह्मणस्य तस्य प्रवृत्तिरस्मासु निवेदनीया"।

२३४ ऐतरेय-ब्राह्मण, ७.३३.१५-१७।

२३५ शांखायन श्रौतसूत्र, १५.२७।

२३६ तैत्तिरीयोपनिषद, १.१०.१।

राजशेखर ने तीनों लोकों-द्यु, अन्तरिक्ष और पृथ्वी के लिए प्रायः सभी कृतियों में क्रमशः भूः, भुवः एवं स्वः शब्दों का प्रयोग किया है[२३७], जो सर्वथा वेदसम्मत है, क्योंकि संहिताओं, ब्राह्मण-ग्रन्थों आदि में तीनों लोकों के वाचक इन्हीं तीनों शब्दों (भूः, भुवः, स्वः) का व्यवहार अनेकत्र दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि वैदिक वाङ्मय में ये तीन व्याहृतियाँ मानी जाती हैं। इन तीनों व्याहृतियों (भूः, भुवः, स्वः) का प्रयोग वाजसनेयिसंहिता के एक मन्त्र (गायत्री मन्त्र) के प्रारम्भ में हुआ भी है।[२३८] पृथ्वी लोक का वाचक 'भूः' शब्द[२३९], अन्तरिक्षलोक का अभिधायक 'भुवः' शब्द[२४०] तथा द्युलोक का पर्याय 'स्वः' शब्द[२४१] अनेक वैदिक ग्रन्थों में देखा जा सकता है।' तैत्तिरीय-ब्राह्मण में भी तीनों व्याहृतियों को उपर्युक्त तीनों लोकों का वाचक माना गया है।[२४२] एवमेव राजशेखर ने अपनी रचना काव्यमीमांसा से द्वादश मासों-श्रावण, भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक, मार्गशीर्ष, पौष, माघ, फाल्गुन, चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाण के वैदिक नामों क्रमशः-नभा, नभस्यः, ईष, ऊर्ज, सह, सहस्य, तपः, तपस्य, मधु, माधव, शुक्र, शुचि का प्रयोग किया है[२४३], जिनका उल्लेख तैत्तिरीयसंहिता में प्राप्त होता है।[२४४]

राजशेखर के साहित्य में उपलब्ध संकेतों से ऐसा प्रतीत होता है कि वे वैदिक श्रौत तथा गृह्य यज्ञयागों से सुपरिचित थे। उन्होंने यजमान[२४५], यज्ञार्थ-दीक्षा[२४६], चारों प्रधान ऋत्विजों-(होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा) एवम् उनके द्वारा सम्पादित होने वाले यज्ञीय कर्मों[२४७], क्रतुक्रिया[२४८], प्रातःसवन[२४९], यज्ञ-निमन्त्रण[२५०], यज्ञविधि[२५१], यज्ञांश के भोक्ता देवगण[२५२], ब्राह्मणों द्वारा आहुति दान[२५३], हवन के लिए प्रज्वलित अग्नि[२५४],

---

२३७ बालरामा०, १.६१ भूर्भुवः स्वस्त्रयेऽपि; अंक २, पृ० ३८ भूर्भवः स्वस्त्रितयवासिभिः; अंक २, पृ० ४६ भूर्भुवः स्वस्त्रयी; वही, २.५० भूर्भूवः स्वस्त्रयीवीरः; वही, ६.३८ भूर्भूवः स्वस्त्रयस्य; वही, अंक ९, पृ० ३०३ भूर्भूवः स्वस्त्रयविहितनियमेन; वही, अंक ९, पृ० ३२० भूर्भुवः स्वस्त्रयैकवीरः; वही, अंक ९, पृ० ३२७ भूर्भूवः स्वस्त्रितयडामरः काव्य-मीमांसा, अध्याय १, पृ० १ भूर्भूवः स्वस्त्रितयवर्त्तिनीषु; वही, अध्याय १८, पृ० २६३ भूर्भूवः स्वस्त्रयेऽपि।

२३८ वाजसनेयिसंहिता, ३६.३; भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।

२३९ ऋग्वेद, १.५२.१३;३.५५.१३; यजुर्वेद, ७.२९; १३.१८; ३७.१८; शतपथब्राह्मण, ७.४.२.७ भूर्हीयं पृथिवी; निघण्टु १.१ भूरिति पृथिवी नाम।

२४० ऋग्वेद, १.८६.५; ४.१९.२; यजुर्वेद, ३.५; ३.३७; ७.२९; ऐतरेयब्राह्मण, ८.१३; शतपथ-ब्राह्मण, २.१.४.११; २.४.१.१; ८.७.४.५; ११.१.६.३ इत्यादि; वही, ८.७.४.५ भुव इत्यन्तरिक्षलोकः।

२४१ ऋग्वेद, ३.२.७; ५.८३.४; १०.६६.४, ९ इत्यादि। यजुर्वेद, २३.८; अथर्व०, ४.११.६; ४.१४.२ इत्यादि। शतपथ-ब्राह्मण. २.१.४.११ स्वरिति दिवम् एतावद्वा, इदं यावदिमे लोकाः; ऐतरेय-ब्रा०, ६.७ असौ द्यु लोकः स्वः।

२४२ तैत्तिरीय ब्राह्मण, २.२.४.३ एता वै व्याहृत्यः इमे लोकाः।

२४३ काव्यमीमांसा, अध्याय १८, पृ० २४९।

२४४ तैत्तिरीय-संहिता, १.४.१४.१।

२४५ बालरामा०, अंक१, पृ०९ यजमानम्; अंक३,पृ०६२ यजमाने; वही, अंक१, पृ०२८ याज्यः।

२४६ वही, अंक१, पृ० १३ सत्रे दीक्षिष्यमाणः।

२४७ वही, अंक ३,पृ० ६२ द्रष्टव्य चित्रशिखण्ड की उक्ति-"तत्र यथोचित-सामोद्गारिष्वुद्गातरि शस्तमन्त्रसंस्कृताहुतौ होतरि प्रचरणकर्मधुर्येऽध्वर्यौ दिव्यां गिरमनुवर्तमाने यजमाने सम्यगवेक्षिताखिलकर्मणि ब्रह्माणि......ज्योतिरुदजृम्भत"।

२४८ बालरामा०, २.८ क्रतुक्रिया।

२४९ वही, अंक१, पृ०९ प्रातःसवन।

२५० वही, अंक१, पृ० १० यज्ञोपनिमन्त्रकस्य।

२५१ वही, २.२३ क्रतुविधिगुरवे।

२५२ वही, १०.४ क्रतुबलिलिहो।

मन्त्रानुष्ठान[२५५], यज्ञकुण्ड एवं उसकी अग्नि[२५६], हव्य[२५७], यज्ञभागों[२५८], मख-अध्वर[२५९], यज्ञस्त्रुवा[२६०], पञ्चगव्य[२६१], सोमसुत् (सोमाभिषव)[२६२] आदि का उल्लेख किया है। इनसे अतिरिक्त अनेकत्र यज्ञ-यागों का संकेत है[२६३]। यही नहीं, उन्होंने महासत्र (सत्रयाग)[२६४] का भी उल्लेख किया है तथा सोमयाग के अन्त में सम्पाद्य 'अवभृथ' नामक कर्म का भी संकेत किया है[२६५]। राजशेखर ने दक्षिणा का भी अनेकत्र उल्लेख किया है[२६६], क्योंकि दक्षिणा के बिना यज्ञ पूर्ण नहीं माना जाता।

यायावर कवि ने गृह्य, आवसथ्य, औपसन अथवा स्मार्त अग्नि में सम्पादित होने वाले तथा पाकयज्ञ संस्था के अन्तर्गत आने वाले वैश्वदेव कर्म अर्थात् पञ्चमहायज्ञों में कतिपय यज्ञों का भी प्रकारान्तर से वर्णन किया है। ये पाँच महायज्ञ-देवयज्ञ[२६७], भूतयज्ञ[२६८], पितृयज्ञ[२६९], मनुष्ययज्ञ[२७०], तथा ब्रह्मयज्ञ[२७१] हैं। राजशेखर ने अपनी कृतियों में वेदाध्ययन एवम् अध्यापन[२७२] से ब्रह्मयज्ञ का, सन्ध्यावन्दन[२७३] से देवयज्ञ का तथा अतिथिसेवा[२७४] से

---

२५३ वही, १०.४ जुह्वते यच्च विप्राः।

२५४ वही, अंक१०, पृ० ३५६ होमोह्यमानहुतवहा।

२५५ काव्यमीमांसा, अध्याय ४, पृ० ३४ मन्त्रानुष्ठाननिष्ठस्य।

२५६ बालभारत, १.६३ यागकुण्डशिखिगर्भसम्भवम्।

२५७ बालरामा०, १.२६ हव्यम्।

२५८ वही, १.२७ सर्वयागाङ्गवर्गे।

२५९ वही, अंक२ पृ०३४ दक्षमखोन्माथि; वही, अंक १, पृ० १० अध्वरविधिः; बालभारत, २.३४ दुपदाध्वरे।

२६० बालरामा०, १.२७ चापस्त्रवोर्धारणात्; वही, १.३८ स्त्रक्सुगन्धिनिधिविधिः

२६१ कर्पूरमञ्जरी, जवनिक प्रथम, पृ० २७ पञ्चगव्यम्।

२६२ बालरामा०, २.१३ सोमसुत्।

२६३ वही, ३.१९ सुरयजनसमुत्था; वही, अंक ३, पृ० ७३ यागभूमिः; वही, ३.३२ संवननं; वही, ४.३९ क्रतुषु।

२६४ वही, १.२६ महासत्रबन्धे।

२६५ वही. अंक १, पृ०१० अध्वरविधिखभृथावशेषो; बालभारत, २.३७ राजसूयावभृथपरिगमे मन्त्रपूतैः पयोभिः।

२६६ कर्पूरमञ्जरी, जवनिका ४, पृ० १६४-१६५ दक्षिणा दातव्या, दक्षिमादत्ता, दक्षिणाविहितः; वही० पृ० १७५ विवाहे दक्षिणा दीयते आचार्यस्य दीयते वयस्य ग्रामशतं ते दत्तम्-राजा; बालरामा०, २.२३ दक्षिणीकृत्य पृथ्वीम्।

२६७ तैत्तिरीयारण्यक, २.१०: यदग्नौ जुहोत्यपि समिधं तद्देवयज्ञः संतिष्ठते।

२६८ वही, २.१० यद्भूतेभ्यो बलिं हरति तद्भूतयज्ञः संतिष्ठते।

२६९ वही, २.१०: यत्पितृभ्यः स्वधा करोत्यप्यपस्तत्पितृयज्ञः संतिष्ठते।

२७० वही, २.१०: यद्ब्राह्मणेभ्योऽन्नं ददाति तन्मनुष्ययज्ञः संतिष्ठते।

२७१ वही, २.१०: यत्स्वाध्यायमधीयीतैकामप्यृचं यजुः साम वा तद्ब्रह्मयज्ञः संतिष्ठते।

२७२ कर्पूरमञ्जरी, १.२४; बालरामा०, २.८; वही, अंक १, पृ० १२; वही, अंक १०, पृ० ३५७ बालभार० १.१०;१.१९ त्रयीध्यायिभिः; काव्यमीमां०, अध्याय २, पृ० ७; वही, अध्याय १४,पृ०१९९।

२७३ कर्पूरम० प्रथम जवनिका, पृ० ५१ सन्ध्यां वन्दितुम्; बालरामा०, अंक १, पृ० ९ सन्ध्यां वन्दमानस्य मे कालातिपातः; विद्धशाल०, अंक १, पृ० ३२ मध्याह्नसन्ध्यायां निर्वर्त्य; वही, अंक २, पृ० ५५ सन्ध्यामुपासितुम्; वही, अंक ४, पृ० ९२ उत्तिष्ठ सन्ध्यां वन्दितुम्।

२७४ बालरामा०, १.३८; वही, ४.३४ सज्ञातिथेयोऽर्चति; वही, अंक४, पृ० १०३ मुन्यतिथीनां मुखेभ्यः; वही, १०.६१ यदतिथिकृते।

मनुष्ययज्ञ का संकेत किया है। उन्होंने अपनी नाट्यकृति बालरामायण में इष्टापूर्त कर्म[२७५] का भी उल्लेख किया है, जो कठोपनिषदादि[२७६] में संकेतित है।

राजशेखर की नाट्यकृतियों में गृह्यसूत्रों में प्रतिपादित कतिपय गृह्य संस्कारों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। इनमें उपनयन अथवा यज्ञोपवीत संस्कार[२७७] का तो यत्र-तत्र संकेत मात्र मिलता है, परन्तु संस्कारों में प्रमुख विवाह-संस्कार का उल्लेख तत्सम्बद्ध अनेक कृत्यों के साथ हुआ है। बालरामायण में एकत्र प्रयुक्त 'उपनयनादिसंस्काराः' शब्द से अन्य संस्कारों का भी संकेत माना जा सकता है[२७८]। इसी नाटक में एकत्र विवाह का उल्लेख है[२७९], और अन्यत्र शब्दतः विवाहविधि के संकेत प्राप्त होते हैं, परन्तु विधि नहीं दी गयी है[२८०]। कर्पूरमञ्जरी में राजा चन्द्रपाल और कर्पूरमञ्जरी के विवाह[२८१] तथा विद्धशालभञ्जिका में राजा विद्याधर मल्ल और मृगाङ्कावली (मृगाङ्कवर्मा) एवं कुवलयमाला के विवाह[२८२]-प्रसङ्गों में इस संस्कार के अनेक कृत्यों का उल्लेख हुआ है। गृह्यसूत्रों तथा धर्मसूत्रों में वर्णित ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष, दैव, गान्धर्व, आसुर, राक्षस एवं पैशाच इन आठ विवाहों में से राजशेखर ने गान्धर्व विवाह का उल्लेख किया है जिसकी परिणति अन्ततः प्राजापत्य विवाह में होती है। यद्यपि राजशेखर ने विवाह के लिए शुभलग्न और शुभनक्षत्र होने का तो संकेत किया है[२८३], परन्तु, मास, नक्षत्र आदि की दृष्टि से शुभ समय का स्पष्टतः उल्लेख नहीं किया है। सम्भवतः उन्हें गृह्यसूत्रों में निर्दिष्ट उत्तरफाल्गनी, मृगशिरा, रोहिणी, स्वाति[२८४] आदि शुभ नक्षत्र अभीष्ट रहे होंगे। उन्होंने विवाह चौकी का संकेत किया है, जिस पर बैठकर वर परिणयसूत्र में बँधता है या विवाह की विधि पूर्ण करता है।[२८५] राजशेखर ने जिन प्रमुख वैवाहिक कृत्यों का उल्लेख किया है, वे हैं-विवाहार्थ कङ्कण-बन्धन अर्थात् विवाह-दीक्षा (परिसरबन्ध)[२८६], तारामेलन (परस्पर-

---

२७५ वही, ४.३४ इष्टापूर्तपवित्रमाश्रमपदम्।

२७६ कठोपनिषद्, १.१.८ इष्टापूर्ते पुत्रपशूँश्च सर्वान्; मुण्डकोपनिषद्, १.२.१० इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः

२७७ बालरामा० १.५३ यज्ञोपवीतेन, ४.५० यज्ञोपवीतम्; वही, अंक ४, पृ० १०१ उपनयनादिकाः संस्काराः, पृ० १२४; विद्धशाल०, अंक १, पृ० ११ यज्ञोपवीतम्; काव्यमीमांसा, अध्याय ११, पृ० १५३ यज्ञोपवीती।

२७८ बालरामा० अंक ४, पृ० १०१।

२७९ वही, ४.४८ विवाहोऽभूदिति।

२८० वही, २.१ वृत्ते विवाहोत्सवे; ३.८७; ३.८८ विवहनविधिः; अंक ४, पृ० १२० वृत्तविवाहमङ्गलो; ४.४८; विद्धशाल, १.३ विवाहसमये; वही, अंक २, पृ० ३५ विवाहोपकरणानि, विवाहसामग्रीम्; वही, अंक ४, पृ० ९३,१०५ विवाहकौतूहल....।

२८१ कर्पूरम० चतुर्थ जवनिका, पृ० १७३-१७५।

२८२ विद्धशाल, अंक २, पृ० ४०; वही, अंक ४, पृ० ११०, ११२.

२८३ वही, अंक ४, पृ० ९४ प्रदोषे विवाहलग्नमिति, पृ० १०६ आसन्नं विवाहलग्नम्; वही, अंक ४, पृ० ११५ किं वा वृत्ते विवाहे नक्षत्रपरीक्षा

२८४ तैत्तिरीय-ब्राह्मण, १.५.२; पारस्करगृहयसूत्र, १.४.६-७; बौधायनगृह्यसूत्र, १.१.१८-१९; मानवगृह्यसूत्र, १.७.५

२८५ विद्धशालभञ्जिका, अंक ४, पृ० १०६ विवाह चतुष्किका।

२८६ वही, अंक ४, पृ० १०८ करं कङ्कणबन्धेन विरचयत विवाहदीक्षाम् द्रष्टव्य शांखायन-गृह्यसूत्र १.१२.६-८; कौशिकसूत्र, ७६.८।

समीक्षण)[२८७], पाणिग्रहण[२८८], भ्रामरी (अग्निपरिणयन)[२८९], लाजाहोम[२९०], ध्रुवदर्शन और सप्तर्षिमण्डलदर्शन[२९१], कौतुकगृह प्रवेश[२९२] और दक्षिणादान[२९३]। राजशेखर का 'तारामेलन' कृत्य ही गृह्यसूत्रों में प्रतिपादित परस्परसमीक्षण है। कवि ने विवाह के प्रसङ्ग में सप्तपदी[२९४] तथा अश्मारोहण[२९५] का वर्णन नहीं किया है, परन्तु

---

२८७ विद्धशाल०, अंक ४, पृ० ४० एवं पृ० ११० कुरु तारामेलनम्; द्रष्टव्य पारस्करगृह्यसूत्र, १.४.१६; आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, ४.४; बौधायन-गृह्यसूत्र, १.१.२४-२५।

२८८ कर्पूरमञ्जरी, चतुर्थ जवनिका, पृ० १७३ हस्तेन हस्तं गृहाण कर्पूरमञ्जर्याः; विद्धशाल; अंक ४, पृ० १०६ सहस्राणां पाणिं ग्राहितस्य क इह एवं पृ० ११६ कुवलयमालाया हस्तं गृहीत्वा राजहस्ते विनिवेश्य; देखिए ऋ० १०.१८.८ हस्तग्राभ; अथर्व०, १४.१.४९; शांखायन-गृह्यसूत्र, १.१३.२; आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र, १.७.३; गोभिलगृह्यसूत्र, २.२.१६; खादिगृह्यसूत्र, १.३.१७-३१; हिरण्यकेशी-गृह्यसूत्र, १.६.२०.१।

२८९ कर्पूरमञ्जरी, चतुर्थ जवनिका, पृ० १७५ भ्रामर्यो दीयन्ताम्; विद्धशाल, अंक २, पृ० ४० त्वरितं दापय भ्रामर्यः; वही, अंक ४, पृ० ११२ साम्प्रतं भ्रामरीः करोतु; द्रष्टव्य शांखायन-गृह्यसूत्र १.१३.४; हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र, १.२०.८१।

२९० कर्पूरमञ्जरी, चतुर्थजवनिका, पृ० १७५ हुतवहे लाजञ्जलयः क्षिप्यन्ताम्; बालरामा०, ३.८७ लाजायते च साक्षादुत्तरलस्तारकानिकरः; विद्धशाल०, अंक २, पृ० ४० प्रज्वलिते हुतावहे लाजाञ्जलिं मुञ्चतु; वही, अंक ४, पृ० ११२ दीयन्तामाज्यप्रज्वलिते हुतवहे लाजाः; द्रष्टव्य आश्वलायन-गृह्यसूत्र, १.७.७-१३; पारस्करगृह्यसूत्र, १.६; आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र, ५.३-५; शांखायन-गृह्यसूत्र, १.१३.१५-१७; गोभिल गृह्यसूत्र, २.२.५; मानवगृह्यसूत्र, १.११.११; बौधायनगृह्यसूत्र, १.४.२५।

२९१ विद्धशाल०, अंक २, पृ० ४० ध्रुवं सप्तर्षिमण्डलं च पश्य, दृष्टध्रुवो दृष्टसप्तर्षिमण्डलश्चसंवृत्तोऽस्मि; दृष्टध्रुवा दृष्टसप्तर्षिमण्डला च; द्रष्टव्य पारस्करगृह्यसूत्र, १.८.१८-१९; आपस्तम्बगृह्यसूत्र, ६.१२; सप्तर्षिमण्डल-दर्शन के लिए द्रष्टव्य आश्वलायन गृह्यसूत्र १.५.२२।

२९२ बालरामा०, ३.८८ कौतुकागारदीक्षाम्; विद्धशाल०, अंक २, पृ० ३९ एतद्य कौतूहलगृहं प्रविशतु देवः।

२९३ कर्पूरम०, चतुर्त जवनिका, पृ० १७५ विवाहे दक्षिणा दीयते आचार्यस्य, दीयते वयस्य। ग्रामशतं दे दत्तम्; द्रष्टव्य पारस्करगृह्यसूत्र, १.८.१४-१७।

२९४ द्रष्टव्य पारस्करगृह्यसूत्र, १.८.१। सप्तपदी कुछ गृह्यसूत्रों के अनुसार पाणिग्रहण से पूर्व बौधायन-गृह्यसूत्र, १.४.१०; गोभिलगृह्यसूत्र. २.२.१६; खादिरगृह्यसूत्र, १.३.२१ और कुछ के अनुसार उसके बाद आश्वलायन-गृह्यसूत्र, १.५.२० होती है। सप्तपदी पर ही विवाह की पूर्णता तथा वर को पतित्व की प्राप्ति मानी गयी है मनुस्मृति ८.२२७; स्मृतिचन्द्रिका, सं० मैसूर, संस्कारकाण्ड, १. पृ० १८४,२१९:'' अत एव यमः-नोदकेन न वाचा वा कन्यायाः पतिरुच्यते। पाणिग्रहणसंस्कारात्पतिं त्वं सप्तमे पदे॥ अनेन सप्तमपदादर्वाक् परिणेतुर्मरणेऽनविधवात्वमित्युक्तं भवति''।

२९५ द्रष्टव्य शांखायन-गृह्यसूत्र, १.१३.११-१२; पारस्करगृह्यसूत्र, १.७.१; बौधायन गृह्यसूत्र, १.४.२४; आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र, २.५.३; हिरण्यकेशि गृह्यसूत्र; १.१९.८; गोभिल-गृह्यसूत्र, २.२.१-४; कौशिकसूत्र, ७६.१५; मानव-गृह्यसूत्र, १.१०.१६,१७; काठकगृह्यसूत्र, २५.२८। विस्तर हेतु द्रष्टव्य रामगोपालः India onVedic Kalpautras, Delhi, १९५९, PP २३२-३३।

बालरामायण में उल्लिखित 'साप्तपदीनसख्यम्'[२९६] शब्द से इसका अनुमान लगाया जा सकता है। राजशेखर ने प्रायश्चित्त का भी उल्लेख किया है।[२९७]

राजशेखर के साहित्य में प्रयुक्त कतिपय शब्दों की लौकिक संस्कृत में साधुत्व-सिद्धि कठिन है। उन्हें स्पष्टतः वैदिक भाषा के प्रभाव का परिणाम ही माना जा सकता है। उदाहरणार्थ-'ददानः' (विद्धशाल०, १.१२) शब्द में प्रयुक्त 'कानच्' प्रत्यय का प्रयोग वैदिक भाषा में ही विहित है, प्रायः लौकिक संस्कृत में नहीं[२९८]। एवमेव उनकों द्वारा प्रयुक्त' त्रैयम्बक+अण् से सिद्ध होता है, जिसमें मूलपद 'त्रियम्बक' सन्धि नियमों के विरुद्ध है, क्योंकि लौकिक संस्कृत में त्रि+अम्बक इस स्थिति में '**इको यणचि**' (अष्टाध्यायी, ६.१.७७) सूत्र से यण् होकर 'त्र्यम्बक' बनेगा, न कि 'त्रियम्बक'। इसके विपरीत यह शब्द 'इयङ्' से निष्पन्न होता है, जो केवल वैदिकी ही में पाणिनि के सूत्र '**छन्दस्युभयथा**' (अष्टाध्यायी, ६.४.८६) के वार्त्तिक ''**तन्वादीनां छन्दसि बहुलम्**'' से सिद्ध होगा और इस प्रकार वैदिक भाषा में 'त्रियम्बक' तथा 'त्रयम्बक' दोनों ही रूप साधु होगें, जबकि लौकिक संस्कृत में 'त्र्यम्बक' रूप ही साधु है[२९९]। एवमेव राजशेखर द्वारा कर्पूरमञ्जरी' में प्रयुक्त 'गिरिश' (१.३) शब्द भी उन पर वैदिक प्रभाव ही द्योतित करता है। वस्तुतः यह शब्द वैदिक है, जिसका प्रयोग वाजसनेयि-संहिता[३००] में हुआ है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि राजशेखर पर छान्दस प्रभाव था।

राजशेखर की रचनाओं में उपलब्ध उपर्युक्त वैदिक सन्दर्भ एवम् उनके द्वारा यत्र-तत्र प्रयुक्त वैदिक आख्यान, देवी-देवता, कृषि-कृषिकाएँ, यज्ञ-यागादि, संस्कार, वैदिक पद आदि उन पर वैदिक प्रभाव के पुष्कल प्रमाण प्रस्तुत करते हैं, जो वैदिक वाङ्मय के प्रति उनकी प्रगाढ़ श्रद्धा एवम् आस्था के परिचायक हैं।

इतिशम्

---

२९६ बालरामायण, अंक १, पृ० १२ भगवन्, साप्तपदीनं सख्यं मां मुखरयति; सप्तपद से मैत्री के लिए द्रष्टव्य, अथर्व, ५.११.९।

२९७ बालरामा०, अंक प्रथम, पृ० १५ प्रायश्चित्तिनौ वर्तावहे-शुनःशेप की उक्ति; वही, २.५२ प्रायश्चित्तं चरिष्यति। द्रष्टव्य-शतपथ-ब्राह्मण, १२.४.१.६; कौषीतकि-ब्राह्मण, ५.९.६.१२ इनसे भिन्न प्रायः समस्त धर्मसूत्रों में इसका सविस्तर विधान है।

२९८ द्रष्टव्य पाणिनिः अष्टाध्यायी, ३.२.१०५,१०६ छन्दसि लिट्, लिटः कानज्वा। द्रष्टव्य भट्टोजिदीक्षितः सिद्धान्तकौमुदी-इह भूतसामान्ये छन्दसि लिट्। तस्य विधीयमानौ क्वसुकानचावपि छान्दसाविति त्रिमुनिमतम्। कवयस्तु बहुलं प्रयुञ्जते।

२९९ तुलनीय भागवतपुराण सं० पंचानन तर्करत्न, कलकत्ता संवत् १३३४, ११.२८.२०; त्रियवस्थ; सिद्धान्तकौमुदी, भाग ४, पृ० ३७०; अष्टाध्यायी, ६.४.७७ पर वार्त्तिक 'इयङुवङ्प्रकरणे तन्वादीनां छन्दसि बहुलमुपसंख्यानं कर्त्तव्यम्'। तथा कशिका।

३०० वाजसनेयि संहिता, १६.४; तुलनीय १६.२२ गिरिचराय, २९ गिरिशयाय भी।

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०१० अङ्क १३ (पृ०५३-६४)

ऋग्वेद के वनस्पति पद का अर्थविचार

डॉ. सत्यदेव निगमालंकार[१]

वैदिक कोष निघण्टु में 'वनस्पतिः' पद पठित है[२]। कौषितकि ब्रह्मण में अग्नि और प्राण को[३], वाजसनेयिसंहिता तथा मैत्रायणी संहिता में देव को[४] 'वनस्पति' बताया है। **वनानां पतिः वनस्पतिः**, (वनों का पति) तथा **वनानां पाता पालयिता वा** (वनों का पालक) ऐसा निर्वचन वनस्पति पद का किया जा सकता है। वन और पति दोनों ही आद्युदात्त हैं[५] तथा "**पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम्**"[६] से सुट् का आगम निपातित होकर "वनस्पतिः" शब्द की सिद्धि होती है। कोशकारों ने वनस्पति पद का अर्थ **एक बड़ा जंगली पेड जिसमें फूल के विना ही फल निकलता है** बताया है[७]। भागवत् पुराण में विना फूल के ही फल देने वाले वृक्ष का नाम '**गूलर**' दर्शाया है[८]। महर्षि मनु ने विना पुष्प के ही फलवान् वृक्ष का नाम वनस्पति माना है-

अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः॥ १,४७

भावप्रकाश निघण्टु में स्थालीवृक्ष के साथ वनस्पति का नाम पढ़ा गया है-

नन्दीवृक्षोऽश्वत्थभेदः प्ररोही गजपादपः।
स्थालीवृक्षः क्षयतरूः क्षीरी च स्याद्वनस्पतिः॥[९]

ऋग्वेद में 'वनस्पति' पद किन-किन अर्थों में आया है, इसका दर्शन हम कर रहे हैं।

वृक्षादि के रूप में प्रयुक्त-

वनस्पति पद का अर्थ ऋग्वेद में वनों के विशाल वृक्ष और ओषधि आदि पदार्थों को अधिक वृष्टि के हेतु से पालन करने वाले के लिये आया है-

अव सृजा वनस्पते देव देवेभ्यो हविः।
प्रदातुरस्तु चेतनम्॥ १,१३,११

देवता-अग्निः। हे देव वनस्पति! देवो का हव्य समर्पण करो, जिससे हव्यदाता को परम ज्ञान उत्पन्न हो"।

श्वामी दयानन्द ने यहाँ '**वनस्पते**' इस पद का अर्थ "**वनों के वृक्ष और ओषधि आदि पदार्थों को अधिक वृष्टि के हेतु से पालन करने वाला**" किया है[१०]।

---

१ रीडर, श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान, गुरुकुल कांगड़ी, विश्वविद्यालय
२ निघण्टु ५,२
३ अग्निर्वै वनस्पतिः १०,६, प्राणो वै वनस्पतिः १२,७
४ देवो देवैर्वनस्पतिः २१,५६; २८,२०;॥ ३,११,५; १४७, १५;
५ उभे वनस्पत्यादिषु युगपत्॥ अष्टा० ६,२,१४०
६ अष्टा० ६,१,१५७
७ वैदिक कोश-चन्द्रशेखर उपाध्याय
८ भागवत पुराण ३,१०,१९
९ वटादिवर्गः ६

उत स्म ते वनस्पते वातो वि वात्यग्रमित्।
अथो इन्द्राय पातवे सुनु सोममुलूखल॥ १,२८,६

देवता-इन्द्रयज्ञसोमाः। हे वनस्पते! तुम्हारे सामने वायु वहती है, इसलिये वनस्पते! इन्द्र के पानार्थ सोमरस तैयार करो।

आचार्य सायण ने यहाँ ''**ओखल-रूप काष्ठ** (वृक्ष)'' तथा श्वामी दयानन्द ने '**वृक्षादि पदार्थ**' अर्थ माना है[११]।

प्र वेपयन्ति पर्वतान् वि विञ्चन्ति वनस्पतीन्।
प्रो आरत मरुतो दुर्मदा इव देवासः सर्वया विशा॥ १,३९,५

देवता-मरुतः॥ मरुद्गण पहाड़ों को विशेषरूप से कँपाते हैं। वनस्पतियों को अलग-अलग कर देते हैं। देव मरुद्गण! प्रजागण के साथ तुम यथेच्छ उन्मत्तों की तरह सब स्थानों को जाते हो।

आचार्य सायण और स्वामी दयानन्द ने यहाँ वनस्पतीन् पद का अर्थ ''**बड और पिप्पल आदि वनस्पति**'' मानकर मन्त्रार्थ दर्शाया है[१२]।

युवंह गर्भं जगतीषु धत्थो युवं विश्वेषु भुवनेष्वन्तः।
युवमग्निं च वृषणावपश्च वनस्पतीरश्विनावैरयेथाम्॥ १,१५७,५

देवता-अश्विनौ। अश्विनौ! तुम दोनों गमनशील गौओं और सारे संसार के प्राणियों में अन्तःस्थित गर्भों की रक्षा करो। अभीष्टवर्षकद्वय! अग्नि, जल और वनस्पतियों को प्रवर्त्तित करो।

मन्त्र में अश्विनौ को अग्नि, जल और वनस्पतियों को प्रवर्त्तित करने को कहा गया है। आचार्य सायण और स्वामी दयानन्द ने ''**वनस्पतिः**'' पद का अर्थ ''**वनस्पति आदि वृक्ष**'' गृहीतकर अर्थ दिखाया है[१३]।

यत्त्वेषयामा नदयन्त पर्वतान्दिवो वा पृष्ठं नर्या अचुच्यवुः।
विश्वे वो अज्मन्भयते वनस्पती रथीयन्तीव प्र जिहीत ओषधिः॥ १,१६६,५

देवता-मरुतः। मरुतों का गमन अत्यन्त प्रदीप्त है। वे जिस समय गिरिगह्वरों को ध्वनित करते हैं, अथवा मनुष्यों के हित के लिये अन्तरिक्ष के ऊपरी भाग में चढ़ते हैं, उस समय उनके पथ के सारे वनस्पति, डर के कारण, व्याकुल हो जाते हैं और रथारूढ़ा स्त्री की तरह ओषधियाँ एक स्थान से दूसरे स्थान पर चली जाती हैं।

आचार्य सायण '**वनस्पतिः**' पद का अर्थ '**वन का पालक वृक्षसमूह**' तथा श्वामी दयानन्द '**वृक्ष**' करते हैं[१४]।

वनस्पतिरवसृजन्नुप स्थादग्निर्हविः सूदयति प्र धीभिः।
त्रिधा समक्तं नयतु प्रजानन्देवेभ्यो दैव्यः शमितोप हव्यम्॥ २,३,१०

---

१० यो वनानां वृक्षौषध्यादि समूहानामधिक वृष्टिहेतुत्वेन पालयितास्ति सोऽपुष्पफलवान्॥
११ उत अपि च हे वनस्पते उलूखलरूपवृक्ष ते अग्रमित् तव पुरत एव वातो वि वाति स्म-सा०॥ वनस्पतेः वृक्षादेः-दया०॥
१२ वनस्पतीन् वटाश्वत्थादीन् वि मुञ्चन्ति परस्परवियुक्तान् कुर्वन्ति-सा०॥ वनस्पतीन् वटाश्वत्थादीन्-दया०॥
१३ वनस्पतीन् च ऐरयेथाम्-सा०। वनस्पतीन्-दया०॥
१४ वनस्य पालयिता वृक्षसमूहः-सा०॥ वनस्पती वनस्पतिर्वृक्षः-दया०॥

देवता-अग्निः॥ वनस्पति-रूप अग्नि हमारे कर्म जानकर हमारे पास है। विशेष कर्म द्वारा अग्नि भलीभाँति हव्य पकाते हैं। दिव्य शमिता नाम के अग्नि तीन प्रकार से अच्छी तरह सिक्त हव्य को जानकर उसे देवों के निकट ले जायें॥

स्वामी दयानन्द ने यहां '**वनस्पतिः**' पद को '**वटादि**' हेतु प्रयुक्त किया है[१५]।

इन्द्र ओषधीरसनोदहानि वनस्पतिरसनोदन्तरिक्षम्।
विभेद बलं नुनुदे विवाचोऽथाभवद्दमिताभिक्रतूनाम्॥ ३,३४,१०

देवता-इन्द्रः॥ इन्द्र ने ओषधि प्रदान की है, दिन दिया है, वनस्पति और अन्तरिक्ष प्रदान किया है। उन्होंने मेघ को भिन्न किया है, विरोधियों का वध किया है, जो युद्ध करने सामने आये उनका वध किया है।

आचार्य सायण यहाँ '**वनस्पतीन्**' पद का अर्थ '**खदिरपलाशादिलक्षण वाले वृक्ष**' तथा स्वामी दयानन्द '**पीपल आदि वनस्पतियों को**' करते हैं[१६]।

मा काकम्बीरमुद्वहो वनस्पतिमशस्तीर्वि हि नीनशः।
मोत सूरो अह एवा चन ग्रीवा आदधते वः॥ ६,४८,१७

देवता-पूषा॥ हे पूषन्, तुम कौओं (सन्तानों) के आश्रयभूत वनस्पति को नष्ट नहीं करना। मेरे निन्दकों को पूर्णतः नष्ट कर दो। जैसे व्याध चिड़ियों को फँसाने के लिये जाल फैलाता है, वैसे शत्रु लोग, किसी तरह भी मुझे नहीं बाँध सकें।

किसी भी वट आदि वृक्ष का विनाश करना वेद विरुद्ध है, यतोहि वह विभिन्न प्रकार से उपयोगी होने के साथ साथ पक्षियों का आश्रयस्थल भी है। आचार्य सायण एवं स्वामी दयानन्द ने यहां '**वनस्पतिम्**' पद का अर्थ '**वटादि वृक्ष**' लिया है[१७]।

दिविस्पृथिव्याः पर्योज उद्भृतं वनस्पतिभ्यः पर्याभृतं सहः।
अपामोज्मानं परि गोभिराभृतमिन्द्रस्य वज्रं हविषा रथं यज॥ ६,४७,२७

देवता-रथः॥ ऋत्विको, तुम हव्य से रथ का यज्ञ करो। यह रथ स्वर्ग और पृथिवी के सारांश से बना है, वनस्पतियों कें स्थिरांश से घटित है, जल के वेग की तरह वेगवान् है, यह गौओं से युक्त तथा वज्र की तरह है॥

आचार्य सायण का कथन है "**वनस्पति का विकार होने से रथ का**" अर्थ गृहीत होगा, क्योंकि वनस्पति पृथिवी के सारभूत हैं और वे द्युसम्बन्धी उदक से प्रवृद्ध हुए हैं, अतः रथ की दो लोकों का सार प्रास होगा। स्वामी दयानन्द ने '**वनस्पति**' का अर्थ '**वट आदि वनस्पति**' किया है[१८]।

तन्नो रायः पर्वतास्तन्न आपस्तद्रातिषाच ओषधीरुत द्यौः।
वनस्पतिभिः पृथिवी सजोषा उभे रोदसी परि पासतो नः॥ ७,३४,२३

---

१५ वनस्पतिः वटादिः-दया०॥
१६ वनस्पतिः यज्ञार्थं खदिरपलाशादिलक्षणान् वृक्षान्-सा०॥
१७ वनस्पतिं वृक्षम्-सा०॥ वनस्पतिं वटादिकम्-दया०॥
१८ वनस्पति विकारत्वाद्रथस्य, वनस्पतयो हि पृथिव्याः सारभूताः ते च द्युसंबन्धिभिरुदकैः प्रवृद्धाः, अतो रथस्य लोकद्वयसारत्वमुपपन्नम्-सा०॥ वनस्पतिभ्यः वटादिभ्यः-दया०॥

देवता-विश्वेदेवाः। हमारे उस धन का पालन पर्वतगण करें, सारे जल भी हमारे उस धन का पालन करें, दान-परायणा देव-पत्नियाँ भी उसका पोषण करें, ओषधियाँ, द्युलोक, वनस्पतियाँ और अन्तरिक्ष भी उसका पालन करें। द्यावापृथिवी हमारी रक्षा करे।

आचार्य सायण और स्वामी दयानन्द ने '**वनस्पतिभिः**' पद से '**वटादिभिः**' पद का ग्रहण कर व्याख्या की है[१९]।

यदप्सु यद्वनस्पतौ यदोषधीषु पुरुदंससा कृतम्।
तेन माविष्टमश्विना॥ ८,९,५

देवता-अश्विनौ॥ विविधकर्मा अश्विनौ! जल, वनस्पति और ओषधियों में जो तुमने भेषज किया है, उसके द्वारा हमारी रक्षा करो॥

आचार्य सायण ने '**वनस्पति**' पद का व्याख्यान '**वनानां पतिर्वनस्पतिः**' किया है। पर वे इसका अर्थ '**वृक्ष**' मानते हैं[२०]।

अच्युता चिद्वो अज्मन्ना नानदति पर्वतासो वनस्पतिः।
भूमिर्यामेषु रेजते॥ ८,२०,५

देवता-मरुतः॥ मरुतो, तुम्हारे संग्राम में जाते समय न गिरने वाले मेघ और वनस्पति आदि बार-बार शब्द करते हैं, पृथिवी काँपती है॥

आचार्य सायण '**वनस्पति**' पद से '**वृक्ष**' अर्थ गृहीत करते हैं[२१]।

यथेयं पृथिवी मही दाधारेमान्वनस्पतीन्।
एवा दाधार ते मनो जीवातवे न मृत्यवेऽथो अरिष्टतातये॥ १०,६०,९

देवता-सुबन्धोर्जीविताह्वानाम्॥ जैसे यह विस्तीर्ण पृथिवी विशाल-विशाल वृक्षों को धारण किये हुए हैं वैसे ही अग्नि ने तुम्हारे मन को धारण कर रखा है, ताकि तुम जीवित और कल्याण-स्वरूप रहो और मृत्यु दूर हो।

आचार्य सायण और ब्रह्ममुनि '**वनस्पति**' पद का अर्थ '**वृक्ष**' दिखाते हैं।[२२]

त्रिःसप्त सस्रा नद्यो महीरपो वनस्पतीन् पर्वताँ अग्निमूतये।
कृशानुमस्तॄन्तिष्यं सधस्थ आ रुद्रं रुद्रेषु रुद्रियं हवामहे॥ १०,६४,८

देवता-विश्वेदेवाः॥ इक्कीस प्रकाण्ड नदियों, वनस्पतियों, पर्वतों, अग्नि, सोम-पालक कृशानु गन्धर्व, बाण-चालक गन्धर्वों, नक्षत्र, हविःपात्र रुद्र और रुद्रों में प्रधान रुद्र को, यज्ञ में रक्षा के लिये, हम बुलाते हैं॥

स्वामी ब्रह्ममुनि यहाँ '**वनस्पतीन्**' का अर्थ '**ओषधिवनस्पतीन्**' मानते हैं[२३]।

ब्रह्म गामश्वं जनयन्त ओषधीर्वनस्पतीन् पर्वताँ अपः।
सूर्यं दिवि रोहयन्तः सुदानव आर्या व्रता विसृजन्तो अधिक्षमि॥ १०,६५,११

---

१९ वनस्पतिभिः-सा०॥ वटादिभिः-दया०॥
२० वनस्पतौ वनानां पतिर्वनस्पतिः। वनस्पतिषु वृक्षेषु-सा०॥
२१ वनस्पतयो वृक्षाश्च-सा०
२२ वृक्षादीन्-सा०; ब्रह्म०॥
२३ वनस्पतीन् ओषधिवनस्पतीन्-ब्रह्म०॥

देवता-विश्वेदेवा:॥ देवों ने अन्न, गो, अश्व, वृक्ष, लता, पर्वत और पृथिवी को उत्पन्न किया है और आकाश में चढ़ाया है। उनका दान अतीव शोभन है उन्होंने पृथिवी पर उत्तमोत्तम कार्य किये हैं॥

आचार्य सायण '**वनस्पतीन्**' पद को वनस्पति तथा ब्रह्ममुनि '**फलवृक्ष**' मानते हैं[२४]।

उलूखलमूसल हेतु प्रयुक्त-

भाष्यकारों ने कतिपय मन्त्रों का अर्थ दिखाते हुए '**वनस्पति**' पद उखली और मूसल अर्थ भी माने हैं। यतोहि उखली और मूसल काष्ठ से निर्मित हुए हैं।

ता नो अद्य वनस्पती ऋष्वावृष्येभिः सोतृभिः।
इन्द्राय मधुमत्सुतम्॥ १,२८,८

देवता-इन्द्रयज्ञसोमा:॥ हे सुदृष्य! दर्शनीय अभिषवमन्त्र द्वारा आज तुम लोग इन्द्र के लिये मधुर सोमरस प्रस्तुत करो॥

आचार्य सायण और स्वामी दयानन्द ने '**वनस्पती**' पद का अर्थ '**काष्ठ के उखली मूसल**' माने हैं[२५]।

अग्निदेव हेतु प्रयुक्त-

अव सृजा वनस्पते देव देवेभ्यो हविः।
प्र दातुरस्तु चेतनम्॥ १,१३,११

देवता-अग्नि:॥ हे देव वनस्पति! देवों को हव्य सर्मपण करो। जिससे हव्यदाता को परम ज्ञान उत्पन्न हो।

आचार्य सायण ने वनस्पति का अर्थ '**अग्निदेव**' माना है[२६]।

अवसृजन्नुपत्मना देवान् यक्षि वनस्पते।
अग्निर्हव्या सुषूदति देवो देवेषु मेधिरः॥ १,१४२,११

देवता-वनस्पति:॥ हे अग्निरूप वनस्पति, इच्छानुसार ऋत्विकों को भेजकर स्वयं देवों का यज्ञ करो। द्युतिमान् और मेधावान् अग्नि देवों के बीच हव्य भेजें॥

आचार्य सायण वनस्पति पद को अग्नि के रूप में व्याख्यात करते हैं[२७]।

वनस्पतिरवसृजन्नुपस्थारग्निर्हविः सूदयाति प्र धीभिः।
त्रिधा समक्तं नयतु प्रजानन्देवेभ्यो दैव्यः शमितोप हव्यम्॥ २,३,१०

देवता-अग्नि:॥ वनस्पति-रूप अग्नि हमारे कर्म जानकर हमारे पास हैं। विशेष कर्म द्वारा अग्नि भलीभाँति हव्य पकाते हैं। दिव्य, शमिता नाम के अग्नि तीन प्रकार से अच्छी तरह सिक्त हव्य को जानकर उसे देवों के निकट ले जायें॥

आचार्य सायण यूपाभिमानी एतन्नामक, अग्नि अर्थ '**वनस्पति**' पद का करते हैं[२८]।

---

२४ वनस्पतीन् च-सा०॥ फलवृक्षान्-ब्रह्म०॥

२५ अद्य अस्मिन् कर्मणि हे वनस्पति उलूखलमूसलरूपौ तौ युवाम्-सा०॥ ता तौ मूसलोलूखलाख्यौ वनस्पतीकाष्ठमयौ-दया०॥

२६ हे वनस्पते एतन्नामकाग्ने देव-सा०॥

२७ हे वनस्पते वनानां पालक यूपाभिमानिदेव अग्ने-सा०॥

मित्रं न यं सुधितं भृगवो दधुर्वनस्पतावीड्यमूर्द्धवशोचिषम्।

स त्वं सुप्रीतो वीतहव्ये अद्भुत प्रशस्तिभिर्महयसे दिवेदिवे॥ ६,१५,२

देवता-अग्निः॥ हे अद्भुत अग्नि, तुम अरणि के मध्य में निहित स्तवा हो और उद्धर्व ज्वाला वाले हो। तुम्हें लोग गृह में सखा की तरह स्थापित करते हैं। वीतहव्य प्रतिदिन उत्कृष्ट स्तोत्र द्वारा तुम्हारी पूजा करते हैं, तुम उनके प्रति प्रसन्न होओ॥

आचार्य सायण ने '**वनस्पतौ**' पद से अग्नि अर्थ गृहीत किया है[२९]।

यूपाभिमानी देव हेतु प्रयुक्त-

भाष्यकारों ने अनेकत्र मन्त्रान्तर्गत समागत '**वनस्पति**' का व्याख्यान यूपाभिमानी देव दिखाया है।

मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः।

माध्वीर्गावो भवन्तु नः॥ १,९०,८

देवता-विश्वेदेवाः॥ हमारे लिये समस्त वनस्पति मधुर हों, सूर्य मधुर हों और गायें मधुर हों॥

आचार्य सायण ने यहाँ वनस्पति पद का अर्थ "**वनों का पालक यूपाभिमानी देव**" माना है[३०]।

उप त्मन्या वनस्पते पाथो देवेभ्यः सृज।

अग्निर्हव्यानि सिष्वदत्॥ १,१८८,१०

देवता-आप्रियः॥ हे अग्निरूपवनस्पति, तुम देवों का पशु रूप उत्पन्न करो। अग्नि सब हव्यों को स्वादिष्ट करे॥

आचार्य सायण ने यहाँ '**यूपाभिमानीदेव**' अर्थ दिखाया है[३१]॥

उच्छ्रयस्व वनस्पते वर्ष्मन् पृथिव्या अधि।

सुमिती मीयमानो वर्चो धा यज्ञवाहसे॥ ३,८,३

देवता-विश्वेदेवाः॥ हे वनस्पति, तुम पृथिवी के उत्तम यज्ञ-प्रदेश में उन्नत होओ। तुम सुन्दर परिमाण से युक्त हो। यज्ञ-निर्वाहक को अन्न दान करो।

आचार्य सायण मन्त्रार्थ करते हुए '**वनस्पति**' पद का अर्थ '**यूप**' करते हैं[३२]।

यत्र वेत्थ वनस्पते देवानां गुह्या नामानि।

तत्र हव्यानि गामय॥ ५,५,१०

देवता-आप्रीम्॥ हे वनस्पति, तुम जिस स्थान में देवों के गुप्त नाम को जानते हो, उस स्थान में हव्य प्रेरित करो॥

आचार्य सायण ने यहाँ '**वनस्पते**' पद को '**यूपाभिमानीदेव**' ऐसा अर्थ माना है[३३]।

वनस्पते रशनया नियूया देवानां पाथ उपवक्षि विद्वान्।

---

२८ यूपाभिमान्येतन्नामकोऽग्निः-सा०

२९ वनस्पतौ अरण्याम्-सा०

३० वनानां पालयिता यूपाभिमानी देवः-सा०

३१ हे वनस्पते यूपाभिमानी देव!-सा०

३२ हे वनस्पते यूप-सा०

३३ वनस्पते यूपाभिमानिदेव।-सा०

स्वदाति देव: कृणवद्धवींष्यवतां द्यावापृथिवी हवं मे।। १०,७०,१०

देवता-आप्रम्।। वनस्पति से बने यूपकाष्ठ, तुम जानकार हो। तुम रज्जु के द्वारा बाँधे जाकर देवों को अन्न दो। वनस्पति देव हवि का स्वाद लें और हमारे दिये हुए हवि को देवों को दें। मेरे आह्वान की रक्षा द्यावापृथिवी करें।।

मन्त्र में समागत '**वनस्पते**' का व्याख्यान भाष्यकार ने वनस्पति का विकार यूप को माना है[३४]।

उपावसृज त्मन्या समञ्जन् देवानां पाथ ऋतुथा हवींषि।

वनस्पति: शमिता देवो अग्नि: स्वदन्तु: हव्यं मधुना घृतेन।। १०,११०,१०

देवता-आप्रम्।।यूप, तुम स्वयं यथासमय, देवों के लिये अन्न और अन्यान्य होमीय द्रव्य लाकर निवेदित करो। वनस्पति, शमिता और अग्नि, मधु और घृत के साथ, होमीय द्रव्य का आस्वादन करें।।

आचार्य सायण ने यहाँ वनस्पति: का अर्थ '**यूप:**' दिखाया है[३५]

जङ्गल का पालक अथवा श्रेष्ठतम हेतु प्रयुक्त-

त्वं च सोम नो वशो जीवातुं न मरामहे।

प्रियस्तोत्रे वनस्पति:।। १,९१,६

देवता-सोम:।। स्तुति-प्रिय और सारी ओषधियों के पालक सोम, यदि तुम हमारे जीवन-पालक की अभिलाषा करो, तो हम नहीं मरेंगे।।

मन्त्र में समागत '**वनस्पति:**' पद का अर्थ स्वामी दयानन्द ने 'जङ्गल का पालक अथवा श्रेष्ठतम दिखाया है[३६]। आचार्य सायण को भी यही पदार्थ अभीष्ट है[३७]।

मेघ हेतु प्रयुक्त-

मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमान् अस्तु सूर्य:।

माध्वीर्गावो भवन्तु न:।। १,९०,८

इस मन्त्र के देवता विश्वेदेवा: हैं। स्वामी दयानन्द मन्त्रार्थ करते समय '**वनस्पति:**' पद का अर्थ '**वटादिवृक्षसमूह अथवा मेघ**' मानकर दिखाते हैं[३८]

वनों के पालक हेतु प्रयुक्त-

उप त्मन्या वनस्पते पाथो देवेभ्य: सृज।

अग्निर्हव्यानि सिष्वदत्।। १,१८८,१०

मन्त्र के देवता आप्रिय: हैं। स्वामी दयानन्द ने मन्त्र में समागत '**वनस्पते**' पद का अर्थ '' **वनों के पालने वाले**'' किया है[३९]।

---

३४ वनस्पते वनस्पतिविकारयूपं-सा०

३५ वनस्पति: योऽयं यूप:-सा०

३६ वनस्पति: संभक्तस्य पदार्थसमूहस्य जङ्गलस्य वा पालक: श्रेष्ठतमो वा-दया०

३७ वनस्पति: वनानां मध्येरक्षणीयो वटादिवृक्षसमूहो मेघो वा-दया०

३८ वनस्पति: वनानां मध्ये रक्षणीयो वटादिवृक्षसमूहो मेघो वा-दया०

३९ वनस्पते वनानां पालक-दया०

यान्वो नरो देवयन्तो निमिम्युर्वनस्पते स्वधितिर्वाततक्ष।

ते देवासः स्वरवस्तस्थिवांसः प्रजावदस्मे दिधिषन्तु रत्नम्॥ ३,८,६

देवता-विश्वेदेवाः। यूपो, देवाभिलाषी और कर्मों के नायक अध्वर्यु आदि ने तुम्हें गड्ढ़ें में फेंक दिया है। वनस्पति, कुठार ने तुम्हें काटा है। तुम दीप्तिमान् और काष्ठ-खण्डवाले हो। हमें अपत्य के साथ उत्तम धन दो।

भाष्यकार स्वामी दयानन्द ने यहां '**वनस्पते**' पद को ''**वनों के रक्षक पुरुष**'' इस अर्थ में माना है[४०]।

अयमस्मान्वनस्पतिर्मा च हा मा च रीरिषत्।

स्वस्त्या गृहेभ्य आवसा आ विमोचनात्॥ ३,५३,२०

देवता-रथाङ्गानि॥ वनस्पतियों द्वारा निर्मित यह रथ हम लोगों को मत त्यक्त करे, मत विनष्ट करे। जब तक हम लोग गृह न प्राप्त करें, तब तक रथ चलता रहे और जब तक कि अश्व विमुक्त न हो जायँ तब तक हम लोगों का मंगल हो॥

स्वामी दयानन्द ने '**वनस्पतिः**' पद का अर्थ ''**वन का पालन करने वाला**'' किया है[४१]।

किरण समूह के पालक हेतु प्रयुक्त-

मेद्यन्तु ते वह्नयो येभिरीयसेऽरिषण्यन्वीळयस्वा वनस्पते।

आयूया धृष्णो अभिगूर्या त्वं नेष्ट्रात्सोमं द्रविणोदः पिब ऋतुभिः॥ २,३७,३

देवता-द्रविणोदाः॥ द्रविणोदा, तुम जिस अश्व पर जाते हो, वह तृप्त हो। वनस्पति, किसी की हिंसा न करके दृढ़ होओ। धर्षणकारी, नैष्टा का यज्ञ में आकर ऋभुओं के साथ सोमपान करो॥

स्वामी दयानन्द ने मन्त्रार्थ करते समय '**वनस्पति**' पद का अर्थ ''**किरण समूह के पालक**'' किया है[४२]।

वनस्पतेव सृजोप देवानग्निर्हविः शमिता सूदयाति।

सेदु होता सत्यतरो यजाति यथा देवानां जनिमानि वेद॥ ३,४,१०

देवता-आप्रियः॥ अग्निरूप वनस्पति! तुम देवों को पास ले आओ। पशु के संस्कारक अग्नि रूप वनस्पति, देवों के लिए हव्य दें। वे ही यज्ञरूप देवता लोगों को बुलाने वाले अग्नि यज्ञ करें। क्योंकि वे ही देवों का जन्म जानते हैं॥

स्वामी दयानन्द ने यहाँ '**वनस्पति**' पद को ''**किरणों के पालने वाले**'' इस अर्थ में व्याख्यात किया है, जो सूर्य का सम्बोधन है[४३]।

मित्रं न यं सुधितं भृगवो दधुर्वनस्पतावीड्यमूर्ध्वशोचिषम्।

स त्वं सुप्रीतो वीतहव्ये अद्भुत प्रशस्तिभिर्महयसे दिवेदिवे॥ ६,१५,२

मन्त्र का देवता अग्नि है। स्वामी दयानन्द ने मन्त्र में समागत '**वनस्पति**' पद को ''**किरणों के पालक सूर्य्य**'' इस रूप में व्याख्यात किया है[४४]।

---

४० वनस्पते वनानां पालक-दया०

४१ वनस्पतिः वनस्य पालक-दया०

४२ वनस्पते वनस्य किरणसमूहस्य पालक-दया०

४३ वनस्पते किरणानां पालक-दया०

४४ वनस्पतौ वनानां किरणानां पालके सूर्य्ये-दया०

विद्वान् के रूप में प्रयुक्त-

अञ्जन्ति त्वामध्वरे देवयन्तो वनस्पते मधुना दैव्येन।
यदूर्ध्वस्तिष्ठा द्रविणेह धत्ताद्यद्वा क्षयो मातुरस्या उपस्थे॥ ३,८,१

देवता-विश्वेदेवा:॥ हे वनस्पतिदेव! देवों के अभिलाषी अध्वर्यु लोग देव-सम्बन्धी मधु द्वारा तुम्हें सिक्त करते हैं। तुम चाहे उन्नत भाव से रहो अथवा मातृ-भूत पृथिवी की गोद में ही शयन करो, हमे धन दो॥

स्वामी दयानन्द ने 'वनस्पति' पद को "**किरणों के रक्षक सूर्य्य के समान वर्त्तमान तेजस्वी विद्वान्**" अर्थ करते हुए मन्त्रार्थ दर्शाया है[४५]। इसी प्रकार ३,८,३ मन्त्र का अर्थ करते हुए "**सेवने योग्य धन के रक्षक विद्वान्!**" इस सम्बोधन के साथ उन्होंने अर्थ किया है[४६]।

वनस्पतेऽव सृजोप देवानग्निर्हवि: शमिता सूदयाति।
सेदु होता सत्यतरो यजाति यथा देवानां जनिमानि वेद॥ ७,२,१०

मन्त्र का देवता आप्रिय: है। यह मन्त्र ३,४,१० पर भी आया है। स्वामी दयानन्द ने यहाँ **'वनस्पति'** पद को **'विद्वान्'** अर्थ में दर्शाया है[४७]।

परोपकारी सज्जन के रूप में प्रयुक्त-

वनस्पते शतवल्शो विरोह सहस्रवल्शा वि वयं रुहेम।
यं त्वामयं स्वधितिस्तेजमान: प्रणिनाय महते सौभगाय॥ ३,८,११

देवता-विश्वेदेवा:॥ हे वनस्पते, इस धारवाले फरसे ने तुम्हें महान् सौभाग्य प्रदान किया है। तुम हजार शाखाओं वाले होकर भलीभाँति उत्पन्न होओ। हम भी हजार शाखाओं वाले होकर भलीभाँति प्रादुर्भूत हों॥

स्वामी दयानन्द ने **'वनस्पति'** का व्याख्यान इस मन्त्र में करते हुए इसे **'परोपकारी सज्जन'** बताया है और सम्बोधन में अर्थ किया है-**हे वनस्पति के समान वर्त्तमान परोपकारी सज्जन**[४८]।

देव अर्थ में प्रयुक्त-

पूषा विष्णुर्हवनं मे सरस्वत्यवन्तु सप्तसिन्धव:।
आपो वात: पर्वतासो वनस्पति: शृणोतु पृथिवी हवम्॥ ८,५४,४

देवता-इन्द्र:॥ पूषा, विष्णु सरस्वती, सप्तसिन्धु जल, वायु, पर्वत और वनस्पति मेरे यज्ञ की रक्षा करें। पृथिवी आह्वान सुने॥

आचार्य सायण यहाँ पर **'वनस्पति:'** पद का अर्थ **'देवा:'** करते हैं[४९]।

वनस्पतिं पवमान मध्वा समङ्‍ग्धि धारया।
सहस्रवल्शं हरितं भ्राजमानं हिरण्ययम्॥ ९,५,१०

---

४५ वनस्पते वनस्य रश्मिसमूहस्य पालक सूर्य्यस्तद्वद्वर्त्तमान:-दया०
४६ वनस्पते वननीयस्य धनस्य रक्षक-दया०
४७ वनस्पते वनस्पतिरिव वर्त्तमान-दया०
४८ वनस्पते वनस्पतिरिव वर्त्तमान-दया०
४९ वनस्पति: वनानां पातार: पालका देवा:-सा०

देवता-आप्रियः। पवमान सोम, हरित-वर्ण हिरण्यवर्ण, दीप्तिमान् और सहस्रशाखाओं वाले वनस्पति को मधुर धारा के द्वारा संस्कृत करो॥

आचार्य सायण ने यहाँ '**वनस्पति**' पद को '**देव**' अर्थ में प्रयुक्त कर व्याख्यान किया है[५०]॥

रथ रूप में प्रयुक्त-

उभे धुरौ वह्निरापिब्दमानोऽतर्योनेव चरति द्विजानिः।

वनस्पतिं वन आस्थापयध्वं नि षू दधिध्वमखनन्त उत्सम्॥ १०,१०१,११

देवता-विश्वेदेवा ऋत्विजो वा॥ रथ की दोनों धुराओं का शब्दायमान करके रथ-वाहक पशु वैसे ही विचरण करता है, जैसे दो नौकाओं पर चलनेवाला पुरुष। काठ के शकट को काठ के आधार पर रखो भलीभाँति संस्थापित करो-ताकि शकट आधार-शून्य न होने पावे॥

मन्त्र में समागत '**वनस्पतिम्**' पद को वनस्पति का विकार मानकर '**शकट**' अर्थात् रथ अर्थ किया गया है[५१]। आचार्य सायण ने ३,५३,२० तथा ६,४७,२६-इन दोनों मन्त्रों के अर्थ करते हुए भी वनस्पति पद को '**रथ**' अर्थ में माना है[५२]।

परमात्मा अर्थ में प्रयुक्त-

स्वामी ब्रह्ममुनि ने १०,७०,१० मन्त्र के व्याख्यान में '**वनस्पते**' पद को '**वननीय सुखविशेष के पालक परमात्मा**' का सम्बोधन माना है[५३]

भाष्यकारों ने इस पद को **छिन्नमूल स्थाणु**[५४], **वनस्पति का विकार रूप पेटिका**[५५] तथा **काष्ठ से निर्मित चमस आदि**[५६] अर्थ में व्याख्यात किया है। आचार्य यास्क ने १०,११०,१० मन्त्र के व्याख्यान में '**वनस्पति**' पद को '**गार्हपत्याग्नि**' के रूप में दिखाया है। वहाँ पर मन्त्र का व्याख्यान करते हुए वे लिखते हैं-

वनस्पतिः, शमिता, देवो अग्निः-इत्येते त्रयः स्वदन्तु हव्यं मधुना च घृतेन च[५७]॥

आचार्य ने यहाँ '**वनस्पति**' पद को '**गार्हपत्याग्नि**' के रूप में माना है। साथ ही गार्हपत्याग्नि, दक्षिणाग्नि और आहवनीयाग्नि-इन तीनों अग्नियों द्वारा मिष्ट और घृत के साथ हविका आस्वादन करने का उल्लेख किया है। गार्हपत्याग्नि का सम्बन्ध गृहपति से है। अतः विवाह के समय जिस अग्नि से यज्ञ किया जाता है, उसी अग्नि को गृहस्थ आश्रम-वासी निजगृह में लाकर उसे प्रदीप्त रखता है तथा उसे कथमपि शान्त नहीं होने देता। साथ ही भोजन निर्माण काल में उसी अग्नि का उपयोग करता है। अतः इस अग्नि का नाम '**गार्हपत्य**' अग्नि रखा गया है। आचार्य आश्वलायन ने इसे गार्हपत्याग्नि में से अग्नि को अन्यत्र लेकर दक्षिणाग्नि के कर्म हेतु निर्देश दिया है[५८]।

---

५० वनस्पतिं देवम्-सा०

५१ वनस्पतिं वनस्पतिविकारं शकटम्-सा०

५२ क-वनस्पतिः वनस्पतिनिर्मितः अयं रथः-सा० ख-हे वनस्पते वनस्पतिविकार रथ-सा०

५३ वनस्पते हे वननीय सुखविशेषस्य पालक! परमात्मन् त्वम्-ब्रह्म०

५४ वनस्पते छिन्नमूलस्थाणो-सा०

५५ वनस्पते वनस्पतिविकाररूपपेटिके-सा०

५६ वनस्पतीन् दारुमयांश्चमसादीन्-सा०

५७ निरु० ८,३,१६,१५

५८ आश्वलायन श्रौतसूत्र २,२१

आचार्यों का मुख्य उद्देश्य त्रिविधाग्नि की रक्षा है, जो गृहस्थी के माध्यम से निर्दिष्ट है। किन्तु इन तीनों में से भी गार्हपत्याग्नि की रक्षा सर्वथा अनिवार्य है, उसे गृहस्थ काल में शान्त नहीं होने देना चाहिये। क्योंकि गार्हपत्याग्नि से ही आहवनीय और दक्षिणाग्नि की गति सम्भव है।

आचार्य यास्क '**वनस्पति**' पद से गार्हपत्याग्नि को बताते हुए साथ ही पुनः प्रश्न करते हैं कि यह वनस्पति है कौन? इस विषय में कात्थक्य और शाकपूणि आचार्यों का मत क्रमशः प्रस्तुत करते हैं कि यज्ञस्तम्भ और अग्नि वनस्पति है[५९]।

हमारी दृष्टि से उपर्युक्त तीनों ही आचार्यों का कथन उपयुक्त है। वनस्पति पद के तीनों ही आचार्य एक ही अर्थ को द्योतित कर रहे हैं। यतोहि वनस्पति पद मूल रूप में अग्नि का सूचक है। गृहस्थी हेतु गार्हपत्याग्नि मुख्य है और गार्हपत्याग्नि तभी सम्भव है जब विवाहकाल की अग्नि होगी। यथा यज्ञ की रक्षा हेतु यज्ञस्तम्भ अनिवार्य है तथैव गार्हपत्याग्नि की रक्षार्थ अग्नि है। एवं यास्क, कात्थक्य और शाकपूणि आचार्यों का वनस्पति विषयक व्याख्यान उसी अग्नि को इंगित कर रहा है।

अब यहाँ ध्यातव्य है कि वनस्पति पद अग्नि का ज्ञापक होकर वर्तमान में प्रचलित तथा पूर्व में भी भाष्यकारों ने कतिपय मन्त्रों के अर्थ करने में वृक्षादि का बोधक किस प्रकार हो? आचार्य यास्क '**द्रविणोदस्**' पद के व्याख्यान में इसको व्याख्यात करते हुए कहते हैं-

वनस्पत इत्येनमाह, एष हि वनानां पाता वा, पालयिता वा। वनं वनोतेः।[६०]

यतोहि हमने '**वनस्पति**' पद से अभी आचार्यों का मत प्रस्तुत कर '**अग्नि**' अर्थ भी दिखाया था। अतः अग्नि कैसे है? सो आचार्य बता रहे हैं कि यह वनस्पति (अग्नि) शुद्धिप्रदान कर (वन) वृष्टिजल की रक्षा करता है। '**पति**' पद रक्षणार्थ '**पा**' अथवा '**पाल**' धातु से उणादि का डति प्रत्यय करके निष्पन्न किया जा सकता है[६१] साथ ही '**वनम्**' पद निघण्टुकार ने रश्मि के पन्द्रह और जल के एक सौ नामपदों में पढ़ा है तथा निरुक्त में वना-वनानि को वधार्थक व्याख्यात किया है[६२]।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लौकिक संस्कृत के कोषकारों ने जहाँ इस '**वनस्पति**' पद को मात्र एक बड़ा जंगली वृक्ष विशेषकर वह जिसे बिना बौर आये फल लगता है[६३]-ऐसा माना है वहीं यह पद ऋग्वेद में चवालिस स्थलों पर **वनस्पतिः, वनस्पतिभिः, वनस्पतिभ्यः, वनस्पतिम्, वनस्पती, वनस्पतीन् वनस्पतीनाम्, वनस्पते, वनस्पतौ**-इन रूपों में विभिन्न स्वरों के साथ प्रयुक्त हुआ है और भाष्यकारों ने इसको वृक्षादि के रूप में, उलूखल-मूसल के रूप में, अग्निदेव के रूप में, यूपाभिमानी देव के रूप में, जङ्गल का पालक अथवा श्रेष्ठतम के रूप में, मेघ के रूप में, वनों के पालक के रूप में, किरण समूह के पालक सूर्य के रूप में, विद्वान् के रूप में, परोपकारी सज्जन के रूप में, देव के रूप में, रथ के रूप में, परमात्मा के रूप में, छिन्नमूल स्थाणु, विकार रूप पेटिका, काष्ठ से निर्मित चमस आदि के रूप में और गार्हपत्याग्नि के रूप में दर्शाया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि '**वनस्पति**' पद के वैदिकसाहित्य में भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग हुए हैं। किन्तु वर्तमान में लोक में यह पद चिकित्सा हेतु प्राप्त वनस्पतियों के लिये ही रूढ़ हो गया है। अतः उसी दृष्टिकोण से

---

५९ तत्को वनस्पतिः ? यूप इति कात्थक्यः, अग्निरिति शाकपूणिः-निरु० दै०का०,अ०,३पा०, १६खं० १५श०॥

६० निरु० दै० का० ८, अ०१पा०, २खं०, ४श०

६१ उणादिकोषः-४,५७

६२ निघण्टु १,५; १,१२; निरु० वनानीति वा, वधेनेति वा ५अ०, ३पा०, १६खा०, ५८श०

६३ पारिजात-कोशः-ईश्वरचन्द्र शर्मा पृ० ८१६

विद्वान् वनस्पति का अर्थ अपुष्पफलवान् वृक्ष करते हैं। स्वामी दयानन्द ने यजुर्वेद २१, २१ पर इसे ओषधियों का राजा वृक्ष, माना और शतपथकार ने कहा कि **यदि ये वनस्पतियाँ न हों तो मनुष्य यज्ञ नहीं कर पायेंगे-**

वनस्पतयो हि यज्ञिया न हि मनुष्या यजेरन् यद्वनस्पतयो न स्युः॥ ३,२,२,९

वस्तुतः वनस्पति का प्राणियों के साथ अविभाज्य एवं नित्य सम्बन्ध है। इसके बिना प्राणियों का अस्तित्व ही असम्भव है। विद्वानों ने जो इसका अर्थ अग्नि, प्राण, पालक, मेघ, सूर्य, विद्वान्, देव, परोपकारी पुरुष, परमात्मा तथा अपुष्प फलवान् वृक्ष आदि अर्थ किये हैं वे समुचित ही हैं॥

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०१० अङ्क १३ (पृ०६५-७०)

वैदिक संहिताओं में विज्ञान जड़-चेतन के परिप्रेक्ष्य में

डॉ० अनिता सेनगुप्ता[१]

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद् एव खलु इमानि भूतानि जायन्ते। विज्ञानेन जातानि जीवन्ते।[२] आदि वैदिक वाक्य प्राचीन वैज्ञानिक दृष्टिकोण को प्रदर्शित करता है। वेद तो समस्त ज्ञानों का स्रोत है-**सर्वज्ञानमयो हि सः**[३]। सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, वेदान्त-मीमांसादि जो वेदों के उपाय कहलाते हैं, उनमें अष्टादश-पुराण, शिक्षाकल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्त ज्योतिषादि वेदाङ्ग एवं स्मृतिग्रन्थों में भी प्रचुर रूप में विज्ञान के सूत्र उपलब्ध होते हैं। अतः याज्ञवल्क्य ऋषि का यह वचन अक्षरशः सत्य प्रतीत होता है-

न वेदशास्त्रादन्यतः किञ्चिच्छास्त्रं तु विद्यते।
निःसृतं सर्वशास्त्रं तु वेदशास्त्रात् सनातनात्।।[४]

वेद के मुख्य विषय चार हैं- विज्ञान, कर्म, उपासना तथा ज्ञान। इनमें से पहला **'विज्ञान'** का विषय सबसे मुख्य है, क्योंकि उसमें परमेश्वर से लेकर सूक्ष्म कण तक के पदार्थों का ज्ञान प्राप्त होता है। श्री निरञ्जन लाल शर्मा के अनुसार प्राचीन भारतीय विज्ञान के क्षेत्र में बहुत आगे थे।[५] भौतिकी के आचार्य डॉ० मनोहर लाल गुप्त के अनुसार वेदों में सृष्टि के गूढ़ से गूढ़ रहस्यों का वर्णन है। अनेक ऐसे सत्य हैं, जिनके विषय में आधुनिक विज्ञान अनिश्चित है अथवा उन्हें जानने के लिए आज भी प्रयासरत है।[६] बड़े-बड़े वैज्ञानिकों ने कठोर परिश्रम करके वर्षों के परिश्रम के फलस्वरूप जो सिद्धान्त स्थिर किए, उन्हें आगे आने वाले वैज्ञानिकों ने बदल डाला, किन्तु वेद के किसी सिद्धान्त को अन्यथा नहीं किया जा सका, क्योंकि वे साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों द्वारा निर्धारित थे।

श्रुतियों में एकमात्र परमतत्त्व को ही चेतन कहा गया है, जबकि शेष सभी सांसारिक पदार्थ जड़ है। वेदान्त दर्शन पर शङ्कराचार्यकृत संक्षेप शारीरक भाष्य का आरम्भ इन्हीं तथ्यों से हुआ है, जो मिथ्या एवं जड़ से विलक्षण, देश-काल-वस्तुपरिच्छेदशून्य, रागादि मल, धर्मादि बन्धन तथा दुःख से सर्वथा विलक्षण है, अत्यन्त निकटवर्ती, जन्मादि षड्विकाररहित अर्थात् अस्ति, जायते, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति इन षड्विकारों से रहित है, अतः अविक्रिय है वही ब्रह्म है, चेतन तत्त्व है।[७] उस आत्मा से अतिरिक्त सब कुछ जड़ है। इसी कारण से आकाश भी जड़ है, वायु, तेज, जल, पृथिवी एवं उनके विकार भी जड़ हैं, क्योंकि तैत्तिरीयोपनिषद् में आत्मा से ही जड़ पञ्चभूतों की उत्पत्ति बतायी गयी है।[८]

---

१ एसोसिएट प्रोफेसर संस्कृत, ईश्वर शरण डिग्री कालेज, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
२ तैत्तरीयोपनिषद् ३/५
३ मनुस्मृति २/७
४ याज्ञवल्क्यस्मृति
५ भौतिक भू-विज्ञान- डॉ० निरञ्जन लाल शर्मा, सरोज प्रकाशन, इला० भूमिका में द्रष्टव्य।
६ भारतीय संस्कृति - मनोहर लाल गुप्त, पृ० ६५
७ वेदान्त दर्शन पर संक्षेप शारीरक भाष्य शङ्कराचार्य कृत-मंगलाचरण
८ एतस्माद्वा आत्मनः आकाशः सम्भूतः, आकाशाद् वायुः, वायोरग्नि-अग्नेराप अद्भ्यः पृथिवी।

इस विषय पर गहन चर्चा करने से पहले हमें ब्रह्माण्ड के अतीत में झाँकना पड़ेगा। ऋग्वेद का नासदीय सूक्त[९] कहता है कि आरंभ में ब्रह्माण्ड में न सत् था, न असत्, न रजस् (पृथिवी) था न व्योम (द्युलोक और अन्तरिक्षलोक), न वहाँ मृत्यु थी और न ही अमृतत्व था। कुछ एक था, जो अपनी स्वधा (शक्ति) से श्वास लेता था। चारों ओर अन्धकार था। अप्रकेत सलिल द्वारा सब व्याप्त था। वहाँ अपनी महत्ता के परिणामस्वरूप एक तपस् से उत्पन्न हुआ और फिर सृष्टि के लिए इच्छा (काम) उत्पन्न हुई। कोई नहीं जानता था कि यह सृष्टि किसने कब और क्यों बनाई? यह सृष्टि कहाँ से बनी क्योंकि देवता भी तो बाद में ही उत्पन्न हुए थे।

सातवलेकर मंत्र की व्याख्या में देवता की 'परमाणु' रूप अर्थ स्वीकार करते हैं।[१०] यह विज्ञान आधुनिक विज्ञान से साम्य रखता है। सातवलेकर की व्याख्या के अनुसार परमाणुओं की उत्पत्ति भी बाद में हुई उनको उत्पन्न करने वाला ईश्वर ही है। वही चेतन तत्त्व है।

उस स्वप्रकाश आनन्दमय आत्मा को सूर्य, चन्द्र, तारागण, विद्युतादि कोई भी प्रकाशित नहीं करता, अपितु निखिल जगत् आत्मा की दीप्ति से प्रकाशित होते हैं, अतः आत्मा निखिल ब्रह्माण्ड का प्रकाशक होने के कारण चेतन है और ये ब्रह्माण्ड प्रकाश्य होने के कारण जड़ है।[११]

जड़ की उत्पत्ति के विषय में आधुनिक विज्ञान की ये मान्यता है कि जड़ पदार्थ छोटे-छोटे कणों से मिलकर बने होते हैं। ये छोटे कण सर्वदा दिखाई नहीं पड़ते, इन्हें अनुभव किया जा सकता है। जैसे- एक धूपबत्ती जलाई, कुछ क्षण उसकी सुगन्ध से चारों दिशाएं आमोदित रहीं। उस धूपबत्ती से अत्यन्त सूक्ष्म कण जो दृष्टिगोचर नहीं हो रहे हैं, बाहर निकलकर वायु में बिखरकर मिल रहे हैं, जिनकी संख्या गणनातीत है, जबकि धूपबत्ती एक नपी तुल सी छोटी सी वस्तु है। इसी प्रकार जल देखने में तो एक ही वस्तु है, किन्तु वाष्प, कुहरा, मेघादि देखने पर पता चलता है कि जल भी लाखों कणों की समष्टि है। वायु दिखता तो नहीं परन्तु उसके भी निर्माण की प्रक्रिया भी ऐसी ही है। इन अणुओं के मध्य में आकाश, अवकाश या ईथर है। लार्ड केल्विन अणुओं को ईथर की छोटी-छोटी कुण्डली समझते थे। यदि ईथर एक ही अवस्था में हो तो विशिष्ट जड़ द्रव्य की उत्पत्ति न होती। विविध प्रकार से विकार-विषमताएं होने पर ही ईथर से जड़ पदार्थ उत्पन्न हुआ।[१२] सांख्य भी यह प्रतिपादित करती है कि प्रकृति के त्रिविध गुणों (सत्त्व, रजस् और तमस्) में विषमता होने पर ही सृष्टि की उत्पत्ति होती है।

सांख्य दर्शन में दो तत्वों की चर्चा की गई है- जड़ प्रकृति और चेतन पुरुष। सम्पूर्ण जड़ जगत् इसी जड़ प्रकृति का परिणाम-सत् कार्य है। यह प्रकृति 'अजा' अर्थात् अनादि और अनन्त अर्थात् अविनाशिनी है। इसमें सत्त्व, रजस् तथा तमस् तीन गुण हैं, इसीलिए यह त्रिगुण कहलाती है[१३] प्रकृति के ये तीनों ही गुण नित्य-परिणामी

---

९ क नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परोयत्। किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्।। न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः। आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास।। तम आसीत् तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्। सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा।। ऋ० १०.१२९.१-४ को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः। अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाऽथा को वेद यत आवभूव।। - वही १०.१२९.६ ख द्र०-सातवलेकर ऋ० १०.१२९.६। वह देवता से अभिप्राय लेते हैं- विद्वान् दूरदर्शी, परमाणु।

१० ऋ १०.१२९.६

११ न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्। नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।। कठोपनिषद् २/२१

१२ The Turning Point Magazine - P. ९५

१३ त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि। व्यक्तं, तथ प्रधानं, तद्विपरीतस्था च पुमान्। - सांख्य कारिका-११

हैं अर्थात् कभी परिणाम से वियुक्त नहीं होते, यहाँ तक कि प्रलयकाल में भी परिणाम होता रहता है।[१४] प्रलयकाल में प्रकृति के स्वरूपभूत तीनों गुणों का साम्य नष्ट नहीं होता, जिससे विभिन्न कार्यों की सृष्टि हो सके, किन्तु सृष्टिकाल में गुणों में क्षोभ उत्पन्न होता है, जिसके फलस्वरूप उनके साम्य या संतुलन के नष्ट होने से तथा विविध अंशों के परस्वर संहत होने पर महत् अहंकार, तन्मात्र इन्द्रियाँ, पंचमहाभूत और यह सम्पूर्ण त्रिगुणात्मक जगत् सभी क्रमशः उत्पन्न होते हैं।[१५]

यहाँ एक स्वाभाविक प्रश्न उपस्थित होता है कि जो गुण प्रलयकाल में सदृश या एकविध परिणाम उत्पन्न करते हैं वे ही सृष्टिकाल में विषम या विविध प्रपंच कैसे उत्पन्न करने लगते हैं? इसका उत्तर भी १६वीं कारिका की द्वितीय पंक्ति में कारिकाकार ने दिया है- जैसे मेघ का जल एक रस होने पर भी पृथिवी के नाना विकारों को प्राप्त करके नारियल, ताड़, करेले, बेल, तिन्दुक (इमली), आँवला, कैथ इत्यादि का रस बन जाने पर खट्टे-मीठे, नमकीन, तिक्त, कषैले तथा कड़वे आदि अनेक प्रकारों का हो जाता है, उसी प्रकार प्रत्येक काल में एक ही गुण का आविर्भाव होने से प्राधान्य प्राप्त उस गुण का आश्रय लेकर अप्रधान गुण अनेक परिणाम उत्पन्न करते हैं।[१६]

जड़ एवं चेतन का स्वरूप

शतपथ ब्राह्मण में आत्मा को वाङ्मय, मनोमय एवं प्राणमय कहा गया है।[१७] श्रुतियों में यही त्रिपुटी जड़ तत्त्व के रूप में निर्दिष्ट है। इन तीनों के विविधता के मध्य जो एकता है, उसे आत्मा शब्द द्वारा निर्दिष्ट किया गया है।[१८]

छान्दोग्योपनिषद् के षष्ठाध्याय में आरुणि अपने पुत्र श्वेतकेतु से कहते हैं- **मनो अन्नमयः, प्राणो आपोमयः, वाक् तेजोमयी च।**[१९] पिता आरुणि त्रिवृत्करण समझाते हुए श्वेतकेतु से कहते हैं- अन्न खाए जाने पर उसका सूक्ष्मतम अंश मन बनता है, उसी प्रकार जल पिए जाने पर उसका सूक्ष्मतम अंश प्राण बनता है,.पुनः उसी प्रकार 'तेजस्' भीतर लिए जाने पर उसका सूक्ष्मतम अंश वाक् बनता है। श्वेतकेतु सुनकर यह नहीं समझ पाए कि किस प्रकार मन अन्नमय है, प्राण आपोमय है और वाक् तेजोमय है। पिता ने कितने ही दृष्टान्त व उपमा दिखाए - ये सौम्य, दही मथे जाने पर उसकी अणिमा (नवनीत कण) जैसे घृत होकर ऊपर उठ आती है, उसी प्रकार खाए गए अन्न का सूक्ष्मांश मन होकर ऊपर उठता है, किन्तु फिर भी श्वेतकेतु के मन का संशय दूर नहीं हुआ। उसने

---

१४ द्रष्टव्य सांख्यकारिका ११ के 'प्रसवधर्मित्व' पद की तत्वकौमुदी व्याख्या- 'प्रसवरूपो धर्मो यः, सोऽस्यास्तीति प्रसवधर्मि। प्रसवधर्मेति वक्तव्ये मत्वर्थीयः प्रसवधर्मस्य नित्ययोगमाख्यातम्। सरूपविरूपपरिणामाभ्यां न कदाचिदपि वियुज्यत इत्यर्थः।।

१५ द्रष्टव्य सांख्य कारिका १६ के प्रवर्तते त्रिगुणतः पदों की तत्वकौमुदी- प्रतिसर्गावस्थायां सत्वं रजस्तमश्च सदृशपरिणामानि भवन्ति। परिणाम- स्वभावा हि गुणा नापरिणम्य क्षणमप्यवतिष्ठन्ते। तस्मात् सत्वं सत्वरूपतया रजो रजोरूपतया तमस्तोरूपतया प्रतिसर्गावस्थायामपि प्रवर्तते।

१६ यथा हि वारिदविमुक्तमुदकमेकरसमपि तत्तद्भूविकारानासाद्य नारिकेलमतालतालीविल्वचिरविल्वन्दुकामलक प्राचीनामलककपित्थ फलरसतया परिणमन्मधुराम्ललवणतिक्तकषायकटुतया विकल्पते, एवमेकैकगुणसमुद्भवात् प्रधानं गुणमाश्रित्य अप्रधानगुणाः परिणामभेदात् प्रवर्तयन्ति- संख्याकारिका १६ की तत्वकौमुदी।

१७ अयमात्मा वाङ्मयो मनोमयः प्राणमयः-शतपथ ब्राह्मण १४/४/३/१०

१८ अत्र ह्येते सर्वं एकं भवन्ति तदेतत् पदनीयं सर्वस्य यदायमात्मा- शतपथ ब्राह्मण १४/४/२/१८

१९ छान्दोग्योपनिषद् का षष्ठाध्याय

पुनः कहा- **भूय एव मा भगवान् विज्ञापयतु**, तब पिता ने उसे साक्षात् परीक्षा में लगा दिया। कहा- पुरुष षोडशकल है चन्द्रमा के समान। तुम पन्द्रह दिन तक कुछ मत खाना, यथेच्छ जल अवश्य पीते रहना। श्वेतकेतु भोजन न करते हुए पन्द्रह दिन पड़ा रहा। १६वें दिन पिता के समीप आया तब पिता ने उसे वेद-विषयक प्रश्न पूछा। तब पुत्र ने उत्तर दिया-मेरी स्मृति में कुछ भी नहीं आ रहा है, कुछ भी प्रतिभात नहीं हो रहा है। तब पिता ने कहा- चन्द्रमा की कलाएं हैं। कृष्णपक्ष में प्रति रात्रि क्रमशः क्षीण होती हैं, अन्त में एक ही कला अवशिष्ट रहती है, वैसे ही उपवास से तुम्हारा मन क्षीण होकर केवल एक कला पर जाकर रुक गया, उस एक कला से कुछ भी स्फूर्त नहीं हो रहा है। अग्नि का, जब जुगनू जैसा एकमात्र अंश अवशिष्ट रहता है, तब उसमें दाहिका शक्ति का प्रकाश भी क्षीण रहता है, पुनः तृण, काष्ठादि एकत्रित कर उसी अङ्गार की दाहिका शक्ति को जगा लें तो सभी कुछ भस्म हो सकता है। तुम भी पुनः आहार करके मन की कलाओं को पुष्ट कर लो, पुनः वेदविद्या तुम्हें प्रतिभात हो जाएगी। तब श्वेतकेतु अनवय-व्यतिरेक से अन्न व मन के संपर्क को समझने में समर्थ हुआ। इसी प्रकार प्राणों का पोषक जल है, जल न हो तो प्राणों को स्फूर्ति नहीं होती और वाक् चिदात्मा की चित् शक्ति है, विश्व चेतना की अभिव्यक्ति है। वाक् बिना चेतना संभव ही नहीं- **मनसैव वाग्भृता**[२०] ।

जड़पदार्थ गतिशील

वैदिक विज्ञान जड़ पदार्थ को गतिशील मानता है। उसके गतिमत्त्व में वेद का प्रमाण है- **स वा एष आत्मा प्राणमयः**। प्राण का अर्थ है- क्रियाशक्ति। अतः कोई भी पदार्थ क्षणमात्र भी क्रिया या गतिरहित नहीं है।

आधुनिक विज्ञान की भी यही अवधारणा है कि पदार्थ निष्क्रिय तथा उदासीन नहीं है, अपितु निरन्तर कम्पमान गति की स्थिति में है- Matter not at all as passive and inert but as being in a continuous dancing and vibrating motion whose rhythmic patterns are determined by the molecular, atomic and nuclear configuration.[२१]

श्रुति के अनुसार वाक्, प्राण तथा मन से सृष्टि की उत्पत्ति होने के कारण ये तीनों एक-दूसरे में ओत-प्रोत हैं। शतपथ ब्राह्मण में इस त्रिपुटी का व्याख्यान विस्तार से हुआ है- **त्रयो लोका एत एव। वागेवायं लोको, मनोऽन्तरिक्षलोकः, प्राणोऽसौ लोकः। त्रयो वेदाऽतएव वाक् एव ऋग्वेदो, मनो यजुर्वेदः प्राणः सामवेदः।**[२२] तैत्तरीय ब्राह्मण में ऋक् से मूर्तिरूप पिण्ड की उत्पत्ति बताई गई, जो ऋक् की वाक् रूपता को सिद्ध करता है क्योंकि वाक् से समस्त मूर्ति तथा पिण्ड बनते हैं। यजुर्वेद को गति या क्रिया का मूल कारण कहा गया है, जो यजुः की प्राणरूपता को प्रतिपादित करती है, संपूर्ण क्रियाओं का मूल कारण 'प्राण' ही है-

ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्तिमाहुः। सर्वागतिर्यजुषी हैव शश्वत्।।
सर्वं तेजः सामरूपं हि शश्वत्तमम्। सर्वहीदं ब्राह्मणा है व सृष्टम्।।[२३]

प्रस्तुत ऋचा में 'तेज' को सामवेद कहा गया है। यहाँ पर 'तेज' से रूप विवक्षित है। क्योंकि रूप ही तेज का मुख्य गुण है- **चक्षुर्मात्रग्राह्यो गुणो रूपम्।** तत्त्व पृथिवी, जल, तेजोवृत्तिः।[२४] इस रूप का विस्तार मनस्तत्त्व के कारण होता है, अतः सामवेद से मन का ग्रहण होता है।

---

२० कपिष्ठल कठ संहिता ३७१४
२१ Turning Point Page-८८
२२ शतपथ ब्राह्मण १४/४/३/११-१४
२३ तैत्तरीयब्राह्मण-२/१२

जड़ पदार्थों में भी चेतनता

उपनिषदों में मूल तत्त्व आत्मा से सर्वप्रथम मन का प्रादुर्भाव बताया गया- **तन्मनोऽकुरूत** (बृहदारण्यकोपनिषद्)। ऋक् संहिता के नासदीय सूक्त में भी सर्वप्रथम मन तथा उसके इच्छावृत्ति का उद्भव बताया गया है- **कामस्तदग्रे सवमवर्ततांधि मनसो रेत: प्रथमं तदासीत्।** तैत्तरीयोपनिषद् में अव्यय पुरुष की कलाओं का निरूपण हुआ है-आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण तथा वाक्। इसमें शक्ति के द्वारा परिच्छित्र होने पर सर्वप्रथम मन का प्रादुर्भाव बताया गया। इससे यह प्रमाणित होता है कि सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में मनस्तत्त्व अर्थात् चेतनता है। वेद एवं पुराणों में ऐसे अनेक मंत्र बताए हैंवृहद जिनसे स्पष्ट होता है कि मन तथा प्राण का अन्योऽन्य सम्बन्ध है-

मन इव सर्वमेकं भूत्वा प्राणे प्रतिष्ठितम्।[२५] **मनसा हि प्राणो धृत:।।**[२६] **मनसैव प्राणमाप्नोति।**[२७]

श्रुतियों में तो पाषाण में भी चेतनता मानी गई है। इसीलिए वैदिक ऋषि पाषाणों को सम्बोधित करते हैं- **शृणोतु ग्रावाण:**[२८] वैदिक मान्यतानुसार पाषाण में वाक् तथा प्राण अर्थात् Matter और Energy दोनों उपस्थित हैं, किन्तु इसके साथ ही मन अर्थात् Mind भी है, भले ही व्यक्त न हो।

आधुनिक विज्ञान भी वाक् तथा प्राण से आगे मनस्तत्त्व को स्वीकार करते हैं। भौतिकशास्त्री हाइजनबर्ग पदार्थ तथा मन का सम्बन्ध स्थापित करते हुए यह तर्क करते हैं कि चेतना विश्व का अपरिहार्य पक्ष है, अचेतन प्रकृति के स्वभाव को समझना अत्यन्त असंभव है-

Physicist argue that conciousness may be an essential aspect of the universe and that we may be blocked form further understanding of natural Phenomena if we insist on excluding it.[२९]

ईशावास्योपनिषद् चेतन तत्त्व को कम्पनरहित (अविचलित), अकेला (अद्वितीय), मन से भी वेगवान्, पहले से वर्तमान तथा सर्वज्ञ मानता है। वह स्थिर रहते हुए भी दूसरे दौड़ने वालों का अतिक्रमण कर देता है। उसके होने पर ही वायु आदि जल वर्षणादि क्रियाओं को धारण करते हैं।[३०] कठ श्रुति भी कहती है-

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वत:।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति।।[३१]

इस प्रकार के विरोधाभास यदि आत्मतत्त्व में हो तो आश्चर्य का विषय नहीं है। इलेक्ट्रान का आविष्कार होने पर वैज्ञानिक कठिनाई में पड़ गए कि उसे कण कहें या तरङ्ग, क्योंकि वह एक साथ ही करण अर्थात् स्थिर तथा तरङ्ग अर्थात् प्रवहमान का सा व्यवहार करता है। उस स्थिति में वैज्ञानिक इलेक्ट्रान में एक साथ दोनों गुण

---

२४ तर्कभाषा गुणप्रकरण
२५ जैमिनीय ब्राह्मण ३/३७
२६ कपिष्ठल कठसंहिता ४२/१
२७ मैत्रायणी संहिता ४/५/५
२८ तैत्तरीय संहिता १/३/१३/१
२९ Turnig Point, P. ९७
३० ईशोपनिषद्-मंत्र ४
३१ कठोपनिषद् २/२१

कण और तरङ्ग स्वीकार करने को बाध्य हुए। इस द्विरूप इलेक्ट्रान को नया नाम दिया-क्वांटा। क्वांटा की खोज ने यह सिद्ध कर दिया कि दो विपरीत लक्षण एक साथ एक तत्त्व में घटित हो सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान ने बहिर्मुख पर्यवेक्षण परीक्षा-निरीक्षा के द्वारा जिन सब तत्त्वों का आविष्कार किया है, प्राचीन प्राच्य विज्ञान ने अन्तर्मुख साधना में समीक्षा-अन्वीक्षा का अवलम्बन लेकर उस एक ही तत्त्व की और भी गहरे अन्तस्तल में उपलब्धि की थी। विज्ञान के क्षेत्र में तत्कालीन भारतीयों की उपलब्धियों की वस्तुपरक जानकारी का प्रचार न केवल हमारे राष्ट्रीय गौरव का विषय है अपितु हमारे समाज में वैज्ञानिक संस्कृति को समाहित करने का प्रेरणास्त्रोत भी है।

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०१० अङ्क १३ (पृ०७१-७६)

अथर्ववेदीय नारी का स्वरूप

डॉ० नरेश कुमार[१]

गृहस्थाश्रम में नारी का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह पुरुष की सहयोगी, सहायक एवं सहधर्मिणी है। जिस प्रकार रथ की गति में दोनों चक्र समान रूप से अपना महत्त्व एवं उपयोगिता रखते हैं उसी प्रकार स्त्री और पुरुष गृहस्थाश्रम रूपी रथ के दो चक्र माने गये हैं। जिस प्रकार किसी एक चक्र के बिना रथ की गति असम्भव है उसी प्रकार गृहस्थ जीवन में स्त्री और पुरुष दोनों का समानरूप से महत्त्व है। नर-नारी का सम्बन्ध शाश्वत है। किसी एक के बिना सृष्टि का विकास असम्भव है। मनुस्मृति में **यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता** कह कर नारी को पूजनीय एवं सम्माननीय माना है।[२] दुहिता, पत्नी, बहन, माता इत्यादि रूपों में वह सर्वथा सम्मानीय रही है। याज्ञवल्क्य और मनु ने स्त्रियों को अत्यधिक सम्मान प्रदान किया है। उनके अनुसार गुरु, आचार्य, उपाध्याय और ऋत्विज् क्रमानुसार पूजनीय होते हैं, किन्तु माता इन सबसे अधिक पूजनीय होती है।[३] तैत्तिरीय ब्राह्मण में नारी की महत्ता को उद्घाटित करते हुए कहा गया है कि अपत्नीक व्यक्ति यज्ञादि धार्मिक अनुष्ठानों का अधिकारी नहीं है। यज्ञादि धार्मिक कृत्य सहधर्मिणी के सानिध्य में सम्पन्न एवं सफल होते हैं।[४] ऋग्वेद तथा यजुर्वेद में स्त्री के लिये जिन विशेषणों का प्रयोग किया गया है, उनसे नारी के गुणों का बोध होता है। इसमें स्त्री को **अषाढा** (अज्ञेय), **सहमाना** (जीतनेवाली), **सहस्रवीर्या** (असंख्य पराक्रम वाली), **असपत्ना** (शत्रुरहित), **सपत्नघ्नी** (शत्रुओं को नष्ट करने वाली), **जयन्ती** (विजेता), **अभिभूवरी** (सबको तिरस्कृत करने वाली) आदि कहा गया है।[५] अथर्ववेद में इन्द्राणी का अज्ञेय सेनानी के रूप में वर्णन प्राप्य है।[६] अथर्ववेद के विवाह प्रकरण के एक मन्त्र में नारी के महत्त्व को प्रतिपादित कहा है कि वह सास, श्वसुर, ननद तथा देवरों की **सम्राज्ञी** अर्थात् स्वामिनी है। यथा-**सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु। ननान्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्र्वा॥**[७] अथर्ववेद में नारी के लिए कहा गया है कि वह स्वयं को अबला न समझकर सबला समझे।[८] इन्द्राणी के प्रसङ्ग में

---

१ प्रोजेक्ट फैलो, वेद विभाग, गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार उत्तराखण्ड।

२ मनु०-३.५६

३ याज्ञ०स्मृ०१.३४, ३५
उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता। सहसं तु पितृन माता गौरवेणातिरिच्य॥ मनु०-२.१४५

४ अयज्ञो वा ह्येष योऽपत्नीकः-तै०ब्रा०२.२.२.६

५ अषाढासि सहमाना सहस्वारातिं सहस्व पृतनायतः। सहस्रवीर्य्यासि सा मा जिन्व॥ यजु०१३.२६ असपत्ना संपत्नघ्नी जयन्त्यभिभूवरी। आवृक्षमन्यासां वर्चो राधो अस्थेयसामिव॥ ऋग्०१०.१५९.५

६ प्रेतं पादौ प्र स्फुरतं वहतं पृणतो गृहान्। इन्द्राण्यै तु प्रथमाजीतामुषिता पुरः॥ अथर्व०१.२७.४

७ अथर्व०१४.१.४४

८ अवीरामिव मामयं शरारुरभि मन्यते। उताहमस्मि वीरिणीन्द्रपत्नी मरुत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ अथर्व०-२०.१२६.९

स्त्री के गुण बताते हुए कहा गया है कि वह सौभाग्यवती, सुख देने वाली, सरस, सुन्दर और कठिन परिश्रमी हो।[९] वह स्वयं संयमी होते हुए विविध शास्त्रार्थों में भाग ले।[१०]

अथर्ववेद का चौदहवाँ काण्ड गृहस्थ जीवन के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश डालता है। वहाँ नारी को पतिगृह की सम्राज्ञी बनने का उसी प्रकार उल्लेख मिलता है जैसे बलवान् समुद्र नदियों पर साम्राज्य करता है।[११] अथर्ववेद के अनुसार नारियाँ बाह्याभ्यन्तर से शुद्ध तथा यज्ञिय है।[१२] ये शुभ गुणों की खान[१३] तथा सब पुरुषों, पशुओं एवं समस्त क्षेत्र के लिये कल्याणकारिणी हैं।[१४] अग्निस्वरूप परमात्मा ने आयु तथा तेज के साथ पत्नी (नारी) उत्पन्न किया है।[१५] श्वसुर, पति, गृह तथा सम्पूर्ण प्रजा के लिए सुखकर होने के कारण ही उसे इन सबके पोषक होने का आशीर्वाद भी दिया गया है।[१६] अथर्ववेदीय नारी को सम्मानजनक स्थान प्राप्त था। अथर्ववेद में नारी के विभिन्न रूपों का वर्णन प्राप्त होता है। यथा-

१. कन्या के रूप में नारी का वर्णन-

अथर्ववेदवर्णित कन्या को असाधारण एवं अद्भुत शक्तिसम्पन्न माना गया है। उसे यश[१७] तथा वर्चस्[१८] से युक्त होने के साथ-साथ **कुल की रक्षिका** बतलाया गया है।[१९] वधु के रूप में कन्या का स्वागत करते हुए कहा गया है-**एषा ते राजन् कन्या वधूर्नि धूयतां यम। सा मातुर्बध्यतामं गृहेऽथो भ्रातुरथो पितुः॥**[२०] आजकल मुख्य अवसरों पर जिस प्रकार कन्याभोज का प्रचलन है, वह कन्याओं के प्रति परम्परा से चले आ रहे सत्कार का प्रतीक है। वर्तमानकालिक पुरुष प्रधान समाज की तरह अथर्ववेद में भी पुत्री की अपेक्षा पुत्र को श्रेष्ठ माना गया है, क्योंकि उससे सम्बन्धित जिस संस्कार का शुभारम्भ हुआ; पुंसवन संस्कार के नाम से अभिहित किया गया है। यथा-

---

९ न मत्स्त्री सुभसत्तरा न सुयाशुतरा भुवत्। न मत् प्रतिच्यवीयसी न सक्थ्युद्यमीयसी विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः। अथर्व०२०.१२६.६

१० भगस्त्वेतो नयतु हस्तगृह्याश्विना त्वा प्र वहतां रथेन। गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि॥ अथर्व०-१४.१.२०

११ यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा। एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य॥ अथर्व०-१४.१.४३

१२ शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा आपश्चरुमव सर्पन्तु शुभ्राः। अदुः प्रजां बहुलान् पशून् नः पक्तौदनस्य सुकृतामेतु लोकम्॥ अथर्व० ११.१.१७

१३ एमा अगुर्योषितः शुम्भमाना उत्तिष्ठ नारि तवसं रभस्व। सुपत्नी पत्या प्रजया प्रजावत्या त्वागन् यज्ञः प्रति कुम्भं गृभाय॥ अथर्व०-११.१.१४

१४ शिवा भव पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यः शिवा। शिवास्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा न इहैधि॥ अथर्व०-३.२८.३

१५ पुनः पत्नीमग्निरदादायुषा सह वर्चसा। दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति शरदः शतम्॥ अथर्व०-१४.२.२

१६ स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्ये गृहेभ्यः। स्योनास्यै सर्वस्यै विशे स्योना पुष्टायैषां भव॥ अथर्व०-१४.२.२७

१७ यथा यशः कन्यायां यथास्मिन्त्संभृते रथे। एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नियच्छतु तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा॥ अथर्व०-१०.३.२०

१८ कन्यायां वर्चो यद् भूमे तेनास्माँ अपि सं सृज मा नो द्विक्षत कश्चन॥ अथर्व०-१२.१.२५

१९ एषा ते राजन् कन्या वधूर्नि धूयतां यम। सा मातुर्बध्यतामं गृहेऽथो भ्रातुरथो पितुः॥ एषा ते कुलपा राजन् तामु ते परि दद्मसि। ज्योक् पितृष्वासाता आशीर्ष्णः समोप्यात्॥ अथर्व०-१.१४.२-३

२० अथर्व०-१.१४.२

प्रजापतिरनुमतिः सिनीवाल्यचीक्लृपत्। स्त्रैषूयमन्यत्र दधत् पुमांसमु दधदिह॥ [२१]

भाषार्थः- **(अनुमतिः)** अनुकूल बुद्धिवाली, **(सिनीवाली)** अन्नवाली **(प्रजापतिः)** प्रजापालक शक्ति परमेश्वर ने **(अचीक्लृपत्)** यह शक्ति दी है। **(अन्यत्र)** दूसरे प्रकार में (स्त्री का रज अधिक होने में) **(स्त्रैसूयम्)** स्त्री जन्म सम्बन्धी क्रिया **(दधत्)** वह (ईश्वर) धारण करता है और **(इह)** इसमें (पुरुष का वीर्य अधिक होने पर) (उ) निश्चय करके **(पुंमासम्)** बलवान् सन्तान को **(दधत्)** वह स्थापित करता है।

भावार्थ- मनुष्य उत्तम बुद्धिवाला, अन्नवान् और प्रजापालक होकर ईश्वर नियम से गृहस्थाश्रम के योग्य होता है और स्त्री का रज अधिक होने पर कन्या तथा पुरुष का वीर्य अधिक होने पर पुरुष सन्तान उत्पन्न होती है।

२. कुमारी के रूप में नारी की महत्ता-

अथर्ववेद में विवाह के योग्य स्त्री को कुमारी नाम से अभिहित किया गया है। यथा-आ नो अग्ने सुमतिं संभलो गमेदिमां कुमारीं सह नो भगेन। जुष्टा वरेषु समनेषु वल्गुरोषं पत्या सौभगमस्त्वस्यै॥ [२२] इसी अर्थ में कन्या या कन्यला शब्द भी प्रयोग किया गया है। ये कन्याएँ विवाह की इच्छा से युक्त होकर पिता के घर से पति के घर जाने की इच्छा करतीं हैं। ऐसा सङ्केत अथर्ववेद के अधोलिखित मन्त्रांश में द्रष्टव्य है-

उशतीः कन्यला इमाः पितृलोकात्पतिं यतीः। अव दीक्षामसृक्षत स्वाहा॥ अथर्व०-१४.२.५२

भाषार्थ- **(इमाः)** यह **(उशतीः)** कामना करती हुई **(कन्यलाः)** शोभावती कन्यायें **(पितृलोकात्)** पितृलोक (पितृकुल) से **(पतिम्)** अपने अपने पतिकुल को **(यतीः)** जाती हुई **(स्वाहा)** सुन्दर वाणी के साथ **(दीक्षाम्)** दीक्षा (नियम व्रत की शिक्षा) को **(अवसृक्षत)** दान करें।

३. पत्नी के रूप में नारी की महत्ता-

पत्नी गृहस्थ जीवन का एक अभिन्न अङ्ग है। जिसके बिना गृहस्थ जीवन के समस्त रस, सुख एवं सौन्दर्य विनष्ट हो जाते हैं। अधोलिखित मन्त्र में पत्नी के गुणों का वर्णन किया गया है-

अघोरचक्षुरपतिघ्नी स्योना शग्मा सुशेवा सुयमा गृहेभ्यः।
वीरसूर्देवृकामा सं त्वयैधिषीमहि सुमनस्यमाना॥ [२३]

इस मन्त्र में कहा गया है कि वह **अघोरचक्षु** हो अर्थात् किसी को कुदृष्टि से न देखे। **अपतिघ्नी** हो अर्थात् पति का किसी भी प्रकार से अहित न करे। **स्योना** और **सुयमा** शब्दों से अभिप्राय है कि वह परिवार के लिए सुखद हो तथा संयमी जीवन बिताने वाली हो। **सुशेवा** से अभिप्राय है कि वह परिवार के लोगों की सेवा करने वाली हो। उसके अन्य गुण हैं-वह वीर सन्तानों को जन्म देने वाली हो, देवभक्त तथा आस्तिक हो, सौमनस्य वाली हो तथा देवरों आदि को हानि पहुँचाने वाली न हो। पद्मपुराण में कहा गया है कि पतिव्रता स्त्री वह हो जो कार्यों में दासी की भान्ति, सहवास में अप्सरा जैसी, भोजन के समय माँ जैसी तथा विपत्ति में मन्त्री के समान मार्ग सुझाने वाली हो।[२४] तैत्तिरीयारण्यक में पत्नी को साक्षात् श्रद्धा,[२५] तथा गोपथ ब्राह्मण में पत्नी को **धाटय** अर्थात् गृहस्थधारिका

---

२१ अथर्व०-६.११.३
२२ अथर्व०-२.३६.१
२३ अथर्व०-१४.२.१७
२४ धर्मशास्त्र का इतिहास, पृष्ठ-३२०, पद्मपुराण सृष्टिखण्ड।
२५ श्रद्धा पत्नी-तै०आ०-१०.६४.१

कहा गया है।[२६] अथर्ववेद में इन्द्रादि के तुल्य उनकी पत्नियों को भी देवतुल्य आदर प्राप्त था। उन्हें भी यज्ञ में आमन्त्रित किया जाता था।[२७] अथर्ववेद में पत्नी का स्थान बहुत उत्कृष्ट बताया गया है। उसे गृहस्वामिनी, गृहलक्ष्मी, सम्राज्ञी, कल्याणी आदि कहा गया है। वह घर की सारी व्यवस्था देखती है अत: उसे सम्राज्ञी कहा गया है। यथा-

भगस्त्वेतो नयतु हस्तगृह्याश्विना त्वा प्र वहतां रथेन।
गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि॥
यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा। एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य॥[२८]

इस प्रकार स्पष्ट है कि पत्नी गृहस्थाश्रम का आधार है। उसके बिना गृहस्थाश्रम दु:खमय एवं कष्टमय हो जाता है। गृहस्थ जीवन की सफलता पत्नी के विशिष्ट गुणों तथा व्यवहार पर निर्भर करती है।

४. माता के रूप में नारी-

सामाजिक दृष्टि से माता का स्थान सर्वोच्च माना गया है। अथर्ववेद के अनुसार पुत्र को जन्म देने के कारण ही ऋषियों ने माता को **जनित्री** कहा है। पुत्र के लिए कहा गया है कि सर्वथा माता के अनुकूल रहे। यथा- **अनुव्रत: पितु: पुत्रो मात्रा भवतु संमना:। जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्॥**[२९] कुछ इसी तरह का उल्लेख आपस्तम्ब धर्मसूत्र में भी मिलता है, वहाँ पर कथन है कि पुत्र का यह सर्वप्रथम कर्त्तव्य बनता है कि वह अपनी माता की सदैव सेवा करे, भले ही वह जातिच्युत हो चुकी हो, क्योंकि माता अपनी सन्तान के लिए महान् कष्टों को सहन करती है।[३०] अथर्ववेद के मन्त्र में स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि पुत्र को जन्म देने वाली माताएँ ही समाज में सम्मानीय एवं आदरणीय हैं। यथा-पुमांसं पुत्रं जनय तं पुमाननु जायताम्। **भवासि पुत्राणां माता जातानां जनयाश्च यान॥** अथर्व०-३.२३.३। महाभारत के आदि पर्व में कहा गया है कि **सर्वेषामेव शापानां प्रतिघातो हि विद्यते। न तु मात्राभिशप्तानां मोक्ष: कश्चन विद्यते॥** अर्थात् सभी प्रकार के शापों से मुक्ति पायी जा सकती है, किन्तु माता के द्वारा प्रदत्त शाप से मुक्ति पाने का कोई भी उपाय नहीं है। अत: मनुष्य को हमेशा अपनी माता की सेवा करनी चाहिए। अथर्ववेद में वर्णित मातारूप में नारी की महत्ता को व्याख्यापित करने के बाद नारी के अधिकारों एवं कर्त्तव्यों की चर्चा करना नितान्त आवश्यक है।

५. अथर्ववेद में वर्णित स्त्री के अधिकार-

नारी के अधिकारों के अन्तर्गत यह विचारणीय विषय है कि घर एवं परिवार में नारी को कितना अधिकार प्राप्त है। उसकी स्थिति परिवार में गृहस्वामिनी के तुल्य है अथवा दासी के समान है? वह परिवार में कैसा जीवन व्यतीत करती है? अथर्ववेद स्त्री को पति के घर में रानी के समान स्थान प्राप्त करने तथा चमकने का आशीर्वाद देता है। यथा-**सुवाना पुत्रान् महिषी भवातिगत्वा पतिं सुभगा विराजतुम्।**[३१] अथर्ववेदीय मन्त्र १४.१.२०

---

२६ पत्नी धाटया। गो०उ०-३.२१.२२

२७ उतग्ना व्यन्तु देवपत्नीरिन्द्राण्यऽग्नाय्यश्विनी राट्। आ रोदसी वरुणानी शृणोतु देवीर्य ऋतुर्जनीनाम्॥ -अथर्व०-७.४९.२

२८ अथर्व०-१४.१.२०, १४.१.४३

२९ अथर्व०-३.३०.२

३० माता पुत्रत्वस्य भूयांसि कर्माण्यारमते तस्यां शुश्रूषा नित्य पतितायामपि। आप०धर्म०-१.१०.१८.९

३१ अथर्व०-२.६३.३

में उसे **वशिनी** कह कर उसका अधिकार स्वीकार किया है।[३२] वह पति के घर में जाकर वैसे ही सम्राज्ञी बनती है जैसे नदियों का वृषा समुद्र। इस उपमा से स्पष्ट है कि नदियाँ जैसे अपना समस्त जल समुदाय समुद्र को अर्पण कर देती है, ऐसे ही घर के समस्त धन पर उसी का अधिकार है।[३३] अथर्ववेद का एक अन्य मन्त्र पत्नी के अधिकारों की ओर सङ्केत करते हुए कहता है-

अहं वदामि नेत् त्वं सभायामह त्वं वद।
ममेदसस्त्वं केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन।। अथर्व०-७.३८.४

अर्थात् घर के कार्यों में पत्नी बोले और बाहर के कार्यों तथा सभा आदि में पति बोले। **उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्वति। सपत्नीं मे परा णुद पतिं मे केवलं कृधि-** इस मन्त्र में पति पर पत्नी के एकाधिकार होने सङ्केत प्राप्त होता है।[३४] यहाँ पत्नी को धर्मपत्नी तथा पति को गृहपति माना गया है। जैसा कि इस मन्त्रांश में स्पष्ट कथन मिलता है-

पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव। अथर्व० १४.१.५१

अथर्ववेद नारी को यज्ञाधिकारिणी मानता है तथा स्त्री के यज्ञ भाग लेने का उल्लेख प्राप्त होता है।[३५] कुछ स्थलों पर स्त्रियों के सभा तथा समिति में जाकर भाग लेने तथा अपने मत प्रस्तुत करने का भी उल्लेख मिलता है।[३६] इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि अथर्ववेदवर्णित नारी को घर में सभी प्रकार के अधिकार प्राप्त थे। उसे यज्ञ में भाग लेने का अधिकार प्राप्त होने के साथ-साथ सभा में अपने मत प्रस्तुत करने का भी अधिकार था।

६. अथर्ववेद में वर्णित नारी के कर्त्तव्य-

अथर्ववेद में स्त्री के अधिकारों के साथ-साथ उसके कर्त्तव्यों का भी वर्णन प्राप्त होता है। अथर्ववेद कहता है कि प्रत्येक नारी का कर्त्तव्य है कि वह पति के आदेशानुसार चले तथा पति की इच्छानुसार कार्य करे- **आजामि त्वाजन्या परि मातुरथो पितुः। यथा मम क्रतावसो मम चित्तमुपायसि।।**[३७] वह सदा पति के अनुकूल रहे, पति का कभी विरोध न करे।[३८] पति से मधुर और शान्तिपूर्ण वचन कहे तथा पति के सङ्ग होकर जीवन को अमृतमय बनावे। जैसा कि अधोलिखित मन्त्रों में सङ्केत दिया गया है-

जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्।। अथर्व०-३.३०.२
पत्युरनुव्रता भूत्वा सं नह्यस्वामृताय कम्।। अथर्व०-१४.१.४२

अथर्ववेद में एक अन्य स्थल पर स्त्री के कर्त्तव्यों का उल्लेख करते हुए कहा गया है-**सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शं भूः। स्योना श्वश्र्वै प्र गृहान् विशेमान्।।**[३९] अर्थात् वह परिवार का कल्याण करने

---

३२ गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि।। अथर्व०-१४.१.२०
३३ अथर्व०-१४.१.४३
३४ अथर्व०-३.१८.२
३५ पत्नी यद्दृश्यते पत्नी यक्ष्यमाणा जरितरोऽथामौ दैव। होता विष्टीमेन जरितरोऽथामौ दैव। अथर्व०-२०.१३५.५
३६ अहं वदामि नेत् त्वं सभायामह त्वं वद। ममेदसस्त्वं केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन।। अथर्व०-७.३८.४
३७ अथर्व०-३.२५.५
३८ एवा भगस्य जुष्टेयमस्तु नारी संप्रिया पत्याविराधयन्ती। अथर्व०-२.३६.४
३९ अथर्व०-१४.२.२६

वाली, पति, सास-ससुर आदि के लिए सुखद हो। वह सूर्योदय से पूर्व उठकर यज्ञ करे।[४०] वह प्रतिदिन यज्ञ करे। वह ससुर आदि के सामने जाने पर लज्जा करे, जैसे सूर्य की किरणों के सम्मुख कृमि आदि। यथा-ये सूर्यात् परिसर्पन्ति स्नुषेव श्वशुरादधि। बजश्च तेषां पिङ्गश्च हृदयेऽधि नि विध्यताम्।[४१] स्त्री के कर्त्तव्यों में सूत कातना और वस्त्र बुनना भी सम्मिलित हैं। अधोलिखित मन्त्र इस तथ्य की ओर सङ्केत करता है-

या अकृन्तन्नवयन् याश्च तत्निरे या देवीरन्तां अभितोऽददन्त।
तास्त्वा जरसे सं व्ययन्त्वायुष्मतीदं परि धत्स्व वासः। अथर्व०-१४.१.४५

अथर्ववेद में नारी (स्त्री) के कुछ दैनिक कर्त्तव्यों का भी उल्लेख प्राप्त होता है यथा-घर में जल भर कर रखना, स्वच्छ जल भर कर लाना, पानी भरने जाना, यज्ञ करना, सुन्दर वस्त्र और आभूषण पहनना, ऋतु के अनुकूल भोजन करना, अतिथि-सत्कार करना, घर की व्यवस्था करना आदि।[४२] **इह प्रियं प्रजायै ते समृध्यतामस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि। एना पत्या तन्वं सं स्पृशस्वाथ जिर्विर्विदथमा वदासि**-अथर्ववेदीय मन्त्र स्त्री को गृहस्थ-कार्यों के प्रति सदा जागरूक रहने की ओर सङ्केत करता है।[४३] **धाता रातिः सवितेदं जुषन्तामिन्द्रस्त्वष्टा प्रति हर्यन्तु मे वचः। हुवे देवीमदितिं शूरपुत्रां सजातानां मध्यमेष्ठा यथासानि**-मन्त्र में कहा गया है कि दिव्य, अद्वितीय एवं अखण्ड व्रतवाली गुणसम्पन्ना स्त्री वीरपुत्रों को जन्म देने वाली हो।[४४] अथर्ववेदीय मन्त्र **प्रोष्ठेशयास्तल्पेशया नारीर्या वह्यशीवरीः। स्त्रियो याः पुण्यगन्धयुक्ता सर्वाः स्वापयामसि** (अथर्व०४.५.३)-में स्त्रियों के शयन स्थान में तख्त, पलङ्ग, मञ्च एवं हिण्डोला आदि का उल्लेख प्राप्त होता है। उनके सुगन्धित द्रव्य लगाने का भी वर्णन है। स्त्री का कर्त्तव्य है कि वह पतिव्रता हो, सद्भावयुक्ता हो, मधुरभाषिणी एवं सरल स्वभाव वाली हो। जैसाकि अधोलिखित मन्त्रों में निर्दिष्ट है-

शुचा विद्धा व्योषया शुष्कास्याभि सर्प मा। मृदुर्निमन्युः केवली प्रियवादिन्यनुव्रता। अथर्व०-३.२५.४

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि नारी सृष्टि का आधार है। वैदिक वाङ्मय विशेषतः अथर्ववेद में नारी शक्ति गृहरक्षिका, सन्तानवर्धिका, पति की सहयोगिनी एवं पिता की कृतज्ञा के रूप में दृष्टिगत होती है। नारी के बिना संसार के सञ्चालन एवं प्रगति की कल्पना करना दुर्लभ है। वह माता, पत्नी, बहन तथा कन्या के रूप में घर की शोभा है। अथर्ववेदीय नारी को समाज में पुरुष के समान वेदाध्ययन अधिकार, धार्मिक अधिकार, सामाजिक अधिकार, तथा राजनीतिक अधिकार प्राप्त हैं। कुछ संदिग्ध स्थलों को छोड़कर उसके उदात्त रूप को प्रस्तुत किया गया है, उसे केतु, मूर्धा तथा तेजस्विनी कहने के साथ-साथ पति द्वारा अनुकरणीय माना है। यदि मानव जीवन में उन्नति चाहता है तो उसे नारी की महत्ता को स्वीकार करने के साथ-साथ उसे सम्मान प्रदान करना होगा।

---

४० आ रोह तल्पं सुमनस्यमानेह प्रजां जनय पत्ये अस्मै। इन्द्राणीव सुबुधा बुध्यमाना ज्योतिरग्रा उषसः प्रति जागरासि॥ अथर्व०-१४.२.३२

४१ अथर्व०-८.६.२४

४२ अथर्व०-११.१.१३-१७

४३ अथर्व०-१४.१.२१

४४ अथर्व०-३.८.२

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०१० अङ्क १३ (पृ०७७-८२)

विश्वहिताय वैदिकी अभयभावना

डॉ० विजयलक्ष्मीः[१]

भीस्तु सर्वासामेव आपदां निधानम्। सभयो हि समर्थो न भवति आत्मत्राणे, अन्येषां तु का कथा। भीतिः मानवं तथा पीडयति यथा न अरातयोऽपि। अभयचेतसा तु जनः सहजभावेन प्रवर्त्तते कार्यक्षेत्रे। विगतभया एव भवन्ति भाजनानि समस्तसुखानाम्। अद्यतनीये परिवेशे विरला एव जना सत्यं वक्तुं पारयन्ति परं निर्भयो जनः प्रभवति तथ्यं प्रस्तोतुम्।

अभयप्रधानेन मनसा जीवने जनः साधयति असाध्यमपि, अवाप्नुते च अमन्दमानन्दम्। भिया क्रियमाणेषु कार्येषु मानवानां न तथा प्रीतिर्जायते यथा भयरहितेन चेतसा विधीयमानेषु कृत्येषु। यदा जनः जगति सर्वत्र अभयत्वम् अनुभवति तदा स्नेह-उदारता-स्थिरता-अहिंसा-मैत्री-करुणा-मुदिता-सहिष्णुता-आत्मविश्वासादयो गुणाः सामाजिकानां स्वान्तेषु समुद्भूता भवन्ति। चेतसि जायमानास्ते गुणा जनानां वाचि आचारे व्यवहारे च मूर्तरूपामाकृतिं लभन्ते। वेदा हि सन्ति समस्तानां ज्ञानानां विज्ञानानां व्यवहाराणामाधारभूताः। विद्यन्ते च वेदेषु विविधा अभयप्रार्थनापरा मन्त्राः। न केवलमात्महिताय अपितु समस्तचराचराय अभयकामना अवलोक्यन्ते वेदभगवति-

यतो यतः समीहसे ततो नो ऽ अभयं कुरु। शं नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः॥[२]

मन्त्रेऽस्मिन् समेषां स्थावरजङ्गमानां कृते अभयप्रार्थना विहिता वर्त्तते अर्थात् समस्ताः सत्त्वाः अस्मान् प्रति कल्याणकारिणः स्युः, वयमपि तेषां हितरक्षणे च प्रयत्नशीलाः भवेम। भयदृष्ट्या मानवाः निम्नतराः पशूनामपेक्षया, पशवस्तु समुपस्थिते हि भीतिकारणे भीताः भवन्ति, पशूनां प्रकृतिरियं यदि तेषां जीवनाय भयं नास्ति तदा ते अन्यान् न भाययन्ति, अभिज्ञानशाकुन्तल-उत्तरामचरितादिग्रन्थेषु आगताः प्रसङ्गाः विदुषां कृते विदिता एव स्युः। तथा च रामायणे

इममाश्रममागम्य मृगसंघा महीयसः। अहत्वा प्रतिगच्छन्ति लोभयित्वाकुतोभयाः॥[३]

वनगमनकाले कौशल्यापि रामाय अभयत्वमुपदिशति।[४]

परं वयं बुद्धियुक्ताः मनीषिणो मानवा अन्योन्यं भीतिमुत्पादयन्तः स्वयमपि भीताः जीवनं यापयामः। जनास्तु अतीतं भयं संस्मृत्य अनागतभयञ्च मनसैवोत्पाद्य विचार्य च भीता भवन्ति। वेदे ज्ञातभयादज्ञातभयाद् वयं दूरीभवेम इति रुचिरतया प्रतिपादितम्[५] हितोपदेशेऽपि बहुशोभनमुदीरितम्-

तावत् भयान्न भेतव्यं यावद् भयमनागतम्। आगतं तु भयं वीक्ष्य प्रहर्त्तव्यमभीतवत्।[६]

---

१ संस्कृत-प्रवक्त्री, सनातनधर्ममहाविद्यालयः, मुजफ्फरनगरम् उ.प्र.

२. यजु० ३६.२२

३. वाल्मीकिरामायणम् ३.७.१८

४. वाल्मीकिरामायणम् २.२५.१७, राक्षसानां पिशाचानां रौद्राणां क्रूरकर्मणाम्। क्रव्यादानां च सर्वेषां मा भूत् पुत्रक ते भयम्॥

५. अथर्व० १९.१६.६, अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं पुरो यः। अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु।

६. हितोपदेशः १.५७.११

देशकालपरिस्थित्यनुसारं बहूनि खलु भीतिकारणानि परं शैशवे प्राप्ताः संस्काराः, परिवेशः, अनर्थभयम्, दृष्टा श्रुता घटनादुर्घटना वा सामान्यरूपेण भीतिकारणानि लोके। शैशवे काले प्रायशः मात्रा पारिवारिकजनैश्च बालमनसि अनेका भयोत्पादकाः भावाः समारोप्यन्ते यथा- आगमिष्यति मूषकः विडालः वानरो वा आभिः बिभीषाभिः भीताः बालाः पर्यावरणेन सह आत्मीयं सम्बन्धं स्थापने सहजभावं नानुभवन्ति, तत्पश्चाच्च विद्यालये पठनस्य भयम्, शिक्षकस्य भयम् अंकानां भयम्, पित्रोरग्रजानां वा भयम्, एवं भयमेव भयम्, जीवनं कुत्र? परं वेदभगवता मानवाः निर्दिष्टाः सर्वथा अभयजीवनाय[७]

अभयं न करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे।

अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु॥

अद्यत्वे C.D. इति यन्त्रे आविष्कृताः। क्रीडा अपि मारणं हननं विनाशमेव शिक्षयन्ति बालान् तथाविधाः क्रीडाः नोपकाराय बालानामपितु अपकाराय एव। अनेन बालमनसि स्थिताः कोमलाः भावाः विनष्टप्राया भवन्ति, परिणतिरूपेण बालकेषु अनेका दुष्प्रवृत्तयो विशेषतस्तु क्रूरतादुष्टतादय बालमनसि प्रविष्टा वर्धमानाश्च द्रष्टुं शक्यते, इमे भयसंस्कारा भाविनि जीवने जनयन्ति नैकान् क्लेशान्।

परिवेशजभयम्-

यत्र वसति मानवः तत्स्थानम् राष्ट्रं तत्रत्यं पर्यावरणं सामाजिकं वातावरणं च परिवेशनाम्ना ज्ञायते। सन्दर्भेऽस्मिन् बहुशोभनमुक्तं रामायणकारेण- यदयोध्यायां जनाः दुर्भिक्ष-वातजाग्निजतस्करभयैः रहिता आसन्[८]। इमा सन्ति समाजिकानां जीवने जायमानाः भीतयः। तस्करभयेन भीता लोकाः रात्रौ तु विश्रामं लभन्ते एव न, प्रत्युत दिवसेऽपि ते न सन्ति विगतभयाः। जयपुरनगरे नवम्बरमासे २००९ वर्षे अग्निना धनस्य, जनजीवनस्य महती हानिस्तु जाता एव, इतोऽपि अधिकतरं वातावरणे प्रवृद्धं प्रदूषणं जीवानां तेषां जीवातुभूतानाञ्च विनाशाय एव जातम्, प्रदूषणस्यास्य दुष्प्रभावः जनजीवनं बहुकालं यावत् दंक्ष्यति।

वातजभयम्-

मुम्बईनगरे २००९ वर्षान्ते आगतः Cyclone Phyan नामकः वातोत्पातः विनाशकारक आसीत्। विगतवर्षेषु Katrina इति वातेनापि बहु अपकारः जातः लोकस्य। एतादृशानां भयानां निराकरणाय सर्वकारैः जनैश्च सम्मेल्य प्रकृतिसंरक्षणाय, लोकेषु नैतिकगुणसंवर्धनाय च प्रयत्नो विधेयः। वेदेऽपि कथितम् इन्द्रस्य (राज्ञः) सख्ये वयं अभयाः स्याम[९]-

सख्ये त इन्द्र वाजिनो मा भेम शवसस्पते। त्वामभि प्र णोनुमो जेतारमपराजितम्॥

अर्थात् वयं अनन्तबलस्य स्वामि-इन्द्रस्य (नृपतेः) सख्यं विन्देम येन वयं कदापि कुत्रापि भीताः न भवेम। तमसातटे समागतान् पुरवासिजनान् प्रति रामस्योक्तिः सन्दर्भेऽस्मिन् अवधेया खलु-[१०] कथयति राम- भरतः भवतां समेषां भयानामपहारको भविष्यति यतो हि भरतो वर्तते ज्ञानवृद्धो गुणान्वितश्च। अनेन रामवचसा

७. अथर्व० १९.१६.५.

८. वाल्मीकिरामायणम् १.१.९०, ९२, ९३, प्रहृष्टः मुदितो लोकस्तुष्टः पुष्टः सुधार्मिकः। निरामयो ह्यरोगश्च दुर्भिक्षभयवर्जितः। न चाग्निजं भयं किञ्चिन्नाप्सु मज्जन्ति जन्तवः। न वातजं भयं किञ्चिन्नापि ज्वरकृतं तथा॥ न चापि क्षुत् भयं तत्र न तस्करभयं तथा। नगराणि च राष्ट्राणि धनधान्ययुतानि च॥

९. ऋक् १.११.२.

१०. वाल्मीकिरामायणम् २.४७.८, ज्ञानवृद्धो वयो बालो मृदुर्वीर्यगुणान्वितः। अनुरूपः स वो भर्ता भविष्यति भयापहः॥

स्फुटीभवति यत् राजानः स्युः ज्ञानशालिनः, पराक्रमशीलाः उदारप्रकृतयश्च, तदैव ते प्रजानां भीतिनिवारणे क्षमाः भवेयुरिति। कोसलजनपदं वर्णयता राममुखेन जगाद वाल्मीकिः[११]-परित्यक्तो भयैः सर्वैः।

साम्प्रतं विश्वस्मिन् विश्वे व्याप्तो वर्त्तते विविधानामातंकिसङ्गठनानां भयम्, एभिः संत्रस्तो लोको न कुत्रापि निर्भरमाबध्नाति पदम्। राजनीतिकदृशा तु वशमापन्नो शत्रुः न मोक्तव्यः यतो हि तथाविधः दुरात्मा अधिगते हि बले अवकाशे अवसरे वा अवश्यं प्रहरति। भीषयते च जनान्। वर्त्तमाने राजनीतिकपरिवेशे राजनीतिकजनैः विचारणीयः मननीयः महाराजविदुरस्य विधिरयम्[१२]। येन प्राणिनः सर्वत्र प्राप्नुयुः अभयत्वम्। इमे आतंककारिणः साहसहीना भीरव एव। वीरताविषये कथितञ्चैकेनचिद् विदुषा-The idea of a warrior is based on a sense of fundamental fearlessness...Warriorship is a basic sense of unshakeability. It*s a sense of immovability and self-existing dignity rather than you trying to fight with something else. Chogyam Trungpa (Times Of India Nov 9, 2009)

अथर्ववेदे कथितं इन्द्रविषये यदसौ वृत्रहा वर्तते स अस्मान् सर्वासु दिक्षु रक्षेत्-

स रक्षिता चरमतः स मध्यतः, स पश्चात्स पुरस्तान्नो अस्तु।
इन्द्रस्त्रातोत वृत्रहा परस्फानो वरेण्यः॥[१३]

अत्र चाग्रिमेऽपि सूक्ते अतिरुचिरतयाभिहितम्-

असपत्नं पुरस्तात्पश्चान्नो अभयं कृतम्। सविता मा दक्षिणत उत्तरान्मा शचीपतिः॥[१४]

अभिप्रायोऽयं यद् हे ईश्वर (सविता) संसृतौ सर्वत्राकुतोभयाः वयं वसेम।

अनर्थभयम्-

अनर्थभयमपि संसारे भयस्य अन्यतमं कारणम् अनेन भीताः देहधारिणः कानिचन लोकोपकारकार्याणि कुर्वन्ति इति तु सम्यक्, परं यदि भयं विहाय पावनचेतसा इदं सर्वं कृतम्भवेत् तर्हि तु श्रेयस्करम्, परं सभयाः जना यदा पशूनां बालानां वा बलिं यच्छन्ति स्वकीयपापनिवृतये तत्तु भयावहः। अस्मिन्नेव नवम्बरमासे पंचविंशतिशतकोटिरुप्यकाणामनियमिततासु (२५००करोड़) संलिप्तः झारखण्डराजस्य श्रीमधुकोड़ा इत्याख्यस्य पूर्वमुख्यमन्त्रिणः पत्न्या एकादशाजानां बलिः दत्तः।[१५] मूकानां विपन्नानां शरणागतानां तेषां वराकाणां जीवानां घातने कथं स्यादनर्थस्य निवारणम्। इतोऽपि आश्चर्यकरं यदिदमखिलं कृत्यजातं धर्मनाम्ना कृतम्। यदि तासामजानां पालनं तया स्वीकृतम्भवेत् तर्हि तु कार्यमिदं कल्याणाय कल्पेत, भवेच्च श्रेयस्यकरमुभयोः कृते। सन्दर्भेऽस्मिन् आचार्यचाणक्यस्य मतमवधेयं खलु, आचार्यचाणक्यस्तु भयहेतुना कृतमादानम्प्रदानञ्च स्तेयरूपेणाङ्गीकरोति तथा च तस्य कृते कठोरदण्डव्यवस्थामादिशति। तद्यथा-

दण्डभयादाक्रोशभयादनर्थभयाद् वा भयदानं प्रतिगृह्णतः स्तेयदण्डप्रयच्छतश्च।[१६]

---

११. वाल्मीकिरामायणम् २.१००.४५.
१२. विदुरनीतिः ६.२८,
१३. अथर्व० १९.१५.३.
१४. अथर्व० १९.१६.१.
१५. द्रष्टव्यः ९ नवम्बर, २००९ ऊग्से र्द घ्र्ह्ण्रे, ङ्घे ह्द-४
१६. अर्थशास्त्रम् षोडशः अध्यायः, प्रकरणम् ७०

दृष्टा श्रुता घटना दुर्घटना वा-

कदाचित् लघीयसी एव घटनापि भयहेतुतामावहति। यस्मिन् स्थले गृहे देशे वा आत्मीयबन्धुभिराघातं कष्टं वानुभूतम्भवेत्, तत्र व्यवहरणे आचरणे च मानवानां मानसेषु स्वाभाविकी आशंका भवत्येव इति संसृतौ प्रत्यहं प्रत्यक्षीक्रियते जनैः, परं ऋग्वेदस्यैका ऋक् मनोहररीत्या निराकरोति तादृशमपि साध्वसम्-

इन्द्र आशाभ्यस्परि सर्वाभ्यो अभयं करत्। जेता शत्रून् विचर्षणिः॥[१७]

अर्थात् जयशीलः इन्द्रः प्राणभृतां कृते समस्ताभ्यः दिग्भ्यः अभयं प्रयच्छति। तथा च अन्यस्मिन्नेकस्मिन् मन्त्रे प्रतिपादितम्-[१८] हे आदित्य! यदा भयमागच्छेत् तदा तव सान्निध्यमहमाप्नुयाम्, अर्यमन् त्वया निर्दिष्टे पथा गच्छन्नहं सर्वाणि दुरितानि दूरीकुर्याम्।

वेदे प्रतिपदं प्रेरिता प्राणिनः निर्भयजीवनाय, अनेनैव सह निर्दिष्टाश्च पापापाकरणाय। अशुभकर्मभिः विरहितस्य जनस्य जीवनं जायते जनकल्याणाय, आत्महिताय च, एवंविधे जीवने नास्ति किञ्चिदपि भयकारणम्।

प्रमादः

वेदे प्रार्थितम्- **असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवे-दिवे**[१९] -देवाः प्रतिदिनं निष्प्रमादिनः सन्तोऽस्मद् रक्षकाः भवन्तु। प्रमादिनः खलु जनाः कालेन कार्यमकुर्वाणाः भयमवनतिञ्चोभयं लभन्ते। अथर्ववेदस्यैकस्मिन् सूक्ते निर्भयजीवनाय महत्त्वपूर्णानि सूत्राणि दत्तानि, तत्र ज्ञापितम्[२०] यथा सूर्यचन्द्रमसौ निर्भयरूपेण पक्षपातमपहाय स्व कीयानि विहितकर्माणि नियमानुसारं सम्पादयतः,यथा नियतकर्मसु व्यापृता इमे देवाः तिष्ठन्ति गतभयाः, वेदस्य सन्देशः मनुष्या अपि तथैव व्यवहरन्तु दैनन्दिने जीवने। तैरपि पक्षपातं परित्यज्य कालेन कार्यं कुर्वद्भिः भाव्यम्। दयादाक्षिण्यदानादयः दीपयन्तु तेषां जीवनानि। अन्यत्रापि कथितम्[२१]

स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्यचन्द्रमसाविव। पुनर्ददताघ्नता जानता सङ्गमेमहि॥

अथ च अहोरात्रं साधु विभज्य, समस्तकार्यकलापार्थं समयनिर्धारणं कृत्वा जीवने आचरेच्चेत् तत्र न स्यात् प्रमादावसरः। कालेन विधीयमानेषु कृत्येषु भयावसरोऽपि नैवोपपद्यते। एवं सुविचार्य अवहितेन चेतसा कृतानि कार्याणि परिणामे रमणीयानि भवन्ति, नास्त्यत्र सन्देहावसरः।

साध्वसे जने हिंसाया भावाः प्रादुर्भवन्ति, तेन हिंसा द्वेषादयः दुर्गुणाः मानवानां चेतांसि दूषयन्ति। प्रकरणेऽस्मिन् रामायणं कथयति- भयं भीतात् हि जायते, पशवः पक्षिणः मानवा वा स्युः संसारे प्रत्यहं प्रत्यक्षीभवति यत् भीता अन्यान् भाययन्ति। मनीषिणा महर्षिपतञ्जलिना **अंहिसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः**[२२] इति प्रतिपादितम् योगदर्शने। सूत्रस्यास्य भोजवृत्तौ कथितम्-तस्याहिंसा भावयतः सन्निधौ सहजविरोधिनामप्यंहिनकुलादीनां वैरत्यागो निर्मत्सरतयाऽवस्थानं भवति। हिंस्रा अपि हिंस्रत्वं परित्यजन्तीत्यर्थः। मनसा वचसा कर्मणा हिंसात्याग एवास्ति सामाजिकेषु सख्यभावस्य कारणम्। परस्परं मैत्रीमापन्नाः सत्त्वाः निर्भया

---

१७. ऋक् २.४१.१२.

१८. ऋक् २.२७.५, विद्यामादित्या अवसो वो अस्य यदर्यमन् भय आ चिन्मयोभु। युष्माकं मित्रावरुणा प्रणीतौ परि श्वभ्रेव दुरितानि वृज्याम्॥

१९. यजु० २५.१४

२०. अथर्ववेदः २.१५.७-६।

२१. ऋग्वेदः ५.५१.१५

२२. योगदर्शनम् २.३५

एव स्युः। सामवेदे अभिहितं यत् हिंसापापादय अस्मज्जीवने न आगच्छन्तु[२३]। निर्भय एव जन आत्मत्राणे आत्मोत्थाने शक्तः सन् अन्येष्वपि अभयत्वमुत्पादयति। दक्षिण-अफ्रीका-राष्ट्रस्य प्राक्तनराष्ट्रपतिनेल्सनमण्डेलामहाभागेन प्रकरणेऽस्मिन् सम्यक् समुदीरितम्-

"ी ट्रीं दिस दले दैह ी, दले जैाहर्म ल्दर्देर्मत्त्ब ट्री द्वी. (ऊगसे द ग्ही_दन. ११, २००९.)

विदुरनीतावपि निगदितम्- **हिंसाबलमसाधूनाम्**[२४] तथा च **अहिंसैका सुखावहा**[२५]। महाभारतानुसारं तु हिंसायुक्तो ब्राह्मणः शूद्रत्वमेति- **हिंसानृतप्रियालुब्धाः सर्वकर्मोपजीविनः। कृष्णा शौचपरिभ्रष्टास्ते द्विजा शूद्रतां गताः॥**[२६]

अहिंसा पालनाय निर्भयता नितरामावश्यकी, भीरुः मानवोऽहिंसापालने कथं भवेद् कृतसङ्कल्पः। अभयता वर्त्तते अहिंसायाः प्राणसदृशः, प्राणिषु परस्परभयकारणेनैव हिंसा वर्धमाना वर्त्तते। भीतः त्रस्तः देशश्चं अपरदेशमाक्रामति, परमाणुतुल्यानां भीषणानां शस्त्रास्त्राणां संरक्षणे कोऽन्यः हेतुः। शस्त्रनिर्माणे यावती ऊर्जा, यावद् धनम्, यावान् कालात्ययो भवति तेन तु भोजन-भवन-बुभुक्षा-शिक्षा-स्वास्थ्यसदृशानि नैकानि आवश्यकानि जीवातुभूतानि वस्तुजातानि उपलब्धानि भवेयुः तस्य कृते अनिवार्यं परस्परविश्वाससम्पादनम्, अधिगते हि विश्वासे अभयत्वमागच्छति जनजीवने, अभयत्वेनैव निरस्त्रीकरणं शक्यम्, हिंसाया भावाः सामाजिकानां स्वान्तेषु समुत्पन्ना न भवेयुः येन निर्भयता आगच्छेत् जनजीवने इति प्रयासः समस्तैः सांसारिकैरनुष्ठेयः।

द्वेषः

यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि। मघवं छग्धि तव त्वं न ऊतिभिर्विद्विषो विमृधो जहि॥[२७]

हे इन्द्र! अस्मान् सर्वतः अभयं कुरु तथा येऽपि सन्ति द्वेषिणः तान् विनाशय, अर्थाद् भयमपाकरणाय द्वेषस्य विनाशोऽपि अनिवार्यः। ऋग्वेदेऽपि कथितं अस्मज्जीवने समायातान् द्वेषान् वयं स्वस्तिनौकया तरेम।[२८] साधूक्तं आंग्लविदुषा-

A bit of hatred that goes out of the heart of man comes back to him in full force, nothing can stop it, स्वेटमार्डनमहोदयेनापि लिखितम्-

What is this world but as you take it Thakrey (थैकरे) calls the world a looking glass that gives back the reflection one's own face, frown at it, it will look sourly upon you, and laugh at it, it is jolly companion

अभिप्रायोऽयं यत् यादृशा अपि भावाः हिंसा-अहिंसा-ईर्ष्या-प्रेम-द्रोह-स्नेहादय आगच्छन्ति अस्मद् हृदये तादृशाः एव भावाः प्रादुर्भवन्ति अन्येषामपि चेतस्सु। द्वेषे एकोऽन्यदपि महान् दोषो दरीदृश्यते यदयं दुष्टो द्वेष्टारमेव दशति सर्वप्राथम्येन, यतोहि हृदि प्रविष्टा दूषिता विचाराः मानवस्य मानसं मलिनीकुर्वन्ति तदनु

२३. सामवेद-पूर्वार्चिकः, पञ्चमः प्रपाठकः , पञ्चमः खण्डः ७। अपामीवामप स्रिधमप सेधत दुर्मतिम्। आदित्यासो युयोतना नो अंहसः॥

२४. विदुरनीतिः २.७५

२५. तत्रैव १.५७

२६. महाभारतं शान्तिपर्व १८१.१३

२७. अथर्व० १९.१५.१

२८. ऋग्वेदः ८.१६.११, स नः पप्रिः पारयति स्वस्ति नावा पुरुहूतः। इन्द्रो विश्वा अतिद्विषः॥

मनोशारीरिकमनामयत्वमुत्पादयन्ति। प्रत्यक्षमेव यदग्निः यत्रापि प्रज्वलिता भवति पूर्वं तदेव स्थानं भस्मीसात्करोति, अन्येषु स्थानेषु तु तस्य प्रवेशः पश्चादेव जायते। इत्थमेव ईर्ष्याद्वेषादयो दुर्गुणा अपि मानवस्य मनसः पावनतां शान्तिञ्च विदारयन्ति। सन्ध्यायां निर्धारितेषु मन्त्रेषु **योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः**[२९] पञ्चषः कथयित्वा द्वेषदमनाय भूयोभूयः प्रेरिताः मानवाः। अथर्ववेदस्यैकस्मिन्नन्यस्मिन्नपि मन्त्रे वयं न द्विष्मः, अतः अभयमस्तु सर्वत्र।[३०] अध्ययनेनानेन स्फुटीभवति यत् निर्भयतावाप्तये हिंसा द्वेषप्रमादसदृशाः दोषाः दूरीकरणीया।

वेद एकत्र[३१] कथितं यैः विविधज्ञानानि आत्मसात्कृतानि त एव वीराः। तथाविधाः वीराः भयरहिताः ज्ञानवन्तः सावधानेन चेतसा लौकिकनियमान् पालयन्ति, सत्यपि निर्भये चित्ते न कमपि पीडयन्ति, न केनापि विवदन्ते, न लङ्घयन्ति लोकमर्यादाम्, नापि तिरस्कुर्वन्ति साधून्। वृद्धावस्थायामपि विद्यां वर्धय इत्यस्ति वेदस्योपदेशस्तनुभृतां कृते। **जिर्विः विदथमावदासि**[३२] अर्थात् पश्चिमेऽपि वयसि विदथम्-ज्ञानं विद्या वा प्रचरसि। यतोहि अस्मिन् वयसि प्राणाः भवन्ति आदित्यरूपाः। यथा समेषां चराचराणामाधारभूत आदित्यः विश्वस्मिन् विश्वे स्वीयान् रश्मीन् आतनोति तथैव त्वमपि नैजं ज्ञानमनुभवञ्च समाजहिताय प्रदेहि।

ये जनाः जीवने ज्ञानमुपासते, परमेश्वरस्य मित्रतायां निवसन्ति सृष्टिनियमान् पालयन्ति, प्रमादिनः न सन्ति, हिंसादिदुर्गुणैः विरतास्सन्ति तेषां कृते न कुत्रापि किञ्चिदपि भयम्। भयकारणेनैवानेकानां मनोशारीरिकरोगाणामुत्पत्तिः अद्यतनीये समाजे विचारणीयो विषयः। अतस्त्याज्योऽयं दुर्गणः। वेदे अभयपदेन सह तमप्प्रत्ययस्य प्रयोगः पदस्यास्य माहात्म्यमुररीकरोति। तद्यथा-

पूषेमा आशा अनुवेद सर्वाः सो अस्माँ अभयतमेन नेषत्।
स्वस्तिदा आघृणिः सर्वं वीरोऽप्रयुच्छन् पुर एतु प्रजानन्॥[३३]

इत्थमिदं सर्वं पाठं पाठं कथयितुं शक्यते यत् वेदे निर्भयताविषयकाः बहवः मन्त्राः विद्यन्ते येषु वर्त्तते शोभन उपदेशः, यत्र विविधोदाहरणपुरस्सरं कृतमुपदेशमनुभूयाधीत्य चामन्दमानन्दमाप्नोति अध्येता। परिणामरूपेण अस्य स्वाध्यायशीलस्य मनीषिणो मानवस्य जीवनं च जायते नितरां निर्भयम्।

---

२९. अथर्व० ३.२७.१-६
३०. अथर्व० १९.१४.१, इदमुच्छ्रेयोऽवसानमागां शिवे मे द्यावापृथिवी अभूताम्। असपत्नाः प्रदिशो मे भवन्तु न वै त्वा द्विष्मो अभयं नो अस्तु॥
३१. ऋग्वेदः १०.६७.२
३२. अथर्व० ८.१.६
३३. अथर्व० ७.९.२

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०१० अङ्क १३ (पृ०८३-८८)

जन्द-अवेस्ता पर वेद का प्रभाव

डॉ० दिनेशचन्द्र शास्त्री[१]

डॉ० अमित कुमार[२]

मानव जीवन को सर्वप्रथम प्राप्त होने वाली प्राचीनतम ज्ञाननिधि 'वेद' है। इस तथ्य के आलोक में **'विश्ववारा प्रथमा संस्कृति'**[३] - अर्थात् धरा पर विकसित होने वाली प्रथम संस्कृति वैदिक है- इस स्वयं सिद्ध सिद्धान्त को भी किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। वेद को समस्त ज्ञान का भण्डार बताते हुए महर्षि मनु ने कहा **'सर्वज्ञानमयो हि सः।'**[४] हालांकि मनु का यह कथन पर्याप्त था, लेकिन फिर भी उन्होंने ज्ञान की सर्व विशिष्ट विधा 'धर्म' के लिए कहा **'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'**[५] क्योंकि **'यतोऽभ्युदयानिःश्रेयस् सिद्धिः सः धर्मः'**[६] अर्थात् जो मानव को सांसारिक अभ्युदय और उसके चिर प्रतीक्षित लक्ष्य परमानन्द निःश्रेयस् को प्राप्त कराए, वह धर्म कहलाता है।

कालान्तर में वेद पठन-पाठन में आई शिथिलता के कारण धर्म के नए-नए व्याख्याकार हुए। उनकी धर्म-व्याख्या अथवा समझ, नया नाम लेकर एक धर्म विशेष के रूप में प्रचलित हो गई। मनु की उक्त साक्षियों के प्रकाश में धर्म की इन नवीन व्याख्याओं का वैदिक छाया से मुक्त होना सम्भव न था। इसी कारण धर्म की सभी नूतन व्याख्याएं धर्म ग्रन्थ व उनके व्याख्याता सन्त अपने धर्मतत्त्व के लिए वेद के ऋणी हैं।

इस कड़ी में जिस सन्त ने सर्वप्रथम धर्मोद्धार सम्बन्धी यह कार्य किया उनका नाम जरथुस्त्र था। उनका धार्मिक मत पारसी (जरथुस्त्री) है और उनके द्वारा की गई धर्म की व्याख्या जन्द-अवेस्ता में आबद्ध है।[७] जन्द-अवेस्ता में 'अवेस्ता' मूल ग्रन्थ और 'जन्द' उसकी टीका, मूल व टीका को मिलाकर **जन्द-अवेस्ता** कहा जाता है। कहा जाता है कि मूल जन्द-अवेस्ता में २० लाख पद्य थे, जिनमें अब केवल ८३००० पद्य ही शेष हैं। इस ग्रन्थ के चार भाग हैं। १. यश्त, २. वीस्परत, ३. यस्न, ४. वेंदीदाद।[८]

यस्न- इसमें पूजा विधि का प्रतिपादन है। इसमें ७२ 'हा' (अध्याय) हैं। इसका गाथा नामक भाग प्राचीनतम माना जाता है। इन गाथाओं को महात्मा जरथुस्त्र के मुख से निकली ईश्वरीय वाणी कहा जाता है और ये प्राचीनतम भी हैं। *अहुनवइति, उश्नवइति, स्पेन्तामन्यु, वोहक्षथ्र, वहिश्तोइश्ति* ये पाँच गाथाओं के नाम से प्रसिद्ध हैं।

वीस्परत् - यह भी कर्मकाण्ड सम्बन्धी है। इसमें २३ अध्याय हैं।

---

१ रीडर, वेद विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार
२ अंशकालिक प्रवक्ता श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार
३ भूमिका भास्कर, स्वामी विद्यानन्द सरस्वती, पृष्ठ १८
४ मनुस्मृति २/६
५ मनुस्मृति २/७
६ वैशेषिक दर्शन १/१/२
७ धर्म का आदि स्रोत- प.गंगा प्रसाद, चीफ जस्टिस, पृष्ठ १२५
८ सर्वधर्मकोश- रामसरूप रसिकेश- पृष्ठ २०

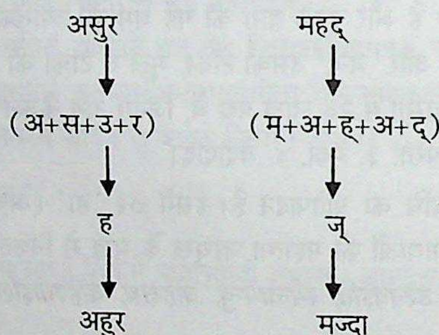
यस्न - देव स्तुतियों वाला भाग है।

वेंदीदाद - इसमें सामाजिक व व्यावहारिक विधियों का वर्णन है।

वेद की मूल संस्कृति और अवेस्ता की मूल संस्कृति में बहुत निकट का सम्बन्ध रहा है। यह सम्भव है कि वैदिक आर्यों की एक धारा अर्येन वएजह की ओर बढ़ी जिसने अवेस्ता की रचना की। संस्कृतियों में प्रवाहित होते भाव अनन्त काल तक निर्बाध गति से प्रवाहित होते रहते हैं जो साहित्य के माध्यम से कभी न कभी प्रस्फुटित होकर अपने नैरन्तर्य का परिचय देते हैं, जो हमें उनके ग्रन्थों में दृष्टिगत होता है।[९] इसी कारण अवेस्ता के भाषा विन्यास, दार्शनिक मान्यताएं, सामाजिक व धार्मिक जीवन पर वैदिक प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।[१०]

जन्द अवेस्ता के शब्दों पर वैदिक प्रभाव-

जन्द अवेस्ता का 'जन्द' शब्द धर्म पुस्तक और उसकी भाषा दोनों के लिए प्रयुक्त होता है। यह 'जन' धातु से निष्पन्न माना जाता है जो 'ज्ञान' से सम्बन्धित है।[११] इसी प्रकार महर्षि पाणिनि ने वेद की भाषा को 'छन्द' कहा है और वेद का नाम 'छन्द' भी कहा है।[१२] छन्द का अपभ्रंश जन्द के रूप में विद्वानों को सर्वथा मान्य है।[१३] 'अवस्था' अर्थात् स्थापित की गई व्यवस्था, जन्द की भाषा में 'अवेस्ता' बन जाती है। इस प्रकार '**छन्द के रूप में की गई व्यवस्था**' 'जन्द-अवेस्ता' नाम ही का अर्थ देकर वेद का प्रभाव अपने ऊपर स्पष्ट दिखाता है। वेद का असुर ईश्वर के 'प्राणदाता' स्वरूप का वर्णन करता है[१४] और वेद का महद् शब्द महान् अर्थ वाला है।[१५] अवेस्ता में यह असुर 'अहुर' में और 'महद्' मज्दा के रूप में मिलता है। अहुर-मज्दा का जन्द में अर्थ महान् प्राणदाता अर्थात् ईश्वर ही है।



---

९ वेद और अवेस्ता- डॉ. सिद्धनाथ शुक्ल का निबन्ध, पृष्ठ ७२

१० द्रष्टव्य- धर्म का आदिस्रोत- पं. गंगा प्रसाद चीफ जस्टिस, पंचम अध्याय Indo-Iranian Religion with Parallelism in the hindu and Zorostrian scriptures, Bombay-१९२५

११ डॉ. हाग का उद्धरण- धर्म का आदिस्रोत- पं. गंगा प्रसाद चीफ जस्टिस, पृ. ७४

१२ द्रष्टव्य- 'बहुलं छन्दसि' नामक सूत्र पाणिनि अष्टाध्यायी में यत्र तत्र फैले हैं।

१३ Chips from a vedic workshop. Vol- I, Maxmullar P.- ८४

१४ तनूनपादसुरो विश्ववेदा देवो देवेषु देव- यजु. २६/१२ अयं देवानामसुरो विराजति। अथर्व. १/१०/१

१५ महत्तन्नाम गुह्यं पुरुस्पृग्येन भूतं जनयो येन भव्यम्। ऋग् १०/५५/२ त्वामग्ने अंगिरसो........ महतत्तवामाहुः। ऋग् ५/११/६ महत्तद्विष्णो असुरस्य नाम ऋग्. २/३८/४

यह तथ्य सामवेद के ब्राह्मण मन्त्र ब्राह्मण[१६] और गोभिल गृह्यसूत्र में आए 'अहुर' शब्द से भी स्पष्ट होती है।[१७] वेद शब्द अवेस्ता में 'वएदम्' के रूप में मिलता है। वदएम् को आचार्यों ने विद्लृ लाभे धातु से निष्पन्न किया है जिससे वेद शब्द भी सिद्ध किया जाता है। यदि वेद की एक अन्य व्युत्पत्ति विद्लृ-ज्ञाने से इसको ज्ञान अर्थात् पवित्र गाथा के रूप में समझा जा सकता है और इस अर्थ में यह गाथा में वीदुश्[१८] वएदम्नो[१९] वएदा[२०] वीदुये[२१] वीद्वाओ[२२] वीस्तो[२३] के रूप में मिलता है।[२४] इनको हम क्रमशः वेदम्, वेदाः, वेदेन, वेदमनो, वेदोक्तम्, वेदेमनो, वेदिष्ठो के भाव वाला मान सकते हैं।[२५]

इतना ही नहीं यस्न ४५/५ में ईश्वर द्वारा वेद के ईश्वरीय वाणी और उससे प्रकट होने का स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है-

अत फ्रवख्यया ह्यत् मोइ प्रओत सेंपन्तो तॅमो।
वच स्रूइथाइ ह्यत् मरतएइब्यो महिश्तॅम्।।

अर्थात् अब मैं तुम्हें उसका शुभ आशीष क्या है उसके विषय में बताऊँगा। वह 'शब्द' है जो नैतिकता को जानने के लिए सर्वोत्तम व आवश्यक है।[२६]

यहाँ पर आये 'वच' शब्द का अर्थ 'वेद' किया जाए तो इस आयत और इससे पूर्व की आयत का भाव यजुर्वेद[२७] के उस मंत्र के भाव से साम्य रखता है, जहाँ वेद को वाचम् कहकर मनुष्य मात्र के लिए कल्याण करने वाला कहा गया है। 'कल्याण' का भाववाचक यहाँ 'सर्वोत्तम' है।

इसी प्रकार यस्न ४५/३,४,६ में क्रमशः *वीद्वाओ, वएदा, वीस्तो* के रूप में वेद को प्रथम सर्वोत्तम, सबसे बड़ी शिक्षा, उनका ईश्वर द्वारा जो अहुर के उपासकों को अनुदान में ईश्वर द्वारा दी गई है। यस्न १/१/१० कहता है कि-**त्वम् मज्दा अहुरा फ्रोमा सीषा थ्वह्यात वओचङ्हे।**

अर्थात् हे अहुर मज्दा तुमने मुझे अपने आशीर्वाद पूर्ण वाणी से शिक्षित किया। यह प्रमाण भी वेद वएदा, वच, वाच, वेद के ईश्वर द्वारा प्रदत्त होने का सूचक है।[२८]

वेद के अनेक शब्द अल्प परिवर्तन परन्तु समान अर्थ के साथ अवेस्ता में मिलते हैं। यथा-समान वर्तनी व अर्थ वाले शब्द[२९]

---

१६ १/६/२१
१७ The vedic origin of zorpastrianism- R.R. Kashyap i`B` ११
१८ गाथा- २९/१० व ३२/११
१९ गाथा- २८/४,
२० गाथा- २८/५
२१ गाथा- २८/१०
२२ गाथा- २९/३
२३ गाथा- २९/६
२४ गाथा- २९/६ व २९/८
२५ The Vedic origin of zorastrianism, R.R. Kashyap, Page ५८
२६ The Vedic origin of zorastrianism, R.R. Kashyap, Page ६२
२७ यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः- २६/२
२८ The Vedic origin of zorastrianism, R.R. Kashyap, Page ६४

क्रम	वैदिक भाषा	*जन्द भाषा*	अर्थ
१.	पशु	पशु	पशु
२.	उक्षन	उक्षन	बैल
३.	मक्षी	मक्षी	मक्खी
४.	यव	यव	जौ
५.	नमस्ते	नमस्ते	नमस्ते
६.	अथर्वन	अथर्वन	पुरोहित
७.	इन्द्र	इन्द्र	देवता
८.	गाथा	गाथा	भजन
९.	इष्टि	इष्टि	पूजन क्रिया
१०.	युज	युज	जोड़ना

२. समान अर्थ वर्तनी में अल्प परिवर्तन वाले शब्द[३०]

१.	अहि	अजि	सर्प, पाप, दानव
२.	वैद्य	वैध्य	चिकित्सक
३.	इषु	इशु	बाण
४.	रथेष्ठ	रथेस्थ	रथसवार
५.	अथ	अथा	इसलिए
६.	यौष्मक	यूष्माक	तुम, तुम्हारा
७.	द्वारम्	द्वरम्	द्वार
८.	स्तुतस्	स्तुतो	प्रार्थना
९.	चिद्	चीत्	भी
१०	यज्ञ	स्न	यज्ञ

भाषा विन्यास पर वैदिक प्रभाव-

उक्त प्रकार के शब्द अवेस्ता में बहुत बड़ी संख्या संख्या में हैं। इसी प्रकार वैदिक संस्कृत और जन्द-अवेस्ता के भाषा विन्यास में भी अनेक समानताएं हैं। अवेस्ता की भाषा व्याकरण में संस्कृत के समान तीन लिंग

२९ The vedic origin of zoroastrainisn, R.R. Kashyap, P- ३०-३१

३० धर्म का आदिस्रोत, प. गंगा प्रसाद जी,- पृ. ७१-७४

- पुल्लिंग, स्त्रीलिंग, नपुंसकलिंग, तीन वचन- एकवचन, द्विवचन, बहुवचन। संज्ञा व विशेषण की आठ विभक्तियाँ और *ऐवा* (एक) और *बेवर* (१००००) के अतिरिक्त अन्य संख्याओं के नाम समान हैं।[३१]

संस्कृत के समान उपसर्ग और प्रत्यय लगाकर अनेक शब्दों का निर्माण करना, सन्धि के नियम आदि व्याकरण सम्बन्धी नियम उपनियम अवेस्ता की भाषा में भी समान रूप से उपयोग में लाए जाते हैं। पं. गंगा प्रसाद जी ने जन्द के कुछ वाक्यांशों का अनुवाद प्रस्तुत किया है।३०[३२] यथा-

वैदिक भाषा	जन्द भाषा
विश्व दुरक्षो जिन्वति	*विस्प द्रुक्ष जनैति*
विश्व दुरक्षो नश्यति	*विस्प द्रुक्ष नशैति*
यदा शृणोति एतो	***यथा हणोति ऐषाम् वाचम्***[३१][३३]

अर्थ- प्रत्येक बुरी आत्मा का नाश हो जाता है, प्रत्येक बुरी आत्मा भाग जाती है जब वह इन शब्दों को सुनता है।

एक अन्य उदाहरण है-

इथा अत्र (आत्) यजामहे असुरम् ***इथा आत् यज महदे २ अहुरम्***
महान्तम् यः गाम् च इषम् च ***मज्दामं य गांमचा अषम्***
अदात् और्वरियाश्च वस्ती २ (च) रूपश्च अदात् ***चा दात् अपस्चा दात् उर्वरा***
भूमिम् च विश्वा च वसूनि। ***आस्चा बड्डहीश रओचाओस्चा***
दात् बमीम्चा वीस्पाचा वोहू।।[३४]

विद्वानों के अनुसार *औवरियाश्च* और *वसूनि* के अतिरिक्त सभी शब्द संस्कृत व्याकरणानुसार शुद्ध हैं।[३५] इन दोनों उदाहरणों व अन्य साक्षियों से पता लगता है कि अवेस्ता की भाषा में वचन, लिंग, विशेषण, विभक्ति, संख्याएं, उपसर्ग, प्रत्यय, सन्धि और शब्दान्त आदि के साथ-साथ छन्दों के प्रकार भी वैदिक भाषा से समानता रखते हैं। यस्न ३१/८ (जो ऊपर उद्धृत किया गया है) में आठ-आठ अक्षर के तीन पाद हैं जो वैदिक छन्द गायत्री के समान व्यवस्था वाला है।[३६] जन्द-अवेस्ता के गाथा भाग में गायत्री आसुरी उष्णिक् आसुरी और पंक्ति आसुरी मिलते हैं, जबकि वेद में छन्दों के ५६ प्रकार मिलते हैं। वैदिक सोम औषधि का वर्णन भी अवेस्ता में प्राप्त होता है। अवेस्ता में वेद के अनुसार ही सोम का दिव्य रूप स्वीकार किया गया है, वहां इसे 'सोमरुक्ख' संज्ञा दी गई है। जिस प्रकार वेद में इन्द्र और अग्नि के बाद सबसे अधिक सोम पर सूक्त समर्पित हैं, उसी प्रकार अवेस्ता में भी कई सूक्तों में इसकी स्तुति की गई है। वेद के समान ही अवेस्ता में भी सोम को औषधि रूप में प्रसारित किया गया है। अवेस्ता का यह प्रमाण उन लोगों के विरुद्ध एक पर्याप्त साक्ष्य है जो अपनी विद्वता के दंभ के फलस्वरूप सोम को आधुनिक शराब का रूप देना चाहते हैं।

---

३१ The Vedic origin of zorastrianism, R.R. Kashyap, Page १२
३२ धर्म का आदिस्रोत, पं. गंगा प्रसाद जी पृ. ७५-७६
३३ The vedic origin of zoraastrianism, R.R. Kashyap i`B 7&10] ;Lu& ३१८
३४ गाथा- ३७/१
३५ The vedic origin of zoroastrianism, R.R. Kashyap, P-१६
३६ धर्म का आदिस्रोत- पं. गंगा प्रसाद, पृष्ठ ७७

जन्द अवेस्ता पर वेद का प्रभाव उस समय और भी अधिक दृढ़ता व व्यापकता लिए हुए दिखाई देता है जब हम उसमें दार्शनिक, सामाजिक व धार्मिक तथ्यों के अतिरिक्त वेद मंत्रों के अंशों को ज्यों का त्यों समान अर्थों के साथ उद्धृत हुआ पाते हैं।[३७] जैसे-

अह्या यासा नमंहा उस्तानजस्तो रफ़्रग्रह्या (गाथा १/१/१)

ऋअस्य याचा नमसा उत्तानहस्तो रफ्रग्रस्यद्ध

गाथा का यह वचन ऋग्वेद ६/१६/४६ में इस प्रकार मिलता है- **उत्तानहस्तो नमसा विवासेत।।**

यहां गाथा व वेद में आए समान वाक्यांशों का अर्थ समान है। यथा- हाथ ऊपर उठाकर हृदय से उसकी उपासना करो। इसी अर्थ के साथ गाथा का यह वाक्यांश यजुर्वेद १८/७५ में भी प्राप्त होता है '**उत्तानहस्ता नमसोपसद्य**'।[३८] गाथा २/२/३ का वाक्यांश है ***कस्ना जांथा पता।*** यजुर्वेद १७/२७ के **यो न पिता जनिता यो विधाता** व अथर्ववेद २/१/३ के **स न पिता जनिता** का अनुवाद मात्र है वह सृष्टिकर्त्ता व रक्षक है।

इसी प्रकार यस्न- ५४/२/१ का वाक्यांश ***अइर्यमनम् यजमइदे*** अथर्ववेद **अर्यमणं यजामहे** (१४/१/१७) अर्यमन् को हम स्तुति द्वारा बुलाते हैं।[३९]

यस्न ६५/११ में आया 'आपो **यासामि**' जैसे ज्यों का त्यों ऋग्वेद १०/१/५ ***'अपो याचामि'*** सुलेख के रूप में लिख दिया गया प्रतीत होता है।[४०]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जन्द-अवेस्ता का लेखक पूर्ण रूप से वेद और उसकी विचारधारा का पोषक था। वह वैदिक मतानुसार ही धर्म की कुरीतियों का नाश करके वैदिक धर्म का प्रचार-प्रसार करने में संलग्न था। इसी कारण उसने वैदिक विचारधारा ही नहीं अपितु वेद मंत्रों को भी अपने ग्रन्थ का आधार बनाया। इस विवेचन से जहां पारसी मत पर वेद के प्रभाव का पता लगता है। वहां मनु का **'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'** व महर्षि दयानन्द का **'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है'** कथन सत्य सिद्ध होता है।

---

३७ वेद, अवेस्ता और सोम औषधि, उमेश कुमार सिंह द्वारा प्रस्तुत विश्व वेद सम्मेलन नवम्बर २००९, गु०कां० विश्वविद्यालय की गुरुकुल शोध पत्रिका विशेषांक में पृष्ठ ६२ पर प्रकाशित शोध लेख

३८ The vedic origin of Zoroastrianism, R.R. Kashyap, P- ९४

३९ The ethical conception of Gatha, J.M. Chatterji- P- १३२

४० तदेव पृष्ठ २०१ The vedic origin of Zoroastrianism, R.R. Kashyap, P- ९४

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०१० अङ्क १३ (पृ०८९-९३)

वैदिक वाङ्मय में आत्मदर्शन

डॉ० तुलसी देवी[1]

जीवन भौतिक और आध्यात्मिक तत्त्वों का मिश्रित रूप है। भौतिक सृष्टि का मूल 'प्रकृति' और 'प्रकृति' निर्मित शरीर को जीवन्त बनाने वाला आत्मतत्त्व है। 'सांख्य' ने सृष्टि के मूल प्रकृति और पुरुष (आत्मा) के संयोग को पङ्गु-अन्धवत् संयोग माना है।[2] तात्पर्य यह है, कि जिन दो मूल तत्त्वों से सृजन की प्रक्रिया पूर्ण होती है, उनमें से एक (भौतिक तत्त्व) जड़ है और दूसरा चेतन। जड़ में दर्शन की सामर्थ्य नहीं है। देखने वाला आत्मा है; क्योंकि वह चेतन है। शरीर में अवतरित होने के बाद आत्मा की यात्रा भौतिक जगत् से प्रारम्भ होती है; क्योंकि भौतिक पदार्थों के बिना शारीरिक धर्म का निर्वाह सम्भव नहीं है। अत एव, आत्मा प्रथमत; पदार्थ-दर्शन की ओर अग्रसर होती है। परन्तु जब तक आत्मा का दर्शन नहीं होता, तब तक जीवन का उद्देश्य पूर्ण नहीं हो पाता। परम शान्ति और आनन्द की प्राप्ति नहीं हो पाती,[3] जिसे पाने के लिए मनुष्य जीवन भर छटपटाता है। भौतिक सुख आते ओर चले जाते हैं, अट्टहास करते हुए। भौतिक-जीवन के इस कटु यथार्थ से परे अध्यात्म जगत् है, जहाँ शान्ति और आनन्द के साथ-साथ ऊर्जा का अजस्र और अक्षय भण्डार है। वह ऊर्जा जिससे लोक-जीवन की यात्रा भी सुगम हो जाती है।[4] वैदिक ऋषि उद्घोष करते हैं कि मधु का, आनन्द का स्रोत है वहाँ।[5] उसको पाने का मार्ग है- आत्मदर्शन अर्थात् आत्मा का दर्शन। इसके अतिरिक्त मुक्ति का दूसरा कोई मार्ग नहीं है।[6] विचारणीय प्रश्न है कि आत्मा का दर्शन कौन करेगा? देखने वाला तत्त्व तो केवल एक है और वह आत्मा है। तो क्या आत्मा ही आत्मा का द्रष्टा है? निःसन्देह शास्त्र कहते हैं कि आत्मा से आत्मा का दर्शन करे,[7] 'स्व' का दर्शन करे, द्रष्टा[8] 'स्व' में उतर जाए, अपने स्वरूप में स्थित हो जाए।

आत्मा के दर्शन का आत्मा से पृथक् कोई साधन नहीं है। उपनिषद् के ऋषि कहते हैं-'जिससे यह सब जाना जाता है, उसको किससे जानें'?[9] अपने शुद्ध स्वरूप का जानना नहीं होता, उसमें तो स्वरूप-स्थित होती है। अत एव आत्मदर्शन का अर्थ आत्मा के द्वारा आत्मा की अनुभूति है, 'स्व' की, अनुभूति।[10] आत्मा वै यज्ञः[11] इत्यादि वैदिक वाक्यों से यह पूर्णतः स्पष्ट होता है कि वैदिक ऋषियों की दृष्टि में उपास्य तत्त्व 'आत्मा' है। अपने

---

१ रीडर-संस्कृत-विभाग, म०गाँ०बा० पी०जी० कॉलेज, फिरोजाबाद उ०प्र०
२ सांख्यकारिका - २१
३ तैत्तिरीयो०- २.७ क रसो वै सः, रसं हयेवायँ लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। ख कठो० २.२.१२,१३-तमात्मसंस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्।,तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्
४ क- तैत्तरीयो-२.८. ख- मुण्डको०-३.१.९ यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा।
५ ऋग्वेद - १.१५४.५ विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः।
६ यजुर्वेद -३१.१८ तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।
७ कठो० - १.२.२२ महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति।
८ योगसूत्र - १.३ तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।
९ योगसूत्र - १.३ तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।
१० बृहदा० - २.४ येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्।
११ कठो - १.२.२३ आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।

भीतर स्थित यही तत्त्व जानने योग्य है।[१२] जो साधक अपने हृदय में स्थित आत्मा को निर्मल मन के द्वारा चिन्तन करके जान लेते हैं, वे अमृत हो जाते हैं।[१३] सदा के लिए जन्म-मरण के दुःखों से छूट जाते हैं।[१४] इसके विपरीत जो केवल भौतिक सुखों में लीन रहते हैं; और आत्म-स्वरूप को पहचानने का प्रयास नहीं करते, वे वस्तुतः अपनी आत्मा का हनन करते हैं।[१५]

शृण्वन्तो पि बहवो यं न विद्युः,[१६] **नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः**[१७] इत्यादि मन्त्रों के द्वारा वैदिक ऋषियों की यह अवधारणा मुखर होती है कि आध्यात्मिक जीवन की पूर्णता के लिए मात्र शास्त्र-ज्ञान का श्रवण, मनन आदि पर्याप्त नहीं है, इसके लिए अध्यात्म-योग की आवश्यकता है। ध्यान के द्वारा आत्मा में प्रवेश करके ही सत्य का सम्यक् दर्शन किया जा सकता है; क्योंकि वह अत्यन्त गूढ़ (दुर्दर्श), जीवात्मा में व्याप्त, हृदयाकाश में स्थित और सूक्ष्मातिसूक्ष्म है।[१८] प्रकारान्तर से 'केनोपनिषद्' में इसी आशय को व्यक्त किया गया है।[१९] 'शतपथ ब्राह्मण' में उल्लेख मिलता है कि शरीर में तो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, वही अध्यात्म है, जो आत्मा है, वह अमृत है तथा यह सब कुछ ब्रह्म है।[२०] वैदिक वर्णन-शैली में 'आत्मा पद जीवत्मा और परमात्मा[२१] दोनों अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। 'ईशावास्योपनिषद् के उपदेष्टा ऋषि कहते हैं कि हिरण्मयपात्र से सत्य का मुख ढका हुआ है। सत्यान्वेषण की जिज्ञासा को धारण करने वाला सत्यधर्मा साधक प्रार्थना करता है कि हे प्रभु! आप इस आवरण को दूर कर दो, जिससें कि मैं सत्य-स्वरूप का साक्षात्कार कर सकूँ।[२२]

साक्षात्कार की दृष्टि प्राप्त करने के लिए वैदिक वाङ्मय में विविध रूपकों के माध्यम से विवेचन प्राप्त होता है। यथा प्रणव धनुष है, आत्मा बाण और ब्रह्म लक्ष्य।[२३] इस उद्धरण में ईश्वर नाम (प्रणव) रूपी धनुष के साहचर्य से आत्मा रूपी बाण को परमात्मा में संलग्न करने का निर्देश दिया गया है। 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में ध्यान रूप मन्थन के अभ्यास से काष्ठ में व्याप्त अग्नि के समान आत्मदर्शन की प्रक्रिया वर्णित है।[२४] वैदिक ऋषियों का अभिप्राय यह है कि आत्मदर्शन के लिए जिस आभ्यन्तर दृष्टि को विकसित करने की आवश्यकता है, जिसके द्वारा आन्तर चेतना अर्थात् आत्मा का दर्शन होता है, उसके लिए ध्यानात्मक अभ्यास अपरिहार्य है।[२५]

---

१२ शतपथ ब्रा० - ६.२.१.७
१३ श्वेता० - १.१२ एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थम्।
१४ वही - ४..२० हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति।
१५ यजु० - ४०.३ तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।
१६ कठो० - १.२.७
१७ वही - १.२.२३
१८ वही - १.२.१२
१९ केनो० - १.३.८ न तत्र चक्षुर्गच्छति।
२० शतपथ ब्रा० - ४.५.५.१
२१ वही - ४.२.२.१ सर्वं ह्ययमात्मा।
२२ ईशावास्यो० - १५ हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। तत्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।।
२३ मुण्डको० - २.२.४ प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
२४ श्वेता० - १.१४ स्वदेहमरणिं कृत्वा. ....।
२५ यजु० - ११.२ युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे।

इस अणु आत्मा को चित्त से जानना चाहिए[२६] इत्यादि वर्णन परोक्ष को प्रत्यक्ष अर्थात् अनुभूतिगम्य बनाने का निर्देश देते हैं। कहने का आशय यह है कि परोक्ष अर्थात् अन्तरात्मन् पुरुष के साक्षात्कार के लिए बाह्य जगत् में अनुरक्त चित्त को अन्तर्मुखी बनाकर आत्मा में स्थिर करना चाहिए। अन्तर्निमग्नता ही आत्मदर्शन की योग्यता का आधार है। मनुष्य-शरीर में विराजमान गूढ़ देवात्म तत्त्व[२७] का रहस्योद्घाटन करते हुए 'अथर्ववेद' के ऋषि ने देवपुरी (शरीर) को अष्टचक्रा कहकर यही संकेत दिया है कि क्रमशः ऊर्ध्वगामी अष्टचक्रों में ध्यान केन्द्रित करने से ऊर्ध्वोन्मुख होती हुई चेतना द्वारा शुद्धात्मा का दर्शन होता है।[२८] द्रष्टा, जो देखने की शक्तिमात्र है, स्वरूपतः शुद्ध और निर्विकार होता हुआ भी विषयासक्त चित्त के सानिध्य से चित्त की वृत्तियों के अनुसार देखता हुआ सुख-दुःखादि का अनुभव करता है।[२९] ऐसे पुरुष को तत्त्ववेत्ता मनीषियों ने भोक्ता,[३०] कर्ता[३१] आदि नामें से अभिहित किया है। इसके विपरीत चित्त से किसी प्रकार का सम्बन्ध न रहने पर जीवात्मा का सुख-दुःखादि से मुक्त होकर अपने शुद्ध-स्वरूप में पुनः प्रतिष्ठित हो जाने का नाम आत्मदर्शन है। इसी को कैवल्य की संज्ञा दी गई है।[३२]

शरीर में रहने वाला अशरीरी आत्मा सूक्ष्म एवं गुह्यतम है।[३३] अत एव, इसकी प्राप्ति के साधन भी सूक्ष्म एवं आन्तरिक हैं। दार्शनिक भाषा में इन्हें अन्तःकरण[३४] कहा गया है, जिसका अर्थ है भीतरी साधन। इनमें से प्रमुख मन है। मन जीवात्मा को बाह्य जगत् से जोड़ने वाला प्रमुख उपकरण है। सभी ज्ञान मन के होने पर होते हैं। इसलिए बन्ध का कारण होने के साथ-साथ 'मोक्ष' का कारण भी मन को ही कहा गया है।[३५] मूल बात यह है कि मन को नकार नहीं सकते हैं। मन को विषयों के चिन्तन से पृथक् कर आत्मानुरागी बनाने का अभ्यास करने पर निर्मल हुए मन से आत्मा का दर्शन किया जा सकता है।[३६]

मन सतत प्रवाहमान विचारों का एक पुंज है। शान्त एकान्त भाव से ध्यान में बैठकर निरन्तर आते-जाते विचारों को तटस्थ भाव से देखने का अभ्यास करने पर विचारों का क्रम शनैः शनैः रुकने लगता है और एक स्थिति में आकर विचार शान्त हो जाते हैं, तब केवल आत्मतत्त्व की अनुभूति होती है। यही आत्मा का दर्शन है, आत्मा से जुड़ना है, आत्मा से योग है। शरीर और मन से परे अनुभव में आने वाला यही आत्मा है। अमृत को चाहने वाला कोई धीर (संयमी) और विवेकीपुरुष, ज्ञान की निर्मलता से जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो चुका है वह वह आवृतचक्षु होकर इस आत्मा को देख पाता है।[३७] तत्त्वदर्शी ऋषियों ने निगूढ़ देवात्मशक्ति को ध्यानयोग से

---

२६ मुण्डको० - ३.१.९ एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः।
२७ अथर्व० - १०.२.३२.३३
२८ वही - १०.२.३१ अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या। तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः।।
२९ योगसूत्र - २.२० द्रष्टा दृशिमात्रः'शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः।
३० कठो० - १.३.४ आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।
३१ भगवद्गीता - १३.२९ यः पश्यति तथात्मानमकर्त्तारं स पश्यति।
३२ योगसूत्र - ४.३४
३३ क- कठो० - १.२.२२ अशरीरं शरीरेषु। ख- प्रश्नो० - ३.६ हृदि ह्येष आत्मा।
३४ सांख्यकारिका - ३३
३५ ब्रह्मबिन्दु उप० - १.२ न देहो न जीवात्मा नेन्द्रियाणि परन्तप। मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।।
३६ कठो० - २.१.११ मनसैवेदमाप्तव्यम्. ...।
३७ कठो० - २.१.१. क काश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्। ख मुण्डको० - ३.१.८ ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः।

देखा।[३८] इत्यादि श्रुति-वाक्यों से आत्मदर्शन के अधिकारी का ज्ञान होने के साथ-साथ यह भी विदित होता है कि प्रत्यक् आत्मा ध्यानगम्य है। ध्यान में मन को साधने की प्रक्रिया प्रमुख रूप से विद्यमान है। मन उस अन्तरिन्द्रिय का नाम है, जो हमें बाह्य जगत् से जोड़ने के साथ ही अध्यात्म से सम्बद्ध करने में भी पूर्ण समर्थ है। मन का स्वरूप संकल्प अर्थात् चिन्तन करना है।[३९] चिन्तन की दृष्टि जब बहिर्मुख से अन्तर्मुख होती है, तब वह 'ध्यान' में परिणत होती है।[४०] वैदिक काल से मानस संयम को परमशान्ति का स्रोत माना जाता रहा है। वैदिक ऋषि मन के नियन्त्रण द्वारा ही अनन्त शक्तियों के स्वामी बन सके थे। 'यजुर्वेद' के ऋषि कहते हैं - हे अमृतपुत्रो ! सुनो ! जिस उपासना के द्वारा हमारे पूर्वज मोक्ष-सुख को प्राप्त हुए, उसी उपासना से तुम लोग भी उन सुखों को प्राप्त करो।[४१] वह उपासना कैसे की जाए, इस पर प्रकाश डालते हुये साक्षात्कृतधर्मा ऋषि कहते हैं जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियां मन के साथ स्थिर हो जाती हैं और बुद्धि भी चेष्टारहित हो जाती है, उसको परमगति कहते हैं।[४२] इसी का नाम योग है।[४३]

उपनिषदों का यह वर्णन आत्मसाक्षात्कार की चरम स्थिति का परिचायक है। मन का इतना संयम कि बुद्धि निश्चेष्ट हो जाए। दृष्टा भाव भी जहाँ समाप्त हो जाए। 'आत्मदर्शन स्वरूप स्थिति' में परिणत हो जाए, क्योंकि उस समय साधक प्रमाद से सर्वथा रहित हो जाता है। अपने स्वरूप को भूला हुआ जो वृत्ति सारूप्य प्रतीत हो रहा था, उससे पूर्णतः रहित शुद्धात्म रूप में स्थित हो जाता है।[४४] पातंजल योगदर्शन में इसे 'निर्बीज समाधि'[४५] और असम्प्रज्ञात समाधि[४६] कहा गया है। महर्षि पतंजलि ने मन को एकाग्र करने की प्रक्रिया दो रूपों में वर्णन की है सर्वप्रथम, मन को किसी एक विषय में निरन्तर इस प्रकार लगाए रखना कि दूसरा विचार न आने पाए।[४७] इस अभ्यास से 'सम्प्रज्ञात-समाधि की सर्वोच्च अवस्था प्राप्त होने पर सत्वगुण की प्रधानता से योगी का चित्त इतना निर्मल हो जाता है कि उसे प्रकृति पर्यन्त समस्त पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। इसे ज्ञानप्रसाद[४८] अध्यात्मप्रसाद[४९], ऋतम्भराप्रज्ञा[५०], विवेकख्याति[५१] इत्यादि नामों से अभिहित किया गया है। यही वह 'दिव्य चक्षु है, जिसे प्राप्तकर सारा मोह नष्ट हो जाता है।[५२] साक्षात् अनुभूत सत्य को धारण करने वाली इस प्रज्ञा से चित्त का

---

३८ श्वेता० १.३ ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
३९ सांख्यकारिका - २७
४० योगसूत्र - ३.१२ तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।
४१ यजुर्वेद - ११.५ शृण्वन्तु विश्वेऽमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः।
४२ कठो० - २.३.१० 'यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्।
४३ वही - २.३.११
४४ वही - २.३.११ अप्रमत्तस्तदा भवति. ....।
४५ योगसूत्र - १;५१
४६ व्यासभाष्य - योगसूत्र - १.५।
४७ योगसूत्र - ३.२ तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।
४८ मुण्डको - ३.१.८.....। ज्ञानप्रसादेन. ....।
४९ योगसूत्र - १.४७ निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः।
५० वही - १.४८
५१ वही - २.२६
५२ भगवद्गीता - ५.१.-१२ दिव्यं ददामि ते चक्षुः. ....।

आत्माध्यास छूट जाता है और योगी को चित्त से पृथक् आत्मा का साक्षात्कार होता है।[५३] उसकी आत्मभाव-भावना कि मैं कौन हूँ? क्या हूँ? इत्यादि निवृत हो जाता है।[५४]

'विवेकख्याति' चित्त की ही एक वृत्ति है। अत एव 'महर्षि पतंजलि' कहते हैं, कि यह 'स्वरूप स्थिति' नहीं है, इत्यादि के रूप में 'परवैराग्य' द्वारा चित्त की इस ज्ञानत्मिका वृत्ति का भी निरोध हो जाने पर सभी वृत्तियों का निरोध होने से 'आत्मस्वरूप में अवस्थिति' घटित होती है। 'आत्मदर्शन' और 'स्वरूप स्थिति' के इसी सूक्ष्म अन्तर को श्रुतियों में '**बुद्धिश्च न विचेष्टते**' कहकर प्रतिपादित किया गया है।

---

५३ मुण्डको० - ३.१.८ ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः।
५४ योगसूत्र - ४.२५ विशेषदर्शिनः आत्मभावभावना विनिवृत्तिः।

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०१० अङ्क १३ (पृ०९४-१०५)

दास-दस्यु एवं शूद्र : वेद के सन्दर्भ में

डॉ० राजेन्द्र विद्यालंकार[1]

संक्षेपिका प्राचीन भारतीय इतिहास में दास-दस्यु और शूद्र के सन्दर्भ बहुत उलझे हुए हैं। वेदसंहिताओं सहित विशाल वैदिक साहित्य में दास-दस्यु और शूद्रों के अनेक उल्लेख हैं। वेद में उपलब्ध दास-दस्यु आदियों के विरुद्ध आर्यों द्वारा की जाने वाली कठोर कार्यवाही के उल्लेख को अनेक विद्वान्, समालोचक और इतिहासकार शूद्रों के प्रति किए जाने वाले घृणापूर्ण व्यवहार की अनुशंसा मानते हैं। वस्तुतः यह सही नहीं है। वेद में उल्लेखित दस्यु और दास, शूद्र नहीं हैं। वस्तुतः वेदवर्णित 'दस्यु' ऐसा व्यक्ति है जो अपने आचरण से समाज की रचनात्मक और सभ्य प्रवृत्तियों को क्षति पंहुचाता है जबकि मन्त्रों में 'दास' पद का अनेक अर्थों में प्रयोग हुआ है। इन पदों से कथित व्यक्ति वर्णगत शूद्र नहीं है। वेद की ऋचाएं शूद्रों के प्रति बहुत उदारता और सम्मान अभिव्यक्त करती हैं। श्रम के प्रति उच्चस्तरीय सम्मान वेद में विद्यमान है। लिंग, जाति, रंग या व्यवसाय के आधार पर किसी के साथ भेदभाव वेदसंहिताओं में नहीं किया गया है। वेद ने समाज में निम्न समझे जाने वाले विभिन्न कार्यों को करने की न केवल प्रेरणा दी है अपितु उन्हें करने वालों को बहुत महत्त्वपूर्ण विशेषणों से अभिहित भी किया है। वैदिक सूक्तों में ऋषि और राजा तक भी श्रमसिद्ध कार्यों को उत्साहपूर्वक सम्पादित करते दिखाई पड़ते हैं। वेदमन्त्रों में नहर, तालाब, कूपखनन, वस्त्रवयन, वर्म, प्रत्यंचा का निर्माण, सड़कनिर्माण, तक्षाकर्म, औषधनिर्माण, कृषिकर्म, पशुपालन, धातुओं व मृत्तिका से विभिन्न उपयोगी सामग्री का निर्माण तथा गायन, वादन सहित अनेक राजकीय और सामाजिक सेवाकार्यों को करने वालों की प्रशंसा करते हुए उनसे अभ्यार्थना की गई है। सामाजिक सौहार्द और सामंजस्य का एतादृशी अंकन सभ्यता के शिखर का सन्दर्शन कराता है। निष्कर्षतः वेदसंहिताओं में वर्तमानकालिक सामाजिक जातीय विकृतियों को या उनके बीज को खोजना साहित्यिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक अनैतिकता है। हाँ! उत्तरवर्ती साहित्य निश्चय ही न्यूनाधिक रूप से इसके लिए उत्तरदायी है।

भारत के सामाजिक इतिहास में वर्ण-व्यवस्था का विशेष महत्त्व है। प्राचीन भारतीय समाज के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक संगठन की रूपरेखा वर्ण-व्यवस्था के आधार पर ही विकसित हुई। मूलतः वर्णों का विभाजन व्यक्तिगत स्वभाव पर आधारित है, जो अपरिवर्तनीय नहीं है। सामाजिक आवश्यकताओं और वैयक्तिक कर्मों के अनुसार लोगों को विभिन्न वर्णों में बांट दिया गया है। सम-विषम पथ पर संघर्ष-विघर्ष का सामना करते हुए देशकाल जन्य अनेक संशोधनों के साथ यह प्रणाली सुदीर्घकाल तक चलती रही। इस मध्य वर्णों का परस्पर एक दूसरे के ऊपर प्रभाव घटता-बढ़ता रहा। भारतीय इतिहास में प्रभाव एवं प्रभुता के लिए वर्णों का यह पारस्परिक सम्बन्ध एवं संघर्ष सामाजिक इतिहास के लिए उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना राजनीतिक इतिहास में सिंहासनों के लिए राजवंशों का पारस्परिक सम्बन्ध एवं संघर्ष। वर्णगत इतिहास का एक साहित्यिक पक्ष भी है। वर्णगत सौहार्द या वैमनस्य का सांकेतिक या स्पष्ट निदर्शन हमें साहित्य में ही उपलब्ध होता है। वर्तमान में विमर्श का यह एक प्रमुख बिन्दु है कि शूद्रों के प्रति अन्य वर्णस्थों को आक्रामक व अनुदार बनाने के लिए कौन सा

१ एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत एवं प्राच्यविद्या संस्थान, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

साहित्य अधिक उत्तरदायी है ? क्या प्रथम ग्रन्थ वेद भी इस वैमनस्य के उद्भावक और समर्थक हैं ? प्रस्तुत आलेख इसी सन्दर्भ के तथ्यात्मक आकलन का एक प्रयास है।

वैदिक ऋचाओं में वर्णभेद केवल कार्य विभाजन के आग्रह से किया गया है। वर्ण के आधार पर सामाजिक घृणा और आर्थिक शोषण का किंचित् मात्र भी संकेत वैदिक ऋचाओं में नहीं है। ये विकृतियां उत्तरवर्ती स्मृतिग्रन्थों एवं पुराणग्रन्थों की देन हैं। वर्ण को जातीय आधार देने का दुर्भाग्यपूर्ण श्रेय भी इन्हीं ग्रन्थों को जाता है। कई प्रसङ्गों में ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यकग्रन्थ, कल्प-साहित्य और अन्य-सूत्र साहित्य भी इन विकृतियों से स्वयं को मुक्त नहीं रख सका है, फिर पुराणों का तो कहना ही क्या। साम्प्रतिक शूद्रविमर्श मूलतः वैदिक साहित्य के इन्हीं दुर्भाग्यपूर्ण स्थलों पर केन्द्रित है। डॉ. अम्बेडकर ने विशाल वैदिक साहित्य का सघन आलोडन किया है। अपनी मीमांसा में उन्होंने निष्कर्ष निकाला है कि दलितों पर हुए लम्बे ऐतिहासिक अत्याचारों के लिए सम्पूर्ण वैदिक साहित्य उत्तरदायी है। उन्होंने इस पर बहुत दुःख व्यक्त किया है कि वर्तमान में इन्हीं शास्त्रों की निगरानी में अन्त्यजों पर धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अत्याचारों का सिलसिला चल रहा है। इसीलिए उन्होंने इन सब शास्त्रों को डायनामाइट से उड़ा देने का भी सुझाव दिया है। अपनी इस मीमांसा में डॉ. अम्बेडकर वेद-संहिताओं और इतर वैदिक साहित्य में कोई विभाजक रेखा खींचते दिखाई नहीं पड़ते हैं। समानरूप से उनका आक्रोश वेद-संहिताओं पर भी है। उन्होंने अपने अंग्रेजी में लिखे विश्रुत ग्रन्थ Who were the Shudras के संक्षिप्त हिन्दी अनुवाद **शूद्रों की खोज** - में शूद्रों के मूल स्वरूप एवं उनके चतुर्थ वर्ण में पहुंचने की सम्भाव्य स्थितियों का निबन्धन किया है। इसी ग्रन्थ के अन्त में निम्न दस प्रश्नात्मक स्थापनाओं, जिन्हें उन्होंने पहेली कहा है, को उपस्थापित किया है :-

(१) यह कहा जाता है कि शूद्र अनार्य थे और आर्यों ने उनको लड़कर जीत लिया। यदि यह सत्य है तो यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में ऋषिगण ने शूद्रों का गुणगान कैसे किया और वे उनका कृपापात्र क्यों बनना चाहते थे ?

(२) यह कहा जाता है कि शूद्रों को वेदाध्ययन का अधिकार नहीं है। यदि यह सही है तो सुदास, जो एक शूद्र था, उसने कैसे ऋग्वेद के मंत्रों की रचना की ?

(३) यह कहा जाता है कि (शूद्र को) यज्ञ करने का अधिकार नहीं है। तो सुदास ने अश्वमेध यज्ञ कैसे किया और शतपथ-ब्राह्मण में यह क्यों बताया गया है कि यदि यज्ञ करने वाला शूद्र हो तो उसका सम्बोधन कैसे होना चाहिए ?

(४) शूद्रों को उपनयन का अनधिकारी बताया जाता है। यदि आदि से यह अधिकार शूद्रों को प्राप्त नहीं था तो इसके बारे में विवाद क्यों हुआ ? बादरि और संस्कर गणपति यह क्यों कहते हैं कि शूद्रों को उपनयन का अधिकार है।

(५) यह भी कहा जाता है कि शूद्रों को धन-संचय करने का अधिकार नहीं था। यदि ऐसा माना जाये तो मैत्रायणी एवं काठक संहिताओं में शूद्रों को धनी एवं वैभवशाली कैसे बतलाया गया है ?

(६) ऐसा माना जाता है कि शूद्र राज्य का अधिकारी बनने के लिए अयोग्य घोषित थे; तब महाभारत में शूद्रों के मन्त्री से राजा होने तक का उल्लेख कैसे मिलता है ?

(७) यह कहा जाता है कि शूद्र का कार्य तीनों वर्णो की सेवा करना है। तब यह कैसे हो सकता है कि शूद्रों में से राजा हुए; जैसा कि सुदास और अन्य के बारे में सायणाचार्य ने वर्णन किया है ?

(८) यदि शूद्रों को वेद पढ़ने का कोई अधिकार नहीं था, यदि उन्हें उपनयन का कोई अधिकार नहीं था, यदि उन्हें यज्ञ करने का कोई अधिकार नहीं था तो यह प्रश्न उठता है कि उन्हें उपनयन का, वेदाध्ययन का तथा यज्ञ करने का अधिकार क्यों नहीं दिया गया?

(९) शूद्रों का उपनयन-संस्कार होना, वेदों को पढ़ने की उनकी योग्यता, उनका यज्ञ करना वे सब शूद्रों के महत्त्व के थे या नहीं, ब्राह्मणों के लिए लाभ का अवसर प्रदान करने वाले अवश्य थे; क्योंकि वेदों को पढ़ाने एवं धार्मिक रीतियों के संचालन पर ब्राह्मणों का ही एकाधिपत्य था। यह ब्राह्मण वर्ग ही है जो शूद्रों को उपनयन का अधिकार, यज्ञ करने का अधिकार, वेदों को पढ़ने का अधिकार प्रदान कर, भारी शुल्क अर्जित करने के लिए खड़ा हुआ था। ब्राह्मण शूद्रों को ये सुविधा प्रदान न करने के लिए इतने दृढ़प्रतिज्ञ क्यों थे, जबकि उन्हें प्रदान करने से कोई हानि नहीं होनी थी, वरन् उनकी अपनी आय में ही वृद्धि होती।

(१०) यदि शूद्रों को उपनयन, यज्ञ और वेदों के अध्ययन का कोई अधिकार नहीं भी था; तब भी ब्राह्मण अपनी स्वविवेक-शक्ति से शूद्रों को ये अधिकार देकर उन्हें स्वीकृति प्रदान करा सकते थे? तब ये प्रश्न व्यक्तिगत ब्राह्मण के स्वतन्त्र चिन्तन के लिए क्यों नहीं छोड़े गये? यदि एक ब्राह्मण इनमें से कोई भी वर्जनीय कार्य करता था, तब उस पर दण्ड क्यों आरोपित किया जाता था?[१]

ये दस पहेलियां वस्तुतः स्वयं में उत्तर ही हैं। इन दस पहेलियों से स्पष्ट है कि डॉ. अम्बेडकर स्वयं यह मानते हैं कि वैदिक ऋचाएं शूद्र समुदाय का गुणगान करती हैं और शूद्र समझा जाने वाला सुदास भी ऋषि पदवी को प्राप्त है। वैदिक काल में शूद्रों का उपनयन होता रहा है तथा इस काल में शूद्र धनी एवं वैभवशाली भी रहे हैं, यहां तक कि उनके राज्याधिकार के भी उल्लेख हैं। डॉ. अम्बेडकर ने अन्यत्र भी यह स्वीकार किया है कि वैदिक संहिताएं शूद्रों के प्रति तिरस्कार एवं घृणा का पल्लवन नहीं करती हैं। इतनी स्पष्ट स्वीकारोक्ति होने के बावजूद वह क्यों वेदों में डायनामाइट लगा देने का सुझाव देते हैं?

वैदिक ऋचाओं में दास, दस्यु, कीकट, राक्षस, पणि आदियों की परिसम्पत्तियों को छीन लेने, उनके दुर्गों को जीत लेने, उन्हें बन्धक बना लेने, स्त्रियों सहित उनका हनन आदि कर देने सम्बन्धी अनेक सन्दर्भ विद्यमान हैं। इन्द्र, राजा या आर्य से प्रार्थना की गई है या उन्हें निर्देशित किया गया है कि वह दास अथवा दस्यु को वशवर्ती करें। वेद में वर्णित दास और दस्यु के विरुद्ध इन्द्र या आर्य द्वारा की जाने वाली कठोर कार्यवाही के इन निर्देशों को अनेक समालोचकों, इतिहासकारों ने 'मूलवासी लोगों' या शूद्रों के विरुद्ध की जाने वाली कार्यवाही माना है। उनकी दृष्टि में वैदिक पद **दास** और **दस्यु** शूद्र-समुदाय के वाचक हैं। प्रख्यात इतिहासकार रामशरण शर्मा का अभिमत है कि 'ऋग्वेद निरन्तर चलने वाले जनजातीय संघर्षों की कहानी प्रस्तुत करता है। ... सामान्यतः इन्द्र के नेतृत्व में ऋग्वेद की अनेक जनजातियों को 'दास' अथवा 'दस्यु' और कभी-कभी 'पणि' के विरुद्ध युद्ध करते हुए प्रस्तुत किया गया है। ... दस्यु ऋग्वैदिक लोगों के सर्वप्रमुख शत्रु थे और उन्होंने सर्वाधिक लम्बे समय तक युद्ध किया। ... वे सभी उल्लेख जो ऋग्वैदिक जनजातियों और दस्युओं के मध्य निरन्तर संघर्षों की ओर इंगित करते हैं, वास्तव में उन संघर्षों के द्योतक हैं जो भारत-ईरानी जनों की दो प्रमुख शाखाओं के मध्य हुआ था।'[२] इस सन्दर्भ में डॉ. राधाकृष्णन का अभिमत है कि 'ऋग्वेद के काल में विभाजन आर्यों और दस्यु के रूप में था और स्वयं आर्यों में कोई वर्ण-विभाग नहीं थे। ब्राह्मणग्रन्थों के काल में चारों वर्ण जन्म पर आधारित अनम्य (कठोर) समूहों में विभक्त हो चुके थे। ज्यों-ज्यों कलाकौशल की संख्या और जटिलता बढ़ी, त्यों-त्यों धन्धों के आधार पर जातियों का विकास हुआ।[३क]

डॉ. घुरिये का विचार है कि प्रारम्भ में केवल 'आर्य' और 'दास' ये दो ही वर्ण थे। आर्य लोग जहां भी गए, वहीं उन लोगों ने वहीं के आदिवासियों को पराजित किया और उन्हें 'दास' तथा इसी प्रकार के अन्य शब्दों से

सम्बोधित किया।[३ख] मनु के अनुसार आर्य समुदाय के चारों वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को छोड़कर जो भी मनुष्य हैं, चाहे वे म्लेच्छ भाषा बोलते हों या आर्यभाषा, वे सभी दस्यु हैं।[४क] मनु द्वारा दस्यु घोषित इन सभी व्यक्तियों या समुदायों को विमलचन्द्र पाण्डेय शूद्र मानते हैं। डॉ. रति सक्सेना **पणियों** को भी दास-दस्यु समुदाय का ही मानती हैं। अथर्ववेद की विवेचना करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'पणि कर्म करने वाले जन अधिकतर दास या दस्यु समुदाय के थे। ... निःसन्देह पणि आर्य नहीं थे, किन्तु वे आर्यों से अधिक समृद्ध थे। तभी उनसे धन छीनकर आर्यों को बाँटने की बात आई है। निःसन्देह वे मूलवासी या आदिवासी थे, जो आक्रमणकारी जाति से कहीं अधिक धनवान् थे'।[५क] यद्यपि डॉ. रति ने साहसपूर्वक यह भी स्वीकार किया है कि 'यह मानना संभव नहीं कि दास या दस्यु का अर्थ वेदकाल में भी वही था जो परवर्ती समाज में प्रचलित हो गया'।[५ख]

वस्तुतः वेदपठित **दास**, **दस्यु** आदि पदों से **शूद्र** अर्थ ग्रहण करना समुचित नहीं है। समालोचक इतिहासज्ञ इस तथ्य की उपेक्षा कैसे कर सकते हैं कि वेद 'शूद्र' पद से अनभिज्ञ नहीं है। चारों संहिताओं की अनेक ऋचाओं में 'शूद्र' शब्द पठित है। ऐसी अवस्था में शूद्र को लक्ष्य कर की जाने वाली कठोर कार्यवाही का निर्देश उसी पद से न करके 'दास' या 'दस्यु' पद से क्यों किया जाएगा? ऐसा भी नहीं है कि किसी प्राचीन शब्दकोश में 'दास' और 'दस्यु' को शूद्र का पर्यायवाची शब्द माना गया हो। वस्तुतः वेद में **दस्यु** पद क्रूर, आततायी या अराजक व्यक्ति के लिए पठित है जबकि **दास** पद सर्वत्र एक ही अर्थ का बोध नहीं कराता है। यह अवश्य है कि दास या दस्यु के पराभव का अभिप्राय कहीं भी शूद्र के पराभव से नहीं है। किसी भी वैदिक श्रुति में शूद्रों के हनन, धनहरण या पराभव की ऐसी प्रार्थना नहीं की गई है जैसी दासों और दस्युओं के लिए की गई हैं किसी श्रुति में शूद्रों को कर्महीन, दुष्ट, पापी, उद्दण्ड या असभ्य नहीं कहा गया है। जबकि इसके विपरीत हजारों ऐसे स्थल विद्यमान हैं जिनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-चारों वर्णों के लिए समतामूलक प्रार्थनाएं, निर्देश और आशीर्वाद आदि वर्णित हैं। शूद्र आर्य-समुदाय के अभिन्न अंग हैं जबकि दास और दस्यु अकर्मा, असभ्य, आततायी और चोर हैं। वह असंस्कारी हैं तथा समाज की मुख्यधारा से अपनी असामाजिक गतिविधियों के कारण बहिर्भूत हैं। वस्तुतः दास, दस्यु आदि पदों के अभिप्राय को लेकर इतिहासकारों को हुए भ्रम का मुख्य कारण 'दास' शब्द के अर्थ को परवर्ती सन्दर्भ में देखना रहा है। स्मृतियों ने शूद्र वर्ण को निर्देशित किया कि वह अपने नाम के अन्त में 'दास' पद को जोड़े।[४ख] स्मृतियों में ऐसे भी प्रसंग जोड़े गए जिनमें कहा गया कि शूद्र अपने नाम के साथ निन्दित पद लगाए।[४ग] इतिहासकार इस प्रभाव में वेद पठित **दास** एवं **दस्यु** पद का अर्थ शूद्र मानते चले गए हैं। उन्होंने इस तथ्य की ओर दृष्टिपात नहीं किया है कि 'दास' शब्द का बहुत अर्थविस्तार हो गया है। वैदिक इतिहास हमें इस तथ्य की साक्षी देता है कि एक समय आर्यों ने दास और दस्युओं को वशवर्ती कर उन्हें परिचर्या में नियुक्त किया। परिचर्या में पूर्वतः ही संलग्न शूद्र के समान कार्यरत हो जाने के कारण कालान्तर में सभी सेवकों को दास समझा जाने लगा। क्योंकि शूद्र पहले से ही सेवाकार्य में संलग्न थे। **दास** उन्हीं के साथ सेवाकार्य करने लगे। इस प्रकार अर्थ की दृष्टि से 'शूद्र' और 'दास' शब्द अभिन्न हो गए। इस मध्य 'दास' माता-पिता से अनेक उन्नत चरित्र की सन्तानें भी पैदा हुईं जिनके कारण इस शब्द के अर्थ में और भी विकास हुआ। महात्मा विदुर को दासीपुत्र कहते समय कोई निकृष्ट भाव पैदा नहीं होता। एक समय बाद यह शब्द इतना रुचिकर हो गया कि नवधाभक्ति के रूपों में एक रूप दास्यभक्ति को भी माना गया। अध्यात्म में प्रभु का दास-सेवक बनना गौरवपूर्ण माना जाने लगा। भारत में संन्यासियों का एक पूरा समुदाय ही स्वयं को महान् स्वामी ईश्वर का सेवक मानकर अपने नाम के साथ 'दास' पद जोड़ता है। तुलसीदास, सूरदास, रहीमदास आदि अनेक प्रतिष्ठित कवियों ने भी अपने नाम में 'दास' पद को प्रायः इसी भाव से अंगीकार किया है। इस प्रकार वर्तमान में स्वयं को 'दास' कहना जैसे अपमानजनक नहीं है, वैसे ही वैदिक काल में शूद्र कहलाना अपमानजनक नहीं था।

वैदिक काल में प्रायः दो समुदाय थे-आर्य और दस्यु। आर्य-समुदाय का गुणकर्मानुसार चतुर्धा वर्गीकरण था - ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जबकि इतर समुदाय असामाजिक गतिविधियों में संलग्न था। वस्तुतः आर्य-समुदाय का अभिप्राय है- सभ्य और सामाजिक समुदाय। आर्य-समुदाय के चारों वर्ण एक दूसरे के विरोधी नहीं अपितु पूरक थे। अतः वेद में कहीं नामोल्लेख पूर्वक तो कहीं सामान्य रूप से इन वर्णस्थ मनुष्यों के सहभाव की हजारों प्रार्थनाएं, कामनाएं तथा निर्देश विद्यमान हैं। यजुर्वेद की कितनी उदात्त कामना और याचना है कि हे प्रभु! हमारे ब्राह्मणों, राजाओं, वैश्यों और शूद्रों को प्रकाशमान कीजिए (सामर्थ्यवान् बनाइए) हे ईश्वर! मैं स्वयं भी उसी प्रकाश (सामर्थ्य) का याचक हूँ। कृपापूर्वक वह अजस्र प्रकाश प्रदान करें।[६क] यजुर्वेद में उपासक बहुत आहत होकर उस पाप के शमन की विनती कर रहा है जो उसने ग्राम में, अरण्य में, सभा में, इन्द्रियों में, शूद्रों के प्रति, वैश्यों के प्रति या धर्मविषय में कर दिया है।[६ख] दिव्यवाक् वेदज्ञान में सभी वर्णों को समान अधिकार की घोषणा भी हम यजुर्वेद में पाते हैं। इस वेदज्ञान में अधिकार केवल आर्य-समुदाय के चारों वर्णों का ही नहीं है अपितु **अरणाय** अर्थात् दास-दस्यु आदियों का भी है।[६ग] संभवतः वह भी इस ज्ञान से प्रकाशमान हो कभी सभ्य समाज का अंग बन जाएं। अथर्ववेद के दो मन्त्रों में हम एक बहुत ही कमनीय प्रार्थना पाते हैं जिनमें अथर्व का अध्येता यह प्रबल इच्छा व्यक्त कर रहा है कि वह आर्यसमुदाय के चारों वर्णों- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र (वर्णस्थ मनुष्यों) का प्रिय बन जाए।[७] अथर्ववेद की प्रार्थना में एक तथ्य यह भी देखने वाला है कि दोनों ही मन्त्रों में शूद्र को वैश्य से पहले रखा गया है - **शूद्राय चार्याय च, उत शूद्रे उतार्ये।** पाणिनि के अनुसार अर्य्य का अर्थ है स्वामी और वैश्य।[८]

इन स्फुट सन्दर्भों के अतिरिक्त वैदिक संहिताओं में ऐसी हजारों प्रार्थनाएं विद्यमान हैं जिनमें मानवमात्र के प्रति कायिक, वाचिक और मानसिक स्तर पर अहिंसक व्यवहार की प्रेरणा दी गई है। एक भी ऋचा ऐसी नहीं है जिसमें शूद्रों को दास बनाने की अभिलाषा या निर्देश हो। अनेक मन्त्र सेवकों एवं श्रमिकों के प्रति बहुत आदर व्यक्त करते हुए उनके योगक्षेम की कामना कर रहे हैं। ऋग्वेद की एक ऋचा की कामना है कि कृषक, उसके बैल और बोझा ढोने वाले सभी प्राणी सुखी हों।[९क] सांमनस्य के स्वर वैदिक ऋचाओं में बहुत मुखर हैं। विविध कार्यों में संलग्न व्यक्तियों के प्रति सद्भाव और सम्मान रखने के निर्देश वेद में बहुत आग्रही पदावली में विद्यमान हैं। अथर्ववेद में तो एक सूक्त की संज्ञा ही सांमनस्य सूक्त है। इस सूक्त के मन्त्रों में अन्न, धन, कूप आदि को सार्वजनिक घोषित करते हुए कहा गया है कि विभिन्न कार्य करते हुए हम सब परस्पर ऐसे ही जुड़े हुए हैं जैसे कि पहिए के अरे उसकी धुरी से जुड़े होते हैं। निश्चय ही संगठित होने का यह आह्वान केवल ब्राह्मणों के लिए या शूद्रेतर वर्णों के लिए ही नहीं अपितु समाजपुरुष के सभी अंगों के लिए है। इस सम्बन्ध में यजुर्वेद की प्रार्थना कितनी तरलता लिए हुए है। मन्त्र की कामना है कि सब प्राणियों को अपने समान समझ कर सबसे समता का व्यवहार करने वाला मनुष्य इस लोक में सौ वर्ष तक जीवित रहे तथा उस व्यक्ति की श्री मुझ (उपासक) में भी व्याप जाए।[६घ] इन प्रमाणों के विद्यमान रहते कैसे कल्पना की जा सकती है कि वैदिक ऋचाएं शूद्रों के प्रति पक्षपातपूर्ण अनुदार भाव रखती हैं।

चारों संहिताओं में **दास और दस्यु** शब्द विभिन्न विभक्तियों और अन्य पदों के साथ सम्बद्ध होकर अनेक बार पठित हैं। इन सभी सन्दर्भों में एक भी स्थल ऐसा नहीं है जहां **दस्यु या दास** को शूद्र घोषित कर उसे घृणित माना गया हो एवं उसके हनन का परामर्श दिया गया हो। घुमा फिराकर **दस्यु** पद का अर्थ सर्वत्र 'उदात्त सामाजिक व आध्यात्मिक मर्यादाओं का हनन करने वाला व्यक्ति' ही किया गया है, जबकि **दास** पद का सभी भाष्यकार एक सा अर्थ नहीं करते हैं। वेदभाष्य की दो प्रमुख परम्पराओं के प्रतिनिधि आचार्य सायण और ऋषि दयानन्द के सन्दर्भ में इन शब्दों की अर्थ-परिधि को देखना रोचक रहेगा। सायण उपक्षयार्थक ण्यन्त 'दस्' धातु से

दास शब्द सिद्ध मानते हैं। उनके अनुसार **दास** शब्द का अर्थ है उपक्षयिता। जो प्रजा को क्षय (क्षति) पहुचांए, जो यज्ञादि का विघातक हो।[१०क] कुछ ऋचाओं में सायण **दास** का अर्थ **शूद्र** भी कर गए हैं। **दास** का 'उपक्षयिता' अर्थ करते हुए भी विकल्प से उसका अर्थ 'शूद्र' करना कुछ विचलित करता है।[१०ख] सम्भवतः देशकाल के प्रभाव के कारण ऐसा हुआ है।

ऋषि दयानन्द **दास** के अर्थ को अधिक व्यापक वैदिक परिप्रेक्ष्य में समझते हैं। वह 'दास' शब्द से विभिन्न आशय निकालते हैं। सायण आदि आचार्यों की दृष्टि में जो मन्त्र दासों का हनन करने, उनका दमन करने या उनकी परिसम्पत्तियों को अपने अधिकार में कर लेने के परामर्श दे रहे हैं उन मन्त्रों में पठित 'दास' पद का अर्थ ऋषि दयानन्द 'सेवक' या 'शूद्र' तो करते हैं, लेकिन मन्त्र का आशय कुछ अन्यथा ही निर्धारित करते हैं। सायण ऋग्वेद २.१२.४ में पठित **यो दासं वर्णमधरं गुहाकः** का अर्थ करते हैं कि 'जिसने उपक्षयकारी निकृष्ट असुर वर्ण को (दण्डित करके) अंधकारमय स्थान में कर दिया है (अर्थात् अप्रभावी बना दिया है, वह इन्द्र है)[१०ख] जबकि ऋषि दयानन्द उपर्युक्त पठित मन्त्रांश का अर्थ करते हैं कि 'जो (गुहा) हृदयाकाश में (वर्णम्) रूप को (अधरम्) उस हृदय के नीचे (दासम्) देने योग्य (अकः) करता है... वह परमैश्वर्यवान् ईश्वर है, यह जानना चाहिए।[११क] ऋग्वेद ४.३०.१५ में पठित **दासस्य** पद का अर्थ करते हुए सायण तात्पर्य निकालते हैं कि राजा ने पांच सौ या दुष्ट पुरुष के हजारों सम्बन्धियों को भयाक्रांत करने के लिए शंकु (छोटी खूंटियों) के समान विविध हननास्त्रों से हनन किया[१०ग] जबकि ऋषि दयानन्द इन मन्त्रों का अर्थ करते हैं कि हे राजन्! आप (प्रधीनिव) चक्र में स्थित पैनी कीलों के सदृश वर्तमान संसार में कण्टक दुष्टों को (पंच) पांच (शत) सौ वा (सहस्राणि) सहस्रों दुष्टों का (अधि, अवधीः) नाश करो (उत) और (वर्चिनः) बहुत पढ़े हुए (दासस्य) सेवक के जनों को पालिए। इससे प्रथम मन्त्र (४.३०.१४) में भी ऋषि दयानन्द **दासं कौलितरम्** का अर्थ 'अत्यन्त कुलीन सेवक का पालन करो' - ऐसा करते हैं। परन्तु इसी सूक्त के मन्त्र संख्या २१ में पठित **दासानाम्** पद का अर्थ ऋषि दयानन्द 'शत्रु' करते हैं। इस मन्त्र के भावार्थ में ऋषि दयानन्द कहते हैं कि 'जो सेनापति आदि बुद्धि से शत्रुओं का नाश करें वे सदा ही सुखी होवें'।[११ख]

सायण ऋग्वेद ५.३४.६ के मन्त्रांश - **यथावशं नयति दासमार्य्यः** का आशय निकालते हैं कि आर्य लोग दास को अपने अधीन करते हैं,[१०घ] जबकि ऋषि दयानन्द अर्थ करते हैं कि '(आर्य्यः) ब्राह्मण क्षत्रिय वा वैश्य वर्ण आर्य्य राजा (यथावशम्) यथाशक्ति (दासम्) सेवक शूद्र को (नयति) प्राप्त करता है।[११ग] ऋग्वेद ६.२६.५ के मन्त्रांश **अव गिरेर्दासं शम्बरं हन्** का आशय निकालते हुए सायण कहते हैं कि 'तुमने असुर (श्रेष्ठता के बाधक) यज्ञादि कर्म के विरोधी दास को पर्वत से भी अलग कर हनन किया है'।[१०ङ] जबकि स्वामी दयानन्द 'दास' का अर्थ 'सेवक' करते हुए उसके संवर्धन तथा संरक्षण का कथन कर रहे हैं। इस मन्त्र के भावार्थ में वह लिखते हैं कि 'हे राजन्! आप सर्वदा प्रजा की वृद्धि, दुष्टों का नाश और विद्वानों की सेवा करो जिससे असंख्य सुख होवें।[११घ] अन्य स्थलों में उन्होंने मन्त्र पठित **दास** पद से सेवकः, सुखप्रदाः (शूद्रजनाः),[११ङ] उपक्षयितारौ, (राजाप्रजाजनौ),[११च] दातारम्[११छ], जलस्य दातुः[११ज] इत्यादि अर्थ ग्रहण किए हैं।

इन सन्दर्भों से स्पष्ट है कि ऋषि दयानन्द वेदपठित 'दास' पद को सर्वत्र अमर्यादित या अराजक व्यक्तित्व वाले मनुष्य का ही वाचक नहीं मानते, अपितु उससे वर्णस्थ शूद्र सहित अनेक उत्तम अर्थ भी ग्रहण करते हैं। यहां यह भी उल्लेख्य है कि ऋषि दयानन्द ने कुछेक स्थलों को छोड़कर प्रायः सभी जगह 'दास' पद से श्रेष्ठ प्रवृत्तियों या तद्सम्पन्न व्यक्ति का ही ग्रहण किया है। यह भी द्रष्टव्य है कि आचार्य सायण ने जिन ऋचाओं से दासों के हनन का ध्वन्यार्थ निकाला है, दयानन्दभाष्य में हमें उनका सन्दर्भ ही अलग मिलता है। इस प्रकार ऋषि

दयानन्द की दृष्टि में यह ऋचाएं दासों के हनन की प्रेरक नहीं हैं। ऋग्वेद में दासों की अपेक्षा दस्युओं के दमन और हनन के उल्लेख बहुत अधिक हैं। **दस्यु-हत्या** पद ऋग्वेद में अनेक बार आया है, लेकिन 'दास-हत्या' पद नहीं है।

'दस्यु' पद से ऋषि दयानन्द सर्वत्र दुष्ट, मूर्ख एवं चोर मनुष्य का ही ग्रहण करते हैं। सत्यार्थप्रकाश में वह दस्यु पद से अभिप्रेत अर्थ को व्यक्त करते हैं कि '(आदि सृष्टि में) एक मनुष्य जाति थी। पश्चात् **विजानीह्यार्य्यान् ये च दस्यवः** - यह ऋग्वेद (१.५१.८) का वचन है। श्रेष्ठों का नाम आर्य्य, विद्वान्, देव और दुष्टों के 'दस्यु' अर्थात् डाकू, मूर्ख और अनाड़ी नाम होने से आर्य्य और दस्यु दो नाम हुए। ... आर्य नाम धार्मिक, विद्वान्, आप्त पुरुषों का और इनसे विपरीत जनों का नाम 'दस्यु' अर्थात् डाकू, दुष्ट, अधार्मिक और अविद्वान् हैं'।[१२] अपने वेदभाष्य में ऋषि दयानन्द ने 'दस्यु' पद से सर्वत्र एतादृशी प्रवृत्तियों का ही ग्रहण किया है। **'दसु उपक्षये'** धातु से **यजिमनिशुन्धिदसिजनिभ्यो युच्** (उणादि ३.२०) से युच् प्रत्यय के योग से दस्यु शब्द निष्पन्न है। इसी सन्दर्भ में निरुक्तकार इसकी व्युत्पत्ति करते हैं कि **दस्युर्दस्यतेः क्षयार्थात् ... उपदासयति कर्माणि**[१३क] अर्थात् दस्यु वह है जो शुभकर्मों से क्षीण है या शुभकर्मों में बाधा डालता है। ऋषि दयानन्द ने इस शब्द के यास्क सम्मत अभिप्राय को पूर्णतः स्वीकार किया है। वेदमन्त्रों में विभिन्न विभक्तियों में पठित **दस्यु** पद के ऋषि दयानन्द कृत कुछ विशिष्ट तात्पर्य निम्नवत् हैः **दस्यवः** परपीडका मूर्खा धर्मरहिता दुष्टा मनुष्याः (१.५१.८), **दस्यवे** दुष्ट-कर्मकर्त्रे (दुर्जनाय) (१.१०३.३), **दस्युभ्यः** साहसिकेभ्यश्चौरेभ्यः (जनेभ्यः) (४.३८.१), **दस्युम्** प्रसह्य परस्वाऽपहर्त्तारम् (१.१७५.३); बलात्कारिणं चोरम् (२.१५.९), बलात्कारेण परस्वाऽपहर्त्तारम् (१.५३.४); दुष्टाचारं साहसिकम् (७.१९.४), **दस्युः** परपदार्थाऽपहारकः (२.११.१८); **दस्यून्** महादुष्टान् (जनान्) (१.७८.४); दुष्टान् साहसिकाँश्चोरान् (अविदुषो जनान्) (७.१६.३), अतिदुष्टकर्मकारिणः (दुर्जनान्) (३.२९.९) **दस्योः** परस्वाऽऽदातुश्चोरस्य (१.१०४.५), उत्कोचकस्य (१.११७.३); परपदार्थहर्त्तुर्दुष्टस्य (२.१२.१०)। इस प्रकार ऋषि दयानन्द दस्यु का अर्थ तो दुष्ट, मूर्ख, नीच, अधम, चोर आदि करते हैं, परन्तु 'दास' को वह ऐसा नहीं समझते जबकि सायण दास को भी दस्यु की ही भांति अराजक व्यक्ति मानते हैं। दोनों ही भाष्यकार इन मन्त्रों या मन्त्रांशों से वर्णगत घृणा को व्याख्यायित नहीं करते हैं।

इस सन्दर्भ में कुछ ऋचाओं की पद संरचना द्रष्टव्य है। ऋग्वेद प्रथम मण्डल के तैंतीसवें सूक्त के चौथे मन्त्र में इन्द्र (राजा) से निवेदन किया गया है कि वह औरों की सम्पदा छीनने वाले अयज्वा धनी दस्युओं का हनन करे। इन दस्युओं के प्रति नरेन्द्र के कठोर व्यवहार की प्रशंसा करते हुए अगले मन्त्र में कहा गया है कि हे इन्द्र (नरेन्द्र)! शुभाचारियों से द्वेष रखने वाले, अयज्वा, अव्रती, दस्युओं को निःशेषतया निकालकर आप प्रशंसनीय हो गए हैं।[१४] इन ऋचाओं में दस्युओं के लिए **सनकाः**, **अयज्वनाः**, **अव्रतान्** और **यज्वभिः स्पर्धमानाः** विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। इन पदों का स्पष्ट अर्थ है - दूसरों की सम्पदा पर बलात् अधिकार करने वाले, यज्ञ आदि शुभकर्मों से रहित, अव्रती और शुभकर्म करने वालों के विरोधी या द्वेषी। निश्चय ही ऐसे व्यक्ति किसी भी सभ्य समाज के लिए सबसे बड़ी चुनौती होते हैं। ऐसी प्रवृत्ति के लोग ही दस्यु होते हैं। इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में ऐसे उपद्रवी धनी दस्युओं को पराजित कर उनके उपद्रवों को शान्त करने की प्रार्थना की गई है।[१५]

ऋग्वेद की एक अन्य प्रार्थना में ऐसे कपटी और उपद्रवी दस्युओं को भयभीत करने, उनका हनन करने तथा उनके नगरों को ध्वस्त करने का परामर्श दिया गया है जो विविध प्रकार के अन्नों से मुख में ही यजन करते हैं।[१६] इस ऋचा में निहित सार्वजनिक वितरण प्रणाली और सामाजिक उत्तरदायित्व निर्वहन सम्बन्धी वेद की संवेदना को समझा जा सकता है। सामाजिक जीवन की ऐसी अनुगूंज निश्चय ही अभिनन्दनीय है। ऐसे व्यक्ति जो समष्टि हितसाधन की अपेक्षा व्यष्टि हितसाधन को ही प्रश्रय देते हैं तथा **सह नौ भुनक्तु,** (हम साथ-साथ खाएं) **त्यक्तेन भुञ्जीथाः,** (त्यागपूर्वक भोग करें) **केवलाघो भवति केवलादी** (अकेला खाने वाला पाप खाता है) के से

सभ्यता के आधारभूत सिद्धान्तों का अनुपालन नहीं करते हैं, ऐसे व्यक्ति सदा ही स्वस्थ समाज के विघातक होते हैं। वे सामाजिक संरचना के प्रति न तो सम्मान का भाव रखते हैं और न ही उसके प्रति संवेदनशील होते हैं। इस मन्त्र के सायणभाष्य में कौषीतकिब्राह्मण और वाजसनेयी से दो उद्धरण उद्धृत किए गए हैं जिनमें ऐसे असुरों की पराजय का उल्लेख है जो शरीर में ही हवन करते थे।[१०च] स्पष्ट ही है कि वेदमन्त्रों के दस्युओं और ब्राह्मणग्रन्थों के असुरों में वृत्तिसाम्य है। स्वार्थी और संग्रही लोगों के विपरीत वेद श्रेष्ठ दानशील प्रवृत्ति के लोगों के वर्चस्व की कामना करता है। ऋग्वेद की ऋचा विश्वपति की उद्घोषणा को अभिव्यक्त करती है कि ईश्वर ने यह भूमि आर्य अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष (पुरुषों) को दी है। उसी ने दानशील मनुष्यों के लिए वृष्टि और सुखकारी जल प्रदान किए हैं।[१ङ] वेद में केवल दासों और दस्युओं को कुचलने का ही निर्देश नहीं है, अपितु राजा से कहा गया है कि वह उन दास दस्युओं पर सेनादि का दबाव बनाकर उन्हें आर्य=श्रेष्ठ बनाने के लिए भी निरन्तर प्रयास करे।[१च] ऐसा नहीं है कि राजा यह कठोर व्यवहार केवल अराजकता उत्पन्न करने वाले दास या दस्युओं के प्रति ही करे, अपितु ऋग्वेद ने प्रबल शब्दों में सिफारिश की है कि यदि आर्य-समुदाय भी उपद्रव उत्पन्न करे तो उसके प्रति भी राजा ऐसा ही कठोर व्यवहार करे, और यदि वह सभ्याचार का अनुपालन न करें तो राजा उनका वध भी कर देवे।[१छ] ऋग्वेद की ऋचा आचरण से पतित ऐसे आर्य को 'अदेव' घोषित करते हुए संघर्ष होने की स्थिति में उसके पराभव की कामना कर रही है।[१ज] ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं में आर्यकृत उपद्रवों का उल्लेख करते हुए उनके दमन का सुझाव दिया गया है। इससे स्पष्ट है कि दास या दस्युओं के प्रति वेद द्वारा की जा रही कठोर व्यवहार की सिफारिश क्षेत्र, भाषा, रंग या समुदाय विशेष के कारण नहीं है, अपितु उसका आधार केवल सभ्य और असभ्य आचरण ही है। अन्यथा आर्यों का गुणगान करने वाली वैदिक ऋचाएं कभी उनके उपद्रवों का संज्ञान न लेतीं। ऋग्वेद का विचार है कि सभ्य समाज के लिए नियत सदाचार के उल्लंघन की अनुमति किसी को नहीं दी जा सकती।[१झ] इसीलिए ऋग्वेद हर अपराधी के क्षय की कामना करते हुए राज्यतन्त्र से अपेक्षा कर रहा है कि राजा और मन्त्रीगण अपराधी को ऐसे ही गला-पका दें जैसे अग्नि चावल को गला-पका देती है।[१ञ]

ऐसे अनेक समाजोपयोगी कार्यों, जिनको न केवल वैदिकोत्तर काल और मध्यकाल में ही निकृष्ट माना गया अपितु साम्प्रतिक युग में भी इन्हें हेय ही माना जाता है, को करने की प्रेरणाएँ ही वेद में विद्यमान नहीं हैं, अपितु उनके प्रति महती सम्मान और कृतज्ञता भी व्यक्त की गई है। कृषि-कार्य, मिट्टी से बर्तन बनाना, पीतल कांसे आदि धातुओं से बर्तन बनाना, लकड़ी से रथ, गाड़ी, हल आदि तैय्यार करना, चमड़े से जूते एवं युद्ध में प्रयुक्त होने वाली आयुध सामग्री जैसे वस्त्र, वर्म और प्रत्यञ्चा आदि बनाना, चक्की पीसना, सड़क बनाना, नहर, तालाब, कूप आदि खोदना ऐसे कार्य हैं, जिन्हें ऋग्वेद के मन्त्रों में बहुत आदर के साथ वर्णित किया गया है। इनमें से अनेक कार्य ऐसे हैं जिनमें स्त्रियों की सहभागिता भी प्रदर्शित की गई है। वेद और उत्तरवर्ती साहित्य में ऐसे अनेक सन्दर्भ विद्यमान हैं जिनसे परिज्ञात होता है कि ऋषि, विद्वान्, राजा आदि भी इन कार्यों को निम्न या हेय नहीं समझते थे तथा जब-तब अवसर पाकर बिना झिझक इनमें हाथ बंटाते थे। समाज में ऋषि सर्वाधिक आदरास्पद व्यक्ति होता है। ऋषि जिस कार्य को करे, वह निश्चय ही निन्दनीय या हेय नहीं हो सकता। वेद ऋषियों द्वारा करणीय कार्यों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करता है कि 'ऋषि' यज्ञों के विस्तारक हैं, रथ एवं अश्वविद्या के ज्ञाता हैं, भेड़ों के पालक हैं, उनके बालों से वस्त्र बुनने वाले हैं तथा बुने हुए वस्त्रों का परिशोधन करने वाले हैं।[१ट] यजुर्वेद मननशील विद्वान् पुरुष द्वारा वस्त्र बुने जाने के कार्य का उल्लेख करता है।[६ङ] बहुश्रुत ऋग्वेदीय ऋचा **मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्** के प्रथम तीन चरणों में पूर्वजों का अनुकरण करते हुए जुलाहे के वस्त्रवयन के कार्य को उत्तमरीति से करते हुए मननशील बनकर दिव्य सन्तानों के प्रजनन की बात कही गई है।[१ठ] ऋग्वेद ६.९.३ में हम वस्त्र-वयन कार्य के प्रशिक्षण का सन्दर्भ पाते हैं। ऋग्वेद के चौथे मण्डल के सत्तावनवें सूक्त में पठित सभी मन्त्र

कृषिकार्य के महत्त्व और तल्लग्न व्यक्तियों की प्रतिष्ठा को रेखांकित करते हैं। यह सूक्त किसान को अन्नदाता और सुखदाता घोषित करता है। एक मन्त्र की निवेदनपूर्ण कामना है कि 'किसान हमारे लिए मधुर स्वभाव वाला हो और हम लोग अद्रोही भाव से उस किसान का अनुसरण करें।[९ड] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में राजा के प्रति इच्छा व्यक्त की गई है कि राजा हल के लांगल को पकड़कर चले उसके पीछे पोषणकर्त्ता उसका मन्त्री हल चलावे, जिससे वह खेती बहुत फले-फूले और उत्तरोत्तर बढे।[९ढ] कुछ अन्य मन्त्रों में 'अश्विनौ'[१३ख] पद से संबोधित करते हुए ऐसे राजा और मन्त्री की प्रशंसा की गई है जो कृषि-कार्य में विशेष अभिरुचि लेते हुए अपनी प्रजा को प्रकाशित (आनन्दित) कर रहे हैं।[९ण]

वेद में स्वर्णकार, लोहकार, कुम्भकार, चर्मकार सहित काष्ठकार (बढ़ई) को तक्षा कहा गया है। इन श्रमजीवियों के लिए देव, धीर, यज्ञिय, विद्वान्, विपश्चित्, आदि पद वेद में आए हैं।[९त] अनश्व (घोड़ेरहित) एवं अनभीशु (लगामरहित) त्रिचक्र (तीन पहियों वाले) रथ का निर्माण कर ये अन्तरिक्ष और पृथिवी दोनों को प्रशस्त करते थे।[९थ] इन तक्षाओं की कृपा जिस पर हो जाती है, वह वेदवान्, ऋषि, शूर, विजेता सम्पदाशाली एवं वीर्यवान् बन जाता है।[९द] इसी प्रकार लौह एवं प्रस्तर निर्मित भवनों, चर्म से निर्मित विभिन्न वस्तुओं, खिलौने, घड़े एवं कूप आदि बनाने वालों की महिमा का कथन श्रुतियों में विद्यमान है। इसी प्रकार क्षौरकर्म, पशुपालन, सामुद्रिक व्यापार की साधनभूत नौकाओं के चालक मल्लाहगण तथा औषध के उत्पादन एवं निर्माण में लगे वैद्यादियों के कार्यों की दुरूहता एवं महत्ता का उल्लेख करते हुए उनके यशस्वी होने की कामना बहुशः मन्त्रों में दृष्टिगत होती है।

यजुर्वेद में भी ऐसे अनेक स्थल विद्यमान हैं जहाँ समाज में विभिन्न कार्य करने वाले श्रमिकों, कारीगरों और कृषकों आदि के प्रति अत्यन्त सम्मान प्रदर्शित करते हुए उन्हें नमन किया गया है। इनमें खनन करने वाले बैल चलाने वाले, गौशाला कर्मी, खाट आदि के बुनकर बढ़ई, रथकार, कुम्हार, लोहार, निषाद, बहेलिए सहित उन बन्धुओं के प्रति भी नमन किया गया है, जो श्वानों का पालन करते हुए मृगों के मध्य जीवन यापन करते हैं।[६च]

यजुर्वेद के तीसवें अध्याय के पांचवें मन्त्र से इक्कीसवें मन्त्र तक के सत्रह मन्त्रों में गुण, कार्य, स्वभाव आकृति, योग्यता एवं लोक-व्यवहार की दृष्टि से १७२ प्रकार के मनुष्यों का उल्लेख है। इस सूची में उल्लेखित संज्ञाओं से विदित होता है कि वेद विभिन्न प्रकार के कार्यों से अनभिज्ञ नहीं है। इन विशिष्ट गुण, कर्म, स्वभाव आकृति एवं योग्यता वाले मनुष्यों के प्रति किसी प्रकार की घृणा या उपेक्षा इन ऋचाओं में प्रदर्शित नहीं की गई है इन सबके प्रति समान समादर प्रकट करते हुए उनसे यथोचित कार्य निष्पादन की प्रेरणा दी गई है। इस सूची को देखने से विदित होता है कि परवर्ती समय में शूद्रों द्वारा करणीय समझे गए प्रायः सभी कार्यों का भी इस सूची में उल्लेख तो है, लेकिन कार्यविशेष को लेकर उसके करने वाले की प्रतिष्ठा पर कोई भेदभाव परक टिप्पणी नहीं की गई है। ऋषि दयानन्द सम्मत अर्थों के साथ इस सूची में पठित वृत्तिविशेष से आजीविका चलाने वाले कुछ व्यक्ति द्रष्टव्य हैं:- **ब्राह्मण** (ब्रह्मपुत्र, अर्थात् वेद, ईश्वर, व्रत, तप, यज्ञादि के तत्त्व को जाननेवाला) **राजन्य** (राजपुत्र अर्थात् शौर्य, वीर्य, प्रतापादि से शोभायमान) **वैश्य** (वैश्यपुत्र, अर्थात् व्यवसाय के लिए सर्वत्र वायुवत् प्रवेश करनेवाला) **शूद्र** (कठिन-से-कठिन दुःसाध्य शारीरिक कर्म में सदा तत्पर (तपसे शूद्रम्)) **तस्कर** (चोर) **वीरहा** (वीरों को मारनेहारा) **क्लीब** (नपुंसक) **अयोगू** (लोहे के हथिहारविशेष के साथ चलनेहारा) **पुँश्चलू** (पुरुषों के साथ चलायमान चित्तवाली व्यभिचारिणी स्त्री (पुँश्चली, स्वैरिणी)) **मागध** (अपनी कविता से लोगों के चित्त को मादक बनानेहारा) **सूत** (विविध-प्रतिभा-युक्त, विचित्र काव्यरचयिता (सूते जनयति काव्यादिकं यः स सूतः)) **शैलूष** (गानेहारा, नट) **सभाचर** (सभा में विचरनेहारा सभापति) **भीमल** (भयंकर कार्य करनेहारा) **रेभ** (स्तुति करनेहारा) **कारि** (उपहासकर्त्ता) **स्त्रीषख** (स्त्री से मित्रता करनेहारा (स्त्रीसखा)) **कुमारीपुत्र** (विवाह से पूर्व व्यभिचार से उत्पन्न बालक) **रथकार** (विमानादि बनानेहारा) **तक्षा** (महीन काम करनेहारा बढ़ई) **कौलाल**

(कुम्हार का पुत्र, अर्थात् मृत्तिका से विविध पात्रों का निर्माता) **मणिकार** (मणि बनानेवाला) **वप** (विद्यादि शुभगुणों का बोनेवाला (विप्र, मेधावी)) **इषुकार** (बाणकर्त्ता) **धनुष्कार** (धनुष्कर्त्ता) **ज्याकार** (प्रत्यञ्चा बनानेवाला) **रज्जुसर्ज** (रज्जु बनानेवाला) **मृगयु** (व्याध) **श्वनी** (कुत्ते पालनेहारा) **पौञ्जिष्ठ** (धानुक) **नैषाद** (निषादपुत्र) **दुर्म्द** (दुष्ट, अभिमानी) **व्रात्य** (संस्कार-रहित मनुष्य) **उन्मत्त** (उन्माद रोगवाला) **अप्रतिपद** (संशयात्मा) **कितव** (ज्वारी, धूर्त्त) **अकितव** (जुआ न खेलनेहारा) **विदलकारी** (पृथक्-पृथक् टुकड़े करनेहारा) **कण्टकीकारी** (काँटे बोनेवाली स्त्री) **जार** (व्यभिचारी) **उपपति** (दूसरा व्यभिचारी पति) **पेशस्कारी** (शृंगारविशेष से रूप करनेहारी व्यभिचारिणी) **स्मरकारी** (कामदेव को चेतन करनेहारी दूती) **उपसद** (साथी) **अनुरुध** (रोकनेवाला) **उपदा** (भेंट वा घूँस देनेहारा) **कुब्ज** (कुबड़ा) **वामन** (छोटा मनुष्य) **स्राम** (जिसके नेत्र से निरन्तर जल निकलता हो) **अन्ध** (अन्धा) **बधिर** (बहिरा) **भिषज** (वैद्य) **नक्षत्र-दर्श** (नक्षत्र दिखानेहारा गणितज्ञ) **प्रश्नी** (प्रशंसित प्रश्नकर्त्ता) **अभिप्रश्नी** (सब ओर से प्रश्न करनेहारा) **प्रश्न-विवाक** (प्रश्नों का विवेचन कर उत्तर देनेवाला) **हस्ति-प** (हाथियों का रक्षक) **अश्व-प** (घोड़ों का रक्षक) **गो-पाल** (गौओं का रक्षक) **अवि-पाल** (गडरिया) **अज-पाल** (बकरे-बकरियों का रक्षक) **कीनाश** (खेतिहर) **सुराकार** (सोमरस को निकालनेवाला) **गृह-प** (घरों का रक्षक) **वित्तध** (धन धारण करनेहारा) **अनुक्षत्ता** (अनुकूल सारथि) **दार्वाहार** (काष्ठों को पहुँचानेवाला) **परिवेष्टा** (परोसनेवाला) **उपसेक्ता** (उपसेचन करनेहारा) **वासः पल्पूली** (वस्त्रों को शुद्ध करनेवाली धोबिन) **रजयित्री** (उत्तम रंग करनेवाली रंगरेजिन) **अनुक्षत्ता** (अनुकूल सारथि) **अनुचर** (सेवक) **अश्व-साद** (घोड़ों को चलानेवाला) **अयस्ताप** (लोहे या सुवर्ण को तपानेवाला) **त्रिष्ठी** (जल, स्थल, आकाश-तीनों स्थानों में विमानादि के साथ रहनेवाला) **कोशकारी** (करवालादि कोश बनानेवाली) **अवतोका** (अपुत्रा स्त्री) **दाश** (सेवक, धीवर) **कैवर्त** (जल में नौका चलानेवाला) **आन्द** (बाँधनेवाला) **पर्णक** (भील) **किरात** (किरात) **किम्पूरुष** (छोटे जंगली मनुष्य) **पौल्कस** (भंगी का पुत्र) **हिरण्यकार** (सुवर्णाभूषण बनानेहारा सुनार) **सिध्मल** (रोगी) **कितव** (जुआरी) **भिक्षमाण** (भीख माँगनेवाला) **मूक** (गूँगा) **आडम्बराघात** (हल्ला-गुल्ला करनेवाला) **वीणावाद** (वीणा बजानेवाला) **तूणव-ध्म** (तूणी बजानेवाला) **वन-प** (वन रक्षक) **दाव-प** (वनदाह रक्षक) **अभिक्रोशक** (पुकारनेहारा) **पाणिघ्न** (हाथ से ताल बजानेवाला) **चाण्डाल** (चाण्डाल) **वंशनर्ती** (बाँस पर नाचनेवाला नट) **हर्य्यक्ष** (वानर की-सी छोटी आँखवाला) **किलास** (थोड़ा खोटा वर्ण, कोढ़) **शुक्लपिंगाक्ष** (शुक्ल-पीत नेत्र) **कृष्णपिंगाक्ष** (कृष्ण-पीत नेत्र) इन समस्त कार्यों का उल्लेख करते हुए ऋचाएं किसी के साथ घृणायुक्त भेदभावपूर्ण व्यवहार का निर्देश नहीं करती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि मूल वेदसंहिताएं आचरण और प्रवृत्तियों के आधार पर ही किसी व्यक्ति को हेय मानती हैं। वर्णगत घृणा और हिंसा वेद में विद्यमान नहीं है।

सन्दर्भ

१- **शूद्रों की खोज; डॉ. बाबा साहेब भीमराव अम्बेडकर, गौतम बुक सेन्टर, शाहदरा, दिल्ली ९३ सप्तम संस्करण, २००८, पृष्ठ ८७-८८.**

२- **प्राचीनभारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएं; रामशरण शर्मा, राजकमल प्रकाशन. १-८, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-०२, प्रथम संस्करण १९९०, पृष्ठ ७०-७१**

३- **भारतीय सामाजिक संस्थाए; रवीन्द्रनाथ मुखर्जी, सरस्वती सदन, मंसूरी, द्वितीय संस्करण १९६७, (क)** पृष्ठ ४५ पर उद्धृत डॉ. राधाकृष्णन का अभिमत। (ख) पृष्ठ ४८

४- **मनुस्मृति, समालोचक-डॉ. सुरेन्द्र कुमार; आर्षसाहित्य प्रचार ट्रस्ट, ४५५ खारी बावली, दिल्ली-०६, छठा संस्करण, २००५; (क)** १०.४५; मुख बाहूरुपज्ञानां या लोके जातयो बहिः। म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः।। **(ख)** २.३२; शर्मवद् ब्राह्मणस्य स्याद्राज्ञो रक्षासमन्वितम्। वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेष्य संयुतम्।। इस श्लोक में मनु ने शूद्र

के साथ प्रेष्य अर्थात् सेवावाची शब्द जोड़ने की बात की है। कुल्लूक भट्ट ने यमस्मृति और विष्णु पुराण के सन्दर्भ से 'पेष्य' पद का अर्थ 'दास' किया है ७ तथा च यम: शर्मा देवश्च विप्रस्य वर्मा त्राता च भूभुज:। भूतिर्दत्तश्च वैश्यस्य दास: शूद्रस्य कारयेत्। विष्णुपुराणेष्वुक्तम् शर्मवद् ब्राह्मणस्योक्तं, वर्मेति क्षत्र संयुतम्। गुप्तं दासात्मकं नाम प्रशस्तं वैश्यशूद्रयो:।। (ग) २.३१; शूद्रस्य तु जुगुप्सितम्।

५- **उद्भावना (वर्ष २४, अंक ८४, जुलाई-अगस्त २००९)**; सम्पादक - अजेय कुमार; एच-५५, सेक्टर २३, राजनगर, गाजियाबाद (उत्तरप्रदेश) में प्रकाशित डॉ. रति सक्सेना के शोधात्मक आलेख- 'वैदिक पुनर्विवेचन- अथर्ववेद के सन्दर्भ में' से (क) पृष्ठ ३९ (ख) पृष्ठ ४१

६- **यजुर्वेद, सम्पादक श्रीपाद दामोदर सातवलेकर; स्वाध्याय मण्डल, पारडी, बलसाड, गुजरात**
(क) १८.४८; रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि। रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्।।
(ख) २०.१७; यद् ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये। यच्छूद्रे यदर्ये यदेनश्चकृमा वयं यदेकस्याधि धर्मणि तस्यावयजनमसि। (ग) २६.२; यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्य:। ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्य्याय च स्वाय चारणाय च। (घ) १९.४६; ये समाना: समनसो जीवा जीवेषु मामका:। तेषां श्रीर्मयि कल्पतामस्मिंल्लोके शतं समा:।। (ङ) १९.८०; सीसेन तन्त्रं मनसा मनीषिण ऊर्णासूत्रेण कवयो वयन्ति। (च) १६.४३; नम: सिकत्याय च प्रवाह्याय च; १६.४४; गोष्ठ्याय च नमस्तल्प्याय च। १६.२७; नमस्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमो नम: कुलालेभ्य: कमरिभ्यश्च वो नमो नमो निषादेभ्य: पु।✕जष्ठेभ्यश्च वो नमो नम: श्वनिभ्यो मृगयुभ्यश्च वो नम:।

७- **अथर्ववेद, सम्पादक श्रीपाद दामोदर सातवलेकर; स्वाध्याय मण्डल, पारडी, बलसाड, गुजरात, तृतीय संस्करण, १९५८**; १९.३२.८; प्रियं मा दर्भ कृणु ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च। यस्मै च कामयामहे सर्वस्मै च विपश्यते। १९.६२.१; प्रियं या कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु। प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये।।

८- **अष्टाध्यायी (अष्टाध्यायी सूत्रप्रयोगदीपिका) भाष्यकार एवं प्रकाशक- सत्यानन्द वेदवागीश:, ए-१३१, सेक्टर-५५, नोएडॉ० (उत्तरप्रदेश); प्रथम संस्करण, वि०सं० २०६२**; ३.१.१०३; अर्य्य: स्वामिवैश्ययो:

९- **ऋग्वेद, सम्पादक श्रीपाद दामोदर सातवलेकर; स्वाध्याय मण्डल, पारडी, बलसाड, गुजरात, चतुर्थ संस्करण**
(क) ४.५७.४; शुनं वाहा: शुनं नर: शुनं कृषतु लांगलम्। शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिंगय।। (ख) १.३३.४-५; वधीर्हि दस्युं धनिनं घनेनँ एकश्चरन्नुपशाकेभिरिन्द्र। धनोरधि विषुणक्ते व्यायन्नयज्वान: सनका: प्रेतिमीयु:।। परा चिच्छीर्षा ववृजुस्त इन्द्रायज्वानो यज्वभि: स्पर्धमाना:। प्र यद्दिवो हरिव: स्थातरुग्र निरव्रताँ अधमो रोदस्यो:।। (ग) १.३३.७ (घ) १.५१.५; त्वं मायाभिरप मायिनोऽधम: स्वधाभिर्ये अधि शुप्तावजुह्वत। त्व पिप्रोर्नृमण: प्रारुज: पुर: प्र ऋजिश्वानं दस्युहत्येष्वाविथ।। (ङ) ४.२६.२; अहं भूमिमददामार्यायाहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय। अहमपो अनयं वावशाना मम देवासो अनु केतमायन्।। (च) ६.२२.१०; यया दासान्यार्याणि वृत्राकरो वज्रिन्त्सुतुका नाहुषाणि।। (छ) ६.६०.६; हतो वृत्राण्यार्या हतो दासानि सत्पती। हतो विश्वा अप द्विष:। ६.३३.३; त्वं ताँ इन्द्रोभयाँ अमित्रान् दासा वृत्राण्यार्या च शूर। (ज) १०.३८.३; यो नो दास आर्यो वा पुरुष्टुतादेव इन्द्र युधये चिकेतति। अस्माभिष्टे सुषहा: सन्तु शत्रवस्त्वया वयं तान् वनुयाम संगमे।। (झ) ५.११.३; न मे दासो नार्यो महित्वा व्रतं मीमाय यदहं धरिष्ये। (ञ) ७.१०४.२; इन्द्रासोमा समघशंसमभ्यघं तपुर्ययस्तु चरुरग्निवाँ इव। (ट) १०.२६.५-६; प्रत्यर्धिर्यज्ञानामश्वहयो रथानाम्। ऋषि:स यो मनुर्हितो विप्रस्य यावयत्सख:।। आधीषमाणाया: पति: शुचायाश्च शुचस्य च। वासोवायोऽवीनामा वासांसि मर्मृजत्।। (ठ) १०.५३.६; तन्तुं तन्वन् रजसो भानुमन्विहि ज्योतिष्मत: पथो रक्ष धिया कृतान्। अनुल्वणं वयत जोगुवामपो मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्।। (ड) ४.५७.३; क्षेत्रस्य पतिर्मधुमान्नो अस्त्वरिष्यन्तो अन्वेनं चरेम। (ढ) ४.५७.४; इन्द्र: सीतां निगृह्णातु तां पूषानु यच्छतु। सा न: पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम्।। (ण) ऋक् १.११७.२१ एवं ८.२२.६ (त) ४.३६.७ (थ) ४.३६.१ अनश्वो जातो अनभीशुरुक्थ्यो रथस्त्रिचक्र: परिवर्तते रज:। महतत्तद्वो देव्यस्य प्रवाचनं द्यामृभव: पृथिवीं यच्च पुष्यथ।
(द) ४.३६.६

१०- **ऋग्वेद सायणभाष्य (ऋग्वेदसंहिता सायणभाष्यसहित), वैदिक संशोधन मण्डल, तिलक मैमोरियल पूना २; १ से ४ भाग, प्रथम संस्करण १९४१ ई.** (क) ६.३३.३ दासा उपक्षपयितृन् कर्मविरोधिनो वलप्रभृतीनसुरान्। (ख) २.१२.४; यश्च दासं वर्णं शूद्रादिकम्। यद्वा दासमुपक्षयितारं अधरं निकृष्टमसुरं गुहा गुहायां गूढस्थाने नरके वा अकः अकार्षीत्। (ग) ४.३०.१५ (घ) ५.३४.६ आर्यः स्वामी यथावशं यथेच्छं दासं दासकर्माण जनं नयति स्ववशम्। (ङ) ६.२६.५; तथा त्वं दासं यज्ञादिकर्मणामुपक्षपयितारं गिरेः पर्वतान्निर्गतं शम्बरमसुरम् अवहन् अवावधीः। (च) १.५१.५; तथाच कौषीतकिभिराम्नायते - असुरा वा आत्मन्नजुहवुरुद्वातेऽग्नौ ते पराभवन्।

११- **ऋग्वेद दयानन्दभाष्य, वैदिक पुस्तकालय, दयानन्द आश्रम, केसरगंज, अजमेर, राजस्थान** (क) २.१२.४ (ख) ४.३०.२१ (ग) ५.३४.६ (घ) ६.२६.५; (ङ) १.५८.५ (च) ६.४७.२१ (छ) ७.१९.२ (ज) ५.३०.८

१२- **सत्यार्थप्रकाश; स्वामी दयानन्द सरस्वती, वैदिक पुस्तकालय, दयानन्द आश्रम, केसरगंज, अजमेर, ३९वां संस्करण, २००५ ई०, पृष्ठ २६२-२६३**

१३- **निरुक्त (निरुक्तसम्मर्शः) भाष्यकार-स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक; आर्षसाहित्य मण्डल लि०, अजमेर, प्रथम संस्करण मार्च १९६६;** (क) ७.६.२३ (ख) तत्काविश्विनौ? द्यावापृथिव्यावित्येके अहोरात्रावित्येके सूर्याचन्द्रमसावित्येके राजानौ पुण्यकृतावित्यैतिहासिकाः।

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०१० अङ्क १३ (पृ०१०६-११०)

जैन धर्म में मानव चेतना के विकास की प्रणाली

डॉ. ईश्वर भारद्वाज[1]

डॉ. उषा लोहान[2]

जैन धर्मानुसार मानव चेतना का विकास पूर्वजन्म के कर्मफल को नष्ट करके और इस जन्म के कर्मबन्धनों से पृथक् रहने पर ही होता है। इस हेतु जैन ग्रंथों में 'रत्नत्रय' नामक साधना पद्धति का विवेचन प्राप्त होता है। इसे मोक्षमार्ग भी कहा गया है। ये तीन रत्न हैं-सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र।[१] इनका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है-

१. सम्यक् दर्शन - सत् के प्रति श्रद्धा रखना सम्यक् दर्शन है। श्रद्धा का अभिप्राय अपने ध्येय के प्रति अविचल निष्ठा है। यह सत् से तात्पर्य यथार्थ ज्ञान से है। इस प्रकार सम्यक् दर्शन का अर्थ है-शास्त्रोक्त तत्त्वों के स्वरूप में सच्ची निष्ठा। मनुस्मृति में सम्यक् दर्शन के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि सम्यक् दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति कर्मबन्धनों में नहीं बन्धता।[२] अतएव जैन साधना प्रणाली में सम्यक् दर्शन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

२. सम्यक् ज्ञान - सत् का संशयरहित और यथार्थ ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान कहलाता है। अन्य शब्दों में, 'सम्यक् दर्शन हेतु जिन तत्त्वों पर विश्वास करना अपेक्षित है, उनको विधिवत् रूप से जानना सम्यक् ज्ञान है।'[३] अथवा अनेक धर्मयुक्त 'स्व' तथा 'पर' पदार्थों को जानना ही सम्यक् ज्ञान है।[४] इसके द्वारा जीव और अजीव अर्थात् वास्तविक एवं अवास्तविक का ज्ञान हो जाता है।

३. सम्यक् चरित्र - सम्यक् दर्शन की उपलब्धि और सम्यक् ज्ञान की आराधना के अनन्तर साधक का चरित्र सम्यक् चरित्र हो जाता है। अशुभ से निवृत्ति और शुभ या शुद्ध में प्रवृत्ति चरित्र है।[५] ज्ञान को आचरण में लाना, यही चरित्र धर्म है, इसी को अन्य शब्दों में सम्यक् चरित्र कहा गया है। इस अवस्था में व्यक्ति जागतिक विषयों के प्रति उदासीन हो जाता है।

सम्यक् चरित्र की प्राप्ति हेतु सँवरयोग और तपोयोग का प्रतिपादन किया गया है। पूर्वकर्मों के क्षय (निर्जरा) हेतु तपोयोग और नये कर्मों के निर्माण (सँवर) के निरोध हेतु सँवरयोग का प्रतिपादन किया गया है।

तपोयोग - आचार्य अभयदेव के अनुसार जिस साधना द्वारा शरीर के रस, रक्त, माँस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र तप जाते हैं, शुष्क हो जाते हैं अथवा अशुभ कर्म जल जाते हं, उनका क्षय हो जाता है, उस साधना को तप कहते हैं।[६] जिनदासगणी महत्तर के अनुसार तप उस साधना को कहते हैं जिसके द्वारा आठ प्रकार के कर्मों की ग्रंथियों को तपाया जाता है, नाश किया जाता है।[७] इस सम्बन्ध में मलयगिरि का भी यही मानना है।[८] तपोयोग की साधना से साधक अपने पूर्व बद्ध कर्मों की निर्जरा करके आत्मा को शुद्ध बनाता है।[९]

तप के भेद - तप के भेदों का विस्तृत वर्णन उत्तराध्ययन सूत्र में प्राप्त होता है।[१०] इसमें तप के दो प्रमुख भेद बताये गये हैं- (१) बाह्य तप, (२) आभ्यंतर तप।

---

१ प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, मानव चेतना एवं योग विज्ञान विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

२ शारीरिक शिक्षा विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

बाह्य तप[११] – यह छः प्रकार का है–

(१) अनशन – सभी प्रकार के आहार का त्याग अनशन है।

(२) अवमौदर्य – अल्प आहार मात्र ग्रहण करना अवमौदर्य अथवा ऊनोदरी तप कहा गया है।

(३) वृत्तिपरिसंख्यान – आहार सम्बन्धी परिस्थितियों पर नियंत्रण करना वृत्तिपरिसंख्यान तप है अर्थात् भिक्षा द्वारा भोजन ग्रहण करना। इसे भिक्षाचारी भी कहा गया है।

(४) रस परित्याग – घृतादि विशेष पौष्टिक एवं विकारी वस्तुओं का त्याग तथा मिष्ठान्न आदि रसों का नियमन करना रस परित्याग है।

(५) विविक्त शय्यासन – इसका अर्थ है-शून्य ग्रहादि एकांत स्थान में वास करना। इसे प्रतिसंलीनता भी कहा गया है।

(६) कायक्लेष तप – धूप, शीत, वर्षा आदि बाधाओं को विशेष रूप से सहने का एवं आसन विशेष पर दीर्घकाल तक स्थिर रहने का अभ्यास करना कायक्लेष तप कहा जाता है।

आभ्यंतर तप[१२] – आभ्यंतर तप के भी छः प्रकार कहे गये हैं। ये निम्न हैं–

(१) प्रायश्चित – प्रमादवश उत्पन्न हुए दोषों के परिहार हेतु आलोचना, प्रतिक्रमण आदि चित्तशोधक क्रियाओं में प्रवृत्त होना प्रायश्चित तप है।

(२) विनय तप – अभिमान का परित्याग कर ज्ञान एवं आयु में बड़े व्यक्तियों के प्रति आदर-सम्मान व्यक्त करना विनय तप है।

(३) वैयावृत्य तप – इसका अर्थ है गुरुजनों, वृद्धजनों एवं तपस्वियों, महात्माओं आदि की निष्काम भाव से सेवा करना।

(४) स्वाध्याय तप – धर्मशास्त्रों का अध्ययन, मनन, चिंतन व स्मरण करते रहना स्वाध्याय तप है।

(५) व्युत्सर्ग तप – गृह, धन-धान्यादि बाह्य उपाधियों तथा क्रोधादि आंतरिक उपाधियों का त्याग करना व्युत्सर्ग तप है।

(६) ध्यान – एक लक्ष्य पर चित्त एकाग्र करना ध्यान है। उमास्वाति ने एकाग्रचित्त तथा शरीर वाणी और मन के निरोध को ध्यान कहा है।[१३]

सँवर योग – आस्रव को रोकने का नाम सँवर है।[१४] सँवर को दो प्रकार का कहा गया है-द्रव्य सँवर और भाव सँवर। कर्म पुद्‌गलों के आस्रव (प्रवाह) को रोक देना द्रव्य सँवर है और कर्मास्रव के कारणभूत ईर्ष्या-द्वेष आदि भावों को रोकना भाव सँवर है।

सँवर प्राप्ति के साधन

गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषह तथा पाँच प्रकार का चरित्र सँवर प्राप्ति के साधन हैं।

गुप्ति – गुप्ति का अर्थ रक्षा है। सँवर प्रवाह के प्रधान कारण स्वरूप मन, वचन तथा काय- इन तीन प्रकार के योग को रोकना गुप्ति है।[१५]

(१) काय गुप्ति – शरीर को हिंसादि में प्रवृत्त न होने देना।

(२) वचो गुप्ति – अप्रिय, असत्य तथा कटु वचन न बोलने की अपेक्षा न्यूनतम बोलना।

(३) मनो गुप्ति - असत् संकल्पों को त्यागकर सत्संकल्प उत्पन्न करना।

समिति - अहिंसा वृत्ति के पालन हेतु निषिद्ध वृत्तियों का परित्याग ही समिति है। यह पाँच प्रकार की है।

(१) ईर्या समिति - किसी प्राणी की हिंसा से बचने हेतु निश्चित मार्ग से आवागमन।

(२) भाषा समिति - हित-मित-स्पष्ट-सत्य सम्भाषण करना।

(३) एषणा समिति - जीवनोपयोगी वस्तुओं का भिक्षा द्वारा संग्रहण करना।

(४) आदान समिति - समस्त वस्तुओं का अत्यन्त सावधानीपूर्वक परिमार्जन करते हुए ग्रहण एवं स्थापन करना।

(५) उत्सर्ग समिति - जीव-जन्तु शून्य स्थानों में मल-मूत्र विजर्सन करना

धर्म - अपने स्वरूप लाभ के लिए किया गया प्रत्येक प्रयास और विश्व को धारण करने वाला आचरण विशेष ही धर्म कहलाता है। धर्म दस प्रकार के कहे गये हैं।[१६]

(१) क्षमा - विवेकपूर्वक क्रोध का निवारण करना।

(२)मार्दव - मन तथा व्यवहार में नम्र प्रवृत्ति का होना।

(३) आर्जव - प्रपंचोपचार का परित्याग करना।

(४) शौच - धमाचरण के साधन शरीर, मन, इन्द्रिय आदि में आसक्ति न रखना।

(५) सत्य - सम-शील सत्पुरुषों से हित-मित-सत्य सम्भाषण।

(६) संयम - वाणी-गति-स्थिति आदि में यातनाओं को सहन करना।

(७) तप - दुष्प्रवृत्तियों को शरीर और इन्द्रियों पर नियंत्रण प्राप्त करना।

(८) त्याग - सत्पात्र को दान देना तथा योग्य शिष्यों में ज्ञान आदि गुणों का आधान करना त्याग है।

(९) अकिंचन - आत्मा के चैतन्य आदि गुणों का स्मरण करना तथा पुत्र-भार्या आदि पदार्थों में ममत्व बुद्धि का न होना अकिंचन (मेरा कुछ नहीं है) है।

(१०) ब्रह्मचर्य - अज्ञान निवारण हेतु ज्ञान आदि गुणों का अभ्यास करना तथा इन्द्रिय संयम हेतु गुरुकुल तथा ब्रह्मचर्य आश्रम में निवास ब्रह्मचर्य है।

अनुप्रेक्षा - सत्य के प्रति एकनिष्ठ बुद्धि से देखना अनुप्रेक्षा है।[१७] अर्थात् अपनी समस्त पूर्वधारणाओं और संस्कारों को नकार कर सत्य को ग्रहण करना अनुप्रेक्षा है। बारह अनुप्रेक्षाओं के नाम इस प्रकार से हैं-

(१) अनित्य अनुप्रेक्षा, (२) अशरण अनुप्रेक्षा, (३) संसार अनुप्रेक्षा, (४) एकत्व अनुप्रेक्षा, (५) अन्यत्व अनुप्रेक्षा, (६) अशुचि अनुप्रेक्षा, (७) आस्रव अन्प्रेक्षा, (८) सँवर अनुप्रेक्षा, (९) निर्जरा अनुप्रेक्षा, (१०) लोक अनुप्रेक्षा, (११) बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा, (१२) धर्म अनुप्रेक्षा।[१८]

अनुप्रेक्षायोग की साधना करने वाला साधक अपने पूर्व संस्कारों और धारणाओं तथा राग-द्वेषमय मान्यताओं को त्यागकर सत्य के पति समर्पित हो जाता है और सत्य को ही अपने मन के अणु-अणु में धारण करता है।

परिषहजय - अंगीकार किये हुए धर्म के पालन हेतु तथा कर्मों के क्षय हेतु सर्दी-गर्मी आदि द्वन्द्वों को समभाव से सहना 'परिषह' है।[१९] इसकी संख्या २२ कही गयी है।[२०]

(१) क्षुधा, (२) तृषा, (३) शीत, (४) उष्ण, (५) डांस-मच्छर, (६)नाग्न्या, (७) अरंति, (८) स्त्रीचर्या, (९) निषधा, (१०) शय्या, (११) आक्रोश, (१२) वध, (१३) याचन, (१४) अलाभ, (१५) रोग, (१६) तृण स्पर्श, (१७) मल, (१८) सत्कार, (१९) पुरस्कार, (२०) अज्ञान, (२१) अज्ञान, (२२) अदर्शन।

पंचचरित्र - सद्वृत्ति रूप प्रयत्न विशेष का आचरण करना 'चरित्र' है। इसके निम्न पाँच भेद हैं-

(१) सामयिक - द्वेष भाव का परित्याग करके सर्व-भूत हित चिंतन की भावना से मुनि द्वारा सर्वप्रथम ग्रहण की गयी दीक्षा का नाम सामयिक है।

(२) छेदोपस्थान - प्रमाद के कारण चरित्र में आये हुए दोषों का प्रायश्चित द्वारा उच्छेदन करके पुनः निर्मल चरित्र धारण करना छेदोपस्थान है।

(३) परिहार-विशुद्धि - जीव हिंसा का परित्याग करके जप, ध्यान तथा आचरण आदि के द्वारा विशेष शुद्धि लाभ करना, परिहार-शुद्धि चरित्र है।

(४) सूक्ष्म-साम्पराय - क्रोधादि कषायों के सर्वथा नष्ट होने पर भी सूक्ष्म रूप से शेष बचे हुए लोभांश के परिहार हेतु किया गया प्रयत्न विशेष सूक्ष्म साम्पराय चरित्र है।

हुए लोभांश के परिहार हेतु किया गया प्रयत्न विशेष सूक्ष्म साम्पराय चरित्र है।

(५) यथाख्यात् चरित्र - समस्त सम्मोहनीय कर्मों के उपशांत होने पर जीव का अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाना यथाख्यात चारित्र है।[२१]

इस प्रकार 'गुप्ति, समिति, धर्म, परिषहजय, तपानुष्ठान, अनुप्रेक्षा का आचरण तथा चारित्र धारण करना ये छः सँवर के कारण होते हैं।'[२२]

इसके अतिरिक्त साधक को पाँच व्रतों का पालन करने का निर्देश दिया गया है-

पंच व्रत

ये पाँच व्रत निम्न हैं-

अहिंसा - प्रमादवश अपने या दूसरों के प्राणों का घात करना हिंसा है।[२३] हिंसा का परित्याग ही अहिंसा है। अहिंसा जैनधर्म का मूलभूत आधार है। पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय वनस्पतिकाय और त्रास-जीव (चलने-फिरने वाले) इन छः प्रकार के जीवों के संयमपूर्ण व्यवहार करना ही अहिंसा है। प्राणि मात्र के प्रति मन, वचन, कर्म स हिंसा का त्याग आवश्यक कहा गया है।

सत्य - जैनों ने सत्य को योग का आधार कहा है। निर्दोष, मधुर व हितकर वचन बोलना, कटुसत्य न बोलना, शीघ्रता और चपलता से बिना विचार किये न बोलना, क्रोध के आवेश अथवा लोभ के वशीभूत होकर न बोलना, भय के कारण अथवा हँसी-मजाक में झूठ न बोलना - ये सभी तथ्य सत्य के अंतर्गत सम्मिलित हैं।

अस्तेय - बिना दिये हुए किसी भी अनिवार्य आवश्यकता की वस्तु को भी न लेना अस्तेय है। अन्य शब्दों में आहार-पानी आदि सभी अनिवार्य आवश्यकता की वस्तुएँ उसके स्वामी द्वारा सहर्ष दिये जाने पर ही ग्रहण करना अस्तेय है। इसके अंतर्गत गुरु आज्ञा से आहार ग्रहण करना और गुरु, वृद्ध, रोगी, तपस्वी, मुनि आदि की सेवा भी सम्मिलित की गयी है।

ब्रह्मचर्य - सर्वतोभावेन ब्रह्म का चिंतन, उसी में रमण ब्रह्मचर्य है। संकुचित अर्थों में वीर्य का धारण, इन्द्रिय संयम ब्रह्मचर्य है। इसके अंतर्गत जैन ग्रंथों में वासनायुक्त प्रसंगों का कथन, श्रवण, चिंतन, स्मरण, अवलोकन का निषेध किया है तथा साथ-साथ आहारजन्य संयम जो ब्रह्मचर्य पालन में सहायक हो उसको ग्रहण करने का निर्देश दिया है।

अपरिग्रह - अपने शरीर एवं बाह्य धार्मिक उपकरणों में अनासक्ति ही अपरिग्रह है। जैन मतावलम्बियों के अनुसार प्रिय-अप्रिय वचन के प्रति, सुन्दर-असुन्दर के प्रति, सुगन्ध-दुर्गन्ध के प्रति, राग-द्वेष न रखते हुए समभाव से रहना आवश्यक है तथा साथ-साथ- सभी प्रकार के रसों एवं स्पर्शों के प्रति भी उदासीन होना अपरिग्रह के अंतर्गत सम्मिलित है।[२४]

इस प्रकार स्पष्ट है कि जैन धर्म में चेतना के विकास की प्रणाली का विवेचन व्यापक रूप से प्रतिपादित किया गया है।

संदर्भ सूची

१. सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणि मोक्षमार्गः। - तत्त्वार्थ सूत्र - १/१

२. सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न बध्यते। दर्शनेन विहीनस्तु संसारे प्रतिपद्यते॥ - मनुस्मृति

३. नाणेण जागइ भावे। - उत्तराध्ययन सूत्र - २८/३५

४. स्वापूर्वार्थ व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् प्रमेयरत्नमाला।

५. असुहादो विणिवित्ति सुह पावित्ति य जाण चारितं।

६. आचार्य अभयदेव -स्थानांगवृत्ति - ५/१, पत्र २८३

७. तवो णाम तावयाते अद्ठविहं कम्मगठि, नासेतितबुत्तं भवई। जिनदासगिरि जी, दशवैकालिक सूत्र

८. तापयति अष्ट प्रकारं कर्म इति तपः। - मलयगिरि, आवश्यक सूत्र -२/१

९. तपसा निर्जरा च । - तत्त्वार्थ सूत्र -९/३

१०. उत्तराध्ययन सूत्र -३०/७-३६

११. तत्त्वार्थ सूत्र -९/१९, १२. वही, ९/२०, १३. वही, ९/२७

१४. आस्रव निरोधः सँवरः। तत्त्वार्थ सूत्र - ९/१०

१५. सम्यक् योगनिग्रहो गुप्तिः। तत्त्वार्थ सूत्र -९/४

१६. वही ९/६

१७. सत्यं प्रति प्रेक्षां, अनुप्रेमक्षा

१८. आचार्य आत्माराम जी - जैनयोग सिद्धान्त और साधना, पृ. २१३

१९. डा. किशोरदास स्वामी - भारतीय दर्शन और मुक्ति मीमांसा, पृ. ४१७

२०. तत्त्वार्थ सूत्रम्-९/९

२१. डा. किशोरदास स्वामी - भारतीय दर्शन और मुक्ति मीमांसा, पृ. ४१९

२२. तत्त्वार्थ सूत्रम् - ६/३

२३. प्रमत्तयागात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा। तत्त्वार्थ सूत्रम् - ६/३

२४. डा. शिवस्वरूप सहाय - प्राचीन भारतीय धर्म एवं दर्शन, पृ. १८२

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०१० अङ्क १३ (पृ०१११-११५)

उपनिषदों में आर्थिक जीवन की झलक

प्रो० मनुदेव बन्धु[1]

मूलस्रोत-वैदिक साहित्य के अन्तर्गत वेद ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् और वेदाङ्ग ग्रन्थों का समावेश किया गया है। ''वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'' कहकर मनु ने वेद की महिमा का प्रतिपादन किया है। ''वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है'' इस उद्घोषणा के साथ ऋषि दयानन्द सरस्वती ने वेदों को सर्वोपरि माना है। वेदों के दैनिक स्वाध्याय से इह लोक और परलोक में कल्याण होता है। ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड नामक दो धाराओं में वेदों का व्याख्यान किया गया है। ब्राह्मणग्रन्थ कर्मकाण्ड के अन्तर्गत और उपनिषद्ग्रन्थ ज्ञानकाण्ड के अन्तर्गत आते हैं। उपनिषदों के स्वाध्याय से परब्रह्म की प्राप्ति होती है। यह निर्विवाद सत्य है कि उपनिषद्ग्रन्थ ज्ञानकाण्ड के अन्तर्गत आते हैं। उपनिषदों के स्वाध्याय से परब्रह्म की प्राप्ति होती है। यह निर्विवाद सत्य है कि उपनिषद् ग्रन्थ पाठक साधक को जन्म-मरणा के चक्र से छुड़ाकर मोक्ष की प्राप्ति कराते हैं। भवबन्धन के झंझरों से दूरकरके परमशान्ति की ओर ले चलते हैं। ईशोपनिषद् का कथन ध्यातव्य है-

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्[2]॥

अर्थात् हे मानव! यह संसार ईश्वर द्वारा आच्छादित है। तुम इसका त्यागपूर्वक भोग करो। किसी दूसरे के धन को लालच की दृष्टि से मत देखो। यह धन प्रभु का है। परिश्रमपूर्वक भोग करो।

अर्थपरक चिन्तन-उपनिषदों में आध्यात्मिक चिन्तन के साथ-साथ अर्थपरक चिन्तन की झलक मिलती है। तत्कालीन अर्थपरक शब्दों में वित्त[3] धन[4] रै[5] वसु[6] आदि शब्दों का प्रयोग होता था। श्रीमन्थ कर्म की उपासना धनप्राप्ति के लिये होती थी।[7] यमाचार्य ने नचिकेता को प्रलोभन देते समय शतायुष पुत्र-पौत्र, सुवर्ण, भूमण्डल, धन तथा स्थायी आजीविका प्रदान करने का वचन दिया था।[8] ब्राह्मण परिग्रही थे। याज्ञवल्क्य का सम्पति विभाजन भी इसी बात की पुष्टि करता है।[9] बृहदारण्योपनिषद् में सुस्पष्ट शब्दों में कह गया है कि ब्रह्म जब विभूतियुक्त कर्म करने मे असमर्थ रहा तब उसने धनोपार्जन करनेवाली वैश्य जाति की रचना की।[10] इस प्रसङ्ग में आचार्य शंकर ने

---

१ अध्यक्ष वेद विभाग, अधिष्ठाता प्राच्य विद्या संकाय, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
२ यजुर्वेद ४०/१ तथा ईशोपनिषद मन्त्र १
३ बृहदारण्यकोपनिषद् १/४/८ तथा १/४/१७
४ तैत्तिरीयोपनिषद् १/११/ छान्दोग्योपनिषद् १/११/३
५ बृहदारण्यकोपनिषद् ५/११/१ तथा ईशोपनिषद् मन्त्र १८
६ वसुदानो विन्दते वसु य एवं वेद/बृहदा०/४/५/२४ वसु धनं सर्वप्रणिकर्मफलम् शांकर-भाष्य
७ बृहदारण्यकोपनिषद् ६/३
८ शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व। कठोपनिषद् १/१/२३-२५
९ बृहदारण्यकोपनिषद् २/५/२
१० स नैव व्यभवत् स विशमसृजत् यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति।- बृहदारण्यकोपनिषद् १/४/१२

महत्त्वपूर्ण तथ्य का उद्‌घाटन करने का प्रयास किया है। उनका कथन है। कि ब्रह्म ने कर्म के साधनभूत वित्तोपार्जन हेतु वैश्यों की रचना की। जिन्हें गणरूप कहा है। अनेक मिलकर ही वित्तोपार्जन करते हैं। वैश्यगण थे। गण एकता का सूचक है।[११] इससे यह ध्वनित होता है कि ब्रह्म ने वित्तोपार्जन करनेवाले वर्ग के निमित्त विश की सृष्टि की, जिसका कार्य व्यापार द्वारा सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना था।

कृषि-अन्न को ब्रह्म कहकर ऋषि के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है।[१२]

"अन्नं बहु कुर्वीत" की धारणा समाज को उन्नत बनाये रही और अपने-अपने खेतों को पर्याप्त उन्नत किये रही।[१३] अन्न की रचना परमपिता परमात्मा ने ज्ञान और कर्म के द्वारा की।[१४] इस कथन से प्रतीत होता है कि अन्न के उत्पादनार्थ विवेक और श्रम दोनों ही अपेक्षित थे। आधुनिक नवीन वैज्ञानिक प्रयोग इसी तथ्य के परिपोषक हैं। हल का प्रयोग ऋग्वेद से ही प्रचलित था।[१५] यजुर्वेद में इस सीर कहा गया।[१६] कृषि सम्बन्धी कर्मों, कर्षण, वपन, कटाई तथा निराई के भी उल्लेख मिलते हैं।[१७] इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि कृषि कर्म निर्विवाद रूप से समुन्नत हो चुका था।[१८] उपनिषत्काल तक समाज का बड़ा वर्ग कृषिकर्म में प्रवृत्त था। इसमें अधिकांशतः वैश्य लोग थे। शूद्रों के श्रम का विनियोग वे इसी दिशा में करते थे।[१९]

धान्य-बृहदारण्यकोपनिषद् में दस प्रकार के ग्रामीण अन्नों का प्रयोग मिलता है।[२०] जिसमें ब्रीहि (धान), यव (जौ), तिल, माष (उड़द), अणु (सांवा), प्रियंगु (कांगनीं), गोघूम (गेहूँ), मसूर, खल्व (बाल) और खलकुल (कुर्थी) है। आचार्य सायण खलकुल को एक प्रकार की दाल के रूप में मानते हैं।[२१] उपर्युक्त सन्दर्भ में आचार्य शंकर, आचार्य शिवशंकर शर्मा तथा महात्मा नारायण स्वामी के भाष्य भी द्रष्टव्य हैं।[२२]

पशुपालन-कृषि के विकास, यातायात, तथा दुग्ध घृतादि पौष्टिकवस्तुओं की सम्प्राप्ति हेतु पशुओं की भूयसी महत्ता थी। पशुओं से सम्पन्न व्यक्ति पशुमान् कहलाता था।[२३] यदि एक भी पशु का हरण हो जाता था तो वह अप्रिय माना जाता था।[२४] अपनी आवश्यकताओं के निमित्त ही पशुप्रिय थे।[२५] तत्कालीन पशुओं में गौ का

---

११ स नैव व्यभवत्, कर्मणे ब्रह्म तथा न व्यभवत, वित्तोपार्जयितुरभावात्। स विशमसृजत् कर्मसाधन वित्तोपार्जनाय.........गणशो गणंगणम् आख्यान्ते कथ्यन्ते। गणप्राया हि विशः प्रायेण संहतो हि वित्तोपार्जने समर्था न एकैकशः।-शांकर भाष्य बृहदारण्यकोपनिषद् १/४/१

१२ अन्नं ब्रह्म इत्युपास्ते। छान्दोग्योपनिषद् ७/९/२ अन्नं वै ब्रह्म। तैत्तिरीयोपनिषद्

१३ तैत्तिरीयोपनिषद् १०/७१/९

१४ मेधया तपसाऽजनयत् पिता/ बृहदा० १/५/२

१५ ऋग्वेद १०/७१/९

१६ यजुर्वेद संहिता १८/७

१७ शतपथ ब्राह्मण १/६/१/२

१८ दि इकोनोमिक लाईफ आफ एंशियेण्ट इण्डिया पृष्ठ ९० एग्रीकल्चर

१९ उत्तर वैदिक समाज एवं संस्कृति, पृष्ठ ४८

२० बृहदारण्यकोपनिषद् ६/३/१३

२१ वैदिक इण्डेक्स, खण्ड १, पृष्ठ २१५

२२ बृहदारण्यकोपनिषद् शांकर भाष्य ६/३/१३

२३ छान्दोग्योपनिषद् २/६/२

२४ एकस्मिन्नेव पशावादीयमानेऽप्रियं भवति किमु बहुषु। बृहदारण्यकोपनिषद् १/४/१०

२५ बृहदारण्यकोपनिषद् ४/५/६

महत्वपूर्ण स्थान था। उपहार के रूप में गायें ब्राह्मणों को दी जाती थीं। गोदान की परम्परा विवाहसंस्कार में भी थी।[२६] आचार्य गायों की कामना करते थे।[२७] राजा जनक महर्षि याज्ञवल्क्य को हाथी के समान बैल उत्पन्न करनेवाली सहस्र गायें दान में देना चाहते थे।[२८] जनक ने गायों के सींग पर दस-दस सुवर्ण बांध रखे थे।[२९] गौ के बाद उपयोगी पशुओं में अश्व था। सिन्धु देश के अश्व अत्यन्त प्रसिद्ध थे। एक प्रसङ्ग से प्रतीत होता है कि गाय के सदृश अश्व भी सामान्य परिवारों में पाला जाता था।[३०] वस्त्रोद्योग-रोमवाले पशुओं से ऊन निर्मित किया जाता था। ऊनी कपड़ों को रंग कर तैयार किया जाता था। उनके लिए आविक शब्द मिलता था।[३१] कताई बुनाई के लिए उनका प्रयोग आर्यलोक करते थे।[३२] कताई बुनाई का प्रचार संहिता काल में हो चुका था। जिसकी पुष्टि आलंकारिक रूप से वहाँ की गयी है।[३३] तन्तु शब्द यद्यपि मकड़ी के जाले के रेशों से लिए प्रयुक्त था।[३४] तथापि उसका वास्तविक अर्थ धागा है। सूती वस्त्रों का अभाव सा है। परन्तु सूल शब्द अवश्य मिलता है। जिसका अभिप्राय सूतली मात्र से लिया जा सकता है। जिसका उपयोग किसी वस्तु को बांधने के लिये किया जाता था।[३५]

धातु उद्योग-उपनिषदों में अनेक प्रकार के धातुओं का प्रयोग मिलता है, जिनमें लोहा, त्रपु, कांसा, सीसा, सुवर्ण और रजत का समवेत कथन मिलता है।[३६] सुवर्णकारी कार्य करने वाले को पेशस्कारी कहा जाता था।[३७] पेशस्कारी पद पर विद्वानों में मतैक्य नहीं है। शंकराचार्य ने यह पद सुवर्णकार के लिये प्रयुक्त किया है।[३८] सुवर्णकारों का व्यवसाय समुन्नत था। सुवर्ण के पात्र बनाये जाते थे।[३९] सुवर्णकार सुवर्णमात्रा को थोड़ा-थोड़ा लेकर कल्याणतर रूप बनाता था।[४०] प्रतीत होता हैं छोटे-छोटे आभूषण अत्यन्त चातुर्य से बनाये जाते थे।

काष्ठोद्योग-दैनन्दिन जीवन के उपयोगी उपकरणों से प्रतीत होता है कि काष्ठ कार्य करने वाले भी समाज में अपनी आजीविकार्थ सचेष्ठ थे। यज्ञ पात्रादि के लिये औदुम्बर की लकड़ी का प्रयोग होता था। जिनमें स्रुवा, चमस और उपमन्थनी का वर्णन मिलता है।[४१] रथ नौका तथा शकट आदि यानों के अनेक भाग काष्ठ से सम्बन्धित थे जिन्हें कि काष्ठकार्य में प्रवृत्त व्यक्ति **(बढ़ई)** किया करते थे।[४२]

---

२६ संस्कार विधि, महर्षि दयानन्द, विवाह संस्कार
२७ गोकामा एव वयम्। बृहदा० ३/१/२
२८ बृहदारण्यकोपनिषद् ४/१/१-२
२९ बृहदारण्यकोपनिषद् ३/१/१
३० गवाम् अश्वानां दासीनां प्रवाराणाम्। बृहदा० ६/२/१
३१ यथा महारजनं वासो यथा पाण्डवो विक्रमम्। बृहदा० ६/२/१
३२ प्राचीन भारतीय वेशभूषा-मोतीचन्द्र, पृष्ठ १०
३३ ऋग्वेद १/१५/४, २/३/६, १०/१०६/१
३४ यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद्यथाग्नेः क्षुद्राविस्फुलिंगा। बृहदा० २/१/
३५ डॉ० राजेन्द्र कुमार त्रिवेदी-उपनिषद्कालीन समाज एवं संस्कृति, पृष्ठ २७
३६ छान्दोग्योपनिषद् ४/१७/७
३७ यद्यथा पेशस्कारी पेशसो
३८ यथा पेशस्कारी पेशः सुवर्णः तत्करोतीति पेशस्कारी सुवर्णकारः। बृहदा० ४/४/४ शांकरभाष्य
३९ हिरण्ययेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम। ईशोपनिषद् १५
४० बृहदारणअयकोपनिषद् ४/४/४
४१ बृहदारण्यकोपनिषद् ६/७/१३
४२ रथं वा नावं वा.............. बृहदा० ४/३/१

दूतर उद्योग-दैनन्दिन उपयोग में आने वाले पात्रों में कांसे के पात्रों का भी अपना महत्त्व था। इसकी पवित्रता सुरक्षित थी। रजस्वला को तीन दिन कांसे के पात्रों में खाने-पीन का प्रावधान नहीं था।[४३] अग्नि के लिए मिट्टी के पात्र प्रयुक्त होते थे।[४४] आसनी और चटाईयों का निर्माण भी होता था। कूर्च एक आसन विशेष था।[४५] शुभ अवसरों पर वाद्य वजाने का भी व्यवसाय था। वीणावादन से धनवान् बनने की बात इसी तथ्य का उद्‌घाटन करती है।[४६]

समाज का पिछड़ावर्ग श्रीमन्तों और राजाओं के यहाँ परिचर्या करता था। श्वेतकेतु जब पांचालों की सभा में गया तब जैबलि प्रवाहण सेवकों से परिचर्या करवा रहा था।[४७] राजाओं के यहाँ अनेक कर्मचारी होते थे। वे राजकीय व्यवस्था में सहयोग देते थे। इनमें प्रत्येनस, ग्रामीण, सूत और सारथी आदि प्रमुख थे।[४८]

यातायात-उपनिषदों में यातायात का वर्णन बहुलता से किया गया है। वेदों से आर्यों के समुद्री ज्ञान तथा मालाओं का आभास मिलता है।[४९] मार्ग में यदि नदी या नाले पड़ते थे तो बीच में सेतु बनाये जाते थे।[५०] थल मार्ग हेतु रथ[५१] शकट[५२] तथा अनस्[५३] का भी प्रयोग मिलता है। कुली और धन सम्पन्न वर्ग रथ का प्रयोग करता था। राजा लोग वायुयान आदि का प्रयोग करते थे।

व्यापार-वित्तोपार्जन हेतु वैश्यवर्ग व्यापार करता था।[५४] व्यापारियों को श्रेष्ठिन् शब्द से जाना जाता था।[५५] इसका अर्थ आधुनिक सेठ से लिया गया है। मैक्डानल के मतानुसार इसका अर्थ व्यापारियों का प्रमुख है।[५६] तत्कालीन समाज में धातुओं के प्रयोग तथा उनके औद्योगिक शिल्पों के आधार पर कहा जा सकता है कि व्यापार समुन्नत था। व्यापारी अश्वों से व्यापार किया करते थे। सिन्धु देश के घोड़ों की अच्छी प्रतिष्ठा थी।[५७] वहाँ का नमक भी उपयोग में लाया जाता था।[५८]

विनिमय-ज्ञान ग्रहण के पश्चात् दक्षिणा के रूप में गौ प्रदान करने की विधि प्रचलित थी।[५९] मुद्राओं का स्वरूप कुछ विवादास्पद है। केवल निष्क और पाद की चर्चा अवश्य मिलती है।[६०] राजा जनक के हजार गायों के

---

४३ यस्य जायाऽर्तवं विन्देत्त्र्यहं कंसे न पिबेत्। बृहदा० ६/४/१३

४४ बृहदराण्यकोपनिषद् ६/४/१२

४५ कूर्चादुपावसर्पन्नुवाच। बृहदा० ४/२/१

४६ छान्दोग्योपनिषद् १/७/६

४७ जैबलिं प्रवाहणं परिचार्यमाणम्। बृहदा० ६/२/१

४८ तद्यथा राजानमायान्तुमुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्यः अन्यैः पानैरावसथैः प्रतिकल्पन्ते। बृहदा०- ४/३/३७

४९ ऋग्वेद १/१७/७, ७/६/७, ३/३६/७, समुद्रं गच्छ स्वाहा, अन्तरिक्षं गच्छ स्वाहा। यजुर्वेद

५० बृहदारण्यकोपनिषद् ४/४/२२

५१ बृहदा० ४/१/६

५२ छान्दोग्योपनिषद् ४/१/८

५३ बृहदारण्यकोपनिषद् ४/३/३५

५४ बृहदा० ४/१/११ शांकर भाष्य

५५ कौषितकी उपनिषद् ४/२०

५६ दि इकोनोमिक हिस्ट्री ऑफ एंशियेण्ट इण्डिया, पृ० ६.

५७ यथा महा सुहयः सैन्धवः पड्वीशशंकून् संवृहेत्। - बृहदा० ६/१/१३

५८ स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्तमुदकमेवानुविलीयेत। - बृहदा २/४/१२

५९ उत्तरवैदिककालीन समाज एवं संस्कृति पृ० २४

सींगों में दस-दस सुवर्णपाद बन्धवाये थे। ये पाद सुवर्ण के टुकड़े ही थे। निष्क का अर्थ आभूषण भी किया जाता है।[६१] उपनिषत्कालीन आर्थिक जीवन की उन्नतावस्था तथा ब्राह्मणकालीन पृष्ठभूमि पर विचार करते हुए यह अनुमान किया जा सकता है कि सुवर्ण के टुकड़े विनिमय के रूप में प्रचलित हो चुके थे। राज्य द्वारा इन पर कोई नियन्त्रण नहीं था। इनमें कोई चिह्न लगाया भी जाता था अथवा नहीं; अकथ्य है। मुद्रा निर्मिति की प्राक् अवस्था मानते हुए इन्हें सिक्कों का अविकसित रूप माना जा सकता है।[६२]

उपसंहार-उपनिषदों के स्वाध्याय से यह विदित होता है कि आज की तरह तत्कालीन आर्थिक जीवन विकसित नहीं था। आज आधुनिक तकनीक द्वारा, बैकों द्वारा, रेलगाड़ी, टक्र, जलयान और वायुयान द्वारा व्यापार किया जाता था। आज का व्यापार तथा उद्योगपूर्ण विकसित है। उपनिषदों का लक्ष्य पूर्णशन्ति तता मोक्ष प्राप्ति ही है। ईश्वर की प्राप्ति ही एकमेव लक्ष्य है।

---

६० छान्दोग्योपनिषद् ५/१३/१-२
६१ निष्कग्रीव- ऋग्वेद ५/११/३१
६२ उत्तर वैदिक समाज एवं संस्कृति, पृ० ६४

गीता के कर्म सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में कालिदास की कृतियों का मूल्यांकन

डॉ० बीना कुमारी गुप्ता[1]

'किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः'[2] श्रीमद्भगवद्गीता के प्रारम्भ में परस्पर दो विरुद्ध धर्मों अथवा दो कर्मों के अन्तर्द्वन्द्व में स्थित होने के कारण जिस प्रकार अर्जुन किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गये[3] और युद्ध के अन्त में युधिष्ठिर मोहाभिभूत हो गये थे (महाभारत, शान्ति पर्व), उसी प्रकार सांसारिक पुरुषों को कर्म-अकर्म, करणीय-अकरणीय के विषय में विमूढ़ता उत्पन्न होती है। सही दिशा पाने पर मानव कर्त्तव्य कर्म करता हुआ पुण्य का भागी हो जाता है और निर्देशन के अभाव में अथवा गलत दिशा पाकर वह पाप का भागी हो जाता है। गीता महासागर में कर्म सिद्धान्त सम्बन्धी अगणित रत्न विद्यतान हैं, जो अनवरत रूप से मानव-जीवन को प्रकाशित कर रहे हैं तथा आगे भी करते रहेंगे। कालिदास की कृतियों में यत्र-तत्र गीता के कर्म सिद्धान्त का प्रभाव दृष्टिगत होता है।

भगवान् कृष्ण ने गीता में कर्म की अनिवार्यता का वर्णन इस प्रकार किया हैं-

न मे पार्थोऽस्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तभवाप्तव्यं वर्तते एव च कर्मणि।।[4]

इसी को आधार मानकर कालिदास ने अपनी कृतियों में प्रत्येक पात्र के साथ-साथ जड़ प्रकृति को भी कर्म आबद्ध दर्शाया है। सूत्रधार का कथन **'तत्प्रतिपात्रमाधीयतां यत्नः'** (अभिज्ञानशाकुन्तलम्, नान्दी के बाद) प्रत्येक पात्र को सामर्थ्यानुसार कर्म करने का आदेश देता है। राजा दुष्यन्त द्वारा दत्तचित्त होकर हिरण का पीछा करना[5] हिरण द्वारा अपने प्राणों की रक्षा का प्रयास करना,[6] राजा दुष्यन्त का प्रजा रक्षा में रत रहना[7], शकुन्तला और सखियों का वृक्ष-सिंचन का कार्य करना (अभि, प्रथम अंक), महर्षि कण्व की अनुपस्थिति में शकुन्तला द्वारा अतिथि सत्कार करना (अभि. प्रथम अंक) सूकरों का मोथा उखाड़ने का कार्य करना[8] मछुआरे द्वारा अपने जाति कर्म का वर्णन,[9] महर्षि कण्व द्वारा गृहस्थ के कर्म की विवेचना[10] आदि वर्णन कार्य को अनिवार्यता को प्रकाशित करते हुए **'कुर्वन्नेव कर्माणि जिजीविषेत शतं समाः'** का उद्‌घोष करते हैं। **'विकमोर्वशीयम्** नाटक में उर्वशी

---

१ रीडर एवं अध्यक्षा, संस्कृत-विभाग, बैकुण्ठी देवी कन्या महाविद्यालय, आगरा। ७४ फेस-२, पुष्पांजली बाग दयाल बाग, आगरा। मो० ९७५९११७८९९

२ गीता ४/१६
३ गीता १/४७
४ गीता ३/२२
५ अभि १/६
६ अभि १/७
७ अभि १/१२
८ अभि. २/६
९ अभि. ६/१
१० अभि. ४/६

अप्सरा की श्वास-प्रक्रिया'[११] राजा पुरूरवा का राक्षसों को मारना,[१२] राजा के करणीय कर्मों की विवेचना,[१३] पवन का प्रवाहित होना,[१४] आचार्यों के गुरुत्व का वर्णन[१५] आदि के माध्यम से कर्म की अनिवार्यता को प्रकाशित किया है। राजा अग्निमित्र धीरोदात्त प्रकृति के नायक हैं। यह भी अन्य राजाओं की तरह अपने कार्य को एक पल के लिये भी विस्मृत नहीं करते हैं।[१६] कवि ने '**रघुवंशम्**' में प्रत्येक राजा को राजधर्म से आबद्ध दर्शा कर कार्य की महत्ता का प्रतिपादन किया है।[१७] राजा दिलीप के माध्यम से सेवक के प्रतिफल सेवा-धर्म में रत रहने का वर्णन है।[१८] '**मेघदूतम्**' एवं '**ऋतुसंहार**' गीति काव्यों में कवि ने प्रकृति के कार्य, परिवर्तन आदि का वर्णन किया है (मेघदूत, ऋतुसंहार)। इस प्रकार कवि ने अपनी कृतियों में जड़ एवं चेतन पात्रों के माध्यम से कर्म को अनिवार्यता का प्रकाशन किया है, साथ ही साथ गीता के '**तस्माद्योगाय युज्यस्व, योगः कर्मसु कौशलम्**'[१९] वाक्यानुसार विकास सोपान पर ऊपर और ऊपर चढ़ने का आदेश दिया है।

कवि कालिदास ने अपनी कृतियों से कर्म-अकर्म के मध्य अन्तर्द्वन्द्व दर्शाकर अपने पात्रों को सत्कर्म में संयुक्त किया है। महर्षि कण्व के आश्रम में अनिन्द्यरूपा शकुन्तला को देखकर राजा के हृदय में संशय का होना नितान्त स्वाभाविक स्थिति थी,[२०] तदुपरान्त प्रियंवदा के कथन से संदेह का समाधान हुआ और शकुन्तला को क्षत्रिय स्पर्शयोग्य रत्न बताया गया।[२१] इसी प्रकार आश्रम में शकुन्तला का सामीप्य चाहने वाले राजा, आश्रम सुरक्षा हेतु जाने के लिये उद्यत होकर अपने मन को विपरीत दशा में ले जाई गई रेशमी ध्वजा के सदृश मानते हैं।[२२] शिकार करने और शिकार न करने के अन्तर्द्वन्द्व में अन्ततः राजा शिकार से विरत हो जाते हैं,[२३] शकुन्तला और राजा दुष्यन्त के गन्धर्व विवाह की स्वीकृति महर्षि कण्व द्वारा दी जायेगी अथवा नहीं-इस संशयात्मक स्थिति का समाधान आकाशवाणी द्वारा किये जाने पर सखियों का निश्चिन्त हो जाना,[२४] दुर्वासा के शाप के कारण अपने दरवार में शकुन्तला को देखकर असमंजस में स्थित राजा की समस्या का समाधान पुरोहित द्वारा किया जाना,[२५] महर्षि कश्यप के आश्रम में बालक भरत को देखकर राजा के अन्तर्द्वन्द्व का समाधान तापसी कथन से किया गया।[२६] '**विक्रमोर्वशीयम्**' में उर्वशी अप्सरा का कुमारवन में लता बनना और राजा पुरूरवा के मन में अन्तर्द्वन्द्वों का उदय

---

११ विकमो० १/६ के बाद
१२ विक्रमो० १/१७
१३ वि० १/१९/२/१
१४ वि० २/८
१५ मालविका० ५/१६
१६ माल० ५/१, ५/२
१७ रघु० १/५-९
१८ रघु० २/५६
१९ गीता २/५०
२० अभि० १/२१
२१ अभि० १/२६
२२ अभि, १/३२
२३ अभि० २/७
२४ अभि० ४/४
२५ अभि० ५/१२
२६ अभि० ७/१९, ७/२९

होना (विक्रम, तृतीय अंक), राजा राघु के द्वारा वक्र और सरल नीति का चिन्तन करते हुए सरल नीति का चयन करना[२७] आदि सन्दर्भों में कवि का मुख्य उद्देश्य कर्म-अकर्म के मध्य करणीय मार्ग को प्रशस्त करना है।

कवि कालिदास ने अपनी कृतियों में कर्मों के विविध रूपों का विशद वर्णन किया है-यथा-शुभ और अशुभ कर्म, करणीय और निषिद्ध कर्म। जिन कर्मों के करने से लौकिक और पारलौकिक कल्याण हो, उन्हें शुभ कर्म कहते हैं। इनमें सत्त्व गुण की प्रधानता होती है और जिन कर्मों के करने से दोनों लोकों का ही अहित हो, उन्हें अशुभ कर्म कहते हैं। अशुभ कर्मों में तमोगुण की प्रधानता और कहीं-कहीं रजोगुण का प्राबल्य होता है। करणीय कर्म वे कर्म हैं, जिन्हें करने का आदेश हमारे ग्रन्थ देते हैं और निषद्ध कर्म वे कर्म हैं, जिनका शास्त्रों में निषेध किया गया है। कवि ने अपनी कृतियों में कर्मों के विविध रूप अभिव्यक्त किये हैं, जिनका मुख्य उद्देश्य शास्त्रोचित विहित कर्म का मार्ग प्रशस्त करना है। वैखानस द्वारा राजा को आतिथ्य ग्रहण करने के लिये आमन्त्रित करना,[२८] राजा दुष्यन्त का राखियों की सूनृत वाणी को ही आतिथ्य समझना[२९] ऋषि द्वारा राजा और मुनि की समानता का वर्णन करना[३०] राजा दुष्यन्त द्वारा मोह निवारण होने पर शकुन्तला को स्वीकार करना[३१] आदि वर्णनों द्वारा कवि ने शुभ कर्म एवं उनके शुभ फलों का वर्णन किया है। **'विक्रमोर्वशीयम्'** में कवि ने राजा के करणीय कर्मों का उल्लेख किया है।[३२] **'मालविकाग्निमित्रम्'** में गुणी के गुणों का वर्णन,[३३] राजा के उपकार के रूप में शुभ कर्मों का उल्लेख किया है।[३४] श्रीराम के द्वारा माँ कैकेयी को पितृवचन रक्षा का श्रेय देना तथा माँ की आत्मग्लानि को दूर करने का प्रयास वस्तुतः श्रीराम के शुभ कर्म ही हैं।[३५] **'कुमारसम्भवम्'** में सज्जनों के गुणों का वर्णन शुभ कर्मों का ही प्रतिरूप है[३६] **'अभिज्ञानशाकुन्तलम्'** में शिव के आठ रूपों की स्तुति,[३७] **'विक्रमोर्वशीयम्'** में शिव-आराधना[३८] सूर्य देव की उपासना,[३९] देवी-व्रत का उल्लेख,[४०] चन्द्र वन्दना,[४१] शिव-चरण चिह्नों की वन्दना[४२] आदि के द्वारा कवि ने नित्य कर्मों का वर्णन किया है। किसी निमित्त के लिये किये गये यज्ञ, तपादि कर्म **'नैमित्तिक कर्म'** कहलाते हैं। महर्षि कण्व के आश्रम में यज्ञादि का विधान,[४३] महर्षि कण्व का **'वत्से उपरुध्यते तपोऽनुष्ठानम्'**,[४४]

---

२७ रघु० ४/१०
२८ अभि० प्रथम अंक, पृ० ११९
२९ प्र०पृ० १३८
३० अभि० २/१४
३१ अभि० ७/२२, ७/३०, ७/३२
३२ विक्रम० १/१७, १/१९, ५/१९
३३ माल० १/१६
३४ रघु० १/२३-२५, १/१९
३५ रघु० १४/१६
३६ कुमार १/१२
३७ अभि० १/१
३८ विक्रम० १/१
३९ विक्रम १/८
४० वि० ३/४
४१ विक्रम० ३/७
४२ मेघदूत पू० मे० ५९
४३ अभि० ३/२४

महर्षि मारीच एवं महर्षि-कश्यप के आश्रम में तपस्वियों की तपस्या का वर्णन[४५] नैमित्तिक कर्म हैं। इसी प्रकार **'विक्रमोर्वशीयम्'** ने तप एवं व्रतों का उल्लेख,[४६] नैमिषेय यज्ञ का वर्णन (वि० पाँचवा अंक) राजा दिलीप एवं रानी सुदक्षिणा का नन्दनी सेवा व्रत[४७] श्रीराम द्वारा लंका से लौटते समय विभिन्न आश्रमों में होने वाले यज्ञों का वर्णन,[४८] पार्वती द्वारा शिव-प्राप्ति के निमित्त से किये गये उग्र तप[४९] तथा शिव की समाधिस्थ स्थिति[५०] वस्तुत: नैमित्तिक कर्म ही हैं। कालिदास ने प्रायश्चित्त कर्मों का वर्णन करके त्रुटियों अथवा अपने दोषों से मुक्ति प्राप्त करने-वाले मार्ग को प्रशस्त किया है। वन्दनीय दुर्वासा ऋषि की वन्दना न करने के कारण ही शकुन्तला उनके कोप का पात्र बनी (अभि०, तृतीय अंक) और सखियों, द्वारा अनुनय-विनय किये जाने पर महर्षि ने प्रायश्चित्त कर्म रूप में अभिज्ञान-दर्शन मार्ग बताया-'**ततो न मे वचनमन्यथाभवितुमर्हति, किन्त्वभिज्ञानाभरण-दर्शनेन शापो निर्वतिष्यत इति**.....।[५१] राजा दुष्यन्त पश्चात्ताप की अग्नि में जलते रहे, जो उनका प्रायश्चित्त कर्म था[५२] **'विक्रमोर्वशीयम्'** में रानी का कथन **किंत्वदाक्षिण्यकृता पश्चात्तापात् बिभेमि'**[५३] उनके प्रायश्चित्त को दर्शाता है। 'मालविकाग्निमित्रम्' में भी पश्चात्ताप दर्शाकर प्रायशचित्त कर्म का उल्लेख हैं,[५४] 'कुमारसंभवम्' में पार्वती एवं शिव के द्वारा की गयी उपासना,[५५] महर्षि कश्यप के आश्रम में ऋषियों के द्वारा किये गये तपादि का वर्णन,[५६] 'रघुवंशम्' में ऋषियों के आश्रम में की गई उपासना (रघु० १३ वाँ सर्ग) का वर्णन करके कवि ने करणीय कर्मों की विवेचना की है। कवि का मुख्य उद्देश्य पाठकों को सत्कर्म के लिए प्रेरित करना है, इसी उद्देश्य हेतु कवि ने निषिद्ध कर्मों की निन्दा भी की है। मृग का शिकार करने वाले राजा दुष्यन्त को आश्रम-मृग के शिकार से रोकते हुए वैखानस ने निषिद्ध कर्म का वर्णन किया है,[५७] राजा दुष्यन्त ने अपने सेनापति को वन-ग्रहण कर्म से रोक दिया, क्योंकि वह तपस्वियों के छिपे हुए तेज को जानते थे।[५८] किसी भी यज्ञ में विघ्न डालना उचित नहीं हैं, अत एव राजा दुष्यन्त आश्रम की रक्षा के लिए कटिबद्ध हो गये।[५९] 'कार्य में विलम्ब नहीं करना चाहिए'-इस शिक्षा को देने के लिए कवि ने यक्ष को अपनी प्रिया से एक वर्ष तक दूर रहने का दण्ड दिया।[६०]

---

४४ अभि० चतुर्थ अंक
४५ अभि० ७/२२
४६ वि० ३/१३
४७ रघु० २ सर्ग
४८ रघु०, १३ वॉ सर्ग
४९ कुमार ५/८६
५० कु० ३/५०
५१ अभि....चतुर्थ अंक पृ० ४३०
५२ अभि० ६/५
५३ वि० २/२० के बाद
५४ मा०३/५
५५ कु० १/६०, ३/५०
५६ अभि० ७/१२
५७ अभि० १/१०
५८ अभि० २/७
५९ अभि, २ अंक का अन्तिम
६० मेघ० पूर्व मेघ० १

कवि कालिदास ने अपनी कृतियों के पात्रों के माध्यम से वर्णाश्रम-व्यवस्था के अनुरूप कार्यों का चित्रण किया है। राजा के क्षत्रियोचित कार्यों का प्रायः सभी कृतियों में वर्णन है।[६१] महर्षि कण्व गृहस्थ (अभि- ४ अंक) एवं वानप्रस्थ (अभि ३ और ४ अंक) आश्रम के प्रतिरूप हैं। महर्षि मारीच एवं महर्षि कश्यप के आश्रमवासियों के कार्य संन्यास-आश्रम के अनुरूप (अभि, ७वाँ अंक), प्रियंवदा और अनुसूया के रूप में सखियों के धर्म (अभि, प्रथम, तृतीय एवं चतुर्थ) विदूषक के रूप में मित्रकर्म (अभि०, माल० विक्रमो) पात्र अपने-अपने कर्तव्यों का निर्वाह करते हुए कर्म मार्ग को प्रशस्त करते हैं।

मनुष्य ज़ैसा कार्य करता है उसे उसी के अनुरूप फल प्राप्त होता है। शुभ कर्म पुण्य और अशुभ कर्म पाप का भागी बनाते हैं। 'कोई जन्म से ही दरिद्र एवं कोई राजकुल में उत्पन्न होता है।' इस सब में कर्मवाद ही प्रमुख है, क्योंकि किसी व्यक्ति को पाप कर्मों का फल चाहे उस समय न मिलता दिखे तथापि उसे ही नहीं, अपितु उसे पुत्रों, पौत्रों एवं प्रपौत्रों को ही भोगना पड़ता है।[६२] कर्म भोग की अनिवार्यता का दर्शन कराने के उद्देश्य से ही कवि ने अपने पात्रों के भोग माध्यम से संचित, प्रारब्ध एवं क्रियमाण कर्मों का वर्णन किया है[६३] राजा दुष्यन्त के प्रारब्ध कर्मों का ही परिणाम था कि आश्रम में प्रवेश करते हुए ही उन्हें शुभ फल प्राप्त करने का संकेत मिला (अभि० १/१४)। तपस्वियों के पुण्य का षष्ठांश भाग कर रूप में ग्रहण करने वाले राजा दुष्यन्त अपने आप को धन्य मानते हैं[६४] शकुन्तला ने राजा दुष्यन्त से गधर्व विवाह किया किया और पिता कण्व ने उसे अनुमति दे कर प्रारम्भ की पुष्टि की-'दिष्ट्या धूमाकुलितदृष्टेरपि यजमानस्य पावक एव आहुतिः पतिता' (अभि० ४/३ के बाद)। शकुन्तला ने पूज्यनीय दुर्वासा की वन्दना न करने वाले क्रियमाण कर्म का फल वियोग रूप में भोगा (अभि० पंचम अंक)। 'विक्रमोर्वशीयम्' में चोरी[६५] एवं अपराध[६६] जैसे दुष्कर्मों के फल का वर्णन कर कवि ने दुष्कर्मों से बचने की प्रेरणा दी है। पूर्व जन्म के कर्मों के परिणाम स्वरूप ही विदर्भ राजकुमारी मालविका को दासी जीवन बिताना पड़ा,[६७] राजा दिलीप ने पूर्व जन्म में कामधेनु गाय की वन्दना न करने वाले फल को पुत्र रत्न न होने के रूप में भोगा[६८] अन्ततः 'नन्दनी गो-सेवाव्रत' रूपी क्रियमाण कर्म से पूर्व कर्मों के प्रभाव को समाप्त कर कुमार रघु को पुत्र रूप में प्राप्त किया।[६९] इसी प्रकार अभिमान के कारण गन्धर्वराज प्रियदर्शन के पुत्र प्रियम्वद को हाथी योनि की प्राप्ति हुई,[७०] इन्दुमति जो पूर्व जन्म में अप्सरा थी, तृणबिन्दु ऋषि की तपस्या में विघ्न डालने वाले दुष्कर्म के परिणाम रूप में मानव योनि में जन्म लेना पड़ा।[७१] श्रवण कमार के अंधे माता पिता के शाप के परिणाम रूप में राजा दशरथ को अपने प्रिय पुत्र राम के वियोग को सहना पड़ा,[७२] इन्द्रपुत्र जयंत को 'कौआ' योनि में जन्म लेना

---

६१ अभि० ५/४-६, विक्रमों १/१७-१९, मालविका ५/१-२, रघु० १/२-३ रघु० १/५-९
६२ महाभारत शांति १२९/२१
६३ वेदान्तसार, सांख्यकारिका ६७.६८
६४ अभि० २/१३
६५ विक्रम ४/३४
६६ विक्रम ५/६
६७ मा० ५/१८
६८ रघु० १/२०
६९ रघु० १/२३-२५
७० रघु० ५/३३
७१ रघु० ८/८०
७२ रघु० १२/१०

पड़ा[७३] तथा अप्सरा उर्वशी को भरत मुनि के शाप के वशीभूत होकर कुमारवन में लता रूप को धारण करना पड़ा (विक्रम० ४/३ से पहले)। उक्त सभी वृतान्तों में शुभ अशुभ कर्मों के परिणाम को दर्शा कर कवि ने कर्म संबंधी शाश्वत मूल्यों की स्थापना की है।

सांख्य दर्शनानुसार कर्म करने वाले की प्रवृत्ति कभी सात्विक, कभी राजसी और कभी तामसी होती है,[७४] तथापि प्रत्येक प्राणी को सत्कर्म के लिए सतत प्रयत्नशील रहना चाहिये तथा स्वामी विवेकानन्द जी के इस कथन को पलभर के लिए विस्मृत नहीं करना चाहिए-''इस संसार में दु:ख को समाप्त नहीं किया जा सकता है। इस संसार से बुरे कर्मों का अस्तित्व मिटाया नही जा सकता, केवल मनुष्य का धर्म है कि वह दु:ख एवं बुरे कर्मों को कम करने की चेष्टा करें।''[७५] कर्मों की पृष्ठभूमि में कवि कालिदास ने मुण्डकोपनिषद् के 'सत्यमेव जयते' (मुण्डकोपनिषद्) की ही स्थापना की है।

कवि कालीदास कर्म के माध्यम से विकास सोपान पर अनवरत अग्रसर होने वाले मार्ग से अवगत थे इसलिए कवि ने सकाम कर्म एवं सत्कर्मों के वर्णन के साथ गीता के द्वारा निर्दिष्ट निष्काम काम का भी उल्लेख किया है। परम शान्ति एवं परम लक्ष्य का साधन निष्काम कर्म ही है-

'विहाय कामान्य: सर्वान् पुमांश्चरति नि:स्पृह:।
निर्ममो निरहंकार: स शान्तिमधिगच्छति।।[७६]

प्रजापति कश्यप के आश्रम में निष्काम भाव से तपस्या में रत ऋषियों को देखकर सात्विक प्रवृत्ति वाले राजा दुष्यन्त आश्चर्यान्वित हो गये,[७७] सृष्टि का मंगल करने वाले भगवान् शिव एवं निष्काम भाव से तपस्या में लीन है[७८]- यह दर्शाकर कवि ने निष्काम भाव से करने की प्रेरणा दी है क्योंकि निष्काम कर्म ही मोक्ष का द्वारा खोलता है।[७९]

कवि कालिदास ने अपनी कृतियों में चित्रांकित पात्रों के माध्यम से कर्म की अनिवार्यता, कर्म-अकर्म के मध्य अन्तर्निहित द्वन्द्व, शुभ-अशुभ कर्मों के विविध रूप, करणीय कर्मों का अनुशीलन, निषिद्ध कर्मों का त्याग, कर्मों के पुण्य एव पापमय परिणाम, कर्म के माध्यम से सत् मूल्यों की स्थापना तथा निष्काम कर्म की पराकाष्ठा का वर्णन किया है। कवि रूपी अर्जुन के लिए कृष्ण बनकर अनवरत कर्म करने, दुष्कर्मों से बचने, कर्मों के प्रति सजग रहने का संदेश दिया है। कवि का मूल संदेश उनके ही शब्दों में द्रष्टव्य हैं-

'विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीरा:।'[८०]

---

७३ रघु० १२/२३
७४ सांख्यकारिका, १२ एवं १३
७५ विवेकानन्द कर्मयोग
७६ गीता २/७१
७७ अभि० ७/१२
७८ कुमार. ३/५०
७९ वेदान्त सार, सांख्यकारिका ६७, ६८
८० कुमार संभव १/५९

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०१० अङ्क १३ (पृ०१२२-१२८)

श्रीमद् भगवद्गीता में वर्णित युद्ध की नीतिगत मीमांसा

डॉ. (श्रीमती) सुरचना त्रिवेदी[1]

श्रीमद् भगवद्गीता धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र और मोक्षशास्त्र होने के कारण नीतिशास्त्र का अक्षय सार्वभौमिक कोश है। अध्यात्मविदों के मतानुसार **'नीयतेऽभ्युदयनिःश्रेयसावनया इति नीतिः'** - 'जो अभ्युदय और निःश्रेयस् अर्थात् भोग व मोक्ष सुलभ कराये, वह नीति है।

नीति शब्द की व्युत्पत्ति है - **'नयति इति नीतिः'** अथवा **'नीयते पुरुषार्थ फलाय सर्वं जगत् यया सा नीतिः'** अर्थात् जो विद्या अपनी युक्तियों के द्वारा सारे जगत् को तथा प्रत्येक मानव को उसके प्रधान उद्देश्यों की ओर अर्थात् धर्म-अर्थ-काम व मोक्ष के सम्पादन में उचित मार्ग से ले चले, उसी का नाम नीति है।

बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र में 'नीतिः फलं धर्मार्थकामावाप्तिः' (अ०२- ४३) कहकर धर्म, अर्थ तथा काम की प्राप्ति को नीति का फल बताया है। इस प्रकार वेदों से लेकर अर्वाचीन काव्य ग्रन्थों तक नीतिविषयक बहुमुखी वर्णन निर्दिष्ट है। नीतियाँ कई प्रकार की हैं धर्मनीति, राजनीति, युद्धनीति आदि। युद्धनीति राजनीति का ही एक प्रकार है।

'युद्ध'[2] शब्द 'युध्' धातु में 'क्त' प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है - 'युद्ध', 'लड़ाई' अथवा 'संग्राम'। राष्ट्र की सुरक्षा व रक्षा के लिए, आततायियों के नाश एवं अपने साम्राज्य के विस्तार के लिए तथा पीड़ित व शोषित समाज या राष्ट्र को दुःख निवृत्त कर सुखी बनाने के लिए 'युद्ध' राष्ट्रीय जीवन का प्रमुख अङ्ग है। युद्ध की शाश्वत संभावनाओं को वेदों में भी स्वीकार किया गया है। वेद में इन शक्तियों को 'इन्द्र' व 'रुद्र' आदि नामों से सम्बोधित किया गया है।

श्रीमद्भगवद्गीता एक परम रहस्यमय ग्रन्थ है। इसमें सम्पूर्ण वेदोपनिषदों का सार-संग्रह किया गया है। इसी कारण इसे सर्वशास्त्रमयी कहा जाता है। मानव-जीवन के पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक, बौद्धिक तथा सांस्कृतिक पक्षों पर आधारित राष्ट्रीय जीवन का कोई भी पक्ष ऐसा नहीं है, जिसका सम्यक् प्रतिपादन इसमें न किया गया हो। अन्यान्य विषयों के साथ गीता में युद्धनीति का अति सूक्ष्मतया वर्णन व विवेचन प्राप्त होता है ग्रन्थ का आरम्भ ही धृतराष्ट्र द्वारा दिव्यदृष्टि प्राप्त सञ्जय से पूछे गये युद्ध के विवरण के रूप में किया गया है -

'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेताः युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय।।'[3]

सम्पूर्ण गीताशास्त्र युद्ध क्षेत्र में ही निष्पन्न है। युद्ध के मध्य ही भगवान् के श्रीमुख से अर्जुन को विविधविध नीतिगत उपदेश दिया गया। धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में रणभूमि में एकत्र योद्धाओं ने युद्धारम्भ कैसे किया? किसका किससे युद्ध हुआ तथा किसके द्वारा किसका वध किया गया? धृतराष्ट्र के इन प्रश्नों तथा 'युयुत्सवः' पद में युद्ध का सम्पूर्ण दर्शन निहित है। दूसरी ओर अर्जुन के मोहग्रस्त होने के कारण युद्ध न करने की अभिलाषा

---

१ प्रवक्ता - संस्कृत, भगवानदीन आर्य कन्या, स्नातकोत्तर महाविद्यालय, लखीमपुर-खीरी

२ हिन्दी - संस्कृत कोष - तरिणीश झा - पृ० - ९५८

३ गीता १/१

व्यक्त करने पर श्रीकृष्ण द्वारा युद्ध की अपरिहार्यता को सिद्ध करने की विधि पूर्णतया दार्शनिक व आध्यात्मिक पृष्ठभूमि पर आधारित है।

अर्जुन को युद्ध के लिए प्रेरित करने के लिए वर्णाश्रम धर्म का आश्रय

'चातुर्वण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।'[४]

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों का समूह गुण व कर्मों के विभागपूर्वक मेरे द्वारा रचा गया है। इसी क्रम में उन्होंने क्षात्रधर्म की दृष्टि से युद्ध को अर्जुन का 'स्वधर्म' बतला कर उसका त्याग करना सब प्रकार से अनुचित बताते हुए, युद्ध को इहलोक तथा परलोक में दोनों में लाभप्रद बताते हुए, अर्जुन को युद्ध का निश्चय करने की प्रेरणा दी है। गीता के द्वितीय अध्याय के इकतीस से छत्तीसवें श्लोक तक उन्होंने अर्जुन को क्षात्र धर्म के अनुसार युद्ध को उसका स्वभाव बताया है -

धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते।[५]

वे अर्जुन को प्रेरित करते हुए कहते हैं कि यह युद्ध 'यदृच्छयोपपन्नम्' अर्थात् बिना इच्छा के लिए स्वतः प्राप्त है।

'सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्।'[६]

अर्थात् ऐसा युद्ध जो जानबूझ कर नहीं खड़ा किया अपितु सन्धि की समस्त सम्भावनाओं के समाप्त हो जाने पर अवश्यम्भावी हो गया है, वह युद्ध 'धर्मयुद्ध' की श्रेणी में आ जाता है और **'स्वधर्मे निधनं श्रेयः'[७]** के अनुसार अपने वर्णाश्रम धर्म के अनुरूप कर्त्तव्य करते हुए प्राणोत्सर्ग कर देना श्रेयस्कर है। क्योंकि ऐसा न करने पर अपकीर्ति की ही प्राप्ति होती है। इस प्रकार युद्ध न करने से अनेक प्रकार की हानियों का वर्णन करने के बाद श्रीकृष्ण अर्जुन को युद्ध के लिए तैयार होने की आज्ञा देते हैं -

तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः।[८]

अत्याचारियों का नाश करना क्षत्रिय धर्म है अतः किसी भी प्रकार युद्ध से हटना कायरता है।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।[९]

इसी के बाद मानों आशीर्वाद देते हुए 'युध्यस्व जेतासि रणे'[१०] कहकर धर्मयुद्ध की विजय की पूर्वघोषणा भी कर देते हैं। अर्जुन के यह पूछने पर कि 'बलात् मनुष्य को पाप में प्रवृत्त कौन करता है? इसके उत्तर में कृष्ण द्वारा की गया व्याख्या भी नीति दर्शन से ओत प्रोत है - वे पुरुषार्थ चतुष्टय का उल्लेख करते हुए कामरूप बैरी को समस्त पापाचरण का मूल कारण बताते हैं -

आवृत्तं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्य वैरिणा।

---

४ गीता ४/१३
५ गीता - २/३१
६ गीता २/३२
७ गीता ३/३५
८ गीता २/३७
९ गीता ११/३३
१० गीता ११/३४

कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च।।[११]

श्रीमद्भागवद् में भी प्रसंग आता है -

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।।[१२]

दुर्योधन काम का, शकुनि दुनीर्ति का तथा दुःशासन अन्याय का प्रतीक है तथा सम्पूर्ण कौरव सेना दुर्बद्धि ग्रस्त अधर्म की प्रतीक है। अतः उसका नाश करना अनीति नहीं, नीति ही है। चूँकि काम मन, बुद्धि व इन्द्रियों में ही वास करता है, अतः इन्द्रियरूपी अश्वों के संयमन द्वारा ही उसका विनाश सम्भव है। श्रीकृष्ण का सारथि रूप अन्तःकरण का सर्वज्ञ बौद्धिक रूप है, रथ आत्मा है। अर्जुन मोह ग्रस्त है, रथाश्व इन्द्रियाँ हैं, जिनको भली प्रकार संयमित करते हुए मोहान्धकार का नाश करके ही यथार्थ तत्त्व की अनुभूति की जा सकती है। कठोपनिषद् में 'रथरूपक' द्वारा इसी प्रकार व्याख्या की गयी है -

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।।
इन्द्रियाणि ह्यानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।।[१३]

उक्त उपनिषद् दर्शन के आधार पर ही गीता में भी जीते हुए मन, बुद्धि और इन्द्रियों से युक्त अपने आत्मा को मित्र तथा बिना जीते हुए मन, बुद्धि और इन्द्रियों वाले को अपने शत्रु के समान बतलाया गया है।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्।[१४]

बाह्य विषयों में आसक्त इन्द्रियाँ ही वास्तविक शत्रु हैं, जिनका दमन चित्तवृत्तियों का निरोध करके ही सम्भव हो सकता है। इस प्रकार शत्रुमर्दन की व्याख्या में योगदर्शन का सूत्र निहित है - **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'**।

गीता में वर्णित युद्ध धर्म युद्ध है तथा उसकी जिस नीति को परमेश का समर्थन प्राप्त है वह धर्म नीति है। इसी लिए वह गीता के दशम अध्याय में कहते हैं - **'नीतिरस्मि जिगीषिताम्'** - विजय की इच्छा वालों की विजय की उपाय भूत नीति मैं हूँ।[१५]

श्रीमद्भगवद् गीता के प्राचीन टीकाकार श्री श्रीधर जी इसकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं - नीति शब्द का अर्थ यहाँ साम, दान, दण्ड और भेद रूप शास्त्र विहित राजनीति है। जो लोग बाह्य शत्रु को पराजित करना चाहते हैं, वे यदि शास्त्रानुकूल नीति का - धर्मानुकूल नीति का पालन नहीं करते हैं, तो उन्हें विजय नहीं मिल सकती है यदि येन केन प्रकारेण मिल भी जाये तो वह विजय लोक दृष्टि से निन्दित होने के कारण संसार में कीर्ति देने वाली नहीं होती है। धर्म से रहित होने के कारण परलोक की प्राप्ति भी होती है। परन्तु धर्मानुकूल नीति से जो विजय श्री उपलब्ध होती है, वह लोक में यश तथा परलोक में सद्गति प्राप्त कराने वाली होती है।

---

११ गीता ३/३९
१२ श्रीमद्भगवद् ९/१९/१४
१३ कठो १/३/३-४
१४ गीता ६/६
१५ गीता १०/३८

तात्पर्य यह है कि जो धर्म हीन है उसके पास नीति के प्रधान चार गुण साम, दान, दण्ड और भेद नहीं रहते हैं। नीति अर्थात् सद्-सुदृढ़ नीति तो धर्मशील के पास ही रहती है।

युद्ध की क्रिया दो सेनाओं के मध्य ही संभव है। वेदों में भी सेना व उसके कतिपय विभाग एवं उनके सहायकों के सम्बन्ध में उल्लेख प्राप्त होता हैं।

नमः सेनाभ्यः सेनानिभ्यश्च वो नमो नमो रथिभ्योऽरथेभ्यश्च वो नमो नम क्षतृभ्यः संगृहीतृभयश्च वो नमो नमो महद्भ्योऽअर्भकेश्यश्च वो नमः॥[१६]

इस सन्दर्भ में गीता की युद्ध सम्बन्धी व्यवस्था पूर्णतया वेदों की युद्ध व्यवस्था की नीति से साम्य रखती है। सेना के महत्त्व को श्रीमद्भगवद्गीता में भी अति विशिष्ट रूप में प्रतिपादित किया गया है। संभवतः इसी कारण श्रीकृष्ण जी ने 'गीताशास्त्र' का सम्पूर्ण उपदेश 'सेनयोरुभयोर्मध्ये' अर्थात् दोनों सेनाओं के मध्य ही दिया है। प्रथम अध्याय में ही अर्जुन श्री भगवान् से निवेदन करते हैं -

'सेनयोरुभ्योर्मध्ये रथं स्थाप्य मेऽच्युत।'[१७]

'यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्॥'[१८]

अर्जुन के द्वारा ऐसा निवेदन करने पर श्रीकृष्ण उन्हें दोनों सेनाओं के मध्य रथ सहित ले जाते हैं, जहाँ से अर्जुन दोनों सेनाओं के योद्धाओं का भलीभाँति दर्शन कर सकें।

'सेनयोरुभ्योर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्।'[१९]

रथ, वाहन, यानादि से युक्त सेना की युद्ध में अनिवार्य आवश्यकता होती है। इस युद्ध में भी बड़े-बड़े योद्धा अपने-अपने वाहनों अश्व, गज, रथ आदि पर आरूढ़ होकर आए हैं। उदाहरणार्थ - अर्जुन का रथ बहुत ही विशाल व उत्तम है वह स्वर्ण से मढ़ा हुआ है। तेजोमय, प्रकाशयुक्त, सुदृढ़ और ध्वज से युक्त है। चार बड़े सुन्दर, सुसज्जित अश्व जो वेगवान् हैं, श्वेत हैं, रथ में जुते हुए हैं -

'ततः श्वेतहयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव ....॥'[२०]

वेदों में इसी प्रकार के दिव्य गुणोपेत रथ का उल्लेख प्राप्त होता है -

'रथ वाहनं हविरस्य नाम यत्रायुधं निहितमस्य वर्म।
तत्रा रथमुपशग्मं सदेम विश्वाहा वयं सुमनं स्यमानाः॥'[२१]

युद्ध में रथ ही पर्याप्त नहीं है अपितु रथ का संचालन करने वाले सारथि की कार्य कुशलता पर योद्धा का रण कौशल निर्भर होता है। इस आधार पर देखें तो कौरवों की ग्यारह अक्षौहिणी सेना के सम्मुख अकेले श्रीकृष्ण सदृश सारथि का चयन पाण्डवों के युद्धनीति कौशल को ही प्रदर्शित कर रहा है। इसी लिए अर्जुन उन्हें 'अच्युत'

---

१६ यजुर्वेद १६/२६
१७ गीता १/१
१८ गीता १/२२
१९ गीता १/२४
२० गीता १/१४
२१ यजु २९/४५

(१/२१) (कभी भी स्खलित न होने वाला) तथा सञ्जय ने धृतराष्ट्र के सम्मुख 'हृषीकेश' (१/२०) (अर्थात् जितेन्द्रिय) नामों से सम्बोधित किया है। इस की पुष्टि यजुर्वेद के निम्न मन्त्र से होती है -

रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरो यत्र-यत्र कामयते सुषारथिः॥'[२२]

अर्थात् अच्छा सारथि संग्राम में अश्वशक्ति को अग्रसर करता है, यतः मन के पीछे सारथि की इच्छानुसार लगामें नियन्त्रण करती हैं।

युद्ध के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारक योद्धा होते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णित दोनों ही पक्षों की सेनाओं के योद्धा अति विशेष शक्तियों से सम्पन्न तथा शूरवीर हैं। प्रथम अध्याय के चौथे, पाँचवे, छठे तथा नौवें श्लोक में योद्धाओं का वर्णन है। युयुधान, विराट्, द्रुपद, धूमकेतु, चेकितान, काशिराज, कुन्ति भोज, शैव्य, युधामन्यु और उत्तमौजा नामक तथा द्रोण, कर्ण, भीष्म सदृश सैन्य संचालक (सेनापति) अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित हैं -

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि। युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथ॥[२३]

धृष्ट केतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् पुरुजित्कुन्ति भोजश्च शैव्यश्च नरपुङ्गवः॥[२४]

.... **सर्व एव महारथा :।**[२५]

महाभारत के भीष्म पर्व में भी योद्धाओं के विषय में उल्लेख है कि एक-एक महारथी अकेले ही पूरी सेना को मार डालने में समर्थ है -

एकैकशः समर्था हि यूयं सर्वे महारथाः।

पाण्डुपुत्रान् रणे हन्तुं ससैन्यान् किमु संहता॥[२६]

वेद में भी कहा गया है -

'एक वीरः शतं सेनाऽअजयत्साकमिन्द्रः'।[२७]

ऐसे शूरवीरों के लिए नमस्कार है -

'नमः शूराय चावमेदिने च।'

सेनापति की भूमिका सेना के लिए अति महत्त्वपूर्ण है। स्वयं भगवान् का वचन है - **'सेनानीमाहं स्कन्दः।'**[२८]

प्रथम अंक के सातवें श्लोक में दुर्योधन ने **'नायका मम सैन्यस्य'** कहकर अपनी सेना के नायकों का परिचय कराया है। युद्धारम्भ के लिए उद्घोष तथा सेना को प्रोत्साहन देने के लिए वाद्यों के उपयोग पर वेद में निर्दिष्ट किया गया है।[२९] इसी प्रकार श्रीमद्भगवद् गीता में भी युद्धारम्भ के समय शंखध्वनि के पश्चात् एक साथ नगाड़े, ढोल मृदंग और नरसिंघे (दुन्दुभि) बजने से आकाश भयंकर शब्द से पूर्ण हो गया।

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानक गोमुखाः।

---

२२ यजु २९/४३

२३ गीता १/४

२४ गीता १/५

२५ गीता १/६

२६ महाभा० भीष्मपर्व ५-१/५

२७ यजु १७/३३

२८ गीता १०/२४

२९ यजु० १६/३५, २९/५५, ८९/५४

सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्।।[३०]

इसी अध्याय के १४,१५, १६, १७, १८ श्लोक में सभी योद्धाओं द्वारा की गई शंखध्वनि का उल्लेख वेदानुरुप है। युद्ध में अनेक प्रकार के प्रयोगों से जिन क्रियाओं को प्रकट किया जाता है, वे क्रियायें आयुधों के साथ की जाती हैं अर्थात् जिन सहायक साधनों से हम युद्ध करते हैं, वे आयुध हैं। युद्ध में आयुध प्रधान है। इनके बिना युद्ध नहीं हो सकता:-**स्थिरा वः सन्त्वायुधाः**[३१]

वेद में वर्णित युद्ध क्रिया में विभिन्न प्रकार के आयुधों या अस्त्रशस्त्रों का वर्णन है। जिनमें वज्र सर्व श्रेष्ठ है गीता भी में भगवान् कहते हैं -**आयुधानामहं वज्रः।**[३२] श्रीमद्भागवद् के अनुसार वज्र को भगवान् ने अपना स्वरूप बतलाया है।[३३] गीता में भी युद्ध में प्रयुक्त किए गये अनेक शस्त्रों का वर्णन **'अथ शूरा महेष्वासा'** (१/४), **'नाना शस्त्र प्रहरणाः सर्वे** (१/९) कहकर किया गया है।

इन समस्त तत्त्वों के सुव्यवस्थित होने पर भी जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है और वहीं युद्ध की निर्णायक स्थिति का निर्धारण करता है वह है - 'नीतिगत कौशल'। यह नीति यदि 'धर्मनीति' के रूप में प्रयुक्त होती है तो सफलता दायक तथा अधर्मनीति के रूप में प्रयुक्त होने पर असफलता प्रदान करती है।

गीता में वर्णित युद्ध नीति का विश्लेषण करने पर मेरा यह मानना है कि अर्जुन क्षत्रिय थे। धर्मानुसार उनको युद्ध का अवसर प्राप्त हो गया था। धर्मयुद्ध क्षत्रिय के लिए वर्णधर्म है। इसलिए 'युद्ध' शब्द को वर्णाश्रम धर्म का पालन करने लिए की जाने वाली सभी क्रियाओं का उपलक्षण समझना चाहिए। ईश्वर की आज्ञा समझकर निष्काम भाव से वर्णाश्रम धर्म का पालन करने के लिए जो कर्म किए जाते हैं, उनमें अन्तःकरण की शुद्धि होती है। इसके अतिरिक्त कर्त्तव्य कर्म के आचरण की आवश्यकता का प्रतिपादन करने वाले अन्य भी कारण हैं, जिनका उल्लेख गीता के तीसरे अध्याय में श्लोक संख्या चार से चौंतीसवें श्लोक तक किया गया है। उन पर गम्भीरता से विचार करने पर यही दृष्टि प्राप्त होती है कि मनुष्य को अपने कर्त्तव्य कर्म अवश्य ही करने चाहिए। यही भाव प्रदर्शित करने के लिए यहाँ 'युद्ध' करने को कहा गया है।

'तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।'[३४]

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् द्वारा अर्जुन को दी गई युद्ध की प्रेरणा धर्म के द्वारा अधर्म को, नीति के द्वारा अनीति को, शान्ति व क्षमाशीलता के द्वारा अशान्ति व उद्दण्डता को, धैर्य के द्वारा काम को तथा विनम्रता के द्वारा अहंकार, दम्भ जैसे भावों को नाश करने की प्रेरणा है। जिसमें श्रीकृष्ण ने धर्म नीति के प्रतिनिधि के रूप में अर्जुन सहित समस्त पाण्डवों को चुना है तथा अधर्म-अनीति व अन्याय के प्रतीक रूप में रूप में कौरवों तथा उनके उद्भट योद्धाओं सहित ग्यारह अक्षौहिणी सेना को प्रस्तुत किया है। श्रीकृष्ण 'सेनयोरुभयोर्मध्ये' अर्थात् दोनों सेनाओं के मध्य सद्भाव, नीति व कर्म का उपदेश देते हैं।

दर्शन परक, सांसारिक सत्य है कि अन्यायी व्यक्ति कुछ समय के लिए अपने अनीति पूर्ण आचरण से सर्व सुख-भोगों की प्राप्ति कर लेता है। जिससे धर्म नीति का पालन करने वाला निराशा मोह तथा शोक आदि में

---

३० गीता १/१३

३१ ऋग्वेद १/३९/२

३२ गीता १०/२८

३३ श्रीमद्भागवद् ६/११/१९-२०

३४ गीता ८/७

निमग्न हो जाता है, किन्तु जब उसे अपने 'धर्म' (वर्णाश्रम धर्म) का स्मरण होता है तो वह अनीति व अन्याय पर नीति व न्याय की विजय पताका फहराता है।

सम्पूर्ण गीता शास्त्र के युद्ध क्षेत्र में सम्पन्न होने की पृष्ठभूमि में यही नीतिगत तथ्य है जिससे स्पष्ट होता है कि इन्द्रिय रूपी अश्वों का विषय रूपी शस्य संवलित मैदान में विचरण करना, अव्याहत गति से दौड़ना स्वाभाविक है, किन्तु इन्द्रियों के निर्बल तथा असमर्थ होने पर विषयसुख न भोग पाने से अपार दु:ख होता है अतः जितेन्द्रियत्व के द्वारा दृढ़ संकल्पित अन्त:करण से युक्त मनुष्य ही प्रसन्नता को प्राप्त करता है।

आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।'[३५]

गीता की 'युद्धनीति' का सार यही है कि युद्ध की विजय के मूल में नीति ही स्थित है तथा विजय के मूल में नीति व शक्ति रूप विवेक एवं बल का साहचर्य सिद्ध किया है। पाण्डव नीति तथा विवेक का और कौरव शक्ति व दम्भ का प्रतीक है। इन दोनों में ईश्वर नीतिमान् के सहचर बनते हैं। वे स्वयं कहते हैं -

'नीतिरस्मि जिगीषिताम्'[३६]

श्रीमद्भगवद्गीता के अन्त में दिव्य दृष्टि सम्प्राप्त सञ्जय का कथन सम्पूर्ण गीतोक्त युद्ध की ङ्क नीतिगत दार्शनिकता का निदर्शक हैं -

यत्र योगेश्वर: कृष्णो यत्र पार्थो धर्नुधर:।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।।[३७]

उक्त विमर्श के पश्चात् मन में प्रश्न उठता है कि महाभारत के युद्ध में अन्तत: विजय श्री किसका वरण करेगी और क्यों? इसका उत्तर ही सम्पूर्ण युद्धनीति के दर्शन का निरूपण करता है। क्योंकि संख्या, शक्ति तथा आयुधों में पाण्डवों से अधिक सामर्थ्यवान् होते हुए भी तथा धृतराष्ट्र के -'विजय श्री कौरवों को ही प्राप्त होने के विश्वास के बावजूद विजय पाण्डवों की ही होती है, परम नीति विशारद भगवान् श्रीकृष्ण के कहने का यह तात्पर्य है कि जहाँ शक्ति, युक्ति और नीति तीनों एकत्र होती हैं, वहाँ सफलता असंदिग्ध है। केवल बल नेत्रहीन व जड़वत् है। एतावता विचक्षणों का कर्त्तव्य है कि नीतियुक्त शक्ति व सामर्थ्य के प्रयोग से ही जीवन रूपी युद्ध में भी विजय प्राप्त होती है, ऐसा निश्चित है।

---

३५ गीता २/६४
३६ गीता १०/३८
३७ गीता १८/७८

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०१० अङ्क १३ (पृ०१२९-१३३)

बौद्ध काल में वर्णित आर्थिक संगठन: एक विवेचनात्मक अध्ययन

डॉ० दीपा गुप्ता[1]

प्राचीन भारत में ब्राह्मण धर्म को चुनौती देकर यदि किसी अन्य धर्म ने शीश उठाया तो निःसंदेह वह बौद्ध धर्म था। भारतवर्ष में बौद्ध धर्म का उद्भव एवं उत्कर्ष जिस तीव्रता से हुआ उसी तीव्रता से उसका पराभव व लोप भी हुआ। फिर भी बौद्ध धर्म ने भारतीय इतिहास को इस प्रकार प्रभावित किया कि एक काल-विशेष को बौद्ध युग का नाम दे दिया गया। बौद्ध साहित्य में आर्थिक जगत् की व्यापक गतिविधियों का उल्लेख मिलता है। बौद्ध काल में न केवल कृषि एवं उद्योग विकसित थे, अपितु व्यापार एवं वाणिज्य भी अति उन्नत अवस्था में थे। अनेक समान व्यवसायी लोग संगठित होकर अपने व्यवसाय का संचालन करते थे। आर्थिक जगत में इस संगठनात्मक जीवन की विद्यमानता के विषय में रिचार्ड फिक लिखते हैं कि बौद्ध काल में ऐसी संस्थाओं एवं संगठनों की विद्यमानता के कारण पूंजी का सुनियोजन, व्यावसायिक समुदाय के वैधानिक हितों की सुरक्षा आदि थे।[2]

डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार लिखते हैं कि बौद्ध काल के व्यवसायी श्रेणियों में संगठित थे, इस बात के अनेक प्रमाण बौद्ध साहित्य में मिलते हैं।[3] टी० डब्ल्यू० रिहस् डेविडस ने बौद्ध कालीन आर्थिक संस्थाओं पर अपेक्षाकृत विस्तृत दृष्टि डाली और शिल्पियों की संस्थाओं का विशेष अध्ययन किया उनके अनुसार शिल्पियों की ८ श्रेणियाँ विद्यमान थीं। इन सभी की उन्होंने एक अस्पष्ट सी सूची भी प्रस्तुत की है।[4] इनके अतिरिक्त अनेक विद्वान् जैसे- डॉ० आर०बी० मजूमदार, डॉ० राधा कुमुद मुकर्जी, श्री पाद अमृत डांगे, डॉ० देवी दत्त शुक्ल, संतोष कुमार दास, डॉ० के० पी० जायसवाल आदि भी बौद्ध कालीन आर्थिक संस्थाओं की व्यापक विद्यमानता एवं महत्त्व को स्वीकारते हैं।

बौद्ध काल में आर्थिक संस्थाओं का निर्माण:-

बौद्ध युगीन भारत में शिल्प, व्यापार, कृषि, पशुपालन व अन्य अनेक व्यवसाय समाज में अपनी उन्नत अवस्था में विद्यमान थे। लेकिन ये सभी व्यवसाय मात्र यन्त्रों, तकनीकी ज्ञान, व शक्ति के आधार पर ही समाज को आर्थिक विकास प्रदान नहीं कर सकते थे। धनोपार्जन और आर्थिक उन्नति हेतु व्यावसायिक संगठन, समन्वय, नियमपूर्वक नियोजन एवं कुशल प्रशासन की आवश्यकता होती है। प्राचीन भारत के बौद्ध कालीन लोक समाज को इन सभी प्रविधियों एवं सूझ-बूझ का भली-भाँति ज्ञान था। इन आवश्यकता पूर्ति के लिए उन्होंने श्रेणी, सार्थ, पूग, गण जैसी आर्थिक संस्थाओं का निर्माण किया। इनकी संस्थाओं का संगठन एवं श्रेष्ठ प्रशासन इन्हें दृढ़ता प्रदान करता है।

---

१ प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति तत्त्व विभाग कन्या गुरुकुल कांगड़ी महाविद्यालय, हरिद्वार उत्तराखण्ड

२ डॉ० रिचार्डफिक- दि सोशल आर्गेनाइजेशन इन नार्थ इस्ट इंडिया इन बुद्धाज टाइम अंग्रेजी अनुवादक:-एस.के.मैत्रा कलकत्ता- १९२०, पृष्ठ संख्या-२६७

३ डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार- प्राचीन भारत का धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक जीवन दिल्ली- १९७८, पृष्ठ संख्या- ३३०

४ टी० डब्ल्यू० रिहस् डेविड्स -बुद्धिस्ट इंडिया, कलकत्ता-१९०३, पृष्ठ संख्या-३९-४५

बौद्ध कालीन आर्थिक संगठन

बौद्ध काल में आर्थिक संगठनों की विद्यमानता का मुख्य कारण आर्थिक प्रगति बोध था। पुंजी का सुनियोजन, व्यावसायिक समुदाय के वैधानिक हितों की सुरक्षा आदि दूसरे कारण थे, जो आर्थिक-संस्थाओं के उद्गम एवं विकास का कारण बने। बौद्ध कालीन आर्थिक संस्थाओं के इतिहास में सर्वप्रथम श्रेणी नामक आर्थिक संस्था का नाम आता है।

(अ) **श्रेणी**:- जातकों में श्रेणी नाम से संबोधित आर्थिक संस्था का उल्लेख व्यापक एवं विस्तृत रूप में मिलता है। बौद्ध काल में श्रेणी एक महत्त्वपूर्ण आर्थिक संस्था थी। जातकों में उल्लेख मिलता है कि विभिन्न प्रकार के उद्योग धंधों एवं व्यवसायों में संलग्न अनेक शिल्पियों, कारीगरों एवं व्यवसासियों ने एक जैसा व्यवसाय करने वाले लोगों के अपने अलग-अलग संघ या समूह बना लिये, जिन्हें श्रेणी कहा गया। बौद्ध कालीन प्रायः सभी शिल्प-व्यवसाय श्रेणी संगठन के अन्तर्गत ही चलते थे। जातकों में ऐसी ८ श्रेणियों का उल्लेख मिलता है,[५] जिनका वर्गीकरण निम्नंकित है:-

१. काष्ठ कर्मी १०. मछुआरे
२. धातु कर्मी ११. मांस-विक्रेता
३. अश्म (पाषाण) कर्मी १२ आखेटक
४. चर्मकर्मी १३. रसोइये एवं हलवाई
५. बुनकर १४. मालाकार एवं पुष्प विक्रेता
६. कुंभकार १५. नाविक (मल्लाह)
७. हाथी-दंत कर्मी १६. चित्रकार
८. रंगरेजन १७. नापित (नाई)
९. रत्नकार अथवा जौहरी १८. रथकार (सारथी) इत्यादि

उपर्युक्त श्रेणियों के अतिरिक्त कुछ अन्य व्यवसाय भी बौद्ध काल में प्रचलित थे। सभी शिल्पकार अपनी-अपनी श्रेणियों में संगठित थे। बौद्ध कालीन आर्थिक संस्था श्रेणी किसी एक मुख्य या प्रधान अध्यक्ष या सभापति के नेतृत्व में क्रियाशील रहती थी। इस अध्यक्ष को जेट्ठक कहा जाता था। इनकी स्थिति समाज में अति महत्त्वपूर्ण होती थी। ये जेट्ठक आर्थिक पद की प्रतिष्ठा के अतिरिक्त समाज के अन्तर्गत राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक प्रतिष्ठा का भी वरण करते थे। जैसे- ये (जेट्ठक) राजनीति क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण प्रतिष्ठा का वरण करते थे। इनके अपने कुछ नियम या विधान थे जो इनके द्वारा स्वयं निर्मित होते थे। ये नियम या विधान राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त थे। जेट्ठक अपनी संस्था के सदस्यों के पारस्परिक झगड़े का स्वयं निर्णय करते थे। जैसा जिसका अपराध होता था उसको वैसा ही दण्ड देते थे। राज्य की ओर से इसमें कोई हस्तक्षेप नहीं होता था। ये न्यायिक अधिकारों का स्वतन्त्रता पूर्वक प्रयोग करते थे तथा आंतरिक मामलों का निपटारा भी स्वयं ही करते थे। इस प्रकार 'जेट्ठक' समाज में आर्थिक पद की प्रतिष्ठा के अतिरिक्त राजनीतिक प्रतिष्ठा का भी बखूबी वरण करते थे। अतः कहा जा सकता है कि बौद्ध काल में श्रेणी जैसी आर्थिक संस्थाओं का समाज में व्यापक, महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावशाली प्रचार तथा प्रसार था।

---

५ जातक- वोल्यूम १, २६७, ३१४/वो०३, २८१/वो० ४, ४११/वो०६, २२, ४२७

(ब) बौद्ध कालीन आर्थिक जगत् की महत्त्वपूर्ण संस्था या संगठन सार्थ

'जातकों' में उल्लेख मिलता है कि बौद्धकाल में सार्थ एक महत्त्वपूर्ण व्यापारिक संस्था थी। जिस प्रकार सभी व्यवसायियों ने एक जैसा व्यवसाय करने वालों की अपनी-अपनी एक अलग संस्था श्रेणी बनाई, ठीक इसी प्रकार सभी व्यापारियों नें एक जैसा व्यापार करने वाले के अलग-अलग संघों का निर्माण किया, जिन्हें 'सार्थ' कहा गया।[६]

'जातकों' में ऐसा उल्लेख मिलता है कि बौद्ध कालीन व्यापारी अपने व्यापारिक अभियानों हेतु सार्थ में संगठित हो, जल व थल दोनों मार्गों का प्रयोग करते थे।[७]

सार्थ नामक प्रसिद्ध व्यापारिक संगठन ने अपने एक नेतृत्वकर्ता के रूप में सार्थवाह का वरण किया अर्थात् सार्थ संगठन सार्थवाह के निर्देशन में संचालित होता था। ये सार्थ स्थल मार्गों पर बैलगाड़ियों द्वारा तथा जल मार्गों पर पोतों (जहाजों) में वस्तुएँ लादकर लाते व ले जाते थे। स्थल के एक सार्थ में पांच सौ से एक हजार तक बैलगाड़ियाँ सम्मिलित होती थीं। एक सार्थ ने श्रावस्ती से राजगृह की यात्रा की (एक जातक कथा में ऐसा उल्लेख मिला हैं।)[८]

एक अन्य जातक में वर्णित है कि बनारस के हाथी दांत के व्यापारी सार्थ में संगठित हो उज्जैन तक गये।[९] एक ओर अन्य जातक में ऐसा उल्लेख हे कि व्यापारियों के एक काफिले या काँरवे ने विदेह से गांधार तक यात्रा की थी।[१०] इस समय व्यापारिक वस्तुओं में मृद व धातु पात्र, अस्त्र-शस्त्र, रेशम, हाथी-दांत की वस्तुएँ, आभूषण इत्यादि का समावेश होता था।

बौद्ध युग में पृथ्वी पर वनों की बहुलता थी। सार्थो के मार्ग भी पूर्णतः सुरक्षित नहीं थे। डाकू एवं लूटेरों का सदा भय बना रहता था। अतः व्यापार का संचालन व्यक्तिगत रूप से संभव नहीं था। अतः बौद्ध कालीन व्यापारियों ने संयुक्त रूप से व्यवहार करना श्रेयस्कर समझा तथा सार्थ जैसे उद्यम की रचना की। जातकों में इन सार्थों का व्यापक उल्लेख मिलता है।[११] बौद्ध कालीन आर्थिक संगठन सार्थ के संगठन तथा संचालन में निम्न बातें प्रमुख रूप से थी।

१. सार्थ में साझा कारोबार, २. सार्थ में नेता के रूप में सार्थवाह का वरण, ३. मार्ग-निर्देशन हेतु 'थल नियामक' 'जल-नियामक' तथा 'दिशा काक' की सेवाओं का सार्थ द्वारा प्रयोग। ४. सार्थ सुरक्षा हेतु सशस्त्र बलों की नियुक्ति। ५. प्रायः निश्चित मार्गों की जानकारी के लिए कुछ अधिकारियों की भी नियुक्ति की थी।

बौद्ध कालीन सार्थों ने व्यापार यात्रा में मार्गों की जानकारी के लिए कुछ अधिकारियों की भी नियुक्ति की थी। जैसे- जो सार्थ 'सार्थवाह' के नेतृत्व में स्थल मार्गों द्वारा व्यापार करते थे उन्होंने मार्ग निर्देशन के लिए 'थल-नियामकों' की नियुक्ति की थी।[१२] ये थल-नियामक सभी मार्गों से सुपरीचित होते थे। थल-नियामक मार्गों के भली-भांति परिचय के साथ-साथ नक्षत्रों, एवं ग्रहों के विज्ञान जैसे- ज्योतिष तथा खगोल विद्या का भी अच्छा

६ जातक- वोल्यूम १, ९३, ९९, १०७, १७४/वो० २, २९५, ३३५/वो०३, २००
७ वही..........
८ जातक-वोल्यूम १, ९५
९ जातक- वो० ३, १९७
१० जातक- वो० २, ३२१
११ जातक- वोल्यूम १, ९४, ९९, १०७/ वो०२, २९५, ३३५/वो० ३, २००
१२ मोतीचन्द्र- सार्थवाह- पटना- १९६६, पृष्ठ संख्या- ५६, ५७

ज्ञान रखते थे। इसी प्रकार जो सार्थ जल मार्गों द्वारा व्यापार करते थे उन्होंने मार्ग-निर्देशन हेतु जल-नियामकों नाविकों की नियुक्ति की। ये 'जल-नियामक' या 'नाविक' समुद्रों के सभी मार्गों से परिचित होते थे। बीच समुद्र यात्रा करते समय ये 'नाविक' दिशा निर्देशन हेतु पक्षियों तथा यन्त्रों का उपयोग करते थे। जातकों में इन पक्षि को दिशा-काक तथा यन्त्रों को मच्छयन्त्र कहा गया है।[१३] इस प्रकार बौद्ध कालीन व्यापारियों ने सुरक्षा एवं ल को ध्यान में रखते हुए स्वयं को सार्थ जैसी संस्था या संगठन में संगठित किया। परन्तु इन संगठित व्यापारियों मार्ग में अनेक बाधायें उपस्थित होती थीं। जिनमें मुख्य रूप से लुटेरों व जंगली जंतुओं का भय सम्मिलित हो था। इन लूटरों द्वारा सार्थों को लूटने के अनेक प्रसंग जातकों में मिलते हैं। अत: इन सभी से रक्षा हेतु सार्थ संग व्यापारी सार्थ रक्षकों की नियुक्ति करते थे। ये सार्थ रक्षक मार्ग में सार्थों की सुरक्षा करते थे। इस कार्य हेतु सार्थ द्वारा भुगतान किया जाता था।

सार्थों के मार्ग प्राय: निश्चित होते थे। इन सभी मार्गों की देखभाल तथा सुरक्षा राज्य द्वारा की जाती जिसके बदले में (अर्थात् उपयोग करने पर) सार्थ को राज्य को चुंगी कर देना पड़ता था। जो राज्य की आय एक प्रमुख साधन था। इसके अतिरिक्त सार्थों को राज्य की सीमाओं पर भी सीमा-कर देना पड़ता था। जिस 'अन्तपाल' नामक पदाधिकारी वसूल करता था। इस प्रकार स्पष्ट है कि बौद्ध कालीन व्यापारियों का यह स संठगन एक महत्त्वपूर्ण एवं लाभप्रद आर्थिक संस्था के रूप में जाना जा सकता है।

(स) गण एवं संघ संगठन

रामायण में गण नामक आर्थिक संस्था का उल्लेख मिलता है। जिसके प्रमुख को गणवल्लभ कहते इससे स्पष्ट होता है कि आर्थिक क्षेत्र में गण नामक संस्थायें पहले ही बन चुकी थीं। बौद्ध काल में भी गण आर्थिक संस्था के रूप में विद्यमान थी। बौद्धकाल में गण का भावार्थ- जिसमें एक समान उद्देश्य को लेकर च वाले शिल्पियों, कारीगरों या व्यवसायियों ने अपने-अपने अलग-अलग समूहों का निर्माण किया था। इसी प्र बौद्धकाल में संघ भी एक आर्थिक संस्था के रूप में विद्यमान थी। इस काल में संघ रूपी आर्थिक संस्था संस्था थी जो एक विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए व्यवसायियों द्वारा बनाया गया एक समूह या संगठन होता इस प्रकार बौद्ध काल में गण एवं संघ एक आर्थिक संस्था के रूप में जाने जाते थे।

उपर्युक्त अध्ययन से बौद्ध-कालीन समाज में विद्यमान आर्थिक संस्थाओं या संगठनों के महत्त्व प्रभाव में कोई संदेह नहीं रह जाता है।

बौद्धकालीन आर्थिक संगठनों की महत्ता एव विशिष्टतायें

बौद्धकालीन आर्थिक संगठनों ने व्यावसायिक अनुवांशिकता के तत्त्व को भी अपनाया था अर्थात् प्र विभिन्न व्यवसायों में रत लोग अपने वंश के पारम्पारिक व्यवसाय का ही अनुसरण करते थे। जिसके परि स्वरूप व्यापार एवं उद्योग में विशिष्टीकरण का उदय हुआ। जातकों में ऐसे अनेक व्यावसायिक कुलों का वर्ण जिन्होंने अपने व्यवसाय को आनुवंशिक रूप में सम्पादित किया।[१४] जैसे- व्यापारी कुल, वैद्य-कुल, पण्णिक- (शाक-भाजी उगाने वाले) अश्म (पाषाण) कर्मी, बुनकर एवं कुंभकार तथा नवरक्षक-कुल आदि अ अनुवांशिक व्यवसाय करने वाले कुलों का उल्लेख मिलता है।[१५] इस प्रकार व्यावसायिक अनुवांशिकता के तत्त्व

---

१३ जातक- वोल्यूम १, २९ /वो० २, ३८८/वो ४, ३३०

१४ जातक- वोल्यूम- ९८, ९९, १०७, १९४, ३१२/वो० २, ७९, २००, ३३५/ वो० ३, १९८, ३३०/वो० ५, ३५६

१५ जातक- वोल्यूम १, ५४, ६९ ७०, १३७, १७८, २६५

बौद्ध कालीन आर्थिक संस्थाओं की महत्ता को और अधिक श्रेष्ठ प्रतिपादित सिद्ध किया। जिससे बौद्ध कालीन आर्थिक जगत् का विकास एवं विस्तार संभव हुआ।

बौद्ध-काल में वैदिक काल से चली आ रही वर्ण-व्यवस्था भी दृष्टिगोचर होती है। लेकिन इसके साथ-साथ बौद्ध काल में व्यवसाय चुनने में पर्याप्त स्वतन्त्रता भी थी। जैसे-यह आवश्यक नहीं था कि यदि ब्राह्मण कुल में जन्म लिया तो वे व्यक्ति बौद्धिक या आध्यात्मिक कार्य ही करेगा। ब्राह्मणों ने चरवाहे, आखेटक, रक्षक, वैद्य, रथकार, बढ़ई, पशुपालक, व्यापारी आदि के रूप में भी जीवन यापन किया। इसी प्रकार क्षत्रिय भी व्यापार, व्यवसाय आदि का भी वरण करते थे।[१६] इस प्रकार व्यवसाय वरण का यह तत्त्व भी बौद्ध कालीन आर्थिक समाज के विकास के लिए एक महत्त्वपूर्ण कारक सिद्ध हुआ।

बौद्धकाल में शिल्प-उद्योगों तथा व्यवसायों का स्थानीय करण या नगरीकरण भी हुआ अर्थात् एक जैसा व्यवसाय या व्यापार करने वाले लोग एक ही स्थान पर बसा दिये गऐ थे। जिसको औद्योगिक स्थापन की संज्ञा से अभिहित किया गया। जातक-ग्रन्थ में एक बढ़ई ग्राम का उल्लेख मिलता है। इस ग्राम में एक हजार बढ़ईयों के परिवार रहते थे। बड़े-बड़े नगरों में एक ही जैसा व्यवसाय या व्यापार करने वाले लोगों की अपनी अलग-अलग गलियाँ थीं। जिन्हें वीथि कहा जाता था। बौद्ध काल में इस 'औद्योगिक स्थापन' ने इस काल के सामाजिक एवं आर्थिक जीवन पर एक अमिट प्रभाव डाला।

बौद्ध काल में भारत का विदेशों के साथ भी प्रचुर मात्रा में व्यापार हुआ। इस समय भारत का मिस्र यूनान, फारस, बेबीलोनिया, दक्षिणी-पूर्वी एशिया, स्वर्णद्वीप (बर्मा, मलाया) तथा स्वर्णभूमि (इण्डोनेशिया, इंडोचाइना) के साथ व्यापार होता था। जिसमें श्रेणी तथा सार्थ जैसी आर्थिक संस्थाओं ने एक महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि बौद्ध कालीन उपर्युक्त सभी आर्थिक संगठन अपनी-अपनी व्यवस्था एवं विधानानुसार अपनी गतिविधियों का संचालन करते थे। इन संगठनों की जन-कल्याण की नीति के कारण इन्हें व्यापक जन-समर्थन प्राप्त होता था। बौद्ध कालीन आर्थिक -संस्थाओं के व्यापक एवं विस्तृत अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये आर्थिक संगठन पर्याप्त सीमा तक स्वतन्त्र थे तथा इनकी स्वायत्तता सुस्थापित एवं मान्य थी।

---

१६ जातक- वोल्यूम २, २९०, २९३, ८४, १६९

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०१० अङ्क १३ (पृ०१३४-१३८)

कबीर का औपनिषदिक दर्शन

डा० मृदुल जोशी[1]

हिन्दी साहित्याकाश के देदीप्यमान नक्षत्र कबीर एक कवि, एक संत, एक समाज-सुधारक, एक बुद्धिजीवी होने के साथ-साथ गहन चिंतक और तत्वान्वेषी गम्भीर दार्शनिक भी हैं। **'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्'** के आधार पर दर्शन का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है- **'जिसके द्वारा देखा जाए'**। जिस ज्ञान के द्वारा वास्तविक वस्तु का सत्यभूत तात्विक स्वरूप प्रकट हो सके, दर्शन की विषय-परिधि में आता है। जगत् का वास्तविक स्वरूप, सृष्टि की उत्पत्ति, सृष्टि का कारण इत्यादि रहस्यों को दर्शन अनावृत करता है। अपरिहार्य मृत्यु के बाद जीव की, जीवन की सत्ता कहाँ चली जाती है, इस चिरंतन शाश्वत सत्य को तलाशते-तलाशते कबीर भी दार्शनिक बन बैठे हैं-

संतो धागा टूटा गगन बिनसि गया, सबद जु कहाँ समाई।
ए संसा मोहे निसदिन व्यापै, कोई न कहै समझाई।
नहीं ब्रह्माण्ड प्यंड पुनि नाहीं, पंच तत्त भी नाहीं।
नहि गिह द्वार कदू नहीं तहिंवाँ, रचनहार पुनि नाँहीं।[2]

जीवन का सूत्र टूट जाने पर शरीर-सत्ता समाप्त हो जाती है और जीवन के विलय के साथ ही पिण्ड के लिए ब्रहाण्ड का अस्तित्व भी नहीं रह जाता। पंचतत्त्व की स्थिति नहीं रहती, गृह-द्वार का कोई अर्थ नहीं रह जाता तो वह 'मैं' का बोध कराने वाला आत्मतत्त्व कहाँ चला जाता है? आत्मान्वेषण की यह छटपटाहट कबीर को दर्शन के जटिल क्षेत्र में प्रवेश कराती है। ब्रह्म, जीव, जगत्, माया विषयक गूढ दार्शनिक सिद्धान्तों को कवि कबीर सामान्य जनता के लिए सरल और सुबोध शब्दों में सुलभ कराने के आकांक्षी रहे हैं। कबीर के चिंतन पर औपनिषदिक प्रभाव असंदिग्ध है। मुण्डकोपनिषद् में समस्त जागतिक पदार्थों का नैमित्तिक कारण ब्रह्म माना है।[3] तैत्तिरीय उपनिषद् में ब्रह्म को **'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, यतो जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म'।**[4] कहकर समस्त जीवों का उत्पत्ति कर्ता, पालन कर्त्ता व लयकर्त्ता बताया गया है। इसी प्रकार **'तज्जलानिति शान्त उपासीत'**[5] कहता हुआ छान्दोग्य उपनिषद् **'तज्ज'** (यह जगत् ब्रह्म से उत्पन्न), **'तल्ल'** (उसी में लीन) और **'तद्र'** (उसी के कारण स्थित) मानता है, ठीक उसी प्रकार कबीर भी सृष्टि का जन्म, स्थिति व लय उसी ब्रह्म में मानते हैं-

बाजीगर डंक बजाई, सब खलक तमासे आई।
बाजीगर स्वांग सकेला, अपने रंग रमै अकेला।।

यही नहीं

---

१ असिस्टेंट प्रोफेसर हिन्दी विभाग, कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हरिद्वार

२. कबीर-ग्रंथावली, डॉ० श्यामसुन्दर दास द्वारा संपादित, पदावली सं० ३२

३. यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति। यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्।। मुण्डकोपनिषद् १/१/७

४. तैत्तिरीय उपनिषद् ३१

५. छान्दोग्य उपनिषद् ३/१४/९

जैसे कंचन के भूषण ये कहि गालि तबाहिगें।
ऐसे हम लोक वेद के बिछरे सुन्नहि माहि समाहिंगे।

कहता हुआ कबीर समस्त नाम-रूप आरोपित जागतिक सत्ता को आभास मात्र बताता है। जगत् का मूल अधिष्ठान तो ब्रह्म है। जिस प्रकार स्वर्ण से विविध आभूषण बनते हैं, उसी प्रकार नाना रूप धारी समस्त जागतिक पदार्थ उसी ब्रह्म से उत्पन्न होते हुए उसी ब्रह्म में समा जाते हैं। कबीर के लिए यह जागतिक प्रपंच केवल बाजीगर के खेल-तमाशे के समान है जो कुछ समय के लिए ऐन्द्रजालिक सम्मोहन के तहत विविध रूपों को जन्म देता है और कुछ क्षणोपरान्त सब कुछ बटोर कर चल देता है। यहाँ कबीर उपनिषद् के साथ-साथ तुलसी के **'पालइ पोषइ सृजइ बहोरी, बालकेलि सम विधि मति भोरी'** की मान्यता के समतुल्य भी दिखाई पड़ते हैं।

उपनिषद् में ब्रह्म को इन्द्रियातीत, अगम्य, अगोचर, अनिर्वचनीय माना है। यही नहीं औपनिषदिक दर्शन के अनुसार ब्रह्म की सत्ता अद्वैत है और उसका उद्घोष है- **'एकमेवद्वितीयो नास्ति'**। कबीर के काव्य में भी ब्रह्म का स्वरूप अगम्य अगोचर और अनिर्वचनीय ही है। कबीर की स्पष्टोक्ति है-**जाके मुख माथा नहीं, नाहीं रूप कुरूप। पुहुप बास तें पातरा, ऐसा तत्त अनूप।**[६] यहाँ कबीर **'जाके मुख माथा नहीं'** कहकर ब्रह्म की अगोचरता को बताते हैं तो पुष्प की सुगंध से भी पतला कहकर उसकी सूक्ष्मता को सरल शब्दों में समझाते चलते हैं। कबीर के लिए तो ब्रह्म की स्थिति पाप और पुण्य से भी परे है। वह तो केवल अखण्ड प्रकाश के रूप में विद्यमान है।[७] कबीर का ब्रह्म उपनिषद् के ब्रह्म के समान ही अजीबोगरीब है जो बिना ही रूप के क्रियाशील है, बिना पग के चलता है और बिना मुख के खाता है। वह न तो स्थूल है, न सूक्ष्म, न गोरा है और न काला।[८] वह चलता भी है और नहीं भी चलता, वह पास भी है और दूर भी, वह सबके अन्दर भी है और बाहर भी।[९] वह प्रकृति, शब्द, स्पर्श, रूप, रस से परे है। इन्द्रियाँ उस तक नहीं पहुँच सकतीं वह नित्य अविनाशी व अगम्य है। इस ज्ञानस्वरूप परमात्मा को अर्न्तज्ञान से प्राप्त कर मनुष्य संसार से मुक्त हो जाता है।[१०] ठीक उपनिषद् की ही तर्ज पर कबीर भी ब्रह्म को- **भारी कहौं त बहु डरौं, हलका कहूँ तौ झूठ, मैं का जाणौं राम कूँ, नैनूँ कबहुँ न दीठ**[११] कहते दिखाई पड़ते हैं। कबीर की दृष्टि में भी ब्रह्म इन्द्रियातीत है इसीलिए तो उसकी प्राप्ति समाधि की शून्यावस्था में की जा सकती है। कबीर इस इन्द्रियातीत अवस्था को **'सुन्नि सिखर गढ़ मांहि'** के माध्यम से अभिव्यक्ति देते हैं। अन्तर्ज्ञान के जाग्रत होने पर उसकी प्राप्ति को कबीर **मुक्ति रूपी मोती** के रूप में देखते हैं।[१२] कबीर की दृष्टि में ब्रह्म सर्वव्यापी है। उसे निर्गुण और सगुण की सीमा में भी आबद्ध नहीं किया जा सकता। समस्त दृश्यमान जागतिक पदार्थो में विद्यमान रहते हुए वह उससे परे भी है-

संतो धोखा कासूं कहिये। गुण में निरगुण मैं गुण हैं,
बाट छाड़ि क्यूं बहिये।। अजरा, अमर, कथै सब कोई, अलख न कथणां जाई।

---

६. कबीर-ग्रंथावली, डॉ० श्यामसुन्दर दास द्वारा संपादित, पीव पिछांणन कौ अंग सं० ४१
७. अगम अगोचर गमि नहीं, तहाँ जगमगे जोति। जहाँ कबीरा बंदिगी, तहाँ पाप पुण्य नही छोति।। कबीर ग्रंथावली, सम्पादक डा० श्यामसुन्दरदास, परचा कौ अंग ४
८. बृहदारण्योकपनिषद् २.३.६; ३.९.२६; ४.२.४
९. तदेजति तन्नेजति तद्दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः। ईशावास्योपनिषद् ५
१०. कठोपनिषद् ३.१५
११. कबीर-ग्रंथावली, सम्पादक डा० श्यामसुन्दर दास, जणां कौ अंग-१
१२ सायर नाहीं सीप बिन, स्वाँति बूंद भी नांहि। कबीर मोती नीपजैं, सुन्नि सिखर गढ़ मांहि।। कबीर ग्रंथावली सम्पादक डॉ० श्यामसुन्दर दास परचा कौ अंग ८

नाति सरूप वरण नहीं जाकै, घटि घटि रह्यौ समाई।
प्यंड ब्रहाण्ड कथै सब कोई, वाकै आदि अरु अन्त न होई।
प्यंड ब्रहाण्ड छाड़ि जे कथिये कहै कबीर हरि सोई।।[१३]

वास्तव में ब्रह्म रूपातीत और शब्दातीत है। वह वर्णन का विषय न होकर केवल और केवल अनुभव गम्य है। कबीर ने इस सत्य को **पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान। कहिबे कू सोभा नहीं देख्या ही परवान**[१४] कहते हुए प्रकट किया है। यही बात **तैत्तरीय उपनिषद्** भी कहता है-'**यतो वाचो निर्वतन्ते अप्राप्य मनसा सह**'।[१५] '**यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजिगुप्सते।**'[१६] कहता हुआ **ईशावास्योपनिषद्** यह विचार प्रकट करता है कि सब कुछ परमात्मा में है और सब कुछ परमात्मा ही है। कबीर का मानस भी इस सत्य का अनुभव करता दिखाई पड़ता है। '**खालिक खलक खलक महिं खालिक, पूरि रहयो सब साईं**' कहता हुआ सर्वत्र परमात्मा की उपस्थिति और सबमें परमात्मा को देखता है।

ब्रह्म इन्द्रियों के द्वारा संकल्प विकल्पात्मक मन से, विवेचनात्मक बुद्धि से तथा हमारी सत्ता के कारण भूत प्राणों से पृथक् है। यह शरीर रथ है, बुद्धि सारथि है, मन प्रग्रह (लगाम) है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं जो विषय मार्ग पर चलते है और आत्मा रथ का स्वामी है।[१७] कठोपनिषद् के ही सिद्धान्तों को मानते हुए कबीर ने चलायमान मन को वश में रखने के प्रयत्न किये हैं। मन की वल्गा संभालते ही आत्मान्वेषण का मार्ग प्रशस्त हो उठता है। उनकी स्पष्ट उद्घोषणा है-**मन के मते न चालिये, छाँडी जीव की बाँणि, ताकूं केरे सूत ज्यूँ, उलटि अपूठा आँणि।**[१८] कबीर कसे हुए शरीर रूपी धनुष द्वारा पंचतत्त्वमय बाण रखकर मन रूपी चंचल मृग का वध करना चाहता है।[१९] स्पष्ट है कि कबीर भी शरीर-रथ को नियंत्रित करने वाले तत्त्व को पहचानता है। उपनिषद् उस आत्मतत्त्व के दर्शन, श्रवण, मनन तथा ज्ञान से सर्वज्ञ होने की पुष्टि करता है। इसीलिए वह पुकार-पुकार कर कहता है-

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः, श्रोतव्यः, मन्तव्यः, निदिध्यासितव्यः।
आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन, मत्या, विज्ञानेनेदं सर्वं विज्ञातं भवति।।[२०]

यह आत्म तत्त्व बहिर्जगत् में न मिलकर अपने अन्दर ही ढूँढा जा सकता है। कबीर के विचार भी इससे पृथक् नहीं हैं '**मोको कहाँ ढूँढता बन्दे, मैं तो तेरे पास में।**' कबीर जानता है कि समस्त दृश्यमान जगत् मरणधर्मा है और समय रहते आत्मतत्त्व को जान लेना है, क्योंकि मृत्यु के पश्चात् आत्मतत्त्व को जानने का साधन समाप्त हो जाएगा-**कबीर पटण कारिवां, पंच चोर दस द्वार। जम रांणौ गढ़ भेलिसी, सुमिरि लै करतार।।**[२१] यदि मनुष्य समय रहते आत्मज्ञान प्राप्त कर लेता है तो अभय की स्थिति उससे प्रसन्नता पूर्वक कहला सकती है-

---

१३. कबीर-ग्रंथावली, डॉ० श्यामसुन्दर दास द्वारा संपादित, पदावली सं० १८०
१४. कबीर-ग्रंथावली, सम्पादक डा० श्यामसुन्दर दास, परचा कौ अंग ३
१५. तैत्तिरीय उपनिषद् ३४०/२.४
१६. ईशावास्योपनिषद् ६
१७. आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च, इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् आत्मन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।। कठोपनिषद् १/३-४
१८. कबीर ग्रंथावली सम्पादक डॉ० श्यामसुन्दर दास मन कौ अंग १
१९. काया कसूं कमांण ज्यूं, पंचतत्व करि बांण। मारौं तौं मन मृग कौं, नहीं तौं मिथ्या जांण।। कबीर-ग्रंथावली, सम्पादक डा० श्यामसुन्दर दास, मन कौ अंग-३०
२०. बृहदारण्यकोपनिषद् २/४/८
२१. कबीर ग्रंथावली सम्पादक डॉ० श्यामसुन्दर दास चितावणी कौ अंग ७

पांणी ही तैं हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाइ। जो कुछ था सोई भया, अब कछू कह्या न जाइ।[22] यह वह स्थिति है जहाँ जन्म और मृत्यु, गोचर और अगोचर में कोई पार्थक्य रह ही नहीं जाता।

उपनिषद् दृश्यमान जगत् को प्रपंच मानता है। उसकी तात्विक दृष्टि से स्थिति है ही नहीं। वह तो नित्य परिवर्तनशील व मरणधर्मा है। उसकी स्पष्टोक्ति है-'**ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या**'। कबीर की दृष्टि भी इससे मिलती जुलती है। उसके लिए भी यह संसार क्षण-भंगुर और मिथ्या है। इसलिए तत्त्वान्वेषी को इसके प्रपंच में नहीं फँसना चाहिए और समय रहते लक्ष्ण को प्राप्त कर लेना चाहिए। इसीलिए तो कबीर चेतावनी देते हैं- **यहु ऐसा संसार है, जैसा सेंबल फूल। दिन दस के ब्यौहार कौं, झूठै रंगि न भूलि।।**[23] अद्वैतवादी माया को ईश्वर की ही त्रिगुणमयी शक्ति के रूप में निरूपित करते हैं, जिसने समस्त जगत् को अपने वश में कर रखा है।[24] कबीर ने भी माया को वेदान्त की अविद्या की भांति ही निरूपित किया है, जो त्रिगुणात्मिका है, संसार को भ्रमित करने वाली है तथा जो कनक और कामिनी के रूप में प्रकट होकर जीवात्मा को परमात्मा से पृथक् करती है।[25] कबीर संसार का आकर्षण मिथ्या मानते हैं, यहाँ तो सर्वत्र दुःख ही दुःख है- **कबीर इस संसार का झूठा माया मोह, जिहि घरि जिना बंधावणा तिहि धरि तिल अँदोह।**[26] उनके लिए माया का आकर्षण फीका है- **माया तरवर त्रिबिधका, सांखा दुःख संतान। सीतलता सपिनै नहीं, फल फीकौ तनि तापि।**[27] कबीर ने माया को दैहिक, दैविक, भौतिक त्रय-संताप से युक्त माना है जिस वृक्ष के आश्रय में कदापि सुख की अनुभूति नहीं हो सकती। माया तो सत, रज तम के त्रिगुणामयी पाश को लेकर संसार के बाजार में बैठी हुई समस्त जीवों को आकृष्ट करती है- **कबीर माया पापणीं फंध ले बैठी हाटि।**[28] '**तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः**' के ही समान कबीर ने भी माना है कि सांसारिक आकर्षण से उत्पन्न तृष्णा दिनों-दिन बढ़ती जाती है- **त्रिष्णां सांची नां बुझै, दिन-दिन बधती जाई।**[29] इसलिए साधक को इससे दूर रहने की चेतावनी कबीर ने अपनी साखियों के माध्यम से दी है।

दर्शन का आग्रह है कि क्रिया के बिना ज्ञान का बोझ व्यर्थ ढोना है-'**ज्ञानं भारः क्रियां विना**' यदि व्यक्ति इस ज्ञान का जीवन में उपयोग नहीं करता, उसे जीवन में नहीं उतारता तो उसका अर्थ नहीं रह जाता। कबीर ने भी कोरे ज्ञान को व्यवहार में परिणत करने की बात की है। उन्होंने साधना के अनेक सूत्रों को पकड़ाते हुए उस पर अमल करने की बात कही है, क्योंकि उन्हें स्पष्ट ज्ञान था कि **कथणी भयी तो क्या भया, करणी न ठहराई, कालबूत के कोट ज्यूं, देखत ही ढह जाइ।**[30] वास्तव में यदि हम ज्ञान को तत्काल आचरण में नहीं उतारते तो वह ठीक उसी प्रकार क्षणिक और व्यर्थ बनकर रह जाता है जैसे कलाबत्तू से बना हुआ मेहराब। कलाबत्तू कच्ची मिट्टी का बना आधार है जो इतना नाजुक होता है कि छूते ही टूट जाता है। इसी प्रकार व्यवहार में

---

२२. कबीर ग्रंथावली सम्पादक डॉ० श्यामसुन्दर दास परचा कौ अंग १७
२३. कबीर ग्रंथावली सम्पादक डॉ० श्यामसुन्दर दास चितावणी कौ अंग १३
२४. अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिर्नाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका या। कार्यानुमेया सुधियैव माया यथा जगत् सर्वमिदं प्रसूयते।। विवेक चूडामणि, श्लोक ११०
२५. माया की झल जग जल्या, कनक कांमिणीं लागि। कहु धौं किहि विधि राखिये, रुई पलेटी आगि।। कबीर ग्रंथावली सम्पादक डॉ० श्यामसुन्दरदास माया कौ अंग ३२
२६. कबीर ग्रंथावली सम्पादक डॉ० श्यामसुन्दर दास माया कौ अंग २८
२७. कबीर ग्रंथावली सम्पादक डॉ० श्यामसुन्दर दास माया कौ अंग २०
२८. कबीर ग्रंथावली सम्पादक डॉ० श्यामसुन्दर दास माया कौ अंग २
२९. कबीर ग्रंथावली सम्पादक डॉ० श्यामसुन्दर दास माया कौ अंग १५
३०. कबीर ग्रंथावली सम्पादक डॉ० श्यामसुन्दर दास करणी बिना कथनी कौ अंग १

न लाया गया केवल सैद्धान्तिक ज्ञान साधक को कोई लाभ नहीं पहुँचाता और उसे सत्य की कसौटी पर खरा नहीं उतरने देता।

उपनिषद् का लक्ष्य है मनुष्य को अखण्ड आनन्द की स्थिति में पहुँचाना। बृहदारण्यककोपनिषद् का कथन है-**तद् यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद, नान्तरम्; एवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपिरष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद, नान्तरम्। तद् वा अस्य एतदाप्तकामम् आत्मकामम् अकामं रूपम्।।**[३१] अर्थात् जिस प्रकार प्रिया आंलिगनबद्ध पुरुष न तो किसी बाह्य वस्तु को जानता है न तो भीतरी वस्तु को उसी प्रकार आत्मा के परमात्मा के साथ आलिंगनबद्ध होने पर जीव का बाह्य आन्तरिक ज्ञान विलुप्त हो जाता है, उसकी समस्त कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं और वह अखण्ड आनन्द की स्थिति में रहता है। कबीर भी इस आत्मानन्द की अनुभूति को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं-

दुलहनीं गावहु मंगलचार, हम धरि आये तो राजा राम भरतार तन रत करि मै मन रत करि,
पंचतत बराती, रामदेव मोरे पांहुनै आये, मैं जोबन मै, माती।
सरीर सरोवर वेदी करिहूँ, ब्रह्म वेद उचार। रांमदेव संगि भांवरि लैहूँ, धंनि धंनि भाग हमार।[३२]

कबीर ने परम पुरुष से अपने आध्यात्मिक मिलन का वर्णन विवाह के रूपक के माध्यम से किया है। आत्मा, परमात्मा रूपी पति का वरण कर रही है। तन और मन से समर्पण को उत्सुक पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश को साक्षी बनाकर अपने शरीर रूपी कुण्ड में परम पुरुष के साथ एकाकार हो उठती है। जैसे दैहिक मिलन की परिणति ऐन्द्रियजन्य आनन्द में बदलती है, ठीक वैसे ही आत्मा परमात्मा के मिलन से इन्द्रियातीत अखण्ड आनन्द का अनुभव होता है। यह आत्मानन्द की अनुभूति उस अखण्ड अमरता का बोध भी कराती है।[३३] वह निर्भय होकर कह उठता है-**कौन मरे कौन जनमै भाई, सरग नरग कौने गति पाई। पंचतत अविगत थे उत्पनां, एकै किया निवासा बिछुरे तत फिर सहज समानां, रेख रही नहीं आसा जल में कुंभ कुंभ में जल है, बाहरि भीतरि पानी फूटा कुंभ जल जलहि समानां, यह तत कथौ गियानी।**[३४] साधक अनुभव करने लगता है कि समस्त दृश्यमान जगत् पंच महाभूतों से विनिर्मित है और सबमें एक चैतन्य सत्ता प्रवाहित है। क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर से विनिर्मित देह के समाप्त हो जाने पर भी अनित्य आत्मा कभी भी समाप्त नहीं होती।

निष्कर्षतः उपनिषदों के समान ही कबीर ने ब्रह्म और जीव और ब्रह्म और जगत् सर्वत्र अद्वैतता का प्रतिपादन किया है। माया की अनिवर्चनीयता के साथ-साथ कबीर ने वास्तविक जगत् की सत्ता को अस्वीकारते हुए केवल व्यावहारिक दृष्टि से इसे सत्य माना है। **'अयमात्मा ब्रह्म'** ही भांति कबीर आत्मा को ही परमात्मा बताते हुए दोनों में एकत्व स्थापित किया है। **'अहं ब्रह्मास्मि'** के समान ही कबीर ने जीव को परमात्मा का ही रूप बताया है। निःसन्देह कबीर की भावभूमि औपनिषदिक चिंतन का समर्थन करती दिखाई देती है।

---

३१. बृहदारण्यकोपनिषद् ४/३/२१

३२. कबीर ग्रंथावली सम्पादक डॉ० श्यामसुन्दर दास पदावली सं० १

३३. हम न मरैं मरिहैं संसारा, हम कूँ मिल्या जियावन हारा। अब न मरौं मरने मन मानां, तेई मूए जिन राम न जानाँ। कबीर ग्रंथावली सम्पादक डॉ० श्यामसुन्दर दास पदावली सं० ४३

३४. कबीर ग्रंथावली सम्पादक डॉ० श्यामसुन्दर दास पदावली सं० ४४

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०१० अङ्क १३ (पृ०१३९-१४२)

आर्हतदर्शनगत सम्यक्-चारित्र की वर्तमान में आवश्यकता

डॉ. देवी सिंह[1]

विद्वज्जन धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष को ही पुरुषार्थ-चतुष्टय कहते हैं। सामान्य व्यक्ति प्रायः अर्थ एवं काम की दिशा में सदैव प्रयत्नशील रहता है, लेकिन धर्म के विना अर्थ एवं काम तन्त्र अन्ततोगत्वा जीवन के लिये दुःखावह सिद्ध होते हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह सामाजिक जीवन में अर्थ और काम को नियन्त्रित करके उसे जीवन और जगत् के लिये सुखावह बनाते हैं। मानव जब अर्थ एवं काम के चक्र-व्यूह से निकलने का अपना संकल्प परिपुष्ट कर लेता है, फिर वह **केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि, धंमं शरणं गच्छामि** तथा **धर्मं चर** जैसे धर्मसूत्रों के चिन्तन एवं आचरण को अपनी आत्मिक शान्ति का केन्द्र बिन्दु बनाता है और वहीं से उसके जीवन में सदा-सदा के लिये दुःख से मुक्त होने का उपक्रम आरम्भ होता है। उस मुक्ति के लिये कौन सा मार्ग अधिक सत्य, यथार्थ एवं समीचीन है, इसके लिये आर्हत-दर्शन में दुःख का आत्यन्तिक क्षय करने तथा परमानन्द को प्राप्त करने के लिये सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप 'रत्नत्रय' प्रतिपादित किया गया है। रत्नत्रय की उपादेयता एवं उपयोगिता जीवन की सर्वोच्च, परम व चरम संसिद्धि से जुड़ी हुई है।

समस्त जागतिक विवाद बाहर के क्रिया कलापों को ही सब कुछ समझने से होते हैं। बाहर तो पर्यायार्थिक नय से सब विनश्वर ही है, वह सारपूर्ण नहीं। निस्सार है। वह ज्ञेय तो है, किन्तु मोक्ष की दृष्टि से वह हेय ही है, उपादेय नहीं। उपादेय तो केवल आत्मा का निज स्वरूप ही है, जो सम्यक् चारित्र से प्राप्त होता है, किन्तु दर्शन के बिना ज्ञान और ज्ञान के बिना चारित्र तथा चारित्र के बिना मोक्ष सम्भव नहीं है।[2] जैन मत में जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर निर्जरा और मोक्ष से सात ही तत्त्व हैं, जिनमें यथार्थ श्रद्धा का होना सम्यक् दर्शन बतलाया गया है।[3] जिस स्वभाव से जीव आदि पदार्थ व्यवस्थित हैं, उसी रूप में मोह तथा संशय से रहित होकर उन्हें जानना सम्यक् ज्ञान कहलाता है।[4] जो विभाव से स्वभाव में ले जाये तथा परिणाम स्वरूप निवृत्ति प्रतिष्ठित कर दे, वही सम्यक्=यथार्थ चरित्र है।

प्रस्तुत शोध पत्र के अन्तर्गत आर्हतदर्शन में प्रतिपादित 'रत्नत्रय' के 'सम्यक् चारित्र' नामक रत्न को ही लिया गया है। **चरति याति तेन हितप्राप्तिं अहितनिवारणं चेति चारित्रम्। चर्यते सेव्यते सज्जनैरिति वा चारित्रम्**[5] अर्थात् आचार-विचार स्वरूप चारित्र हित की प्राप्ति कराने वाला और अहित का निवारक होता है तथा सज्जन जिसका आचरण करते हैं, उसी को चारित्र कहा जाता है। सर्वदर्शनसंग्रहकार के अनुसार संसार के प्रर्वतन के कारणस्वरूप कर्मों के नष्ट हो जाने पर उद्यत, श्रद्धावान् तथा ज्ञानवान् पुरुष का पाप में ले जाने वाली क्रियाओं से

---

१ संस्कृत, पालि एवं प्राकृत विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

२. नादंसणिस्स णाणं, नाणेण विणा ण हुन्ति चरणगुणा।अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोखस्य निव्वाणं।। उत्तराध्ययन सूत्र, २८.३०

३. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। उमास्वाति, तत्त्वार्थसूत्र, १.२

४. येन स्वभावेन जीवादयः पदार्था व्यवस्थितास्तेन स्वभावेन मोहसंशयरहित्वेनावगमः सम्यग्ज्ञानम्। - सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ११९

५. आचार्य शिवकोटि, भगवती आराधना मूलाराधना, ८.४१.११

निवृत्त (पृथक्) हो जाना ही सम्यक् चरित्र है।[६] इसी बात को आचार्य अमृतचन्द्रसूरि ने स्पष्ट करते हुए कहा है कि समस्त पापयुक्त योगों के दूर करने से निरवद्य अर्थात् निष्पाप, दोषरहित चारित्र होता है। जो सदाचरण समस्त कषायों से रहित है, विशद तथा निर्मल है और जो राग-द्वेष से रहित है अर्थात् वीतराग है, वह चारित्र ही आत्मा का निज स्वरूप है।[७]

जैन दर्शन के अनुसार इस सम्यक् चारित्र के पांच महाव्रत हैं[८] - अहिंसा, सूनृत (सत्य), अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। महापुरुषों के द्वारा हिंसादि पांच पापों को मन, वचन, काम व कृत कारित-अनुमोदना से त्याग करना 'महाव्रत' कहलाता है।[९]

अहिंसा महाव्रत

प्रमत्त योगों से पर-प्राण को पीड़ा देना अथवा उनका अनिपात होना हिंसा है।[१०] हिंसा का अभाव अहिंसा है। प्रमाद के योग से अथवा असावधानी या पागलपन से भी चरों (मनुष्य, पशु, पक्षी आदि) और स्थावरों (लता, वृक्ष आदि) के प्राणों का विनाश न करना 'अहिंसा' कहलाता है।[११] भगवती अराधना में आता है कि जैसे तुझे दु:ख प्रिय नहीं है, वैसे ही अन्य जीवों को भी दु:ख प्रिय नहीं है, ऐसा जानकर सदा अपनी तरह ही सभी जीवों के प्रति व्यवहार करना चाहिये।[१२] तप, श्रुत, यम, ज्ञान, ध्यान, दान, सत्य, शील, व्रतादि जितने भी उत्तम कार्य हैं, उन सब की माता एकमात्र अहिंसा ही है।[१३]

आज संसार में बढ़ रही आंतकवाद रूपी हिंसात्मक प्रवृत्तियों को रोकने के लिये संस्कृतवाङ्मय में प्रतिपादित अहिंसा रूपी महाव्रत को अपनाने की आवश्यक है, क्योंकि हिंसा में लिप्त मनुष्य को कभी शान्ति नहीं मिल सकती, जैसां कि महर्षि मनु ने भी कहा है-**न हि वैरेण वैराणि प्रशाम्यन्ति कदाचन।**[१४] अर्थात् वैरभावना रखने से वैरभावना कभी शान्त नहीं हो सकती। यदि किसी व्यक्ति को चोरी आदि अशुभ कर्म करने पर उसके सुधार के लिये और अन्यों के उपकार के लिये प्रेमपूर्वक उचित दण्ड दिया जाये तो वह अहिंसा है, हिंसा नहीं। माता, पिता आचार्य आदि बालक-बालिकाओं को दोषों से दूर करने के लिये उनको गुणवान् बनाने के लिए यदि उचित दण्ड देते हैं तो वह हिंसा न होकर अहिंसा ही है। इस प्रकार अहिंसा का पालन करने से व्यक्ति अपने सूक्ष्म दोषों को जानने और उनका निवारण करने में समर्थ हो जाता है।[१५] जैन दर्शन में अहिंसा की पाँच भावनाएं भी

---

६. संसरणकर्मोच्छित्तावुद्यतस्य श्रद्धानस्य ज्ञानवतः पापगमनकारणक्रियानिवृत्तिः सम्यग् चारित्रम्। - स० द०स०, पृ० १२१

७. चारित्रं भवति यतः समस्तसावद्ययोगपरिहरणात्। सकलकषायविमुक्तं शरदमुदासीनमात्मरूपं तत्।। - पुरुषार्थसिध्युपाय,गा० ३९

८. अहिंसासूनृतास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः। - स०द०स०, पृ० १२२

९. समन्तभद्राचार्य, रकरण्ड श्रावकाचार, ७२

१०. प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा। - तत्त्वार्थसूत्र, ७/८

११. न यत्प्रमादयोगेन जीवितवयपरोपणम्। चराणां स्थावराणां च तदहिंसाव्रतं मतम्।। - स०द०स०, पृ० १२२

१२. भ०आ०७७७

१३. आचार्य शुभचन्द्र, ज्ञानार्णव, ८/३० ३१, ४२ तथा ९/२

१४. आचार्य राजवीर शास्त्री द्वारा संपादित पातसजल-योगदर्शन-भाष्यम, पृ० २८३ पद उद्धत

१५. योगदर्शनम्, व्याख्याकार स्वामी सत्यपति परिव्राजक, पृ० १७५

कही गई हैं[१६]- (क) ईर्यासमिति, (ख) मनोगुप्ति, (ग) वचनगुप्ति, (घ) आलोक भाजन भोजन, (ङ) आदानभण्डमात्रनिक्षेपणा समिति। इन भावनाओं की महत्ता महाव्रतों की स्थिरता में अधिक सहकारी है।

सत्य महाव्रत

प्रिय (सुनने में सुखद), पथ्य (अन्त में सुखद) तथातथ्य (यथार्थ सत्य) वाणी को सूनृत व्रत कहते हैं। वह वाणी सच्ची होकर भी सच्ची नहीं है जो प्रिय नहीं (सुनने में सुखद नहीं) या हितकर नहीं (परिणाम से सुखद नहीं) है।[१७] जैसा देखा हो, अनुमान से जाना हो और सुना हो, वैसा ही मन और वाणी में होना 'सत्य' कहलाता है। निशीथचूर्णि में मन, वचन और कर्म इन तीनों की एकरूपता को सत्य तथा इसके अभाव को मृषावाद कहा है।[१८] काम, क्रोध, भय, हास्य- इनका त्याग और सोच समझ कर बोलना ये पांच सत्यव्रत की भावनाएं हैं, जिनकी वर्तमान काल के व्यावहारिक जीवन में ग्रहण करने की आवश्यकता है।

अस्तेय महाव्रत

कोई भी वस्तु हो, उसके स्वामी की आज्ञा के बिना उसका ग्रहण नहीं करना - 'अस्तेय' कहलाता है। सभी जानते हैं कि धन मनुष्य का बाह्य प्राण है, उसका हरण हो जने से तो प्राणी के प्राणों का ही हनन हो गया समझना चाहिये।[१९] मन, वाणी और शरीर से चोरी की परित्याग करके उत्तम कार्यों में तन, मन और धन से सहायता करना अस्तेय है। केवल चोरी को छोड़ देना ही अस्तेय नहीं है।[२०]

ब्रह्मचर्य महाव्रत

'ब्रह्म' शब्द का अर्थ है- निर्मल ज्ञान स्वरूप आत्मा और आत्मा में लीन होने का नाम 'ब्रह्मचर्य' है। दिव्य (आगामी जीवन में योग्य) औपरिक (इसी शरीर में भोज्य) कामनाओं का कृत (स्वयं किये गए), अनुमत (अनुमोदित) तथा कारित (दूसरों से कराये गए) तीनों विधियों से (मन, वचन तथा कर्म से) त्याग देना 'ब्रह्म' अथवा ब्रह्मचर्य कहलाता है।[२१] स्त्री-प्रेम की बातें न सुनना, स्त्री के सुन्दर शरीर को न देखना, पहले की रति का स्मरण न करना, शक्ति-वर्धक रस-रसायनों का सेवन न करना और अपने शरीर के संस्कारों का त्याग करना। ये पांच ब्रह्मचर्य व्रत की भावनाएं हैं।

अपरिग्रह महाव्रत

जो परिग्रहण की बुद्धि का त्याग करता है, इसके अतिरिक्त विषयों में उपार्जन, रक्षण, क्षय, हिंसा दोष देखकर विषय भोग की दृष्टि से उनका संग्रह न करना, अपरिहग्रह कहलाता है।[२२] मनुष्य को चाहिये कि वह

---

१६. तत्त्वार्थ सूत्र, ७/३
१७. प्रियं पथ्यं वचस्तथ्यं सूनृतं व्रतमुच्यते। तत्तथ्यमपि नो तथ्यमप्रियं चाहितं च यत्।। - स०द०स०, पृ० १२२
१८. जिनदास महतर, पृ० ३९८८
१९. अनादानमदत्तस्यास्तेयं व्रतमुदीरितम्। बाह्याः प्राणाः नृणामर्थो हरता तं हता हिते।। - स द सं, पृ० १२२
२०. योगदर्शनम्, व्याख्याकार स्वामी सत्यपति परिव्राजक, पृ० १७५
२१. दिव्यौदरिककामनां कृतानुमतकारितैः। मनोवाक्कायतस्त्यागो ब्रह्माष्टादशधा मतम्।। - स०द०स०, पृ० १२२
२२. योगदर्शनम्, व्याख्याकार स्वामी सत्यपति परिव्राजक, पृ० १७६

परिग्रह को मूर्च्छा रूप जानते हुए लेशमात्र भी उसका संग्रह नहीं करे, अपितु पक्षीवत् संग्रह- निरपेक्ष रहकर वह अनासक्तिपूर्वक संयमोपकरणमात्र के साथ विचरण करें।[२३]

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि आर्हत-दर्शन का सम्पूर्ण आचारशास्त्र 'रत्नत्रय' पर ही अवलम्बित है। ये तीनों एक साथ मिलकर मोक्ष के मार्ग का निर्माण करते हैं, जैसे दण्ड, चक्र, सूत्र, मृतिका आदि सब मिलकर घट का निर्माण करते हैं, न कि पृथक्-पृथक्, उसी प्रकार तीनों रत्न (सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र) मिलकर ही मोक्ष मार्ग बनाते हैं। इनमें से सम्यक् चारित्र, जो प्रस्तुत शोध-पत्र का विषय है- को यदि वर्तमानकालीन इस उहापोह जीवन के परिप्रेक्ष्य में घटित करें तो आज के मानव को जीवन-यापन में आ रही बाधाओं का सामना करने में सहायता मिल सकती है। आज विश्व में जगह-जगह पर हिंसाएँ हो रही हैं, मानव स्वार्थसिद्धि में लिप्त होकर ऐसे कार्य भी कर जाता है जो उसे नहीं करने चाहिये। एतदर्थ संस्कृत वाङ्मय में पुरुष को सुखी के प्रति मित्रता, दुःखी के प्रति करुणा, पुण्यवान् के प्रति प्रसन्नता और पापी के प्रति उपेक्षा भाव रखकर चित्त को निर्मल करने का उपदेश दिया गया है। आज के समाज में सामान्य जन की उपेक्षा, स्वार्थपूर्ति और झूठ का बोलबाला है, जिसके परिणाम स्वरूप धनी और अधिक धनवान् बनता जा रहा है और निर्धन और अधिक गरीबी की रेखा से नीचे आ रहा है। यदि संस्कृत वाङ्मय में बताए गए जीवन के नैतिक-मूल्यों को वर्तमान में क्रियान्वित किया जाये तो यह अनुपात कुछ कम हो सकता है। हम प्रतिदिन समाचार पत्रों, दूरदर्शन आदि में पढ़ते एवं देखते हैं कि लूट-खसोट एवं चोरी आदि कर्म निरन्तर बढ़ते जा रहे हैं। इस प्रकार की प्रवृतियों पर अंकुश लगाने के लिये संस्कृत वाङ्मय के आर्हत दर्शन में प्रतिपादित सम्यक् चारित्र के अस्तेय एवं अपरिग्रह महाव्रत के अनुसार आचरण करने की आवश्यकता है। आज यदि किसी बच्चे को एक विद्यालय से दूसरे विद्यालय में प्रवेश लेना पड़ जाए तो उससे सबसे पहले उसके चरित्र-प्रमाण की मांग की जाती है, जिससे यह पता लग सके कि इसका चरित्र समाज में कैसा रहा है। इससे यह ज्ञात होता है कि आज हमारे समाज में चरित्र-हीनता कितनी फैल चुकी है। अतः अश्लीलता की ओर बढ़ रही आज की युवा पीढ़ी को सदाचरण की राह पर चलने के लिये सम्यक् चारित्र में ब्रह्मचर्य व्रत के अन्तर्गत किए गए निर्देशों का पालन करने की आवश्यकता है, क्योंकि यदि मनुष्य का चरित्र सही होगा तो समाज सही होगा और समाज सही होगा तो राष्ट्र में सुव्यवस्था का निर्माण होगा। लेकिन यह सब तभी हो सकता है जब हम संस्कृत-वाङ्मय के विचारों को केवल पठन-पाठन तक सीमित न रखकर उनका अपने व्यावहारिक जीवन में निर्वहण करेंगे।

---

२३. जैन दर्शन, डॉ० साध्वी सुभाषा, पृ० २२५

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०१० अङ्क १३ (पृ०१४३-१४७)

शुक्रनीति में वर्णित न्याय व्यवस्था

डॉ० सन्ध्या कुमारी[१]

आचार्य शुक्र अपने युग के एक 'महान् ऋषि' एवं नीतिज्ञ थे। उनके पर्याय शब्द उशना, काव्य, भार्गव आदि हैं। कौटिलीय अर्थशास्त्र के प्रारम्भ में ऋषि-वन्दना में शुक्र-बृहस्पति को नमन (**नमः शुक्रबृहस्पतिभ्याम्**) स्पष्ट कर देता है कि कौटिल्य के युग तक शुक्र ख्यातिलब्ध आचार्य माने जा चुके थे। महाभारत आदिपर्व (७६, ६) में वर्णित है कि देवासुर संग्राम के समय देवताओं ने बृहस्पति को और दैत्यों ने ने उशना (शुक्र) को यज्ञ के लिए पुरोहित निश्चित किया था। आचार्य शुक्र के ग्रन्थ शुक्रनीति में २,२०० श्लोक मौलिक और इधर-उधर के सभी श्लोकों को मिलाकर सभी २,४५४ श्लोक हैं। राजनीतिक एवं आर्थिक चिन्तन के अतिरिक्त शुक्रनीति मानव आचरण के लिए मानदण्ड भी विहित करती है। शुक्रनीति में न्याय व्यवस्था का क्रमबद्ध एवं विस्तृत वर्णन व्यावहारिक रूप में उपलब्ध होता है।

प्राचीन भारत में न्याय की अत्यधिक महत्ता थी और न्याय विभाग को शासन विभाग से अलग रखने का प्रयास किया गया। रामायण[२] एवं महाभारत[३] में भी राजा को एक सर्वोच्च न्यायपालक के रूप में स्वीकार करते हुए न्याय-व्यवस्था की समुचित स्थापना करना उसका दायित्व निश्चित किया है। प्राचीन भारतीय आचार्यों के अनुसार राजा के निर्माण का उद्देश्य प्रमुखतः दुष्टनिग्रह में ही निहित था।[४] सत्, असत् एवं साधु-असाधु की जानकारी करने के उपरान्त ही सत्कार और दण्ड की व्यवस्था की जाती थी। सम्भवतः इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्राचीन भारतीय चिन्तकों ने न्याय व्यवस्था की स्थापना की है। इसी परम्परा के अनुरूप शुक्रनीति में भी राजा के विभिन्न कर्त्तव्यों में दुष्ट निग्रह को प्रमुख कर्त्तव्य माना है[५] और सत्; असत् पर विवेकपूर्ण निर्णय के लिए तथा अपनी प्रजा की धर्ममय स्थिति, कार्यों की भली भांति सिद्धि एवं विवादों पर निर्णयों के लिए न्यायालयों की व्यवस्था की है।

स्वप्रजाधर्मसंस्थानं सदसत्प्रविचारतः।
जायते चार्थसंसिद्धिर्व्यवहारस्तु येन सः॥[६]

महर्षि शुक्र ने अपनी न्याय-व्यवस्था में दो प्रकार के न्यायालयों की व्यवस्था की है जिनमें प्रथम के अन्तर्गत स्थानीय संस्थाओं के द्वारा संचालित न्यायिक कार्य सम्पादित करने वाले गैर सरकारी स्थानीय न्यायालय तथा दूसरी के अन्तर्गत राजा द्वारा स्थापित एवं संगठित सरकारी न्यायालय आते हैं।

---

१ वरिष्ठ प्रवक्ता, संस्कृत विभाग, पी०सी० बागला पी०जी० कॉलेज, हाथरस उ०प्र० दूरभाष: ०९४११९८०१७९
२ रामायण उत्तरकाण्ड, ७४, ३२- एवं ५३, २४-२५
३ व्यवहारलोपे कुतः स्वर्गः कुतो यशः। महाभारत, शान्तिपर्व, ६९, ३२
४ पाण्डुरंग वामन काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, पृष्ठ ७००-७०१
५ शुक्रनीति, १।१२३
६ शुक्रनीति, ४ ४।४

स्थानीय गैर सरकारी न्यायालय

शुक्रनीति में स्थानीय गैर सरकारी न्यायालयों की कुल श्रेणी तथा गण तीन शाखाएं उपलब्ध होती हैं जिन्हें सरकार द्वारा स्वतन्त्रतापूर्वक न्यायिक कार्य करने की मान्यता प्राप्त होगी।[७] ये तीनों न्यायालय एक दूसरे की अपेक्षा अधिक अधिकारों से युक्त माने गये हैं।

कुल न्यायालय विभिन्न संस्थाओं में छोटे, किन्तु महत्त्वपूर्ण संस्था के रूप में माने गये हैं। कुल की स्वतन्त्रता को प्राचीन दार्शनिकों द्वारा भारतीय समाज में सदैव से ही स्वीकार किया गया है। प्रत्येक कुल को अपने ही क्षेत्र में अपने आचार, विचार एवं नियमों के अनुसार जीवन व्यतीत करने की उस समय तक पूर्ण स्वतन्त्रता होती है जब तक कि वह राज्य तथा समाज के नियमों को भंग न करें। प्रत्येक कुल के अपने निजी आचार, विचार, नियम आदि थे।[८] वस्तुतः कुल न्यायालय में निकट या दूर के रिश्तेदार समझौता कराने का कार्य करते थे।[९] आचार्य शुक्र इस तथ्य से पूर्णतः अवगत थे कि प्रत्येक कुल एवं कुटुम्ब में विवाद उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। अतः इनके समाधान के लिए उन्होंने कुल न्यायालय की व्यवस्था की है।

'राज्ञा ये विदिताः सम्यक् कुल श्रेणिगणादयः।'[१०]

इसके अतिरिक्त महर्षि शुक्र का विश्वास है कि यदि किसी भी प्रकार की कुल न्यायालय के निर्णय में त्रुटि रहती है तो इस न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध श्रेणी न्यायालय में अपील की जा सकेगी।

विचार्य श्रेणिभिः कार्यं कुलैर्यन्न विचारितम्।
गणैश्च श्रेण्यविज्ञातं गणाज्ञातं नियुक्तकैः।।'[११]

इस प्रकार आचार्य शुक्र ने कुल नामक स्थानीय न्यायालय को कुल के विवादों को निपटाने के कारण प्राथमिक न्यायालय के रूप में मानते हुए उसे सीमित क्षेत्राधिकार प्रदान किया है।

कुल न्यायालय की भांति श्रेणी न्यायालय का वर्णन भी शुक्रनीति में मिलता है। ये न्यायालय क्षेत्रीय समस्याओं के सुलझाव में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। सामान्यतः श्रेणी का अभिप्राय एक ही प्रकार की वृत्ति या शिल्प करने वाले संघ या समुदाय से लिया गया है।[१२] इस प्रकार का यद्यपि महर्षि शुक्र ने श्रेणी का कोई स्पष्ट अर्थ तो प्रस्तुत नहीं किया, लेकिन उन्होंने विभिन्न जातियों के विवादों का निर्णय स्वयं उनकी पंचायतों द्वारा करने का आग्रह अवश्य किया है। क्योंकि उनकी यह धारणा थी कि किसी भी जाति के व्यक्तियों के अतिरिक्त उस जाति के धर्मों को जानने वाले अन्य लोग नहीं हो सकते हैं अत एव उन्होंने जिस जाति एवं स्थान पर रहने वाले लोगों का झगड़ा है, उसी जाति एवं स्थान के व्यक्तियों से ही न्याय-कार्य कराने का निर्देश दिया है।[१३] इस भांति श्रेणी न्यायालय द्वारा दिये गये निर्णयों से असन्तुष्ट पक्ष इसके निर्णय के विरुद्ध अपील गण न्यायालय में कर

---

७ 'कुलश्रेणी गणादयः' शुक्रनीति, ४ ५ । २९
८ प्रभाकर दीक्षित, वाल्मीकि रामायण में राजनीतिक विचार, पृष्ठ १३१
९ अनन्त सदाशिव अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृष्ठ १८९
१० शुक्रनीति, ४ ५ । २९
११ शुक्रनीति, ४ ५ । ३०
१२ अनन्त सदाशिव अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृष्ठ १८९
१३ शुक्रनीति, ४ ५ । २२

सकेगा।[१४] स्पष्ट है कि शुक्रनीतिकार ने श्रेणी नामक न्यायालय का क्षेत्राधिकार कुल न्यायालय से अधिक और गण न्यायालय से कम निश्चित किया है।

गण की वास्तविक स्थिति क्या थी? इसके विषय में प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में मतभेद है जहां कुछ एक विद्वानों ने गण एवं पूग में भेद किया है तथा उन्हें क्रम से कुलों का संघ और व्यापारियों का संघ भी माना है, वहीं दूसरी ओर कुछ विद्वानों ने गण और पूग को पर्याय रूप में स्वीकार किया है।[१५] शुक्रनीति में गण न्यायालयों को श्रेणी न्यायालय के विरुद्ध अपील सुनने का अधिकार भी प्राप्त है। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि कुल, श्रेणी, गण आदि तीनों गैर सरकारी न्यायालयों को डकैती, चोरी आदि जैसे जघन्य अपराधों को सुनने का अधिकार महर्षि शुक्र ने नहीं दिया है।

साहसस्तेयवर्ज्यानि कुर्युः कार्याणि ते नृणाम्।[१६]

उपर्युक्त विभिन्न विवादों का निर्णय स्थानीय न्यायालयों द्वारा कराने में महर्षि शुक्र का उद्देश्य यह भी रहा होगा, जिससे कि आपसी विवादों तथा समस्याओं का सुलझाव पारस्परिक विचार-विनिमय द्वारा ही सम्पन्न हो सके, क्योंकि आपसी सहयोग एवं सहमति के आधार पर लिये गये निर्णय अपेक्षाकृत अधिक स्थायी एवं शान्ति प्रदान करने वाले होते हैं। आचार्य शुक्र ने स्थानीय न्यायालयों की व्यवस्था करके न्याय-व्यवस्था को अत्यधिक व्यावहारिक, सुगम एवं महत्त्वपूर्ण बना दिया है।

सरकारी न्यायालय

शुक्रनीति में जहां एक ओर स्थानीय गैर सरकारी न्यायालयों की स्थापना का वर्णन किया गया है, वहीं दूसरी ओर सरकारी न्यायालयों की व्यवस्था भी दृष्टिगोचर होती है। सरकारी न्यायालयों में सर्वप्रथम सभ्य न्यायालय का उल्लेख मिलता है जिनमें न्यायाधीशों की संख्या ३, ५, ७ निर्धारित की गयी है।[१७] शुक्रनीति में यद्यपि सभ्य न्यायालय के न्यायाधीश पद पर व्यवहार का विशेषज्ञ, विद्वान्, बुद्धिमान्, चरित्रवान्, शीलगुण से युक्त, शत्रु-मित्र में समभाव रखने वाला, धर्मज्ञ सत्यवादी, आलस्य रहित, काम, क्रोध तथा लोभ पर विजयी, प्रियभाषी आदि गुणों से युक्त व्यक्ति की ही नियुक्ति की व्यवस्था की गयी है।

व्यवहारविदः प्राज्ञा वृत्तशीलगुणान्विताः।
रिपौ मित्रे समा ये च धर्मज्ञाः सत्यवादिनः॥'[१८]
निरालसा जितक्रोध-कामलोभाः प्रियंवदाः।
राजा नियोजितव्यास्ते सभ्याः सर्वासु जातिषु॥'[१९]

किन्तु इसके अतिरिक्त शिक्षा सम्बन्धी योग्यता में महर्षि शुक्र का विचार किसी भी एक शास्त्र के ज्ञाता की इस पद पर नियुक्ति से नहीं अपितु उक्त पद पर अनेक शास्त्रों के ज्ञाता की नियुक्ति से रहा है।

एकं शास्त्रमधीयानो न विन्द्यात् कार्यनिर्णयम्।

---

१४ शुक्रनीति, ४ ५। २९-३०
१५ पाण्डुरंग वामन काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, पृष्ठ ७२३
१६ शुक्रनीति, ४ ५। २९
१७ शुक्रनीति, ४ ५। २५
१८ शुक्रनीति, ४ ५। १६
१९ शुक्रनीति, ४ ५। १७

तस्माद् ब्रह्मागमः कार्यो विवादेषूत्तमो नृपैः।।'[२०]

वस्तुतः उक्त अनिवार्य योग्यताओं वाले किसी भी जाति के बैलों की भांति मुकदमे के भार को वह करने वाले, व्यक्ति की नियुक्ति शुक्रनीतिकार ने राजा द्वारा मानी है।[२१] आचार्य मनु[२२] की भांति न्यायाधीशों की नियुक्ति में आचार्य शुक्र ने किसी भी प्रकार के जातिबन्धन को स्वीकार न करके जातीय संकीर्णता के परम्परावादी विचारों से अपने आपको मुक्त रखा है। सभ्य न्यायालय का अधिकार क्षेत्र कुलादि न्याय संस्थाओं से अधिक है उनके निर्णयों के विरुद्ध अपील सुनने का अधिकार भी इसको प्राप्त है।[२३]

सभ्य न्यायालय के अतिरिक्त शुक्रनीति में अध्यक्ष न्यायालय का भी उल्लेख मिलता है। अतः स्पष्ट है कि सर्वोच्च निर्णायक राजा की न्याय व्यवस्था और सभ्य न्यायालय के बीच में अध्यक्ष न्यायालय की स्थापना महर्षि शुक्र के द्वारा और की गयी है।

कुलादिभ्योऽधिकाः सभ्यास्तेभ्योऽध्यक्षोऽधिकः कृतः।
सर्वेषामधिको राजा धर्माधर्मनियोजकः।।'[२४]

सम्भवतः अध्यक्ष न्यायालय का कार्य सभ्य न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध अपील सुनने का रहा होगा इस प्रकार राजा की न्याय-सभा के अतिरिक्त अध्यक्ष न्यायालय अन्तिम अपीलीय न्यायालय के रूप में माना गया है।

शुक्रनीति में राजा की न्याय सभा को सर्वोच्च न्यायालय के रूप में स्वीकार किया गया है। वस्तुतः महर्षि शुक्र की यह धारणा थी कि वादी-प्रतिवादी की बातों को सुनकर राजा यदि सभा के अन्य सदस्यों की राय लिए बिना ही स्वयं कोई निर्णय करता है तो उसे नरक की प्राप्ति होती है। केवल इतना ही नहीं, महर्षि ने तो यह भी माना है कि ऐसे राजा की प्रजा का नाश शत्रु सेनाओं से सदैव भय तथा आयु क्षय आदि फल प्राप्त होते हैं। इसलिए उन्होंने व्यवस्था की है कि लोभ, क्रोध से रहित राजा प्राड्-विवाक पुरोहित अमात्य और ब्राह्मण के साथ सभापति के रूप में सावधान चित्त से शास्त्रानुसार न्यायकार्य का सम्पादन करे। इसके साथ ही इस प्रकार लिए जाने वाले सम्पूर्ण निर्णय वर्तमान व्यवस्था की भांति सार्वजनिक रूप में किये जायेंगे।[२६] यदि राजा किन्हीं परिस्थितिवश न्याय सभा में उपस्थित होकर न्यायिक कृत्य सम्पन्न न कर सके तो अपने स्थान पर उसे इन्द्रिय निग्रही, वेदज्ञ, कुलीन, पक्षपात रहित, स्थिर बुद्धि, प्रियवादी, परलोक का भय मानने वाला, क्रोधरहित, धार्मिक एवं उद्योगी आदि गुणों से युक्त व्यक्ति को न्याय कार्य सम्पादन करने के लिए अपने प्रतिनिधि के रूप में नियुक्त करना चाहिए।[२७] आचार्य शुक्र की यह मान्यता थी कि राजा अपने प्रतिनिधि के रूप में सदैव ही ब्राह्मण की नियुक्ति करे। यदि ब्राह्मण न मिले तो उसके स्थान पर पूर्वोक्त गुणों से युक्त, शास्त्रों के ज्ञाता क्षत्रिय, क्षत्रिय के

---

२० शुक्रनीति, ४ ५ । ३३
२१ 'राजा नियोजित व्यास्ते सभ्याः सर्वासु जातिषु।' शुक्रनीति, ४ ५ । १७
२२ मनुस्मृति, ८, २१
२३ शुक्रनीति, ४ ५ । ३०
२४ शुक्रनीति, ४ ५ । ३१
२५ शुक्रनीति, ४ ५ । १०-११
२६ शुक्रनीति, ४ ५ । ५-६
२७ शुक्रनीति, ४ ५ । १२-१४

अभाव में वैश्य की नियुक्ति करे तथा आचार्य शुक्र ने न्याय सभा में प्रतिनिधि के रूप में न्यायकार्य सम्पादन के उद्देश्य से किसी भी परिस्थिति में शूद्र की नियुक्ति करने का निषेध किया है।

यदा विप्रो न विद्वान स्यात् क्षत्रियं तत्र योजयेत्।
वैश्यं वा धर्मशास्त्रज्ञं शूद्रं येन वर्जयेत्।।'[२८]

यहां यह भी उल्लेखनीय है कि महर्षि ने सभ्य न्यायालय के न्यायाधीशों की भांति राजा के प्रतिनिधि के रूप में नियुक्त व्यक्ति को प्रत्येक जाति का स्वीकार नहीं किया है।

राजा की न्याय-सभा को न्यायिक निर्णय करने में अन्तिम शक्ति प्राप्त है। जहां एक ओर न्याय-सभा अन्तिम अपीलीय न्यायालय के रूप में दृष्टिगोचर होती है वहीं दूसरी ओर प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार भी प्राप्त है। चूंकि अधीनस्थ न्यायालयों को धिग्दण्ड (फटकारना, झड़कना आदि) एवं वाक्दण्ड (अपराध करने के सम्बन्ध में पूछना) देने का ही अधिकार दिया गया है, अत: इनके निर्णयों के विरुद्ध अपील न्याय सभा द्वारा अन्तिम रूप से सुने जाने की व्यवस्था है। इस प्रकार अधीनस्थ न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णयों के विरुद्ध अपील पर निर्णय करने की अन्तिम शक्ति न्याय-सभा को ही प्राप्त है। इसके अतिरिक्त अर्थदण्ड एवं वधदण्ड से सम्बन्धित सम्पूर्ण विवादों पर विचार करने का अधिकार केवल न्यायसभा को ही दिया गया है।[२९] इससे स्पष्ट है कि शुक्रनीतिकार की न्यायसभा को अर्थदण्ड एवं मृत्युदण्ड देने के सम्बन्ध में प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार भी प्राप्त है लेकिन वर्तमान समय की भांति इस प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार वाले न्यायालय के निर्णयों के विरुद्ध अपील किसी अन्य न्यायालय में करने की व्यवस्था दृष्टिगोचर नहीं होती और राजा को न्याय सभा द्वारा दिया गया प्रत्येक अर्थ एवं मृत्युदण्ड अपने आप में अन्तिम और सर्वमान्य होगा, किन्तु वास्तव में न्याय सभा स्वयं अपने आप ही ऐसे विवादों की लघुता एवं गुरूता के आधार पर कई बार पुनर्विचार[३०] कर सकेगी। इस प्रकार वर्तमान सर्वोच्च न्यायालय की भांति राजा की न्यायसभा को भी सर्वोच्च न्यायालय के रूप में न्यायिक पुनरावलोकन का अधिकार प्राप्त होगा।

शुक्रनीति में प्राप्त सम्पूर्ण विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि शुक्रनीति में वर्णित न्याय व्यवस्था जीवन के उच्च आदर्शों पर आधारित एवं स्थापित की गयी है। भले ही दण्ड एवं न्याय व्यवस्था की स्थापना उच्च आदर्शों पर की गयी हो, किन्तु वह कोरे आदर्शों पर ही आधारित न होकर वास्तविक व्यावहारिक जड़ों में अपना स्थान बनाए हुए है। जहां तक वर्तमान न्याय एवं दण्ड व्यवस्था का प्रश्न है इसके सम्बन्ध में तो इतना ही कहना न्यायसंगत होगा कि आज की वर्तमान व्यवस्था शुक्रनीति की व्यवस्था पर आधारित प्रतीत होती है। इसके साथ ही शुक्रनीति अपेक्षाकृत अधिक जीवन के व्यावहारिक पहलुओं पर आधारित है जो आज की महत्त्वपूर्ण भौतिक परिस्थितियों के समीप है।

---

२८ शुक्रनीति, ४ ५ । १४
२९ शुक्रनीति, ४ ५ । २७४
३० शुक्रनीति, ४ ५ । २७५-२७६-२७७ एवं ३४

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०१० अङ्क १३ (पृ०१४८-१५८)

विस्तृत 'कैन्वस' पर अभिराजीय गजल के रंग

डॉ. मंजुलता शर्मा[१]

आज सम्पूर्ण विश्व हमारी मुट्ठी में है। संगणक युग ने हमारे साहित्य और साहित्यकारों को एक डोर से बांधा हुआ है। संस्कृत कवियों की रचनाओं में यत्र **'विश्वं भवत्येकनाडम्'** की अनुभूति है। हम एक नई ऊर्जा के साथ स्वयं को विश्वजनीन फलक पर उतारने को दृढ़ संकल्पित हैं, हम में न केवल विश्व की समस्याओं से रूबरू होने का हौसला है, अपितु बेबाक होकर लगाम कसने का विश्वास भी है। रचनाशिल्प की दृष्टि से हम पिछड़ नहीं रहे हैं, हमारे छन्दों में शाश्वत नूतनता है, विषय बोध में सम्पूर्ण विश्व की चेतना समाई हुई है। हमारी गीतियों में मेनका है तो 'मोनिका' भी शकुन्तला की तिरछी चितवन है तो मोनालिसा की मुसकान भी।

बीसवीं शताब्दी में उर्दू, एवं फारसी काव्य परम्परा के छन्दों का संस्कृत कविता में अवतरण हुआ। इसके बाद हिन्दी, सिन्धी, कश्मीरी, गुजराती आदि अनेक भारतीय भाषाओं में उर्दू काव्य शिल्प की चर्चित एवं हृदयग्राही विधा गजल लोकप्रिय होने लगी। गजल की लोकप्रियता का प्रमुख कारण उसकी गति एवं यति है। संस्कृत साहित्य में गजल के प्रवर्तक के रूप में भट्ट मथुरानाथ शास्त्री का नाम उल्लेखनीय है, जिन्होंने उर्दू, फारसी, छन्दःशास्त्र का निर्वाह करते हुए छोटी बड़ी सभी बहरों में अपनी गजलें लिखीं। शास्त्री जी के गजल लेखन में पण्डित सुलभ शास्त्रीय दृष्टि के साथ-साथ विधिवत् सैद्धान्तिक अध्ययन की प्रक्रिया भी अनुस्यूत थी। उर्दू के गजल लेखन में विषय वस्तु के रूप में वियोग वेदना का ही वर्चस्व था। प्रायः प्रेमी मृत्यु में ही आनन्द की अनुभूति करते थे।

मजे जो मौत के आशिक बयां कभू करते (जौक)
मसीहो खिज्र भी मरने की आरजू करते

भले ही वह शमा पर मरने वाले परवाने की बात हो, अथवा लैला के लिए सिर कटा देने वाले मंजनू की दास्ताने मुहब्बत हो। शृंगार का परिणाम बीभत्स प्रधान था। प्रेमी, प्रेमिका महफिल, मद्यपान और नदी, अरण्य, उपवन आदि से परिपूर्ण गजल में सामाजिक राष्ट्रीय धार्मिक और सांस्कृतिक बिन्दुओं के लिए कहीं स्थान ही नहीं था। ऐसे समय में मथुरानाथ शास्त्री ने विषय परिवर्तन करके गजल को एक नया रूप प्रदान किया। भगवद्भक्ति में डूबी छोटी बहर की एक गजल दृष्टव्य है-

अहो कं वाऽऽश्रयेयं दीनबन्धो? स्वदुःखं कं वदेयं दीनबन्धो?[२]

अतः जहां उर्दूभाषा के साम्राज्य में सर्वत्र अत्युक्ति का ही प्रभाव था। शायर इसी में अपने वर्ण्यकौशल को प्रस्तुत करने का प्रयास करते रहते थे, ऐसे में भट्ट जी ने गजल को नये आयामों में सुरक्षित करने का श्रमसाध्य कार्य किया। उनकी गजलों में प्रेमगीतियां हैं तो नीतिपरक उपरेशात्मक गीतियां भी, अतः कल्पना की मौलिकता और बिम्बों की नवीन योजना से इस विधा में मथुरानाथ जी ने एक अलग पहचान बनाई। शब्दावली और अभिव्यक्ति पूर्णतः भारतीय होने के कारण यह एहसास ही नहीं होता कि यह भारतीयेतर छन्द में निबद्ध गीति है-

विरहाऽऽपगातटमुत्तरं पुनरागमिष्यति वा न वा

---

१. अध्यक्ष संस्कृत-विभाग, सैण्ट जॉन्स कालेज, आगरा.
२. गीतिवीथी पृष्ठ ७१

अपि मानसी मम वेदना विषमा गमिष्याति वा न वा
अयि चन्द्रहासमिमं दधासि, जहासि वक्षसि मामके
किमवैषि ते निशितोऽप्यसिर्मयि संचलिष्यति वा न वा॥[३]

यहां यद्यपि निर्ममता का उलाहना और मन की पीड़ा को न समझने की अनुदारता तो उर्दू भावभूमि की है, परन्तु चन्द्रहास का प्रयोग और विरही की वेदना भारतीय शैली में अभिव्यक्त है। यहां खंजर से सीने के चाक हो जाने की कथा नहीं है, अपितु चन्द्रहास के चलने से हृदय के विदीर्ण होने का संदेश है। वस्तुत इस कालखंड के बाद भट्ट जी ही शैली में गिरिधर शर्मा नवर, रामनाथ प्रणयी जानकी वल्लभ शास्त्री, हरिशास्त्री आदि कवियों ने इस विधा को पल्लवित एवं पुष्पित किया। तदनन्तर पं. बचूलाल अवस्थी ने व्याकरणपूत भाषा में सही वजन और चलन की कई गजलें लिखकर संस्कृत पाठकों को चमत्कृत कर दिया। उनकी गजलों में संस्कृत भाषा की प्रौढ़ता के साथ-साथ गजल की नजाकत भी विद्यमान है। प्रेम आशिकी वियोग आंसू से विलग एक नए भावबोध की गजल का रंग कितना विलक्षण है-

विस्मयाविष्टचेता विषीदामि किम्? सम्प्रसादेन नक्तं न निद्रामि किम्?
नानुभावाः स्फुरन्ति प्रभावस्पृशो नापि शब्दार्थसाहित्यमुन्नीयते
आविले मानसे को नु बिम्बग्रहो भावहीनो विभावैर्निर्बध्नामि किम्।[४]

यहां किम् रदीफ है और विषीदामि निद्रामि आदि काफिये हैं।

इसी प्रकार भावों की ताजगी और लय की गेयता लिए हुए एक और गजल अवस्थी जी की अद्भुत सर्जनशीलता की परिचायक है-

पिकामौनं भजेरन् मासि वासन्ते कथंकारम्
शरः शाकुन्तलः सिध्येन्न दुष्यन्ते कथंकारम्।
उपायैः कष्टकं पादान्निरस्येतापि सायासम्
अथो शल्यानि कालेयादपोहन्ते कथंकारम्।[५]

सचमुच कलेजे के कांटे को कैसे निकाला जा सकता है। चाहे यह किसी की चितवन का तीर हो अथवा बेवफाई का शल्य। प्रेम की पीडा जब दिल में उतरती है तब केवल आह ही निकलती है समस्त उपाय निष्फल हो जाते हैं वहां। एक शायर ने इश्क की पाठशाला का प्रथम अक्षर 'आह' को ही बताया है।

इश्क के मकतब में मेरी आज विस्मिल्लाह है
मुंह से कहता हूं 'अलिफ' दिल से निकलती है आह है।

वस्तुतः बचूलाल अवस्थी ने विरह मिलन की अनुभूतियों को तो उर्दू काव्य परम्परा में रससिक्त होकर ही लिखा, परन्तु कल्पना की मौलिकता और भारतीय मिथकों एवं बिम्बों के तीर सन्धान से उसे और पैना बना दिया। इस प्रयोग की सर्जनात्मकता ने गजल विधा को भारतीय ताने बाने में बुनकर बहुत ही सुगढ़ शिल्प में बदल दिया। इस सदी के अन्तिम दो तीन दशकों में पं. जगन्नाथ पाठक और और अभिराज राजेन्द्र मिश्र जैसे श्रेष्ठ कवियों ने गजल के एक नए रूप से पाठकों का परिचय कराया। जगन्नाथ पाठक की गजलों में मनोवेदना और सूक्ष्म भावों की व्यञ्जना है। उर्दू, फारसी की गजल शैली पर आधारित आपकी गीतियां अपनी रागात्मकता से हृदय में

---

३. गीतिवीथी ३९-४०
४. प्रतानिनी १९५
५. प्रतानिनी १०२

अलौकिक आनन्द का संचार करती हैं। कापिशायिनी में कवि ने वैयक्तिक प्रेम की सम्पूर्ण मधुशाला को एक चषक में पी लिया है। यह चषक प्रिया की ऐसी मधुर मुस्कान है जो पूरी मधुशाला पर भारी है। गालिबाकाव्य को गालिबकाव्यम् बना देने वाले साधक के रूप में भी पाठक जी सतत स्मरणीय हैं।

परन्तु अभिराज राजेन्द्र मिश्र बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी हैं। उनके काव्य में जहां सोहर कजरी और क्षेत्रीय लोकगीतों की महक है, वहीं मत्तवारणी और शालभंजिका की गजल गीतियों में सम्पूर्ण विश्व की चेतना संरक्षित है। रदीफ और काफिए के आकर्षक संयोजन के साथ आपने अपनी बहुरंगी गजलों के रंग काव्यक्षितिज पर बिखेरे हैं, मत्तवारिणी की भूमिका में आपने स्वयं स्वीकार किया है कि-

मैंने गजलों को उनके पुश्तैनी बाड़े (हुस्न इश्क) से बाहर निकालने का कार्य किया है और उन्हें एक बड़ा कैन्वस प्रदान किया है जिसमें व्यक्ति, समाज, राष्ट्रलोक तथा विश्वसमरस है।

वास्तव में अभिराज की गजलों में कथ्य की व्यापकता है, विषयवस्तु की विविधता है और अनेकों बिम्ब एवं प्रतीकों की सहज ग्राह्यता है। वाग्वधूटी, मृद्वीका, श्रुतिम्भरा एवं मधुपर्णी के प्रणयी कवि ने प्रौढ़त्व के छैनी हथौड़े से शालभञ्जिका को गढ़ा है। इसमें झर-झर बहते आंसुओं में प्रिय बिछोह की पीड़ा नहीं प्रिया से मिलने की तृष्णा भी नहीं और न ही भोग की चाह है, अब तो सांसारिक कामनाओं के अंकुर सूख गए है यह जीवन मुक्ति की तृष्णा में जिया जा रहा है।

शोषमापादिताः सर्वभावाङ्कुराः जीवनं जीव्यते काम्यया साम्प्रतम्।[६]

यही मुक्ति हमारी धरोहर है, परम पुरुषार्थ है जिसके समक्ष लौकिक यश-अपयश बौने हो जाते हैं-

रमन्ते सर्वकालं ये परब्रह्मणि निमग्नाः जयानां का कथा तेषां पुरोऽथ पराजयानाम्।[७]

संस्कृत की गजल में भावबोध का यही नयापन उसे उर्दू की गजल से विलग करता है। संस्कृत साधक का उद्देश्य परमतत्त्व में एकाकार होना है। प्रेम की लौकिक बात भी अलौकिक प्रतीत होती है-

नहि जगदति रुचिरं त्वया विना जीवतमपि न चिरं त्वया विना।

जगत में जीवित रहना, सम्बन्धों का निर्वाह करना तो मात्र औपचारिकता है। कबीर की कमलिनी जल में उत्पन्न होकर और निवास करती हुई भी जिस प्रकार मुरझा जाती है, उसी प्रकार आत्मा और परमात्मा का बिछोह जीव को पीड़ा देता है, वह जीवित है विरह में, परन्तु बहुत दिन तक रह नहीं सकेगा यही भारतीय दर्शन है, आध्यात्मिक चिन्तन है और संसार की नश्वरता का सन्देश भी।

आध्यात्मिकता के अतिरिक्त कवि राजेन्द्र मिश्र का लोकधर्मी रूप उनके काव्य की आत्मा है, उनकी रचनाधर्मिता में समाजवादी विचारधारा के प्रति आस्था सदैव विद्यमान रही है। वे ऊंच-नीच के भेद को मिटाकर एक ऐसे समाज की प्रतिष्ठा चाहते हैं, जिसमें केवल मनुष्य और मनुष्यता का अस्तित्व रहे-

परितोऽपि पामराणां तृणशालिका इमाः होलानलं समिन्धय बन्धो शनैः शनैः।[८]

जब चारों ओर झौंपड़ी हों वह भी तिनकों से निर्मित घोंसलों जैसी उन्हें नष्ट करने के लिए तो एक चिंगारी ही काफी है। उस पर भी वह विशाल भवन के चारों ओर बनी है। यहां एक संकेत व्यंजनापरक भी हो सकता है। पूंजीवादी व्यवस्था में क्रीतदास के अस्तित्व का कोई मूल्य नहीं होता तो निश्चित रूप में धनाढ्यों के

---

६. शालभंजिका-१३४/४

७. शालभंजिका ३६/३

८. मत्तवारणी ३८/३

महल के करीब जो झौंपड़ पट्टियाँ हैं, उससे उनके घर का सौन्दर्य बाधित हो रहा है, अत: कहीं होली के बहाने उनके जला देने की योजना तो नहीं बनाई जा रही। क्योंकि बदसूरत झौपड़ियाँ अब महल के सौन्दर्य को डसने लगी हैं अत: होली के ब्याज से उनमें आग लगाने का बहाना ढूँढा जा रहा है। अत: हे बन्धु! अपने उसी बन्धुत्व को बनाए रखने के लिए इन ऊंच-नीच की दीवारों को गिरा दो, यह समाजवादी विचारधारा का केन्द्र बिन्दु है, जिसमें सर्वसमाज की कल्पना की गई है।

इसके अतिरिक्त समाज में गिरते मूल्य, दोहरे मानदंड और परपीड़ा के लिए अनेकों छल छद्म करने वाले व्यक्तियों के लिए लिए अभिराज ने जो आचार संहिता निश्चित की है, उससे कुछ सामाजिक विसंगतियां दूर की जा सकती हैं। आज व्यक्ति अपने दु:ख से दु:खी नहीं है, अपितु दूसरे के सुख से दु:खी है, निरन्तर दूसरे के लिए अवरोध खड़े करता है-

कण्टकशिखाऽसह्या प्रतिभाति चेत्व दंगे
प्रतिवेशि नित्यमार्गे तदलं निखन्य शंकुम्।[९]

आपको कांटे की पीड़ा भी असह्य है और दूसरे के मार्ग में खूंटा गाडने में भी आपको लज्ञा नहीं आती कैसा दोहरा व्यक्तित्व है।

यहां इस शेर में गूढ़ार्थ यह है कि कांटे के चुभने में और खूंटे के गाढ़ने में उद्देश्य भिन्नता है। प्रथमत: कांटा अनायास चुभता है और उसकी पीड़ा भी बहुत छोटे भाग पर होती है और फिर कांटा चुभने में दूसरे के द्वारा जानबूझकर कष्ट देना निहित नहीं होता। परन्तु इसके विपरीत खूंटा गाढ़ते समय हमें उस विशिष्ट स्थान की तलाश है जहां से हमारा प्रतिवेशी नित्य गुजरता है, और फिर खूँटे से टकराने पर पता नहीं चोट कहाँ-कहाँ लगे। यहां पड़ौसी को पीड़ा देने में हमारा कलुषचिन्तन कार्यरत है।

प्रेम काव्य की आत्मा है, भले ही वह पति-पत्नी का दाम्पत्य प्रेम हो, प्रिया के प्रति समर्पण हो, माता-पिता के प्रति समादर हो, भाई बहन के प्रति स्नेह हो, अथवा अपने देश के लिए मर मिटने का संकल्प हो। प्रेम का सूक्ष्म तन्तु प्रत्येक सम्बन्ध में उसकी चेतना बनकर रहता है। अभिराज ने जिस प्रेम को स्थायी और प्रशंसनीय स्वीकार किया है वह क्षुप के समान धीरे-धीरे विकसित प्रीति है-

प्रीति क्षुपं विवर्धय बन्धो शनै:शनै:

यहां जिस प्रीति को व्याख्यायित किया जा रहा है, वह वल्लरी के समान शीघ्रवर्धित और पराश्रयी नहीं है, वह तो धीरे विकसित होने वाला 'क्षुप' है। बन्धु शब्द 'बन्ध' धातु से निसृत है जो बांधने के अर्थ में आती है। आज विभिन्न पारस्परिक सम्बन्धों में इसी बन्ध का अभाव है। भले वह सामाजिक सम्बन्ध हो अथवा राष्ट्रीय प्रतिबद्धता जहां भी अहं टकराते हैं, युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस अन्तर्कलह को तब ही रोका जा सकता है जब पारस्परिक सम्बन्ध प्रगाढ़ है। ऐसी प्रीति तो त्याग और समर्पण से ही उत्पन्न होती है। उसमें न स्वार्थ की गन्ध होती है और न विचारों का छलछद्म[१०]

अभिराजीय गजल वाथिकाओं के कई मोड़ कई विश्राम बिन्दु हैं जहां से इन गीतियों का विशिष्ट रूप परिलक्षित होता है सर्वप्रथम गजल की पारम्परिक शैली के अनुरूप प्रेम की पाती अभिराज ने भी लिखी है भले ही वह शनै:शनै: वर्धित प्रीति बिरवा हो अथवा निरूद्धात प्रीति की सरणि हो[११]। यह प्रीतिवीथी तो गभीरा गभीरा है।

---

९. मत्तवारणी ३०/४
१०. मत्तवारणी ३८/१, १०
११. शालभंजिका ६८/६

सुगम्या: परे जीवने सन्तु मार्गा: परं प्रीतिवीथी गभीरा गभीरा।[१२]

उनके प्रेम में न तो आशिक माशूका की दीवानगी है और न वासना की कालिमा। यह तो विशुद्ध सात्विक प्रेम है। जो लाल सूरज जैसी बिंदिया को देखकर काली घनघटा जैसे केशों में बन्धे बेला के फूलों से सुसज्जित जूड़े को देखकर उत्पन्न होता है ओर प्रिया की गर्भावस्था की फरमाइशें जिसे और भी प्रगाढ़ बनाती है पैरों की पायल रुनझुन करती हुई जब आंगन को गुंजित करती है तो पूनम के चांद सा मुख साकार हो उठता है।[१३] यह है हमारी भारतीय संस्कृति जिसका प्रेम गृहस्थ सुख की पवित्रता से जुड़ा हुआ है।

परन्तु कहीं-कहीं धीर गम्भीर अभिराज भी प्रेम में मतवाले होकर विरह पीड़ा को व्यक्त कर ही गए हैं, लेकिन वहां उनका मन रूपी चातक पी कहां की रट तो लगाता है, सपने में प्राप्त संयोग क्षणों को प्राप्त कर कोयल सा कुहकने भी लगता है।[१४] यहां पर मन के चातक होने मे विरह की पीड़ा के साथ-साथ त्याग भी निहितार्थ है[१५] जैसे चातक स्वाति नक्षत्र के जल की ही प्रतीक्षा करता है वैसे ही भारतीय संस्कृति में दाम्पत्य प्रेम ही सर्वश्रेष्ठ है।

उर्दू गजल के शमा परवाने ने शालभंजिका में भी अपनी उपरिस्थिति को दर्ज कराया है, परन्तु कवि को इस प्रेम में स्थायित्व नजर नहीं आता। वे गृहस्थ जीवन के सुख से परिचित है अत: जलने और मरने में रचा बसा प्रेम संशय ही उत्पन्न करता है।

शैखावली त्वदाभा ममशालभोऽनुराग: जातं ततोऽखिलं संशय तुलाधिरूढं।।[१६]

वास्तव में यह तो पतंगा ही बता सकता है कि शमां पर जलकर मरने में मुक्ति का सुख है या मृत्यु की व्यथा।[१७]

अभिराज का काव्य भारतीय संस्कृति की प्रतिष्ठा है उनमें समाज को बदलने का संकल्प है। समाज के गिरते मूल्य क्या हमारी परम्पराओं को नष्ट कर देगें ?

कभी यह प्रश्न उठता है तो कभी हृदय का विश्वास झकझोर देता है कि नहीं भारतीय वसन्धुरा का आत्मगौरव आज भी विद्यमान है।

गौरवं तदेव येन दुर्गुणोऽपि जीयते मानवेन मानवाय बन्धुताऽनुभूयते।[१८]

लेकिन जब अभिराज अपने देश के किसान को भूखे मरते देखते हैं[१९] व्यभिचारी मन्त्रियों के स्वागत का भव्य आयोजन, चोर सिपाही का पारस्परिक मेल[२०] संसद में बैठे भ्रष्ट राजनीतिज्ञों[२१] की अगवानी करने वाले राष्ट्र को देखते हैं तो पीड़ा ज्वार बनकर होठों से निकलती है। उनके अनेकों छन्द में विषाक्त राजनीति पर प्रहार है[२२]

---

१२. शालभंजिका २०/१

१३. मत्तवारणी १४२ पृष्ठ, ६४/१-५, ६६/७

१४. मत्तवारणी ९६/१, ६,

१५. मत्तवारणी ८२/३

१६. शालभंजिका १००/१

१७. शालभंजिका -१२६/४

१८. वाग्वधूटी १०/१

१९. मत्तवारणी ४२/२

२०. मत्तवारणी १०२/८-९

२१. मत्तवारणी ३७/४, ६, ११३/१-९, शालभंजिका २२/८

२२. मत्तवारणी ५०/४७, मधुपर्णी-३१/६

सामाजिक रूढियों पर रोष है और दुष्टजनों पर कटाक्ष भी। कवि की व्यंजना बहुत ही मार्मिक है, वे सकारात्मक वाक्यों को कहकर व्यक्ति को आत्ममूल्यांकन के लिए विवश कर देते हे। उनकी बहुत ही अजब-गजब नीति है ऐसे छोटे तीर जो मर्म पर गहरी चोट करते हैं, उनके तूणीर में विद्यमान है। **'यशस्ते मयाऽवेक्षितं राष्ट्रबन्धो'** इस रचना में उन्होंने नेताओं के कलुषित कर्मो को अन्योक्ति के माध्यम से उजागर किया है, भले ही वह सड़क बनवाने का ठेका हो अथवा बगीचा, पुल पाठशाला तालाब आदि का निर्माण सब में पैसा खाने के बाद क्या वह सुखी रह सकेगा ? इस प्रश्न के उत्तर में एक गीतिपंक्ति सम्पूर्ण बात कह जाती है-

बहूपार्जितं लक्षकोटीश्वरो भूः समृद्धेस्त्वयाऽकारि सर्वो विकल्पः।
ध्रुवं निस्सुते त्वद् गृहप्रांगणेऽस्मिन् 'यशस्ते मयाऽवेक्षितं राष्ट्रबन्धो।'[२३]

राष्ट्रनायक को व्यंग्य की इन पंक्तियों ने क्या शिकस्त दी है, अरे भला यह सारा प्रपंच किसके लिए ? समस्त बेईमानी दुराचार किसके लिए ? सम्पत्ति का एकत्रीकरण किसके भोग के लिए ? जब पुत्रहीन घर हो तो यह समस्त दांवपेंच किस काम के तुम अपने जीवन के वास्तविक सुख से ही वंचित हो तो यह बाह्य सुख किस काम के ? यहां दुष्कर्मी राष्ट्रविरोधी नेतृत्व को राष्ट्रबन्धु नाम देना एक अनकहा तिरस्कार है।

एक बात अभिराज को सदैव पीड़ित करती रही कि जहां श्रेष्ठ साहित्यकारों के सम्मान के लिए कोई स्थान नहीं है, वहां अंगूठा टेक अशिक्षित राजनेताओं के लिए मंच सजाए जाते हैं, उन्हें 'भारतरत्न' देने के विषय में विचार विमर्श किए जाते हैं[२४] ऐसे में जब सम्पूर्ण देश इस व्यवस्था का अनुयायी हो जाएगा तो क्या होगा इसका भविष्य ? बरबाद गुलिस्तां करने को बस एक ही उल्लू काफी है, हर शाख पै उल्लू बैठा है अंजामे गुलिस्तां क्या होगा ? इस शेर को अपनी गजल गीति में कुछ इस तरह से उतारा है।

उद्याने यस्मिन् सान्द्रतरौ प्रतिशाखमुलूका वल्गन्ते।
कल्याणं तस्य कथं भविता सुषमा वसन्तस्यागमने।[२५]

वर्तमान राजनीति में अवगुणियों की एक लम्बी जमात है। सभी एक दूसरे के दुश्चरित्र का पर्दाफाश करने को उतावले हैं ऐसे मे सबके आवरण उतारे जा रहे हैं[२६] जैसे प्याज लहसुन का पारस्परिक विवाद दोनों की दुर्गन्ध को ही प्रदर्शित करता है सद्गुणों को नहीं[२७] वस्तुतः व्यक्ति अपनी बुद्धि के आधार पर ही अपने वाक्कौशल को व्यक्त करता है, भले ही वह आलोचना हो अथवा प्रणति वह सबमें अपने चरित्र की दुर्बलता के बेलबूटे चित्रित कर देता है।[२८]

कवि दोहरे चरित्र के प्रत्येक व्यक्तित्व को समाज का कलुष मानते हैं चाहे वह राजनेता हो अथवा आडम्बर युक्त पण्डे-पुजारी। उन्हें इस दोगलेपन से घृणा है। धर्म को तोड़मरोड़ कर अपने सुख के लिए प्रयोग करना उन्हें पीड़ा देता है। कण्ठ में माला और गेरुए कपड़े पहने तथाकथित पण्डितों का एक बड़ा समूह है। ये जनभावनाओं से खिलवाड़ करते हुए उसका शाषण करते हैं।[२९] आज सम्पूर्ण विश्व आंतकवाद की देहरी पर खड़ा

२३. मत्तवारणी ९४/७
२४. मत्तवारणी ९४/९
२५. मत्तवारणी-९४/९
२६. मत्तवारणी -२०/३, ५०/४, ३४/६-८
२७. शालभंजिका २२/६
२८. शालभंजिका ४०/२, ४६/१-८
२९. मत्तवारणी २६/१-१०, १०८/७

है। युद्ध के भीषण परिणामों से परिचित होने पर भी अपने-अपने प्रभुत्व के मंच ढूंढे जा रहे हैं। देश विदेश में बढ़ते बेरोजगार हमारे युवाओं को दिग्भ्रान्त कर रहे हैं। जो युवा शक्ति राष्ट्र की स्तम्भ है, वही भरभरा कर ढह जाने के कगार पर आ खड़ी हुई है, आत्मघाती दस्ते तैयार किए जा रहे हैं, खुद मर कर दूसरे को मारने का फैसला। आखिर क्या चाहिए? अन्त में कहां जायेगा यह रास्ता। हम कैसे विश्वबन्धुत्व को विकसित करें? अनेकों प्रश्न हमारी विश्व चेतना पर दस्तक दे रहे हैं। इसमें अभिराज का सुझाव है कि यदि प्रतिष्ठा एवं वर्चस्व की इस लड़ाई में बैर की यह लोहे की जंजीरें पारस्परिक प्रेम एवं समझौते से काटी जाएं तो विश्वहित की बात की जा सकती है।

परुषाऽऽयसी च नूनं सापत्न्यशृंखला प्रीत्यैव तां निकर्तय बन्धो शनैः शनैः।

यहां द्वेष जन्य बैरभाव को सापत्न्य शब्द से व्यक्त किया गया है। पत्नी का सपत्नी से जो बैर होता है वह प्रभुताजन्य होता है। इसमें पति पर अपने विशिष्ट अधिकार की लड़ाई है। यह प्रभुता व्यक्तियों में हो अथवा राष्ट्रों में जब प्रभुत्व का अंहकार, एकाधिकार की लिप्सा समाप्त हो जाएगी तो राष्ट्रीय सीमाएं अन्तर्राष्ट्रीय बन जायेंगी। इसके लिए प्रेम की ऐसी कर्तरी की आवश्यकता है, जो इन शृंखलाओं को काटकर विश्वबन्धुत्व का सन्देश मानवमात्र को दे सके।

अभिराज की विशेषताओं के पुञ्ज को यदि एक शब्द में कहने की शर्त हो कहा जा सकता है कि वे 'बेबाक' हैं। वास्तव में उनकी समस्त कृतियों में उनके व्यक्तित्व की पारदर्शिता झलकती है वे जो कहते हैं वही करते हैं। बाह्य आडम्बर न तो उनके चरित्र और व्यक्तित्व में है और न ही वे ऐसे व्यक्तियों से प्रभावित होते। अपनी सरलता से ही उनके हृदय को जीता जा सकता है, यदि कोई व्यक्ति निरर्थक चाटुकारिता के बल पर उनके करीब पहुंचने का स्वप्न देखता है तो वह मूर्ख है। वे ऐसे कृतघ्नों को कभी क्षमा नहीं करते अगले सात जन्मों तक तो कदापि नहीं-

चिद् विस्मरेयं न जन्मान्तरेषु कृतघ्नाऽननं लोकितं भूरि भूरि।[३०]

इसी भाव से ओत प्रोत भुजंगा कथम्? यह गजल मंच की दृष्टि से भी बहुत प्रभावी गजल कहीं जा सकती है। इसमें सर्पो के द्विजिह्वित्व एवं विषयुक्त होने को उनका दोष न मानकर विधाता का आदेश माना है, परन्तु जब इन्सान अपनी कुटिलता से संसार को डसता है तो वह उसका अपना कलुषित चरित्र ही है-

यद्यपि अभिराज सुख दुःख को समान रूप से सेवित करने वाले साधक हैं, वे कर्मों के अनुसार ही फलों की प्राप्ति करने का उपदेश देने वाले योगीश्वर हैं, ऐसे में उनकी रचनाएं इससे वियुक्त कैसे हो सकती हैं।[३१] परहित के लिए अपना सम्पूर्ण जीवन अर्पित कर देना ही तो मनुष्यता है और मनुष्य वही है जो जीवन पर्यन्त अपनी मनुष्यता को बनाए रखे।[३२] वे तो अगरबत्ती की तरह तिल-तिल जलकर भी संसार को सुगन्धित करने का संकल्प ले चुके हैं-

कामं तनुर्विनष्टा सुरभिर्बभूव लोकः किमतः परं कृतित्त्वं स्याद् भूतलेऽगुरूणाम्।[३३]

यद्यपि इसके विपरीत स्थिति प्राष्त होने पर उन्हें क्षोभ होता है कष्ट होता है परन्तु वे मलिनता को स्वच्छ जल से धोने के पक्षधर हैं।[३४] इसके लिए ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि वे उग्र न हों उनकी सहिष्णुता बनी रहे।

---

३०. मत्तवारिणी ४८/५

३१. मत्तवारणी ५६/१-८, ५८/६-७,६०/१-१०, ९८-१-९, ५२/१, शालभंजिका ११०/६, ६६/१-८, ७४/५

३२. मत्तवारणी ७४/१-९, ६८/४-८, ५८/६ १३८/१-९ शालभंजिका ६६/२

३३. मत्तवारणी ८२/११

३४. मत्तवारणी -१२४/१-८, शालभंजिका १३२/२८४

जीवन पर्यन्त स्वाभिमान से ही जीवन को पल्लवित पोषित करने वाले अभिराज में दीनता नहीं तेजस्विता है, चाटुकारिता नहीं गुणग्राह्यता है, यही उनका व्यक्तित्व है और यही उनका कृतित्व।[३६] अभिराज में कबीर जैसा समाजसुधारक श्वांस लेता है। वे संघर्ष रत रह कर भी समाज को रूढ़ियों से मुक्त करने को संकल्पित हैं।[३७] उनमें किंचित् भी भय नहीं है। कुछ समालोचक उनकी इस निर्भयता एवं आत्मकेन्द्रित गीतियों को उनका अभिमान कह सकते हैं, परन्तु वास्तव में यह उनका घमंड नहीं अपितु एक श्रेष्ठ साहित्यकार का स्वाभिमान है। वे इसके बिना अपने जीवन को मृतप्राय: मानते हैं। वास्तविकता भी यही है कि व्यक्ति यदि आत्मसम्मान के बिना जीवित रहता है तो वह जीवन निष्फल होता है।[३८]

शालभंजिका की प्रत्येक गजल में अभिराज चाहे अनचाहे स्वयं आ खड़े हुए हैं। उनकी अधिकांश गीतियाँ आत्म चिन्तन से जुड़ी हुई हैं। यह एक ऐसी डायरी है जो गजल विधा में लिखी गई हैं।[३९] इसकी भूमिका में उन्होंने इस तथ्य को स्वयं स्वीकार किया है कि-

शालभंजिका की गजलों में जीवन की विसंगतियों की संगत समीक्षा का यत्न मैंने किया है। इनमें विवशता एवं विकलता का मर्म है तो उनकी स्वयंस्फूर्ति एवं निर्वृतिपरक पर्यवसिति भी है।[४०] इसकी गजलों में सहज मैत्री, प्रणयासक्ति, सहभाव, निष्ठा, वंचना अभिसन्धि, उपेक्षा सभी का चित्रण है।

शालभंजिका की गजलें अपने कवि को आत्मसात् कर अग्रेसर होती हैं, इनमें कवि कहीं नदी द्वीप सा स्थिर है मात्र प्रवाह का दृष्टा है तो कहीं स्वयमेव प्रवाह है। वह कहीं मंझधार बनकर तो कहीं तटबन्ध बन कर प्रकट होता है, परन्तु अपनी गजलों में वह है सर्वत्र[४१]। अभिराज की प्रत्येक कृति में समाज की कृतघ्नताजन्य पीड़ा का उद्वेग है, वे स्वतन्त्र पंछी की भांति साहित्याकाश उड़ान के लिए ही प्रतिबद्ध है, अत: वे अपने कुलपतित्व को भी आनन्द के स्थान पर अभिशाप कहते हैं, यह पद उनके लिए इन्द्रजाल है-

कथं शापत्रिवर्षावधिरतीत: सखायश्श्रूयतां कुलपति: कथेयम्।[४२]

उनकी **यतो निष्कपाटम्** गजल भी उनके हृदय सरलता को व्यक्त करती है[४३]। इसमें हृदय का कपाटहीन होना मानो कपट-हीन होने का सूचक है।

वस्तुत: विषय वस्तु की दृष्टि से अभिराज की गजल गीति का फलक उर्दू की अपेक्षा बहुत व्यापक है। उसमें कुरुक्षेत्र का महासमर है[४४] तो कार्गिल के मन की व्यथा भी है।[४५] गंगा, चांदनी, बादल का विशुद्ध आलम्बन

---

३५. मत्तवारणी ६०/१०,
३६. शालभंजिका ७८/१-२,७,११०/८ १२८/२-३,
३७. शालभंजिका ३६/१, २०/८
३८. शालभंजिका १३०/४-५, १३६/७, ११०/८, २२/९
३९. शालभंजिका १४८/२
४०. शालभंजिका १० पृ० भमिका
४१. शालभंजिका पृ० ११ भूमिका
४२. शालभंजिका १६/८
४३. शालभंजिका १०४/१-७
४४. मत्तवारणी ७६/१-१०
४५. मत्तवारणी २५/१-१२

रूप है[४६] तो वृक्ष विहीन और बहुमंजिली इमारतों से घिरी पृथिवी के अन्धकारमय भविष्य की चेतावनी भी[४७]। मूर्खता, सत्य, अभिनय, लोभ, संगीत, प्रतिछद्म, प्रेम समस्त भावों का समुच्चय है अभिराज की गजल[४८]। कुछ गजलों में मिश्रजी ने बहुत ही हृदयाकर्षक बिम्बों का प्रयोग किया है। मनुष्य की परछाई के लिए प्रतिबिम्ब शब्द की सार्थकता इस गजल में मिलती है[४९]। कहीं कहीं पर कवि आध्यात्मिक चिन्तन में लीन होकर संसार से विरक्त काव्यालोक में विचरता है, क्योंकि सभी जानते हैं कि मृत्यु निश्चित है फिर रोने बिलखने मित्रता, बैरभाव, चिन्ता प्रसन्नता से क्या ? अतः व्यक्ति को कार्य करते हुए ईश्वरचिन्तन में समय बिताना चाहिए[५०]। यही है अभिराज राजेन्द्र मिश्र का जीवन दर्शन और उनकी गजल गीतियों की आधार भूमि। उन्हें नर से नारायण बनने की साधना नहीं चाहिए वे तो ऐसे फक्कड़ जीवन को ही वास्तविक सुख मानते हैं-

किंचिद् गृहे व्यतीतं किंचित् तले द्रुमाणाम्।
न कदम्बके नराणां न कदम्बके सुराणाम्॥

यही अपरिग्रह है। जहां संचय की लिप्सा ही नहीं, क्योंकि वे जानते हैं यह जीवन क्षणभंगुर है। यही कारण है कि अभिराज के कथ्य में आत्मचिन्तन के मंथन का नवनीत है। वे स्वयं को शंकर जैसा निस्पृही बनाकर शिवम् की साधना करना चाहते हैं। क्योंकि जीवन के अन्तिम मोड़पर जब हम सम्पूर्ण विश्व को अपनी मुठ्ठी में बंद करने का स्पप्न पाल रहे थे अनायास ही प्रयाण वेला में वह मुठ्ठी खुली रह गई और जीव इस नश्वर शरीर को छोड़ कर उड़ गया बड़ी-बड़ी शक्तियां सत्ताएं नष्ट हो गईं, क्षणभंगुर संसार से कैसा मोह ?

मयमिस्रबेबिलोना असुराष्ठ्र पारसीकाः, के के न नामशेषाः प्रतिभाति कीदृशन्ते।
सर्वं ममैव मुष्टौ भवितेति ते प्रतिज्ञा शिथिलैव सा प्रयाणे प्रतिभाति कीदृशन्ते।[५१]

इसके अतिरिक्त मिश्रजी ने अपनी गजलें में चेलसा (बिलक्लिंटन की पुत्री) मोनिका (प्रेमिका) आदि के विषय में भी अपना मन्तव्य दिया है, परन्तु यहां समादर जन्य चाटुकारिता नहीं है, अपितु वासनात्मक प्रेम के निन्दनीय पक्ष को प्रस्तुत किया हैं।[५२] यह प्रस्तुति उनको वैश्विक चिन्तन से जोड़ती है।

समालोचना की दृष्टि से अभिराज की कुछ गजलों के एक दो तथ्यों ने मुझे ठिठक कर रुकने को बाध्य किया इसमें प्रथम बात है गजलों का शीर्षक होना। अधिकांशतः उर्दू गजलों में संख्या क्रम होता है परन्तु मिश्र जी की गजलों में प्रायः शीर्षक देकर गजल लिखीं गई हैं, लेकिन इसके अपवाद स्वरूप 'मृद्वीका' की गजलें भी आपकी ही देन है जिनमें प्रथमा द्वितीया आदि गीति लिखकर संख्या क्रम को वरीयता दी गई है। सम्भवतः 'मृद्वीका' की गजलें प्रारम्भ में लिखी गई थीं। अतः कवि ने उर्दू साहित्य का अक्षरशः अनुसरण करने का संकल्प लिया होगा, परन्तु बाद में शालभंजिका, मत्तवारिणी तक आते-आते उन्होंने गजल को अपने आइने में स्थापित किया, अतः शीर्षकों से बांधकर उनका सृजन किया।

---

४६. मत्तवारणी १०६/१-९, ७८/१-९, ११८/१-८,
४७. मत्तवारणी १२०/८
४८. मत्तवारणी ५२/१-९
४९. शालभंजिका ४८/१-९
५०. मत्तवारणी १३६/१-९
५१. शालभंजिका ११२/४, ७
५२. मत्तवारणी १०४/१, ४, १०८/४

इसके अतिरिक्त दूसरा तथ्य है कि शेरों में पारस्परिक सम्बद्धता का अभाव। यद्यपि आपकी अधिकांश गजलों के शेर, अर्थ एवं विषय की दृष्टि से सम्बद्ध है अर्थात् एक ही विषय पर सम्पूर्ण गजल लिखी गई है, परन्तु कुछ गजलें इसका अपवाद हैं जैसे **तेषां सूर्यैदयोऽद्य हस्ते**[५३] गजल इसी प्रकार लिखी गई हैं। इस गजल का प्रायः प्रत्येक शेर स्वतन्त्र भाव से युक्त है। यह प्रयोग अभिराज जी द्वारा साभिप्राय किया गया है अथवा अनायास यह कहना तो सम्भव नहीं है, परन्तु यह विशेषता उर्दू शायरी में मिलती है। उर्दू शायर की सम्पूर्ण गजल एक ही विषय पर हो यह जरूरी नहीं होता बस रदीफ और काफिए संतुलित होने चाहिए, क्योंकि उर्दू, फारसी में लिखी गई गजलों मे भाव प्रवणता का तत्त्व प्रमुख होता है, परन्तु मिसरे पारस्परिक सम्बद्ध हों यह आवश्यक नहीं होता। फारसी छन्दशास्त्र की नैसर्गिकता को कवि ने अपनी गजलों में बड़े पैमाने पर जीया है। छोटी बहर की गजलें लिखने में तो मिश्रजी बेजोड़ हैं। कालिदास और वाल्मीकि की धरोहर पर गर्व करते हुए ही कवि ऐसी सराहनीय पंक्ति लिख सकता है-

अज्ञातहत्सु वैरी भवति स्मरोत्सवः हृदयं ततः समर्पय बन्धो! शनैः शनैः।[५४]

आपकी अधिकांशतः गजलों के मकते (अन्तिमशेर) में आपने अपने 'तखल्लुस' (उपनाम) का प्रयोग किया है, जैसा कि उर्दू में होना अनिवार्य माना जाता रहा है। कुछ लोग इसे उर्दू का प्रभाव कह सकते हैं, पर कवि ने सर्वत्र अनिवार्यता से इसका प्रयोग नहीं किया है।

भाषा की दृष्टि से आपके गजल संग्रह सरल सहज हैं आपने मत्तवारणी की भूमिकां में स्वयं लिखा है कि मैंने यथाशक्ति प्रयत्न किया है कि मत्तवारणी की भाषा बोधगम्य हो वस्तुतः यह कहना भी गौरव लेने जैसा हुआ। सच्चाई यह है कि मैं ऐसे ही भाषाबन्ध के प्रयोग मैं समर्थ हूं (कवि की अतिशय विनम्रता द्योतित होती है) हां जो मैं कहना चाहता हूं वह अवश्य ही दीर्घ दीर्घतर है, परन्तु वाच्य नहीं प्रत्युत व्यंग्य।

वास्तव में सरल बोधगम्य मिथकों के द्वारा मिश्रजी ने अपने गूढ़ अनुभवों को पाठकों से बांटा है। इसके लिए उन्होने अनेकों मुहावरों व लोकोक्तियों को भी प्रश्रय दिया है, वैसे भी अभिराज क्षेत्रीय प्रभाव से कभी मुक्त नहीं हो पाए अथवा होना नहीं चाहते जिससे उनका वास्तविक व्यक्तित्व बना रहे। डूबते को तिनके का सहारा[५५], मार्गमतिक्रामति मार्जारी[५६] (बिल्ली का रास्ता काटना), स्फुरति वामनयनम्[५७], व्यालवक्त्रेऽगुलिर्जातु नो दीयताम्[५८], शश शृंगतां जिहीते[५९], कर्णिनी भित्तिरेषा[६०], खर्वतामेत्य दासरको मुष्यते[६१] (लोकोक्ति), वक्रमुक्त्वा गृहप्रागणं दूष्यते[६२] आदि मुहावरे एवं लोकोक्तियों का प्रयोग करके उन्होनें गजल विधा को भी विशुद्ध भारतीय भाव भूमि में उतार दिया है।

---

५३. शालभंजिका पृ० १३८
५४. मत्तवारणी ३८/८
५५. मत्तवारणी ५४/६
५६. मत्तवारणी १०८/२
५७. मत्तवारणी १०८/१
५८. मत्तवारणी ११०/६
५९. शालभंजिका ११६/५
६०. शालभंजिका २०/७
६१. शालभंजिका ११६/१
६२. शालभंजिका ११६/५

वस्तुतः अभिराज की गजलों का परिवेश पाठकों के लिए आत्मीय है, भले ही वह शालभंजिका का बांकपन हो, मत्तवारिणी के कटाक्ष हों वाग्वधूटी का संचरण हो अथवा मधुपर्णी की मिठास हो। उन्होंने उर्दू-फारसी छन्दशास्त्र का चिन्तन करते हुए भी अपनी गजल गीतियों को एक अलग पहचान दी है, उनके द्वारा संकेतित मिथक भंगी-भणितयाँ, बिम्ब एवं प्रतीक बहुत उजले और करीबी लगते हैं। उनकी गजलों में दर्शन भी है, काव्य शास्त्र भी, राजनीति भी है, पुरुषार्थ भी।

इस प्रकार इन्द्र धनुषी भावबोध और व्याकरण सिद्ध शैली के धनी अभिराज राजेन्द्र मिश्र की गजल गीतियां भी अनुपमेय हैं। आपका विषयवस्तु फलक बहुत व्यापक है। आपने जहां एक ओर गजल की शाश्वत धारा को अंगीकृत करके प्रेम, व्यथा, विरह, शमा, पतंगा और उष्ण श्वांसों की तपन को संजोया है, वहीं दूसरी ओर इस पारंपरिक भूमि से परे सामाजिक रूढ़ियों परम्पराओं, राजनैतिक उद्दण्डताओं, और दोहरे चरित्र पर कठोर प्रहार किए हैं। अपने जीवन के अनुभवों को आपने हर पल संगृहीत किया है, जैसा कि प्रत्येक गजल के अन्त में स्थान और समय संकेत से अनुभव होता है। कभी विमान यात्रा में, कभी ट्रेन की प्रतीक्षा करते हुए प्लेटफार्म पर, कभी उनीदी आंखों से अतिथिगृह में और कभी आश्रमों के सुरम्य शान्त परिसर में जब भावों का उद्वेलन हुआ शब्दों की माला गजल में बदल गई। यदि गहनता से देखा जाए तो उर्दू-फारसी गजल का उद्गम भी सायास न होकर अनायास ही होता रहा है, वहां भी आंखों के आंसू, गहरी श्वांसे तिल-तिल करके मरते आशिक गजल को जन्म देते हैं। अतः अपनी अन्य विधाओं की भांति अभिराज राजेन्द्र मिश्र ने गजल गीति को भी विश्वजनीन फलक पर उतारा है, उनकी गीतियों में सामाजिक विघटन, नैतिक पीड़ायें, राजनैतिक विद्रूपताएं और वैश्विक चिन्तन पदे-पदे मुखरित हुआ है। अतः अभिराजीय आलोक में विश्वक्षितिज के इन्द्र धनुषी रंग और भी चित्ताकर्षक हो उठे हैं। यह न केवल संस्कृत वाङ्मय की समृद्धि के सूचक हैं, अपितु संस्कृत विचारकों समालोचकों एवं चिन्तकों के लिए भी एक श्रेष्ठ संकेत है कि आज संस्कृत रचनाकार युगानरूप है, उसकी दृष्टि विश्वबोध से जुड़कर तत्त्वान्वेषी हो रही है। वह जीवन मूल्यों का उपदेशक भी है ओर निर्णायक भी।

अन्ततः यही कहा जा सकता है कि आज जब विश्व में विद्वेष की बयार वह रही है, हम व्यक्तिगत जातिगत हितों को अंगीकृत करके अलग-अलग नीड़ रचने का स्वांग कर रहे हैं, ऐसे में अभिराज का यह संदेश उद्घोषित होना ही चाहिए-

वैरेण वैरं शम्यतीह न जातु तत्त्वविदो विदुः।
विभयैव भा परिवर्धते सृतिमिति हरति दीपावली।[६३]

---

६३. शालभंजिका २४/४

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०१० अङ्क १३ (पृ०१५९-१६५)

कालिदास का योग-विषयक प्रेम

डॉ. राकेश शास्त्री[१]

जब हम महाकवि कालिदास के विषय में दो व्यक्तित्वों- नाटककार कालिदास एवं काव्यकार कालिदास के रूप में विचार करते हैं तो हम पाते हैं कि नाटककार कालिदास 'योग' एवं इसके माध्यम से 'मोक्ष' की प्राप्ति के प्रति पूर्णतया निरपेक्ष रहे हैं, क्योंकि अपनी तीनों नाट्य कृतियों में से किसी एक में भी उन्होंने योग अथवा मोक्ष की चर्चा नहीं की है। इसके अतिरिक्त उनके नायकों में से भी कोई योग से परिचित प्रतीत नहीं होता है और न ही उनकी इसमें कोई अभिरुचि ही है। केवल अपनी अन्तिम कृति अभिज्ञान शाकुन्तलम् के भरत-वाक्य में महाकवि ने नीललोहित अर्थात् भगवान् शंकर से स्वयं को 'पुनर्जन्म से मुक्त करने की प्रार्थना' अवश्य की है।[२]

इसके ठीक विपरीत काव्यकार कालिदास ने अपने दोनों ही महाकाव्यों में योगविषयक अनेक बातों धारणा,[३] ध्यान[४] और समाधि[५] आदि का स्पष्टरूप से उल्लेख करते हुए कुमारसम्भव के नायक शिव को परमयोगी[६] और रघुवंश के अधिकांश राजाओं[७] को योग द्वारा मोक्षप्राप्ति के लिए तत्पर बताया है।

योगदर्शन का मुख्य सिद्धान्त उन उपायों की शिक्षा प्रदान करना है, जिनके द्वारा मानव आत्मा पूर्णरूप से परमात्मा में विलीन हो जाती है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए गम्भीर भाव-चिन्तन ही मुख्य साधन बताया गया है। इस प्रकार के योग या मन के संकेन्द्रीकरण के समुचित अभ्यास के लिए महर्षि पतंजलि ने योगसूत्र[८] में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि आदि का प्रतिपादन किया है।

काव्यकार कालिदास भी परमात्मा में लीन होकर आत्मा के अनुभव को ही ध्यान मानने के पक्षधर रहे हैं। ऐसी प्रतीत होता है कि काव्यकार के समय में सामान्य-जन भी 'योग' से परिचित थे। दूसरे शब्दों में पतंजलि के योगसूत्र का समाज में पर्याप्त प्रभाव था। तभी तो उन्होंने रघुवंश के नायकों के आदर्श को **योगेनान्ते तनुत्यजाम्**[९] के रूप में महाकाव्य के आरम्भ में ही प्रतिपादित किया है। यद्यपि एक स्थल पर उन्होंने महाराज रघु को योग की शिक्षा प्राप्त करने के लिए 'जैमिनि' के पास भेजा है। विद्वत्परम्परा 'जैमिनि' को मीमांसक आचार्य के रूप में पतंजलि से भी पूर्व स्वीकार करती है।[१०]

---

१. अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बांसवाडाराज.३२७००१
२. ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः। अभि. - ७/३५।
३. नृपतिः प्रकृतिरवेक्षितुं व्यवहारासनमाददे युवा। परिचेतुमुपांशुधारणा कुशपूतं प्रवयास्तु विष्टरम्।। रघु. ८/१८।
४. वीरासनैर्ध्यानजुषामृषीणाममी समध्यासितवेदिमध्याः। निवातनिष्कम्पतया विभान्ति योगाधिरूढा इव शाखिनोऽपि। वही - १३/५२
५. अथ काश्चिदजव्यपेक्षया गमयित्वा समदर्शनः समाः। तमसः परमापदव्ययं पुरुषं योगसमाधिना रघुः।। रघु.- ८/२
६. कु. - ३/ ४०, ४७-५०।
७. रघु. - ८/१७, २२, २४, १३/६, ५२, १५/९५।
८. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः योगसूत्र, पतंजलि।
९. रघु. - १/८
१०. मीमांसा दर्शन का विवेचनात्मक इतिहास, डॉ. गजानन शास्त्री 'मुसलगांवकर', चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, पृ.१४४।

इसके अतिरिक्त काव्यकार श्रीमद्भगवद्गीता में बतायी गयी स्थितप्रज्ञ[११] की परिभाषा से भी वे पूर्णरूप से परिचित प्रतीत होते हैं-

न नवः प्रभुराफलोदयात्स्थिरकर्मा विरराम कर्मणः।
न च योगविधेर्नवेतरः स्थिरधीरा परमात्मदर्शनात्।।[१२]

योग की अन्तिम अवस्था 'समाधि' को माना गया है, जिसमें मन और इन्द्रियों की सभी क्रियाएँ पूर्णरूप से अवरुद्ध हो जाती हैं, यही अवस्था यहाँ 'स्थिरप्रज्ञ' की कही गयी है, इसी को पूर्ण शान्ति की अवस्था भी कह सकते हैं। काव्यकार ने यहाँ उसी की ओर संकेत किया है।

इसीप्रकार काव्यकार कालिदास ने योग की प्रक्रिया से जुड़े पर्यंकबन्ध[१३] एवं वीरासन[१४] दोनों का ही उल्लेख किया है। कुमारसम्भव तृतीय सर्ग में वर्णित शिव तप की मुद्रा योग के पर्यंकबन्ध नामक आसन ही है, क्योंकि यहाँ कवि ने उनका ऊपर का आधा शरीर सीधा और निश्चेष्ट होना बताया है, अपनी कमल के समान हथेलियों को उन्होंने अपनी गोद में ऊर्ध्वमुख रखा हुआ है,[१५] कन्धों को थोड़ा झुकाए हुए उनकी अर्ध निमिलित और स्थिरदृष्टि नासिका के अग्रभाग पर एकटक लगी हुई है, जिसे योगमुद्रा कहा जा सकता है।[१६] वस्तुतः यह सम्पूर्ण वर्णन काव्यकार के योग-विषयक सूक्ष्मतम बारीकियों से परिचय को दर्शाता है। ऐसी कोई स्थिति हमें नाटककार के नाटकों में किसी एक भी स्थल पर परिलक्षित नहीं होती है।

इसके अतिरिक्त भगवान् शिव ने शरीर के अन्दर निवास करने वाले पाँचों प्रकार की वायुओं- प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान का पूर्णतया अवरोध कर लिया है। इस समय उनकी सम्पूर्ण अन्तः एवं बाह्य स्थिति को काव्यकार ने पवनरहित स्थान में स्थित निष्कम्प दीपक से उपमित किया है।[१७] जो उपमा उनके योग-विषयक ज्ञान के साथ-साथ उपमान विषयक सौन्दर्य को भी अभिव्यंजित करती प्रतीत होती है।

इसीप्रकार काव्यकार ने कुमारसम्भव में एक स्थल पर योगसूत्र के ब्रह्मरन्ध्र के अर्थ में **शिरस्तः** पद का प्रयोग किया है।[१८] बुद्धि के चरम केन्द्र इसका सम्बन्ध सुषम्ना नाड़ी से माना गया है। इसके अलावा रघुवंश के त्रयोदश सर्ग में काव्यकार ने विष्णु की योगनिद्रा का उल्लेख किया है, जिसमें किसी प्रकार की बाह्यचेतना नहीं रहती है, किन्तु आन्तरिक चेतना और स्मरणशक्ति की स्थिति बनी रहती है, जबकि समाधि की अवस्था में साधक अपने सम्पूर्ण सम्पर्कों को निगृहीत करके आत्मा की ज्योति को भीतर ही भीतर देखने को प्रयास करता है। अन्त में अक्षर ब्रह्म का ध्यान लगाकर परम ज्योति को प्राप्त कर लेता है -

मनो नवद्वारनिषिद्धवृत्ति हृदि व्यवस्थाप्य समाधिवश्यम्।
यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमन्यवलोकयन्तम्।।[१९]

---

११. प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्। आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।। गीता - २/५५
१२. रघु. - ८/२२
१३. कु. - ३/४५।
१४. रघु. - १३/५३।
१५. पर्यंकबन्धस्थिरपूर्वकायमृज्वायतं सन्नमितोभयांसम्। उत्तानपाणिद्वयसन्निवेशात्प्रफुल्लराजीवमिवांकमध्ये।। कु.- ३/४५।
१६. किंचित्प्रकाशस्तिमितोग्रतारैर्भ्रूविक्रियायां विरतप्रसंगैः। नेत्रैरविस्पंदितपक्ष्मालैर्लक्ष्मीकृतघ्राणमधोमयूखैः।। कु. - ३/४७।
१७. अन्तश्चराणां मरुतां निरोधान्निर्वातनिष्कम्पमिव प्रदीपम्। कु.- ३/४८।
१८. कपालनेत्रान्तरलब्धमार्गैर्ज्योतिः प्ररोहैरुदितैः शिरस्तः।। कु. - ३/४९।
१९. कु.- ३/५०।

श्रीमद्भगवद्गीता में भी समाधि की इसी अवस्था का वर्णन किया गया है।[२०]

काव्यकार का योग-विषयक यही प्रेम हमें रघुवंश में चरम पर दृष्टिगोचर होता है, जब तपोवन में वीरासन में समाधि लगाए हुए तपस्वियों को वेदिकाओं के बीच में खड़े वृक्ष भी समाधिस्थ ही प्रतीत होते हैं, क्योंकि यहाँ तो सम्पूर्ण वातावरण ही योगमय हो गया है -

वीरासनैर्ध्यानजुषामृषीणाममी समध्यासितवेदिमध्ययाः।
निवातनिष्कम्पतया विभान्ति योगाधिरूढा इव शाखिनोऽपि।[२१]

इस सबके अतिरिक्त काव्यकार ने परमात्मा की प्राप्ति के लिए योग साधन के अलावा भक्तियोग का प्रतिपादन भी विष्णु,[२२] एवं ब्रह्मा[२३] की स्तुतियों के माध्यम से किया है एवं गीता के निष्काम कर्मयोग की ओर भी संकेत किया गया है -

बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः।
त्वय्येव नियतन्त्योघाः जह्नवीया इवार्णवे।।[२४]

इसके अतिरिक्त कालिदास की मोक्ष के लिए स्वयं की चाह भी हमें रघुवंश का अध्ययन करने से प्रतीत होती है, क्योंकि इस महाकाव्य के महानायक रघु स्वयं इतने आत्मज्ञान से युक्त हो जाते हैं कि वे नष्ट होने वाले सुखों की चाह छोड़कर मोक्ष के साधक बन जाते हैं।[२५] चारों आश्रमों में आस्था रखने वाले काव्यकार के श्रद्धास्पद राजा रघु योग का अभ्यास करने के लिए संन्यास आश्रम को स्वीकार करते हैं और अपने पुत्र अज की अश्रुपूर्ण भावना को दृष्टिगत रखते हुए नगर के बाहर ही कुटिया बनाकर रहते हैं तथा अपने जितेन्द्रिय पुत्र के राज्य के फल-फूल ग्रहण करके ही अपना जीवन यापन करते हैं-

स किलाश्रममन्त्यमाश्रितो निवसन्नावसथे पुराद् बहिः।
समुपास्यत पुत्र भोग्या स्नुषसेवाविकृतेन्द्रियः श्रियाः।।[२६]

यहाँ हम देखते हैं कि महाराज रघु वस्तुतः पूर्णरूप से जितेन्द्रिय हैं, वे नाटककार के नायकों के समान भोगों के पीछे दौड़ने वाले नहीं हैं। रघु के योगी जीवन की विस्तार से चर्चा[२७] काव्यकार के योग विषयक विचारों को स्पष्ट करने के साथ-साथ उनके स्वयं के योगी व्यक्तित्व की ओर भी संकेत करती प्रतीत होती है।

यहाँ तो योगीराज रघु अपने मन को साधने का अभ्यास करने के लिए एकान्त में कुशा के आसन पर विराजमान होते हैं और योगियों के साथ चर्चा भी करते हैं-

परिचेतुमुपांशुधारणां कुशपूतं प्रवयास्तु विष्टरम्।।[२८]

---

२०. अक्षरं ब्रह्मपरमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते। भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः।। गीता - ८/३
२१. रघु. - १३/५२।
२२. रघु. - १०/५-१४,१६-३२।
२३. कु. २/४-१५।
२४. रघु. - १० /२६।
२५. अथ वीक्ष्य रघुः प्रतिष्ठितं प्रकृतिष्वात्मजात्मवत्तया। विषयेषु विनाशधर्मसु त्रिदिवस्थेष्वपि निःस्पृहोऽभवत्। रघु. - ८/१०।
२६. रघु. - ८ /१४।
२७. रघु. - ८ /१६-२५।
२८. रघु. ८/१८।

अनपायिपदोपलब्धये रघुरातैः समियाय योगिभिः।।[२९]

इतना ही नहीं यहाँ रघु भी शिव के समान ही अपने योगबल से शरीर के भीतर रहने वाले प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान नामक पंच वायुओं को अपने वश में कर लेते हैं -

अपरः प्रणिधानयोग्यया मरुतः पंच शरीरगोचरान्।[३०]

इसके अतिरिक्त रघु की योग-साधना की पराकाष्ठा तो तब देखने को मिलती है, जब वे अपनी यौगिक क्रियाओं द्वारा उत्पन्न ज्ञान की अग्नि से अपने सभी कर्मों को जला डालते हैं।[३१] इस प्रसंग में महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय तथ्य यह है कि काव्यकार यहाँ सांख्य एवं योगदर्शन के सिद्धान्तों में आस्था रखते हुए प्रकृति के गुणत्रय - सत्त्व, रजस् और तमस् का स्पष्टरूप से उल्लेख करके रघु द्वारा इन तीनों को अपनी यौगिक क्रियाओं द्वारा जीतने की बात का कथन करते हैं, जिसे हम नाटककार की कृतियों में अप्रत्यक्षरूप से भी नहीं देख पाते हैं -

रघुरप्यजयद् गुणत्रयं प्रकृतिस्थं समलोष्ठकांचनः।।[३२]

मिट्टी और सोने में समदृष्टि सांसारिकता से विरक्ति का सबसे उत्कृष्ट लक्षण माना गया है, जिसका उल्लेख केवल योग-विशेषज्ञ काव्यकार कालिदास ही करते हैं नाटककार नहीं। यह काव्यकार का योग-विषयक प्रेम ही है कि दृढ़ निश्चयी एवं स्थिर-चित्त राजा रघु अपनी यौगिक क्रियाओं का तब तक परित्याग नहीं करते हैं, जब तक वे स्वयं परमात्मा का दर्शन नहीं कर लेते हैं-

न च योगविधेर्नवेतरः स्थिरधीरा परमात्मदर्शनात्।।[३३]

यहाँ प्रयुक्त 'स्थिरधी' शब्द वस्तुतः काव्यकार के स्थिर-चित्त एवं दृढ-निश्चयी व्यक्तित्व की अभिव्यंजना करता प्रतीत होता है। इस प्रसंग में उल्लेखनीय है कि काव्यकार के जीवन का लक्ष्य न तो स्वर्ग-प्राप्ति है और न ही परमात्मदर्शन, अपितु वे तो यहाँ एक मात्र मोक्ष के ही साधक प्रतीत होते हैं। तभी तो उनके आदर्श राजा रघु परमात्मदर्शन के बाद भी मोक्ष प्राप्त करने के लिए अपने मन को योग-साधना में निरत किए हुए हैं।[३४]

इतना ही नहीं अपनी सभी इन्द्रियों को पूर्णतया वश में करके वे अनेक सिद्धियाँ भी प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु ये सिद्धियाँ भी उनके मार्ग की बाधक नहीं हो पाती हैं और समदर्शी महाराज रघु अपने प्रवृद्ध योगबल से सदैव प्रकाशमान, अविनाशी परमात्मा में लीन हो जाते हैं,[३५] जो वस्तुतः काव्यकार का स्वयं का भी चरम लक्ष्य प्रतीत होता है।

इसके अतिरिक्त काव्यकार जानते हैं कि योगियों के शरीर का दाहसंस्कार नहीं किया जाता है, अपितु उनके शरीर को पृथ्वी में समाधि प्रदान की जाती है[३६] तथा योगबल से देहत्याग करने वाले महात्मा पूर्णरूप से मुक्त हो जाते हैं। इसलिए उन्हें अपने पुत्रों से पिण्डदान की भी आवश्यकता नहीं रहती है, किन्तु इस सबसे

---

२९. रघु. ८/१७।

३०. रघु. ८/१९।

३१. इतरो दहने स्वकर्मणां ववृते ज्ञानमयेन वह्निना।। रघु. ८/२०।

३२. रघु ८/२१।

३३. रघु. ८/२२।

३४. रघु. ८/२३।

३५. अथ काश्चिदजव्यपेक्षया गमयित्वा समदर्शनः समाः।। तमसः परमापदव्ययं पुरुषं योगसमाधिना रघुः।। रघु. ८/२४।

३६. श्रुतदेहविसर्जनः पितुश्चिरमश्रूणि विमुच्य राघवः। विदधे विधिमस्य नैष्ठिकं यतिभिः सार्धमनाग्निचित्।। रघु. ८/२५।

परिचित होते हुए भी श्राद्धादि संस्कारों के प्रति अगाध आस्थावान् काव्यकार कालिदास पुत्र अज द्वारा अत्यन्त श्रद्धा-भक्ति से रघु के श्राद्ध संस्कारों का निष्पादन कराते हैं -

अकरोत्स तदौर्ध्वदैहिकं पितृभक्त्या पितृकार्यकल्पवित्।
न हि तेन पथाः तनुत्यजस्तनयार्जितपिण्डकांक्षिणः।।[३७]

इसीप्रकार रघुवंशी पुष्य भी राज्य का भार अपने पुत्र को सौंपकर स्वयं जैमिनि के शिष्य होकर उनसे योग की शिक्षा प्राप्त करके संसार के आवागमन से मुक्त हो जाते हैं।[३८] ये आचार्य जैमिनि वस्तुतः कर्मकाण्ड एवं यज्ञादि विषयक वैदिक वाक्यों की व्याख्या करने वाले, मोक्ष के लिए ज्ञान एवं कर्म दोनों की आवश्यकता प्रतिपादित करने वाले पूर्वमीमांसा दर्शन के प्रवर्तक आचार्य प्रतीत नहीं होते हैं। यद्यपि काव्यकार कालिदास की कर्मकाण्ड एवं यज्ञ के प्रति भी प्रबल आस्था रही है।[३९] सम्भवतः काव्यकार के समय में स्थित ये आचार्य योग विद्या में कुशल रहे होंगे।

इस प्रसंग में हम इतना ही कहना चाहते हैं कि गुप्तयुग में स्थित काव्यकार कालिदास की योग एवं मोक्ष के प्रति अगाध श्रद्धा रही है। रघुवंश एवं कुमारसम्भव में स्थित योगदर्शन विषयक स्थलों के विवेचन से स्वयं काव्यकार का संयत एवं जितेन्द्रिय तथा योग विषयक ज्ञानवान् होना सिद्ध होता है। कुमारसम्भव पंचम सर्ग में पार्वती की तपस्या का वर्णन[४०] भी योग से ही प्रभावित रहा है। वर्षा ऋतु में पार्वती पर गिरी बूँदों का वर्णन उसकी योग समाधि को ही चित्रित करता प्रतीत होता है।[४१] जबकि नाटककार कालिदास केवल अभिज्ञान शाकुन्तलम् के अन्तिम अंक में मुनि की कठोर तपस्या[४२] का वर्णन करके परमात्म दर्शन की ही चर्चा करते हैं।

काव्यकार के अधिकांश नायक योग के प्रति विशेषरूप से आकर्षित रहे हैं।[४३] यहाँ तो केवल रघु ही नहीं, अपितु लक्ष्मण भी अन्त में योग के द्वारा ही अपने शरीर का परित्याग करते हैं।[४४] महर्षि वसिष्ठ ने भी अपने योगबल से ही क्रमशः दिलीप[४५] एवं अज[४६] के शोक का कारण जाना है तथा महर्षि वाल्मीकि ने भी योगबल से ही वन में राम द्वारा सीता के परित्याग के कारण का दर्शन किया है।[४७] इसीप्रकार आदिपुरुष भगवान् विष्णु तीनों लोकों का संहार कर चुकने के बाद समुद्र में ही 'योगनिद्रा' में लीन रहते हैं।[४८]

---

३७. रघु. ८/२६।
३८. महीं महेच्छः परिकीर्य सूनौ मनीषिणे जैमिनयेऽर्पितात्मा। तस्मात्सयोगादधिगम्य योगमजन्मनेऽकल्पयत जन्मभीरुः।। रघु. - १८/३३।
३९. रघु. १/६, ४४, ६/२३, ६/३८, ११/१, ३७, १३/६१, १६/३५, ३९,।
४०. कु. ५/७ -२९।
४१. स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः। वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः।। कु. ५/२४।
४२. अभि. - ७/११-१२
४३. रघु. , १/७४, ८/ २०-२२, १३/६, १४/७२ , १५/९५, १८/३३।
४४. रघु. १५/९५।
४५. सोऽपश्यत्प्रणिधानेन संततेः स्तम्भकारणम्। रघु. १/७४।
४६. अथ तं सवनाय दीक्षितः प्रणिधानाद् गुरुराश्रमस्थितः। रघु. ८/७५।
४७. जाने विसृष्टां प्रणिधानंतस्त्वां मिथ्यापवादक्षुभितेन भर्त्रा। रघु. १४/७२।
४८. रघु. १३/६।

इस प्रसंग में एक बात विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि नाटककार कालिदास की द्वितीय एवं अन्तिम कृति के चतुर्थ[४९] एवं अन्तिम अंक[५०] में केवल 'तप' के प्रति किंचिद् अभिव्यक्ति अवश्य हुई है। 'तप्यते इति तपः' परिभाषा के अनुसार इसमें व्यक्ति अपने शरीर को अत्यधिक कष्ट पहुँचाते हुए कुछ सिद्धियों अथवा परमात्म दर्शन का प्रयास करता है।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् के अन्तिम अंक में मारीच ऋषि के आश्रम में वर्णित तपः वर्णन कुछ इसीप्रकार का प्रतीत होता है, जहाँ एक तपस्वी की जटाओं में पक्षियों ने घोंसले बना लिए है, साँप की केंचुलियों से वेष्टित शरीर को दीमकों ने अपनी बाँबी से ढ़क दिया है।[५१] इसे तपस्या की पराकाष्ठा अवश्य कहा जा सकता है, किन्तु यहाँ भी हमें योग के कुछ लक्षण प्रतीत नहीं होते हैं। वस्तुतः इसे समाधि अवस्था भी इसलिए नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि यह तपस्वी सूर्य की ओर एकटक दृष्टि से निहार रहा है।

विक्रमोर्वशीयम् नाटक में एक स्थल पर उर्वशी के स्वर्ग लौटने की बात जानकर पुरुरवा अपने पुत्र आयुष् को राज्यभार सौंपकर हरिणों से भरे तपोवन में जाने की बात भर करता है, जाता नहीं है।[५२] साथ ही यहाँ उसका तपोवन निवास का उद्देश्य मोक्ष-प्रासि नहीं है, यह तो वस्तुतः उर्वशी के वियोग में संसार से विरक्ति एवं उसका प्रभाव ही प्रमुख रहा है, जिसे नारद के माध्यम से संदेश देते हुए[५३] इन्द्र द्वारा उर्वशी को हमेशा के लिए साथ रहने की अनुमति प्रदान करके क्षीण भी कर दिया गया है।

इसीप्रकार शाकुन्तलम् के अन्तिम अंक में मारीच ऋषि के आश्रम में एक स्थल पर तप के प्रभाव में आस्था व्यक्त करते हुए कण्व को अपने तप के प्रभाव से सभी बातें ज्ञात हैं,[५४] ऐसा कहा गया है। साथ ही गालव ऋषि आकाश मार्ग से योग के कारण नहीं, अपितु अपने तप के प्रभाव से ही महर्षि कण्व को सूचना देने के लिए प्रस्थान करते हैं।[५५]

इस प्रकार हम देखते हैं कि योग के सम्बन्ध में काव्यकार एवं नाटककार की मान्यताएँ सर्वथा भिन्न रही हैं। नाटककार जहाँ केवल कठोर तप के प्रति आस्थावान् हैं, वहीं काव्यकार की निष्ठा योग में प्रति अपेक्षाकृत अधिक रही है। इसका यह भी तात्पर्य नहीं है कि काव्यकार ने तप का उल्लेख अपने काव्यों में नहीं किया है अपितु यहाँ इन्द्र को भी अपनी तपस्या से भयभीत कर देने वाले पंचाग्नि तप में निरत सूर्य को एकटक निहारने वाले सुतीक्ष्ण ऋषि[५६] तथा पंचाप्सर क्रीड़ा सरोवर पर मृगों के साथ घास चरने वाले शातकर्णी[५७] ऋषि का कठोर तप वर्णन करना।

---

४९. क दुष्यन्त - अपि तपो वर्धते ? अभि. - १/२३ के बाद। ख कण्व - वत्से! उपरुध्यते तपोऽनुष्ठानम्।। अभि. -४/२० के बाद। ग शकुन्तला- तपश्चरणपीडितं तातशरीरम् , तन्मातिमात्रं मम कृत उत्कण्ठितुम्। अभि. ४/२१ से पूर्व।

५०. अभि. ७ /१२ के बाद।

५१. अभि. ७/११।

५२. न हि सुलभवियोगा कर्तुमात्मप्रियाणि प्रभवति परवत्ता शासने तिष्ठ भर्तुः। अहमपि तव सूनावद्य विन्यस्य राज्यं विचरितमृगयूथान्याश्रयिष्ये वनानि। विक्रमो. ५/१७

५३. नारद- प्रभावदर्शी मघवा वनगमनाय कृतबुद्धिं भवन्तमनुशास्ति।। विक्रमो.- ५/१९ के बाद

५४. मारीच - तपः प्रभावात् प्रत्यक्षं सर्वमेव तत्र भवतः। अभि. - ७/३३ के बाद।

५५. मारीच - गालव ! इदानीमेव विहायसा गत्वा मम वचनात्तत्रभवते कण्वाय प्रियमावेदय. .। अभि.- ७/३४ से पूर्व

५६. रघु. - १३/४१-४४।

५७. रघु. - १३/३८-३९।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन के आधार पर निष्कर्षरूप में कहा जा सकता है कि काव्यकार कालिदास का योग-विषयक ज्ञान हमें अत्यधिक बढ़ा हुआ प्रतीत होता है। अपने दोनों ही महाकाव्यों में उन्होंने इस ओर अनेकशः स्पष्टरूप से संकेत भी किए हैं। इसके विपरीत नाटककार कालिदास की नाट्यकृतियों में से किसी में भी हमें इस प्रकार के संकेत उपलब्ध नहीं होते हैं। अतः इस विवेचन से जहाँ एक ओर काव्यकार की योग विषयक दृष्टि स्पष्ट होती है वहीं दूसरी ओर इन दोनों व्यक्तित्वों की भिन्नता की पुष्टि भी स्वतः ही हो जाती है।

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०१० अङ्क १३ (पृ०१६६-१७२)

प्राचीन भारत में स्त्रियों का सम्पत्ति अधिकार

डॉ० रेखा सिंह[1]

किसी राष्ट्र की सभ्यता एवं संस्कृति के निर्माण तथा विकास में नारी का योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। स्त्री दशा किसी देश की संस्कृति का मानदण्ड मानी जाती है। इस दृष्टि से भारतीय समाज में स्त्रियों को प्रारम्भ से ही गौरव पूर्ण स्थान प्राप्त था और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। यही नहीं धर्मशास्त्रियों ने नारी को परम इष्ट की श्रेणी में रखा है। इस सन्दर्भ में मनु लिखते हैं - जहाँ नारी की उपासना होती है, वहां देवता निवास करते हैं।[2] इस सम्बन्ध में अलतेकर का मत अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि-विश्व की लगभग सभी प्राचीन सभ्यताओं का अध्ययन करते समय हम जितने प्राचीन काल की ओर जाते हैं तो स्त्री का स्थान समाज में उतना ही महत्त्वपूर्ण पाते हैं।[3] भारतीय समाज में प्राचीन काल से ही स्त्री को माता, पत्नी और पुत्री इन सभी रूपों में अत्यन्त उच्च एवं सम्मानीय स्थान प्राप्त था। **गृहणी गृहमुच्यते**[4] अर्थात् गृह का अस्तित्व स्त्री के अस्तित्व व्यवहार में ही निहित माना जाता था। इसके विपरित स्त्री के अस्तित्व में ही निहित माना जाता था इसके विपरीत स्त्री के प्रति व्यवहार करने वालों के लिये मनु स्वीकार करते हैं कि -'जिस कुल में नारी दुःखी होती है, अनादर पाकर शाप देती है, वह कुल, परिवार पूर्णतया नष्ट हो जाता है'[5] इसीलिये धर्मशास्त्रकारों ने स्त्री एवं पुरुष को जीवन रूपी गाड़ी के दो पहिये माना है तथा दोनों को समान अधिकार प्रदान किये ओर स्त्री को पुरुष की अर्धांगिनी माना है।

संसार के सभ्य समाजों के विपरीत भारतीय समाज में स्त्री को न तो कभी सम्पत्ति माना गया और न ही पति को यह अधिकार दिया गया कि वह जब चाहे उसे बेच दे। जब की भारतीय साहित्य में कुछ एक उदाहरण अवश्य मिलते हैं जैसे - ऋग्वेद में उल्लेख है - कि एक जुआरी ने अपनी पत्नी को जुए में दाँव पर लगा दिया।[6] परन्तु ये अपवाद है और ऐसे कार्यों की समाज में निन्दा की गयी है। प्रथम तथा द्वितीय शती के स्मृतिकारों ने यह स्पष्टतः उल्लेख किया है कि स्त्रियाँ ओर बच्चे न तो दान में दिये जा सकते हैं और न बेचे जा सकते हैं।[7] क्योंकि समाजिक, सांस्कृतिक ओर धार्मिक कार्यों ओर विधियों के सम्पादन एवं संचालन में पत्नी का पति के साथ होना अनिवार्य था। इसीलिये यह बहुत कुछ सम्भव है कि पारिवारिक सम्पत्ति में भी दोनों का समान अधिकार रहा हो।[8] वास्तव में प्राचीन भारत में स्त्री की सामाजिक स्थिति अत्यन्त सम्मानजनक थी। विवाह के समय पति का यह प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि वह पत्नी के आर्थिक अधिकारों की रक्षा व सम्मान करेगा। इस प्रकार यह समझा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय हिन्दू समाज में स्त्रियों को एक परिधि में सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार प्राप्त थे।

---

१ प्रवक्ता तदर्थ प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, कन्या गुरुकुल महाविद्यालय गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
२ मनुस्मृति - ३/५६ - यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः
३ ए०एस० अलतेकर - प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृष्ठ - १५५
४ ऋग्वेद - ३ /५३/४
५ मनुस्मृति - ३/५७/५८
६ ऋग्वेद - १०/३४
७ बी०एन०लूणिया - प्राचीन भारतीय संस्कृति ७६४
८ बी०एन० लुणिया-प्राचीन भारतीय संस्कृति, पृष्ठ-७६४

वैदिक युग में स्त्रियों को सम्पत्ति सम्बन्धि अधिकार प्राप्त था अथवा नही, यह वैदिक संहिताओं में स्पष्ट नहीं होता, पर ऋग्वेद के एक मंत्र में यह संकेत अवश्य विद्यमान है कि सन्तान न होने पर पति के पश्चात् पत्नी को ही सम्पत्ति की स्वामिनी माना जाता था। एक अन्य मंत्र में अन्योदर्य (अर्थात् अन्य स्त्री के गर्भ से उत्पन्न) सन्तान को दत्तक पुत्र बनाकर उसका सम्पत्ति पर अधिकार होना अच्छा नहीं माना गया है।[९] इससे स्पष्ट होता है कि दत्तक पुत्र की अपेक्षा स्त्री का सम्पत्ति पर अधिकार होना वैदिक युग में अधिक उचित प्रतीत होता है। पर भाई होने की दशा में पुत्री का पैतृक सम्पत्ति में कोई अधिकार नहीं माना जाता था। ऋग्वेद के एक मंत्र के अनुसार 'तान्व' (औरस) पुत्र के होने पर उसकी बहन 'रिक्थ' (पैतृक सम्पत्ति) में कोई भाग प्राप्त नहीं करती थी।[१०] पर यदि माता-पिता की संतान केवल कन्याएँ ही हों तो वे पैतृक सम्पत्ति की अधिकरिणी मानी जाती थीं। विवाह हो जाने पर भी कन्याएँ धन प्राप्त करने के लिये पितृकुल में आया करती थी।[११] यदि कोई कन्या विवाह न करे और पितृकुल में ही रहे तो भाई होने की दशा में भी पैतृक सम्पत्ति में उसका हिस्सा माना जाता था। ऋग्वेद के एक मंत्र में प्रार्थना की गई है - हे इन्द्र ! मैं आपसे उसी प्रकार धन की याचना करता हूँ जैसे कि माता-पिता के साथ रहने वाली और (पितृ गृह में ही) बूढ़ी हो जाने वाली कन्या घर से अपना हिस्सा माँगती है।[१२] इस विवेचना से स्पष्ट होता है कि वैदिक युग में स्त्रियों को सम्पत्ति सम्बन्धि अधिकार प्रदान किये गये थे। चौथी सदी ईसा पूर्व तक यह व्यवस्था भारतीय समाज में प्रचलित थी।[१३]

दूसरी सदी ईसा पूर्व में आकर स्त्री शिक्षा पर अनेक प्रतिबन्ध लगा दिये गये, जिनके कारण स्त्री का सम्पत्ति अधिकार भी क्षतिग्रस्त हुआ। इस युग में ऐसे अनुदार धर्मशास्त्रकारों के एक वर्ग का आगमन हुआ जिन्होंने स्त्री को सम्पत्ति के अधिकार से रहित कर दिया।

बौधायन के मतानुसार - पत्नी का पति की सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं होता, क्योंकि वह अबला है और सम्पत्ति की रक्षा नहीं कर सकती है।[१४] मनु के अनुसार - पति के जीवन काल में पत्नी को किसी भी प्रकार की सम्पत्ति का अधिकार नहीं है। उसे केवल भरण-पोषण प्राप्त करने का अधिकार है। जो कि उसके पतिता एवं दूषिता होने अथवा नैतिक पतन की अवस्था मे भी माना जायेगा।[१५] आपस्तम्ब ने यह व्यवस्था स्थापित की - कि उत्तराधिकारी के अभाव में जब सपिण्ड या गुरु या शिष्य कोई न हो तब पुत्री उत्तराधिकारी हो सकती है। परन्तु उसने पुत्री को उत्तराधिकारी न स्वीकार करके सारी सम्पत्ति धार्मिक कार्य में लगाने के लिये निर्देश दिया है।[१६] मध्यकालीन टीकाकारों जैसे - जीमूतवाहन, अपरार्क, मित्रमिश्र आदि ने भी पत्नी के सम्पत्ति सम्बन्धि अधिकार को अपना समर्थन प्रदान नहीं किया है।

परन्तु इसके विपरित दूसरे शास्त्रकारों ने अत्यन्त उदारतापूर्वक पत्नी के सम्पत्ति के अधिकार का मत प्रतिपादित किया है। इस श्रेणी के धर्मशास्त्रकारों में सबसे पहले जैमिनी स्त्रियों के सम्पत्ति सम्बन्धि अधिकार का

---

९ ऋग्वेद - ७/४/८
१० ऋग्वेद ३/३१/२
११ ऋग्वेद - १/२४/७
१२ ऋग्वेद - २/१७/७
१३ थेरीगाथा - संख्या - ३२७
१४ बौधायन धर्म सूत्र - //
१५ मनुस्मृति - ११/७६, १७७,१८८
१६ आपस्तम्बधर्मसूत्र २/६/१४/१६ - २०

समर्थन किया।[१७] आपस्तम्ब पति की अनुपस्थिति में परिवार के आवश्यक कार्य के लिये धन खर्च करने का अधिकार पत्नी को प्रदान करते हैं।[१८] याज्ञवल्क्य कुछ नियम विनियम के अन्तर्गत पत्नी को सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार प्रदान करते हैं।[१९] याज्ञवल्क्य के मतानुसार-पत्नी को पति की सम्पत्ति पर अधिकार दिया गया है। वहाँ लिखा है कि पुत्र के अभाव में सम्पत्ति का उत्तराधिकार इस क्रम से होगा - पत्नी, कन्या या कन्याएँ, माता-पिता, भाई, भतीजे सगोत्र व्यक्ति, बन्धु-बान्धव, शिष्य और सहपाठी, पुत्र के अभाव में पुरुष की सम्पत्ति पर सर्वप्रथम अधिकार उसकी पत्नी का होगा और और उसके बाद कन्याओं का, यह एक ऐसा विचार है जो मनु, आपस्तम्ब आदि के विधानों से सर्वथा भिन्न है। अन्य शास्त्रकारों के द्वारा भी इस मत को समर्थन प्रदान किया गया है।[२०], किन्तु अलतेकर के मतानुसार समाज ने शायद ही स्त्री के इस अधिकार को स्वीकार किया हो। क्योंकि दूसरे धर्मशास्त्रकारों ने इसको अपनी सहमति प्रदान नहीं की।[२१] विज्ञानेश्वर के मतानुसार पत्नी की इच्छा से नहीं बल्कि पति की इच्छा से सम्पत्ति की अधिकारी होती है। विश्वरूप के मतानुसार पति-पत्नी में कोई विभाजन नहीं होता, पति यदि चाहे तो स्नेहवश पत्नी को एक भाग दे सकता है।[२२] इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि पति के जीवन काल में पत्नी को सम्पत्ति विभाजन या अलग से सम्पत्ति रखने का अधिकार प्राप्त नहीं था। इतना अधिकार अवश्य था कि पति की अनुपस्थिति में वह परिवार के आवश्यक कार्य हेतु धन खर्च कर सकती थी।

विधवा का स्थान स्त्रियों में विशेष महत्त्व का है। क्योंकि इसकी स्थिति परिवार में सबसे कोमल होती है। परन्तु प्राचीन भारतीय समाज में प्रारम्भ में विधवा स्त्रियों का सम्पत्ति पर किसी भी प्रकार का कोई अधिकार नहीं था। संहिता और ब्राह्मणग्रन्थों में पति की मृत्यु पर विधवा के अधिकार को स्वीकार नहीं किया गया है।[२३] बौधायन ने उत्तराधिकारियां की जो एक लम्बी सूची तैयार की है, उसमें विधवा पत्नी का उत्तराधिकारियों के रूप में कोई उल्लेख नहीं किया।[२४] कौटिल्य के मतानुसार जिस सम्पत्ति का कोई उत्तराधिकार न हो, उसे राजा ले, किन्तु स्त्री के जीवन निर्वाह एवं श्राद्ध कार्यों के लिये उसे धन अवश्य दे।[२५] इससे स्पष्ट हो जाता है कि पुत्रहीन विधवा स्त्री अपने पति की सम्पत्ति की अधिकारी नहीं होती थी। मनु ने स्पष्ट लिखा है कि पिता की सम्पत्ति के उत्तराधिकारी उसके पुत्र होते हैं। लेकिन यदि पुत्र न हो तो उसके उत्तराधिकारी पिता या भाई होते हैं, यदि ये भी न हो तो सपिण्डो में सबसे निकट सम्बन्धि उस धन का भागी होता है, और इसके भी अभाव में क्रमशः सजातीय, आचार्य अथवा शिष्य उस धन के भगीदार होते हैं।[२६] इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व तक विधवा स्त्री को पति की सम्पत्ति की उत्तराधिकारी नहीं माना जाता था। अलतेकर के मतानुसार विधवाओं को उत्तराधिकार से वंचित रखने का कारण सम्भवतः यह था कि उस समय समाज में विधवाओं के पुर्नविवाह तथा नियोग की प्रथा प्रचलित थी। जिस कारण विधवाओं की संख्या कम थी। लेकिन ईसा की पहली

---

१७ हरिदत्त वेदालंकार - हिन्दू परिवार मीमांसा - पृष्ठ - ४४७
१८ आपस्तम्बधर्मसूत्र - २/६/१४/१६ - २०
१९ याज्ञवल्क्यस्मृति - २/११५, २/१४८, १/७६
२० सत्यकेतु विद्यालंकार - प्राचीन भारत का धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक जीवन - पृष्ठ - २१८
२१ ए०एस० अलतेकर - दि पोजिशन ऑफ विमेन इन हिन्दू सिविलाईजेशन पृ० - २१६
२२ विश्वरूप, याज्ञवल्क्यस्मृति पर टींका, २/११९
२३ तैत्तिरीय संहिता - ६/५/८/२/ शतपथ ब्राह्मण - ४/४/२/१३
२४ बौधायन धर्मसूत्र - १/५/११३-१४
२५ कौटिल्य - अर्थशास्त्र - ३/५
२६ मनुस्मृति - ९/१८५,१८७

सहस्त्राब्दी में इन दोनों प्रथाओं का लोप हो जाने के कारण समाज में विधवाओं की संख्या बढ़ने लगी। जिसके कारण समाजिक दृष्टि से यह समझा गया कि परिवार में स्त्री को आर्थिक अधिकार प्रदान किये जायें। इसीलिये परवर्ती शास्त्रकारों ने पुत्रहीन विधवा को पति की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी घोषित किया, जिससे उसकी दशा में कुछ सुधार हुआ।[२७]

इस प्रकार से ऐसे विचारकों का वर्ग विकसित हुआ जिसने विधवा नारी के समान अधिकार का प्रतिपादन तथा उसकी आर्थिक स्थिति का आकलन किया। विधवा नारी का जीवन कठोरता और निर्ममता पर आधृत था, इसलिये उदार विचारकों ने उसके सम्पत्ति विषयक भाग को स्वीकार किया और तत्सम्बन्धी तर्क प्रस्तुत किया। इस श्रेणी में याज्ञवल्क्य पहले स्मृतिकार थे जिन्होंने स्पष्ट रूप से पुत्रहीन विधवा को मृत पति की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी घोषित किया।

याज्ञवल्क्य के मतानुसार पुत्रहीन व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् उसके उसके अधिकारी क्रमशः पत्नी, कन्या, दौहित्र, माता-पिता, भाई, भतीजे, बन्धु तथा शिष्य होते थे।[२८] बृहस्पति ने भी विधवा के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार का प्रबल समर्थन किया है, लेकिन साथ ही यह भी कहा है यदि पत्नी पति के प्रति ईमानदार है, तभी वह उस सम्पत्ति का उपयोग कर सकती है।[२९] कात्यायन द्वारा भी बृहस्पति के विचारों को सहमति प्रदान की है लेकिन साथ ही साथ यह भी कहा है कि पत्नी इस प्रकार की सम्पत्ति को दान, विक्रय व गिरवी रखने की अधिकारी नहीं है, विज्ञानेश्वर ने भी विधवा स्त्री के सम्पत्ति सम्बन्धित अधिकार को स्वीकृत किया है, लेकिन साथ ही साथ यह भी कहा है कि यदि विधवा ब्रह्मचारिणी बनी रहे।[३०] परन्तु जीमूतवाहन का कहना है कि केवल पुत्रहीन विधवा ही अपने मृत पति की सम्पत्ति में अधिकार पा सकती है।[३१] विधवा स्त्री के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार के विषय में महाभारत में कहा गया है कि विधवा स्त्रियों को उत्तराधिकार में प्राप्त सम्पत्ति पर केवल सीमित अधिकार ही प्राप्त है, इससे अभिप्राय है कि वह उसे बेच नहीं सकती, परन्तु केवल उपयोग मात्र कर सकती है। परन्तु स्मृतिचन्द्रिका के मतानुसार माता अपने पुत्रों के साथ मृत पति की सम्पत्ति की अधिकारिणी होती है।[३२]

इस विवेचना के आधार पर यह मत प्रतिपादित किया जा सकता है कि विधवा स्त्रियों को अपने मृत पति की सम्पत्ति में कोई भी अधिकार प्राप्त नहीं था। परन्तु आगे चलकर कुछ ऐसे शास्त्रकारों का वर्ग विकसित हुआ जिनके द्वारा विधवा स्त्री के सम्पत्ति के अधिकार को समर्थन प्रदान किया गया। इस प्रकार विधवा स्त्री अपने मृत पति की सम्पत्ति का उपयोग अपने जीवनकाल में कर सकती थी, परन्तु उस स्त्री की मृत्यु के पश्चात् यह सम्पत्ति उसके पति के अन्य उत्तराधिकारियों को प्राप्त हो जाती थी। विधवा स्त्री इस सम्पत्ति का दान तथा विक्रय नहीं कर सकती थी, परन्तु धार्मिक कार्यों तथा पति को लाभ पहुँचाने वाले पुण्य कार्यों के लिये खर्च कर सकती थी।

---

२७ ए०एस० अलतेकर - पूर्वोक्त, पृ० १७४,१७५,१७९,१८३
२८ याज्ञवल्क्यस्मृति - १/१३५ - १३६
२९ बृहस्पतिस्मृति - २५/४७-४९
३० मिताक्षरा - २/१३५
३१ दायभाग - ११/१, २, ७
३२ स्मृति चन्द्रिका - २/१६७

पुत्रियों को भी शुरू में सम्पत्ति सम्बन्धी कोई भी अधिकार प्राप्त नहीं था। ऋग्वेद के अनुसार पिता की सम्पत्ति की अधिकारी वही कन्या होती थी, जिसके कोई भाई नहीं होता था।[३३] सम्भवत: यह मत स्वीकार किया जाता था कि इस अवस्था में (अर्थात् वह कन्या जिसके कोई भाई नहीं है।) पुत्री का पिता अपने दामाद से, यह समझौता कर लेता था कि वह पुत्री के पहले पुत्र को वंश चलाने के लिये देगा। परन्तु यदि भ्रातृयुक्त कन्या अविवाहित रहती थी, तो वह अपने पिता की सम्पत्ति से कुछ भाग की अधिकारिणी मानी जाती थी।[३४]

साधारणत: पुत्री को पिता की सम्पत्ति में कोई हिस्सा नहीं मिलता था।[३५] वशिष्ठ गौतम और मनु ने भी उत्तराधिकारी के रूप में पुत्री का कहीं नाम ही नहीं लिया है।[३६] आपस्तम्ब के मतानुसार उत्तराधिकारी के अभाव में ही अर्थात् जब सपिण्ड, गुरु या शिष्य कोई न हो, उस दशा में ही पुत्री पिता की सम्पत्ति की अधिकारिणी हो सकती थी। दूसरी ओर यह भी मत प्रतिपादित किया कि पुत्र के न होने पर पिता को अपनी सारी सम्पत्ति धर्म कार्य में लगा देनी चाहिये, परन्तु पुत्री को सम्पत्ति नहीं देनी चाहिए ।[३७] इन व्यवस्थाकारों ने सम्पत्ति में पुत्री के अधिकार को स्वीकार नहीं किया है। प्रो० हरिदत्त वेदालंकार के मतानुसार पुत्री को पिता की सम्पत्ति से इसलिये वंचित रखा गया क्योंकि पुत्री पिण्डदान नहीं कर सकती थी।[३८]

परन्तु इसके विपरीत दूसरे शास्त्रकारों ने अत्यन्त उदारतापूर्वक पुत्री के उत्तराधिकारी होने का मत प्रतिपादित किया है। महाभारत में उसके इस स्वत्व को पूरा समक्ष स्वीकार किया गया है और यह कहा गया है कि जिस कन्या के कोई भाई न हो तो उसे पूरी सम्पत्ति नहीं तो कम से कम आधी सम्पत्ति अवश्य ही मिलनी चाहिये।[३९] कोटिल्य ने भी पुत्री के प्रति सहानुभूति दिखाते हुये अभ्रातृ कन्या को उत्तराधिकारिणी घोषित किया है चाहे उसे कम ही हिस्सा क्यों न मिले।[४०] परन्तु याज्ञवल्क्य के द्वारा दृढतापूर्वक पुत्री के हित में अपने विचारों को प्रक्रट किया, साथ ही यह निर्देश भी दिया है कि पुत्र और विधवा के अभाव में पुत्री ही पिता की समस्त उत्तराधिकारिणी होती है।[४१] बृहस्पति ओर नारद ने मत प्रस्तुत किया कि क्या पुत्री अपने पिता के पुत्र के समान सन्तान नहीं। फिर पुत्र के न होने पर उस के उत्तराधिकार को कैसे अस्वीकार किया जा सकता है।[४२] इस आधार पर कात्यायन जैसे व्यवस्थाकारों ने भी कन्या के सम्पत्ति अधिकार से सम्बन्धित अपने विचारों में विकास किया तथा पुत्र के अभाव में पुत्री के उत्तराधिकारी होने का मत प्रतिपादित किया।[४३]

कन्या के सम्पत्ति सम्बन्धि अधिकार पर यह प्रश्न विचार करने योग्य है कि क्या उन कन्याओं को पिता की सम्पत्ति में अधिकार मिलना चाहिये जो भ्रातायुक्त थी? वैदिक साहित्य में कन्या के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार का कोई भी वर्णन नहीं मिलता है। लेकिन यदि कन्या अविवाहित रहती थी तो पिता की सम्पत्ति के कुछ भाग की

---

३३ ऋग्वेद - १/१२४/७
३४ वही - २/१७/७
३५ ऋग्वेद - ३/३१/२
३६ वसिष्ठ - १५/७, गौतम - २८/२१, मनु - ९/१८५
३७ आपस्तम्बधर्म सूत्र - १/१४/२४
३८ हरिदत्त वेदालंकार - पूर्वोक्त, पृ० ४२० - २१
३९ महाभारत - १३/८०/११, १३/८८/२२
४० अर्थशास्त्र - ३/५
४१ याज्ञवल्क्यस्मृति - २/१०५
४२ बृहस्पतिस्मृति - १५/३५, नारदस्मृति - १३/३०
४३ कात्यायन, याज्ञवल्क्यस्मृति - २/१३५-१३६

प्राप्त करने की अधिकारी मानी जाती थी। आगे चलकर शास्त्रकारों के द्वारा पुत्री के सम्पत्ति के अधिकार का समर्थन किया गया है। यास्क ने ऋग्वेद के एक श्लोक के आधार पर कन्याओं को भाइयों के साथ पैतृक सम्पत्ति का अधिकारी माना है।[४४]

नारद एवं विष्णु ने कन्या के हिस्से का समर्थन तो किया है, किन्तु कन्या द्वारा अपने हिस्से को ले जाने का समथन प्रदान नहीं किया है। नारद का विचार है कि कन्या उतना ही हिस्सा प्राप्त करे जितना उसके विवाह तक व्यय होता है।[४५] पिता की मृत्यु हो जाने पर कन्या का विवाह करना पुत्र का परम कर्त्तव्य था तथा अपने हिस्से का एक चौथाई विवाह कार्य में व्यय कर सकता था।[४६] यदि बहन के विवाह में किसी भी प्रकार की कोई कठिनाई थी तो भाई का कर्त्तव्य था कि वह अपनी सम्पत्ति में से विवाह का समस्त खर्च करे।[४७] इसके साथ ही यह निर्देश किया गया था कि अगर परिवार की सम्पत्ति अधिक है तथा विवाह में कम खर्च हुआ तो शेष सम्पत्ति को कन्या अपने साथ नहीं ले जा सकती थी।[४८] इस प्रकार से स्पष्ट होता है कि कन्या को सम्पत्ति का अधिकारी तो माना गया है, पर उस समय तक जब तक कि उसका विवाह न हो जाये। प्रो० हरिदत्त वेदालंकार के मतानुसार यह भारतीय समाज की स्त्रियों का दुर्भाग्य ही था कि शास्त्रकारों का समर्थन मिलने के पश्चात् भी भारतीय समाज ने कन्या को यह अधिकार प्रदान नहीं किया। पिता की मृत्यु के पश्चात् भाई का प्रमुख कर्त्तव्य बहन का विवाह करना था। जिसका परिणाम यह हुआ की कन्या का पिता की पैतृक सम्पत्ति में स्वतन्त्र भाग नहीं रहा और यह समझा जाने लगा कि कन्या को विवाह के समय वैवाहिक धन ओर दहेज के रूप में पैतृक सम्पत्ति में पर्याप्त हिस्सा मिल जाता है। इसलिये उसे अलग से सम्पत्ति में अधिकार देने की आवश्यकता नहीं है।[४९]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचना के आधार पर कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय समाज में स्त्रियों के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार को जानबूझ कर नहीं नकारा गया बल्कि इस उपेक्षा के भी दो कारण माने गये थे - एक उस समय की सामाजिक परिस्थितियाँ, दूसरे स्त्री धन की व्यवस्था। प्राचीन सामाजिक व्यवस्थानुसार संयुक्त परिवार का प्रचलन था। इस व्यवस्था के अनुसार स्त्रियों के अधिकार की ओर वह भी सम्पत्ति सम्बन्धी इसका प्रश्न ही पैदा नहीं होता था। सम्भवत: इसीलिये भारतीय, धर्मशास्त्रकारों द्वारा नारी के इस अधिकार का उल्लेख करना आवश्यक नहीं समझा गया। प्राचीन भारतीय समाज में स्त्रियों के लिये स्त्री धन की व्यवस्था थी। स्त्रियों को विवाह एवं अन्य अवसरों पर माता पिता, भाई, पति व अन्य सम्बन्धियों से काफी मात्रा में धन, वस्त्र, आभूषण आदि के रूप में प्राप्त हो जाता था। जिस पर स्त्री का पूर्ण अधिकार होता था। इस धन को प्रयोग में लाने के लिये उन्हें अपने पति या अन्य सम्बन्धियों से कोई सहमति नहीं लेनी पड़ती थी। बल्कि वे इच्छानुसार इस धन का उपयोग करने के लिये एकदम स्वतन्त्र थीं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्थानुसार स्त्रियों को जो स्त्रीधन सम्बन्धि अधिकार प्रदान किया गया था, इसी कारण धर्मशास्त्रकारों द्वारा स्त्रियाँ को पुरुषों की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनाने की कोई आवश्यकता हो नहीं समझी, क्योंकि स्त्रीधन को ही स्त्री का

---

४४ ए०एस० अलतेकर पूर्वोक्त, पृ० - २८६-८७
४५ नारदस्मृति - १३/२७
४६ याज्ञवल्क्यस्मृति - २/१२४
४७ नारदस्मृति १३/३४
४८ वीरमित्रोदय - पृ० - ५४२
४९ हरिदत्त वेदालंकार - पूर्वोक्त - पृ० ४३४

अपना व्यक्तिगत धन समझा गया। इस धन के स्वतन्त्र रूप से प्रयोग करने के अधिकार को ही सम्पत्ति सम्बन्धि अधिकार समझ लिया गया।

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०१० अङ्क १३ (पृ०१७३-१७८)

प्रमुख स्मृतियों में नारी के आर्थिक अधिकारों का मूल्यांकन

डॉ० ऋतु शुक्ला[१]

श्रुतियों का आचार-व्यवहार से सम्बन्धित ज्ञान जिसे ऋषियों ने स्मरण के आधार पर संकलित करके प्रजा के कल्याणार्थ दिया स्मृति संज्ञा से अभिहित किया गया है। स्मृतियों में धर्म-तत्त्व, आश्रम-व्यवस्था, वर्ण-व्यवस्था, दण्ड-विधान, प्रायश्चित्त-विधान इत्यादि विषयों के अतिरिक्त नारी एवं पुरुष दोनों के लिये पृथक्-पृथक् अधिकारों तथा विधेय एवं त्याज्य कर्त्तव्यों का विस्तृत निरूपण है। चूंकि किसी भी सभ्यता एवं संस्कृति की उपलब्धियों एवं श्रेष्ठता का मूल्यांकन करने का सर्वोत्तम आधार उसमें स्त्रियों की दशा का अध्ययन करना है, अतः अपने युग के विधिग्रन्थ कही जाने वाली स्मृतियाँ जिनका परिगणन असंहिताबद्ध हिन्दू विधि के मूल स्रोत के रूप में होता है, उनके अन्तर्गत नारी के आर्थिक पक्ष का विवेचन सुसंगत प्रतीत होता है, क्योंकि आर्थिक सबलता एवं स्वावलम्बनता मानव के लिये अत्यावश्यक है।

उत्तराधिकार में प्राप्य पैतृक संपत्ति के लिये प्रायः 'दाय'[२] अथवा 'रिक्थ'[३] शब्द का प्रयोग मिलता है। अतः पैतृक धन के अधिकारी को 'दायाद', दायाधिकारी अथवा रिक्थाधिकारी कहते हैं। स्त्री के आर्थिक अधिकारों का स्मृतियों के सन्दर्भ में अध्ययन करने पर एकपक्षीय दृष्टिकोण अथवा स्मृतिकारों का पूर्वाग्रह से युक्त दृष्टिकोण दिखाई पड़ता है। स्त्री के संपत्ति अधिकारों को मूल रूप से स्त्री सम्पदा अर्थात् पुत्री, पत्नी अथवा विधवा के रूप में पैतृक संपत्ति में अंश अथवा उत्तराधिकार अथवा विभाजन के पश्चात् प्राप्त संपत्ति तथा स्त्रीधन अर्थात् वह धन जो पुत्री विवाह के अवसर पर अपने पितृजनों से प्रीतिवश प्राप्त करती है - इन दो भागों में विभाजित करके किया जा सकता है। नारी के सम्पत्ति एवं उत्तराधिकार विषयक विवेचन मुख्य रूप से तीन चरणों में किया जा सकता है:-१. पुत्री के रूप में सम्पत्ति-अधिकार २. पत्नी के रूप में सम्पत्ति-अधिकार तथा ३. विधवा स्त्री का सम्पत्ति-अधिकार

पुत्री के रूप में नारी के दायाधिकार के विषय में स्मृतिकार मनु स्पष्ट नहीं हैं। एक स्थान पर मनु पुत्रहीन मृतक पुरुष के धन का भागी उसके पिता अथवा भाई को मानते हैं[४], किन्तु अन्यत्र वे कहते हैं कि पुत्र पिता की आत्मा है तथा पुत्री पुत्र के समान है, अतः आत्मस्वरूप उस पुत्री के वर्तमान रहते पिता की सम्पत्ति का दायाद दूसरा कैसे हो सकता है?[५] मनु के इस कथन से कन्या को दायाद स्वीकार करने का आभास होता है, परन्तु मेधातिथि, कुल्लूक तथा विश्वरूप आदि टीकाकारों ने इस श्लोक में प्रयुक्त पुत्री का तात्पर्य 'पुत्रिका'[६] से लिया है, जिसकी पुष्टि इस श्लोक के पूर्ववर्ती श्लोकों द्वारा होती है[७] जिसमें 'पुत्रिका' से सम्बन्धित व्यवस्था का स्पष्टतः

---

१ प्रवक्ता संस्कृत, राजकीय महाविद्यालय, तालबेहट, ललितपुर उ०प्र०

२ ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम्। ऋ० २.३२.४

३ न जामयो तान्वो रिक्थमारैक्। ऋ० ३.३१.२

४ न भ्रातरो न पितरः रिक्थहराः पितुः। पिता हरेदपुत्रस्य रिक्थं भ्रातर एव च।। मनु० ९.१८५

५ यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा। तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत्।। मनु० ९.१३०

६ 'पुत्रिका' पुत्रहीन पिता की पुत्री जिसके पुत्र को औरस पुत्र की भाँति अपने नाना की धार्मिक तथा लौकिक कृत्यों को करने तथा सम्पत्ति में अधिकार प्राप्त करने के योग्य माना जाता है।

७ मनु० ९.१२७, १२९

प्रतिपादन किया गया है। मनु भाइयों में विभाजित संपत्ति में कन्या के लिए अंश की बात करते हुए भाइयों को अपने अपने भाग में से चतुर्थ अंश अविवाहिता कन्या को देने का निर्देश करते हैं।[८] अन्यत्र मनु मातृक रिक्थ में भाईयों के साथ बहनों को अंशधर मानते हैं, परन्तु जहाँ माता का रिक्थाधिकार ही संदेहास्पद हो वहाँ पुत्री के दायाधिकार का प्रश्न ही नहीं उठता। अत: मनु ने पैतृक संपत्ति में पुत्री को कतिपय सुविधाएँ एवम् अंश की बात की है, परन्तु उसे दाय का अधिकार प्रदान नहीं किया। परवर्ती स्मृतिकारों में याज्ञवल्क्य अभ्रातृका की स्थिति में कन्या को पिता की संपत्ति का उत्तराधिकारी मानते हैं। उनके अनुसार व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् पुत्राभाव में उसकी पत्नी एवं पुत्रियाँ उस धन की अधिकारी होंगी।[९] वे माता के धन पर प्रथम अधिकार पुत्री को प्रदान करते हैं, तत्पश्चात् पुत्र को।[१०] नारद पुत्र के अभाव में पुत्री को दायाद मानते हैं क्योंकि उनके अनुसार पुत्री पुत्र की भाँति होती है तथा पुत्र एवं कन्या दोनों पिता की ही सन्तानें हैं।[११] अन्यत्र उनका कथन है कि जिस प्रकार ज्येष्ठ भ्राता का ज्येष्ठांश तथा कनिष्ठ भ्राता का निम्नांश होता है, उसी प्रकार अविवाहिता कन्या का भी उसमें भाग होता है।[१२] विष्णुस्मृति में पुत्रहीन व्यक्ति की संपत्ति की उत्तराधिकारिणी उसकी पत्नी को माना गया है तथा पत्नी के अभाव में उसकी पुत्री को।[१३] आचार्य बृहस्पति पिता की मृत्यु के पश्चात् माता का भी अभाव होने पर पुत्री को रिक्थाधिकारी घोषित करते हैं।[१४] उनके अनुसार कन्या पुत्र के समान पिता के शरीर से उत्पन्न होती है, अत: उसके रहते पिता की संपत्ति अन्य व्यक्ति कैसे पा सकता है?[१५] आचार्य कात्यायन भी इस विषय में बृहस्पति से सहमति रखते हैं।[१६]

स्मृतिकारों के उपर्युक्त विचारों से यह प्रमाणित होता है कि सामान्यत: सभी ने पुत्र के अभाव में ही पुत्री को उत्तराधिकार तथा संपत्ति में कुछ अंश देने की बात की है। डॉ० ए०एस०अल्तेकर का भी कथन है कि धर्मशास्त्रों के रचनाकार पुत्र के रहते पुत्री को संपत्ति के अधिकार देने के पक्षधर नहीं थे।[१७]

अत: स्मृतिकारों ने सैद्धान्तिक रूप से कन्या को संपत्ति का अधिकारी माना है, व्यवहारिक रूप से नहीं। पुत्री केवल भरण-पोषण एवम् आजीविका हेतु पिता की संपत्ति से भाई अथवा पिता की स्वेच्छानुसार ही कुछ अंश पा सकती है, अन्यथा नहीं।

यदि विवाहिता नारी अर्थात् पत्नी के रूप में नारी के सम्पत्ति अधिकारों पर दृष्टिपात करें तो इससे सम्बन्धित आलेख अत्यल्प ही प्राप्त होते हैं, जो पत्नी का संपत्ति में उल्लेखनीय अधिकार न होने का पोषक है।

---

८ मनु० ९.११८

९ पत्नी दुहितरश्चैव पितरौ भ्रातरस्तथा। तत्सुता गोत्रजा बन्धुशिष्यसब्रह्मचारिण:।। एषामभावे पूर्वस्य धनभागुत्तरोत्तर:। स्वर्यातस्य ह्यपुत्रस्य सर्ववर्णेष्वयं विधि:।। याज्ञ० २.१३५-१३६

१० याज्ञ० २.११७

११ पुत्राभावे तु दुहितातुल्यसन्तानकारणात्। पुत्रश्च दुहिता चोभौ पितु: सन्तानकारकौ।। नारदस्मृति - ४.१३.५०

१२ नारदस्मृति - ४.१३.१९

१३ अपुत्रं धनं पत्न्यभिगामि। तदभावे दुहितृगामि।। विष्णुस्मृति १७.४-५

१४ अपुत्रस्याय कुलजा पत्नी दुहितरोऽपि वा। बृह०स्मृति, व्यवहारकाण्ड, २६.८७

१५ भर्तुधनहरी पत्नी तां विना दुहिता स्मृता। अंगादंगात्सम्भवति पुत्रवद्दुहिता नृणाम् तस्मात्पितृधनं त्वन्य: कथं गृह्णीयात् मानव:। बृह०स्मृति २६.१२६, १२७

१६ कात्यायन ७१४ Narayan Chandra Bandyopadhyaya - Katyayana Mata Sangraha, P. ७१

१७ The general opinion of Hindu Society was that the sister should get no share in patrimony, if they had brothers — A.S. Altekar - The Position of Women in Hindu Civilization' p.241

स्मृतिकार मनु का स्पष्ट कथन है कि पत्नी की अपनी कोई संपत्ति नहीं होती। स्त्री, पुत्र तथा दास - ये तीनों निर्धन होते हैं। इनके द्वारा उपार्जित धन उनका होता है, जिसके वे (स्त्री, पुत्र या दास) होते हैं।[१८] बाद में पुत्रों को पिता की संपत्ति में दायांश अवश्य मिल जाता है, परन्तु पत्नी को किसी भी प्रकार का अंश प्राप्त नहीं होता है। अतः मनु पत्नी को पैतृक संपत्ति में अधिकारशून्य मानते हैं। याज्ञवल्क्य कुछ सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण के साथ यह व्यवस्था देते हैं कि यदि अपनी इच्छा से पिता सभी पुत्रों को समान अंश देता है, तो उसे उन पत्नियों को भी समान भाग देना चाहिए, जिन्हें अपने पति अथवा श्वसुर से स्त्रीधन नहीं मिला है।[१९] याज्ञवल्क्य की यह सशर्त व्यवस्था अप्रत्यक्ष रूप से पत्नी के भरण-पोषण के लिए किया गया प्रावधान मात्र है न कि दायाधिकार। आचार्य बृहस्पति संपत्ति से पत्नी को अंश देने के पक्षधर हैं।[२०] कात्यायन भी मनु की व्यवस्था का अनुकरण करते हुए पत्नी को पैतृक संपत्तिविहीन मानते हैं तथा यह भी कहते हैं कि पत्नी शिल्पादि निम्न कार्यों द्वारा जो धनोपार्जन करती है अथवा जो धन प्रीतिवश प्राप्त करती है, वह उसके पति का होता है।[२१] इन उपर्युक्त दृष्टान्तों के आलोक में यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि पत्नी के रूप में भी नारी के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार नगण्य थे।

स्मृतियों में जहाँ पुत्री एवं सधवा स्त्री की आर्थिक दशा संतोषजनक नहीं दिखाई दी, वहाँ विधवा स्त्री के सम्पत्ति विषयक अधिकारों की वस्तुस्थिति का विवेचन एक विचारणीय प्रश्न के रूप में उपस्थित होता है। इस सन्दर्भ में मनुस्मृति के अध्ययनानन्तर यह स्पष्ट होता है कि मनु विधवा स्त्री को पति की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी नहीं मानते हैं। मनु मृतक पिता के दायाधिकारियों का क्रम क्रमशः औरस पुत्र, क्षेत्रज पुत्र, इनके अभाव में पिता अथवा सहोदर भाई अथवा सपिण्ड तत्पश्चात् समानोदक (सजातीय) तत्पश्चात् आचार्य तथा शिष्य[२२] - ये निर्धारित करते हैं, विधवा का दूर तक कोई नामोल्लेख प्राप्त नहीं होता। परवर्ती स्मृतिकारों में आचार्य याज्ञवल्क्य को पुत्रहीन व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् उसकी सभी प्रकार की संपत्ति में विधवा को सर्वप्रथम स्थान प्रदान करने का श्रेय जाता है।[२३] अन्यत्र भी याज्ञवल्क्य का कथन है कि पिता की मृत्यु के पश्चात् विभाजन के समय स्त्रीधन से रहित माता भी पुत्रों के बराबर अंश ग्रहण करे।[२४] आचार्य विष्णु भी इस मत का समर्थन एवम् अनुमोदन करते हैं।[२५] आचार्य बृहस्पति पुत्रहीन मृतक व्यक्ति की सम्पत्ति का प्रथम दायाद उसकी विधवा पत्नी को घोषित करते हैं।[२६] नारद प्राचीन व्यवस्था का अनुकरण करते हुए विधवा को दायाद नहीं मानते, मात्र पतिव्रता होने पर उसे

---

१८ भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाधनाः स्मृताः। यत्ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम्।। मनु० ८.४१६

१९ यदि कुर्यात्समांनशान् पत्न्यः कार्याः समांशिकाः। न दत्तं स्त्रीधनं यासां भर्त्ता वा श्वशुरेण वा।। याज्ञ०स्मृति २.११५

२० एकां स्त्री कारयेत् कर्म यथांशेन गृहे गृहे। बह्व्यः समांशतो देया दासानामप्ययं विधिः। बृह०स्मृति २६.२

२१ प्राप्तं शिल्पैस्तु सदा यद्वित्तं प्रित्या चैव यदन्यतः। भर्त्तु; स्वाम्यं सदा तत्र शेषन्तु स्त्रीधनं स्मृतं। कात्यायन० ७७४, उद्धृत। Narayan Chandra Bandyopadhyaya – Katyayana Mata Sangraha, P. 77

२२ न भ्रातरो न पितरः पुत्रा रिक्थहराः पितुः। पिता हरेदपुत्रस्य रिक्थं भ्रातर एव च।। मनु० ९.१८५ अनन्तरः सपिण्डाद्यस्तस्य तस्य धनं भवेत्। अत ऊर्ध्वं सकुल्यः स्यादाचार्यः शिष्य एव वा।। मनु० ९.१८७

२३ पत्नी दुहितरश्चैव पितरौ भ्रातरस्तथा। तत्सुता गोत्रजा बंधुशिष्यसब्रह्मचारिणः।। एषामभावे पूर्वस्य धनभागुत्तरोत्तरः। स्वर्यातस्य ह्यपुत्रस्य सर्ववर्णेष्वयं विधिः।। याज्ञ०स्मृति २.१३५-१३६

२४ याज्ञ०स्मृति-२.१२३

२५ अपुत्रस्य धनं पत्न्यभिगामि। तदाभावे दुहितृगामि। विष्णुस्मृति, अ० १७

२६ यस्य नोपरता भार्या देहार्धं तस्य जीवति। जीवत्येर्धशरीरेर्थं कथमन्यः समाप्नुयात्। सकुल्यैर्विद्यमानस्तु पितृभ्रातृसनामिभिः। असुतस्य प्रमीतस्य पत्नी तद्भागहारिणी। बृह०स्मृति, व्यवहारकाण्ड, २६.९३-९४

सम्पत्ति में कुछ अंश देने का समर्थन करते हैं।[२७] कात्यायन अव्यभिचारिणी पत्नी को पैतृक धन में अधिकार देते हैं।[२८] तथापि वे यह प्रतिबन्ध भी लगाते हैं कि विधवा द्वारा उस सम्पत्ति का मृत्युपर्यन्त उपयोग के पश्चात् वह सम्पत्ति पति के उत्तराधिकारियों को प्राप्त हो।[२९] इससे विधवा के साम्पत्तिक स्वत्व का अभाव संकेतित है। स्मृतिकारों के अतिरिक्त उनके टीकाकार विश्वरूप तथा मेधातिथि भी विधवा के सम्पत्ति अधिकारों को मान्यता नहीं देते। वहीं दूसरी ओर विज्ञानेश्वर निःसन्तान, विभक्त व असंसृष्ट पति की संपूर्ण सम्पत्ति सदाचारिणी विधवा को देने के पक्षधर हैं।[३०] दायभाग इसमें कुछ और विस्तार करते हुए विभक्त -अविभक्त, संयुक्त-असंयुक्त दोनों ही स्थितियों में पुत्रहीन मृतक की विधवा को दायाद मानते हैं।

पूर्ववर्ती स्मृतिकारों ने विधवा को सम्पत्ति में उत्तराधिकार प्रदान नहीं किया। ऐसा सम्भवतः इसलिए हुआ होगा क्योंकि पहले संयुक्त परिवार प्रणाली थी जिसमें संयुक्त सम्पत्ति की अखण्डता को सुनिश्चित रखने की भावना थी।[३१] दूसरा तद्युगीन समाज में प्रचलित पुनर्विवाह तथा नियोग प्रथा[३२] के कारण आश्रयहीन विधवाओं की संख्या कम रही होगी। परन्तु धर्मशास्त्रकारों में इन प्रथाओं की मान्यता तथा औचित्य के विषय में प्रारम्भ से ही मतभेद था। आचार्य मनु ने पुनर्विवाह तथा नियोग दोनों को मान्यता प्रदान नहीं की[३३] तथा इसे स्त्री के लिए वर्जित माना है। अतः इन सभी न्यूनताओं के कारण विधवाओं को संरक्षण प्रदान करने के उद्देश्य से स्मृतिकारों ने विधवा स्त्री को उसके पति की सम्पत्ति में कुछ शर्तो के साथ अर्थात् सीमित अधिकार प्रदान किए। जैसे आचार्य बृहस्पति अचल सम्पत्ति में विधवा को उत्तराधिकार प्रदान नहीं करते हैं।[३४] कात्यायन विधवा के सम्पत्ति उपभोग को उसके जीवनपर्यन्त ही सीमित कर उसके द्वारा सम्पत्ति का दान, विक्रय आदि में स्वेच्छानुसार विनियोग का निषेध करते हैं।[३५] मिताक्षरा सम्प्रदाय संयुक्त परिवार में विधवा को उत्तराधिकारी नहीं मानते। पति के जीवित रहते सम्पत्ति के विभाजन होने की स्थिति में ही वह उत्तराधिकारिणी हो सकती है, अन्यथा नहीं। अतः स्मृतिकारों द्वारा विधवा के सम्पत्ति अधिकारों पर आरोपित अनेक प्रतिबन्धों तथा शर्तों के कारण व्यवहार में विधवा के आर्थिक अधिकार बहुत सन्तोषजनक नहीं दिखाई पड़ते।

नारी के आर्थिक अधिकारों के विश्लेषण के क्रम में **'स्त्रीधन'** की भी गणना होती है। वह सम्पत्ति अथवा धन जो स्त्री को विवाह के अवसर पर अपने मातृकुल अथवा पतिकुल से प्राप्त होता है, स्त्रीधन कहलाता है। स्त्रीधन पर स्त्री का पूर्ण अधिकार होता है, परन्तु स्मृतिकारों द्वारा इसमें अनावश्यक हस्तक्षेप कर तथा स्त्री द्वारा

---

२७ नारदस्मृति - ४.१३.१२

२८ पत्नी पत्युर्धनहरी या स्यादव्यभिचारिणी। कात्यायन० ७१४

२९ अपुत्रा शयनं भर्तुः पालयन्ती गुरौ स्थिता। भुञ्जीतामरणात् क्षान्ता दायादा उर्ध्वमाप्नुयुः। दायभाग० ११.१.५६

३० तस्याद्पुत्रस्य स्वर्यातस्य विभक्तस्यासंसृष्टिनो धनं परिणीता स्त्री संयता सकलमेव गृह्णातीति स्थितम्। याज्ञ०स्मृति २.१३५-१३६ पर मिताक्षरा

३१ A.S. Altekar – The Position of Women in Hindu Civilization. P. 268

३२ नियोग वह प्रथा थी जिसके अनुसार किसी पुत्रहीन स्त्री अथवा विधवा के पुत्र उत्पन्न करने के लिए किसी पुरुष देवर अथवा सपिण्ड को नियुक्त किया जाता था।

३३ न द्वितीयं साधवीनां कश्चिद् भर्तोपदिश्यते। मनु० ५.१६२ अन्यस्मिन्नहि नियुञ्जाना धर्मं हन्युः सनातनम्। मनु० ९.६४

३४ यद्विभक्ते धनं किञ्चिदाध्यादि विविधं स्मृतम्। तज्जाया स्थावरं मुक्त्वा लभेत मृतभर्तृका।। वृत्तस्थापि कृतेऽप्यंशे न स्त्री स्थावरमर्हति। बृह०स्मृति, व्यवहारकाण्ड, पृ० ६६७

३५ मृते भर्तरि भर्त्रंश लभेत कुलपालिका। यावज्जीवं हि न स्वाम्यं दानाधमन विक्रये। स्मृतिचन्द्रिका, व्यवहारकाण्ड पृ० २७३

इसके यथेच्छ विनियोग को प्रतिबन्धित कर स्त्रीधन पर स्त्री के स्वामित्व को सीमित कर दिया गया है। स्वामित्व की दृष्टि से स्त्रीधन दो प्रकार का होता है।

सौदायिक - वह सम्पत्ति जिस पर स्त्री का पूर्ण प्रभुत्व होता है।

असौदायिक - वह सम्पत्ति जो पति द्वारा नियन्त्रित होती है, मात्र उपभोग स्त्री द्वारा किया जाता है।

सौदायिक स्त्रीधन वह है जो स्त्री को अपने पिता, बन्धु, पति इत्यादि से प्राप्त होता है। व्यास का कथन है कि विवाह के समय और विवाह के बाद पिता व पति के घर से कन्या को प्राप्त धन सौदायिक कहा जाता है।[३६] मनु ने सात प्रकार के, याज्ञवल्क्य ने नौ, नारद कुछ परिवर्तन के साथ छः तथा कात्यायन ने छः प्रकार के स्त्रीधन की गणना की है। मनु ने किसी भी प्रकार के स्त्रीधन पर स्त्री को पति से स्वतन्त्र अधिकार नहीं दिया है।[३७] वे स्त्रियों को उसके उपभोग हेतु स्वीकृति प्रदान करते हैं, उसके व्यय आदि पर नहीं। इसके अतिरिक्त वे पत्नी द्वारा पति की आज्ञा के बिना अंलकारादि के लिए धन का संग्रह करने का भी निषेध करते हैं।[३८] नारद एक ओर अचल सम्पत्ति के अतिरिक्त धन पर स्त्री की प्रभुता की घोषणा करते हैं।[३९] वहीं दूसरी ओर वे स्त्रियों को उसके विनियोग से वंचित कर उसके उपभोगपर्यन्त ही अधिकार देते हैं। कात्यायन सौदायिक स्त्रीधन पर स्त्री का पूर्ण स्वामित्व स्वीकार कर उसे उसके यथेच्छ विनियोग हेतु भी अधिकृत करते हैं।[४०] आचार्य याज्ञवल्क्य[४१] तथा कात्यायन[४२] कुछ विशिष्ट परिस्थितियों यथा दुर्भिक्ष, व्याधि, धर्मकार्य या बन्दी बनाए जाने पर पति द्वारा स्त्री के सौदायिक स्त्रीधन को व्यय करने का अधिकार प्रदान करते हैं। यद्यपि सामान्य परिस्थितियों में वे इसका निषेध करते हैं।[४३]

असौदायिक स्त्रीधन वह है जो स्त्री शिल्पादि श्रम द्वारा अर्जित करती है अथवा माता-पिता, पति आदि सम्बन्धियों से इतर व्यक्तियों से प्राप्त करती है। इस धन पर उसके पति का पूर्ण अधिकार होता है[४४] जिसे वह पत्याश्रय काल में पति की सम्मति के बिना व्यय नहीं कर सकती।[४५] स्त्रीधन के उत्तराधिकारियों के क्रम पर दृष्टिपात करने पर भी स्मृतिकारों की स्त्री के आर्थिक अधिकारों के प्रति वंचनापूर्ण दृष्टि ही परिलक्षित होती है। एक

---

३६ यत्कन्यया विवाहे च विवाहात्परतश्च यत्। पितृभर्तृगृहात् प्राप्तं धनं सौदायिकम् स्मृतम्।। व्यास०स्मृतिचन्द्रिका व्यवहारकाण्ड, पृ० ६५५

३७ मनु० ८.४१६

३८ मनु० ९.१९९

३९ भर्त्रा प्रीतेन यद्दत्तं स्त्रियै तस्मिन् मृतेऽपि तत्। सा यथाकाममश्नीयाद्दद्याद्वा स्थावरादृते।। नारदस्मृति ४.१.२८

४० सौदायिकं धनं प्राप्य स्त्रीणां स्वातन्त्रयभिष्यते। यस्मात्तदानृशंस्यार्थ तैदर्त्तमुपजीवनम् सौदायिके सदा स्त्रीणां स्वातत्र्यं परिकीर्तितम्। विक्रये चैव दाने च यथेष्टं स्थावरेष्वपि। भर्तृदायं मृते पत्यौ विन्यसेत् स्त्रीयथेष्टतः। विद्यमाने तु संरक्षेत क्षपयेत्तकुलेऽन्यथा।७५६, ७५७, ७६५, Narayan Chandra Bandyopadhyaya – Katyayana Mata Sangraha, P. 75-76

४१ दुर्भिक्षे धर्मकार्ये च व्याधौ संप्रतिरोधके। गृहीतं स्त्रीधनं भर्ता न स्त्रियै दातुमर्हति।। याज्ञ०स्मृति २.१४७

४२ कात्यायन० ९.४

४३ जीवन्तीनां तु तासां ये तध्दरेयुः स्वबान्धवाः। ताञ्छिष्याच्चौरदण्डेन धार्मिकः पृथिवीपतिः।। मनु० ८.२९

४४ पितृमातृभर्तृकुलव्यतिरिक्तात् यल्लब्धम् शिल्पेन व यदर्जितम्। तत्र भर्तुः स्वाम्यम् अनापद्यपि भर्ता गृहीतुमर्हति तेन स्त्रिया अपि धनं न स्त्रीधनं अस्वातंत्र्यात्। दायभाग - ४.१.२० पृ० ७६

४५ आर०के०अग्रवाल - हिन्दू विधि - पृ० ३५७ .

ओर प्रायः सभी स्मृतिकारों ने स्त्रीधन पर उसकी पुत्री का सर्वप्रथम अधिकार माना है,[४६] वहीं दूसरी ओर इस प्र पर वे पुत्री के साथ पुत्र के अधिकार को भी मान्यता देते हैं। मनु का कथन है कि विवाह के बाद पतिकुल में पितृकुल में प्राप्त हुए स्त्री के धन को पाने का अधिकार उसके पुत्रों या पुत्रियों का होता है।[४७] एक अन्य स्थान पर वे माता की मृत्यु के पश्चात् सब सहोदर भाई तथा अविवाहित बहनों को उस धन को परस्पर बाँट लेने हेतु निर्दि करते हैं।[४८] आचार्य बृहस्पति के अनुसार स्त्रीधन की उत्तराधिकारी उसकी सन्तान होती है।[४९]

अतः धर्मशास्त्रकारों ने स्त्रीधन पर भी जिस पर स्त्री का पूर्ण स्वामित्व होना चाहिए, अनेक प्रतिबन्ध लगाकर तथा पुत्री के साथ पुत्र को भी उत्तराधिकारी घोषित कर पुरुष हस्तक्षेप को सुनिश्चित किया।

इसके अतिरिक्त यदि स्त्री के भरण-पोषण की व्यवस्था पर दृष्टिपात करें तो प्रायः सभी व्यवस्थाकारों ने स्त्री के इस अधिकार को मान्यता दी है। स्मृतिकारों ने प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य निर्धारित किया है कि अपनी पत्नी तथा अवयस्क सन्तानों का भरण-पोषण करें। भरण-पोषण किए जाने के कारण ही पत्नी 'भार्या' कहलाती थी। मनु के अनुसार सैंकड़ों अपकृत्य करके भी वृद्ध माता-पिता, पतिव्रता स्त्री एवं शिशु का भरण-पोषण करना चाहिए।[५०] तथा ऐसा न करने वाले को राजा दण्डित करें।[५१] आचार्य याज्ञवल्क्य सदाचारी पुत्रहीन पत्नी का भरण पोषण करने हेतु निर्देश देते हैं[५२] तथा भरण-पोषण हेतु अपेक्षित अंश भी बताते हैं। आचार्य नारद भी समान मत अभिव्यक्त करते हैं। वे पुत्रहीन स्त्री के पति की मृत्यु के अनन्तर पतिपक्ष पर उसकी आत्मरक्षा तथा भरण-पोषण का दायित्व सौंपते हैं।[५३] आचार्य कात्यायन के अनुसार पति की मृत्यु के अनन्तर संयुक्त परिवार वाली पत्नी को भोजन वस्त्रादि द्वारा भरण-पोषण मिलना चाहिए।[५४] इस प्रकार स्मृतिकारों के मध्य स्त्री के भरण-पोषण के सम्बन्ध में पर्याप्त उदार दृष्टिकोण एवं सजगता परिलक्षित होती है।

अतः समग्ररूप से प्रमुख स्मृतिकारों के नारी के आर्थिक अधिकारों के प्रति मतानुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि व्यवस्थाकार नारी को सम्पत्ति में उत्तराधिकार देने के पक्षधर नहीं थे। स्मृतिकालीन समाज में संयुक्त परिवार व्यवस्था थी तथा उन्होंने विभक्त परिवार तथा अनपत्य दशा में ही स्त्री को सम्पत्ति में अंश देने का समर्थन किया है। उनका यह मन्तव्य नारी के आर्थिक अधिकारों के प्रति उदासीनता का पोषक है। आर्थिक दृष्टि से उसकी स्थिति पराधीना तथा आश्रिता की थी। इस प्रकार स्मृतिकालीन नारी आर्थिक क्षेत्र में अधिकार एवं निर्णयक्षमता से वंचित दिखाई पड़ती है।

---

४६ मातुस्तु यौतकं यत् स्यात् कुमारी भाग एव सः। मनु० ९.३१ स्त्रीधनं दुहितृणाम् प्रत्तानामप्रतिष्ठितानां च। गौ० ३.१०.२ बौधा० धर्म० २.२.३.४४

४७ अन्वाधेयं च यद्दत्तं पत्या प्रीतेन चैव यत्। पत्यौ जीवति वृत्तायाः प्रजायास्तद्धनं भवेत्।। मनु० ९.१९५

४८ जनन्यां संस्थितायां तु समं सर्वे सहोदराः। भजे समातृकं रिक्थं भगिन्यश्च सनामयः।। मनु० ९.१९२

४९ बृह०स्मृति व्यवहारकाण्ड २६.३१

५० वृद्धौ च माता पितरौ साध्वी भार्या शिशुः सुतः। अप्यकार्यशतं कृत्वा भर्तव्या मनुरब्रवीत्।। मनु० ११.१० १

५१ न माता न पिता न स्त्री न पुत्रस्त्यागमर्हति। त्यजन्नपतितानेतान् राज्ञा दण्डयः शतानि षट्।। मनु० ८.३८९.

५२ अपुत्रा योषितश्चैषां भर्तव्या साधुवृत्तयः। याज्ञ० २.१४२

५३ मृते भर्तर्यपुत्रायाः पतिपक्षः प्रभुः स्त्रियाः। विनियोगात्मरक्षासु भरणे च सः ईश्वरः।। नारदस्मृति ४.१२.२८

५४ कात्यायन ९२२, उद्धृत डॉ० पी० वी० काणे - धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-२, पृ० ९४७ - ९४८

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०१० अङ्क १३ (पृ०१७९-१८७)

संस्कृत वाङ्मय में राष्ट्रिय भावना

डॉ० मौहर सिंह[१]

संस्कृतवाङ्मय में राष्ट्रियभावना विषयक विचारोल्लेख से पूर्व **राष्ट्र** शब्द के अर्थ एवं उसकी व्युत्पत्तिविषयक अवधारणा को उद्घाटित करना अत्यावश्यक है। **राष्ट्र** शब्द की उत्पत्ति दीप्त्यर्थक **राज्** धातु से **ष्ट्रन** प्रत्यय करके हुई है।[२] वाचस्पत्यम् नामक ग्रन्थ में **राष्ट्र** शब्द का अर्थ **जनपद** किया गया है।[३] शब्दकल्पद्रुम में राष्ट्र शब्द का अर्थ **विषय** किया गया है और इसकी पुष्टि हेतु मनुस्मृति का एक श्लोक उद्धृत किया गया है, जो इस प्रकार है-

अशासंस्तस्करान् यस्तु बलिं गृह्णाति पार्थिवः।
तस्य प्रक्षुभ्यते राष्ट्रं स्वर्गाच्च परिहीयते।।[४]

प्रस्तुत श्लोक का भाव यह है कि जो राजा तस्करों को नियन्त्रित नहीं करता है, और प्रजा से राज्यशुल्क वसूल करता है, उसका राष्ट्र बुरी तरह क्षुभित हो जाता है और वह राजा स्वयं भी स्वर्ग से वञ्चित हो जाता है। शब्दकल्पद्रुमकार ने यहीं अपने द्वारा निर्धारित राष्ट्र के पर्यायवाची **विषय** का अर्थ **जनपद** लिखकर वाचस्पत्यकारकृत अर्थ का समर्थन किया है।[५] इंग्लिश-संस्कृत डिक्शनरी में शब्द का अर्थ संस्कृतभाषा में **जातिः, लोकः, जनपदः, प्रजा, वर्णः, जनता, देशः, विषयः, राष्ट्रम्, देशजनः, देशलोकः, देशवासिनः, राष्ट्रवासिनः** तथा **विशेषदेश-जनता** किया गया है।[६] राष्ट्र शब्द के अर्थज्ञानानन्तर राष्ट्रियभावना के अर्थ को जानना अपेक्षित है-

राष्ट्रिय भावना का अर्थ-

लोगों के मन में राष्ट्र की सभ्यता, संस्कृति, धर्म इत्यादि के प्रति जो गरिमा, महिमा एवं राष्ट्रिय चेतना सम्बन्धित नैसर्गिक स्वाभिमान हुआ करता है तथा जब लोग अपने स्वार्थ की सङ्कीर्ण सीमाओं का परित्याग कर अपने राष्ट्रियसम्मान की रक्षा हेतु एक अभेद्य एकता को अपना लेते हैं तो कहना होगा कि राष्ट्र के लिए आत्मोत्सर्ग के इस रोमाञ्चकारी वातावरण की सर्जना के पीछे जिस प्रबल भावना की प्रेरणा हुआ करती है, वही राष्ट्रियभावना कहलाती है। क्योंकि यह एक ऐसी प्रकृष्ट भावना है जिससे व्याप्त होकर लोग अपने व्यक्तिगत हितों को तिलाञ्जलि देकर अपने देश, अपनी मातृभूमि और अपने राष्ट्र की प्रतिष्ठा की रक्षा में मर मिटते है। इसी राष्ट्रियभावना से प्रेरित होकर हमारे अनेक राष्ट्रभक्तों जैसे कि भगतसिंह, सुभाषचन्द्र बोस, चन्द्रशेखर आजाद, रामप्रसाद बिस्मिल, खुदीराम, बालगङ्गाधर तिलक, महात्मा गाँधी, दयानन्द सरस्वती आदि ने स्वतन्त्रता स- ामरूपी अग्निहोत्र में स्वयं को आहूत कर डाला था। आज भी अनेक वीरपुरुषों को अपने जीवन, परिवार, सुख-संपत्ति, ऐश्वर्य आदि की

---

१ असि०प्रोफेसर,संस्कृत विभाग, गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार उत्तराखण्ड।
२ सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्, सिद्धान्तकौमुदी, उणादि प्रकरण-४.१५८
३ वाचस्पत्यम्, भाग षष्ठ, पृ०-४८०७
४ मनु०-९.२५४
५ शब्दकल्पद्रुम-चतुर्थ काण्ड, पृ०-१५८
६ इंग्लिश संस्कृत डिक्शनरी, पृ०-५२६

परवाह न करते हुए राष्ट्र की मर्यादा, सम्मान, गौरव, स्वाभिमान एवं उत्कर्ष हेतु अपने प्राणों को आहूत करते हुए देखा जाता है।

भारतीय परम्परा में समस्त विद्याओं का अजस्र स्रोत वेदों को माना गया है। **वेदोऽखिलो धर्ममूलम्** प्रशस्ति इसी भावना की परिपोषक है। डॉ० बलदेव उपाध्याय ने भी वेद को ज्ञान का मानसरोवर स्वीकार किया है उनके अनुसार वेदों से निःसृत ज्ञान की विमल धाराएँ विभिन्न मार्गों से प्रवाहित होती हुई भारत के ही नहीं अपितु समस्त विश्व के प्रदेशों को उर्वर बनाती हैं।[८] अतः राष्ट्रियभावना जैसी उत्कृष्ट, प्राञ्जल एवं उदात्तभावना भी निस्सन्देह वैदिक ऋषियों की वाणी में सर्वत्र व्याप्त रही है। जिसका उल्लेख इस प्रकार से है-

राष्ट्र के साथ मातृ-पुत्रभाव-

वैदिक ऋषियों ने जनमानस के हृदय में राष्ट्रप्रेम की अदम्य भावना को भरने के लिए अनेक स्थलों पर मातृभूमि की मुक्तकण्ठ प्रशंसा की है, अपनी जन्मभूमि को माता मानने की भावना हमें वेदों में ही उपलब्ध होती है।[९] अथर्ववेद के बारहवें काण्ड का प्रथम सूक्त जो भूमिसूक्त के नाम से जाना जाता है, वह आज भी राष्ट्रप्रेम की अक्षुण्ण धारा को प्रवाहित करने में समर्थ है। सूक्त के अन्तर्गत **माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः**[१०] के द्वारा मातृभूमि की कल्पना ऋषियों ने की है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि हम जिस धरती पर जन्म लेते हैं उसे मातृवत् मानकर उसकी रक्षा एवं सेवा में रत रहने की भावना का प्राबल्य देखने को मिलता है। वेदों में राष्ट्रभक्ति की शिक्षा निश्चय ही राष्ट्रियभावनामूलक है क्योंकि वैदिक ऋषियों को यह तथ्य ज्ञात था कि प्रत्येक पुत्र अपनी माता की रक्षा अवश्य करता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति अपनी मातृभूमि को माता के समान समझे तथा उसकी माता के समान ही रक्षा करे। वैदिक ऋषियों ने मातृभूमि की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए उसे सुखकारिणी (मयोभुवः),[११] कल्याणकारिणी, निवासप्रदायिनी, स्योना, अनृक्षरा, निवेशनी, शिवा, सुषदा, ऊर्जस्वती पयस्वती कहकर उसके प्रति आत्मीयता की भावना को प्रकट किया है। जैसा कि अधोलिखित मन्त्र में द्रष्टव्य है-

विश्वस्वं मातरमोषधीनां ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृताम्।
शिवां स्योनामनु चरेम विश्वहा॥[१२]

भाषार्थः- (विश्वस्वम्) सब को उत्पन्न करने वाली, **(ओषधीनाम्)** ओषधियों (अन्न सोमलता आदि) की **(मातरम्)** माता, **(ध्रुवाम्)** दृढ़, **(भूमिम्)** आश्रयस्थान **(धर्मणा)** धर्म (धरने योग्य स्वभाव वा कर्म) से, **(धृताम्)** धारण की गयी, **(शिवाम्)** कल्याणी, **(स्योनाम्)** मनभावनी, **(पृथिवीम् अनु)** पृथिवी के पीछे, **(विश्वहा)** अनेक प्रकार, **(चरेम)** हम चलें।

जनसामान्य के हृदय में मातृभूमि के प्रति मातृभावना को उद्भूत करके वैदिक ऋषियों ने सभी सभ्य जनमानस में भ्रातृभावना के भावों को भरने की कोशिश की है ताकि वे मिल-जुलकर अथवा सङ्गठित होकर

---

७ मनुस्मृति-२/७

८ डॉ० बलदेव उपाध्याय-वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ०-८

९ तन्नो वातो मयोभु वातु भेषजं तन्माता पृथिवी तत् पिता द्यौः। तद्ग्रावाणः सोमसुतो मयोभुवस्तदश्विना शृणुतं धिष्ण्या युवम्॥ ऋग्०१.८९.४

१० अथर्व०-१२.१.१२

११ ऋग्०५.५.८

१२ अथर्व०-१२.१.१७

निवास करें तथा मातृभूमि की रक्षा करने के लिए उद्यत एवं तत्पर रहें। अथर्ववेदीय भूमिसूक्त में मातृभूमि के विषय में कहा गया है कि हमारे राष्ट्र में तेजस्विता एवं बल का आधान करे-

यार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीद् यां मायाभिरन्वचरन् मनीषिणः।
यस्या हृदयं परमे व्योमन्त्सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः। सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे॥[१३]

राष्ट्रोत्कर्ष हेतु सङ्गठन एवं सामञ्जस्य की भावना का विकास-

वेदों के अनेक स्थलों पर सङ्गठन की उपयोगिता को व्याख्यापित किया गया है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में कहा गया है कि हम साथ-साथ चलें, साथ-साथ बोलें तथा सबके मन समान विषयों के लिए समान हों, जैसा कि अधोलिखित मन्त्र में निर्दिष्ट है-

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥[१४]

इससे आगे कहा गया है कि तुम्हारे सङ्कल्प तथा अभिप्राय समान हों, तुम्हारे हृदय समान हों, तुम्हारे मन समान हों जिससे तुम्हारा कार्य उत्तम रीति से चल सके।[१५] अथर्ववेद में भी विचारों की समानता का निर्देश प्राप्त होता है।[१६] समान विचार, समान कर्म तथा समान लक्ष्य ये तीनों राष्ट्र एकता के लिए महत्त्वपूर्ण एवं वाञ्छनीय तत्त्व हैं। इनके अभाव में राष्ट्र का पतन निश्चित है।

देशहित के लिए आपसी विवादों के परित्याग की महत्ता-

देशहित के लिए वैदिक मन्त्रों में विविध भाषा-विवाद तथा धर्म-विवाद से मुक्त होने का निर्देश प्राप्त होता है। अथर्ववेदीय पृथिवीसूक्त की ऋचा- **जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्। सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती॥**[१७] में वर्णित है कि पृथिवी पर नाना भाषाएँ बोलने वाले लोग हैं साथ ही साथ विविध धर्मों को मानने वाले लोग भी हैं। यहाँ पर सन्देश दिया गया है कि जिस प्रकार भूमि भाषा तथा धर्म के आधार पर कोई भेद नहीं करती उसी प्रकार इस भूमि पर निवास करने वाले मनुष्य आपस में भाषा-भेद एवं धर्म-भेद के आधार पर कोई भेद न करें। राष्ट्र की उन्नति के लिए अत्यावश्यक है कि समाज के सभी वर्गों में सौमनस्य हो। वे ऊँच-नीच के आधार पर आपस में भेदभाव न करें ताकि सुदृढ़ समाज एवं सङ्गठन का निर्माण हो सके। ऋग्वेद में कहा गया है कि भेदभावरहित तथा भ्रातृभावयुक्त राष्ट्र ही सौभाग्यशाली होता है।[१८] वेदों में अनेक स्थलों पर सद्भाव एवं सौमनस्य के लिए प्रार्थनाएँ की गयी हैं।[१९]

---

१३ अथर्व०-१२.१.८
१४ ऋग्०१०.१९१.३
१५ समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः। समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥ ऋग्०१०.१९१.४
१६ सं वो मनांसि संव्रता समाकूतीर्नमामसि। अमी ये विव्रता स्थन तान् वः सं नमयामसि॥ अथर्व०-३.८.५
१७ अथर्व०-१२.१.४५
१८ ऋग्०५.६०.५
१९ संज्ञानं नः स्वेभिः संज्ञानमरणेभिः। संज्ञानमश्विना युवमिहास्मासु नि यच्छतम्। सं जानामहै मनसा सं चिकित्वा मा युष्महि मनसा दैव्येन। मा घोषा उत् स्थुर्बहुले विनिर्हते मेषुः पप्तदिन्द्रस्याहन्यागते॥ अथर्व०-७.५२.१-२

राष्ट्रवीरों में स्वराज्यभावना, जागरूकता एवं तेजस्विता का बाहुल्य-

ऋग्वेद के एक मन्त्र में स्वराज्य की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि चाहे कोई देवता हो या कोई बलवान् हो, वह स्वराज्य की भावना को दबा नहीं सकता है-**यस्य ते नू चिदादिशं न मिनन्ति स्वराज्यम्। न देवो नाधिगुर्जन॥**[२०] एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि प्रिय स्वराज्य को कोई नष्ट नहीं कर सकता।[२१] यजुर्वेद में भी देवों से महान् गौरव एवं महान् जनराज्य हेतु प्रार्थना की गयी है- **इमं देवा असपत्नं सुवध्यं महते क्षत्राय। महते-ज्येष्ठ्याय महते जनराज्याय इन्द्रस्येन्द्रियाय॥**[२२] हमें राष्ट्रहित के लिए शत्रुसेना का सदा संहार करना चाहिए। इसके लिए इन्द्र को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है कि उसने शत्रुओं की सौ सेनाओं को अकेले ही नष्ट कर दिया था।[२३] साथ ही साथ वेदों में सुदृढ़ राष्ट्रनायक की भी कल्पना की गयी है क्योंकि इसके अभाव में सम्मानपूर्वक जीना असम्भ्व है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में कहा गया है कि राष्ट्र की सुरक्षा के लिए सदा जागरूक रहें और अग्रगण्य रहें-**शूरग्राम: सर्ववीर: सहावोञ्जेता पवस्व सनिता धनानि। तिग्मायुध: क्षिप्रधन्वा समस्वषाळ्हः साह्वान् पृतनासु शत्रून्॥**[२४] राष्ट्र के लिए हम सदा बलिदान होने को उद्यत रहें।[२५] भूमिसूक्त के प्रथम मन्त्र में राष्ट्रोन्नति के मूलतत्त्वों का विवेचन किया गया है- **सत्यं बृहदतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति। सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु॥**[२६] जिस देश के नागरिक ऋत-सत्य-बल-दीक्षा-तप-ब्रह्म-यज्ञ इन सात गुणों से युक्त हों वह राष्ट्र निस्सन्देह उन्नति की ओर अग्रसर रहेगा। यजुर्वेदवर्णित राष्ट्रिय प्रार्थना में कहा गया है कि हे परमात्मन्! हमारे राष्ट्र में ब्राह्मण ब्रह्मवर्चस्व से युक्त हों, क्षत्रिय शूर, धनुर्धर एवं शत्रुनाशक हों। गायें बहुक्षीरा हों, बैल अधिक भारवहन करने में समर्थ हों। रथी सैनिक विजयी हों, यजमान का युवा पुत्र वीर एवं सभ्य हो। औषधियाँ फलवती होकर पकें। सर्वत्र हमारे लिए योगक्षेम हो- **स्वराजस्थ, जनभृतस्थ, विश्वभृतस्थ राष्ट्रदा राष्ट्रम् में दत्त।**[२७]

देशद्रोहियों एवं जनशोषकों के दमन हेतु कठोर दण्ड-व्यवस्था-

देशद्रोही देश की एकता, अखण्डता, शान्ति एवं समृद्धि में सबसे बड़े बाधक हैं। हमारे समाज एवं देश में कोई भी देशद्रोही न रह पाये, कुछ ऐसे ही निर्देश वेदों में प्रासव्य हैं। यथा-

अस्मे वोऽअस्तित्वन्द्रियमस्मे नृम्णमुत क्क्रतुरस्मे व्वार्चाथंसि सन्तु वः। नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्याऽइयन्ते राड्डुयन्तासि यमनो दध्रुवोसि धरुण।[२८]**, यः ओजिष्ठस्तमा भर पवमान श्रवाय्यम्। यः पञ्च चर्षणीरभि रयिं येन वनामहे॥**[२९] अर्थात् देशद्रोह एक अक्षम्य अपराध है। देशद्रोही को आश्रय देना भी राष्ट्रद्रोह के रूप में सर्वथा निन्दनीय है। राष्ट्र के विकास के बाधक के रूप में जनशोषकों की भूमिका भी अग्रगण्य है। वैदिक

---

२० ऋग्०८.९३

२१ कच्चन प्रियम्, न मिनन्ति स्वराज्यम्-ऋग्०५.८२.२

२२ यजु०-९.४०

२३ ऋग्०-१०.१०३

२४ ऋग्०-९.९०.३

२५ वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहितः स्वाहा। यजु०९.२३

२६ अथर्व०-१२.१.१

२७ यजु०-१०.४

२८ यजु०-९.२२

२९ ऋग्०-९.१०१.९

ऋषियों के अनुसार जनशोषकों को राष्ट्रहित एवं राष्ट्रसुरक्षा के लिए नष्ट कर देना चाहिए। यथा-मायाभिरिन्द्र मायिनं त्वं शुष्णमवातिरः। विदुष्टे तस्य मेधिरास्तेषां श्रवांस्युत्तिर॥[३०] मन्त्र इस पहलू का समर्थन करता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेदों में राष्ट्रप्रेम, राष्ट्रभूमि आदि के प्रति निष्ठा व्यक्त की गयी है। जहाँ एक ओर स्वराज्य की भावना की अभिव्यक्ति होती है वहीं दूसरी ओर राष्ट्र के शत्रुओं के समूल नाश करने की आवश्यकता पर भी बल दिया गया है। वेदों में राष्ट्रहित के लिए भाषा-विवाद, धर्म-विवाद, ऊँच-नीच आदि जैसी विविध निकृष्ट भावनाओं से रहित होकर भ्रातृभाव का सन्देश दिया गया है। इसके अतिरिक्त ऋचाओं में राष्ट्रमङ्गल के साथ-साथ विश्वबन्धुत्व की भावना का भी निर्देशन प्राप्त होता है।

लौकिक संस्कृत-साहित्य में वर्णित राष्ट्रियभावना विषयक अवधारणा-

केवल वैदिक साहित्य में ही नहीं प्रत्युत वेदोत्तर संस्कृत-साहित्य में भी राष्ट्रियभावनाविषयक अवधारणा द्रष्टव्य है। संस्कृत-साहित्यकारों की कृत्तियों में असीमित साहित्यिक सौन्दर्य के साथ-साथ भारतीय संस्कृति, सभ्यता, जीवनदर्शन, राष्ट्रियभावना आदि समाजोपयोगी सभी तत्त्वों पर प्रकाश डाला गया है। संस्कृत-साहित्य में कुछ ऐसे महान् साहित्यकार हुए हैं जिनकी रचनाओं में राष्ट्रियभावना का सुरीला स्वर सुनाई देता है। जिसका वर्णन इस प्रकार से है-

आदिकाव्य रामायण में वर्णित राष्ट्रीयभावना-

रामायण आदिकवि वाल्मीकि द्वारा २४ हजार श्लोकों का एक विशालकाय ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर राष्ट्रियभावना विषयक विचारधारा प्राप्त होती है। सम्राट् श्रीराम के शासनकाल में प्रजाजनों की स्थिति के वर्णन के माध्यम से यह मनोभाव प्रकट कर दिया है कि राज्य की प्रजा तन-मन-धन आदि से समृद्ध होनी चाहिए। प्रजा में सभी धर्मात्मा, सुशिक्षित, संयमी, सत्यवादी, सम्पत्तिवान्, राजा के हितैषी हो, वे कदापि ईर्ष्यालु, मूर्ख, रोगी, अवैदिक, व्यथित एवं राजद्रोही न हों-

तस्मिन् पुरवरे हृष्टा धर्मात्मानो बहुश्रुताः।
नरास्तुष्टा धनैः स्वैः स्वैरलुब्धाः सत्यवादिनः॥
कामी वा न कदर्यो वा नृशंसः पुरुषः क्वचित्।
द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां नाविद्वान् न च नास्तिकः॥
सर्वे नराश्च नार्यश्च धर्मशीलाः सुसंयताः।
मुदिताः शीलवृत्ताभ्यां महर्षय इवामलाः॥[३१]

इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में बताया गया है कि राजा कैसा होना चाहिए, उसमें कौन-कौन से गुण होने चाहिए, राज्य की सुरक्षा व्यवस्था कैसी होनी चाहिए, अमात्यमण्डल एवं मन्त्रिमण्डल कैसा होना चाहिए, सेना कैसी होनी चाहिए, राजा के द्वारा अपनी सेना व सैन्याधिकारियों को कैसे सन्तुष्ट रखना चाहिए आदि विषयों का वर्णन प्राप्तव्य है। राजा को शिक्षा, वाणिज्य एवं कृषि का समुचित एवं उत्तरोत्तर विकास करते रहना चाहिए। राष्ट्रियधन का समुचित प्रयोग करना चाहिए। राष्ट्र की समुचित प्रकार से सुरक्षा एवं देखभाल करनी चाहिए। यथा-

कोशलो नाम मुदितः स्फीतो जनपदो महान्।

---

३० ऋग्०-१.११.७
३१ वाल्मीकिरामायण, बालकाण्ड, ६.६-९

निविष्ट: सरयूतीरे प्रभूतधनधान्यवान्।।
अयोध्या नाम नगरी तत्रासील्लोकविश्रुता।
मनुना मानवेन्द्रेण या पुरी निर्मिता स्वयम्।। [३२]

उपरोक्त विवेचन रामायणोपवर्णित राष्ट्रियभावना एवं राष्ट्रभक्ति का प्रबल परिचायक है।

महाभारत में वर्णित राष्ट्रियभावना-

इस ग्रन्थ में भी पर्याप्त मात्रा में राष्ट्रियभावना विषयक विचारोल्लेख प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ के प्रमुख पात्रों में अपने देश एवं अपनी प्रजा की रक्षा करने के भाव अनुभूतिगोचर होते हैं। राष्ट्र की रक्षा हेतु राजसत्ता की उपादेयता पर भी पर्याप्त प्रकाश मिलता है। राष्ट्र की सुख-समृद्धि हेतु सतत जागरूक राजा की प्रशंसा की गयी है, तथा राष्ट्र को आदर्श तथा अनुकरणीय राष्ट्र बनाने के प्रयत्नों को सराहना प्राप्त होती है।[३३] राजा को राष्ट्र की तथा राष्ट्र को राजा की सुरक्षा करने का सन्देश भी इस ग्रन्थ में प्राप्त होता है।[३४] महाभारत में देश के विभिन्न भागों में अवस्थित तीर्थों के प्रति आस्था रखने एवं उनके दर्शन करने की प्रेरणा देकर निश्चय ही अपने देशवासियों के हृदय में सम्पूर्ण देश के प्रति आत्मीयता एवं अखण्डनीयता के भाव भरे हैं, जो वर्तमानकालिक राष्ट्रियभावना के ही प्रतिरूप हैं।[३५] इसके अतिरिक्त-**एवं भारतवर्ष स्वं राजा स्वर्ग सुरेन्द्रवत्। शशास विष्णुना सार्धं गुप्तो गाण्डीवधन्वना।।**[३६]-इस श्लोक में भारतवर्ष के प्रयुक्त विशेषणभूत **स्व** पद से यह स्पष्ट व्यञ्जित हो जाता है कि भारतवर्ष के प्रति आत्मीयता का भाव उस समय भी था, जो राष्ट्रियता का समर्थ है।

रामायण तथा महाभारतोत्तरवर्ती संस्कृत साहित्य में वर्णित राष्ट्रीयभावना-

महाकवि भास के रूपकों में भी यद्यपि लोकानुरञ्जन की प्रधानता है तथापि वहाँ अनेक स्थलों पर भारतीय संस्कृति, सभ्यता एवं राष्ट्रियभावना का वर्णन द्रष्टव्य है। उनके द्वारा रचित दूतवाक्यम् नामक नाटक में राज्य की सुरक्षा एवं प्राप्ति के लिए शत्रुदमन करने तथा दीनता का परित्याग करने का सन्देश दिया है। यथा-**राज्यं नाम नृपात्मजैः सहृदयैर्जित्वा रिपून् भुज्यते, तल्लोके न तु याच्यते न तु पुनर्दीनाय वा दीयते।।**[३७] तथा पञ्चरात्रम् में क्षत्रियों की समृद्धि को सायकाधीन बताया है।[३८] कालिदासकृत ग्रन्थों में उनका भारत की भूमि के प्रत्येक भाग से प्यार लक्षित होता है। रघुवंश महाकाव्य में उन्होंने लिखा है कि रघुवंशी राजा अपनी प्रजा की भलाई के लिए सतत जागरूक रहते थे, फलस्वरूप उनकी प्रजा भी रघुवंशी राजाओं को अपना पिता मानती थी।[३९] कालिदासकृत ग्रन्थों में राष्ट्रियभावना के साथ ही साथ समग्र विश्व की मङ्गलकामना का भी निवास रहा है। उन्होंने समग्र विश्व में श्री

---

३२ वा०रा०, बालकाण्ड-५.५-६, ६.१-२८, ७.१-२४ तथा अयोध्याकाण्ड-३.३८-४५
३३ महा०भा०, आदिपर्व-१०३/११, १०४/४४-४५, शान्तिपर्व-६७/१-१७
३४ शान्तिपर्व, अध्याय-६७-७१, ८७-९०, १००-१०३, १२०
३५ वनपर्व, अध्याय-८१-९०
३६ आश्वमेधिक पर्व-१४-४७
३७ दूतवाक्यम्-१.२४
३८ बाणाधीना क्षत्रियाणां समृद्धिः। पञ्चरात्रम्-१.२४
३९ रघुवंशम्-१.५-३०

एवं सरस्वती के समन्वय की कामना की है। उन्होंने प्रार्थना की है कि संसार में सभी व्यक्ति सुखी हों तथा सभी की कामनाओं की पूर्ति हो। वे सभी को खुश देखना चाहते थे।[४०]

विशाखदत्तप्रणीत मुद्राराक्षसम् में उदात्त राष्ट्रियभावना का निदर्शन प्राप्त होता है वहाँ चन्द्रगुप्त की दीर्घायु के लिए प्रार्थना की गयी है कि वे चिरकाल तक जीवित रहें तथा भारतभूमि की रक्षा करें।[४१] भवभूति की धारणा है कि राजा को चाहिए कि वह अपने राष्ट्र की रक्षा तथा प्रजा के परिपालन के प्रति सदैव जागरूप एवं दृढ़सङ्कल्प रहे। उनका मत था कि लोग परस्पर मिलकर रहें, उनमें आपस में द्वेष न हो तथा चारों ओर सुख ही सुख हो। जैसा कि अधोलिखित श्लोक में द्रष्टव्य है-

शिवमस्तु सर्वजगतां परहितनिरता भवन्तु भूतगणाः।
दोषाः प्रयान्तु शान्तिं सर्वत्र सुखीभवतु लोकः॥[४२]

भवभूति ने उत्तररामचरितम् में राम के माध्यम से यह सन्देश दिया है कि राजा को किस प्रकार अपनी प्रजा के हित के लिए अपने सुख, प्रेम इत्यादि यदि त्याग भी करना पड़े तो उसे पीछे नहीं हटना चाहिए।[४३] अनर्घराघवम् में विश्वामित्र-दशरथ संवाद के प्रसङ्ग में नाटककार ने लिखा है कि राजा के पुत्र का वास्तविक प्रयोग तो राष्ट्रहित के लिए है, उसके जन्मदाता के हिस्से में तो लालन-पालन का क्लेश ही होता है। मिथिला नगर में शान्ति, पुष्टि, सुख, वैभव एवं समृद्धि को पाकर वह प्रसन्नता का अनुभव करता है।[४४]

नैषधीयचरितम् में दमयन्ती स्वयंवर से पूर्व देवराज इन्द्रप्रेषित एक दूती दमयन्ती के पास आकर उसे स्वर्गाधिपति देवराज इन्द्र का वरण करने के लिए कहती है, परन्तु वह इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं करती है। क्योंकि उसकी दृष्टि में स्वर्गलोक की अपेक्षा भारतवर्ष ही श्रेयस्कर है। उसका कहना है कि स्वर्ग तो मात्र पूर्वोपार्जित पुण्यों का परिणाम है, उपार्जित पुण्यों के क्षीण होने पर जीव को पुनः भूमि पर आना पड़ता है। मनुष्य भूमि पर न केवल पूर्वपुण्योपार्जित सुखोपभोग कर सकता है अपितु उसे अपने भविष्य को सुधारने का पूरा अवसर भी मिलता है। दमयन्ती के माध्यम से भारतभूमि की प्रशंसा करते हुए महाकवि श्रीहर्ष ने यहाँ तक कह दिया है कि भारतभूमि तथा स्वर्ग में ठीक वैसा ही अन्तर है जैसा कि शर्करा और सिकता में होता है-

स्वर्गे सतां शर्म परं न धर्मा भवन्ति भूमाविह तच्च ते च।
शक्या मखेनापि मुदोऽमराणां कथं विहाय त्रयमेकमीहे॥
साधोरपि स्वः खलु गामिताधो गमी स तु स्वर्गमितः प्रयाणे।
इत्यायती चिन्तयतो हृदि द्वे द्वयोरुदर्कः किमु शर्करे न॥[४५]

इन दोनों श्लोकों में राष्ट्रप्रेम एवं राष्ट्रियभावना का निदर्शन प्राप्त होता है। दमयन्ती अपनी भारतभूमि को स्वर्गलोक से भी श्रेष्ठ मानती है।

शिवराजविजयम् नामक उपन्यास में देशभक्ति एवं राष्ट्रियभावना परिपूर्ण महाराज शिवाजी के राष्ट्रकल्याणकारक राजनैतिक कार्यकलापों का बहुत ही सुन्दर वर्णन है। यवनों के अत्याचार से भारतीय संस्कृति

---

४० सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु। सर्वः कामानवाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु॥ विक्रमोर्वशीयम्-५.२५
४१ मुद्राराक्षसम्-७.१९
४२ मालतीमाधवम्-१०.२५
४३ स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि। आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥ उत्तररामचरितम्-१.१२
४४ ममकारो हि राजपुत्रेषु राज्ञामुपलालनक्लेशाय केवलम्। उपयोगस्तु प्रजानाम्॥ अनर्घराघवम्-१.३९ के पश्चात्।
४५ नैधषीयचरितम्-६.९८-९९

सङ्कटापन्न थी, नारी जाति असुरक्षित थी, वेदों एवं धार्मिक ग्रन्थों को ध्वस्त किया जा रहा था, तीर्थों की पावन मर्यादा का विनाश हो रहा था, उस समय यवनों के अत्याचारों के विरुद्ध शिवाजी, गौरसिंह, रघुवीरसिंह इत्यादि ने मिलकर यवनों (देशद्रोहियों) को मृत्यु के घाट उतारा एवं युद्ध में परास्त किया।[४६] इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ राष्ट्रियभावना से ओत-प्रोत एवं राष्ट्रियभावना का सन्देशवाहक है।

महर्षि दयानन्द जी सरस्वती के जीवनचरित पर आधारित दयानन्ददिग्विजयम् महाकाव्य राष्ट्रिय भावनाओं का भण्डार है। ग्रन्थानुसार वेदज्ञान ऐसा सूर्य है जो अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर करके नव प्रभात लाने में समर्थ है, अधर्म, कलह, पाखण्ड आदि से रक्षा करने वाला है।[४७] यहाँ भारत राष्ट्र की दुर्दशा का भी उल्लेख प्राप्त होता है। राष्ट्ररक्षकों को राष्ट्रभक्षकों के लिए कार्य करता देखकर ग्रन्थकार द्वारा अतीव खिन्नता को प्रकट किया गया है। भारतीयता को हेयदृष्टि से देखने वाले भारतीयों के प्रति आश्चर्य एवं दु:ख प्रकट किया गया है, और इस सबके निवारणार्थ परमपिता परमेश्वर से प्रार्थना भी की गयी है कि परमात्मा उनमें उत्साह तथा आत्मसम्मान की भावना को भरे। यथा-

देशस्याधोगतिं वीक्ष्य पश्चात्तापपरो मुनि:। नितरामुन्नतौ तस्य मन: स्वीयं न्यवेशयत्॥
दुर्दशा दुर्दशां यातु सुदशाऽऽयातु भारतम्। इति प्रार्थितवानीशमात्मोत्तेजनया यति॥[४८]

भारतगीतिका में पारस्परिक वैर तथा प्रदेशभेद को राष्ट्रप्रेम के लिए घातक बताया गया है।[४९] सत्याग्रहगीता में पराधीनता को देश की हीनता, दु:खों, दरिद्रता एवं दोषों का कारण बताया गया है तथा साथ ही साथ पराधीनता से मुक्ति पाने की प्रेरणा भी दी गयी है। राष्ट्रिय स्वाधीनता को देश का अभीष्टतम लक्ष्य मानते हुए उसकी प्राप्ति हेतु निरन्तर प्रयत्नशील रहने का सन्देश हमें इस काव्यकृति में प्राप्त होता है।[५०] गाँधीगीता में सन्देश दिया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने अन्त:करण में व्याप्त दुर्भावों का परित्याग कर देना चाहिए क्योंकि दुर्भाव ही आन्तरिक कलह का हेतु है।[५१] यहाँ सन्देश दिया गया है कि राष्ट्ररिपु को यथाशीघ्र नष्ट कर देना चाहिए।[५२] साथ ही साथ **राष्ट्रकार्यार्थमैक्यं हि सर्वेषां सुखदायकम्** इस कथन के माध्यम से यह सन्देश दिया गया है कि यदि राष्ट्र को सुखी एवं समृद्ध बनाना है तो राष्ट्रसम्बधी कार्यों में लोगों में आपसी मतभेद नहीं होना चाहिए, यदि मतवैभिन्य होगा तो वे देश के विकास में पूर्ण सहयोग नहीं दे सकते।

संक्षेपत: हम कह सकते हैं कि संस्कृतवाङ्मय में अनेक स्थलों पर राष्ट्रप्रेम, राष्ट्रभक्ति एवं राष्ट्रियभावना विषयक विचारधारा प्राप्तव्य है। यदि देश को विकासोन्मुखी बनाना है तो हमें भाषा-भेद, जाति-भेद, ऊँच-नीच इत्यादि भेदों का परित्याग करना होगा तथा एकमत एवं एकजुट होकर देश के विकास के लिए प्रयत्न करना होगा।

---

४६ शिवराजविजयम् पृ०-३८-४७, ६८-७०, ७३-११८

४७ दयानन्ददिग्विजयम्-१.२०-३३

४८ दयानन्ददिग्विजयम्-५.६६-६७

४९ अलं भारतीया मतानां विभेदै:, अलं देशभेदेन वैरेण चालम्। अयं शाश्वतो धर्म एको धरायाम्, न संभाव्यते धर्मतत्त्वे भेद:॥

५० तथापि देशभक्त्याहं जातास्मि विवशीकृता। अत एवास्मि तद् गातुमुद्यता मन्दधीरपि॥ स०गीता०-१.३
निर्धनत्वाज्जनुर्भूमे: पारवश्याद्य बान्धवा:। तिरस्कृता भवन्तीति प्राज्ञेन किल निश्चितम्॥ वही, १.२४

५१ कलहं वै स्वकीयेषु नैव कुर्यात्कदाचन। कलहो राष्ट्रनाशाय भवतीति सुनिश्चितम्॥ गान्धीगीता-३.१८

५२ गान्धीगीता-३.३५

संस्कृतसाहित्य में राष्ट्रमङ्गलकामना के साथ अन्ताराष्ट्रियमङ्गलकामना विषयक विचारधारा भी प्राप्त होती है, जिसका अनुसरण करके भ्रातृभाव एवं विश्वबन्धुत्व की भावना को प्रबल किया जा सकता है।

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०१० अङ्क १३ (पृ०१८८-१९७)

महर्षिदयानन्दप्रतिपादितानां षोडशसंस्काराणां व्यक्तित्वविकासे योगदानम्

डॉ. कृष्णा आचार्य[1]

मानवजातेर्विकासाय महर्षिणा स्वामिदयानन्देन वैदिकसाहित्यस्य सारभूतात्मकानि तत्त्वानि स्वसाहित्येप्रतिपादितानि सन्ति। तेषु तत्त्वेषु वैदिकसंस्कारा अन्यतमाः सन्ति। संस्कारो हि नामगुणान्तराधानं भवति। संस्कारमाध्यमेन अनपेक्षिता दुर्गुणा निराक्रियन्ते येन सद्गुणानां विकासो भूत्वा मानवस्य विकासो भवति।

संस्काराणां सङ्ख्या विषये गृह्यसूत्रेषु, धर्मसूत्रेषु, स्मृतिग्रन्थेषु च प्रायशो मतवैभिन्नं प्राप्यते, अस्य मतवैभिन्नयस्य निश्चितसङ्ख्यास्थापनमस्ति कठिनकार्यम्। अतोऽत्रास्माभिः स्वामिदयानन्दवर्येण प्रोक्ता वैदिकसंस्कारास्तेषां स्वरूपञ्च विवेचितम्। स्वामिदयानन्दमहाभागेन षोडश संस्कारैव स्वीकृता, येषां निरूपणं निजरचनायां ''संस्कार विधौ'' एवाक्रियत। पण्डितभीमसेनशर्मणा अपि स्वरचितायां **षोडशसंस्कारविधौ** आगर्भाधानात् मृत्युपर्यन्तं षोडश संस्कारा एव स्वीकृता।[2]।

ते च षोडशसंस्कारा इमे सन्ति-१. गर्भाधानम्, २. पुंसवनम्, ३. सीमन्तोनयनम्, ४. जातकर्मः, ५. नामकरणम्, ६. निष्क्रमणम्, ७. अन्नप्राशनम्, ८. कर्णवेधः, १०. उपनयनम्, ११. वेदारम्भः, १२. समावर्तनम्, १३. विवाहः, १४. वानप्रस्थः, १५. संन्यासः, १६. अन्त्येष्टि कर्म।[3]

केषाञ्चिद् विदुषां मतमिदं यत् स्वामिदयानन्देनोररीकृतोऽन्त्येष्टिः संस्कारः परं मतभिद त्रूटिपूर्णं तेषां विदुषाम्, यतः स्वामिमहाभागेनान्त्येष्टि-कर्म-लिखितम्। अनेन सहैवास्यविधौ लिखितं यदन्त्येष्टिकर्म तदभिधीयते यत् शरीरस्यान्तिमः संस्कारो भवति। एषां संस्काराणां समासतोवर्णनमन्त्रक्रियते।

गर्भाधानसंस्कारः-

गर्भाधानं तत् कथ्यते यदा गर्भास्याऽऽधनं वीर्यस्थापनं स्थिरीकरणं यस्मिन् येन वा कर्मणा तद्गर्भाधानम्।[4]

अर्थात् वीर्यस्थापनं गर्भाशये येन कर्मणा स्थिरं भवति तद् गर्भाधानम् भवति भावोऽयं एकः पुरुषो यया क्रियया स्त्रियां निजवीर्यं स्थापयति, सा क्रिया गर्भाधानसंस्कार उच्यते।

यथा बीजः क्षेत्रे चोत्तमे सति तदान्नादयः पदार्था अपि उत्तमा भवन्ति, तथैवोत्तमाभ्यां बलवद्भ्यां स्त्रीपुंभ्यां सन्ताना अत्युत्तमा भवन्ति।

स्वामिनो दयानन्दस्य मतानुसारेण पूर्णयुवावस्थापर्यन्तं ब्रह्मचर्यस्य पालनं विद्याभ्यासश्चावश्यमस्ति न्यूनातिन्यूनं षोडशवर्षीयायाः कन्यया विवाहः पञ्चविंशतिवर्षीयेण पुरुषेण सह भवितव्यम्। अस्मादप्यधिकायुष्मन्तौ भवेयुश्चेदुत्तमता सन्तानो भवति, यतः षोडशवर्षं बिना गर्भस्य धारणपोषणयोश्च सामर्थ्यं कदापि न भवति

---

१ एसोशियेट प्रोफेसर, संस्कृत-विभाग, महर्षि दयानन्द वि०वि० रोहतक

२ संस्कारविधिः-वैदिक यन्त्रालय अजमेरात् प्रकाशिता।

३ संस्कारविधिः पृ०-३

४ संस्कारविधिः पृ०-३१

पञ्चविंशति वर्षं विना च पुरुषस्य वीर्यं नोत्तमं भवति। अस्मिन् विषये प्रमाणरूपेण सुश्रुतस्य श्लोका उपस्थिताः स्वामिमहाभागेन-

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भंकुक्षिस्थः सविपद्यते।।[५]

स्वामिमहोदयः कथयति यत् परमोवैद्यः सुश्रुतकारो गर्भाधानस्य कालोऽयमेव मन्यते। यावत् सामर्थ्यं पुरुषस्य पञ्चविंशतितमे भवति तावदेव सामर्थ्यं कन्यायाः षोडशतमे वर्षे भवति। एवं सति पुरुषे मेधा विकसति, या व्यक्तित्व विकासस्य प्रमुखावयवा वर्तते।

पुंसवन संस्कारः-

पुंसवनसंस्कारस्य कालो गर्भस्थितौ जातायां सत्यां तत्समयात् द्वितीये तृतीये वा मासेऽस्ति। तस्मिन् समयैव पुंसवनसंस्कारः कर्त्तव्यो येन पुरुषत्वस्य यद्वा वीर्यस्य लाभो भवेत्। यावद् बालकस्योत्पत्तिर्नभवेत् तावत् कालपर्यन्तं ब्रह्मचर्यस्य पालनमावश्यकं येन व्यर्थं वीर्यस्य नाशो न भवेत्। भोजनच्छादनं शयन-जागरणादिकं व्यवहारसत्नैव प्रकारेण कुर्यात् येन वीर्यं स्थिरं भवेद् यतोहि अन्या सन्ततिरप्युत्तमा भवेत्।

ब्रह्मचर्येण मनुष्ये शक्तिरूर्जा च विकसति। शक्तिरियं व्यक्तित्वस्य विकासे अतिशयेनसहायिका वर्तते।

पुंसवनशब्दस्य व्याख्यां कुर्वता वीरमित्रोदयेन संस्कारप्रकाशे एवं लिखितम्- **पुमान् प्रसूयते येन कर्मणा पुंसवनमीरितम्।**

अर्थात् येन पुरुषो जायते गर्भधारणस्य च निश्चये सति क्रियमाणः संस्कारः पुंसवनं कथ्यते[६]।

सीमन्तोनयन संस्कारः-

येन गर्भिण्याः स्त्रिया मनः सन्तुष्टं, आरोग्यं, गर्भश्च स्थिरं, उत्कृष्टश्च भवेत् प्रतिदिनञ्च वर्धेत, तेन एष सीमन्तोनयनसंस्कारोऽभिधीयते।

अस्य संस्कारस्य कालविषये स्वामिना संस्कारविधौ लिखितं यत् गर्भमासाद्यतुर्थे मासे शुक्लपक्षे यस्मिन् दिवसे मूलादिभिः पुरुषनक्षत्रैर्युक्तश्चन्द्रमा भवेत् तस्मिन् दिने सीमन्तोनयनसंस्कारो विधातव्यः।

अस्य संस्कारस्याधारभूतसिद्धान्तोऽयमस्ति यत् गर्भिण्याः स्त्रिया विचाराः, मानसिकीशक्तयः, भोजनाच्छादनानि, स्वभावकर्मादीनि सर्वाणि गर्भस्थे शिशौ निजप्रभावं कुर्वन्ति। अतः शिशौ मानसिकीं दृढ़तामानेतुं गर्भिण्याः स्त्रिया मनो दृढ़ं शान्तञ्च कर्तुमयं संस्कारः कर्त्तव्यः। संस्कारोऽयं मनो द्रढयितुं शान्तव्यक्तित्वञ्च विकसितुं सहायकोऽस्ति।

जातकर्म संस्कारः

संस्कृत व्याकरणानुसारं **जातकर्म** शब्दो **जनी प्रादुर्भावे** इति धातुना **क्त** प्रत्यये कृते सति निष्पद्यते। षष्ठी समासोऽयं **जातस्य कर्म जातकर्म** इति।

अर्थात् सन्ताने उत्पन्ने सति यत् कार्यं क्रियते तत् जातकर्म कथ्यते।

स्वामिदयानन्दस्य मतेन स्त्रियाः सुखपूर्वके प्रसवे सति यो रक्षकः संस्कारः सः जातकर्मसंस्कारो भवति।

---

५ सुश्रुतशरीरस्थानम्-१०/४८.
६ वीरमित्रोदयः संस्कार प्रकाशः, पृ०-१६६

स्वामिदयानन्देन संस्कारविधौ लिखितमस्ति यत् प्रसवकाले जलं गृहीत्वा मन्त्रैः सह गर्भिण्याः शरीरे जलस्य मार्जनं कुर्यात्। तदनु **ओ३म् अवैतु पृश्निशैवल...** मन्त्रं जपेत्।[७] पुनः जलस्य मार्जनं कुर्यात्, सन्ताने उत्पन्ने सति धात्री-आदयः शिशुं जरायुतः पृथक् कृत्वा वस्त्रेण परिमार्ज्य पित्रे दद्यात्। पित्राऽपि तस्य शिशोः नालं छित्त्वा स्नानादिना च तं पवित्रं कृत्वा यज्ञमण्डपे नीत्वा सामान्यं यजेत्। तदनु घृतमधुनी प्राशयेत्। तत्पश्चात् व्रीहियवान् जले शोधयित्वा संपिष्य एभिर्मन्त्रैः सह शिशोः मुखे एवं बिन्दु पातयेत्[८] तत्पश्चात् पिता शिशोः कर्णद्वये इमान् नवसंख्याकान् मन्त्रान् उच्चरयेत।[९] तत्पश्चात् पिता बालकस्य स्कन्धे हस्तं निधायेमान् त्रीन् मन्त्रान् पठेत्।[१०] पुनः शिशुं जन्मस्थाने नीत्वा विशेषमन्त्रान् पठित्वा जलेन मार्जनं कुर्यात्। पुनः विशेषमन्त्रैराशीर्वचनो दत्त्वा पिता शिशोः शिरः आघ्रायोष्णेन जलेन स्त्रियाः स्तेन एकेन मन्त्रेण[११] परिमार्ज्य विशेषान् मन्त्रान् पठित्वा शिशु दुग्धं पाययेत्।

अस्य संस्कारस्य उद्देश्य एकतस्तु स्त्रियाः सुखपूर्वकं प्रसवक्रियया सह वर्तते। अपरः शिशोः शारीरिकरक्षार्थं तस्मिन् शिशौ चास्तिकतायाः बीजवपनार्थमस्ति।[१२] शिशोः शारीरिकरक्षा आदित एव करणीया, आदितो यदि शिशोः रक्षा न क्रियते चेत् तदा तस्य शारीरिकविकासो न संभवेत्। अस्ति शारीरिकविकासो व्यक्तित्वं विकासस्य प्रमुखमङ्गम्।

नामकरण संस्कारः-

नाम्नः करणम् इति नामकरणम् अर्थात् नामरक्षणं नामकरणमभिधीयते। स्वामिदयानन्देन "संस्कार विधौ" निर्दिश्यते यत् जन्मनि जाते शिशोर्नाम सार्थकं कुर्यात् इदमेव नामकरणं कथ्यते।[१३]

यस्मिन् दिने बालको जायेत् ततः प्रभृति दशदिनानि विहायैकादशे, एकाधिकशततमे वा द्वितीयवर्षस्यादौ वा यस्मिन् दिने बालकस्य जन्माभवत् शिशौर्नाम कुर्यात्। नामरक्षणाय यद् दिनं निश्चितं भवेत् तस्मिन् दिनेऽतिप्रसन्नतयेष्टमित्राणान् हितैषिणो जनांश्चाहूय यथाविधिं सत्कृत्य क्रियायारम्भो यजमानो बालकस्य पिता ऋत्विक् कुर्यात्।

उत्तमं सार्थकं नाम सदैव मनसि शुभसंस्कारान् प्रेरयति, शिशुञ्च उत्तमानि कर्माणि कर्तुञ्च प्रेरयति। अनेन संस्कारेण व्यक्तिर्निज नाम्नोऽर्थानुसारं निजगुणान् वर्धयति।[१४] यो व्यक्तित्व विकासे सहायको वर्तते।

निष्क्रमण संस्कारः-

अस्मिन् संस्कारे बालको गृहात् बहिर्नीत्वा तत्र भ्राम्यते, यत्रस्थो वायुः स्थानञ्च शुद्धं भवति।[१५] शास्त्रानुसारं चतुर्थे मासे तु भ्रमणमवश्यं कारयितव्यम्। शास्त्रेण शिशोः निष्क्रमणसंस्कारस्य कालद्वयं निश्चितम्-एकः

---

७ संस्कारविधिः-जातकर्मप्रकरणम्।
८ ओ३म् इदमाज्यमिक्ष्मत्र, संस्कारविधिः, जातकर्मप्रकरणम्।
९ ओ३म् मेघा ते-संस्कारविधिः, जातकर्मप्रकरणम्।
१० ओ३म् इन्द्र श्रेष्ठानि-संस्कारविधिः, जातकर्मप्रकरणम्।
११ ओ३म् इडासिमैत्रावारुणी-संस्कारविधिः, जातकर्मप्रकरणम्।
१२ संस्कार चन्द्रिका, पृ०-३४०
१३ संस्कारविधिः, नामकरण प्रकरणम्।
१४ संस्कार चन्द्रिका, पृ०-३७५
१५ संस्कारविधिः, निष्क्रमण प्रकरणम्।

शिशोः जन्मपश्चात् तृतीयमासस्य शुक्लपक्षे द्वितीयश्च चतुर्थे मासे (यस्मिन्) तिथौ बालकस्य जन्माभवत् तस्यां अयं संस्कारो विधातव्यः।

यदा संस्कारः कर्त्तव्यस्तदा प्रातःकाले सर्वे पारिवारिकजनाः शुद्ध जलेन स्नात्वा नवीनानि वस्त्राणि परिधाय दम्पती शिशुं गृहीत्वा यज्ञशालायामागच्छताम्। पत्नी पत्युः दक्षिणत आगत्य शिशोर्मस्तकमुत्तरदिशाभिमुखं कृत्वा शिशुं पतये दद्यात्, स्वयं च वामत आगत्योपविशेत्। ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाया अष्टौ मन्त्रान् स्वस्तिकवाचनशान्ति प्रकरणयोश्च मन्त्रान् सामान्यं यजेत्।[१६] तदनन्तरं पतिस्त्रीन् मन्त्रान् पठित्वा शिरः स्पर्शेत्।[१७] बालिका चेत् पिता मौनी भूत्वा शिरः स्पर्शेत्। अन्ते च पिता एकं मन्त्रमुच्चार्योत्थाय[१८] च सूर्यं दर्शयेत्।

निष्क्रमणसंस्कारेण बालकाय निर्भयताया एकाकीविचरणस्य चोपदेशोऽस्ति। बालको यशस्वी भवेदिति हेतोः सूर्यदर्शनं कार्यते। बालको यदीमानी कर्माणि करिष्यति तर्हि भविष्यति जीवने पापकर्मेभ्योरहितः।[१९] सूर्यचन्द्रमसोर्दर्शनेन नेत्रज्योतिर्वर्धते, या नेत्रज्योतिर्व्यक्तित्वविकासे सहायकतमा वर्तते।

अन्नप्राशन संस्कारः-

अन्नप्राशनस्याभिप्रायोऽस्ति-जीवने सर्वप्रथममन्नभक्षणम्। तदैवान्नप्राशनसंस्कारः कर्त्तव्यो यदा बालकशक्तिरन्न पाचनयोग्या भवेत्- **षष्ठे मासेऽन्न प्राशनम्।**[२०]

षष्ठे मासि बालकमन्नं प्राशयेत्। यस्मिन् दिने बालकस्य जन्म भवेत् षष्ठे मासि तस्मिन् दिने (तिथौ) घृतमिश्रितं भातं दधिं च मेलयित्वा बालकं खादयेत्।

दधिंघृतमिश्रितमन्नं प्राशयेत्।[२१]

यदा तण्डुलानि सुष्ठु पक्वानि भवेयुस्तदा तानि शीतलानि कृत्वा पश्चात् होमस्थाल्यां निधाय इमान् पञ्चमन्त्रानुच्चार्येत्।[२२]

चूड़ाकर्म संस्कारः-

चूड़ाकर्म संस्कारः केशच्छेदनसंस्कारोऽपि कथ्यते। अयं संस्कारो बालकस्य जन्मनस्तृतीये वर्षे प्रथमे वर्षे वा कर्त्तव्यः। उत्तरायणकाले शुक्लपक्षे यस्मिन् दिने आनन्दमङ्गलं भवेत् तस्मिन् दिने विधातव्योऽयं संस्कारः।

चत्वारि मृण्मयानि भाण्डानि (शरावे इति हिन्दीभाषायां) गृहीत्वा, एकस्मिन् तण्डुलानि द्वितीयस्मिन् यवाः, तृतीयस्मिन् माषाश्चतुर्थे च शरावे तिलानि पूरयित्वा वेद्या उत्तरदिशायां रक्षेत्। तत्पश्चात् विनियोगान् मन्त्रानुचार्य घृतस्य पञ्चाहुतीर्दद्यात्।

---

१६ सामान्य प्रकरण, यक्ष, संस्कार विधिः
१७ ओ३म् अङ्गादङ्गात्-संस्कारविधि, निष्क्रमण प्रकरणम्।
१८ ओ३म् अस्मे-संस्कारविधिः, निष्क्रमण प्रकरणम्।
१९ संस्कार चन्द्रिका, पृ०-४०२
२० आश्वलायन गृह्यसूत्रम्-१/१६/१
२१ आश्वलायन गृह्यसूत्रम्-१/१६/५
२२ ओ३म् प्राणाय त्वया-संस्कारविधिः अन्नप्राशन-प्रकरणम्।

एतावतीं क्रियां कृत्वा कर्मकर्त्ता परमात्मानं ध्यात्वा नापितं प्रति प्रथमं विलोक्य-**ओ३म् आयमगन् सविता**[२३] इमं मन्त्रं उच्चार्य पिता बालकस्य पृष्ठभागे उपविश्य किञ्चिदुष्णं किञ्चित् शीतञ्च जलं पात्रद्वये गृहीत्वा **ओ३म् उष्णेन वाय।**[२४]

इमं मन्त्रं उदित्वा पात्रद्वयस्य जलमेकस्मिन् पात्रे मेलयेत्। तत्पश्चात् किञ्चिज्जलं किञ्चिन् नवनीतं दधिमालईं गृहीत्वा शिशोः शिरसः केशेषु वारत्रयं हस्तं भ्रामयित्वा केशान् आर्द्रान् कृत्वा केशप्रसाधनिकां गृहीत्वा केशान् प्रसाध्य एकत्रितान् कुर्यात्। पुनः **ओ३म् ओषधे...।**[२५]

मन्त्रमिममुच्चार्य त्रीणि दर्भाणि गृहीत्वा दक्षिणहस्तस्य केशसमूह स्पृशेत्, तानि दर्भाणि च समीपे नीत्वा सकुशान् (सदर्भान्) तान् केशान् कृन्तेत। तत्पश्चात् कृन्ततस्तान् केशान्, दर्भाणि, सर्वाणि च वृक्षपत्राणि शिशुपिता एकस्मिन् शरावे रक्षेताम् स्थापयेताम् वा कश्चित् केशश्छेदनक्रियायामितस्ततः पतितो भवेत् तं गोमयेनोत्थाय शरावे रक्षेत्।

आयुर्वेदविचारेणापि शिरसः केशच्छेदनं स्वास्थ्यायोत्तममस्ति।

पापोशमनं केशनखरोमापमार्जनं हर्षं लाघवं सौभाग्यकरं उत्साहवर्धनम्॥[२६]

अर्थात् केशनखरोमाणि दूरीकरणेन मनुष्यो हृष्यति, सो लाघवमनुभवति, सौभाग्यमनुभवति, उत्साहश्च तस्य वर्धते। उत्साहादीनि व्यक्तित्व विकासस्य प्रमुखानि अङ्गानि सन्ति।

कर्णवेध संस्कारः-

तृतीये पञ्चमे वा वर्षे कर्णवेधसंस्कारो विधातव्यः। अस्मिन् संस्कारे शिशोर्नासिका कर्णौ च विध्येते। यद्दिनं बालकस्य कर्णयोः नासिकायाश्च वेधनं यद्वा छेदनं निश्चितं भवेत्, तस्मिन् दिने प्रातः बालकं शुद्धजलेन स्नानं कारयित्वा वस्त्रालङ्काराणि च धारयित्वा शिशुमाता शिशुं यज्ञशालायामानयेत्। यज्ञविधिमनु बालकं पुरवः कानिचित् भक्ष्यपदार्थानि क्रीडनकानि वा रक्षेत्। तदनु **ओ३म् भद्रं कर्णेभिः शृणुयामः।**[२७]

मन्त्रमिमं पठित्वा चरक सुश्रुतवैद्यग्रन्थानां ज्ञाता सद्वैद्येन कर्णं नासिकां च छेदयेत्। अनेन मन्त्रेण सर्वा नाडी-आदीः सम्यग् ज्ञात्वा दक्षिणं कर्णम् **ओ३म् वक्ष्यन्यती वेदा गनीगन्ति०**[२८] अनेन मन्त्रेण वामं कर्णं छेदयेत्। तदनु स एव सद्वैद्यस्तेषु छिद्रेषु शलाकां निक्षिपेत् येन छिद्राणि पुनः पूर्णानि न भवेयुः ईदृशीं चौषधिं तेषु छिद्रेषु लिम्पेत् येन कर्णौ व्रणपूर्णौ न भवेताम् शीघ्रं च स्वस्थ्यौ सुष्ठु वा भवेताम्।

रक्षाभूषणीमितं बालस्य कर्णो विध्यते।[२९]

भावोऽयं यद्बालकस्य कर्णौ उद्देश्य-द्वयेन विध्येते-एको बालकस्य रक्षार्थं कर्णवेधनेनाण्डवृद्धिर्न भवति। अण्डस्य वृद्धौ सत्यां व्यक्तेः शरीरं कुरूपं जायते। कुरूपत्वं व्यक्तित्वविकासेऽवरोधकमस्मि। इत्थं कर्णवेध संस्कारोऽपि व्यक्तित्वविकासे सहायकोऽस्ति।

---

२३ संस्कारविधिः, चूड़ाकर्म प्रकरणम्।
२४ संस्कारविधिः, चूड़ाकर्म प्रकरणम्।
२५ संस्कारविधिः, चूड़ाकर्म प्रकरणम्।
२६ सूत्रस्थानम्, चरक-५.९३
२७ संस्कारविधिः, कर्णवेध प्रकरणम्।
२८ संस्कारविधिः, कर्णवेध प्रकरणम्।
२९ चिकित्सास्थान् सुश्रुत-१९

उपनयन संस्कारः-

उपनयनसंस्कारे मुख्यकर्म यज्ञोपवीतधारणमस्ति। पृथक्-पृथक् जातीनां बालकेभ्यो यज्ञोपवीतसंस्कारस्यायुः पृथक्निर्धारितमस्ति। यस्मिन् दिने बालको जातस्तस्मादष्टमे वर्षे, ब्राह्मणस्य बालकस्यैकादशे वर्षे, क्षत्रियस्य बालकस्य द्वादशतमे वर्षे वैश्यबालकस्य यज्ञोपवीतं विदध्यात्। ब्राह्मणस्य वसन्ततौं, क्षत्रियस्य ग्रीष्ममर्तौ, वैश्यस्य च शरदर्तौ यज्ञोपवीतं कुर्यात्। यदा बालकस्य यज्ञोपवीतकरणं निश्चितं भवेत्, तस्मात् दिनत्रयं पूर्वं एकदिनपूर्वं वा बालकेनोपवासः करणीयः। उपवासात् पूर्वं सर्वाः सामग्रयः एकत्रीकरणीयाः। उपनयनस्य दिवसे सर्वाः सामग्रयः उपकुण्डं निधाय बालकस्य शिरसः केशानां क्षौरकर्म कारयित्वा शुद्धजलेन स्नानं कारणीयम्। उत्तमानि वस्त्राणि परिधाप्य पिताऽऽचार्योवा बालकं मिष्ठान्नादीनि भोजयित्वा यज्ञमण्डपे यज्ञवेद्याः पश्चिमे भागे शोभने आसने पूर्वाभिमुखमुवेशयेत्। तत्पश्चात् कार्यकर्त्ता बालकस्य मुखेन-

ब्रह्मचर्यमागां ब्रह्मचार्यसानि।[३१]

एषां वचसामुच्चारणं कारयित्वा इमं मन्त्रं वाचयेत्- **ओम् येनेन्द्राय...**।[३२]

इमं मन्त्रमुच्चार्य तत्पश्चात् बालक आचार्यस्य सम्मुखमुपविशते, यज्ञोपवीतञ्च हस्ते गृहीत्वाऽऽचार्यो वामस्कन्धस्योपरि, कण्ठस्य समीपे शिरसा मध्ये निष्कास्य, दक्षिणहस्तस्य नीचैः कुक्षौ निस्सार्याकटि धारयेत्, संस्कारविधौ चोद्दिष्टानि विशेषमन्यानुच्चार्येत्।

अस्ति यज्ञोपवीतमेकमधिकारपट्टम्, यथा एको विद्याथी यावदवधिं **गाउन** इति वस्तुविशेषं न परिदधाति, स पदवीमुपाधिं वा न लभते। एको विधिवक्ता यावत् **गाउन** इति वस्त्रविशेषं न परिधत्ते तावत् न प्राप्नोति सो प्राड्विवाकस्य विधिवक्तृत्वस्य वाधिकारः। एवमेव यावदवधिं बालको यज्ञोपवीतं न धारयति तावत्पर्यन्तं न सः सन्ध्योपासनायाः, अग्निहोत्रस्य, विद्याध्ययनस्य, पित्रोराचार्यस्य च सेवायाः, अतिथिपूजायाः, दानादिकस्य चाधिकारं लभते। कृत्यानीमानि सर्वाणि व्यक्तित्वविकासे सहायकानि सन्ति। अतो विद्यते उपनयनसंस्कारस्य विशेषमहत्त्वम्।

वेदारम्भ संस्कारः

वेदस्य यद्वा ज्ञानस्य आरम्भः इति वेदारम्भः। एवं सः संस्कारो वेदारम्भसंस्कारोऽभिधीयते यस्मिन् गायत्रीमन्त्रस्य (तत्सवितुवरिण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो योनः प्रचोदयात्।) उपदेशादानन्तरं साङ्गोपाङ्गानां चतुर्णां वेदानां वेदेषु वर्णितानां विविध वैज्ञानिकविषयाणां अध्ययनाय नियमो धार्यते। सामान्यतः यद् दिनमुपनयनसंस्कारस्यास्ति तद् दिनमेव वेदारम्भसंस्कारस्यास्ति। परं यदि तस्मिन् दिने केनापि कारणेन वेदारम्भसंस्कारो न भवेत् अथवा उपनयनसंस्कारस्य दिवसे वेदारम्भसंस्कारस्य करणायेच्छा भवेच्चेत् अग्रिमे दिवसे वेदारम्भसंस्कारं कुर्यात्। अथ च द्वितीयं दिनमप्यानुकूलं न भवेच्चेत् वर्षे कस्मिंश्चिदपि दिवसे वेदारम्भसंस्कारं कुर्यात्।

ब्रह्मचारी यदा चतुरो वेदान् शब्दार्थसम्बन्धपूर्वकं ज्ञात्वाधीते तदैव ज्ञानवान् भवति। तस्मिन् ब्रह्मचारिणि दिव्यानि गुणानि निवसन्ति। सर्वे विद्वांसस्तं, स्निह्यन्ति। सः ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्येण प्राणान्, दीर्घजीवनं धारयित्वा दुःखानि क्लेशांच नाशयित्वा सम्पूर्णविद्यासु व्यापकतां, उत्तमां वाणीं, पवित्रात्मानं, शुद्धं हृदयं, परमात्मानं, श्रेष्ठप्रजां च धारयित्वा सर्वमनुष्येभ्यो हिताय सर्वाः विद्याः प्रकाशते।

---

३० संस्कारविधिः, सत्यव्रत, पृ०-२४४
३१ संस्कारविधिः, उपनयन प्रकरणम्।
३२ संस्कारविधिः, उपनयन प्रकरणम्।

समावर्त्तन संस्कारः-

समावर्त्तनस्याभिधेयोऽस्ति परावर्त्तनम्। सः संस्कारः समावर्तन संस्कारोऽभिधीयते यदा ब्रह्मचर्यव्रतं साङ्गोपाङ्गवेदविद्यायां, उत्तमां शिक्षां पदार्थविज्ञानञ्च पूर्णरीत्या प्राप्य गृहाश्रमं ग्रहीतुं विधानानुपूर्वकं विवाहं कर्तुं विद्यालयं त्यक्त्वा गृहं प्रत्यागमनं भवति।

यदा वेदारम्भस्य समाप्तिर्भवेत् तदा समावर्त्तनसंस्कारं कुर्यात्। सदैव पुण्यात्मभिः पुरुषैः सह व्यवहारे यदा राजाचार्यश्वसुर पितृव्यमातुलादीनामपूर्वागमनं भवेत् तदा विद्या अधीत्य ब्रह्मचर्यं च परिपाल्य ब्रह्मचारी गृहमागच्छेत्। ब्रह्मचारिणि गृहे आगते पादप्रक्षालनाय, मुखप्रक्षालनाय, आचमितुञ्च त्रिविधं जलं दत्त्वा शुभासने उपवेश्य दधिमधुघृतं च संमेल्य तत् शोभने पात्रे रक्षित्वा तस्मै ब्रह्मचारिणे मधुपर्कं दद्यात्।

शिक्षा समाप्य यदा शिष्यो गृहं प्रत्यागन्तुमिच्छति तदाऽऽचार्यस्तमुपदिशति-

सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवछेत्सीः।[33]

एवंविधोपदेशपालनेन व्यक्तित्वं पूर्णरूपेण विकसति, वर्धते च।

यो विद्वान् मातृमान् पितृमान् पुत्रो ब्रह्मचारी शिष्यः स्यात् सः स्वधर्मयुक्तं पितृस्थानिनं तमाचार्यमुत्तमे आसने उपवेश्य पुष्पमालां परिधाप्य प्रथमं गा दद्यात् पुनः वस्त्रधनादिकं दत्त्वा तमर्चयेत्। विशेष मन्त्रानुसारं ब्रह्मचारी आचार्येण समं निजपितुर्गृहमागच्छेत्। तत्र गृहे पितरौ बान्धवाश्च शोभने आसने उपवेश्य तं सत्कुर्यात्।

विवाह संस्कारः-

विवाह सः कथ्यते सदा पूर्णब्रह्मचर्यव्रतेन विद्या बलं च प्राप्य पूर्णरूपेण गुणकर्मस्वभावैस्तुल्ये परस्परं प्रीतियुक्तेभूत्वा सन्तानोत्पत्तये स्व-स्व वर्णाश्रमानुकूलोत्तमकर्माणि कर्तुं स्त्रीपुंसोः सम्बन्धो भवति।[34]

उत्तरायणे शुक्लपक्षे यस्मिन् दिने प्रसन्नता भवेत् तस्मिन् दिने विवाहः करणीयः। वधूवरयोः, कुल वास्तव्यस्थानं, शरीरं स्वभावश्च परीक्षणीयाः, द्वावेव च संज्ञानविवाहयोरिच्छुकौ भवेताम्। स्त्रियायुः वरस्यायुर्न्यूनातिन्यूनं सार्धं अधिकाधिकञ्च द्विगुणं भवेत्। परस्परं कुलमपि परीक्षणीयम्।

उत्तमरीत्या ब्रह्मचर्याश्रमे सर्वा विद्या पठित्वा गुरोराज्ञया स्नात्वा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्याः निजवर्णस्योत्तमलक्षणया स्त्रिया सह विवाहं कुर्यात्, परं ध्यातव्यं यत् यया स्त्रिया सह विवाहः करणीयोऽस्ति सा स्त्री मातु षट् वंशपरम्परासु पितुश्च गोत्रस्य न भवेत्। इदमपि विचारणीयं यत् अधस्तनेषु दशकुलेषु कन्यया सह कदापि विवाहं कुर्यात् कामं तानि कुलानि गोत्रादिपशुयुक्तानि धनधान्येन च सम्पन्नानि वा भवेयुः पुनः विवाहविधौवर्जनीयानि।

१. यस्मिन् कुले उत्तमक्रिया नास्ति। २. यत्रोत्तमपुरुषा न सन्ति। ३. यत्र कोऽपि विद्वान् न विद्यते। ४. यस्मिन् कुले शरीराणि लोमशानि सन्ति। ५. यस्मिन् कुले अर्शरोगोऽस्ति। ६. यत्र क्षयरोगोऽस्ति। ७. यत्रामाशय... विद्यते। ८. यत्र मूर्च्छारोगो वर्तते। ९. यस्मिन् कुले श्वेतकुष्ठं वर्तते। १०. सत्र च गलित कुष्ठं भवति।[35]

अपि च पीतवर्णां, अधिकाङ्गीं, रुग्णां लोमरहितां, लोमशां, वाचालां, पीतनेत्रां न कदापि विवाहं न कुर्यात् या कन्या नक्षत्रनामवती स्यात् न तामपि उपयच्छेत्। अष्टविधा विवाहा भवन्ति। यथाह मनुस्मृतौ- ब्राह्मो दैव आर्ष...

---

३३ तैत्तिरीयोपनिषद, शिक्षावल्ली, अनुवाक्-११

३४ संस्कारविधिः, विवाह प्रकरणम्।

३५ संस्कारविधिः, विवाह प्रकरणम्।

प्राजापत्यस्तथासुरः। गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः।[३६] ब्राह्मदैवार्षप्राजापत्येषु चतुर्षु विवाहेषु पाणिग्रहणे कृते सति स्त्रीपुंभ्यां या सन्ततय उत्पाद्यन्ते, ताः वेदादिविद्यया तेजस्विन्य आप्तपुरुषसमा भवन्ति। अतो मनुष्यैरूचितमस्ति यत् निन्दितविवाहैर्नीचप्रजा जायन्ते तेषां निन्दितविवाहनां त्यागं कुर्यात् यैश्चोत्तमप्रजाः जायन्ते तानोत्तमविवाहान् कुर्युः। इदमपि ध्यातव्यं शास्त्रेषु यद् विधिविधानं निर्दिष्टं तं पालयन् पाणिग्रहणं कुर्यात्।

सन्ति विवाह संस्कारेऽनेकविधयस्तेषां नैजं महत्त्वमस्ति यथा **मधुपर्कविधौ** पतिः कथयति, मदीयो व्यवहारो मधुमान् भवेत्, मदीय आश्रयो मधुमान् भवेत्, अहं वाचा मधुमद् वदामि, संसारे च मधुमान् भूत्वा वसेयम्।[३७]

विवाहेन जनः स्थिरः, शान्तः, शीलवान्, नियमपालकश्च भवति, इमे गुणाः व्यक्तित्वविकासे सहायका सन्ति।

गृहाश्रम संस्कारः-

गृहाश्रमसंस्कारोऽस्ति यत्र ऐहिकपारलौकिकसुखस्य प्राप्तये उपगम्य निजसामर्थानुसारं परोपकारकरणं नियतकाले च यथाविधीश्वरोपासनाकरणं गृहकृत्यकरणञ्च। सत्यधर्मे एव तन-मन-धनानां यापनं धर्मानुसारं च सन्तानोत्पादनम्।

वानप्रस्थसंस्कारः-

"सः संस्कारो" वानप्रस्थः संस्कारः कथ्यते यदोपगम्य सन्तानानि चोत्पाद्य पूर्ण ब्रह्मचर्येण पुत्रमपि विवहेत्, पुत्रस्यापि पुत्रे जाते तथा पुरुषो वानप्रस्थाधिकारी वर्तते अर्थात् पुत्रस्य पुत्रे जाते पुरुषो वनं गत्वा तपःस्वाध्याययोर्जीवनं यापयेत्। वानप्रस्थाश्रमस्य समयः पञ्चाशत्तमे वर्षस्योपरान्तो भवति। स्त्री इच्छेच्चेत् पुरुषस्तां सहैव नयेत् नेच्छेच्चेत तां स्त्रीं ज्येष्ठपुत्रस्य समीपे रक्षेत् पुत्रञ्चैवमुपदिशेत् यत् इमां स्त्रियां जननीं यथावत् सेवेत, निजपत्नीञ्चापि शिक्षेत् यत् त्वं सदैव पुत्रपौत्रादीन् न्याय्ये पथि अवलम्बनाय प्रेरयेः अधर्मात् पृथक्भवनाय शिक्षेः।

अस्मिन् संस्कारे कृते व्यक्तिर्वनं गत्वा तपः स्वाध्याये करोति, ये व्यक्तित्वविकासाय आवश्यकतमे वर्तेते।

संन्यासाश्रमसंस्कारः-

"संन्यासाश्रमसंस्कारः" सो भवति यदा मनुष्यो मोहादिं, त्यक्त्वा विरक्तो भूत्वा सम्पूर्णपृथिव्यां विचरति। अतैव संन्यासी परिव्राजकोऽपि कथ्यते **परितः सर्वतो व्रजति स परिव्राजकः** इति निर्वचनात्।

स्वामिदयानन्देन संस्कार विधौ संन्यासः, संन्यासी शब्दश्च ब्राह्मण श्रुत्यनुसारेणेवं परिभाषितम्-

सम्यङ्न्यस्यन्त्पधर्माचरणानि येन वा सम्यङ्
नित्यसत्कर्मस्वास्त उपविशति स्थिरी भवति
येन सः संन्यासः, संन्यासो विद्यते यस्य सः संन्यासी॥[३८]

---

३६ मनुस्मृति-३.९
३७ संस्कार चन्द्रिका, पृ०-१८१
३८ संस्कारविधिः, संन्यासाश्रम प्रकरणम्।

संन्यासग्रहणाय तिस्रो व्यवस्था स्वामिना संस्कारविधौ शास्त्रप्रमाणेन दत्ताः। प्रथमा-ब्रह्मचर्याश्रमं पूर्णं कृत्वा, गृहस्थी भवेत्। गृहस्थात् वानप्रस्थी भवेत्, वानप्रस्थात् संन्यासी भवेत् इयं व्यवस्था क्रमसंन्यास व्यवस्था कथ्यते।

द्वितीय व्यवस्था- यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेद् वनाद् वा (गृहाद् वा)।

अर्थात् यदा दृढ़वैराग्यं प्राप्नुयात् तदैव संनस्येत, वानप्रस्थाश्रमं अननुष्ठायापि संनस्येत्। यतः संन्यासे दृढ संन्यासे दृढ वैराग्यस्य यज्ञार्थज्ञानस्य च मुख्यप्रयोजनमस्ति। इयं व्यवस्था दृढवैराग्यव्यवस्था कथ्यते।

तृतीय व्यवस्था- ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्।

पूर्णमखण्डितं ब्रह्मचर्यं चरित्वा सत्यवैराग्यवान्, ज्ञानी, विज्ञानी च भूत्वा विषयासक्तिभावनां त्यक्त्वा पक्षपातरहितो भूत्वोपकारं चिकीर्षुर्ब्रह्मचर्याश्रममेव पूर्णं कृत्वा संन्स्येत, नास्मै वैराग्यवते गृहाश्रमवानप्रस्थाश्रमौ आवश्यकौ स्तः।

संन्यासी सदैव सम्यग्दृष्ट्वा गच्छेद्, वस्त्रेण पूत्वा जलं पिबेत्, सदैव सत्यां वाक् ब्रूयात्, निष्कपटतया च व्यवहरेत्।[३९]

संन्यासी सदैव दण्डकमण्डलान् धारयेत्, केशान् नखान्, श्मश्रूणि च क्लृप्तान् कृत्वा सर्वान् प्राणिनोऽपीडयन् नित्यं सर्वत्र विचरेत्।[४०]

संन्यासी सदैव अहिंसां, सत्यं, अस्तेयं, ब्रह्मचर्यं, अपरिग्रहं इमान् पञ्चयमान्, शौचं, सन्तोषं, तपः, स्वाध्यायं, ईश्वरप्रणिधानञ्च इमान् पञ्च नियमान च पालयेत् परमानन्दे परमेश्वरे सुखं जीवने सर्वत्र परोपकाराय विहरेत् संन्यासिनो मुख्यानि कर्माणि सन्ति। मोक्षप्राप्तये व्यक्तित्व विकासाय च संन्यासाश्रमो महत्त्वपूर्णो वर्तते। यतोहि संन्यासी नकारात्मिकां विचारसरणिं विहाय आत्मविकासमार्गे सुखेन एधते सदा च निरोगी भवति। रोगाणामुत्पत्तिकारणेषु नकारात्मका विचाराः प्रमुखत्वेन निमित्तकारणा भवन्ति।

अन्त्येष्टि कर्म (अन्त्येष्टि संस्कारः)-

जीवने समाप्ते सति क्रियमाण संस्कारो मनुष्यजीवनस्यान्तिमः संस्कारो भवति। अनेन संस्कारेण सहैव मनुष्यस्य निजैहिकजीवनस्यान्तिमोध्यायः समाप्यते। अयं परलोकस्य सुखाय कल्याणाय वा महत्त्वपूर्णो मन्यते।

मृत्युजाते तस्य बान्धुबान्धवाः, परिचिताः मित्रादयश्च तत्कालं सूचनीयाः भवेयुः। एवं यतनीयं यत् शवो यथाशीघ्रमुत्थापनीयः, यतः प्राणेषु निर्गच्छत्सु एव देहो विक्रियते स च दुर्गन्धियुक्तो भवति। यदि केनचिदपि कारणेन शवोऽधिककालं यावत् रक्षणीयः स्यात् तदा तस्य सुरक्षार्थं प्रयत्नीयम्।

इमं संस्कारमनुसृत्य प्राणेषु निर्गच्छत्सु पश्चात् शवस्तत्कालमेव संस्काराय नेतव्योयतः शरीरात् यद् दुर्गन्धमागच्छति तेन वातावरणं प्रदूष्यते। येन केनापि कारणेन शवः संस्काराय न नयेच्चेत् तदा तस्मिञ्छेव चन्दनादीनि सुगन्धीनि पदार्थानि लेपनीयानि। अनेन सुगन्धितपदार्थलेपनेन वातावरणं सुगन्धियुतं भवेत् यतः सुगन्धितवातावरणेन सुविकसित व्यक्तित्वं विकसेत।

यदि मृता स्त्री चेत् तदा स्त्रीभिः, अथः मृतः पुरुषश्चेत् पुरुषैर्मृतदेहस्य स्नानं कारयित्वा चन्दनादीनि सुगन्धीनि पदार्थानि लेपयित्वा नवीन वस्त्राणि च धारयित्वा शरीरस्य भारमनुसारं घृतं सामग्रीं च गृहीत्वा श्मशाने च नीत्वा प्राचीन वेदी न भवेच्चेत वेदीं, भूमौ विदध्यात्।

---

३९ मनुस्मृतौ-६/४६

४० मनुस्मृतौ-६/५२

वेद्यां मृतकस्य पादौ दक्षिणदिशायां शिरश्च उत्तरदिशायां भवितव्यम्। वेदी मृतकशरीरात् एकं हस्तं महती भवेत्। वेदीं इष्टिकाभ्यां चित्वा गोमयेन जलेन च मार्जयित्वा तन्मध्ये मृतकशरीरं स्थापयेत परितश्च काष्ठानि चिनुयात्। तत्पश्चात् घृतस्य दीपकेन कपूरिण वा आशिरः पादौ यावत् अग्नि प्रवेशयेत्। पुनः पञ्चघृताहूतीः दत्त्वा[४१] षोडशाधिकशतममन्त्रैर्घृतस्य सामग्रया चाहुतीः यच्छेत्।[४२]

पूर्णतः भस्मिते शरीरे (भस्मिभूते शरीरे) सर्ववस्त्रप्रक्षालनं कृत्वा स्नानं च कृत्वा मृतकस्य गृहे मार्जनलेपनादि पवित्रतां विधाय यजेत्। रात्रिरधिका अवेच्चेत् अल्पैवाहूतीर्दत्त्वान्यस्मिन् अग्रिमे दिने बान्धवो वा श्मशानभूमेरस्थोनि चित्वैकत्र स्थाने स्थापयेत्। सम्भवेच्चेत् इच्छानुसारं सामर्थ्यनुसारं पारिवारिकजनाः दानं कुर्युः। अनेन संस्कारेण पर्यावरणं शुद्धं भवति। तच्च स्वास्थकरं भवति। स्वास्थ्यञ्चं व्यक्तित्वस्य सर्वाधिकं महत्त्वपूर्णमङ्गमस्ति।

---

४१ ओ३म् अग्नये स्वाहा-आदि संस्कारविधिः, अन्त्येष्टि प्रकरणम्।

४२ ओ३म् सूर्यो-आदि संस्कारविधिः, अन्त्येष्टि प्रकरणम्।

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०१० अङ्क १३ (पृ०१९८-२०२)

मनोविज्ञान : भारतीय संदर्भ

डॉ० व्रजेश कुमार पाण्डेय[1]

मनोविज्ञान न केवल दर्शन एवं विज्ञान में सामंजस्य स्थापित करता है, वरन् मनुष्य की मनोगत अनुभूतियों के विश्लेषण की क्षमता प्रदान कर उसके नियमन के उपाय भी सुझाता है। भारत में स्वतन्त्र रूप से मनोवैज्ञानिक विचारों पर आधारित ग्रंथ नहीं लिखे गए हैं, किन्तु मन का विवेचन दर्शन एवं आयुर्वेद दोनों में व्यवस्थित ढंग से हुआ है। विशेषकर योग-दर्शन का प्रमुख प्रतिपाद्य मन ही है क्योंकि वह शरीराधिष्ठित है तो दूसरी ओर आत्मा से भी सम्बद्ध है, क्योंकि वह आत्मा से नियंत्रित होता है। अत: भारतीय परम्परा में शरीर तथा आत्मा से पृथक् करके उसका अध्ययन नहीं हुआ है। मन की एकाग्रता एवं इन्द्रिय-निग्रह रूपी साधनों द्वारा चित्त प्रशान्ति की बात आधुनिक मनोविज्ञान भी स्वीकार करने लगा है। पाश्चात्य विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान में मन के चेतन एवं अचेतन स्तरों का ही अध्ययन किया जाता है, किन्तु भारतीय मनोविज्ञान उससे सूक्ष्म स्तर तक जाकर ऊर्ध्व-चेतन की बात करता है। दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से चेतना के ऊर्ध्वगामी होने की भारतीय विवेचना पाश्चात्य मनोविज्ञान की व्याख्या को भी अग्रदृष्टि प्रदान करती है।

मनुष्य का मन उसके समस्त अनुभवों विशिष्ट व्यवहारों, विचारों, क्रियाकलापों, प्रवृत्तियों एवं संवेगों का नियन्त्रक है। मनोविज्ञान उन्हीं मानसिक वृत्तियों, दशाओं एवं क्रियाओं का सुव्यवस्थित एवं क्रमबद्ध अध्ययन है।

विषय के रूप में मनोविज्ञान आधुनिक युग की देन है। इसका अंग्रेजी पर्याय साइकोलाजी लैटिन के दो शब्दों Psyche (साइके) तथा लोगस (Logus) से बना है। प्रथम का अर्थ है आत्मा और दूसरे का अर्थ है ज्ञान या शास्त्र। इस अर्थ में मनोविज्ञान का तादात्म्य अध्यात्मशास्त्र से हो जाता है। इसलिए पाश्चात्य मनोविज्ञान को बहुत समय तक दर्शन का अंग माना जाता रहा तथा इसे मानसिक दर्शन कहा गया।[2] टिचनर, गेस्टाल्ट, पिल्सवरी आदि पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने मनोविज्ञान को संवेदना, प्रतिभा, भावना तथा चेतना आदि से जोड़ा और उसे मानव व्यवहार का विज्ञान बताया। वुडवर्थ ने मनोविज्ञान को व्यक्ति की क्रियाओं का विज्ञान कहा है।[3]

व्यक्ति की क्रियाओं से वुडवर्थ का तात्पर्य केवल शारीरिक क्रियाओं से नहीं प्रत्युत ज्ञानात्मक एवं भावात्मक क्रियाओं से हैं। मानसिक क्रियाओं को उसने तीन भागों में विभाजित किया - ज्ञान, भावना एवं क्रिया। व्यक्ति के परिवेश से सम्बन्धित क्रियाओं के अध्ययन के कारण मनोविज्ञान के विभिन्न विभाग बन गए, यथा- समाज मनोविज्ञान, व्यक्ति मनोविज्ञान तथा शिशु मनोविज्ञान आदि।

मनोविज्ञान न केवल दर्शन एवं विज्ञान में सामंजस्य स्थापित करता है वरन मनुष्य की मनोगत अनुभूतियों के विश्लेषण की क्षमता प्रदान कर उसके नियमन के उपाय भी सुझाता है। भौतिक उपभोगवादी

---

१ उपाचार्य, संस्कृत विभाग, राजकीय महिला महाविद्यालय, हल्द्वानी नैनीताल, उत्तराखण्ड।

२ We have Alredy pointed out that Psychology originated from philosophy. As problems of philosophy, Psychological concepts were defined, described and developed by philosophers. Prof J.C. Benergee, Fundamentals of modern Psychology P.27.

३ Psychology can be defined as the science of the activities of the Individuals. Woodworth & Marluise ë Psychology P.2

संस्कृति से उत्पन्न सामाजिक, सांस्कृतिक एवं पारिवारिक जटिलताओं ने जिस प्रकार मनुष्य के मन पर प्रभाव डाला है तथा अनेक जटिल मनोग्रंथियों को जन्म दिया है। उस परिप्रेक्ष्य में मनोविज्ञान का अध्ययन और भी प्रासंगिक हो उठता है।

यद्यपि मनोविज्ञान का पृथक् अध्ययन पाश्चात्य परम्परा की देन है तथा भारत में स्वतन्त्र रूप से मनोवैज्ञानिक विचारों पर आधारित ग्रंथ नहीं लिखे गए हैं, किन्तु मन का विवेचन दर्शन एवं आयुर्वेद दोनों में व्यवस्थित ढंग से हुआ है। विशेषकर योग-दर्शन का प्रमुख प्रतिपाद्य मन ही है क्योंकि वह शरीराधिष्ठित है तो दूसरी ओर आत्मा से भी सम्बद्ध है, क्योंकि वह आत्मा से नियंत्रित होता है। अतः भारतीय परम्परा में शरीर तथा आत्मा से पृथक् करके उसका अध्ययन नहीं हुआ है। अतः अनुभूति या अन्तः करण को वास्तविक ज्ञान का आधार मानने के कारण भारतीय मनोविज्ञान को आधुनिक मनोविज्ञान धर्मविज्ञान या दर्शन मान लेता है, किन्तु दूसरी ओर यह भी सत्य है कि पश्चिम के मनोवैज्ञानिक भी आत्मा (Self) के संबन्ध में विचार करने लगे हैं।

सांख्य एवं योग दर्शन तथा आयुर्वेद में मन या चित्त के सूक्ष्म स्तरों का विवेचन हुआ है। योग मनुष्य में निहित असीम क्षमता के संवर्द्धन एवं उन्नयन का मार्ग बताता है जिसका तात्त्विक लक्ष्य समस्त दुःख संतापों से शरीर एवं मन को रहित कर आनन्दमय प्रज्ञा का प्राप्त करना है। वैराग्य संयम एवं समाधि द्वारा[४] अपने स्वरूप की उपलब्धि ही परम प्राप्तव्य है।[५] मन की एकाग्रता एवं इन्द्रिय-निग्रह रूपी साधनों द्वारा चित्त प्रशान्ति की बात आधुनिक मनोविज्ञान भी स्वीकार करने लगा है। पाश्चात्य विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान में मन के चेतन एवं अचेतन स्तरों का ही अध्ययन किया जाता है, किन्तु भारतीय मनोविज्ञान उससे सूक्ष्म स्तर तक जाकर ऊर्ध्व-चेतन की बात करता है।

मन का ज्ञानेन्द्रियों से बहुत घनिष्ठ संपर्क है। मन से निर्दिष्ट होकर ही इन्द्रियाँ अपने विषयों को ग्रहण करती हैं।[६] इसलिए मन सुख दुःखादि के साक्षात्कार का साधनभूत है।[७] आचार्य चरक के अनुसार चिन्तन करना, विचार करना, ऊहापोह करना, संकल्प करना तथा अन्य सुख दुःखादि का मनन करना मन के विषय हैं।[८]

योगवाशिष्ठ में कहा गया है कि मन सर्वशक्तिमान् विराट् चेतन की इच्छा का एक स्वरूप है - एक स्पन्दन है। महर्षि पतंजलि ने तो चित्तवृत्तियों के निरोध को ही योग कहा है।[९] चित्तवृत्तियाँ पाँच है प्रमाण, विपर्यय, विकल्प निद्रा, स्मृति।[१०] मन की अवस्थाओं के विचलन तथा उनके संयमन का अध्ययन ही तो मनोविज्ञान है। समस्त योगदर्शन चित्तवृत्तियों का सूक्ष्म एवं वैज्ञानिक विश्लेषण करता है।

योग में जिन पाँच चित्तभूमियों[११] की चर्चा है वे किसी न किसी रूप में मन की अवस्थाओं के संदर्भ में आधुनिक मनोविज्ञान में भी स्वीकार्य हैं। मन चूँकि सभी इन्द्रियों का नियन्त्रक है अतः इन्द्रियों को विषयों में प्रवृत्त करने के साथ ही उनके हिताहित का विचार करना भी उसी के कार्य हैं। महर्षि चरक कहते हैं कि संभावनाओं के

---

४ अभ्यासवैराग्भ्यां तन्निरोधः। - योगसूत्र, समधिपाद १२
५ तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। - योगसूत्र १.३
६ मनःपुरःसराणि इन्द्रियाणि अर्थग्रहणसमर्थानि भवन्ति।
७ सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः। - तर्कसंग्रह
८ चिन्त्यं विचारमूलं च ध्येयं संकल्पमेव च। यत्किंचित्मनसो ज्ञेयं तत्सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम्।। चरक सं० १.२०
९ योगश्चित्तवृत्तिः निरोधः। - योगसूत्र १.२
१० प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः।
११ क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति चित्तभूमयः।। योगसूत्र व्यास भाष्य१.१

प्रति तर्क वितर्क करना मन के अधिकार क्षेत्र में आता है।[१२] मुख्य रूप से मनोवृत्तियाँ दो हैं - इच्छा और द्वेष। जिन विषयों के प्रति मन की विशिष्ट अभिलाषा होती है वे इच्छा के अंतर्गत हैं तो द्वेष में विषयों से अप्रीति होती है। आचार्य सुश्रुत ने क्रोध, शोक, भय, हर्ष, विषाद, ईर्ष्या, दैन्य, काम आदि को इच्छा एवं द्वेष का भेद बताया है।[१३] इच्छा एवं द्वेष के निर्दिष्ट भेद से प्रभावित होकर ही मनुष्य का स्वभाव निर्धारित होता है - उसके प्रवृत्ति भेद का आकलन होता है तथा उसमें उत्पन्न मनोविकारों एवं उनके नैदानिक उपायों का अन्वेषण होता है।

सांख्य दर्शन की सृष्टि प्रक्रिया पर विचार करने से यह प्रतीत होता है कि यह समस्त विवेचन वस्तुतः मानसिक स्तरों का ही विश्लेषण हैं। सांख्य के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति का क्रम है - प्रकृति से महत् (बुद्धि), महत् से अहंकार एवं अहंकार से सोलह गण (जिनमें मन की भी गणना है)।[१४] प्रकृति से आशय यदि स्वभाव से लेते हैं अथवा इसे चतुर्दिक् परिवेश से जोड़ते हैं, तब भी यह पूरी प्रक्रिया मानसिक स्तर पर ही घटित होती प्रतीत होती है। मन ज्ञान का एक करण है जो उभयात्मक है[१५] जिसके विना ज्ञानात्मक अवबोध संभव ही नहीं। ज्ञान की प्रक्रिया में इन्द्रियाँ अपने अनुभूत प्रत्यय को मन तक पहुँचाकर निवृत्त हो जाती हैं। मन संकल्प कर अहंकार को प्रत्यय प्रेषित करता है और तब अहंकार बुद्धि को निश्चय करने के लिए भेज देता है। मन सावधान हो तभी ज्ञान संभव हो पाता है। अन्यथा इन्द्रियों का विषयों से संपर्क होने पर भी कई बार अन्यमनस्कता के कारण ज्ञान उत्पन्न ही नहीं होता।

भारतीय दार्शनिकों में मन, अन्तःकरण एवं चित्त के पारिभाषिक विनिश्चय में मतभेद पाया जाता है। कहीं तो तीनों का समानार्थक प्रयोग है तो कहीं भिन्नार्थक। सांख्य योग में मन को इन्द्रियमात्र बताया गया है, किन्तु पतंजलि[१६] एवं भाष्यकार व्यास[१७] दोनों ने ही चित्त के अर्थ में मन का प्रयोग किया है। यह प्रयोग इनकी पारस्परिक अनुस्युति के कारण हो सकता है।

आयुर्वेद ने मन और शरीर में घनिष्ठ सम्बन्ध बताया है। दोनों में किसी एक के रुग्ण होने पर दूसरे पर भी उसका प्रभाव पड़ता है और वह भी स्वस्थ नहीं रह पाता।[१८] अतः शरीर पोषण के लिए जिन आहार द्रव्यों को आवश्यक एवं श्रेष्ठ बताया गया है वे मन, बुद्धि के भी पोषक हैं। मन के तीनों गुण सत्त्व, रजस, तमस् आहार से भी प्रभावित होते हैं।[१९] इसलिए तो गीता में आहार के भी सात्विक, राजस एवं तामस तीन भेद किए गए हैं तथा मनुष्यों की मनोवृत्ति का विश्लेषण इसी आधार पर हुआ है।[२०] छान्दोग्य उपनिषद् में बताया गया है कि खाए गए

---

१२ इन्द्रियाभिग्रहः कर्म मनसः स्वस्य निग्रहः। ऊहो विचारश्च परं ततः बुद्धि प्रवर्तते।। चरक सं० १.२

१३ मानसास्तु कामशोकभयहर्षविषादेर्ष्याभ्यसूयादैन्यमात्सर्यकामलोभप्रभृतय इच्छाद्वेषभेदैर्भवन्ति। सुश्रुत सूत्र १.२५.३

१४ प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तमाद्गणश्च षोडशकः।। सांख्य का० २२

१५ उभयात्मकमत्र मनः। सां० का० २७, सुश्रुत सं० १.६

१६ धारणासु च योग्यता मनसः। योगसूत्र २.५३

१७ विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थिति निबन्धिनी। व्यास भाष्य ९.३५

१८ शरीरमनुविधीयते सत्त्वं, सत्त्वं च शरीरम्।

१९ चरक सं० २७.३

२० श्रीमद्भगवद्गीता १७.८-१०

अन्न के अणु (सूक्ष्म) अंश से मन का पोषण होता है।[२१] चरक ज्ञान, विज्ञान, धैर्य, स्मृति तथा समाधि का मन को पोषक मानते हैं।[२२]

मन की तीन अवस्थाओं का उल्लेख मिलता है -जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। चित्त रूपी संस्कारभूमि में न्यस्त स्मृति विशेष के कारण स्वप्न की निर्मिति होती है। सुषुप्ति में स्वप्न दृश्य का भी अभाव हो जाता है। सुषुप्ति वस्तुतः शरीर एवं मन की प्रगाढ़ विश्रान्ति की स्थिति है।[२३]

पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक फ्रायड ने स्वप्न को मनुष्य के अवचेतन में निहित दमित इच्छाओं की अभिव्यक्ति माना है, किन्तु प्रत्येक स्वप्न की व्याख्या इस आधार पर करना न तो उचित है और न संभव। स्वयं पाश्चात्य विद्वान मैक्डॉनल ने इसका खण्डन किया है। भारत में आयुर्वेद के विद्वानों ने भी स्वप्न के संदर्भ में विचार किया है।

मनोविज्ञान मन की सुखात्मक एवं दुःखात्मक प्रतीति के आधार पर अनुभूति का विश्लेषण करता है।[२४] वाचस्पति मिश्र भी प्रतीति की अनुकूलता एवं प्रतिकूलता को क्रमशः सुख एवं दुःख के रूप में परिभाषित करते हैं।[२५]

संस्कार एवं वासना

मनोवैज्ञानिक अर्थ में संस्कार का तात्पर्य है चित्त पर अंकित अनुभवजन्य प्रत्यय। ग्रामोफोन या सीडी पर अंकित बातों की तरह संस्कार भी चित्त में सन्निविष्ट रहते हैं तथा देश काल परिस्थिति के अनुरूप उद्बुद्ध हो जाते हैं। सादृश्य, अदृष्ट, चिन्ता आदि स्मृति के बीज संस्कार के उद्बोधक होते हैं।[२६]

कार्यों, अनुभूतियों के संस्कार अनेक रूपों में हमारे मानस में एकत्र रहते हैं, किन्तु जब उनकी परिणति होती है तो वे वासना का रूप ले लेते हैं। मनोशारीरिक अवस्थाएँ जब मन की विभिन्न वृत्तियों के रूप में जन्म लेती हैं तो वे वासना कहलाती हैं।

संस्कार एवं वासनाएँ ही विभिन्न मनःस्थितियों, मनोभूमियों को जन्म देती हैं। हमारे अवचेतन में अनेक संस्कार एवं वासनाएं सुप्तावस्था में रहती हैं। मन पर इन सबका प्रभाव पड़ता है। अतः मन की स्थितियों पर नियन्त्रण या मानसिक दुरवस्थाओं का नियमन ही चित्त में प्रशान्ति उत्पन्न कर सकता है। जब तक मन है तभी तक संसार है।[२७] इसलिए मन को बन्धन एवं मोक्ष दोनों का कारण माना गया है।[२८] किन्तु मन अत्यन्त चंचल एवं अस्थिर है।[२९] अतः भारतीय मनीषा मनोजय की कल्पना करती है तथा एतदर्थ उपाय सुझाती है। अभ्यास एवं

---

२१ अन्नमशितं त्रेधा विधीयते, तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तस्य पुरीषं भवति, यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मन इति। छान्दोग्य ६.५.१

२२ मानसो ज्ञानविज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिभिः। चरक सं० १.५८

२३ बृहदारण्यकोपनिषद् २.१.१९, ४.३.२१

२४ 'Under feelings we include all pleasurable and painful conditions of Mind - Sully, outlines of Psychology P20

२५ अनुकूलवेदनीयं सुखं। प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्। सां तत्त्वकौमुदी

२६ सादृश्यादृष्टचिन्ताद्याःस्मृतिबीजस्य बोधकाः।

२७ मनोमात्रं जगत्, मनःकल्पितं जगत्। छान्दोग्य

२८ मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। विष्णु पुराण ६.७

२९ चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्। गीता ६.३४

वैराग्य से ही मनोजय संभव है।[३०] आकर्षण, विकर्षण, विचलन, अवसाद, अहंकार, वासनाएँ, इच्छाएँ - सब मन की स्थितियाँ हैं और इसी को वश में करना मनुष्य का लक्ष्य है। व्यक्तिगत एवं सामाजिक उन्नयन भी इसी से संभव है। गीता में संयत मन से युक्त हो सभी कामनाओं के प्रति निस्पृहता की चर्चा है।[३१] भारतीय दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से चेतना के ऊर्ध्वगामी होने की विवेचना पाश्चात्य मनोविज्ञान की व्याख्या को भी अग्रदृष्टि प्रदान करती है।

आधुनिक मनोविज्ञान की एक शाखा असामान्य मनोविज्ञान (Abnormal Psychology) तथा उससे उत्पन्न नैदानिक मनोविज्ञान (Clinical Psychology) के अध्ययन के प्रसंग में भी भारतीय मनोवैज्ञानिक चिन्तन पर ध्यान देना जरूरी है। मनुष्य की व्यवहारगत मनोदैहिक समस्याओं के मूल में परिवारजन्य, सामाजिक, शैक्षणिक, भावनात्मक एवं स्नायविक कारण हो सकते हैं। इसलिए आधुनिक मनोविज्ञान जनन विज्ञान (Genetics), जैव रसायन विज्ञान (Bio-Chemistry), समाजविज्ञान (Sociology), मानव विज्ञान (Anthropology) एवं पारिस्थितिकी (Ecology) सबसे स्वयं को सम्बद्ध करने का प्रयास कर रहा है।[३२] शरीर में होने वाले हार्मोनल परिवर्तन मनुष्य के दैहिक एवं मानसिक स्तर को परिवर्तित कर देते हैं। सेरोटोनिन की कमी तनाव, चिन्ता एवं अंततः अवसाद की ओर ले जाती है। योग मनोविज्ञान एकाग्रता एवं प्राणायाम, प्रत्याहार तथा ध्यान- धारणा के द्वारा न केवल शरीर एवं मनोगत आधि-व्याधियों के कारणों के मूल को न्यूनतम करता है, वरन् जीवन को आदर्श से अनुप्राणित कर एक 'स्वस्थ' अर्थात् ऊर्जस्वित चेतना के निर्माण में सहायता प्रदान करता है।

योग के अष्ट अंगों में यम[३३] नियम[३४] के परिपालन से सामाजिक आचार एवं व्यक्तिगत आचरण को संयमित एवं नियमित किया जा सकता है। आसन एवं प्राणायाम स्नायु एवं मन दोनों को सबल एवं कार्यक्षम बनाते हैं - यह स्थापित सत्य है। राग, द्वेष, क्रोध आदि संवेगों से मन को आहरित करने का अभ्यास ही तो प्रत्याहार है। वैचारिक संतुलन स्थापित होते ही ध्यान एवं एकाग्रता का अभ्यास सुदीर्घ होने लगता है। भारतीय मनोविज्ञान न केवल व्यक्तिगत संवेगों, संवेदनाओं एवं समाज से उनके तारतम्य पर विचार करता है वरन् उनके नियमन का मार्ग बता कर मनोदैहिक एवं सामाजिक विकृतियों की चिकित्सा का क्रियात्मक पक्ष प्रस्तुत करता है। वस्तुतः मनोविज्ञान का भारतीय परिप्रेक्ष्य मन के अध्ययन द्वारा 'उन्मन' बनाने की प्रक्रिया है।

---

३० अभ्यासवैराग्भ्याम् तन्निरोधः। योगसूत्र १.१२

३१ गीता ६.१८

३२ असामान्य मनोविज्ञान, तिवारी एवं वशिष्ठ, पृष्ठ ११५

३३ अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः। योगसूत्र २.३०

३४ शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।। योगसूत्र २.३२

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०१० अङ्क १३ (पृ०२०३-२१२)

अभ्यंग: उत्कृष्ट वात शमनोपाय

डॉ० सुनील कुमार जोशी[१]

परिभाषा- अभित: अंज्यते अनेन इति अभ्यंजनाद्ध स एव अभ्यंग: जिससे सब ओर आक्त या स्निग्ध किया जाता है। अभ्यंग स्नेहों के द्वारा किया जाता है। स्नेह के लेपन का नाम है- अभ्यंग अर्थात् स्नेह को उस स्थान पर लगा देना। अभ्यंग का अर्थ शरीर पर तैलादि लगाना है। वस्तुत: अन्य सभी लेपों द्वारा उद्वर्तन, मर्दन आदि विधि से भी कुछ अन्तर से अभ्यंग ही किया जाता है। 'अंज्' धातु गति के अर्थ में प्रयुक्त है। 'अभि' उपसर्ग से अभ्यंग बनता है। इसका शब्दश: अर्थ है- कुछ गतियाँ कराना। तैल-वसादि स्नेहों को शरीर पर रगड़कर हाथ से उन स्नेहों को अच्छी तरह शोषणार्थ गतियाँ ही की जाती हैं। हाथ द्वारा शरीर पर स्नेह को लगाकर विभिन्न दिशाओं में मलने-लगाने की क्रिया को अभ्यंग कहते हैं।

निरुक्ति- अभि + अंज् - घञ् कुत्वम्। तैलादिमर्दने।[२] 'अंज्' धातु में 'अभि' उपसर्ग तथा 'घञ्' प्रत्यय लगकर अभ्यंग शब्द बनता है। तेल की मालिश, तैल-मर्दन, स्नेहन

१. किसी तेल या चिकने पदार्थ को शरीर पर मलना, तेल की मालिश २. मालिश लेप ३. उबटन। संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुम के अनुसार- अभ्यंग (पु.) शरीर में तेल मलना। तैल मर्दन। अभ्यंग (वि.) हाल ही में चिह्न किया हुआ। नवीन चिहिंत।

अभ्यंग की विधि

केवलं सामदोषेषु न कथंचन योजयेत्।
सन्तर्पणसमुत्थानां रोगाणां नैव कारयेत्।।[३]

सुखोष्ण, सुगन्धि, वातघ्न, ऋतु दोषादि के अनुकूल तेल लेकर सुखपूर्वक धीरे-धीरे अनुलोम गति से शरीर पर मलना अभ्यंग है।

अथ जातान्नपानेच्छो मारुतघ्नै: सुगन्धिभि:।
यथर्तुसंस्पर्शसुखैस्तैलैरभ्यंगमाचरेत्।।[४]

जब शरीर स्वस्थ हो एवं अन्नपान की इच्छा उत्पन्न हो गई हो तो सुगन्धित एवं वातनाशक तैलों द्वारा शरीर पर अभ्यंग करना चाहिए।

शिर:श्रवणपादेषु तं विशेषेण शीलयेत्।[५]

अभ्यंग सिर में, पाँव में और कान वर (कर्णपूरण) विशेषत: करना चाहिए। सिर में अभ्यंग के लिए शीत स्नेह या सुखोष्ण स्नेह का प्रयोग करना चाहिए। सिर इन्द्रियायतन है और प्रधान मर्म है। अत: उसे उष्णता से

---

१ अपर चिकित्साअधीक्षक, राजकीय आयुर्वैदिक कॉलेज एवं चिकित्सालय, गुरुकुल कॉगड़ी हरिद्वार
२ वाचम्पत्यम्, प्रथम भाग, पृष्ठ ३०९
३ सु.चि. २४:३५-३७
४ अ.स.सू. ३:५५
५ अ.हृ.सू. २:८

बचाना चाहिए। हाथ-पाँव इत्यादि भागों पर उष्ण स्नेहों से अभ्यंग करना चाहिए। इसी तरह शीत ऋतु में उष्ण तेलों से एवं उष्ण ऋतु में शीत तेलों से अभ्यंग करना उचित है। दीर्घाकार वाले अवयवों; यथा- हाथ-पाँव पर अनुलोमतः ऊपर से नीचे की ओर; संधिस्थान, जैसे- कूर्पर, अंस, जानु, गुल्फ एवं कटि में वर्तुलाकार अभ्यंग करना चाहिए। अभ्यंग का मुख्य उद्देश्य भीतर के अवयवों की गतियों को उत्तेजित करना है। प्रत्येक अवयव का अभ्यंग अच्छी तरह हो, इसके लिए निम्न अवस्थाओं में रोगी का अभ्यंग करना चाहिए- १. पाँव सीधा रखकर बैठाकर, २. पीठ के बल लिटाकर, ३. वाम पार्श्व में लिटाकर, ४. वक्ष एवं उदर के बल लिटाकर, ५. दक्षिण पार्श्व पर लिटाकर, ६. पुनः पीठ के बल लिटाकर।

अभ्यंग काल एवं भेद

अभ्यंग इत्यादि। अभ्यंगोऽत्र सकलदेहस्य स्नेहाभ्यंग। भृजा शुद्धप्रभा, वर्णो गौरादिः। स्नेहस्य सिरामुखादिभिः शरीरसन्तर्पणकालं केचिदत्र पठन्ति-'रोमान्तेष्वनुदेहस्य स्थित्वा मात्राशतत्रयम्। ततः प्रविशति स्नेहश्चतुर्भिर्गच्छति त्वचम्।। रक्तं गच्छति मात्राणं शतैः पंचभिरेव तु। षड्भिर्मांसं प्रपद्यते भेदः सप्तभिरेव च।। शतैरष्टाभिरस्थीनि मज्ज्ञानं नवभिर्व्रजेत्। तत्रस्थांछमयेद्रोगान् वातपित्तकफात्मकान्' इति।[६]

तीन सौ मात्रा (लगभग ९५ से.) तक अभ्यंग करने से स्नेह त्वचा के रोमान्त में पहुँचता है। ४०० मात्रा (लगभग २४० सें.) तक करने से अस्थि में स्नेह पहुँचता है। इस तरह अभ्यंग में ५ मिनट लगते हैं। अतः सर्वशरीर अभ्यंग अच्छी तरह हो; इसलिए उपर्युक्त प्रत्येक अवस्था में २ मि. से ५ मि. तक अभ्यंग करना चाहिए। इस तरह कुल १५ मिनट तक अभ्यंग करना हितकर है। यदि एकांग पर, हाथ, पाँव, सिर इत्यादि पर ही अभ्यंग करना हो तो कम-से-कम १५ मिनट तक अवश्य करना चाहिए। एक स्वस्थ व्यक्ति के लिए पाँच मिनट का यह क्रम प्रतिदिन स्नानादि पूर्व अभ्यंग के लिए अनुकूल है। रोगावस्था में इससे अधिक अपेक्षित है। अभ्यंग के बाद १५ मिनट तक विश्राम करना चाहिए। फिर गरम पानी में कपड़ा डुबोकर पानी निचोड़कर अभ्यक्त भाग पर धीरे-धीरे रख कर स्वेद लेना चाहिए। तत्पश्चात् उष्णोदक से स्नान करना चाहिए।

पादाभ्यंग-

खरत्वं स्तब्धता रौक्ष्यं श्रमः सुप्तिश्च पादयोः। सद्य एवोपशाम्यन्ति पादाभ्यंगनिषेवणात्।।
जयते सौकुमार्यं च बलं स्थैर्यं च पादयोः। दृष्टि प्रसादं लभते मारुतश्चोपशाम्यति।।
न च स्याद् गृध्रसीवातः पादयोः स्फुटनं न च। न शिरास्नायुसंकोचः पादाभ्यंगेन पादयोः।।[७]

पाँव पर अभ्यंग करने से पाँव की खरता, तल पाँव में दरारे पड़ना, स्तब्धता, रूक्षता दूर होती है। पाँव की थकावट दूर होती है और पाँव स्थिर एवं मजबूत होते हैं। पाँव कोमल रहते हैं। दृष्टि प्रसादयुक्त रहती है। पादाभ्यंग करने वाले को कभी गृध्रसी नहीं होती। इससे पाँव कभी नहीं फटते तथा शिरा एवं स्नायु का कभी संकोच नहीं होता।

शिरोऽभ्यंग- सिर पर तेल का मालिश करना शिरोऽभ्यंग है, इसमें शीत या मन्द सुखोष्ण तैल का प्रयोग करना चाहिए। प्रायः सर्वाभ्यंग में भी सिर का ही अभ्यंग प्रारम्भ किया जाता है। सिर इन्द्रियों का मूल है और प्रधान मर्म है। सिर पर अभ्यंग करने से शिरो रोग दूर होते हैं। सिर का पोषण होता है। मुख की त्वचा कोमल

६ सु.चि. २४:३०, डल्हण टीका
७ च.सू. ५:९०-९२

होती है। इन्द्रियों का तर्पण होता है। सुश्रुत ने सिर के अभ्यंग के लिए चक्र तेल को श्रेष्ठ बताया है। वाग्भट ने सिर की रूक्षता, सिर में खुश्की और मल के जमा होने पर सिर का अभ्यंग करने का निर्देश किया है।

अभ्यंग के गुण

अभ्यंको मार्दवकरः कफवातनिरोधनः।
धातूनां पुष्टिजननो मृजावर्णबलप्रदः।।[८]

सम्पूर्ण शरीर पर स्नेह का अभ्यंग त्वचा को कोमल करता है, कफ, वायु का नाश करता है। रसादि धातुओं को पुष्ट करता है। त्वचा को शुद्धि एवं बल और वर्णदायक होता है।

अभ्यंगमाचरेन्नित्यं स जराश्रमवातहा।
दृष्टिप्रसादपुष्ट्यायुःस्वप्नसुत्वक्त्वदार्ढ्यकृत्।।[९]

१. जराहर- नित्य अभ्यंग करने से धातुओं को बल प्राप्त होता है।
२. श्रमहर- मांसपेशियों में होने वाली थकावट अभ्यंग से दूर होती है।
३. वातहर- स्नेह गुणों से यह वात को नष्ट करता है।
४. दृष्टिप्रसादकर- आँखों की रोशनी बढ़ाता है।
५. पुष्टिकर- सभी धातुओं को बढ़ाकर शरीर को पुष्ट करता है।
६. आयुष्यकर- धातुदार्ढ्यकर होने से आयु बढ़ाता है।
७. स्वप्नकर- अभ्यंग से अच्छी नींद आती है।
८. त्वक्दार्ढ्यकर- त्वचा को कोमल तथा दृढ़ बनाता है।
९. क्लेश-सहत्व- अभ्यंग से दृढ़ शरीर अनेक कष्टों को सहन करने में समर्थ होता है।
१०. अभिघात-सहत्व- अभ्यंग करने वाले को चोट लगने पर विशेष कष्ट नहीं होता है।
११. कफ-वातनिरोधक- सुश्रुत ने अभ्यंग को कफ, वात दोनों का निरोधक बताया है।
१२. मृजावर्ण-बलप्रद- अभ्यंग से त्वचा की शुद्धि होती है एवं बल बढ़ता है।

अभ्यंग में प्रयोग होने वाले स्नेह

तत्र प्रकृतिसाम्यर्तुदेशदोषविकारवित्।
तैलं घृतं वा मतिमान् युंयादभ्यंगसेकयोः।।[१०]

सुश्रुत ने तेल, घी या अन्य किसी स्नेह द्रव्य से प्रकृति, ऋतु, साम्य, दोष, देश, रोग के आधार पर अभ्यंग का निर्देश किया है। सामान्यतः तेल, घी और वसा का प्रयोग किया जाता है।

अभ्यंग की कार्मुकता

१. पर्शुकाओं के भग्न में- सुश्रुत ने पर्शुकाओं के भग्न में रोगी को सीधा खड़ा करके घी का अभ्यंग करने के लिए बताया है। दक्षिण या वाम पार्श्व की पर्शुकाओं में मांस रज्जुओं पर घी का अभ्यंग

---

८ सु.चि. २४:३०
९ अ.ह.सू. २:८
१० सु.चि. २४:३४

करके ऊपर से कवलिका (बाँस के खप्पच पर रुई की गद्दी रखकर) वस्त्रपट्ट से अच्छी तरह से बाँध देते हैं। रोगी को तेल भरे टब में लिटाते हैं।

२. भग्नकर्ण में- सुश्रुत ने भग्नकर्ण में अभ्यंग का प्रयोग बताया है। भग्न कर्ण को ठीक से बाँध कर प्रचुर घृतयुक्त मधु से अभ्यंग परिषेक आदि करते हैं।

३. अश्मरी की शल्य चिकित्सा में- सुश्रुत में अश्मरी की शल्य-चिकित्सा के अन्तर्गत भी अभ्यंग का प्रयोग बताया है।

४. अश्मरी व्रण में-अश्मरी व्रण में लोध्र, मंजीठ, कमल- इनके कल्क को व्रण पर लेप करते हैं, इन्हीं में हल्दी मिलाकर इनसे तैल या घृत सिद्ध करके व्रण पर अभ्यंग करते हैं।

५. मूढ़गर्भ के शल्यकर्म के अन्तर्गत- सुश्रुतसंहिता में मूढ़ गर्भ के शल्यकर्म के अन्तर्गत अभ्यंग का उपयोग बताया है। इसमें अपरा के निकलने के बाद गरम पानी से स्नान कराने के बाद शरीर पर तैलाभ्यंग करने के लिए बताया गया है।

६. बालकों में कर्णपाली को बढ़ाने के लिए- बालकों मे कर्णपानी के छोटे और कठोर होने पर कुछ विशेष प्रकार के स्नेहों का प्रयोग बताया गया है।

७. बद्धगुदोहर तथा परिस्रावी उदर के रोगियो मे अभ्यंग का प्रयोग बताया गया है। इसमें रोगी को स्नेहन, स्वेदन देकर नाभि के नीचे अभ्यंग करके, नाभि के वाम पार्श्व में रोमराजी से चार अंगुल बचाकर, चार अंगुल उदर को चीरकर, आँतो को निकालकर बद्धगुदा में आँत को रोकनेवाले मल आदि को देखकर, उसको दूर करके घी और मधु से आँतों का अभ्यंग करके आँतो को ठीक स्थान पर बिठा देते हैं।

८. जो अंग संकुचित हो गया हो, जिसमें पीड़ा हो या जो अंग स्थिर (जड़) बन गया हो, उस अंग पर क्षौम (रेशमी), कपास के वस्त्र अथवा ऊन की पट्टियाँ कसकर बाँध देते हैं या अच्छी प्रकार स्नेह अभ्यंग करके साल्वण से उपनाह देकर अंग को बिल्ली, नेवला, चूहा या हरिण की खाल से बनी थैली में रख देते हैं।

९. वातरोगियों के लिए स्नेह, स्वेद, अभ्यंग आदि का सेवन करने के लिए बताया गया है।

१०. वातरक्त के रोगियों में भी अभ्यंग, उपनाह, परिषेक, प्रदेह आदि को हितकर बताया गया है।

११. खीरा, बहेड़ा, चिरौंजी- इनके तेलों को काकोल्यादि गण के साथ दस गुने दूध में सिद्ध करते हैं। यह स्नेह भग्नों को शीघ्र ही स्वस्थ करता है। यह अभ्यंग, पान, नस्य, परिषेचन आदि कर्म में उत्तम है।

१२. पक्षाघात के रोगी में अणु तैल का प्रयोग बताया गया है।

१३. कफ, प्रबल-वातरक्त में मस्तु, गोमूत्र, सुरा, शुक्त, मुलहठी, सारिवा और पद्माख से सिद्ध घी से अभ्यंग करते हैं। पित्तप्रबल वातरक्त में जीवनीय गण से सिद्ध घृत से अभ्यंग करना चाहिए।

१४. त्वक् रोगवाले व्यक्तियों में वज्र तेल का अभ्यंग करना चाहिए।

१५. वातकुष्ठ रोगियों में दशमूल से सिद्ध घृत या तेल का प्रयोग करना चाहिए।

१६. श्वित्र तथा पुण्डरीक कुष्ठ में भी अभ्यंग बताया गया है। बड़ी कठगूलर एवं छोटी कठगूलर- इन दोनों के मूल एक पल देकर सोलह पल पानी में क्वाथ करते हैं एवं चौथाई शेष रहने पर इस

क्वाथ को ग्रीष्मकाल में या (दोपहर में) गरम क्वाथ पीकर धूप में बैठते हैं और सरसों के तेल का अभ्यंग करते हैं। ऐसा करने से छाले उत्पन्न होते हैं; फिर चीते या हाथी की खाल को जलाकर इस राख का आवर्तकी मूल से सिद्ध तेल में मिलाकर छाले फूटने पर लेप करते हैं।

१७. सुश्रुतसंहिता में एक विशेष प्रकार के तेल का वर्णन है। काले तिलों को सात दिन तक रात्रि में नदी के बहते जल में रखते हैं और दिन धूप में सुखाते हैं, फिर सात दिन तक गाय के दूध में इसे भावित करते हैं, तीसरे सप्ताह में मुलहठी के क्वाथ से भावना देते हैं, फिर चौथे सप्ताह पुन: गाय के दूध से भावित कर सुखाकर चूर्ण कर लेते हैं। इसमें काकोल्यादि गण के द्रव्य मुलहठी, मंजीठ, सारिवा, कूठ, राल, जटामांसी, देवदारु, चन्दन, सौंफ- इनके समभाग चूर्ण को तिल के चूर्ण में (समान भाग) मिलाते हैं। फिर एलादि गण से सिद्ध दूध से इस चूर्ण को गिला बनाकर इन तिलों से तेल निकालते हैं। इस तेल को चार गुने दूध के साथ इलायची, शालपर्णी, तेजपत्र, जीवक, झिण्टी, क्षीरविदारी, सारिवा, मधूलिका, सिंघाड़ा, पूर्वोक्त औषधियाँ (काकोल्यादि से लेकर सौंफ तक) इनके कल्क के साथ मृदु अग्नि पर तैल सिद्ध करते हैं। यह तैल भग्न व्यक्तियों के सभी कार्यों में पथ्य है। जो व्यक्ति आक्षेपक, पक्षाघात, तालुशोष, अर्दित, मन्यास्तम्भ, शिरोरोग, तिमिररोग, कर्णशूल अनुग्रह से पीड़ित है, उनमें पान, अभ्यंग, नस्य और बस्ति के रूप में पथ्य है।

१८. सुश्रुत संहिता में नील घृत का वर्णन है। इसके पीने से दोष, धातुओं में स्थित तथा अभ्यंग से त्वचा में स्थित एवं असाध्य कुष्ठ भी अच्छा होता है।

१९. वज्रक तेल के मलने से पाड़ीव्रण, दुष्टव्रण नष्ट होते हैं।

२०. वृकोदर रोगी में वातहर तेल का अभ्यंग निर्दिष्ट है।

२१. योनि के सन्तर्पण में अभ्यंग पीने में, वस्ति में, भोजन में, बला तेल का प्रयोग बताया गया है।

२२. सुश्रुतसंहिता में इन्द्रलुप्त में चमेली, कनेर, चित्रक, करंज से सिद्ध किया तैल अभ्यंग के लिए बताया गया है।

२३. अरुंषिका तथा दारुण रोग में अभ्यंग का प्रयोग बताया गया है।

२४. परिकर्तिका में भी अभ्यंग का प्रयोग बताया गया है।

२५. वातजन्य ओष्ठप्रकोप में मोममिश्रित घी, तेल, वसा और मज्जा- इन चार प्रकार के स्नेह का अभ्यंग बताया गया है।

२६. सुश्रुतसंहिता में सिर के रोगों के लिए शिरोऽभ्यंग का प्रयोग बताया गया है।

२७. कानों में तेल डालने पर कर्णशूल नष्ट होता है।

२८. वमन के अतियोग में उपद्रवस्वरूप आँख के पलट जाने पर आँखों पर घी का अभ्यंग लगाकर दबाने के लिये बताया गया है।

२९. विरेचन के अतियोग के कारण गुदा के बाहर निकल आने पर गुदा पर अभ्यंग कर तथा स्वेदन कर गुदा अन्दर दबाने के लिए बताया गया है।

३०. कर्णशूल, कर्णप्रणाद, बाधिर्य और कर्णक्ष्वेड- इन चारों रोगों में रोगी को स्नेह, पान एवं अभ्यंग से स्निग्ध करके वातहर द्रव्यों से स्वेद देकर एरण्ड तेल, बादाम रोगन आदि स्नेह द्रव्यों से विरेचन देते हैं।

३१. सुश्रुतसंहिता में कर्णशूलनाशक कुछ स्नेह तथा सिद्ध तेल कान में डालने के तिए बताया है, यथा- चौलाई की जड़, अंकोठ का फल, झिण्टी, केन्द्रकमूल, चीड़, देवदारु, लहसुन, सोंठ, बाँस के छिलके- इनके कल्क से घी, तेल, वसा, मज्रा; इन चार प्रकार के स्नेह को दही, तक्र, सुरा, चक्र तथा मातुलुंग रस में पकाकर इसे वेदना की शांति के लिए कर्णपूरण में प्रयुक्त किया जाता है। बकरी और भेड़ के मूत्र में बाँस का छिलका कल्क रुप में डालकर घी को पकाते हैं, यह घृत कर्णशूल वाले रोगी के कान में डालते हैं।

३२. बाधिर्य रोग के लिए- गाय के मूत्र में बिल्व को पीसकर तैल पकाते हैं। इस तेल को कान में डालते हैं।

३३. नासानाह में बला तेल का पान, अभ्यंग, शिरोविरेचन आदि बताया गया है।

३४. बरगद आदि कषाय वृक्षों के क्वाथ में काकोल्यादि मधुर द्रव्यों का कल्क मिलाकर तेल सिद्ध करते हैं। यह तेल बालकों में अभ्यंग के लिए प्रयुक्त करते हैं।

३५. कूठ, राल, गुग्गुल, जटामांसी और गिरि कदम्ब (अपराजिता)- इनके कल्क से अभ्यंग के लिए तैल सिद्ध करते हैं।

चरकसंहिता में वर्णित अभ्यंग का प्रयोग-

१- अपस्मार रोगी में अभ्यंग- सरसों का तेल एक भाग एवं बकरे का मूत्र चार भाग दोनों को मिलाकर तैल पाक करते हैं। इस तेल से अपस्मार रोगी को अभ्यंग कराते हैं।

२- पुनरावर्तक ज्वर में भी अभ्यंग का प्रयोग बताया गया है।

३- अर्शों में अभ्यंग प्रयोग-काले साँप की वसा या बिल्ली की चर्बी-इनमें से किसी एक को लेकर रोगी के अर्शांकुरों में मसल देते हैं, उसके बाद मनुष्य के सिर के बालों, साँप की केंचुल, बिल्ली की त्वचा, मदार की जड़ से मस्सों के ऊपर धुआँ देते हैं।

४- ज्वर में अभ्यंग- यदि रोगी को दाह हो रहा हो, तो उसको शान्त करने के लिए हजार बार धोये हुए गाय के घी अथवा चन्दनादि तैल का अभ्यंग करना चाहिए।

५- दाह-ज्वर में अभ्यंग-यदि रोगी को दाह हो रहा हो तो, तो उसको शान्त करने के लिए हजार बार धोये हुए गाय के घी अथवा चन्दनादि तैल का अभ्यंग करना चाहिए।

६- पित्तज गुल्म में अभ्यंग-पित्तप्रधान गुल्म में पित्तजनित दाह की शांति के लिए वासाघृत से, चन्दनादि तेल से अथवा मुलेठी के योग से तैयार किये गये तेल से अभ्यंग कराना चाहिए।

७- रक्तपित्त में-रक्तपित्त में भी अभ्यंग का विधान बताया गया है।

वाग्भट के अनुसार- अभ्यंग करने से दग्ध, भग्न तथा क्षत से उत्पन्न पीड़ा नष्ट हो जाती है। शस्त्रादि से चोट लगने पर अभ्यंग आदि का प्रयोग करने के लिए बताया है। पैरों में अभ्यंग करने से पैरों की मजबूती, अच्छी निद्रा एवं ज्योति बढ़ती है। इससे पादसुप्ति, बिवाई फटना आदि दूर होते हैं।

भैषज्यरावली में वर्णित अभ्यंग में प्रयोग आने वाले तेल तथा घृत

१. अंगारक तैल- जीर्ण ज्वर या पुरातन विषम ज्वर में जब विशेषत: शीत कम्प वेदना, जीर्ण ज्वर में शीत आदि वातिक लक्षणों के साथ शोथ या रक्तहीनता आदि होने पर अभ्यंग कराया जाता है।

२. लाक्षादि तैल- इसके अभ्यंग से ज्वर तथा उसमें उत्पन्न होने वाला दाह एवं शीत नष्ट हो जाता है।

३. बृहत् लाक्षादि तैल- इस तैल का अभ्यंग वातव्याधि को नष्ट करता है। सब विषम ज्वरों को शीघ्र शान्त कर देता है। कास, श्वास, प्रतिश्याय, कण्डू (खुजली), शरीरदौर्गन्ध्य, शरीर का भारीपन, त्रिक, सन्धिशूल, पृष्ठशूल (पीठ का दर्द), गात्रदाह आदि रोगों को नष्ट करता है।

४. कट्वर तैल- ज्वर में इस तेल से मार्दन करने से शीत तथा दाह दोनों नष्ट होते हैं। पुराने वातिक, वातपैत्तिक, वात-कफज, निराम ज्वर में जब हल्का बुखार रहता हो, देह रूक्ष हो, पसीना न आता हो, रोगी को शीतानुभव हो, कफ कष्ट से निकलता हो, तब इसका मर्दन करना चाहिए।

५. बृहत् कट्वर तैल- इसके प्रयोग से भी विषम ज्वर नष्ट होते हैं।

६. बृहत् पिप्पल्यादि तैल- इसका मर्दन करने से जीर्ण ज्वर नष्ट होता है।

७. भूनिम्बाद्य तैल- इस तेल से अभ्यंग करने से सन्तत एवं सतत, धातुगत, मज्जागत, अस्थिगत, आठों प्रकार का ज्वर तथा ग्रहणी, अतिसार, कामला, हलीमक, प्लीहावृद्धि, यकृद्रोग, पाण्डु, शोथ तथा जीर्ण ज्वर नष्ट होता है।

८. चन्दनबलालाक्षादि तैल- इस तेल का अभ्यंग करने से रस-रक्तादि धातुओं की वृद्धि होती है तथा कास, श्वास, छर्दि, प्रदर, रक्तपित, पित्तविकार, कफविकार, दाह, कण्डू, विस्फोट, शिरोरोग, नेत्ररोग, दाह, पक्षाघात, नपुंसकता, शोथ, कामला, पाण्डुरोग तथा सब प्रकार के ज्वर नष्ट हो जाते हैं।

९. बिल्व तैल- इस तेल के मर्दन से मन्दाग्नि, विविध प्रकार की ग्रहणी, अतीसार, अरुचि, अर्श, श्लीपद, अन्त्रवृद्धि, कफ-वातजन्य शोथ, गुल्म, पाण्डु, मक्कलशूल आदिरोग नष्ट होते हैं। इस तेल का वातिक, श्लैष्मिक, वात-श्लैष्मिक ग्रहणी में पेट पर हलके हाथ से मालिश करना चाहिए।

१०. ग्रहणीमिहित तैल- इस तेल के अभ्यंग से वलि, पलित, अतिसार, समस्त ग्रहणी, ज्वर, पिपासा, हिक्का, उपद्रवयुक्त कोष्ठपीड़ा, अर्श, कामला, प्रमेह, शोथ, प्रवृद्ध शूल आदि नष्ट होते हैं।

११. दाड़िमाद्य तैल- यह तेल अभ्यंग के द्वारा ग्रहणी, प्रमेह, अर्श आदि को नष्ट करता है। किसी भी ग्रहणी के पुराना होने पर जब वायु की प्रबलता होती है तो पेट और सारे देह पर इसका अभ्यंग कराया जाता है।

१२. महामाष तैल- इस तेल का पान, वस्ति, अभ्यंग, नस्य, कर्णपूरण (कान में डालना), अक्षिपूरण (आँख में डालना) आदि में प्रयोग किया जाता है।

१३. सप्तशतिक प्रसारणी तैल- एकांगशोषी, वातरक्त से पीड़ित तथा जिस पुरुष का अस्थिभंग या सन्धिभंग हो गया हो उनमें इसका प्रयोग करना चाहिए। इस तैल का वस्ति पंगुता, अभ्यंग तथा नस्य द्वारा प्रयोग करने से विभिन्न प्रकार के वातज रोग शान्त होते हैं।

१४. एकादश शतिक प्रसारणी तैल- पान, अभ्यंग, नस्य द्वारा इसका प्रयोग करने से विभिन्न प्रकार के वातज रोग शान्त होते हैं।

१५. अष्टादशशतिक प्रसारणी तेल- इसके अभ्यंग से त्वचागत वातरोग नष्ट होता है।

१६. त्रिंशती प्रसारणी तैल- इस अभ्यंग, वस्ति, पान, नस्य द्वारा प्रयोग करते हैं। इसके प्रयोग से गृध्रसी, अस्थिभंग आदि में लाभ होता है।

१७. पुष्पराज प्रसारणी तैल-इसका प्रयोग पान, अभ्यंग एवं नस्य के रूप में करते हैं। इसके प्रयोग से हनुग्रह, शिरोरोग, भग्न एवं खंजता, पंगुता एवं विविध प्रकार की वात वेदनाएँ एवं वात रोग नष्ट होते हैं।

१८. महाविषगर्भ तैल- इस तेल के लेपन से छाती, ऊरु, कमर तथा जंघा आदि के सन्धिभंग में संधान होता है।

१९. बृहत् गुडूची तैल- इसका वातरक्त में पान, अभ्यंग और नस्य द्वारा प्रयोग करते हैं। इसके प्रयोग से वातरक्त, उदावर्त, विसर्प, नाड़ीव्रण, भगन्दर, कण्डू आदि नष्ट होते हैं।

२०. पिण्ड तैल- इस तेल के मर्दन से वातरक्त नष्ट होता है।

२१. महापिण्ड तैल- इस तेल के मर्दन से वातरक्त, आमवात, भगन्दर आदि नष्ट होते हैं।

२२. विषतिन्दुक तैल- वातव्याधि, वातरक्त, विवर्णता एवं अन्य त्वचा के दोष शान्त होते हैं।

२३. रुद्र तैल- इसका मर्दन करने से वातरक्त, पामा, विचर्चिका, कण्डू, छाया, मर्महीन नाड़ीव्रण आदि नष्ट होते हैं।

२४. सैन्धवाद्य तैल- इस तेल का पान, अभ्यंग एवं नस्य द्वारा प्रयोग करते हैं। इसके प्रयोग से आमवात, कृमि, गुल्म, प्लीहा, उदररोग, पक्षाघात, सन्धिवात आदि नष्ट होते हैं।

२५. बृहत सैन्धवाद्य तैल- पान, अभ्यंग तथा वस्ति द्वारा इसका प्रयोग करते हैं। मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी, अन्त्रवृद्धि आदि नष्ट होते हैं।

२६. द्वितीय सैन्धवाद्य तैल- इसका अभ्यंग अन्त्रवृद्धि, भगन्दर, नाड़ीव्रण में लाभदायक है।

२७. शूलगजेन्द्र तैल- इसका मर्दन करने से शूल की शान्ति होती है।

२८. बिन्दुघृत- इसका नाभि पर अभ्यंग करने से विरेचन हो जाता है।

२९. शुष्कमूलाद्य तैल- इसके मर्दन से शूलयुक्त शोथ नष्ट होता है।

३०. बृहच्छुष्कमूलकाद्य तैल- इसके अभ्यंग करने से भी शोथ शान्त होता है।

३१. सिद्धार्थक तैल- जिनके अंग संकुचित हो गये हैं। उनके लिए इस तेल का प्रयोग किया जाता है। इसका मर्दन करने से सन्धिगत वात, एकांगशोष तथा सकम्प गति आदि वातरोग नष्ट होते हैं।

३२. हिमसागर तैल-ऊँचे स्थान से गिरने पर पत्थर आदि से चोट लगने पर तथा प्रकुपित वातजन्य वेदना को यह तैल दूर करता है।

३३. वायुच्छाया सुरेन्द्र तैल-वात रोगों में इसका मर्दन करना लाभकारी होता है।

३४. महाबला तैल- वात से क्षीण, मर्महत(मर्म पर चोट लगी हो), अभिहत (जिसे चोट लगी हो), भग्न आदि के रोगियों में इसका प्रयोग उत्तम है। आन्त्रवृद्धि में छः मास तक प्रयोग से यह रोग

ठीक हो जाता है। सुश्रुतोक्त यह योग सूतिका के वायुनाशार्थ, योनितर्पण, अभ्यंग, वस्ति आदि कर्मों में प्रयुक्त होता है।

३५. माष तैल-खल्ली, खंज आदि अंगसंकोच में इसका अभ्यंग बताया गया है।

३६. माषतैल प्रथम-पक्षाघात में इसका अभ्यंग बताया गया है।

३७. महाकुक्कुटमांस तैल-इस तैल के मर्दन से सब पक्षाघात, अर्दित, हनुग्रह, अण्डवृद्धि, आन्त्रवृद्धि, वातरक्त आदि रोग नष्ट होते हैं।

३८. बृहत् कासीसाद्य तैल-इस तेल को अर्श पर लगाने से मांसांकुर गिर जाते हैं।

३९. कासीसाद्य तैल- इस तेल में मदार का दूध मिलाकर अर्श पर लगाने से अर्श नष्ट हो जाता है।

४०. धूस्तूर तैल-इस तेल को सिर पर अभ्यंग करने से जुएँ नष्ट होते हैं।

४१. पुनर्नवा तैल-इस तेल के अभ्यंग से पाण्डु, कामला, हलीमक, प्रमेह, कास, श्वास, भगन्दर, प्लीहा, उदर, जीर्ण ज्वर नष्ट होते हैं।

४२. दूर्वाद्य घृत- रोमकूपों में यदि रक्त, पित्त प्रवृत्त हो तो इस तेल का अभ्यंग करते हैं।

४३. स्वल्पचन्दनादि तैल- इसका प्रयोग राजयक्ष्मा, कास, गर(संयोगविष) आदि में अभ्यंग करने के लिये बताया गया है।

४४. वासाचन्दनाद्य तैल- इसका मर्दन करने से कास, ज्वर, रक्तपित्त, पाण्डु, हलीमक, कामला, क्षतक्षीण, राजयक्ष्मा, पाँचों प्रकार के श्वास आदि में लाभ करता है।

४५. पलंकषाद्य तैल-इस तेल के अभ्यंग से अपस्मार दूर होता है।

४६. विष्णु तैल-अश्मरी, अन्त्रवृद्धि, गलगण्ड, वातरक्त आदि में इसका मर्दन करने से लाभ होता है।

४७. बृहद् विष्णु तैल-इस तेल का मर्दन करने से ऊर्ध्व वात, अंगुलिग्रह(अंगुलि का वात के कारण स्तब्ध एवं वेदनायुक्त होना), शिरोगत वात, मन्यास्तम्भ, गलग्रह तथा सन्धि एवं मज्जागत वातरोग नष्ट होते हैं।

४८. शैलेवाद्य तैल- इस तेल के लगाने से भी शोथ में लाभ होता है।

४९. समुद्रशोष तैल-इसके मर्दन से भी शोथ की शान्ति होती है।

५०. छुच्छुन्दरी तैल-गण्डमाला रोग में लाभकारी होता है।

५१. सिन्दुरादि तैल- गण्डमाला नाशक है।

५२. गुंजाद्य तैल- इसके अभ्यंग से नाड़ीव्रण, अर्श तथा अर्बुद नष्ट होते हैं।

५३. जात्यादि घृत/तैल-व्रण का शोधन एवं रोपण करता है।

५४. गोराद्य घृत/तैल-व्रण नाशक है।

५५. बृहत् जातिकाद्य तैल-यह शोधन तथा रोपण करता है।

५६. करंजाद्य घृत-इसके बाह्य प्रयोग से दुष्टव्रण, नाड़ीव्रण आदि नष्ट होते हैं।

५७. पाटली तैल-इसको लगाने से दग्ध व्रण की वेदना, स्राव, दाह, विस्फोट नष्ट होते हैं।

५८. मंजिष्ठाद्य तैल-इसको लगाने से अग्निदग्ध व्रणों का रोपण होता है।

५९. चक्र तैल-भग्न पर इसका मर्दन किया जाता है।

६०. गन्ध तैल- भग्न रोगी के लिए इसका अभ्यंग तथा पान हितकर है।

६१. स्वर्जिकाद्य तैल- इस तैल का प्रयोग नाड़ीव्रण में किया जाता है।

६२. कुम्भीकाद्य तैल- इसके पान, अभ्यंग से नाड़ीव्रण नष्ट होता है।

६३. निशाद्य तैल- इसके बाह्य प्रयोग से भगन्दर शान्त होता है।

अभ्यंग का निषेध-

केवलं सामदोषेषु न कथंचन योजयेत्। तरुणज्वर्यजीर्णी च नाभ्यक्तव्यौ कथंचन।।

तथा विरक्तो वान्तश्च निरूढो यश्च मानवः। पूर्वयोः कृच्छ्रता व्याधेरसाध्यत्वमथापि वा।।

शेषाणां तदहः प्रोक्ता अग्निमान्द्यादयो गदाः। सन्तर्पणसमुत्थानां रोगाणां नैव कारयेत्।[11]

आमयुक्त दोषों में अकेला स्नेह (असंस्कृत स्नेह) का किसी भी अवस्था में प्रयोग नहीं करना चाहिए। नव-ज्वर रोगी और अजीर्ण रोगी को कभी अभ्यंग नहीं कराना चाहिए। इसी प्रकार वमन, विरेचन और निरूह वस्ति के पश्चात् भी अभ्यंग नहीं कराना चाहिए। इसमें अभ्यंग कराने से रोग कष्टसाध्य सा असाध्य हो जाते हैं। अन्य रागियों में अग्निमान्द्य हो जाता है। सन्तर्पणजन्य रोगों में भी अभ्यंग नहीं कराना चाहिए।

भैषज्यरावली में अतिसार से पीड़ित रोगी को स्नान, अभ्यंग, जलावगाहन, गुरु तथा स्निग्ध भोजन, व्यायाम आदि छोड़ देने के लिए बताया गया है।

वर्ज्योऽभ्यंगकफग्रस्तकृतसंशुद्धयजीर्णिभिः।।[12]

अष्टांगहृदयकार ने भी कफप्रधान रोगों में, जिसके शरीर का शोधन किया गया हो, एवं अजीर्ण रोगी में अभ्यंग का निषेध किया है।

---

११ सु.चि. २४:३५-३७

१२ अ.ह.सू. २:९

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०१० अङ्क १३ (पृ०२१३-२२३)

आधुनिक शिक्षाव्यवस्था और वाल्मीकि रामायण

डॉ. ब्रह्मदेव[1]

आर्यावर्त्त में शिक्षा की उन्नतावस्था और उसका प्रयोजन

आर्यावर्त्त[2] की शिक्षा दीक्षा सर्वदा उच्च परम्पराओं से सम्वलित और पृथिवी के सभी चिन्तकों को दिव्यदृष्टि देने वाली रही है। इसीलिए यहाँ का समाज उन्नत और सुसमृद्ध रहा।[3] यही नहीं विश्व का प्रबुद्धवर्ग भी चुम्बक की तरह आकृष्ट हुआ यहाँ दौड़ा चला आता था।[4] यहाँ के ऋषि, मुनियों ने सर्वजन हितार्थ वेदों की मान्यताओं, शिक्षाओं के अनुरूप[5] समाज को सुव्यवस्थित करने के लिए श्रेष्ठ मर्यादाओं का बीजारोपण किया, जिन्हें वर्णाश्रम व्यवस्था कहा गया। इस व्यवस्था में कर्त्तव्यकर्म ही मुख्यता रखता है, वही मानवीय मूल्यों को शिक्षा की दृढ़ भित्ति पर उत्कृष्ट से उत्कृष्टतर और उत्कृष्टतम बनाता हुआ मानवों में आदर्शों के आधार पर गुण, कर्मानुसार भिन्नता को प्रदर्शित करता है।[6] मानव-जीवन के चतुर्विध प्रयोजन धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की अवधारणा की पूर्ति करना शिक्षा का मूल उद्देश्य रहा, इनमें भी अन्तिम पुरुषार्थ मोक्ष के लिए प्रयत्न मुख्यरूपेण किए जाते थे,[7] अन्य पुरुषार्थ जीविका के साधन मात्र थे। अतः आचारधर्म पर विशेष ध्यान दिया जाता था।[8] इसीलिए भारतीय चिन्तन के अनुसार शिक्षा का स्वरूप दयानन्द के शब्दों में कहें तो इसप्रकार हो सकता है - **जिस से विद्या, सभ्यता, धर्मात्मा, जितेन्द्रियतादि की बढती होवे और अविद्यादि दोष छूटें उस को शिक्षा कहते हैं।**[9] शिक्षा के ऐसे आदर्शोन्मुखी उद्देश्य जहाँ होंगे वहाँ की समाजव्यवस्था चरमोत्कर्ष को प्राप्त होगी ही, जिसका मूर्तरूप संस्कृतवाङ्मय में पद-पद पर दृग्गोचर होता है।

ब्राह्मणों की स्वार्थबुद्धि और आलस्य के कारण समाज व शिक्षा की अधोगति

उक्तानुरूप चातुर्वर्ण्य स्व-स्व कर्त्तव्यों में निरत रहता हुआ जीवन के परम लक्ष्यभूत आनन्दतत्त्व को प्राप्त करने के लिए यथासामर्थ्य जब तक प्रयत्न करता रहा तब तक समाज में सौहार्द, कृतज्ञता, निरभिमानिता, आचरण

---

१ उपाचार्य, संस्कृत-विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

२. मनुस्मृति २.२२, आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्। तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्त्तं विदुर्बुधाः।।

३. वाल्मीकिरामायण (गीताप्रेस सं०) १.६.६, तस्मिन् पुरवरे हृष्टा धर्मात्मानो बहुश्रुताः। नरास्तुष्टा धनैः स्वैः स्वैरलुब्धाः सत्यवादिनः।। इसप्रकार के उद्धरण वाल्मीकिरामायण और महाभारत जैसे ऐतिह्य ग्रन्थों में भरे पड़े हैं, जो आर्यावर्त्त की सुसमृद्धि की कहानी पदे-पदे कहते हैं।

४. मनु० २.२०, एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।।

५. ऋग्वेद १०.९०१२, यजुर्वेद ३१.११, ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत।।

६. गीता ४.१३, चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

७. यजुर्वेद ३१.१८, तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

८. मनुस्मृति १.१०८, आचारः परमो धर्मः।

९. सत्यार्थप्रकाश के अन्त में दत्त स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश में शिक्षा की परिभाषा।

में उच्चता आदि गुण और सभी मानवों में दीर्घायुष्य के साथ सुख वैभव की समृद्धि रही,[१०] परन्तु महाभारत का काल आते-आते सत्यनिष्ठ, त्यागी, तपस्वी, अपरिग्रही ब्राह्मण में उत्कृष्टता का बीजारोपण करने वाले ज्ञान, कर्म, श्रेष्ठ विद्वानों और ईश्वर की उपासना, शम, दम, दया आदि गुण[११] आलस्य, प्रमाद और स्वार्थों के वशीभूत होकर कर्त्तव्यकर्मों से विरत होने से आई न्यूनताओं के कारण पलायन करने लगे, जिससे वेदाध्ययन की परम्परा क्षीण हो गई और इसका स्थान भोजनभट्टता ने ले लिया।[१२] जाति से ब्राह्मण कहलाने वालों में ही यह कर्त्तव्यहीनता आज अनवरतरूप में प्राय: देखी जाती है, ऐसे में अन्य जनों का तो क्या कहना? जब कि वही कर्त्तव्यकार्यों हेतु दिशानिर्देश देने वाले **वेदादिशास्त्र** हैं, वही **ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडंगो वेदोध्येयो ज्ञेयश्च**[१३] जैसी मान्यताएँ हैं। इनके होते हुए भी स्वाध्याय से विमुख होने के कारण मानव की अद्यतनीया दुर्गति हुई। तभी तो आज का जात्यभिमानी ब्राह्मण वेदाध्ययन के विना शूद्र कर्म करता हुआ भी चतुर्वेदी, त्रिवेदी, द्विवेदी आदि शब्दजालों से अपने आप को अभिषिक्त करता हुआ किंचिन्मात्र भी नहीं संकुचाता। जहाँ वैदिक परम्परा में ब्राह्मण की गुणगरिमा और महिमा के समक्ष समस्त समाज नत होता था[१४], वहीं गुणों से रहित होने पर भी ब्राह्मणों ने अपने आप को मक्कारी और फरेब से पूज्य और देवता कहलवाने का षडयन्त्र मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में प्राप्त **अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतँ महत्, सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः परमं हि दैवतं हि तत्**[१५] जैसे प्रक्षिप्त श्लोकों के माध्यम से कर दिया, जिससे दुराचारी और मूर्ख भी जन्मना ब्राह्मण होने के कारण ब्राह्मण कहला रहा है, जबकि शास्त्रों में स्पष्टत: गुण, कर्म, स्वाभावादि ब्राह्मणत्व आदि के निर्धारक कहे गये हैं।[१६]

ऐसी परिस्थितियों में जब समाजरूपी शरीर के शीर्षस्थानीय ब्राह्मणों, शिक्षकों, आचार्यों में वे चिरपरिचित शम, दम, तितिक्षा, कर्त्तव्यनिष्ठता आदि गुणधर्म नहीं रहे तो समाज के अन्य अंगभूत मानवों में, जिन्हें आज विभिन्न जन्मना जातियों से जाना जाता है, विकृतियाँ आना अस्वाभाविक न था। उसे कौन रोक सकता था? उसीप्रकार से जिसप्रकार शरीर के प्रमुख ज्ञानतन्तुओं के केन्द्रबिन्दु सिर, मस्तिष्क में खराबी आ जाए तो शरीर के अन्य अंगों को कहाँ तक दूषित होने से बचाया जा सकता है। यदि कहा जाए कि यह सर्वथा असम्भव है, तो अत्युक्ति नहीं होगी। परिणामतः समाज विभिन्न जातियों में बाँट दिया गया और कुछ अस्पृश्य तक करार दिए गए, लेकिन क्या पाँवों के विना शरीर की सुस्थिति की परिकल्पना की जा सकती है? कदाचित् नहीं।

---

१०. वा० रा० १.६.१७-१८, वर्णेष्वग्रचतुर्थेषु देवतातिथिपूजकाः। कृतज्ञाश्च वदान्याश्च शूरा विक्रमसंयुताः ।। दीर्घायुषो नराः सर्वे धर्मं सत्यं च संश्रिताः। सहिताः पुत्रपौत्रैश्च नित्यं स्त्रीभिः पुरोत्तमे ।।

११. शुक्रनीतिसार १.४०, (व्याख्याकार- स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती, प्रका०- ऋषिदेवी रूपलाल कपूर धर्मार्थ ट्रस्ट, बहालगढ, सोनीपत), ज्ञानकर्मोपासनाभिर्देवताराधने रतः। शान्तो दान्तो दयालुश्च ब्राह्मणश्च गुणैः कृतः।।

१२. (क) भारतीयसमाजशास्त्र (पं० धर्मदेव सिद्धान्तालंकार, आर्यसाहित्यमण्डल लि०, अजमेर, सं०१९८९ वि०) पृ० ४३ व ७४(ख) मनुस्मृति ५.४ , अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्। आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्रांजिघांसति।।

१३. महाभाष्य पस्पशाह्निक, व्याकरणाध्ययन के मुख्य प्रयोजनों में उल्लिखित।

१४. द्र० वाल्मीकिरामायण, महाभारत, शाकुन्तल आदि के आश्रमों के प्रसंग, जहाँ राजा भी सर्वथा विनीतभाव से आश्रमस्थ गुरुजनों के समक्ष नत हुआ देखा जाता है।

१५. मनुस्मृति ९.३१७, ३१९

१६. शुक्रनीतिसार १.३८, न जात्या ब्राह्मणश्चात्र क्षत्रियो वैश्य एव न। न शूद्रो न च वै म्लेच्छो भेदिता गुणकर्मभिः। भविष्यपुराण, ब्राह्मपर्व ४४.३१, शूद्रोऽपि शीलसम्पन्नो ब्राह्मणादधिको भवेत्। ब्राह्मणो विगताचारः शूद्राद्धीनतरो भवेत्।।मनुस्मृति १०.६५, शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्। क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च।।

साम्प्रतिक शिक्षा के उद्देश्य, पद्धति और दोष

वर्तमानयुगीन शिक्षा के उद्देश्य केवल अर्थप्राप्ति और तद्द्वारा विषयोपभोगों को प्राप्त करना या कहिए भौतिकसंसाधनों को अपनी मौजमस्ती के लिए जुटाना मात्र है और उसी से समस्त लोगों को सुख शान्ति प्राप्त करवाने के उपाय किये जाते हैं। भौतिक संसाधनों को जुटाने के लिए नित नये कारखाने खोले जा रहे हैं। अर्थ का अधिक से अधिक आगम कैसे हो उसी की चिन्तनायें देश और विश्व स्तर पर की जाती हैं। शिक्षा का उद्देश्य केवल मानव को साक्षर करना और तद्द्वारा भोजन, वस्त्र तथा मकान किंचित् सुविधा से प्राप्त हो जायें -इस चिन्तन धारा को कुछ गति देना है। अत एव प्रत्येक गाँव तक में विद्यालय की सुविधा सरकारी व निजी स्तर पर विद्यमान है।

साम्प्रतिक शिक्षाप्रणाली में बाह्य चमक दमक को विशेष महत्त्व प्राप्त है। विशेषकर निजी विद्यालयों में लोगों को आकृष्ट करने के लिए साजसज्जा पर विशिष्ट ध्यान दिया जाता है। बच्चों के स्वास्थ्य, भोजन, वस्त्रों और पाठशाला की सफाई सुचारु हो इसकी चिन्ता की जाती है। बच्चे अधिक से अधिक अंक परीक्षा में कैसे अर्जित करें वे उपाय अभिभावकों और अध्यापकों द्वारा किये जाते हैं तथा उसी के माध्यम से आजीविका प्राप्ति के उपायों की खोज भी होती है। अच्छी से अच्छी सर्विस कैसे प्राप्त की जा सकती है, इसके लिए मन मस्तिष्क के घोड़े दौड़ाये जाते हैं। अत: पढ़ने हेतु मुख्य विषय विज्ञान और गणित को ही सीखने के लिए बल दिया जाता है। अन्य विषयों को भी स्पर्श किया जाता है लेकिन सब को एक साथ। भाषाओं को महत्त्व किंचित् ही दिया जाता है। इस शिक्षाप्रणाली में क्या दोष हैं, यदि इनका परिगणन किया जाये तो वे सामाजिक और वैयक्तिक रूप से बहुसंख्य होंगे। यथा-

- इस शिक्षा प्रणाली में सामाजिक दृष्टि से देखा जाए तो सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें राष्ट्र के अर्थ और समय का अपव्यय, वातावरण की प्रदूषण से हानि सबसे अधिक होती है, जिससे बचा नहीं जा सकता। अर्थहानि और समयहानि इस दृष्टि से कि प्रत्येक प्रात: शहरों में बच्चों को माता पिता विद्यालय में भेजने के लिए तैयार करते हैं। फिर विद्यालय में आवागमन के लिए ऑटो, बस या निजी वाहन विशेष की इन्तजार में न्यून से न्यून पन्द्रह मिनट से आधा घण्टा या अधिक दोनों समय अभिभावक ही प्रतिदिन नष्ट करते हैं। बच्चों के समय की हानि भी आवागमन में कई घण्टों में प्रत्येक दिन होती है। इसप्रकार प्रतिदिन के समय की हानि एक राष्ट्र के लिए कितनी महंगी पड़ती है वह वर्णनातीत है। विद्यालय की फीस का खर्च, वाहनों का खर्च और उनसे होने वाला वायु और ध्वनि प्रदूषण प्रतिदिन की दृष्टि से एक ही छोटे से शहर में ही लाखों का पड़ता है, मास और वर्षों की गणना अरबों खरबों में होगी जिसका सही अनुमान लगाना भी कष्टसाध्य है, लेकिन प्राचीन भारतीय आश्रम व्यवस्था में इस प्रकार का कोई रोग नहीं। श्रेष्ठ, आचावान्, अध्यात्मनिष्ठ गुरुओं, जिनकी परिकल्पना संस्कृत साहित्य में उपलब्ध है, के पास भेजे जाने पर निश्चिन्तता आती है और पारिवारिक जन स्वकर्त्तव्यकर्म

सम्यक् कर पाते हैं। ऐसा होने पर देश का समय, सम्पत्ति और वातावरण की शुद्धता बनी रह सकती है। विद्यार्थी भी निश्चिन्त हो विद्याध्ययन कर सकता है।

- अपने वाहनों तथा सार्वजनिक वाहनों से विद्यालय में आने जाने वाले छात्रों की अनेक बार दुर्घटनाएँ भी होती हैं, जिसमें हर वर्ष न जाने कितनी जानें जाती हैं और कितने अपंग होते हैं। किसी कारण से विद्यालय से आने में विलम्ब हुआ तो माता पिता के चिन्ता के कारण प्राण सूख जाते हैं।
- गलत संगत के कारण बच्चे विद्यालयों में न जाकर आवारागर्दी करते रहते हैं और माता पिता सोचते हैं वह विद्यालय पढ़ने गया है। पॉकेट मनी भी गलत आदतों को पालने में एक कारण बनती है।
- इस प्रणाली में एक यह दोष है कि छात्र की किसी प्रकार की कोई दिनचर्या नहीं बन पाती। कभी वह प्रातः पाँच बजे बिस्तर छोड़ता है तो कभी सात और आठ बजे। रविवार को तो वह उठना ही नहीं चाहता और जहाँ शरीर को बलिष्ठ होना चाहिए था, वह रोगग्रस्त होता चला जाता है। न शारीरिक व्यायाम में कोई रुचि हो पाती, न प्राणायाम या आत्मचिन्तन। परिणामस्वरूप मानसिक बीमारियों को भी नित्य निमन्त्रण।
- प्रतिस्पर्धा के इस दौर में ट्यूशन की बीमारी भी बहुत भयंकर है। ऐसे में बच्चे विद्यालय और ट्यूशन के बीच में कितना समय और रुपया बर्बाद करते हैं, वह किसी से छुपा नहीं। ऐसे बच्चों का बचपन भी नष्टप्रायः हो जाता है, उनका ठीक से शारीरिक और मानसिक विकास भी नहीं हो पाता, युवा होते होते बूढ़े हो जाते हैं।
- यह सब जानते हैं कि सभी के घर विलासिता के भी आगार होते हैं। घरों में कुछ झगड़ा भी होता है। इन सब का साथ में रहने वाले बच्चों के कोमल मन पर गलत गहरा प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। वे विलासिता के रंग में भी रंगते हैं, जिसकी अभी उन्हें कोई आवश्यकता नहीं, जिससे कुण्ठाग्रस्त होते जाते हैं।
- जो माता पिता अपने बच्चों पर ध्यान नहीं दे पाते उनके बच्चे घर पर टी० वी०, वीडियो आदि के रोग से ग्रस्त हो जाते हैं। जो नहीं देखा सुना जाना चाहिए वह सब उसके माध्यम से अबोध बालक जानने लगते हैं। जिससे पढ़ाई में विशेष ध्यान नहीं दे पाते और मानसिक प्रदूषण के शिकार हो जाते हैं।

- विद्यालयों की मोटी फीस, जिसे सभी नहीं दे सकते उससे समाज में समरसता नहीं होती। कोई बड़ी गाड़ी में आ रहा है तो कोई साईकिल द्वारा ऐसे में ऊँच नीच का भाव समाज में पनपता है। उच्च शिक्षा भी मोटी फीस के द्वारा खरीदी गई होती है, अतः पैसे का ही मूल्य है यह कोमल मनों पर आज की शिक्षा पद्धति के कारण छाया रहता है और वे बड़े होकर स्वयं वैसा ही व्यवहार करते हैं।
- प्रकृति के प्रति किसी प्रकार का कोई प्रेम आज की इस पद्धति के कारण नहीं बन पाता, क्योंकि वैसे वातावरण में वे रहते ही नहीं। ईंट, पत्थरों के जंगलों में रहते-रहते वे भी वैसे ही पत्थर दिल बन जाते हैं।
- स्वावलम्बन का अभाव इस शिक्षाप्रणाली में बच्चों में इतना अधिक देखने को मिलता है कि वे स्वयं कुछ कार्य करना नहीं चाहते। यहाँ तक कि बनियान आदि छोटे वस्त्र भी स्नानागार में दूसरों के लिए प्रक्षालित करने हेतु छोड़ देते हैं। कालान्तर में पूर्णतः पराश्रित हो जाते हैं।
- त्याग, तपस्या, ब्रह्मचर्य, अध्यात्म का स्पर्श भी जीवन में नहीं किया होता, अतः सामान्य से कष्टों के आने मात्र से ही आत्महत्या की भावना आती है। सहिष्णुता का अभाव वहाँ मुख्य होता है। इसीलिए आई० आई० टी०, आई० आई० एम० जैसे संस्थानों में भी बच्चे आत्महत्या करते हुए समाचार पत्रों की प्रायः सुर्खियाँ बनते हैं। कहीं परस्पर ईर्ष्या द्वेष के कारण अपने साथियों का संहार करने तक का जघन्य कार्य भी कर डालते हैं।
- भाषा का अध्ययन अध्यापन मानसिक भावों को जागृत करता है, विचारों की नई स्फूर्ति जीवन में लाता है, लेकिन आज कल की शिक्षा प्रणाली में भाषा की मुख्यता न होने से इसका भी अभाव देखा जा रहा है, अतः नई पीढ़ी भावशून्य हो रही है। दया, परोपकार, सत्यवादिता भाव गुजरे जमाने की बात होती जा रही है।
- हजारों की संख्या में शिक्षार्थी विद्यालयों, महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों से निकलते हैं, परन्तु सभी अपने तक ही सीमित होते जा रहे हैं। किसी में माता, पिता, परिवार, समाज, देश, राष्ट्र के प्रति कोई भक्तिभाव नहीं, उदारता नहीं। कारण भावना का अभाव। विद्यालयों में केवल गणित, विज्ञान, इतिहास अथवा कला-सम्बन्धी विचारों को बच्चे में सम्प्रेषित करने का अधिकतर कार्य किया जाता है, जबकि बच्चों का अधिक

समय तो पाठशालाओं से बाहर आराम की जिन्दगी के सान्निध्य या खेलकूद में व्यतीत होता है। जीवन जीने की कला की शिक्षा इस मध्य में लुप्त हो जाती है। इन नकारात्मक भावों से विपरीत श्रेष्ठ भावों का बीजारोपण करने के लिए आन्तरिकभावों को जागृत करना होता है, जो आध्यात्मिकता में निहित हैं, वे आचार व्यवहार से सिखाए जा सकते हैं और उनके लिए आज की शिक्षाव्यवस्था में किसी के पास समय नहीं। इसकी कुंजी प्राचीन आश्रमव्यवस्था के पास है।

- कामवासना ऐसा रोग है, जो प्रत्येक को पीड़ित करता है, लेकिन आजकल की शिक्षाव्यवस्था में उस पर काबू पाने का कोई उपाय ब्रह्मचर्य आदि के रूप में निर्दिष्ट नहीं किया जाता। अतः युवावस्था आने पर सहशिक्षा के कारण थोड़े से भी अनुकूल वातावरण के मिलते ही बच्चों को बहकने का खुला आमन्त्रण मिलता है। भारतीय समाज में संस्कारों के कारण कुछ उस कुकर्म से बच जाते हैं तो कुछ नीचे ही नीचे संलिप्त हो जाते हैं। अब पाश्चात्त्य संस्कृति, जहाँ के देशों में सोलह वर्ष के होते होते बच्चे काम के ऐसे शिकार होते सुने जाते हैं कि शायद ही कोई लड़की गर्भपात करवाने से बचती हो, का प्रभाव भारतीय समाज के बड़े-बड़े शहरों में देखने को मिल रहा है। पुरातन आश्रम पद्धति के अनुसार लड़के लड़कियों के पृथक्-पृथक् विद्याकेन्द्र होने से इस रोग से बचा जा सकता है। लड़कियों को तंग करने, छेड़ने से बचाया जा सकता है।
- आज की परिस्थितियों में ऐसा कौन सा घर है जहाँ काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष जैसे कीटाणुओं का प्रवेश न हो। जन्म जन्मान्तर की वासनाओं से ये दोष बच्चों में भी अनुकूल अवसर पाकर घर करते जाते हैं। गुरुकुलीय व्यवस्था में अनुकूलता न होने से इनसे बचा जा सकता है।
- आज का विद्यार्थी पाँच, छः घण्टे विद्यालय में रहकर शेष पूरा दिन अपने घर में रहता है। गृहस्थ अपने कार्यों में व्यापृत रहते हैं। ऐसे में बच्चों का संरक्षण करने वाला कोई नहीं। घर में अब वे स्वतन्त्र है, चाहे तो कुछ भी करें। मन का स्वभाव चंचल है। एक स्थान पर बन्ध कर कदाचित् पढ़ा नहीं जा सकता। पढ़ना भी चाहेगा तो महापुरुषों की जीवनी या सही दिशा देने वाली अच्छी पुस्तकें नहीं, अपितु मन को अच्छी लगने वाली

किस्से कहानियों की पुस्तकें। आश्रमव्यवस्था में २४ घण्टे विशेष व्यक्तियों के संरक्षण में रहेगा, अत: स्वतन्त्र हो कुछ गलत नहीं कर सकता।

दूसरी बात यह कि घर के सदस्यों के रहते भी उसके घर में जो कुछ भी अच्छा या बुरा हो रहा है उसका प्रभाव उसके जीवन पर पड़ेगा ही। ग्रामीण क्षेत्रों में तो प्राय: चाय, बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू, शराब आदि मादक पदार्थों का सेवन प्रत्येक घर में होता है। बच्चे में भी बड़ों को देखते हुए वे गलत आदतें शनै: शनै: घर कर जाती हैं और वह भी वैसा ही बन जाता है। बाद में स्वभाव में आने से रोकने से नहीं रुकतीं। ऐसे ही अन्य बुराइयों के नित्य प्रत्यक्ष होने से मन की अनुकूलता के आते ही बच्चा बड़ा होते-होते उसे स्वीकार कर लेता है। अत: निरन्तर पीढ़ी दर पीढ़ी ये बुराइयाँ समाज में आती रहती हैं। लेकिन प्राचीन आश्रम व्यवस्था में अच्छे प्राकृतिक वातावरण और श्रेष्ठ आचार्यों, गुरुओं के सान्निध्य में रहता हुआ बालक इन बुराइयों से बचा रह सकता है और कालान्तर में अच्छा नागरिक बन सकता है।

- आज की शिक्षाव्यवस्था में समानता का अधिकार न होने से सैंकड़ों वर्षों से दबे कुचले सामाजिकजन वहीं के वहीं उसी दुरवस्था में जी रहे हैं। पाँच छ: वर्ष की आयु के पश्चात् गाँव के या मलिन बस्तियों के बच्चों को प्राचीन शिक्षापद्धति के अनुरूप शिक्षणालयों में भेजा जाता तो उनका स्वरूप ही कुछ ओर होता। इस व्यवस्था में सम्पत्तिशाली तो आगे निकल जाते हैं और निर्धन साधनों के अभाव में वहीं के वहीं, गली सड़ी जिन्दगी गुजारने को मजबूर रह जाते हैं। परम्परया उनके बच्चों को भी उन्हीं के साथ रहने से वैसा ही वातावरण मिला होता है, अत: पूर्ववत् बने रहने के अतिरिक्त कुछ परिवर्तन नहीं आ पाता।

अन्य यम-नियम प्रभृति की पालना का अभाव आदि से होने वाले अनेक दोष भी विचार करने पर इस शिक्षा पद्धति में संकेतित किये जा सकते हैं, जिनके चलते आज स्थिति यह हो गई है कि साधन साध्य हो गया है। विश्व के समस्त शैक्षणिक संस्थानों में आज प्राय: इसी की अन्धी दौड़ है और उसी का परिणाम है कि मानव अर्थलिप्सु हुआ येन केन प्रकारेण शिक्षित कहलाता हुआ भी भ्रष्टाचार, अनैतिक आचरणों के दलदल में आकण्ठ डूबा जा रहा है। यह जानता हुआ कि जितना कुछ एकत्रित किया जा रहा है वह यहीं रह जाना है, अन्य ही कुछ है जो साथ में जाना है। सुख शान्ति यदि धन ऐश्वर्य में होती तो विश्व के चोटी के धनाढ्यों में अशान्ति देखने को न मिलती, अम्बानीबन्धुओं में लड़ाई झगड़ा न होता। लेकिन, आज की शिक्षा व्यवस्था इसी धुरी पर चक्कर लगा रही है, जो मानव की ऐकान्तिक और आत्यन्तिक सुख की अवाप्ति का साधन नहीं। अत: भारतीय उच्च आदर्श और कर्त्तव्यभावना को शिक्षाव्यवस्था के माध्यम से पुन: समाज को रास्ता दिखाने के लिए लाना होगा, जो वेदादिशास्त्रों

के आविर्भाव से लेकर रामायणकाल तक समृद्धि को प्राप्त हुई दिखाई देती है तथा वही महाभारत काल के आते-आते क्षीण हो गईं और आज प्रायः लुप्त है। अत एव शिक्षा के उक्त उद्देश्य हो गए और अनधिकारियों के हाथों में शैक्षणिक व्यवस्थाएँ चली गईं। परिणामतः राजसत्ता, न्यायालय, धार्मिककेन्द्र, शिक्षणालय सब के उद्देश्य परिवर्तित हो स्वार्थपूर्ति में निहित हुए जान पड़ते हैं। आज पुनः आवश्यकता है कि वर्तमानकालिक नीतिनिर्धारक प्राचीन शिक्षाव्यवस्था के महत्त्व को समझें और वे पुनः वर्णधर्म के अनुसार वेदादिशास्त्रों और वाल्मीकिरामायणादिकाव्यों में प्रतिबिम्बित होने वाली शिक्षाव्यवस्था की सुस्थापना करवाने का प्रयत्न करें, जिससे भारतवर्ष पुनः अपने खोए हुए गौरव को प्राप्त कर सके।

वाल्मीकिरामायण में प्रतिबिम्बित शिक्षा

वाल्मीकिरामायण में साक्षाद्रूपेण कैसी शिक्षाव्यवस्था रही होगी यह वहाँ स्पष्टतः उल्लिखित नहीं है, परन्तु चित्रित सामाजिक व्यवस्था के व्यवहारिक स्वरूप से वह अनुमानगम्य अवश्य है। रामायण के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय वैदिकी शिक्षाव्यवस्था का पूर्ण प्रभाव था। उस समय शिक्षा के उद्देश्य समाज के प्रत्येक वर्ग की शारीरिक, बौद्धिक, आत्मिक, सामाजिक उन्नति करना थे। शिक्षणालय सुदूर प्रकृति की गोद में थे, जो पूर्णतः वैदिकी परम्परा[१७] का अनुसरण करते थे। महर्षि भारद्वाज[१८], अगस्त्य,[१९] अत्रि,[२०] वाल्मीकि[२१] आदि ऋषि मुनियों के आश्रम स्थलों का वर्णन इसी कोटि का है। ऐसे आश्रम स्थलों में सत्यनिष्ठ, तेजस्वी, निःस्पृह, स्वार्थहीन, स्व आचरण से ही जीवन की सार्थकता को सिद्ध करने वाले आचार्यों, ब्राह्मणों, गुरुओं के सान्निध्य में अन्तेवासी के रूप में उपनीत होकर छात्र निवास करता हुआ विद्याध्ययन करता था। अथर्ववेद की ऋचा के अनुसार उपनीत विद्यार्थी को आचार्य मातृतुल्य गोद की ममता प्रदान करता हुआ अपने सामीप्य से तब तक दूर न करे, जब तक विद्यार्थी की बुद्धि का समस्त अज्ञानान्धकार नष्ट नहीं हो जाये।[२२] यही स्वरूप वाल्मीकिरामायण में दिखाई देता है। अन्यथा समाज की जैसी चित्रित उत्कृष्ट स्थिति है, वैसी कदाचित् न होती। बालकाण्ड के षष्ठ सर्ग में दशरथ के शासनकाल में अयोध्या और वहाँ के पुरवासियों का वाल्मीकि ने जो चित्र प्रस्तुत किया है, वह अद्वितीय है। वहाँ की उज्ज्वल संस्कृति और समृद्धि का परिचायक है, जो तपोनिष्ठ आचार्यों के कुलों के द्वार से होकर ही सृष्ट हुआ जान पड़ता है। वहाँ का राजा दशरथ स्वयं **वेदवित्**, दूरदर्शी, उपयोगी वस्तुओं का संग्रहकर्ता, जनप्रिय, **यजनशील, धर्मपरायण**, जितेन्द्रिय चित्रित है।[२३] उनके चारों पुत्र समस्त संस्कारों से संस्कारित,[२४] वैसे ही शूरवीर, **वेदविद्**, लोकहित में रत रहने वाले, **ज्ञानवान्**, समस्त सद्गुणों से सम्पन्न, **नित्य वेदों का स्वाध्याय करने** वाले और

---

१७. ऋग्वेद ८.६.२८, उपरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत।।

१८. द्रष्टव्य वाल्मीकिरामायण २.५४

१९. द्र० वही ३.१२,

२० द्र० वही २.११७

२१. द्र० वही ७.४५.१७, १८ गंगायास्तु परे पारे वाल्मीकेस्तु महात्मनः ।। आश्रमो दिव्यसंकाशस्तमसातीरमाश्रितः ।।

२२ अथर्ववेद ११.५.३, आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः। तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः।।

२३ वाल्मीकिरामायण १.६.१,२, तस्यां पुर्यामयोध्यायां वेदवित् सर्वसंग्रहः। दीर्घदर्शी महातेजाः पौरजानपदप्रियः।इक्ष्वाकूणामतिरथो यज्वा धर्मपरो वशी। महर्षिकल्पो राजर्षिस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः।।

२४ वही १.१८.२४, तेषां जन्मक्रियादीनि सर्वकर्माण्यकारयत्।

पिता की सेवा में दत्तचित्त रहने वाले, धनुर्वेद में पारंगत थे।[२५] तो **यथा राजा तथा प्रजा** की सूक्ति को चरितार्थ करते हुए अयोध्यावासी भी तादृश क्यों न होंगे। वे भी प्रसन्न, **धर्मात्मा, बहुश्रुत,** प्राप्तधन से ही सन्तुष्ट रहने वाले, निर्लोभी, सत्यवादी थे। कोई उनमें कामी, कृपण, नृशंस, मूर्ख और नास्तिक, अग्निहोत्र और पंचयज्ञ न करने वाला, न क्षुद्र और तस्कर था, न कोई सदाचारशून्य व वर्णसंकर था।[२६] ब्राह्मण भी स्वकर्म में निरत, विजितेन्द्रिय, दान, **अध्ययनशील** और असंग्रही थे। उन में नास्तिक, असत्यवादी, **विविधशास्त्रों को न जानने वाला,** ईर्ष्या करने वाला, अशक्त और **विद्याहीन** कोई न था। **न ही वेदों के छः अंगों को न जानने वाला,** अव्रती, सहस्रप्रकार से दान न देने वाला, दीन, विक्षिप्तचित्त अथवा व्यथित न था।[२७] क्षत्रिय ब्राह्मणों के अनुगामी थे, वैश्य क्षत्रियों की आज्ञा का पालन करते थे और शूद्र वर्ण भी तीनों वर्णों की सेवा में तत्पर रहता था।[२८] ये सब स्वस्थपरम्परायें शिक्षा व्यवस्था के उच्च मानदण्डों के कारण ही थीं और उसके कारक थे तात्कालिक आश्रमस्थल, जहाँ निरन्तर जीवन कैसे जीना है की व्यवहारिक शिक्षा स्वयं अपने चरित्र और आचरण से ऋषि मुनियों की संसद् दिया करती थी। कोई ऐसा आश्रमस्थल न था जहाँ अग्निहोत्र आदि त्यागभावना को देने वाली क्रियाएँ न होती हों। श्रीराम जब महर्षि भारद्वाज के आश्रम में प्रवेश करते हैं तब वे शिष्यगणों से परिवृत्त यज्ञकार्य ही कर रहे होते हैं।[२९] वहाँ हर प्रकार के ज्ञान, विज्ञान, आयुर्वेद, धनुर्वेद, संगीत आदि कलाओं की शिक्षायें विधिवत् दी जाती थीं। जब राम अगस्त्य ऋषि के आश्रम में जाते हैं तब वे उन्हें दिव्यास्त्रों की भेंट देते हैं।[३०] महर्षि विश्वामित्र द्वारा भी भगवान् राम को शस्त्रास्त्रों की दिव्यपरम्परा संहारविधि सहित प्राप्त करवाने का उल्लेख है।[३१] यही नहीं कि अयोध्यावासी ही स्वाध्याय आदि में निरत रहते थे, अपितु लंकावासी भी हनुमान् के द्वारा ऐसा ही करते हुए देखे गये थे।[३२] ऐसे ही एक अन्य श्लोक में राक्षसों का षडंगसहित वेदों में पारंगत होने का उल्लेख[३३] उस समय की शिक्षा व्यवस्था की उत्कृष्टता को कहता है।

समस्त विद्याओं की प्राप्ति विद्यालयों के छात्रावासों में नियमित रहकर शैशव काल में ब्रह्मचर्य अवस्था में ही की जाती थी, घर आना जाना नहीं होता था। कालिदास के रघुवंश के **शैशवेभ्यस्तविद्यानां वार्द्धके मुनिवृत्तीनां**

---

२५ वही १.१८.२५,२६,३४,३६,३७, सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे लोकहिते रताः, सर्वे ज्ञानोपसम्पन्नाः सर्वे समुदिता गुणैः, ते यदा ज्ञानसम्पन्नाः सर्वे समुदिता गुणैः, ते चापि मनुजव्याघ्रा वैदिकाध्ययने रताः, पितृशुश्रूषणरता धनुर्वेदे च निष्ठिताः।

२६ वही १.६.६, ८, १२ तस्मिन् पुरवरे हृष्टा धर्मात्मानो बहुश्रुताः। नरास्तुष्टा धनैः स्वैः स्वैरलुब्धाः सत्यवादिनः।।कामी वा न कदर्यो वा नृशंसः पुरुषः क्वचित्। द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां नाविद्वान् न च नास्तिकः।। नानाहिताग्निर्नायज्वा न क्षुद्रो वा न तस्करः। कश्चिदासीदयोध्यायां न चावृत्तो न संकरः।।

२७ वही १.६.१३-१५, स्वकर्मनिरता नित्यं ब्राह्मणा विजितेन्द्रियाः। दानाध्ययनशीलाश्च संयताश्च प्रतिग्रहे।। नास्तिको नानृती वापि न कश्चिदबहुश्रुतः। नासूयको न चाशक्तो नाविद्वान् विद्यते क्वचित्।। नाषडंगविदत्रास्ति नाव्रतो नासहस्रदः। न दीनः क्षिप्तचित्तो वा व्यथितो वापि कश्चन।।

२८ वही १.६.१९, क्षत्रं ब्रह्ममुखं चासीद् वैश्याः क्षत्रमनुव्रताः। शूद्राः स्वकर्मनिरतास्त्रीन् वर्णानुपचारिणः।।

२९ वही २.५४.११,१२, स प्रविश्य महात्मानमृषिं शिष्यगणैर्वृतम्। संशितव्रतमेकाग्रं तपसा लब्धचक्षुषम्।।हुताग्निहोत्रं दृष्ट्वैव महाभागः कृतांजलिः। रामः सौमित्रिणा सार्धं सीतया चाभ्यवादयत्।।

३० वही ३.१२.३२-३७

३१ द्र० वही १.२७, २८,

३२ वही ५.४.१३, शुश्राव जपतां तत्र मन्त्रान् रक्षोगृहेषु वै। स्वाध्यायनिरतांश्चैव यातुधानान् ददर्श सः।।

३३ वही ५.१८.२, षडंगवेदविदुषां क्रतुप्रवरयाजिनाम्। शुश्राव ब्रह्मघोषान् स विरात्रे ब्रह्मरक्षसाम्।।

योगेनान्ते तनुत्यजाम्[३४] श्लोक निश्चितरूप से इसका संकेत करता है। वाल्मीकि के आश्रम में लव कुश की शिक्षा ग्रहण का प्रकरण भी आश्रमों में ही स्थित होकर सम्पूर्ण वेदवेदांग आदि की विद्यार्जन की गाथा कहता है।[३५] शिक्षाशास्त्र के अनुसार शुद्ध उच्चारण करना बाल्यावस्था में ही सम्भव होता है। जिसे हनुमान्,[३६] भारद्वाज[३७] जैसे महानुभावों के मुखारविन्द से निःसृत शब्दों से प्रमाणित कहा जा सकता है। अन्य अनेक उद्धरण आचार्य, गुरु, उपाध्याय से सम्बद्ध शिक्षाव्यवस्था की उज्ज्वल परम्परा के दिग्दर्शक रामायण से प्रस्तुत किये जा सकते हैं, परन्तु लेख के विस्तरभय से यहीं विराम देता हूँ।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवरण से दो प्रकार की सामाजिक स्थिति स्पष्टतः परिलक्षित हो रही है, **प्रथम**- आधुनिक काल से सम्बद्ध है, जिसे सभ्य होने का उत्कृष्ट प्रमाण-पत्र आधुनिक समाज ने दे रखा है, जिसमें नित्य बच्चों तक के साथ बलात्कार कर गन्दे नाले में फेंक देने की वहसी निठारी नोयडा की और किडनी बेचने की गुड़गाँव जैसी घृणित अनैतिक आचरणों की घटनाएँ हैं। सरे आम बलात्कार हैं। लूटपाट और डकैतियाँ हैं। आतंकवाद है। दूसरों की सम्पत्तियों पर अधिकार जमाने की कोशिशे हैं। असहिष्णुता है। आत्महत्याएँ हैं। भोगवादिता है। विलासिता है। असमानता है। अनपढ़ता है। आलस्य प्रमाद है। स्वार्थी राक्षसी वृत्ति है। अर्थासक्ति ऐसी कि उसके सामने कोई पिता, भाई, बहन आदि का सम्बन्ध कुछ नहीं। प्राणीमात्र के लिए दया का अभाव है। प्रकृति का दोहन इतना कि पर्यावरण कितना ही अशुद्ध हो उससे कुछ लेना देना नहीं। न देशप्रेम है। न दयाधर्म है। सत्यवादिता, परोपकार आदि गुण कोसों दूर हैं। राष्ट्र की सम्पत्ति को कूड़े के ढ़ेर के समान अग्निसात् कर दिया जाता है। केवल अधिकारों की बात होती है, कर्त्तव्यभावना की नहीं। परिवार और समाज टूट रहे हैं। इत्यादि अनेक दोष नित्य समाचार पत्रों की मुख्य पंक्तियाँ बनते हैं। **दूसरी** ओर वाल्मीकिरामायण में प्रतिबिम्बित समाज है, जिसमें मनुष्य प्राणीमात्र और प्रकृति से प्रेम कर रहा है। सभी विद्वान् हैं। वेदादिशास्त्रों का नित्य स्वाध्याय करते हैं। निज कर्त्तव्यकर्मों को करने वाले हैं। निर्लोभी, निरालस्य हैं। दयालु हैं। स्वार्थहीन हैं। अकूतसम्पत्तिशाली हैं तथा साथ ही दान देने की प्रवृत्ति वाले भी हैं। अग्निहोत्री हैं, जिससे प्रकृति को बदले में बहुत कुछ देते हैं। सर्वदा सत्याचरण और परोपकार करने वाले हैं। इत्यादि अनेक गुण तात्कालिक समाज की उत्कृष्ट स्थिति का डिण्डिमघोष कर रहे हैं। दोनों प्रकार की सामाजिक स्थितियों के मूल में झांकने की कोशिश करें तो हमें विचार करने पर एक ही कारण दोनों के पीछे दिखाई देता है और वह है- **शिक्षाव्यवस्था।** आज की शिक्षापद्धति केवल मनुष्य की बाह्य साजसज्जा और स्वरूप को सुधाने पर विचार करती है तो रामायणकालिकी शिक्षा आन्तरिक और बाह्य दोनों स्वरूपों पर समान ध्यान देती है। इसे वेदों में विद्या अर्थात् अध्यात्म और अविद्या अर्थात् भौतिकविद्या कहा गया है तथा दोनों को समानरूपेण अधिगम करने का उल्लेख है[३८], जिसे उपनिषदों में परा और अपरा विद्या के नाम से कहा गया है। इन दोनों स्वरूपों

---

३४ रघुवंश १.८

३५ उत्तररामचरित २.४ से पूर्व का गद्य भाग- तौ च भगवता वाल्मीकिना धात्रीकर्मतः परिगृह्य पोषितौ रक्षितौ च, निर्वृत्तचौलकर्मणोस्तयोस्त्रयीवर्जमितरास्तिस्र विद्याः सावधानेन परिनिष्ठापिताः तदनन्तरं भगवतैकादशे वर्षे क्षात्रेण कल्पेनोपनीय त्रयीविद्यामध्यापितौ। न त्वेताभ्यामतिदीप्तप्रज्ञाभ्यामस्मदादेः सहाध्ययनयोगोऽस्ति।

३६ वाल्मीकिरामायण ५.३०.१७,१८, अहं ह्यतितनुश्चैव वानरश्च विशेषतः। वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम्।यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्। रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति।।

३७ वही २.९१.२२, एवं समाधिना युक्तस्तेजसाप्रतिमेन च। शिक्षास्वरसमायुक्तं सुव्रतश्चाब्रवीन्मुनिः ।।

३८ यजुर्वेद ४०.१४, विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।।

के अनुरूप चलने से तात्कालिक समाज का मानसिक और शारीरिक उभयविध स्वास्थ्य उत्तमकोटी का है। क्योंकि प्रथम मानसिकता स्वच्छ जो जाये, सुधर जाये तो अन्यप्रकार के पर्यावरण प्रदूषण को तो अनायास ही रोका जा सकता है। जिसका आज के समाज में तादृश शिक्षा के न होने से नितान्त अभाव है। उस काल की शिक्षाव्यवस्था वर्णाश्रमधर्म को अपनाये थी और आज न कोई वर्ण है और न आश्रम। आज कल के नवोदय विद्यालयों में उस व्यवस्था के किंचित् स्वरूप को देखा जा सकता है, परन्तु सम्पूर्णता में नहीं। उसमें ओर सुधार की अपेक्षा है। अद्यतनीय गुरुकुलों में वह स्वरूप है, परन्तु वहाँ अर्थाभाव का संकट सर्वदा रहता है, अतः कार्य नहीं हो पाता। इसलिए यदि समाज में मानवता लानी है, प्रकृति के प्रदूषण को बचाना है, बच्चों के आवागमन में लगने वाले समय को बचाना है तो प्राच्य और अर्वाच्य दोनों के मेल से एक नई शिक्षापद्धति लागू करनी होगी जो सम्पूर्ण समाज को चाहे वह निर्धन से निर्धन हो या मध्यम या बहुत धनाढ्य सब को अध्ययन का समान अवसर देवे। जिससे समाज में स्वाभाविक साम्यवाद आयेगा, जातिवाद निर्मूल होगा, कर्त्तव्यकर्म को महत्त्व दिया जायेगा, आरक्षण की आवश्यकता न होगी। गुरुकुलीय शिक्षापद्धति में प्रकृति की गोद में पढ़ने से भौतिक संसाधनों के प्रति अधिक अनुराग न होगा, आसक्ति न होगी, दिखावा न होगा। विनयभाव आयेगा और व्यक्ति वित्त, बन्धु, वय, कर्म और विद्या को क्रमशः महत्त्वशाली समझेगा,[३९] जबकि अब केवल वित्त को ही महत्त्व दिया जा रहा है। ऐसे संस्थानों में प्रातः चार बजे से सायं दस बजे तक बच्चों की एक नियमित दिनचर्या होगी जिससे शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य बढ़ेगा और आलस्य, प्रमाद, विलासिता जैसे रोग दूर होंगे। किसी सम्प्रदाय विशेष से सम्बद्ध न होने से केवल **मनुर्भव** का पाठ पढ़ाया जायेगा। प्रातः सायं सन्ध्याकाल में शरीर को पूर्ण मानसिक और शारीरिकरूप से स्वस्थ रखने के लिए अग्निहोत्र और कुछ प्राणायामों के साथ अन्तर्ध्यान करवाना अपेक्षित होगा जिससे स्वदुर्गुण यदि हैं तो उन्हें दूर करने के लिए दृढ़संकल्प शक्ति तैयार की जा सकती है। कहा भी है- **प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः। किन्नु मे पशुभिस्तुल्यं किन्नु सत्पुरुषैरिति।।** इसप्रकार करने से जीवन स्वयमेव धार्मिक बन जायेगा, क्योंकि धर्म पूजा पाठ का नाम नहीं है। न वह मन्दिरों में है, न गुरुद्वारों में, न मस्जिदों वा चर्चों में। वस्तुतः सही से कर्त्तव्य कर्मों को करना ही धर्म है। या जिससे समाज, प्रकृति की सम्यक् संस्थिति और मोक्ष परम आनन्द की प्राप्ति हो, वह धर्म है। इस व्यवस्था में बच्चों के एक ही स्थान पर रहने से नियम बना देने पर कुछ ही समय में भाषाओं पर अधिकार भी बहुत शीघ्र हो सकता है। देश में क्रीड़ाओं का उन्नयन भी हो सकता है। इसप्रकार के दूरगामी बहुत से लाभ इसप्रकार की व्यवस्था में विद्यमान हैं। बस, सरकारों के संकल्प की आवश्यकता है, जो यह निश्चित करवाये कि छः वर्ष का बच्चा और साठ वर्ष का बूढ़ा घर छोड़ देवे, यह प्रयत्नपूर्वक लागू करवायें, जिससे अनायास ही अनेकों समाज की विसंगतियाँ दूर हो जायेंगी। यदि सम्पूर्ण देश में छात्रावासों में रहकर ही पढ़ाई करवाना निश्चित कर दिया जाये तो भी प्रतिदिन करोड़ों रूपये के पर्यावरण प्रदूषण, समयहानि, जनहानि, धनहानि से बचा जा सकता है और उक्तव्यवस्था मूर्तरूप धारण कर लेवे तो देश पुनः प्राचीन गौरव को प्राप्त करने में देर नहीं लगायेगा।

---

३९ मनुस्मृति २.१३६, वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पंचमी। एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम्।

The Basic Doctrines of Humanism in the Vedas & Upanisads

Mahopadhyaya Dr. Roop Kishor Shastri[1]

Dārā śikoha was so enamoured of the Upanisads that he continued listening to their exposition by experts for six months on end. He translated them into Persian in 1656 A.D. This translation the French scholar Enquital Duperon read and after reading it he had his interest aroused in oriental works. Based on Dārā śikoha's persion translation of the Upanisads, he translated them into Latin in 1801 A.D. Thus through Dārā śikoha in the Muslim world and Enquital Dureron in the Christian world the Upanisads made such deep inroads that they came to be studied both in the east and the west with utmost reverence. The thought that was occupying the minds of Dārā śikoha, Saupenhaur and Enquaital Duperon has its source in the Vedas. The Vedic thought has not only influenced India but also the entire world. It is this Vedic thought and knowledge that has given something everybody and has shown him the true path. It is that thought in whose intrinsic light even other texts taught mankind the divine qualities, spirituality, good conduct and character.

Indian tradition regards the Vedas as revealed text, the words of God revealed to sages and ,sis at the beginning of the creation. They are four in number- *Ṛgveda, Yajurveda, Sāmaveda* and *Atharvaveda*. The hymns in thus total up to over twenty thousand. The sage Manu and other sages have proclaimed the Veda to be the source of all kinds of dharma. *Vedo'khilo dharmamūlam* (वेदोऽखिलो धर्ममूलम्). The Veda is the repository of all kinds of knowledge. The Vedas are considered to be the first works of mankind. They have an important and unique role in the development of later literature. They are a compendium of mantras in Vedic Sanskrit revealed to countless sages through the grace of God.

The Vedic literature is the foundation of all knowledge and wisdom and the repository of world culture proclaimed as *yā samsk,tih sā prathamā viśvavārā* (या संस्कृतिः सा प्रथमा विश्ववारा). The great empire of dharma and civilization has grown on Vedic foundation. In reality the Veda is an eternal constitution, the manual for the code of conduct for the entire humanity. According to Vedic commentator *Āc'ārya Sayāṇa* the innate message of the Veda is to seek to obtain what is desirable and to avoid what is not so.[२] In other words it can be said that the Veda tells us the path of progress and prosperity and urges us to keep away for all times from the bad effects of the bad actions. These supernatural mysteries of the Veda and the super knowledge the later literature such as the *Brāhmaṇas*, the *Āraṇyakas*, the *Upanisads*, the *vedāngas*, the *Dharmsūtras* have claimed. There is emphasis in the Vedic tradition on the four-fold aim of the human life. The ultimate aim of the teaching of the Vedas is to seek and truth foregoing the worldly allurements summed up in the sentence-*sā vidyā yā vimuktaye* (सा विद्या या विमुक्तये), '' that is true knowledge which leads to salvation." In the tradition of Vedic thinking and the seers, the ,sis, the aim of knowledge has been the final beatitude. The emphasis has been on moving from darkness to light, from untruth to truth and from mortality to immortality.[३]

---

1 Asst. Professor-Deptt. of Veda, Gurukul Kangri University Haridwar- (Uttarakhanda)

२ इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति सः वेदः। तैत्ति०सं०सा०भा०

३ असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्मामृतं गमय। बृहद्०उप०१.३.१८ अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते। यजु०/ईश०वा०४०.१४

Man is a thinking being and prays for intellectual growth in the Veda often[4]. The Veda too has thought it necessary to acquaint him with the concepts of cultivating divine qualities so that he could be a human being in the real sense of the term and not be so only in appearance[5]. There is possibility of the fall in the human values because of a obstructions in the life of man at every step. So with a view to exercise caution the Veda has given a call- *Manurbhava (मनुर्भव)*- to be a man. The man is urged here to keep up to live a life according to high moral values. It is these values that have been presented in graphic form in the UpaniSads in easy, pleasant and appealing expression.

In the holy scriptures as mentioned above there is deep enunciation of spirituality, morality, the pursuit of good path, the knowledge of do's and don'ts the worldly and other worldly relief, the bounds or limits or propriety etc. in the context of Dharma, Artha, Kama, and Moksa either in brief of in detail. The Vedic and UpaniSadic literature advises us to inculcate the general rules of righteousness, the performance of duty and other human values without any distinction of caste, creed and country.

The Family Ideals:

Family is an important unit of human life. Every member of it remains in its fold the whole life. The best ideal for it the *Atharvaveda*[6] records which is that it is the duty of every one to have the best of feelings for parents and that he should respect them and keep them contented and never ignore them. One should follow meticulously this instruction of the Veda. 'After my birth in my childhood I put my parents to a lot of inconvenience while enjoying myself. Now when they are getting weighed down with age it is my duty that I should cause them no pain and serve them and respect them always and in all happiness to free myself from their debt.[7] The Vedic moral code enjoins upon the members of the family to follow this in their life. A son should do his duty towards his father and should be devoted to his mother; a wife should use sweet and kind words towards her husband; a brother should not nurture ill feeling for his brother; a sister should behave lovingly with her sister while all others should have feelings of love and goodwill for each other.[8] Earlier the *Atharvaveda* had sent out the clear message that the Supreme Being has fashioned the hearts of every body in such a way that they have love and goodwill for each other. So you like each other in every way. Just a cow has intense love for its newly-born calf; in the same way should you also nurture pure love with no deceit and chicanery as also ill-feeling and feel happy.[9]

A close observation of the UpaniSads reveals the values which are the guiding principles of life i.e. Values such as respect to parents, *Āc'ārya* and elders. This code of conduct is regarding as day to day routine (*Naitika Niyama*) which means values to practiced in one's own life. In the siksa valli of the tattiriyopaniSad, the *Āc'ārya* gives special advice to the śiśayas on the occasion of

---

४ तत्स॑वि॒तुर्वरे॑ण्यं॒ भर्गो॑ दे॒वस्य॑ धीमहि। धियो॒ यो नः॑ प्रचो॒दया॑त्॥ ऋ०३.६२.१०, यजु०३६.३ यां मे॒धां दे॑वग॒णाः पि॒तर॑श्चो॒पास॑ते। तया॒ माम॒द्य मे॒धयाऽग्ने॑ मेधा॒विनं॑ कुरु॒ स्वाहा॑ ॥ यजु०३२.१४

५ मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्। ऋ०१०.३.६

६ स्व॒स्ति मा॒त्र उ॒त पि॒त्रे नो॑ अस्तु। अथर्व० १.३१.४॥

७ यदा॑पि॒पेष॑ मा॒तरं॑ पु॒त्रः प्रमु॑दितो॒ धय॑न्। एतत्तद॑ग्ने अनृ॒णो भ॑वा॒म्यह॑तौ पि॒तरौ॒ मया॑॥ यजु०१९.११

८ अनु॑व्रतः पि॒तुः पु॒त्रो मा॒त्रा भ॑वतु॒ संम॑नाः। जा॒या पत्ये॒ मधु॑म॒तीं वाचं॑ वदतु शन्ति॒वाम्॥ मा भ्राता॒ भ्रात॑रं द्विक्ष॒न् मा स्वसा॑रमुत स्वसा॑। स॒म्यञ्चः॒ सव्र॑ता भू॒त्वा वाचं॑ वदत भ॒द्रया॑। अथर्व० ३.३०.२-३

९ सहृ॑दयं सांमन॒स्यमवि॑द्वेषं कृणोमि वः। अ॒न्यो अ॒न्यम॒भि ह॑र्यत व॒त्सं जा॒तमि॑वा॒घ्न्या। अथर्व०३.३०.१

convocation देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यो देवो भव[10] Through this sentence the Upanisad gives high respect not only to the *Āc'ārya* but also to the ancestors and parents. Āc'ārya says-do not neglect your duties to the deities and ancestors. Treat your mother as deity. Treat your father as deity and treat your *Āc'ārya* as deity. In the Praśnopanisad has been described the highly respect to the *Āc'ārya.* Six disciples pay their cordial regards to the Guru Pippalad saying that father has given the physical body but you have given liberation to us is greater.[11] Chhāndogyopanisad says that when a person has Nisthā i.e. faith to his Guru, parents and elders, he attains Śraddhā. Without having Nisthā one cannot have Śrāddhā.[12] This shows that a śisya's or sons can have progress in the life only if they have unflinching faith in their Guru and Parents.

In the Kathopanisad, Yamāchārya feels and accepts stating it that a person loses his fame, hopes, expectations, the fruit of good deeds, religious acts, beneficial speech, children, cattle's and all type of wealth in case a guest resides without food and respect in his house.[13] In the chhāndogyopanisad there is a description of yajña, adhyayana and dana which are considered as duties of a householder or g,hastha[14]. Thus g,sthāsram is regarded as primary stage of dharma for the sake of welfare of the society, mankind and creatures.

Message of truth-

In the ,gveda ,ta i.e. satya is said to be dharma-***suga ,tasya panthah*** (सुगा ऋतस्य पन्थाः). It is clear that it is easy to follow dharma. Truth is accorded a higher status, it leading one to cross the ocean, i.e. the world[15]. The B,hadāraṇyakopanisad is concerned with his sentence" *yo vai sa dharmah satyam vai tat.* i.e. to keep to truth is dharma in the real sense[16]. (यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः) So truth is dharma and dharma is truth, it is this that leads to good fortune and final beatitude, this is the view of sage Kaṇāda in the Vaiśesik Darśan[17]. Sage manu accepts truth as one of the constituents of dharma among the ten of them.[18] The Upanisad has defined satya in various ways. Vedic Ṛsi expresses the secrecy of Satya in Upanisad[19]. Satya & Ṛta are used parallel in the

---

१० तैत्ति०उप०१-११

११ ते तमर्चयन्तस्त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसीति। नमः परम ऋषिभ्यो नमः परम ऋषिभिः॥ प्रश्न०उप०६.८

१२ यदा वै निस्तिष्ठत्यथ श्रद्धाति, नानिस्तिष्ठन् श्रद्धाति, निस्तिष्ठन्नैव श्रद्धाति, निष्ठा त्वेव विजिज्ञासितव्येति॥ छा०उप०७.२०

१३ आशाप्रतीक्षे सङ्गतं सुनृतां च, इष्टापूर्ते पुत्रपशून् च सर्वान्। एतत् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो, यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे॥कठ०उप०२

१४ त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमः॥छा०उप०२.२३.१

१५ सुत्यस्यु नावः सुकृतमपीपरन्। ऋ०९.७३.१

१६ यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्॥ बृहद्०उप०१.४.१४

१७ वैशे० द०-१-१-२

१८ धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ मनु०स्मृ०६.९२

१९ हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥ ईशो०उप०१५

santipātha hymn of the taitiriopanisad[२०] *Āc'ārya* śankar[२१] has put an easy and assimilable commentary on ,ta and Satya. Ṛta is that as told by the śāstra and it is also that which to be practicised, and that when converted into speech and action, is called Satya.

Satya is reflected in the taitiriopanisad as Brahman and also as a way of life. The ,si emphasizes don't deviate from Satya, don't deviate from Dharma.[२२] The B,hadāranyakopanisad explains Satya through a more lucid example " चक्षुर्वै सत्यम्, चक्षुर्हि वै सत्यम् "[२३] Here, Satya is stated to be based on the strength of knowledge. According to the Mundakopanisad[२४] -Satya alone prevails, not falsehood. Satya is the path leading to God. The Motto सत्यमेव जयते from the mundakopanisad is adopted in the constitution of India.

Excellence of human life differencing from path of Śreya and preya

According to Vedic doctrine of Karman, the human life is said to be an amalgam of happiness and unhappiness. A human being, however, through excessive desire, anger, greed, pride and every turns it into a bed of sorrow. The Veda however, takes life to be a battle and exhorts being to go in for continuous exertion with the further rider that everyone who has taken birth has done so to make his life ennobled because the wise people through this power of discrimination impart purity to their action.[२५] Whatever action is pure is dharma and whatever is not so is Adharma. The Veda sends out a clear message that unless a man doesn't give up bad conduct and bad habits, it is impossible for him to cultivate human qualities. As a result of bad conduct and depravity the mind of a man becomes the store-house of bad qualities that go with animals and demons.[२६] It is necessary, therefore, not to allow bad impressions, feelings and actions in life whatever state a man be, whether awakened, asleep or a state of knowledge or non-knowledge were he to aspire to cultivate human qualities.[२७] Above-cited these values are depicted in the Upanisads in the form of śreya and preya marg. Amplifying this idea Yamāc'ārya says in the kothopanisad that "Both śreya and preya approach man, the dhēra (wise man) examining the two,

---

२० तैत्ति०उप० ३.१०

२१ ऋतं, यथाशास्त्रं यथाकर्त्तव्यं बुद्धौ, सुपरिनिश्चितमर्थम्। सत्यमिति स एव वाक्कायाभ्यां सम्पाद्यमानोऽर्थः॥तैत्ति०उप०१.१

२२ तैत्ति० उप०-१.११

२३ बृहद्०उप०५.१४.४

२४ सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः। येनाक्रमन्ति ऋषयो ह्यासकामाः यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्॥मु०उप०३.१.६

२५ जातो जायते सुदिनत्वे अह्नां समर्य आ विदथे वर्धमानः। पुनन्ति धीरा अपसो मनीषा देवया विप्र उदियर्ति वाचम्॥ ऋ०३.८.५

२६ श्रेष्ठो जातस्य रुद्र श्रियासि तवस्तमस्तवसां वज्रबाहो। पर्षि णः पारमंहसः स्वस्ति विश्वा अभीति रपसो युयोधि॥ ऋ०२.३३.३

२७ यदाशसा निःशसाभिशसोपारिम जाग्रतो यत स्वपन्तः। अग्निर्विश्वान्यप दुष्कृतान्यजुष्टान्यारे अस्मद् दधातु॥ ऋ०१०.१६४.३

discriminates between them. The wise man verily prefers śreya to preya, but the foolish man chooses preya through love of gain and attachment.[२८]

The term preya means that which is pleasant, immediately attractive and the term śreya means that which conduces to true welfare, which ultimately beneficial. Ethics and religion divide all objects and experiences into these two categories. The ,si of KathopaniSad says that one thing is śreya and different indeed is preya. Leading to different ends as they do. The good befalls him who accepts the good, but falls he away from the goal who chooses the pleasant.[२९] Life under the preya idea can never advance beyond its elementary forms, because there is a stifling of spiritual awareness by the tyranny of the immediate present the lure of profit and pleasure. śreya is characterized by far-sight and for-sight, whereas preya is characterized by short-right, with flowing stream of life arrested and stagnant. Hence the UpaniSad identifies śreya with vidyā (knowledge), and preya with avidyā-(ignorance). Both social welfare and spiritual realization are the products of far-sight and for-sight which are two important characteristics of both the Vedic and UpaniSadic out looks.

Non-Malignity-friendship and universal brotherhood-

The Veda has laid emphasis on the fact that all people in this world have the same rights and are equal and share the same tendency to organize themselves. If all the people have the same opportunity and get the motherly feeling, then every body would get justice.[३०] The Veda has clearly indicated that every human being has equal right on food, water and other natural objects and that people have to be so in united as are the spokes in the navel of the wheel of the chariot. The thought of co-existence has been enjoined here for sure.[३१] All should utter unitedly good, pleasant and useful words that could result in prosperity. All should share in their minds happiness or unhappiness of everybody.[३२]

The mind of everybody should be actuated by the same resolve, thought, decision and effort, this is the message that the Veda delivered from the very beginning. In the Veda hatred is said to be that human evil that does not lead to anything other than enmity. That is why in the *manasa parikrama* mantras of the *Atharvaveda* it is enjoined to put the tendency of hatred under the law of justice of the Lord.[३३] In the *Yajurveda* after the advice to people to protect each other in a spirit of oneness, to have food together and study together it is emphasized that they be friends with each other and that they keep away from hostility.[३४] In the ,gvedic hymn hatred and jealousy

---

२८ श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतः तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः। श्रेयो हि धीरो अभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योग क्षेमात् वृणीते॥ कठ० उप० १.२.२॥

२९ अन्यत् श्रेयो अन्यदुतैव प्रेयः ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः। तयो श्रेयः आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते॥ कठ०उप०१.२.१

३० स वंः पृच्यन्तां तन्वंः सं मनांसि समुंव्रता। स वोऽयं ब्रह्मणस्पतिर्भगः सं वो अजीगमत्। अथर्व०६.७४.१

३१ समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि। सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः।। अथर्व०३.३०.६

३२ संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्। देवा भागं यथा पूर्वे सञ्जानाना उपासते॥ ऋग्०१०.१९१.२॥ मा वियौष्ट अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त। अथर्व०३.३०.४ समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः। समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।। ऋग्०१०.१९१.४ समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्। समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥ ऋग्०१०.१९१.२

३३ यो ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः।। अथर्व० ३.२७.१-६॥

३४ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै। तैत्ति० आ० ९/१

are treated at par. At the base of these lies mental weakness that propels a man to sin and crime.[३५] That is why the *Yajurveda* considers it necessary for living beings to make friends with each other to put hatred under control.[३६] That is the spirit of universal brotherhood which is the mainspring of the world renowned slogan *vasudhaiva kutumbakam* (वसुधैव कुटुम्बकम्), "the earth is just (one) family". This was the lofty vision of the Vedic thought which asks one to protect the other.[३७] It is not that it is the protection, well-being and good of just the human beings is enjoined here but also even of all the beings, be they bipeds or quadrupeds.[३८] Recognizing the nature of Desires the IsopaniSad teaches us to learn to enjoy through renunciation[३९], once one has this detachment one acts without rāge (attachment) and dveSa (malignity) and avarice rati (affection) and moha (infatuation). This concept protects men and women from uttering falsehood, commit thefts, debaucheries, murder and entertain wicked thoughts.

śānti-mantra is prescribed in the several UpaniSads, points out the harmony of the thoughts, words and deeds. It also prays for good things to be heard, seen and told. There is a cordial pray for the good for all. The ancient scriptures considered the entire universe as a big family and proper aim is mentioned the universal good and welfare for all beings in it. TaittiriyopaniSadic education aimed at instilling a spirit of humanism in the minds of Brahmachari-pupils and establishing a feeling of universal brotherhood among them. Thus UpaniSadic thoughts convey a social outlook as well as humanistic approach. The positive tradition of our wisdom, knowledge and culture is indicated in the UpaniSads in the form of three basic value-universality, non-aggressiveness and humanism. Today in the modern world, people talk about globalization, universal peace and harmony. This universal message of the vision of our scriptures and culture is- सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभाग्भवेत्॥

Education of humanism from Brahmacharyakaal-

Today it is said that our country is young India now. But fact is-India is always remained young. In that context our scriptures and seers established the basic and necessary human education from childhood and study period for all without any distinction. The highest aim of UpaniSadic education was man-mankind, character-building and the realization of the supreme spirit. Without an intensive ethical discipline it would not be possible for the students to preserve and develop the culture which they inherit from their predecessors. In the TaittiriyopaniSad[४०] we find that the Āc'ārya in his valedictory address gives instructions to the Brahmacharies about the rules of conduct at home, social obligation and duty to the society.

Non-violence-

---

३५ इन्द्रासोमा समघशंसमभ्यय१ घं तपुर्ययस्तु चरुरग्निवाँ इव। ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे घोरचक्षसे द्वेषो धत्तमनवायं किमीदिने॥ ऋग्० ७.१०४.२॥

३६ दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याऽहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।। यजु०३६.१८

३७ पुमान्पुमांसं परि पातु विश्वतः। ऋग्० ६.७५.१४॥

३८ शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे। ऋग्०७.५४.१

३९ तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यास्विद्धनम्॥ ईश०उप०१॥

४० तैत्ति०उप० १-९

The Vedic literature and the sages, saints and preceptors have proclaimed *ahimsa* (non-violence, non-injury to beings) as an ennobling human quality. *Ahimsa paramo dharmah* (अहिंसा परमो धर्मः), *ahimsa* is the highest *dharma* is the great postulation of Vedic culture. It is a message for the people of the world not to cause hurt to others. According sage Patanjali with the feeling of *ahimsa* the feeling of enmity towards all the living beings of the world vanishes for good.[41]

Ahimsa is that pure quality and activity by which a man can live in peace and happiness all his life. To cause mental, verbal or physical hurt like killing or causing injury through action is what violence is. That is why has proclaimed the Veda "Do not kill any being or cause him hurt."[42] The ,*gveda* has the word *avrka* for the non-violent.[43] Elsewhere it is urged to turn into such a devotee as to be without violence, blemishless and sinless.[44] Let all beings be *adabdha*, non-violent is the message of the Veda.[45] That is why the author of the *Mahabharata* has described non-violence and the feeling of it as the supreme *dharma*, the supreme austerity, the supreme truth, the supreme charity, the supreme sacrifice, the best of the friends, the best of the holy places and the supreme happiness.[46] That is why the sage Manu has proclaimed that one who does not put a man in confinement, does not cause hurt and thinks of the good of them attains unlimited happiness.[47]

The Message of Global peace-

Today the whole world seems uneasy. Generally in every society, nation and natural phenomena the environmental disturbance is in its extreme form. Imbalance is growing even in natural objects. The Veda had cautioned man with its worry on this score from the very beginning. Today the cause of restlessness in the world is man himself. That is why the Veda's message for man is: If you want to save your existence and with the existence of the entire creation, then try ceaselessly in achieving peace in the heaven, the earth, the mid-regions, the waters, the herbs, the plants, the celestial elements and Brahman.[48] Upanisads also consider same theory of the global peace.

Spiritual Message-

Veda is said to be the repository of all kinds of true knowledge that has enough of spiritual matter. In later literatures the development of all types of knowledge is traced to the Veda. Many of the aspects of spiritual development assumed different dimensions later. There are thousands of *mantras* in the Veda which deal with individual and supreme self, mind, intellect and fruit of actions. In 1.164 30 the ,*gveda* mentions that the soul is immortal. Even death cannot

४१ अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यांगः। योग०द०२/३५॥
४२ मा हिंसीस्तन्वा प्रजाः। यजु०४.१॥
४३ असुं य ईयुरवृका। ऋग्०१०.१५.१
४४ यथा चित्पूर्वे जरितार आसुरनेद्या अनवद्या अरिष्टाः। ऋग्० ६.१९.४॥
४५ ऋग्०१.८९.१॥
४६ अहिंसा परमो धर्मस्तथा हिंसा परं तपः। अहिंसा परमं सत्यं यतो धर्मः प्रवर्तते॥ अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः। अहिंसा परमो यज्ञश्चाहिंसा परमं फलम्॥ अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं सुखम्। सर्वदानफलं वापि नैतत् तुल्यमहिंसया॥ महा० अनु०पर्व ११५.२३-३०॥
४७ यो बन्धनवधक्लेशान् प्राणीनां न चिकीर्षति। स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यन्तमश्नुते॥ मनु०स्मृति-५.४६॥
४८ द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवा शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वं शान्तिः शान्तिरेव

snatch it away. The creator of this creation The Supreme Being is omniscient and the individual self has little knowledge but when he through Yoga realizes the Supreme Self, he finds himself permeated in him.[४९] To attain Moksa, deliverance, by realizing that Supreme Being is what is needed. There is no way other than that.[५०]

When the Vedas were revealed and Upanisads were composed, the entire human-being was inspired by them, they inspired people a thousand years later and today they still inspired us. Neither the phenomenal progress of science and technology, nor the wealth and power of the modern world, has been able to reduce the relevancy of these ideas of the Vedas and Upanisads, they have only increased it. Now the world is seeking for precisely this spiritual growth for man. The Vedas and Upanisads provide access to higher planes which unites science and spirituality. To achieve great things in life one must has to rise in status which is possible only through a solid value- based education and humanity as the one provided by our Vedic seers. From what has been stated above, it would be clear that while the Vedas have left their imprint on entire later literature, culture and civilization, the Upanisads have influenced deeply each and every man. The unique contribution and message of both the scriptures for the overall development of mankind and has a kind of divinity in it and will ever remain fresh and shinning.

Thus the Vedas and the Upanisads show us the way to creative living and life fulfillment, otherwise नान्यः पन्थां विद्युतेऽयनाय।

*****

४९ य इत्तद्विदुस्त इमे समासते। ऋग्०१.१६४.३९॥

५० वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्युतेऽयनाय॥ यजु०३१.१८॥

Vedic Samskars in relation to modern Medical science

Dr Neetu Mago[1]
Dr Vishal Mago[2]

Introduction

Sanskars are rituals through which the life of a person receives holiness or becomes better and worthy of greater respect. There are sixteen sacraments specified by Vedic teaching and involve the various important events in a person's life. They extend from the moment of conception until the death of the person. The medical literature provides a detailed account of the fetal development in-utero and also gives a clinical account of the signs and symptoms associated with pregnancy. A correlation of the account given in this scripture, written at the time when microscopic or imaging techniques were non existant, with the modern day texts of embryology and fetal development brings forward two nearly identical descriptions. This attempt is intended to promote and encourage a detailed exploration of the vast ocean of knowledge contained in ancient Indian Ayurvedic Literature in order to obtain pearls of wisdom.

The origin of Vedic sacraments is in the four Vedas from where the verses of prayer have been extracted. The sacraments were observed by custom from the Vedic period. The sixteen sanskars are performed under guidance of a learned Guru who knows Vedås because in every sanskar the havan is performed with Vedic mantras. These were performed in Satyug, Dwapur, treta yuga and too by Shri Ram, Shri Krishna etc.

1. Garbhadhan Sanskar --- which is performed just after marriage and before pregnancy to have a good baby.
2. Punsvan sanskar ---which is peformed just after pregnancy of second or third month.
3. Seemantonnayan sanskar ---in 4th, 6th or in 8th month of pregnancy.
4. Jaatkaram Sanskar ---just after birth of a baby i.e., the same day.
5. Naamkaran sanskar ---after 101 days of birth in which name of the baby is announced.
6. Nishkraman sanskar--- when the mother and baby comes out of the house. In the 3rd or 4th month to travel or to go anywhere.
7. Annprasahn sanskar--- in the 6th month of the baby after birth on the same day of birth. In this sanskar the baby is allowed to take solid food because up to 5th month baby had been taking milk/water only.
8. Churakaram sanskar i.e., Mundan sanskar---in the first or third year.
9. Karanvedh sanskar--- ear piercing ceremony.
10. Upnayan sanskar i.e., allowing baby to go school for the first time.
11. Vedaarambh sanskar i.e., to start study of Vedas in 6 to 8 years.
12. Samavartan sanskar--- i.e., the baby has attained the knowledge of Vedas. It is performed in the age of fourteen years.
13. Vivah sanskar i.e., marriage ceremony.
14. Vanprasth sanskar--- in the age of 51 plus.

---

1 Assistant Professor, Deptt of Obstetrics & Gynecology U.F.H.T Medical College & Dr.S.T.M Forest Hospital, Haldwani.
2 Head Plastic Surgery Unit, U.F.H.T Medical College & Dr.S.T.M Forest Hospital, Haldwani.

15. Sanyas sanskar --- in the age of 75 plus or at any age when anyone becomes ascetic.
16. then the last, Anteshti sanskar when death comes. This sanskar is of dead body i.e., cremation.

The wisdom regarding the general management of pregnancy is found in both the Charaka and Sushruta Samhitas under the subject of "Garbhini Vyakarana .Guidelines regarding diet, activities, behavior and mental activity (ahar, vihar, achar and vichar, respectively) are also detailed, which are similar as outlined in medical texts. Ayurveda advises the same degree of care and attention in the management of a pregnant woman. The goal is the protection and nourishment of both the growing fetus and the mother.

This paper describes the scientific basis of performing these vedic rituals in relation to modern obstetrics and plastic surgery.

SIMANTONNAYAN SACRAMENT (Development of mental powers)

This sacrament is the third Vedic Sacrament and is performed when the pregnancy of the mother is fairly well established; it is performed during the fourth, sixth and eighth months of pregnancy. It is aimed at the integral growth and development of the foetal brain and its mental processes, as well as at the mental and physical well-being of the mother.

The healthy development of the mental faculties can only occur if the mother herself is in sound physical and mental health. Therefore, in a Vedic family, all possible measures are taken to provide a congenial environment for a sound healthy development of the mother and child.

In a similar manner, the child in the mother's womb also requires consistent nourishment through psychological and spiritual endowments to enable him/her to attain the maximum developments in brain, mental and psychic faculties. The Simantonnayan sacrament is directed towards these attainments.

Scientific basis for this sacrament is found in medical literature.The fourth month of pregnancy marks the beginning of the second trimester. During the fourth month, baby's teeth have formed and hair has grown on the baby's head.

The Vedic scriptures say that when the child (foetus) is four months old in the mother's womb it begins to develop its mental faculties; and by the fifth month, its perceptive faculties (sense organs) are fairly well developed. By the sixth month the intellectual faculties begin to develop. During the seventh month the foetal body parts are well developed and defined. And beginning in the eighth month and through to the end of the ninth month, the intuitive faculties and ability to differentiate and respond become comparatively functional; and the hormones that have been in the embryonic forms in the earlier stages have now comparatively attained their functional endowments and virility, and the child is now ready to respond appropriately to the stimulations of the external world when born. Therefore it is crucial that this sacrament is performed for the sound and healthy development of the child's mind and the physical body.

It is highly recommended in medical books that during these months of the pregnancy the mother herself is fairly well exposed to a healthy environment, both for her psychological well-being and for her spiritual satisfaction.

JAAT KARAM SANSKAR (THE NEW BORN)

This is the fourth sacrament and it is performed immediately after the child is born. Whereas the first three sacraments deal with the mother's mental and psychic attributes as well as the parental hereditary endowments, the fourth and the remainder of the sacraments bear direct relationship with the child's environment be it at home or beyond the home.

As has been stated in the previous issues, the purpose of the sacraments is to endow the growing child with human positive values and to influence and inspire the child towards attainment of noble characteristics and behaviours. The ultimate aim is to create a society of exemplary qualities wherein the growing child has the capabilities to play an active role.

At birth the child's mouth, nose, ears and the whole body are cleansed. This activity stimulates the child's five perceptual functions - hearing, vision, smell, taste and touch. The child is then bathed in fresh water, the body is dried with a clean piece of cloth, and attired with new set of clothes. At the completion of this cleansing process, the child is ready to receive the JAAT KARMA sacrament.

Psychologists maintain that whatever education is provided to the child during the first five years of the child's life it becomes his/her life-long legacy. The Vedic literature is in complete accord with this philosophy.

For the first five years the child stays in an environment which had already been created and moulded by the parents-that is, the home becomes the initial environment where the child grows and nurtures.

NISHKAMAN SACRAMENT (Taking child out in fresh air)

Nishkraman Sacrament is the sixth sacrament. 'Nishkraman' means to take outside(the house).

Physiologists say that for the balanced development of our body there is need for calcium and phosphorous to be absorbed in diet. A person becomes restless and irritable in proportion to the amount of calcium lacking in the blood. Without Vitamin D, calcium would not be absorbed in the body. Neither milk nor curd contains Vitamin D. It is only available in sun light hence it is necessary to expose the body to sunlight so that there in no weakness due to lack of Vitamin D and also that calcium and phosphorous are absorbed by the body through the effect of sunlight.

Annaprasana

This sanskar is related to the time when the child is to be given solid food apart from the mother's milk. This emphasizes the importance of proper health care and nutrition for the child.

It is performed when the child is six months old which is the weaning time. Susruta commends this weaning time as best for both the mother and the child. Offerings are made to the goddess of speech and vigour. Prayers are offered so that the child's senses have their full gratification and live a happy and contented life. The father feeds a little of the sweet food anointed with gold to the child with Mantras that say he feeds the child with food that may ensure a healthy life to the child and prevent ill-health. Apart from the efficacy or otherwise of this ceremony, its observance

creates in all concerned an awareness of the cumulative needs of the child at that age in a scientific and tender manner. Its systematic observance therefore ensures the results expected especially when fortified by Mantras. The Annaprashana ceremony should be performed at the time when the child gains strength to digest cereal and preparations made from cereals. The first feeding of cereal commences with this ceremony.

Things to include in pregnant woman's diet as per allopathic schedule

- A folic acid supplement.
- Iron rich foods (your doctor may prescribe iron supplements).
- Plenty of calcium-rich foods and drinks plus a daily walk to help make vitamin D and help your body absorb calcium.
- Omega 3 fatty acids- choose oily fish two or three times weekly if you can.
- Zinc-rich foods.
- Plenty of water to help prevent tiredness and keep you well hydrated.
- Ginger, which may help relieve nausea.

Things to avoid

- Vitamin A supplements and foods concentrated in vitamin A such as liver.
- Soft cheese, pate, unpasteurised milk and milk products because of the risk of listeria.
- Uncooked or softly cooked eggs (this includes fresh mayonnaise and home made ice cream) because of the risk of salmonella poisoning.
- Restrict alcohol to just one drink per day occasionally or cut it out altogether.
- Watch intake of caffeine-containing coffee to no more than four cups a day - also find caffeine in cola and chocolate.
- Ensure food (especially meat) is piping hot before serving. Wash your hands before handling raw meat and all fresh vegetables carefully. Always wear gloves when gardening to prevent infection with toxoplasmosis.
- Don't change cat litter as this can also transmit toxoplasmosis.
- If there is a history of severe allergies in the family, it may be best to avoid nuts and foods that contain them for the future health of your baby and child.

Ayurved also describes nine diseases peculiar to pregnancy and are called garbhopadravas. They are: nausea, anorexia, vomiting, dryness of mouth, fever, edema, anemia, diarrhea and retention of urine. Their specific treatments are also elaborately described.

As far as possible, medication should be avoided during the first three months of pregnancy. Only symptomatic treatment with very mild herbs and a suitable diet should be offered. The physician is advised to take into account the severity of the disease, the resistance power of the mother and the stage of the pregnancy, and choose the middle path so that the disease or the treatments do not result in complications for the mother or the foetus. For example, the use of Dashamularishta in vattic fever, hima (cold infusion) of Yastimadhu, lotus and Sariva in paittic fever and Guduchi kwath in kapha fever to bring down temperature. Similar special treatments are advised for other diseases. Several substances are absolutely contraindicated in pregnancy such as vacha (calamus root), kumari (aloe), or myrrh and substances like garlic and hing are to be used with extreme caution if at all.

The development of the fetus in the uterus is discussed in the Charaka Samhita in the section called Garbhava Kranti, and special regimens are prescribed for each month in the subsection

Garbhini Paricharya. The basic wisdom to be understood is to take greater care during the first three months of pregnancy and during the eighth and ninth months.

During the first trimester, stress is laid on stabilizing the pregnancy and nurturing the uterine bed through rasa and rakta dhatus. The embryo gets nourishment directly by percolation (upsnehan). Hence more jaleeya (liquid) substances such as juicy fruits, coconut water, milk, and so on are advocated.

Scientific basis is found in medical text where Food concerns during pregnancy include raw vegetables, unpasteurized juices, liver, and undercooked meat, poultry, or eggs. Be ware of food poisoning. Raw vegetables, unpasteurized juices, and undercooked meat, poultry, or eggs have been linked with *Salmonella* species and *Escherichia coli* (including the dangerous *E coli* 0157).

Cooking properly kills bacteria; the proper temperature can be determined by a meat thermometer, although cooking until well done is safe for most meat. Ground beef should be cooked to at least 160°F, roasts and steaks to 145°F, and whole poultry to 180°F. Eggs should have a firm yolk and white after cooking. Eggnog and hollandaise sauce have raw or partially cooked eggs and are not considered safe. Liver can contain extremely high levels of vitamin A and is probably safe, but it should be eaten in moderation.

Folic acid supplementation prevents both the occurrence and recurrence of neural tube defects and significantly reduces the incidence of low birth weight. Previously, folic acid supplementation was started relatively late in pregnancy but now in the United States, the Food and Drug Administration requires folic acid fortification of most grain products, and intakes have dramatically increased. The recommended intake for folate during pregnancy is 600 μg/d.

Maternal anemia is associated with perinatal maternal and infant mortality and premature delivery. To preserve maternal stores and to prevent the development of iron deficiency, the recommended iron intake during pregnancy is increased by 9 mg to a total of 27 mg/d. This level cannot normally be obtained from foods, and supplementation is required to achieve recommended intakes.

Maternal iodine deficiency leading to fetal hypothyroidism results in cretinism, characterized by severe mental retardation. Thyroid hormones are critical for normal brain development and maturation. The World Health Organization estimates that 20 million people worldwide have brain damage resulting from maternal iodine deficiency that could be prevented by iodine supplementation. The recommended iodine intake is 220 μg/d during pregnancy.

Additional protein is needed during pregnancy to cover the estimated 21 g/d deposited in fetal, placental and maternal tissues during the second and third trimesters. Energy needs during pregnancy are currently estimated to be the sum of total energy expenditure of a nonpregnant woman plus the median change in total energy expenditure of 8 kcal/gestational week plus the energy deposition during pregnancy of 180 kcal/d. Because total energy expenditure does not change greatly and weight gain is minimal in the first trimester, additional energy intake is recommended only in the second and third trimesters. Approximately an additional 340 and 450 kcal are recommended during the second and third trimesters, respectively

Vitamin D deficiency during pregnancy is associated with several disorders of calcium metabolism in both the mother and her infant, including neonatal hypocalcemia and tetany, infant hypoplasia of tooth enamel and maternal osteomalacia. Supplementation of 10 μg (400 IU)/d in affected women

lowered the incidence of neonatal hypocalcemia and tetany and maternal osteomalacia whereas higher amounts (25 μg/d) increased weight and length gains in infants postnatally

Ayurveda advocates in the first month, sipping cold milk along with meals and eating only in the morning and evening (i.e breakfast and dinner). Tandulodaka (rice milk) During the second month, the intake of warm milk decoctions medicated with sweet herbs like Vidari, Sarkara (Cane juice), Shatavari, Yasthimadhu, Brahmi, all of which are jivaneeya (life-supporting) and garbhasthapak (helping maintain implantation). Honey and ghee are also recommended. During the third month Ayurveda recommends warm milk with added honey and ghee. Also, the ground rind of amalaki fruits with coldwater.

During the fourth month, the head, torso and extremities start to become differentiated, the motor and sensory nervous tissues start to develop, the heart takes its place, and the fetus makes known its needs and desires via the mother's physiology. This is the period when the woman craves for certain foods and tastes. Normally, the needs of both the fetus and the mother are the same. Therefore, Ayurveda recommends that the mother´s cravings be fulfilled as far as possible, as long as they are not absolutely unreasonable (i.e. a diabetic mother craving excessive ice creamæ a hypertensive mother craving excessive salt, etc.). Shankhpushpi, gulkand, and brahmi help in calming the nerves and are also good prajasthapans (maintainers of pregnancy).

From the fifth to the seventh months, plant preparations which give strength to the uterine muscles and nourishment to the embryo, are advised. Ashwagandha and Guduchi are particularly good in this regard. They help to ensure optimal condition of the placenta and uterine tissues as well as of the umbilical cord. The diet should be one of rice, milk, butter and gee. Fruits which are orange or yellow in color are advocated such as mangoes, apples, carrots, amalaki etc. Leafy vegetables are also advised. During the seventh month, hairs form on the fetus and the abdominal skin begins to become stretched giving rise to itching and striations (kikkisas). This can be treated by taking sips of the infusion of jujube berries or butter medicated with manjistha, the application of the pulp of sandalwood and lotus or of a paste made of neem, turmeric and manjistha, or oil medicated with tulsi leaves or jasmine.

From the eighth month forward, there should be less fat, less salt and less water in the diet. Ayurveda recommends rice kanji cooked in milk with a little ghee. After the completion of the eighth month, herbs which are mild diuretics and urinary antiseptics, such as punarnava, gokshuru and sariva, are advised. Fennel seed powder in small quantities is also recommended for its mild carminative and anti-spasmodic actions.

As soon as the pregnant woman enters the ninth month, she is supposed to move to the Sootikagar (delivery area) which is specially prepared for delivery. The door should be facing to the north or east. After an asthapan basti (simple enema), she should undergo anuvasan basti (retention enema of oil boiled with sweet herbs) which may be repeated. A swab soaked in the same oil is used to anoint the vagina and supporting structures to make the pelvis soft and elastic and enhance the downward-moving functions of apana vayu and delivery of the fetus. The mother´s complexion becomes rosy, her strength returns as she prepares for the final days of pregnancy.

Ayurveda prescribes specific nutritional measures for the growth and protection of the woman to keep her vital and pure. In one of its most famous teaching analogies, Ayurveda compares human conception to the germination and sprouting of a seed and its transformation into a sapling. When the male and female seeds unite and the soul enters the union, an embryo (garbha) is created.

Ayurved gives great importance to the quality of the seed (ovum). In addition to the female seed, the mother also provides the 'ideal terrain' (i.e. the uterus) into which the seed is to be planted. Guidelines for correct sexual intercourse are also generally outlined. Young women less than sixteen years of age and boys under twenty should not bear children. Nature does not support pregnancy nor family life begun during the *brahmacharya* period (student years, ages birth to 20).The general rules of pre-natal care are also given and are perhaps the most provocative of all. The husband, parents, siblings, and other family members are advised to oversee the pregnant woman's diet and encourage activities that are healthy and enjoyable to her and beneficial for the child developing in her body. Similar to its strategy to promote longevity, the Ayurvedic approach towards motherhood, that is pregnancy and childbirth, is indeed a holistic one. Ayurvedic recommendations touch upon the diet, behavior, activities, and even the spiritual actions of not only the mother but the entire family into which the child will be born.

According to Ayurveda, the gradual and proper development of foetus is most important for the child's health. The development of foetus depends totally on mother's health. During the crucial stages of foetal development, it is said that a woman needs to have a sound mind and be in good physical condition. Everything a mother experiences - whether it is pleasant thought or a negative one, the fetal development is directly affected by her. The recurring anxieties of the mother about pregnancy are unknowingly passed onto the unborn child. One should never underestimate the power of transferring these emotions into the make-up of the unborn child.

The growing fetus gets all the nutrition from the umbilical cord connected to it, which in turn is attached to the rasvaha nadi (maternal part of the placenta) of the mother. This way, the nutrition is indirectly supplied to the fetus. From the time of conception until the zygote is attached to uterus, the nutrition depends on the nutritive parts carried by sperms and ovum. Charaka, one of the renowned Ayurvedic texts, says that the fetus obtains its nourishment from rasa that is supplied by mother. The nourishment of the fetus depends upon all the six factors of conception, use of appropriate diet and lifestyle of the pregnant woman.

Given the achievements of 21st century technological and medical sciences and a more detailed and sophisticated understanding of the physiological processes, modern medicine has made great strides in promoting healthy pregnancies. Today we can now recognize and treat many pathological conditions in the fetus or the mother. We also recognize the importance of regular antenatal check ups to detect any changes as early as possible and take appropriate medical interventions. Yet, although it lacks the technological sophistication of modern obstetrics, Ayurvedic wisdom can certainly contribute to this field in important and meaningful ways

वैदिक वाङ्मय में लोकतन्त्र की अवधारणा

डा० महावीर अग्रवाल
प्रोफेसर संस्कृत विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
उपाध्यक्ष, उत्तराखण्ड संस्कृत अकादमी, हरिद्वार (उत्तराखण्ड)

हमारा यह सुदृढ़ विश्वास है कि परमात्मा ने मानवमात्र के कल्याण के लिये ऋषियों के पावन अन्तःकरणों में चारों वेदों का ज्ञान प्रकाशित किया। यह वैदिक ज्ञान गङ्गा श्रवण परम्परा से अद्यापि अक्षुण्ण है, इसीलिये वेद को श्रुति भी कहा जाता है।

वेदों की महिमा वर्णित करते हुए महर्षि मनु ने कहा- **'वेदोऽखिलोधर्ममूलम्' 'सर्वं वेदात् प्रसिध्यति'** अर्थात् वेद समस्त धर्म का मूल है और संसार के सभी कार्य वेद से सिद्ध होते है। वेद व्याख्याकारों ने मनु के इस कथन को सत्य सिद्ध किया है। संसार की विविध विद्याओं का मूल वेद मन्त्रों में प्राप्त है। विज्ञान के सूत्रों को मनीषियों ने वेद में खोजा है। राजधर्म की जो चर्चा वाल्मीकि रामायण तथा मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में की गई है वह भी वैदिक संहिताओं में विद्यमान है। वेदों की व्याख्या के रूप में ब्राह्मण ग्रन्थों का विकास हुआ। ऐतरेय ब्राह्मणमें-साम्राज्य, भौज्य, स्वराज्य, वैराज्य, राज्य, पारमेष्ठ्य, महाराज्य, आधिपत्य आदि शासन प्रणालियों का वर्णन प्राप्त होता है। इनमें से कुछ प्रजातन्त्रात्मक थी और कुछ लोकतन्त्रात्मक। वेदों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वैदिक काल में राजनीतिक अवस्था समुन्नत थी। उस समय राजा का निर्वाचन राजा के कर्त्तव्यों का निर्धारण, मंत्रिमंडल का गठन, सभा-समितियों के कर्त्तव्यों का निर्देशन, विविध शासन प्रणालियां, अर्थ व्यवस्था, कर निर्धारण आदि का उल्लेख समुन्नत राजनीतिक अवस्था का परिचायक है।

वेदों में यत्र-तत्र राष्ट्र और देश शब्दों का प्रयोग मिलता है। यजुर्वेद में आदर्श राष्ट्र के तीन गुण बताये गये है।

1. स्वराजस्थ (राष्ट्र स्वतन्त्र हो)।
2. जनभृतस्थ (वह जनहितकारी हो)।
3. विश्वभृतस्थ (वह विश्व के कल्याण के लिए प्रयत्नशील हो)।[1]

अथर्ववेद के एक मन्त्र में राष्ट्र की उन्नति के दो श्रेष्ठ साधन बताये हैं- तप (अनुशासन Discipline) और दीक्षा (समर्पण- Dedication)[2] इन दो गुणों को

अपनाने से राष्ट्र उन्नत होता है।

राजा का निर्वाचन- वेद कालीन शासन व्यवस्था को प्रजातन्त्र मूलक राजतन्त्र कहा जाता है। राजा के निर्वाचन के विषय में ऐतरेय ब्राह्मण[3] में एक रोचक प्रसंग आया है कि देवता और असुर निरन्तर युद्ध करते थे। असुर देवों को हरा देते थे। देवों ने विचार किया कि राजा न होने के कारण हम पराजित होते हैं अतः उन्होंने इन्द्र को अपना राजा बनाया और वे विजयी हुए।

ऋग्वेद और अथर्ववेद के कई सूक्तों में प्रजा के द्वारा राजा के निर्वाचन का उल्लेख है।[4] अथर्ववेद के एक मंत्र में स्पष्ट उल्लेख है कि पाँचों दिशाओं से आई हुई ये प्रजाएं तुझे राज्य के लिये निर्वाचित करती हैं।[5] राजा की नियुक्ति का कार्य समिति करती थी।[6] अथर्ववेद के अध्ययन से ज्ञात होता है कि राजा का निर्वाचन सर्वसम्मति से किया जाता था। इस निर्वाचन का आधार होता था गुणों और वीरता आदि में सर्वोत्कृष्टता। इन्द्र को गुणों में सर्वोत्कृष्ट पाया गया। अतः उसे राजा बनाया गया।[7] राजा के रूप में चयन हो जाने पर राज्याभिषेक के समय जो शपथ ली जाती थी वह बड़ी मार्मिक होती थी और उस समय की राज्य व्यवस्था के गौरवशाली स्वरूप को अभिव्यक्त करती थी। राजा शपथ लेते हुए कहता था- मैं सत्य निष्ठा के साथ शपथ लेता हूँ कि ''जिस रात्रि में मेरा जन्म हुआ और जिस रात्रि में मेरी मृत्यु होगी, उन दोनों के मध्य में मैने जो भी इष्टपूर्त्त (पुण्य कर्म) किए हों वे सब नष्ट हो जाए और मैं, स्वर्ग, समस्त शुभ कर्म, आयु और संतान से वंचित हो जाऊँ, यदि मैं किसी भी प्रकार से देश और जनता के प्रति द्रोह-करूँ।''[8] इससे स्पष्ट होता है कि देशद्रोह और जनता के साथ विश्वासघात राजा के लिए अक्षम्य अपराध था।

राजा के कर्त्तव्य- राज्याभिषेक के साथ ही राजा को कर्त्तव्यों का निर्देश दिया जाता था। राजा से कहा गया था तुमको यह राष्ट्र दिया जा रहा है- तुम इसके नियन्ता हो तुम दृढ़तापूर्वक इस उत्तरदायित्व को संभालो यह राष्ट्र तुम्हें इन कार्यों के लिए दिया जा रहा है- कृषि की उन्नति, जनकल्याण, आर्थिक समुन्नति और राष्ट्र की सुदृढ़ता।[9]

सभा और समिति- वेदों में मन्त्रिमण्डल के लिये 'समिति' शब्द का प्रयोग है।[10] कौटिल्य ने इसके लिये 'मन्त्रिपरिषद्' शब्द का प्रयोग किया है। अथर्ववेद में सभा और समिति को प्रजापति (राजा) की दो पुत्रियां कहा गया है। सभा छोटी इकाई होती थी, परन्तु इसका स्वरूप व्यापक था, यह ग्राम सभा से लेकर केन्द्रीय सभा तक होती थी। सभा के सदस्य को सभ्य, सभेय और सभासद कहा जाता था। सभा के अध्यक्ष को 'सभापति' कहते थे। सभा का मुख्य कार्य न्याय की ठीक व्यवस्था करना था। विवादग्रस्त विषयों का निराकरण और उन पर अपना अन्तिम

निर्णय भी सभा द्वारा किया जाता था। सभा में राजा, धनवान् एवं विद्वज्जन सम्मिलित होते थे। कुछ भी करने से पूर्व राजा सभा से विचार विनिमय अवश्य करता था'

समिति- यह राष्ट्रीय स्तर की महासभा (National Assembly) होती थी। इसमें राष्ट्र के सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व होता था और इसमें सार्वजनिक जीवन से सम्बद्ध सभी महत्वपूर्ण विषयों पर विचार विनिमय किया जाता था। इसका कार्य क्षेत्र न्याय विधान तक ही सीमित न होकर पूरे राष्ट्र की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक आदि सभी व्यवस्थाओं से संबद्ध था।

वेदकालीन राज्य व्यवस्था में ऐसे भी संकेत प्राप्त होते हैं कि यदि राजा अपने कर्त्तव्य से विमुख हो जाता है, चरित्र भ्रष्ट होकर प्रजा का शोषण करता है, तो उसे अपने पद से हटाया जा सकता है। राज्य व्यवस्था पर धर्म का, विद्वानों का एवं श्रेष्ठजनों का नियन्त्रण था। राष्ट्र को महान् वैभवशाली बनाना, विविध विद्याओं का प्रचार-प्रसार, देश भक्ति का संचार, सुदृढ़ अर्थव्यवस्थ, न्यायप्रियता आदि वैदिक लोकतन्त्र की विशेषताएं थी। राष्ट्रहित सर्वोपरि था। राजा और प्रजा में परस्पर पिता-पुत्र जैसा पवित्र सम्बन्ध था। न्याय, स्वास्थ्य रक्षा एवं शिक्षा-पद्धति में चरित्र, श्रम एवं देशभक्ति की प्रतिष्ठा थी। आचार्य-शिष्य परम्परा का उज्ज्वलतम स्वरूप तत्कालीन साहित्य में देखा जा सकता है। उच्चपदों पर आसीन व्यक्तियों को अपराध करने पर अधिक दण्ड दिया जाता था। प्रजा का पालन, रंजन, संरक्षण एवं संवर्धन ही राज्य का सर्वोपरि कार्य था। प्रजापालन हेतु ही राजा का अभ्युदय माना गया है।[11] क्षत्रियों के लिए न्याय से राष्ट्र पालन ही अश्वमेघ है।[12] इस प्रकार राष्ट्र की सर्वांगीण उन्नति वैदिक लोकतन्त्र का लक्ष्य था।

भारतवर्ष में पुनः वही लोकतन्त्र प्रतिष्ठित हो, सर्वत्र सुख, शान्ति, प्रेम एवं विश्वबन्धुत्व की धारा प्रवाहित हो, देश में ज्ञान, विज्ञान शिल्प एवं विविध विद्याओं का प्रचार-प्रसार हो। राज्य सरकारें तथा भारत सरकार न्याय पूर्वक प्रजा का पालन करें और महाकवि कालिदास का स्वप्न साकार हो तभी लोकतन्त्र की विजय होगी।

प्रवर्ततां प्रकृति हिताय पार्थिवः,

सरस्वती श्रुतिमहती महीयताम्।

ममापि च क्षपयतु नीललोहितः,

पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः॥

सन्दर्भ

१. यजुर्वेद १.४

२. भद्रमिच्छन्तः ऋषयः स्वर्विदस्तपोदीक्षामुपनिषेदुरग्रे।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु।। अथर्ववेद १९.४१.१

३. ऐतरेय ब्राह्मण १.१४

४. ऋग्वेद १०.१७३.१ से ६ तक अथर्ववेद ३.४.१ से ७ तक।

५. त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः। अथर्ववेद. ३.४.२

६. ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह। अथर्ववेद. ६.८८.३

७. विश्वाःपृतना अभिभूतरं नरं, सजूस्ततक्षुरिन्द्र जजनुश्च राजसे। अथर्ववेद २०.५४

८. ऐतरेय ब्राह्मण ५.१५

९. इयं ते राड् यन्ताऽसि यमनो ध्रुवोऽसि धरुणः।
कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा, रय्यै त्वा पोषाय त्वा।। यजुर्वेद ९.२२

१०. ध्रुवाय ते समितिः कल्पताम्। अथर्ववेद ६.८८.३

११. यजुर्वेद ६.३०

१२. शतपथब्राह्मण १३.१.६१

विद्वत्-परिचय

१.	प्रो. ज्ञान प्रकाश शास्त्री	अध्यक्ष श्रद्धानन्द वैदिक शोधसंस्थान, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
२.	प्रो० वेद प्रकाश शास्त्री	आचार्य उपकुलपतिश्च गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय:, हरिद्वारम्
३.	डॉ० वेदपाल	रीडर, संस्कृत विभाग, जनता वैदिक कॉलेज, बड़ौत जि० बागपत (उ०प्र०)
४.	डॉ. अरुणिमा रानी	प्रवक्त्री संस्कृतविभागे, एस० डी० महाविद्यालय:, मुजफ्फरनगरम्
५.	डॉ० सुधीर कुमार आर्य	असिस्टेण्ट प्रोफेसर, वेद विभाग, गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार उत्तरखण्ड
६.	प्रो० राजेश्वर मिश्र	प्रोफेसर संस्कृत विभाग, कु०वि० कुरुक्षेत्र
७.	डॉ. सत्यदेव निगमालंकार	रीडर, श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान, गुरुकुल कांगड़ी, विश्वविद्यालय
८.	डॉ० अनिता सेनगुप्ता	एसोसिएट प्रोफेसर संस्कृत, ईश्वर शरण डिग्री कालेज, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
९.	डॉ० नरेश कुमार	प्रोजेक्ट फैलो, वेद विभाग, गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार उत्तराखण्ड।
१०.	डॉ० विजयलक्ष्मी:	संस्कृत-प्रवक्त्री, सनातनधर्ममहाविद्यालय:, मुजफ्फरनगरम् (उ.प्र.)
११.	डॉ० दिनेशचन्द्र शास्त्री	रीडर, वेद विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार
१२.	डॉ० अमित कुमार	अंशकालिक प्रवक्ता, श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार
१३.	डॉ० तुलसी देवी	रीडर-संस्कृत-विभाग, म०गाँ०बा० पी०जी० कॉलेज, फिरोजाबाद उ०प्र०
१४.	डॉ० राजेन्द्र विद्यालंकार	एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत एवं प्राच्यविद्या संस्थान, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र
१५.	डॉ. ईश्वर भारद्वाज	प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, मानव चेतना एवं योग विज्ञान विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
१६.	डॉ. उषा लोहान	शारीरिक शिक्षा विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

१७.	प्रो० मनुदेव बन्धु	अध्यक्ष वेद विभाग, अधिष्ठाता प्राच्य विद्या संकाय, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
१८.	डॉ० बीना कुमारी गुप्ता	रीडर एवं अध्यक्षा, संस्कृत-विभाग, बैकुण्ठी देवी कन्या महाविद्यालय, आगरा। ७४ फेस-२, पुष्पांजली बाग दयाल बाग, आगरा। मो० ९७५९११७८९९
१९.	डॉ. (श्रीमती) सुरचना त्रिवेदी	प्रवक्ता - संस्कृत, भगवानदीन आर्य कन्या, स्नातकोत्तर महाविद्यालय, लखीमपुर-खीरी
२०.	डॉ० दीपा गुप्ता	प्रवक्ता, प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति तत्त्व विभाग कन्या गुरुकुल कांगड़ी महाविद्यालय, हरिद्वार उत्तराखण्ड
२१.	डॉ. देवी सिंह	संस्कृत, पालि एवं प्राकृत विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र
२२.	डॉ० सन्ध्या कुमारी	वरिष्ठ प्रवक्ता, संस्कृत विभाग, पी०सी० बागला पी०जी० कॉलेज, हाथरस (उ०प्र०) दूरभाष: ०९४११९८०१७९
२३.	डॉ. मंजुलता शर्मा	अध्यक्ष संस्कृत-विभाग, सैण्ट जॉन्स कालेज, आगरा.
२४.	डॉ. राकेश शास्त्री	अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बांसवाडा (राज.) ३२७००१
२५.	डॉ० रेखा सिह	प्रवक्ता तदर्थ प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, कन्या गुरुकुल महाविद्यालय गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
२६.	डॉ० ऋतु शुक्ला	प्रवक्ता संस्कृत, राजकीय महाविद्यालय, तालबेहट, ललितपुर उ०प्र०
२७.	डॉ० मौहर सिंह	असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराखण्ड।)
२८.	डॉ. कृष्णा आचार्य	एसोशियेट प्रोफेसर, संस्कृत-विभाग, महर्षि दयानन्द वि०वि० रोहतक
२९.	डॉ० व्रजेश कुमार पाण्डेय	उपाचार्य, संस्कृत विभाग, राजकीय महिला महाविद्यालय, हल्द्वानी नैनीताल, उत्तराखण्ड।
३०.	डॉ० सुनील कुमार जोशी	अपर चिकित्साअधीक्षक, राजकीय आयुर्वैदिक कॉलेज एवं चिकित्सालय, गुरुकुल कॉगड़ी हरिद्वार
३१.	डॉ. ब्रह्मदेव	उपाचार्य, संस्कृत-विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,

		हरिद्वार
३२.	डॉ. रूपकिशोर शास्त्री	उपाचार्य, वेद विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
३३.	डॉ. नीतू मागो	Deptt of Obstetrics & Gynecology U.F.H.T Medical College & Dr.S.T.M Forest Hospital, Haldwani.
३४.	डॉ. विशाल मागो	Head Plastic Surgery Unit, U.F.H.T Medical College & Dr.S.T.M Forest Hospital, Haldwani.
३५	डॉ० महावीर अग्रवाल	प्रोफेसर संस्कृत विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार उपाध्यक्ष, उत्तराखण्ड संस्कृत अकादमी, हरिद्वार (उत्तराखण्ड)

शोधलेख विषयक दिशानिर्देश

- गुरुकुल-शोध-भारती गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय की षाण्मासिक शोध-पत्रिका है। यह प्रमुख रूप से वेद, वैदिक एवं लौकिक साहित्य, धर्म, दर्शन, संस्कृति, योग, आयुर्वेद तथा अन्य प्राच्यविद्या से सम्बन्धित शोधपरक आलेखों को प्रकाशित करने के लिये कृतसङ्कल्प है।
- गुरुकुल-शोध-भारती में शोधनिबन्ध मूल्याङ्कन कराने के पश्चात् प्रकाशित किये जाते हैं। अत: विद्वान् लेखकों से अनुरोध है कि वे वही निबन्ध इस पत्रिका के लिये प्रस्तुत करें, जो सब प्रकार से शोध की कसौटी पर खरे हों।
- शोध-निबन्ध मौलिक होना चाहिये। किसी अन्य विद्वान् की पुस्तक अथवा निबन्ध की नकल करके निबन्ध भेजना बौद्धिक अपराध तथा अपनी प्रतिभा का हनन है।
- गुरुकुल-शोध-भारती में केवल शोध-निबन्ध ही प्रकाश किये जायेंगे। जिनमें शोध-प्रविधि का प्रयोग नहीं किया गया है, ऐसे लेखों को प्रकाशित करना सम्भव नहीं होगा।
- किसी अन्य पत्रिका में पूर्व प्रकाशित निबन्ध को पुन: प्रकाशित करने के लिये कृपया न भेजें।
- शोध-निबन्ध में लेखक का निष्कर्ष सुसङ्गत, प्रमाणिक एवं तथ्यों पर आधारित तथा परम्परा से पोषित होना चाहिये। **साथ ही उसमें अपने कथन या निष्कर्ष को पुष्ट करने के लिये न्यूनतम १५ से अधिक प्रमाण देने चाहिये।**
- अन्धविश्वास को बढ़ावा देने वाले निबन्धों को प्रकाशित करना सम्भव नहीं हो सकेगा, अत: अन्धविश्वास का समर्थन करने वाले निबन्ध कृपया न भेजें।
- गुरुकुल-शोध-भारती में प्रकाशन हेतु शोधनिबन्ध की मूलप्रति प्रेषित करें, **फोटो स्टेट प्रति** स्वीकार्य नहीं होगी। साथ ही **हस्तलिखित लेख** भी स्वीकार नहीं होंगे। अत: विद्वानों से अनुरोध है कि टंकण के उपरान्त शोधन करके लेख प्रेषित करें, जिससे लेख शुद्धतम रूप में प्रकाशित किया जा सके।
- अधिक उचित होगा कि आप अपना निबन्ध **माइक्रोसोफ्ट वर्ड** डाक्यूमेंट में टाइप करायें और फुटनोट **ALT+CTRL+F** के माध्यम से डालें। इस प्रकार फुटनोट डालने में त्रुटि की सम्भावना नहीं रहती है। यदि उक्त उपाय अपनाना संभव न हो तो **फुटनोट निबन्ध के अन्त में दें**, जिससे उनको यथास्थान प्रस्तुत किया जा सके।
- टंकण कराते समय यह ध्यान रखना अपेक्षित है कि निबन्ध **'कृतिदेव ०१०'** अथवा **वॉकमैन चाणक्य** के साइज १४ में टाइप कराया जाए। टंकण के उपरान्त, शोधन करके सी.डी. अथवा ईमेल से प्रेषित करें।
- विद्वान् ईमेल से भी अपने निबन्ध प्रेषित कर सकते हैं। ईमेल का पता है- **gyanprakashshastri@gmail.com** or **gyanprakashshastri@live.com**
- सी.डी. अथवा ईमेल के साथ-साथ लेखक को अपने शोधलेख की हार्ड कॉपी प्रेषित करना भी आवश्यक है, जिससे मूल्यांकन के लिये शोधलेख प्रेषित किया जा सके।

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

श्री स्वामी श्रद्धानन्द अनुसंधान प्रकाशन केन्द्र के प्रकाशन

क्र.सं.	पुस्तक का नाम	कीमत रु.
1.	स्वामी श्रद्धानन्द	500 रु.
2.	वेद का राष्ट्रिय गीत	200 रु.
3.	श्रुतिपर्णा	95 रु.
4.	वैदिक साहित्य संस्कृति एवं समाज दर्शन	500 रु.
5.	वेद और उसकी वैज्ञानिकता	300 रु.
6.	शोध सारावली	220 रु.
7.	भारतवर्ष का इतिहास (दो खंडों में)	350 रु. प्रति खंड
8.	क्लासिकल राइटिंग ऑन वैदिक एण्ड संस्कृत लिट्रेचर	80 रु.
9.	दीक्षालोक	500 रु.
10.	स्वामी श्रद्धानन्द के सम्पादकीय लेख	500 रु.
11.	स्वामी श्रद्धानन्द की सम्पादकीय टिप्पणियां	450 रु.
12.	कुलपुत्र सुनें	300 रु.
13.	ग्लिम्पस आर्फ इनवायरमेन्टल परसेप्ट्स ऑफ वैदिक लिट्रेचर	50 रु.
14.	स्वामी श्रद्धानन्द समग्र मूल्यांकन	300 रु.
15.	पं0 इन्द्रविद्यावाचस्पति कृतित्व के आयाम	300 रु.
16.	बातें मुलाकातें	125 रु.
17.	वेदों की वर्णन शैलियां	50 रु.
18.	हिन्दी काव्य को आर्यसमाज की देन	400 रु.
19.	श्रुति विचार सप्तक	500 रु.
20.	स्तूप निर्माण कला	55 रु.
21.	ईशोपनिषद्भाष्य	40 रु.
22.	इन्द्रविद्यावाचस्पति	40 रु.
23.	भारतवर्ष का इतिहास (तृतीय खंड)	55 रु.
24.	अग्निहोत्र	25 रु.
25.	वेद विमर्श	25 रु.
26.	आधुनिक भारत में वक्तृत्व कला की प्रगति	25 रु.
27.	आहार	35 रु.
28.	वैदिक वन्दना गीत	25 रु.
29.	ऋषिदेव विवेचन	25 रु.
30.	विष्णु देवता	25 रु.
31.	सोम	20 रु.
32.	ऋषि दयानन्द का पत्र व्यवहार	25 रु.
33.	अध्यात्म रोगों की चिकित्सा	40 रु.
34.	गुरुकुल की आहुति	12 रु.
35.	ब्राह्मण की गौ	25 रु.
36.	ऋषि-रहस्य	25 रु.
37.	धर्मोपदेश (भाग प्रथम और द्वितीय)	25 रु. प्रति खंड
38.	वैदिक कर्त्तव्य शास्त्र	40 रु.
39.	मेरा धर्म	500 रु.
40.	गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय कलेण्डर भाग-I	250 रु.

विश्वविद्यालय से प्रकाशित होने वाली पत्रिकाओं का विवरण

1.	गुरुकुल पत्रिका	वार्षिक मूल्य 100 रु.
2.	वैदिक पॉथ	वार्षिक मूल्य 100 रु.
3.	प्राकृतिक एवं भौतिकीय शोध विज्ञान पत्रिका	वार्षिक मूल्य 500 रु.
4.	आर्य भट्ट	वार्षिक मूल्य 100 रु.
5.	गुरुकुल बिजनेस रिव्यू (GBR)	वार्षिक मूल्य 100 रु.

नोट :-ये सभी पुस्तकें कुलसचिव, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के नाम ड्राफ्ट भेजकर निम्न पते से प्राप्त की जा सकती है। क्रमांक १ से १२ एवं क्रमांक १८ तथा १९ पर ५० प्रतिशत तथा अन्य सभी पुस्तकों पर २० प्रतिशत की छूट देय है।

पुस्तकें मंगाने का पता :- पुस्तकालयाध्यक्ष/व्यवसाय प्रबन्धक, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-२४९४०४ (उत्तराखण्ड)

मुद्रक : किरण ऑफसैट प्रिंटिंग प्रेस, कनखल, हरिद्वार फोन : 01334-245975, 9837007222

ओ३म्

ISSN 0974 - 8830

गुरुकुल-शोध-भारती

मूल्याङ्कित शोधपत्रिका

(A Refereed Research Journal)

अंक १४, अक्तूबर २०१०



सम्पादक

प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री

श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-249404

कुलपिता, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय



स्वामी श्रद्धानन्द जी

१८५६-१९२६

ISSN 0974 – 8830

ओ३म्

गुरुकुल-शोध-भारती

मूल्याङ्कित्त शोधपत्रिका

(A Refereed Research Journal)

अंक १४, अक्तूबर २०१०



सम्पादक

प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री

श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-२४९४०४

सम्पादक-मण्डल

एक प्रति का मूल्य — रु० ७५.०० पचहत्तर रुपये

वार्षिकमूल्य — रु०१५०.०० एक सौ पचास रुपये

पञ्च-वार्षिकमूल्य — रु०५००.०० पाँच सौ रुपये (ग्राहक बनने हेतु पुस्तकालयाध्यक्ष, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, से सम्पर्क अथवा **कुलसचिव, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार**, के नाम धनादेश प्रेषित करें।) दूरभाषः-01334-243037

प्रकाशनीय शोधलेख — शोधलेख विषयक दिशानिर्देश अन्तिम से पूर्व पृष्ठ में दिये गये हैं।

परामर्शदात्री समिति

विषय-सूची

महर्षि दयानन्द का वेदभाष्य वैशिष्ट्य और उसके अध्ययन की विधि

प्रो. ज्ञान प्रकाश शास्त्री[1]

विश्व के सभी विद्वान् निर्विवाद रूप से स्वीकार करते हैं कि ऋग्वेद सृष्टि की प्रथम साहित्यिक रचना है। परन्तु भारतीय सनातन परम्परा तो यह उद्घोष करती आ रही है कि सृष्टि के साथ ही वेद का ज्ञान परमात्मा ने मानव को प्रदान किया। महर्षि दयानन्द ऋग्वेदभाष्य का प्रारम्भ करते हुए कहते हैं- **'पिता के समान कृपाकारक परमेश्वर सब जीवों के हित और सब विद्याओं की प्राप्ति के लिये कल्प-कल्प की आदि में वेद का उपदेश करता है।'**[2] इस प्रकार महर्षि दयानन्द वेदों को सनातन परमात्मा से उद्भूत मानते हुए संसार के समस्त समस्याओं का निदान वेद में ही देखते हैं।

यह केवल संयोग नहीं है कि ज्ञान का आदि स्रोत वेद अग्नि से प्रारम्भ हुआ है। यह एक ऐसा सत्य है जिस पर ब्रह्माण्ड का अस्तित्व तथा उसके साथ उसकी उत्पत्ति का कारण अभिव्यक्त हो रहा है। ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति और जीवन के उदय के लिये जिस ऊष्मा की आवश्यकता है, वह अग्नि में निहित है और यहाँ तक कि प्राणी के शरीर का आधार जल भी अग्नि में निहित है। यह अग्नि चेतन भी है, व्यापक भी और सम्यक् संगति को प्राप्त होकर यह मानव के सुखों का आधार बनता है।

ऋग्वेदभाष्य की व्याख्यानशैली का वैशिष्ट्य

महर्षि दयानन्द का वेदभाष्य स्कन्द से प्रारम्भ हुई वेदभाष्य परम्परा से हटकर है। यह तथ्य मन में प्रश्न उत्पन्न करता है कि ऐसा क्या है, जो महर्षि दयानन्द ने वेद से लेकर जैमिनी पर्यन्त ऋषियों की परम्परा को अविकल रूप में स्वीकार किया है, लेकिन वहीं वेदभाष्य की परम्परा को पूरी तरह से अस्वीकार कर दिया है। वे कहते हैं- पूर्वाचार्यों ने जो पहले प्रकाशित किया है, उसका ही प्रकाश किया जा रहा है। जैसे-जो पहले के विद्वानों ने ब्रह्मा से आरम्भ करके याज्ञवल्क्य-वात्स्यायन-जैमिनी पर्यन्त ऋषियों ने ऐतरेय-शतपथ आदि भाष्य किये हैं और जो पाणिनि-पतञ्जलि-यास्क आदि महर्षियों ने वेदव्याख्यान के रूप में वेदाङ्ग बनाये। इसी प्रकार जैमिनी आदि ऋषियों ने वेदों के उपाङ्ग षट् शास्त्र बनाये, उसी प्रकार वेदों की शाखाओं की रचना की है। इनके संग्रहमात्र से ही सत्य अर्थ को प्रकाशित किया जा रहा है। यह वेदभाष्य प्रमाणरहित, नवीन या स्वेच्छा से नहीं बनाया जा रहा है।'[3]

महर्षि के उक्त वक्तव्य से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने वेदभाष्य करते समय यदृच्छा का प्रयोग नहीं किया

---

१. प्रोफेसर, श्रद्धानन्द वैदिक शोधसंस्थान, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

२. दयानन्द, ऋग्वेदभाष्य-१.१.१ भावार्थ (संस्कृत-हिन्दी) वेदानां तेनैवोक्तत्वात् पितृवत्कृपायमाण ईश्वरः सर्वविद्याप्राप्तये सर्वजीवहितार्थं वेदोपदेशं चकार।

३. दयानन्द ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, भाष्यकरणशङ्कासमाधानादिविषयः। 'पूर्वाचार्य्यैः कृतं प्रकाश्यते। तद्यथा-यानि पूर्वैर्देवैर्विद्वद्भि-र्ब्रह्माणमारभ्य याज्ञवल्क्य-वात्स्यायन-जैमिन्यन्तैर्ऋषिभिश्चैतरेयशतपथादीनि भाष्याणि रचितान्यासन्, तथा यानि पाणिनि-पतञ्जलि-यास्कादिमहर्षिभिश्च वेदव्याख्यानानि वेदाङ्गाख्यानि कृतानि, एवमेव जैमिन्यादिभिर्वेदोपाङ्गाख्यानि षट्शास्त्राणि, एवमुपवेदाख्यानि, तथैव वेदशाखाख्यानि च रचितानि सन्ति। एतेषां संग्रहमात्रेणैव सत्योऽर्थः प्रकाश्यते। न चात्र किञ्चिदप्रमाणं नवीनं स्वेच्छया रच्यत इति।

है। वे तो समस्त आर्ष परम्परा को हृदयङ्गम करते हुए वेदभाष्य करने में प्रवृत्त हुए हैं।

यहाँ इस तथ्य को स्पष्ट कर देना भी समीचीन है कि महर्षि ने जिन यास्क, पाणिनि, पतञ्जलि आदि को प्रमाणरूप में उद्धृत किया है, उन्हीं को प्राय: अन्य भाष्यकारों ने भी किया है। तथापि न केवल अर्थभेद है, अपितु अर्थ की दिशा ही मेल नहीं खाती है।

प्रस्तुत आलेख में महर्षि के यौगिक पक्ष के वैशिष्ट्य को स्पर्श न करते हुए केवल उस पक्ष पर प्रकाश डालने का प्रयास किया जा रहा है कि अन्य भाष्यकारों तथा महर्षि दयानन्द ने समान प्रमाण को उद्धृत किया, फिर भी उससे उनकी अर्थ की दिशा बदल गयी। प्रस्तुत आलेख उस महत्त्वपूर्ण बिन्दु को पहिचानने का एक प्रयासमात्र है।

इसके अतिरिक्त प्रस्तुत आलेख में महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य को पूरी तरह से हृदयङ्गम किस प्रकार किया जाए, उसके अध्ययन की विधि क्या है? महर्षि ने वेदभाष्य करते समय जो अपने मन-मस्तिष्क में प्रारूप बनाया, उसको उद्घाटित किया जा रहा है। इसको समझने के बाद महर्षि के भाष्य के मर्म को समझना सम्भवत: सहज हो जायेगा। इससे भी महर्षि के वेदभाष्य का वैशिष्ट्य उद्घाटित होगा।

ऋग्वेद के प्रथम भाष्यकार आचार्य स्कन्दस्वामी प्रथम मन्त्र में पठित अग्नि का व्याख्यान करते हुए कहते हैं- **(अग्निम्) अहं (ईळे) स्तौमि। कीदृशम्। (पुरोहितम्) शान्तिकपौष्टिकै: कर्मभिर्यो राजानमापद्भ्यस्त्रायते स पुरोहित इत्युच्यते, तत्स्थानीयम्।'**[४] शान्तिक और पौष्टिक कर्मो से जो राजाओं को आपत्तियों से रक्षा करता है, इसलिये यह अग्नि पुरोहित है।' इस प्रकार स्कन्द की दृष्टि में यज्ञ में प्रयुक्त होने वाला, जिस पर यज्ञ का कर्मकाण्ड आधारित है, वह अग्नि है।

मध्ययुगीन ऋग्वेद के भाष्यकार आचार्य सायण अग्नि का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं-**(अग्निम्) अग्निनामकं देवम् (ईळे) स्तौमि। 'ईड स्तुतौ' इति धातु:। कीदृशमग्निम्। (यज्ञस्य) (पुरोहितम्)। यथा राज्ञ: पुरोहितस्तदभीष्टं संपादयति, तथाग्निरपि यज्ञस्यापेक्षितं होमं संपादयति। यद्वा। यज्ञस्य संबन्धिनि पूर्वभागे आवहनीयरूपेणावस्थितम्।'**[५] जैसे राजा का पुरोहित उसका अभीष्ट सम्पादित करता है, उसी प्रकार अग्नि भी यज्ञरूप होम को सम्पादित करता है। अथवा यज्ञ का सम्बन्धी अग्नि आहवनीय रूप में पूर्व भाग में स्थित होता है। इस प्रकार सायण की दृष्टि में अग्नि यज्ञ का मात्र निर्वाहक और प्रकृति का एक तत्त्व है।

आगे सायण कहते हैं-**'वाजसनेयिनस्त्वेवमामनन्ति-'स वा एषोऽग्रे देवतानामजायत तस्मादग्निर्नाम' इति। यज्ञेषु अग्निहोत्रेष्टिपशुसोमरूपेषु अग्रं पूर्वदिग्वर्त्याहवनीयदेशं प्रति गार्हपत्यात् प्रणीयते इति द्वितीयं प्रवृत्तिनिमित्तम्।'**[६] वाजसनेयी ऐसा कहते हैं कि यह अग्नि अन्य देवताओं से पहले उत्पन्न हुआ, इसलिये इसका अग्नि नाम है। गार्हपत्य से अग्निहोत्र, पश्वेष्टि, सोमरूप यज्ञों में पूर्व दिशावर्ती आहवनीय स्थान के प्रति ले जाया जाता है, इसलिये इसे अग्नि नाम से कहा गया है।' यहाँ पर भी सायण अग्नि को यज्ञ का निर्वाहक मानकर पूर्व दिशा में स्थित होने के कारण अग्नि का अग्रणीत्व प्रतिपादित कर रहे हैं।

इस प्रकार स्कन्द हो या फिर सायण सबकी दृष्टि में अग्नि मात्र एक देव है, जैसे वायु, वरुण आदि देव हैं। वह भी बहुत कुछ यज्ञीय अग्नि के परिप्रेक्ष्य में।

---

४. स्कन्द, ऋग्वेदभाष्य-१.१.१

५. सायण, ऋग्वेदभाष्य-१.१.१

६. सायण, ऋग्वेदभाष्य-१.१.१

महर्षि दयानन्द उक्त मन्त्र के व्याख्यान के अवसर पर अग्नि के द्विविध रूप का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि अग्नि दो प्रकार का है-प्रथम-परमेश्वर रूप द्वितीय भौतिक रूप। मन्त्र प्रमाण से अपने कथन को पुष्ट करते हुए वे कहते हैं कि इन्द्र, मित्र, वरुण अग्नि आदि उस एक परमात्मा के ही नाम हैं। सत् तत्त्व के एक होते हुए भी विप्र उस परम सत्ता को अनेक नामों से अभिहित करते हैं।[७] यजुर्वेद से भी इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है कि वही एक तत्त्व अग्नि, आदित्य, वायु आदि नाम से विहित है।[८] ब्राह्मणग्रन्थ भी ब्रह्म ही अग्नि, आत्मा ही अग्नि, इस प्रकार कहकर परम सत्ता को संकेतित करते हैं।[९] शतपथ-ब्राह्मण अग्नि को देवों का व्रतपति कहते हैं। यहाँ देव शब्द से अभिप्राय सत्याचार नियमों से है। सत्याचार नियमों का अधिपति परमात्मा ही हो सकता है।[१०] इसके साथ ही महर्षि दयानन्द ऋग्वेद के मन्त्र से यह प्रतिपादित करते हैं कि वह अग्नि अपने ज्ञानरूप से समस्त ब्रह्माण्ड को सब प्रकार से देखता है।[११] यह गुण केवल सर्वज्ञ ईश्वर में ही ग्रहण करने योग्य है।

इसी प्रकरण में यास्ककृत अग्नि के निर्वचन का व्याख्यान करते हुए महर्षि दयानन्द कहते हैं- **अग्रणीः सर्वोत्तमः सर्वेषु यज्ञेषु पूर्वमीश्वरस्यैव प्रतिपादनात्तस्यात्र ग्रहणम्। दग्धादिति विशेषणाद्भौतिकस्यापि च।'**[१२] कि अग्रणी का अर्थ है सर्वोत्तम, समस्त यज्ञों में प्रथम ईश्वर का प्रतिपादन होने से ईश्वर ही अग्नि शब्द का अभिधेय है। साथ ही यास्क अग्नि पद का निर्वचन 'दग्धात्' पद से भी करते हैं। इससे महर्षि दयानन्द भौतिक अग्नि का ग्रहण करते हैं।

मनु के वचन को उद्धृत करते हुए वे आगे कहते हैं कि जो सम्पूर्ण चराचर जगत् का शासक, सूक्ष्म से भी अधिक सूक्ष्म, सुवर्ण के समान देदीप्यमान, निर्मल बुद्धि से जानने योग्य है, उस परम पुरुष को जानना चाहिये।[१३] ऐसे परम पुरुष को कुछ लोग अग्नि, कोई मनु, दूसरे प्रजापति, अन्य इन्द्र, किन्हीं के मत में यह प्राण है और कुछ अन्य मनीषी उसे ब्रह्म नाम से पुकारते हैं।[१४] ऋग्वेद का मन्त्र कहता है-**'ईळे अ॒ग्निं वि॒प॒श्चित॑म्'।**[१५] इस मन्त्र में अग्नि को विपश्चित कहा गया है। यह गुण अनन्त विद्यावान् और चेतन होने से केवल परमेश्वर में ही घटित होता है।

---

७. दयानन्द, ऋग्वेदभाष्य-१.१.१ (अग्निम्) परमेश्वरं भौतिकं वा-इन्द्रं॑ मि॒त्रं वरु॑णम॒ग्निमा॑हु॒रथो॑ दि॒व्यः स सु॑प॒र्णो ग॒रुत्मा॑न्। एकं॒ सद्विप्रा॑ बहु॒धा व॑दन्त्य॒ग्निं य॒मं मा॑त॒रिश्वा॑नमाहुः॥ (ऋ०१.१६४.४६) अनेनैकस्य सतः परब्रह्मण इन्द्रादीनि बहुधा नामानि सन्तीति वेदितव्यम्।

८. दयानन्द, ऋग्वेदभाष्य-१.१.१ तदे॒वाग्निस्तदा॑दि॒त्यस्तद्वा॒युस्तदु॑ च॒न्द्रमाः॑। तदे॒व शु॒क्रं तद् ब्रह्म॒ ता आपः॒ स प्र॒जाप॑तिः॥ (य०३२.१) यत्सच्चिदानन्दादिलक्षणं ब्रह्म तदेवात्राग्न्यादिनामवाच्यमिति बोध्यम्।

९. दयानन्द, ऋग्वेदभाष्य-१.१.१ ब्रह्म ह्यग्निः। (श०ब्रा०१.४.२.११) आत्मा वा अग्निः। (श०ब्रा०१.२.३.२) अत्राग्निर्ब्रह्मात्मनोर्वाचकोऽस्ति। अयं वा अग्निः प्रजाश्च प्रजापतिश्च। (श०ब्रा०९.१.२.४२) अत्र प्रजाशब्देन भौतिकः प्रजापतिशब्देनेश्वरश्चाग्निर्ग्राह्यः।

१०. दयानन्द, ऋग्वेदभाष्य-१.१.१ अग्निर्वै देवानां व्रतपतिः। एतद्धः वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यम्। (श०ब्रा०१.१.१.२.५) सत्याचारनियमपालनं व्रतं तत्पतिरीश्वरः।

११. दयानन्द, ऋग्वेदभाष्य-१.१.१ त्रि॒भिः प॒वित्रै॒रपु॑पो॒द्ध्य१॒॑र्कं हृ॒दा म॒तिं ज्योति॒रनु॑ प्रजा॒नन्। वर्षि॑ष्ठं रत्न॑मकृत स्व॒धाभि॒रादिद् द्यावा॑पृथि॒वी पर्य॑पश्यत्॥ (ऋ०३.२६.८) अत्राग्निशब्दस्यानुवृत्तेः प्रजानन्निति ज्ञानवत्त्वात् पर्य्यपश्यदिति सर्वज्ञत्वादीश्वरो ग्राह्यः।

१२ दयानन्द, ऋग्वेदभाष्य-१.१.१

१३. दयानन्द, ऋग्वेदभाष्य-१.१.१ मनु०१२.१२२ प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि। रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम्॥

१४. दयानन्द, ऋग्वेदभाष्य-१.१.१, मनु०१२.१२३ एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्। इन्द्रमेकेऽपरे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥२॥

१५. दयानन्द, ऋग्वेदभाष्य-१.१.१, ऋ०३.२७.२

अग्नि के भौतिक स्वरूप को प्रतिपादित करने के लिये अनेक प्रमाण देते हुए महर्षि दयानन्द कहते हैं कि यह अग्नि बैल के समान सब देशदेशान्तरों में पहुंचानेवाला होने के कारण वृष और अश्व भी कहाता है, क्योंकि वह विद्वान् (शिल्पविद्या के जाननेवाले) लोगों के विमान आदि यानों को कलाओं के द्वारा अश्व अर्थात् शीघ्र चलानेवाला होकर वेग से वाहनों के समान दूर-दूर देशों में पहुंचाता है।[१६]

इस प्रकार महर्षि दयानन्द ने अन्य अनेक प्रमाणों से अग्नि के त्रिविध रूप का प्रतिपादन किया है। प्रथम-ईश्वररूप, द्वितीय-यज्ञरूप, तृतीय-शिल्पविद्या में प्रयुक्त शक्तिरूप।[१७] जबकि स्कन्द, सायण प्रभृति विद्वान् अग्नि को मात्र यज्ञ का निर्वाहक मानते हैं।

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के प्रथम सूक्त के एक मन्त्र में अग्नि को '**कविक्रतु:**' कहा है।[१८] स्कन्द उक्त पद का व्याख्यान करते हुए कहते हैं-**कविशब्दोऽत्र क्रान्तवचनः, न मेधाविनाम। क्रतुशब्दः प्रज्ञानाम कर्मनाम** वा, **क्रान्तं गतं सर्वत्राप्रतिहतं प्रज्ञानं कर्म वा यस्य स कविक्रतुः**।[१९] कवि शब्द क्रान्तवाची है, न कि मेधावीवाचक। क्रतु शब्द प्रज्ञावाचक या कर्मवाचक है। इस प्रकार '**कविक्रतु:**' का अर्थ है कि जो सर्वत्र विना किसी व्यवधायन के गया हुआ है अर्थात् विद्यमान है, उसका ज्ञान या कर्म ही '**कविक्रतु:**' है। यहाँ स्कन्द ने अग्नि को सर्वज्ञ और सर्वकर्मा रूप में प्रतिपादित किया है। स्कन्द का अनुसरण करते हुए सायण ने उक्त पद का व्याख्यान किया है-**कविशब्दोऽत्र क्रान्तवचनो न तु मेधाविनाम। क्रतुः प्रज्ञानस्य कर्मणो वा नाम। ततः क्रान्तप्रज्ञः क्रान्तकर्मा वा।**[२०] इस प्रकार स्कन्द और सायण समान धारा पर चलते हुए दिखायी देते हैं।

महर्षि दयानन्द उक्त पद का व्याख्यान करते हुए कहते हैं-**कविः सर्वज्ञः क्रान्तदर्शनो वा। करोति यो येन वा स क्रतुः, कविश्चासौ क्रतुश्च सः। 'कविः क्रान्तदर्शनो भवति कवतेर्वा।'** (निरु०१२.१३) **यः सर्वविद्यायुक्तं वेदशास्त्रं कवते उपदिशति स कविरीश्वरः। क्रान्तं दर्शनं यस्मात्स सर्वज्ञो भौतिको वा क्रान्तदर्शनः।**[२१] कवि का तात्पर्य सर्वज्ञ या सर्वद्रष्टा है। जो करता है या जिससे करता है, वह क्रतु है। यास्क कहते हैं कि कवि सर्वद्रष्टा होता है अथवा उपदेश करने वाला होता है। जो सर्वविद्या से युक्त वेदशास्त्र का उपदेश करता है, इसलिये कवि शब्द ईश्वर का वाचक है। जिससे परमाणु आदि पदार्थों का दर्शन होता है, इस कारण सर्वज्ञ होने से यह भी ईश्वर का वाचक है। भौतिक अग्नि भी शिल्पविद्या के माध्यम से सर्वत्र लाने ले जाने में समर्थ होता है, इसलिये वह भी '**कविक्रतु:**' पद का अभिधेय है।

उपर्युक्त विवेचन से यह पुष्ट हो जाता है कि जहाँ स्कन्द और सायण कवि के क्रान्त अर्थ तक सीमित हैं, वहाँ महर्षि दयानन्द कवि के यास्क द्वारा निर्वचन किये गये कवि पद के '**कवतेर्वा**' वचन का व्याख्यान करना अधिक

---

१६. दयानन्द, ऋग्वेदभाष्य-१.१.१ अथ केवलं भौतिकार्थग्रहणाय प्रमाणानि-यदश्वं तं पुरस्तादुदश्रयंस्तस्याभयेनाष्ट्रे निवातेऽग्निरजायत तस्माद्यत्राग्निं मन्थिष्यन्त्स्यात्तदश्वमानेतवै ब्रूयात्। स पूर्वेणोपतिष्ठते वज्रमेवैतदुच्छ्रयन्ति तस्याभयेनाष्ट्रे निवातेऽग्निर्जायते। (श०ब्रा०२.१.४.१६) वृषो अग्निः। अश्वो ह वा एष भूत्वा देवेभ्यो यज्ञं वहति। (श०ब्रा०१.३.३.२९ ३० वृषवद्यानानां वोढृत्वाद् वृषोऽग्निः। तथाऽयमग्निराशुगमयितृत्वेनाश्वो भूत्वा कलायन्त्रैः प्रेरितः सन् देवेभ्यो विद्वद्भ्यः शिल्पविद्याविद्भ्यो मनुष्येभ्यो विमानादियानसाधनसङ्गतं यानं वहति प्रापयतीति।'

१७. सम्भवतः यहाँ महर्षि भौतिक अग्नि को द्विविध मान रहे हैं। इस प्रकार अग्नि द्विविध होते हुए भी त्रिविध है।

१८. ऋ०१.१.५ अ॒ग्निर्होता॑ क॒विक्र॑तुः स॒त्यश्चि॒त्रश्र॑वस्तमः।

१९. स्कन्दभाष्य, ऋ०१.१.५

२०. सायणभाष्य, ऋ०१.१.५

२१. दयानन्दभाष्य, ऋ०१.१.५

समीचीन समझ रहे हैं। वह (अग्नि) परमात्मा ज्ञान देने के कारण '**कविक्रतुः**' है। स्कन्द और सायण के कथन से कहीं भी यह प्रतीत नहीं होता कि वे '**कविक्रतुः**' का अभिधेय ईश्वर है, जबकि दयानन्द की दृष्टि में कवि पद का निर्वचन चाहे '**क्रान्तदर्शनः**' या फिर '**कवतेः**' हो, दोनों ही स्थितियों में प्रथम स्थान पर '**कविक्रतुः**' का वाचक ईश्वर है, जबकि द्वितीय स्थान पर भौतिक अग्नि भी है।

यह अत्यन्त आश्चर्य का विषय है कि जिन प्रमाणों को महर्षि दयानन्द ने उद्धृत किया है, उनसे उक्त सभी भाष्यकार भी परिचित हैं। यास्क को तो सभी ने समान रूप से उद्धृत भी किया है, लेकिन यास्क को समझने की जो दृष्टि महर्षि के पास है, वह इनमें से किसी के पास नहीं है। जो सायण यास्क के अग्रणी पद के व्याख्यान में गार्हपत्य से पूर्व दिशा में स्थित आहवनीय अग्नि का ग्रहण करता है, वहीं दयानन्द ने उस अग्रणी पद से चेतनता को ग्रहण किया है। जब एक भक्त प्रार्थना करता है कि '**अग्ने नय सुपथा**'[२२] हे अग्ने! मुझे सुपथ पर ले चलो। इस मन्त्र में सुपथ पर ले जाने की सामर्थ्य चेतन अग्नि में ही सम्भव है। यहाँ स्पष्ट रूप से ईश्वर की अन्विति दिखायी देती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि एक ही मन्त्र के व्याख्यान में दयानन्द से पूर्व भाष्यकार जो अर्थ करते चले आ रहे थे, वह अर्थ तो हो सकता है, परन्तु उसे मन्त्र का भाव नहीं माना जा सकता, वह मन्त्र का पूर्ण कथ्य नहीं हो सकता है। दयानन्द के भाष्य से ऐसा कहीं नहीं लगता कि वे मन्त्र पर अपने विचारों को आरोपित कर रहे हैं। जो भी कहा है, उसे प्रमाणों से पुष्ट करने के पश्चात् ही मन्त्र के भाव रूप में प्रतिपादित करके ग्राह्य बनाया है। इस प्रकार महर्षि दयानन्द की भाष्य शैली जहाँ एक ओर परम्परा से पोषित है तो वहीं उसमें एक नवीनता के दर्शन होते हैं। अनेक वेद के अध्येता यह कहते सुने जाते हैं कि जब हमने एम.ए. आदि का अध्ययन करते समय सायण, मैक्समूलर आदि का भाष्य पढ़ा था, तो उससे वेद के प्रति श्रद्धा होने के स्थान पर अश्रद्धा होगयी थी और जब किसी कारण पुनः वेदभाष्य का अवलोकन किया, वह भी दयानन्द भाष्य के आलोक में तो हमारे चिन्तन की दिशा ही बदल गयी। ऐसा लगता है कि वेद में वह सब कुछ समाहित है जो मनुष्य के अस्तित्व के लिये आवश्यक है। इसीलिये महर्षि दयानन्द ने वेद को सब सत्यविद्याओं का आदि स्रोत कहा है। ब्राह्मणग्रन्थ '**अनन्ता वै वेदाः**'[२३] कहकर जहाँ वेद के महत्त्व को स्वीकार कर रहे हैं, वहीं यह भी प्रतिपादित कर रहे हैं कि वेद अर्थात् ज्ञान को किसी एक सीमा में आवद्ध नहीं किया जा सकता। जब ईश्वर अनन्त है तो उसका ज्ञान सीमित कैसे हो सकता है। यह आश्चर्य केवल वेद के साथ ही घटित होता है कि वेद का व्याख्यान करने वाले की जैसी योग्यता है, उसको उसी प्रकार के अर्थ की प्रतीति होती है, जबकि अन्य लौकिक साहित्य में यह देखा जाता है कि व्याख्याता कितना ही योग्य क्यों न हो, वह उनका बहुत प्रकार का अर्थ नहीं कर सकता। यह विलक्षणता वेद के ईश्वरीय ज्ञान होने के कारण है।

दयानन्दभाष्य की अध्ययनशैली

महर्षि दयानन्द ने आधुनिक युग के मनुष्य की सीमाओं और आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए जो मन्त्र व्याख्याशैली अपनायी है, वह इससे पूर्व किसी भाष्यकार के भाष्य में दिखायी नहीं देती है। महर्षि दयानन्द से पूर्व ऋग्वेद के सम्भवतः सायण ही एकमात्र ऐसे भाष्यकार हैं, जो मन्त्र का विनियोग प्रदर्शित करते हैं, यह विनियोग भी प्रायः यज्ञ तक सीमित रहा है।

---

२२. यजु०४०.१६

२३. तै०सं०३.१०.११.३

महर्षि दयानन्द ने परम्परा से चले आ रहे विनियोग के स्थान पर मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय दिया है, जो महर्षि की व्यापक दृष्टि को रेखाङ्कित करता है। विनियोग शब्द यज्ञ के प्रसङ्ग में रूढ़ हो जाने से महर्षि की वेद-व्याख्यान की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करता है। महर्षि ने तो यास्क की शैली का अनुसरण किया है, जिसमें **'याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा'**[२४] अध्यात्मज्ञान का आधार दैवत-परिज्ञान और दैवत-परिज्ञान का आधार यज्ञ सम्बन्धी ज्ञान है। इस प्रकार यज्ञ सम्बन्धी ज्ञान की आधार शिला पर दैवत तथा अध्यात्म सम्बन्धी ज्ञान अधिष्ठित है।[२५]

यदि हम यह कहें कि महर्षि दयानन्द यास्क से भी आगे निकल गये हैं, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। उन्होंने मन्त्रों के इतने प्रकार के अर्थ उद्घाटित किये हैं, जिनको आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इस त्रिविध शैली में समाविष्ट करने का भले ही प्रयास करें, परन्तु इनमें वे समाहित होते दिखायी नहीं देते। स्थूल रूप से यजुर्वेद में महर्षि दयानन्द ने लगभग ३८० प्रकार के मन्त्र के प्रतिपाद्य विषय दिये हैं, इनको यदि उक्त त्रिविध मन्त्रार्थ शैली में समाहित करने का प्रयास किया जाए तो अस्पष्टता बनी रहती है और सामान्य पाठक उसकी जटिलता में उलझ के रह जाता है। अतः हम कह सकते हैं कि महर्षि दयानन्द के द्वारा विनियोग नामक शैली का परित्याग युग की आवश्यकता थी और उसके स्थान पर मन्त्र के विषय को देना मन्त्रार्थ की स्पष्टता के लिये न केवल अपेक्षित है, अपितु अनिवार्य भी है।

मन्त्र का विषय देने के उपरान्त महर्षि दयानन्द मन्त्र और उसका पदपाठ प्रदर्शित करते हैं, महर्षि ने इसमें प्रायः सर्वत्र परम्परा का अनुसरण किया है। इसलिये सम्पादन करते समय संदेह होने पर हमने सर्वत्र स्वरादि की दृष्टि से परम्परा का ही अवलम्बन लिया है।

पदपाठ के उपरान्त महर्षि ने संस्कृत-पदार्थ दिया है। इसे महर्षि की व्याख्यान की शैली मान सकते हैं कि वे सम्पूर्ण भाष्य में कहीं भी पदपाठ के क्रम को छोड़कर नहीं चलते हैं। पदों के पदार्थ देते समय यदि स्पष्टता के लिये ब्राह्मणग्रन्थ, निरुक्त आदि के प्रमाण और व्याकरण देना अपेक्षित हुआ है तो महर्षि ने वह भी दिया है। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना उचित प्रतीत होता है कि महर्षि का पदार्थ पद के अर्थ तक ही सीमित है। उसमें अन्विति नहीं है, इसलिये विना अन्विति के अर्थ को ग्रहण करना सम्भव नहीं हो पाता है।

संस्कृत पदार्थ देने के उपरान्त महर्षि दयानन्द अन्वय देते हैं, जो आगे चलकर हिन्दी-पदार्थ का आधार बनता है। संस्कृत-पदार्थ के भाव को सम्यक् रूप से हृदयङ्गम करने के लिये अन्वय के अनुकूल संस्कृत-पदार्थ की अन्विति करनी अपेक्षित है। इसलिये महर्षि दयानन्द के भाष्य में अन्वय की उपस्थिति दयानन्दभाष्य का आधारभूत तत्त्व है, अतः उसकी उपेक्षा न तो हम हिन्दी-पदार्थ के साथ कर सकते हैं और न संस्कृत-पदार्थ के साथ ही।

अन्वय के अनन्तर महर्षि ने संस्कृत-भावार्थ दिया है। यह भावार्थ अन्वय के अनुसार संस्कृत-पदार्थ की अन्विति करने पर उद्भूत होता है। यह संस्कृत-भावार्थ ही हिन्दी-भावार्थ का आधार बनता है।

संस्कृत-भावार्थ के पश्चात् महर्षि हिन्दी-पदार्थ देते हैं। हिन्दी-पदार्थ में पदपाठ के क्रम का अवलम्बन करके

---

२४ निरु०,१.२०.

२५. इसको इस प्रकार समझ सकते हैं कि सर्वप्रथम वेद के आधिभौतिक (अधियज्ञ) पक्ष को हृदयङ्गम करना चाहिये, जब उसमें पारङ्गत हो जाये, तब आधिदैविक पक्ष में प्रवेश मिलता है, जब व्यक्ति इसमें भी उत्तीर्ण होता है, तब वह अध्यात्म में प्रवेश के योग्य है। अध्ययन जीवन के तीन सोपान प्रथम प्रारम्भिक शिक्षा, द्वितीय माध्यमिक शिक्षा और तृतीय उच्च शिक्षा। इन तीनों में परस्पर विरोध न होकर प्रथम सोपान जिस प्रकार द्वितीय पर पहुँचने का आधार बनता है, उसी प्रकार द्वितीय सोपान तृतीय सोपान का।

अन्वय में दिये गये क्रम का अनुसरण करते हुए मन्त्र को ग्राह्य बनाया गया है। सम्पादन करने में अन्वय के अनुसार हिन्दी-पदार्थ को देखने पर यदि कहीं कुछ रह गया है, वह भी पकड़ में आ जाता है या फिर अन्वय में कोई विसंगति हो गयी है, उसको देखा जा सकता है। प्रायः विद्वानों की मान्यता रही है कि हिन्दी-पदार्थ महर्षि ने स्वयं नहीं किया है, सम्भवतः उन्होंने अपने किसी लेखक पण्डित पर यह भार छोड़ दिया होगा, ऐसा कहते हुए प्रायः सुना जाता है। परन्तु अन्तःसाक्ष्य के आधार पर पूर्ण निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि महर्षि का अन्वय हिन्दी-पदार्थ का आधार है। ये दोनों इतने अधिक परस्पर सङ्गत हैं कि एक को देखकर दूसरे के स्वरूप का निश्चय किया जा सकता है।

अन्त में महर्षि हिन्दी-भावार्थ देते हैं। यह संस्कृत-पदार्थ की ही छाया है। इसमें भी किसी एक को देखकर दूसरे के विचलन को पहिचाना जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि महर्षि ने आधुनिक युग की आवश्यकताओं और चुनौतियों को ध्यान में रखते हुए अपने वेदभाष्य को एक व्यापक आधार प्रदान किया है। इससे पूर्व इतने व्यापक परिदृश्य को ध्यान में रखते हुए वेदभाष्य नहीं किया गया है। प्राचीन युग की विनियोग और देवता सम्बन्धी मान्यताओं को उन्होंने नए युग के सन्दर्भ में परिभाषित किया है। यद्यपि प्राचीन काल में भी प्रतिपाद्य विषय को देवता मानने की परम्परा चली आ रही थी, परन्तु सायण और उसके अनुवर्ती भाष्यकारों ने देवता और प्रतिपाद्य को अलग मानते हुए केवल यज्ञ के सन्दर्भ में विनियोग और देवता का निर्धारण किया है। महर्षि दयानन्द की यह विशेषता उन्हें अन्य भाष्यकारों से एक भिन्न और उच्च श्रेणी में रखती है। आज के भाष्यकारों अथवा मन्त्रार्थचिन्तन करने वालों को महर्षि की इस विशेषता को ग्रहण करके मन्त्रार्थ विधा को एक नया आयाम प्रदान करना चाहिये।

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०१० अङ्क १४ (पृ०८-१४) ISSN 0974 – 8830

ऋग्वेद में मानवाधिकार की अवधारणा

प्रो. शशि तिवारी[1]

मानव प्रकृति की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सृष्टि है। सभी मानवों का समुचित एवं पूर्ण विकास हो, इसके लिए आधुनिक विधिशास्त्र मानवाधिकारों की बात करता है। पिछले लगभग ८०० वर्षों से यदा-कदा ब्रिटेन द्वारा मानव के अधिकारों की प्रारम्भिक चर्चा होती रही। अनन्तर इस विचार का उत्तरोत्तर विकास हुआ और पहली बार विधिवत् विश्वस्तर पर **'मानवाधिकार की सार्वभौम घोषणा'** १० दिसम्बर, १९४८ को संयुक्तराष्ट्र की महासभा में की गयी। तब से विश्व के विभिन्न भागों में मानवाधिकार के स्वरूप, महत्त्व और अनिवार्यता पर विस्तृत चिन्तन और विश्लेषण प्रारम्भ हुए। विश्व के प्राचीनतम देश भारतवर्ष की महान् एवं विपुल ज्ञाननिधि 'वेद' की पुरातनता निर्विवाद है। इसमें सन्देह नहीं, कि वेद मानवमात्र के लिए देश, काल और स्थान की अपेक्षा के विना आदेश और उपदेश करते हैं, जिससे उसका सर्वाविध उत्कर्ष हो सके। इसीलिए भारतीय परम्परा वेद को परम प्रमाण मानती है। वैदिक मन्त्र की विशुद्धता और तदरूपता उनके माहात्म्य को बढ़ा देती है। ऋषि-प्रज्ञा को इसका समस्त श्रेय जाता है, जिससे वेद को यथावत् सुरक्षित रखा है। **'सर्व वेदात्प्रसिध्यति'**, **'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'** जैसे प्रसिद्ध वचनों से ध्वनित होता है कि ज्ञानविज्ञान के सभी पक्षों का आदि स्रोत वैदिक मन्त्र हैं। इसी दृष्टिकोण से इस पत्र में यह जानने का प्रयास किया जा रहा है कि आधुनिक विचार मानवाधिकार के विषय में प्राचीनतम वैदिक ग्रन्थ ऋग्वेदसंहिता ने क्या मानक नियम स्थापित किये हैं। वैदिक मन्त्रों के समालोचनात्मक विश्लेषण द्वारा ही तत्सम्बद्ध सिद्धान्तों को खोजा जा सकता है।

मानवाधिकार पर वैदिक दृष्टि

मानवाधिकार पर वैदिक दृष्टिकोण का आकलन करने पर यजुर्वेद का एक मन्त्र **'पञ्चस्वन्तः पुरुषाऽआ विवेश'** अर्थात् 'पाँचों के भीतर पुरुष प्रविष्ट हुआ है'[2] - इस पृष्ठभूमि में व्याख्यात किया जा सकता है। व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व-इन पञ्च आयामों पर व्यक्ति का उत्तरोत्तर विकास और सम्पर्क होता है। मनुष्य इन पाँचों स्तर पर अपना प्रभाव छोड़ता है और इन पाँचों से प्रभावित भी होता है। मानवाधिकार के सम्बन्ध में वेद का जो एक दूसरा दृष्टिकोण उभर कर सामने आता है, वह है कि 'अधिकार केवल कर्तव्य से उपजते हैं'। ऋग्वेद और अथर्ववेद के एक मन्त्र में वधू को आशीष दिया गया है कि 'पति के घर में सम्राज्ञी की तरह रहो, श्वसुर, सास, ननद और देवर पर शासन करो'।[3] साथ ही वह मन्त्र उल्लेख्य है, जिसमें वधू को पति के घर में श्वसुर और अन्य सम्बन्धियों की निष्ठापूर्वक सेवा करने का आदेश दिया गया है।[4] जीवन में लक्ष्यप्राप्ति के लिए कर्तव्याकर्तव्य का निर्धारण वैदिक ऋषि के नीतिविश्लेषण का प्रधान तत्त्व है। यज्ञानुष्ठान, प्रार्थना, प्रय, परिश्रम पर बल देने वाले निर्देशों को कर्तव्य विधान का ही प्रतिरूप माना

---

१. मैत्रेयी कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली. आवास-५४ साक्षर अपार्टमेंट्स ३ पश्चिम विहार नई दिल्ली ११००६३
दूरभाष:- (०११)-२५२६५२३७, ०९८१०६९०३२२

२ यजुर्वेद २३.५२

३ सम्राज्ञी श्वसुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव। ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु॥ ऋग्वेद १०.८५.४६; अथर्ववेद १४.१.४४

४ स्योना भव श्वसुरेभ्यः स्योना पत्ये गृहेभ्यः। स्योनाऽस्यै सर्वस्यै विशे स्योना पुष्टायैषां भव॥ अथर्व. १४.२.२७

जाना चाहिए। ऋभुगण अपने उत्तम कर्मों के कारण देव बने और इसीलिए इन्द्र ने उन्हें अपना मित्र बनाया।[5] इन्द्र उत्तम कर्तव्यशक्ति से युक्त होकर जन्मे थे। उन्होंने श्रेष्ठ कर्मों को प्रथम किया, इसलिए वे प्रशंसनीय हुए।[6] जिस प्रकार इन्द्र आदि देवता उत्तम कर्मों के कारण श्रेष्ठ हुए, उसी प्रकार उत्तम और शुभ कर्म मनुष्यों के लिए भी कर्तव्य हैं यही ऋक् संहिता का सन्देश है। जो प्रजा का हित करता है वह 'मानुष' है और जो प्रजा का अहित करता है वह 'अमानुष' है।[7] मनुष्य क्या करे और क्या न करे- विषय पर पर्याप्त प्रकाश डालने वाले वैदिक ऋषियों ने मानवाधिकार की सबल भूमिका के रूप में कर्मों की महत्ता स्थापित की है।

मानवाधिकार परक वैदिक दृष्टिकोण का एक तीसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष है सांमनस्य। अथर्ववेदीय सांमनस्य सूक्त पारिवारिक और सामाजिक स्तर पर अविद्वेष और सममनभाव की बात करता है। यहाँ तक निर्देश दिया गया है कि भाई भाई से द्वेष न करे, बहन बहन से द्वेष न करे। समान व्रत और समान गति वाले होकर परस्पर भद्रतापूर्ण वाणी का व्यवहार करें।[8] इसी प्रकार का सांमनस्य दिव्यशक्तियों के साथ भी चाहा गया है। मनुष्य का दूसरे व्यापक स्तरों से सम्बन्ध, कर्तव्य विधान और सांमनस्य जैसे विशद दृष्टिकोण के परिप्रेक्ष्य में वैदिक ऋषि ने मानव के अधिकारों का विधान किया है।

मानवाधिकार की सर्वमान्य परिभाषा के अनुसार 'ये मानवजीवन की ऐसी परिस्थितियाँ हैं, जिनके बिना सामान्य तथा कोई भी व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं कर सकता'। परन्तु मानवाधिकार का सामान्य अभिप्राय उन अधिकारों से है, जो मनुष्य मात्र के लिए उनके उत्कर्ष हेतु समान रूप से प्राप्तव्य हैं। वैदिक ऋषि प्रज्ञा ने दिव्यशक्तियों की इस भावना की बहुशः प्रशंसा की है कि वे 'विश्व मानुष' या 'विश्व जीव' के प्रति बिना भेदभाव के कार्यरत हैं। सूर्य से पहले प्रकाशित होकर युवति उषा 'सब जीवों' को सर्वत्र संचार के लिए प्रेरित करती है।[9] इन्द्र के द्वारा दिए गए उत्तम धन को 'सभी मनुष्य' जानते हैं।[10] विष्णुदेव ने निवास के लिए मनुष्यों को देने की इच्छा से पृथ्वी पर विचक्रमण किया।[11] पवमान सोम सम्पूर्ण विश्व को श्रेष्ठ (आर्य) बनाना चाहते हैं या सम्पूर्ण विश्व को आर्य करने वाले हैं।[12] स्पष्ट है कि सभी देव मानवमात्र के विकास या सुख सुविधा के लिए यत्नशील हैं। यही मानवाधिकार का वैदिक तात्पर्य है। ऋग्वेद में सांकेतिक रूप से अभिव्यक्त हुए मानवाधिकार परक कतिपय प्रमुख सिद्धान्तों का विश्लेषण ऋग्वेद में मानवाधिकार की अवधारणा के अध्ययन के उद्देश्य से यहाँ अभिप्रेत है।

मानवाधिकार की अवधारणा के प्रेरक तत्त्व

१. वैश्विक एकता

वेद में किसी स्थान विशेष की विशेष चर्चा न करते हुए सम्पूर्ण विश्व या ब्रह्माण्ड की बात की गयी है। वैदिक

---

५ ये देवासो अभवता सुकृत्या। ऋ. ४.३५.८, सखीयाँ इन्द्र चकृषे सुकृत्या। वही, ४.३५.७

६ साकं जातः क्रतुना। वही, २.२२.३, यस्तोकृणो प्रथमं सास्युक्थ्यः। वही, २.१३.२

७ अमानुषं यन्मानुषो निजूर्वात्। वही, २.११.१०

८ मा भ्राता भ्रातारं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा। सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥ अथर्व. ३.३०.३

९ उषो रुरुचे युवतिर्न योषा विश्वं जीवं प्रसुवन्ती चरायै। ऋ. ७.७७.१

१० यस्य ते विश्वमानुषो भूरेर्दत्तस्य वेदति। वही, ८.४५.४२

११ विचक्रमे पृथिवीमेष एतां क्षेत्राय विष्णुर्मनुषे दशस्यन्। वही, ७.१००.४

१२ इन्द्रं वर्धन्तो अप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम्। वही, ९.६३.५

दृष्टिकोण में यह स्पष्ट किया गया है कि संसार में लोग विविध भाषाओं या बोलियों और विविध धर्मों या व्यवसायों वाले होंगे- पर पृथिवी तो सबको विना भेदभाव या वर्गभेद के धारण करेगी जैसे कि एक घर में रहने वाले हों।[१३] वह तो सब मानवों के लिए है।[१४] इसी प्रकार यजुर्वेद ने परमात्मा की दृष्टि में विश्व को विना विभाजन वाला एक 'नीड' कहा है।[१५] जैसे घोसलें में कोई विभाजन रेखा नहीं होती, वैसे ही यह विश्व ब्रह्म की नजर में एक इकाई है, जिसमें देश-प्रदेश के विभागों का कोई औचित्य नहीं है। इन्द्र स्थावर-जङ्गम सभी का राजा है।[१६] वे सभी मनुष्यों के शासक, पालक और प्रकाशक हैं।[१७] जैसे इन्द्रदेव वैसे ही सामान्यतया समस्त देवमण्डली सभी प्राणियों के हितसम्पादन में प्रवृत्त देखी जा सकती है। तात्पर्य है कि प्राकृतिक शक्तियाँ स्वकार्य-नियोजन में समस्त विश्व की एकता को मूलाधार बनाती हैं। वैदिक देवताओं का कार्यक्षेत्र विश्वव्यापी है।

२. मानवीय समानता

द्युलोक को पिता और पृथिवी को माता मानने वाले वैदिक स्तोता ने अपने को विशाल विश्व का अधिवासी माना है। वैदिक समाज समत्व का पोषक था। आर्यजनों के सांस्कृतिक जीवन में एकरूपता थी, क्योंकि सभी व्यक्तियों को सामान्यतया समाज का आवश्यकीय अङ्ग माना जाता था। इसीलिए वेदों में कहीं भी एक धर्म या समुदाय को ध्यान में रखकर उपदेश नहीं दिया गया है अपितु सम्पूर्ण मानवमात्र के हितसाधन के लिए उपदेश है। समाज या समूह की सर्वाङ्गीण उन्नति के मूल-कारण के रूप में मानवीय समानता का प्रतिपादन किया गया है। समत्व भावना से ओतप्रोत चित्त स्वार्थ से शून्य और परार्थ के प्रति निष्ठावान् होता है, इसलिए भावात्मक एकता को आत्मसाक्षात्कार का प्रथम सोपान माना गया है- उपनिषद् दर्शन में इसी तथ्य का विस्तार हुआ है।

ऋक्संहिता का 'संज्ञानम्' नामक सूक्त सामाजिक उत्कृष्ट भावना का सुन्दर उपदेश है- 'जैसे दिव्यशक्तियों से युक्त देव परस्पर अविरोध भाव से अपने-अपने कार्यों को करते हैं, वैसे ही तुम लोग भी समष्टि भावना से प्रेरित होकर एक साथ कार्यों में प्रवृत्त हो, ऐकमत्य से रहो और परस्पर सद्भाव में रत रहो'।[१८] यह सूक्त वेद के समतापूर्ण दृष्टिकोण का ज्वलन्त उदाहरण है। इसमें सब जनों की क्रियाओं, गति, विचारों एवं मनबुद्धि के पूर्ण सामञ्जस्य की प्रेरणा दी गयी है। यह सूक्त 'सांमनस्य' नाम से अथर्ववेद-संहिता में भी मिलता है। समता भावना के माहात्म्य के प्रकाशक वैदिक विचार जहाँ एक ओर समाज की उन्नति के लिए अपेक्षित आधार के अभिव्यञ्जक हैं, वही वे मानवाधिकार का स्वरूप भी उपन्यस्त करते हैं।

ऋग्वेदसंहिता के दो मन्त्रों में मरुत् को नर, मर्य, मर्त आदि विशेषणों के आधार पर मनुष्यवाची मानना, स्पष्टतः मानवीय समानता के रूप में ग्राह्य है- 'सब मनुष्य समान हैं, उनमें कोई बड़ा-छोटा नहीं, कोई मध्यम भी नहीं, ये अपनी शक्ति से ऊपर उठते हैं, ये महत्त्वाकांक्षा से बढ़ते हैं, ये जन्म से कुलीन, दिव्य, मर्त्य हैं, इन सब मनुष्यों में कोई न तो जन्म से बड़ा है और न कोई छोटा, सब सम्यक् मातृभाव को धारण करते हुए ऐश्वर्य और उन्नति के लिए

---

१३ जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नाना धर्माणं पृथिवीं यथौकसम्। अथर्व. १२.१.४५
१४ असम्बाधं मध्यतो मानवानाम्। वही, १२.१.२
१५ यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्। यजु. ३२.८
१६ इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा। ऋ. १.३२.१५
१७ सेदु राजा क्षयति चर्षणीनाम्। वही, १.३२.१५
१८ सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्। देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥ वही, १०.१९१.२

मिलकर प्रयत्न करते और आगे बढ़ते हैं'।[१९] जब सब समान हैं तो भेदभाव कैसा? वेद की दृष्टि में सभी स्त्री-पुरुष 'अमृतस्य पुत्राः' हैं।[२०] वेद की संस्तुति है कि बालक, तरुण, बड़े और वृद्ध जो भी पुरुष हैं, वे सब उसी प्रभु के रूप हैं अतः उसको नमन करना चाहिए।[२१] वर्तमान जाति-व्यवस्था जो विश्व के कई भागों में मानवीय भेदभाव का आधार है, वेद में नहीं प्राप्त होती है। गुण और कर्म के अनुसार निर्धारित की गई वर्ण-व्यवस्था के कतिपय संकेत वेद में अवश्य उपलब्ध होते हैं। वैदिक परम्परा में बलपूर्वक स्थापित की गई सामाजिक और मानवीय समानता उसे मानवाधिकार की मान्यता प्रदान करती है।

३. विश्वबन्धुत्व-भावना

विश्वबन्धुत्व-भावना की चर्चा जिस रूप में वेद में की गई है, वह विश्व वाङ्मय के लिए एक अनुपम उदाहरण है। विश्वव्यापी आधार पर चिन्तन करने के कारण विश्वबन्धुता की उदात्त भावना से ओतप्रोत वैदिक मन्त्रों में मानवमात्र के लिए सौहार्द, मित्रता, सामनता, संगठन और साहाय्य की भावनाओं का पाया जाना नितराम् स्वाभाविक है। ऋग्वेद में हीं इस विषय के अनेक सन्दर्भ उपलब्ध हैं। ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त 'संज्ञानम्' इस का सर्वोच्च प्रतिपादक है। एक अन्य मन्त्र में सभी जनों के परस्पर संगत होकर, सहमतिपूर्वक, विना किसी द्वेषभाव के, कर्तव्य कर्मों और प्रकृति के नियमों के लिए कहा गया है-'एक महत्कार्य के निमित्त वे एक होते हैं, संघटित होते हैं और अपना विचार रखते हैं, वे कभी आपस में कलह नहीं करते, देवों के अनुशासन को भंग नहीं करते और हिंसा न करते हुए धनों के साथ संगत होते हैं।[२२]

वेद में सब प्राणियों को मित्रवत् देखने की कामना की गयी है। प्राणिमात्र के लिए मैत्रीभाव या मित्र-दृष्टि अपेक्षित है। ऋग्वैदिक ऋषि के अनुसार जो मित्र को छोड़ देता है, उसे वाणी का कोई फल नहीं मिलता, वह जो सुनता है व्यर्थ ही सुनता है, वह सत्कार्य का मार्ग नहीं जानता है।[२३] यजुर्वेद का एक प्रसिद्ध मन्त्र है, जिसमें कहा गया है कि 'सब प्राणिवर्ग मुझे मित्र की दृष्टि से देंखे, मैं सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूँ। हम सब प्राणी परस्पर एक-दूसरे को मित्र की दृष्टि से देंखे।'[२४] मैत्री या विश्वबन्धुता की भावना मानवाधिकार की अवधारणा के प्रेरक तत्त्व है, इसमें सन्देह नहीं।

सामान्य मानवाधिकार

१. सामाजिक न्याय का अधिकार

जब व्यक्ति के लिए समताभावना और उदात्तगुणों का निर्देश है, तब प्रत्येक मानव को दूसरे से होने वाले अनाचार या अन्याय के प्रतिकार का अधिकार स्वतः प्राप्त हो जाता है। वेद में 'ऋतम्' को सम्पूर्ण व्यवस्था का मूल

---

१९ ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदोऽमध्यमासो महसा वि वावृधुः। सुजातासो जनुषा पृश्निमातरो दिवा मर्या आ नो अच्छा जिगातन॥ वही, ५.५९.६, अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय। वही, ५.६०.५

२० विश्वे अमृतस्य पुत्राः। वही, १०.१३.१

२१ नमो महद्भ्यो नमो अर्भकेभ्यो नमो युवभ्यो नम आशिनेभ्यः। वही, १.२७.१३

२२ समान ऊर्वे अधि संगतासः सं जानते न यतन्ते मिथस्ते। ते देवानां न मिनन्ति व्रता न्यमर्धन्तो वसुभिर्यादमानाः॥ वही, ७.७६.५

२३ यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति। वही, १०.७१.६

२४ मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे। यजु.३६.१८

तत्त्व निर्धारित किया है। इसलिए जो राजा अर्थात् अधिकारी न्यायकर्ता है, उसके प्रति कामना की गयी है कि 'सत्य से असत्य को पृथक् करके मेरे राष्ट्र का आधिपत्य प्राप्त करो।'[२५] राजा को सदा सत्य का साथ देना चाहिए।[२६] किसी के प्रति भी वाञ्छनीय न्याय को दबाया नहीं जाना चाहिए। इन्द्र से एक प्रार्थना में कहा गया है कि हे उत्तम कर्म करने वाले! उत्तम रीति से रक्षा करने वाले तुम, प्राणियों की हिंसा करने के लिए नहीं हो।[२७] उचित न्याय सभी का अधिकार है। किसी भी स्थिति में नियमों को तोड़ने वाले या उनके साथ खिलवाड़ करने वाले दण्ड से वंचित नहीं रहने चाहिए। पवमान सोम के एक मन्त्र में प्रतिपादित है कि 'ऋत का संरक्षक, उत्तम कर्म करने वाला यह सोम किसी (दुष्ट) से दबने वाला नहीं है, कर्म करने वालों में जो नियम रहित रीति से कर्म करते हैं, उन अप्रिय करने वालों का वह ताड़न करता है'।[२८] अग्निदेव उसे तीन बार दण्डित करते हुए बाँधते हैं, जो 'अनृत' से 'ऋत' को नष्ट करता है।[२९] ऋत के नियामक देवता वरुण एक नैतिक देव हैं, जो सदा अपराधियों को दण्डित करने के लिए अपने पाशों से बाँध लेते हैं। अत एव उच्चतम स्तर के नैतिक आदर्शों की स्थापना करते हुए वैदिक ऋषि ने न्याय को समुचित महत्त्व दिया है।

२. सुरक्षित, शान्तिमय और सुखी जीवन का अधिकार

वैदिक ऋषि की दृष्टि में सुरक्षा और सामान्य सुख सभी मानवों का अधिकार है। दूसरों के अपराध और पापों से सदाचारी जनों के जीवन की रक्षा करना शासक का कर्तव्य है।[३०] सब ओर से अभय होना चाहिए।[३१] द्वेष करने वाले, दुष्ट, पापी, अपराधी, राक्षस आदि असामाजिक तत्त्वों के प्रतिकार के लिए देवता सदैव सन्नद्ध दिखाये गये हैं। ऋग्वैदिक आर्यों ने सुख और शान्ति को जीवन का मुख्य ध्येय माना था। शिव, स्वस्ति, भद्र, शम, सौभग, कल्याण, श्रेयस्, शर्म, मय आदि शब्दों द्वारा सुख, कल्याण, प्रसन्नता और शान्ति की वैदिक मन्त्रों में कामना की गयी है।[३२] सुखमय और शान्तिपूर्ण जीवन जन्म लेने वाले प्रत्येक मनुष्य का प्रथम अधिकार है। इस अभिप्राय से सभी देवताओं से 'भद्र' की याचना की गयी है।[३३]

शम् अथवा शान्ति केवल व्यक्तिगत स्तर पर ही काम्य नहीं है। वैदिक ऋषि भली-भाँति जानते हैं कि मानव जीवन के अन्य व्यापक स्तर परिवार, समाज, राष्ट्र एवं विश्व भी उसे प्रभावित करते हैं अत एव उन स्तरों पर भी शान्तिमय वातावरण होना चाहिए। शम् तो प्राणिमात्र का काम्य है द्विपदों और चतुष्पदों में शान्ति हो।[३४] सुकर्मशील जनों का सुकर्मों का उद्देश्य एकमात्र 'शान्ति' होना चाहिए।[३५] सत्यता और अनुशासन शान्ति के आधार हैं, इसीलिए एक

---

२५ ऋतेन राजन्ननृतं विविञ्चन् मम राष्ट्रस्याधिपत्यमेहि। ऋ. १०.१२४.५

२६ राजानः सत्यं कृण्वानाः। वही, १०.१०९.६

२७ सुगोपा असि न दभाय सुक्रतो। वही, ५.४४.२

२८ ऋतस्य गोपा न दभाय सुक्रतुः। अवाजुष्टान् विध्यति कर्ते अव्रतान्। वही, ९.७३.८

२९ त्रिर् यातुधानः प्रसितिं त एत्वृतं यो अग्ने अनृतेन हन्ति। वही, १०.८७.११

३० मा व एनो अन्यकृतं भुजेम। वही, ६.५१.७

३१ अथामयं कृणुहि विश्वतो नः। वही, ३.४७.२; तुलनीय अथर्व. १९.१५.५-६

३२ शशि तिवारी, ऋग्वैदिक अध्ययन, वेंकटेश प्रकाशन, दिल्ली, १९९९, पृ. १०२-१०६

३३ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। ऋ. १.८९.८

३४ शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे। यजु. ३६.८

३५ शं नः सुकृतां सुकृतानि सन्तु। ऋ. ७.३५.४

मन्त्र में कथन है कि 'हमारा सत्य और सुयम हमें शान्ति प्रदान करें'।[३६] सत्य का पालन करने वाले ही शान्ति को स्थापित कर सकते हैं।[३७] न केवल पृथिवी अपितु अन्तरिक्ष, द्युलोक और सर्वत्र शान्ति की कामना प्रसिद्ध शान्तिमन्त्र का विषय है।[३८] शान्ति स्थापना के लिए अधिकारी शासक को सदैव अशान्ति फैलाने वाले चोर, कपटी, पापी, दुष्ट को विनष्ट करने की चर्चा अनेकशः मन्त्रों में की गयी है।[३९]

३. शिक्षा और ज्ञानार्जन का अधिकार

जन्मने वाले प्रत्येक मानव का अधिकार अपनी बुद्धि का विकास करने के लिए शिक्षाप्राप्ति का है। माता उसकी प्रथम गुरु है, जो उसमें संस्कार डालती है। पिता उसका श्रेष्ठ गुरु है, जो उसको शिक्षित बनाने की आधारशिला रखता है। ब्रह्मचर्याश्रम में प्रत्येक बालक को योग्य गुरु से विद्या प्राप्त करने का अधिकार है। जानने वाला कोई भी आचार्य न जानने वाले, किन्तु जिज्ञासु शिष्य को अवश्य ही शिक्षित करे-वेद की निश्चित मान्यता है। पूषन् देवता से कहा गया है कि 'हे पूषन्! जो यह ऐसा ही है ऐसा कहता है और जो योग्य उपदेश देता है, उस विद्वान् के पास हमें ले चलो।'[४०] सृष्टि की समुचित गति के लिए शिक्षा और ज्ञानार्जन की महत्ता सभी के लिए है इसीलिए वेद का उद्घोष है, 'आगे आगे जाने वाला विद्वान् ही मुझे उत्तम मार्ग से सरलतापूर्वक ले जाएगा'।[४१] आज मानवाधिकार के रूप में 'शिक्षा' को विशेष स्थान दिया जाता है, किन्तु अभी भी कितने ही इस अधिकार से वंचित रह जाते हैं; जिसके अनेक कारण हैं किन्तु वैदिक दृष्टि में कोई भी कारण मानव को इस अधिकार से दूर नहीं रख सकता है।

शिक्षा विकास का साधन है और विकासोन्मुखता एवं उत्कर्ष-प्राप्ति से किसी भी मानव को सभ्य समाज में रोका नहीं जाना चाहिए, क्योंकि विकास एवं उत्कर्ष मानवाधिकार है। महत् सौभग के लिए उठो,[४२] जीवन में आगे ही आगे आरोहण करो,[४३] रुको नहीं, थको नहीं आगे बढ़ो, विचरण करो[४४] -जैसे उत्कर्ष के प्रति प्रेरित करने वाले मन्त्र वेदों में यत्र-तत्र सर्वत्र प्राप्त होते हैं। 'मेरे दाँये हाथ में कर्म हैं, तो मेरे बायें हाथ में जय'-वेद का आदर्श है।[४५]

४. स्वराज्य और स्वतन्त्रता का अधिकार

निर्भयता और सुरक्षा से स्वतन्त्रता उपजती है, जो मानव मात्र का एक विशेष अधिकार है। 'अभयम्' वेद का महत्तम सन्देश है। सभी मनुष्य स्वतन्त्र कर्म, स्वतन्त्र वाणी और स्वतन्त्र विचार के अधिकारी हैं, केवल इस स्वतन्त्रता में देव-नियमों का अतिक्रमण नहीं होना चाहिए।[४६]

---

३६ शं नः सत्यस्य सुयमस्य शंसः। वही, ७.३५.२
३७ शं नः सत्यस्य पतयो भवन्तु। वही, ७.३५.१२
३८ यजु. ३६.१७
३९ ऋ. १.४२.२, ३; ५.५२.१; १.५९.५
४० सं पूषन् विदुषा नय यो अञ्जस् अनुशासति। य एवेदमिति ब्रवत्॥ वही, ६.५४.१
४१ विद्वान् पथः पुरएत ऋजु नेषति। वही, ५.४६.१
४२ उत्क्राम महते सौभगाय। यजु.११.२१
४३ आरोहणं आक्रमणं जीवतो जीवतोऽयनम्। अथर्व. ५.३०.७
४४ अश्रासो न चक्रमत। ऋ. ८.५५.४
४५ कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः। अथर्व. ७.५०.८
४६ न स देवा अतिक्रमे तं मर्तासो न पश्यथ। ऋ. १.१०५.१६

'स्वराज्य' की अवधारणा वेद का अप्रतिम विचार है। सभी वैदिक संहिताओं में 'स्वराज्यम्' पर व्यापक सामग्री उपलब्ध होती है।[४७] 'स्वराज्य' की चाह करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है और यदि स्वराज्य है तो उसकी सुरक्षा करना भी उसका कर्तव्य है।[४८] लोगों को स्वराज्य से वंचित करने का अधिकार किसी को नहीं है।[४९] ऋग्वेद में स्पष्ट आदेश है कि लोग अपना राजा स्वयं चुने।[५०] यजुर्वेद में 'जानराज्य' शब्द का प्रयोग[५१] संकेत करता है कि यह स्वराज्य वस्तुतः जनता का राज्य है। राजा का वरण हो या कि निर्वाचन-यह तो निर्विवाद है कि वेद ने प्रजा के राज्य में होने वाले सर्वविध अधिकारों की अनिर्वाचता का संकेत किया है। निश्चय ही प्रजातन्त्र की आधुनिक धारणा का यह प्राचीनतम सन्दर्भ है।

मानव समुदाय में एक दूसरे के प्रति मित्रता, कल्याणभावना, अविद्वेष और सुरक्षा की भावना राष्ट्र को पुष्ट करती है और ऐसे राष्ट्र विश्व को पुष्ट करते हैं। मानवाधिकारों का समुचित अनुपालन सर्वविध विकास और शान्ति का मार्ग उपन्यस्त करता है। कर्मशीलता, सदाचार और उदात्त चरित्र इसके आधार हैं-यह वैदिक दृष्टिकोण ने स्पष्ट किया है। कर्तव्यों को छोड़कर केवल अधिकारों की बात करना एकाङ्गी है। समग्रता जीवन को परिपक्व करती है। आधुनिक युग में बहुशः चर्चित मानवाधिकारों के समस्त आधारभूत विचार ऋग्वेद में सूत्ररूप में व्याख्यात किये गये हैं। अतः उपर्युक्त विवेचन से निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मानवाधिकार की अवधारणा वैदिक ऋषि-प्रज्ञा के गहन बोध की संसचूक है, जिसमें अधिकारों के स्वरूप के साथ उनके आधारभूत सिद्धान्तों का भी अनुचिन्तन किया गया है।

---

४७ शशि तिवारी, वैदिक अध्ययन. न्यू भारतीय बुक कारपोरेशन. दिल्ली, २००४, पृ. १७५-१८४

४८ व्यचिष्ठे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये। ऋ. ५.६६.६

४९ कच्चन प्रियम् न मिनन्ति स्वराज्यम्। वही, ५.८२.२

५० विशो न राजानं वृणानाः। वही, १०.१२४.६

५१ यजु. ९.४०

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०१० अङ्क १४ (पृ०१५-२३) ISSN 0974 – 8830

वैदिकसाहित्य में विश्वशान्ति की विद्या

डॉ० जया तिवारी[1]

वैदिकसाहित्य विश्व के सम्पूर्ण साहित्य में प्राचीनतम साहित्य है। इसके चार स्तम्भ-वैदिकसंहिता (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद) ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यकग्रन्थ एवं उपनिषद् हैं, जिसमें सृष्टि का सम्पूर्ण ज्ञान समाया है। वेद का सार मनुस्मृति यही कहती है- **स सर्वोऽभिहितो वेदे**[2] **भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति**[3] एवं **वेदोऽखिलो धर्ममूलम्**[4] अर्थात् भूत, वर्तमान एवं भविष्य सभी का ज्ञान वेद में है। इन मन्त्रों से वेद की सार्वभौमिकता स्पष्ट होती है। वेद की उपादेयता भी अथर्ववेद में व्यक्त है- **तथास्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्। आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसं मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्**[5] विश्व को आयु, प्राण, प्रजा, यश एवं धनादि प्रदान करने वाला आदि ग्रन्थ वेद और उसका साहित्य है। महाभारत में वेद को शाश्वत, सार्वभौम एवं दिव्य कहा गया है- **अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा। आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः**[6] श्रीमद्भागवद्पुराण में वेद को साक्षात् नारायण कहा है- **वेदो नारायणः साक्षात् स्वयम्भूरिति।**[7]

वैदिक साहित्य ज्ञान, विज्ञान, धर्म, संस्कृति, साहित्य, दर्शन और सदाचार का समन्वय है। विज्ञान, कर्म, उपासना और ज्ञान इनके विषय हैं। ये विषय अपरा और परा दो विद्याओं के नाम से जाने गये हैं। अपराविद्या से पृथिवी और तृण से लेकर प्रकृतिपर्यन्त पदार्थों के गुणों के ज्ञान से ठीक-ठीक कार्य सिद्ध करना है और पराविद्या से सर्वशक्तिमान् ब्रह्म का यथार्थ ज्ञान है- **तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते**[8] जिसके ज्ञान से विष्णुपद अर्थात् मोक्ष प्राप्ति होती है। **तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः**[9] पूर्ण शान्ति उस सत्यस्वरूप यथार्थ की प्राप्ति में है धन प्राप्ति में नहीं- **नाऽऽशाऽस्ति वित्तेनेति**[10] सत्यस्वरूप और आत्मस्वरूप ईश्वर को जानकर मनुष्य दुःखस्वरूप मृत्यु से मुक्त हो जाता है-**आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्**[11] **तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय**[12] ईश्वर

---

१. एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल।
२. मनुस्मृति, २/७।
३. मनु०१२/९७।
४. मनु०२/६।
५. अथर्ववेद१/१९/७१/१।
६. महाभारत/शान्तिपर्व, २४४/५५।
७. श्रीमद्भागवद्पुराण ६/१/४०।
८. मुण्डकोपनिषद् १खण्ड १/मं०५।
९. ऋग्वेद/अष्टक १/अ० २/मन्त्र ५।
१०. बृहदारण्यकोपनिषद् २/४। न्यू वैदिक सलेक्शन भाग-१, पृ०५७८।
११. बृ०उ० २/४। न्यू वै०स०, भा०-१, पृ० ५८१।
१२. यजुर्वेद, अ०३१मं०१८।

यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति, सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु।[३२] औरों को धारण करने वाली पृथिवी को देवराज इन्द्र ने शत्रुरहित बनाते हुए अपने लिए चयनित किया था- **इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः। सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः**[३३] सबको उत्पन्न करनेवाली, औषधियों की माता पृथिवी है- **विश्वस्वं मातरमोषधीनाम्**[३४] तथा- **नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति, यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत्**[३५] जो अनेक औषधियों को धारण करता है, जिनमें अन्नादि उत्पन्न होते हैं, जिसमें प्राणी सांस लेते हैं ऐसी उपकार करने वाली पृथिवी के विकास एवं रक्षा करने में हमें गौरव होना चाहिए। ऋग्वेद के १।२२। १५, यजुर्वेद के १।२७, एवं अथर्ववेद १२।१। १७, ५९ वें मन्त्र में सुखकारिणी, सुखदायिनी, अभयदायिनी, निवासदायिनी, कल्याणकारिणी, आनन्ददायिनी, अभीष्ट अन्न, जल, घी, दूध से परिपूर्ण पृथिवी के प्रति रागात्मक आत्मीयता की भावना प्रकट की गई है। विश्वशान्ति के लिए आज पृथिवी के प्रति आत्मीयभाव की आवश्यकता है। पृथिवी की भाँति वायु को औषधि तथा जल को भी माता के रूप में पूज्य माना है- **त्वं हि विश्वभेषजो देवानां दूत ईयसे**[३६] **शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये**[३७] **आपो अस्मान् मातरः शुन्धयन्तु**[३८] वनस्पतियों को भी पूज्य माना है- **वृक्षाणां पतये नमः। औषधीनां पतये नमः**[३९] सम्पूर्ण दिशाओं से भी मित्र बनने की कामना की गई है- **सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु**[४०] ऋग्वेद में राष्ट्रिय कार्यों की सम्पन्नता में शक्तियों के संगठन और सुमतियों के संगठन की बात कही गई-**युवाकु हि शचीनां युकाकु सुमतीनाम्**[४१] वाणी, बुद्धि और ज्ञान के सामंजस्य द्वारा भी पारस्परिक एकता को सुरक्षित रखने की शिक्षा दी गई है[४२] इसलिए हमारे ऋषियों ने ईश्वर से सद्बुद्धि प्राप्ति की कमना की है-**धियो यो नः प्रचोदयाद्**[४३] अर्थात् हमारी बुद्धि को सन्मार्ग में प्रेरित करें तथा मन में शुभभाव की कामना की है-**तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु**[४४] अर्थात् मेरा मन कल्याणकारी विचारों वाला होवें। विश्वशान्ति के लिए प्रत्येक व्यक्ति की बुद्धि निर्मल एवं मन शुभविचारों से युक्त होना आवश्यक है।

विश्वशान्ति के लिए यज्ञसम्पादन की आवश्यकता वैदिक साहित्य में वर्णित है। यज्ञ करने से आरोग्य, सम्पत्ति, व्याधियों का शमन, पुष्टि, आयु, भोग तथा मृत्यु की हानि ये सब मनुष्य को प्राप्त होते हैं- **आरोग्यं संपदश्चैव व्याधीनां**

---

३२. अथर्ववेद-१२/१/१।
३३. अथर्ववेद-१२/१/१०।
३४. अथर्ववेद-१२/१/१७।
३५. अथर्ववेद-१२/१/२।
३६. ऋग्वेद-१०, १३७, ३।
३७. यजुर्वेद-३६/१२।
३८. ऋग्वेद-१०/१७/१०।
३९. यजुर्वेद-१६/१९।
४०. अथर्ववेद-१९/१५/६।
४१. ऋग्वेद-१/१७/४।
४२. ऋग्वेद-३/४/८।
४३. यजु० ३/३५
४४. यजु० ३४/१

शान्तिरेव **पुष्टिरायुस्तथाभोगमृत्युर्हानियथाक्रमम्।**[४५] प्रातः, मध्याह्न तथा सायंकाल यज्ञसम्पादन से पर्यावरणशुद्धि के साथ साथ शरीर को ब्रह्मप्राप्ति के योग्य बनाया जा सकता है- **महायज्ञैश्चयज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः**[४६] यज्ञ के माध्यम से सर्वत्र शान्ति की कामना वैदिक ऋषियों के द्वारा की गई है-हे सर्वदुःख का शमन करने वाले! सब लोकों के ऊपर जो आकाश है, वह हम लोगों के लिए शान्त सुखकारक हो। अन्तरिक्ष उसमें स्थित वायु आदि पदार्थ, पृथिवी, पृथिवीस्थपदार्थ, जल एवं जलस्थपदार्थ, औषधि, औषधिस्थगुण, वनस्पति, विश्वेदेव अर्थात् सब विद्वान् तथा वेदमन्त्र, सूर्यादि, उनकी किरणें, ब्रह्म तथा वेदशास्त्र, स्थूल-सूक्ष्म, चराचर जगत् ये सब पदार्थ हमारे लिए हैं, आपकी कृपा से शान्त (निरुपद्रव) सदानुकूल सुखदायक हों, मुझको वह शान्ति प्राप्त हो, जिससे मैं भी आपकी कृपा से शान्त, दुष्टक्रोधादि उपद्रवरहित होऊँ- **ओ३म् द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वं शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि।**[४७] श्रीमद्भगवद्गीता में यज्ञ का महत्त्व वर्णित है। यज्ञ मनुष्य को पवित्र करते हैं-**यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्** अर्थात् यज्ञ, दान और तप ये तीनों ही कर्म बुद्धिमान् पुरुषों को पवित्र करने वाले हैं।[४८]

विश्वशान्ति के लिए कर्तव्यकर्म की आवश्यकता है। वैदिक साहित्य में कर्तव्यकर्म की प्रेरणा के साथ दीर्घ आयु की कामना भी की गई है- **कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।**[४९] अश्विनी देवता से भी दीर्घ आयु की कामना करते हुए प्रार्थना की गई है कि हे अश्विनी देवो! मैं देखता हुआ तथा लम्बी आयु को प्राप्त करता हुआ वृद्धावस्था को प्राप्त करूँ- **उत पश्यन्नश्नुवन् दीर्घमायुरस्तमिवेज्जरिमाणं जगम्याम्।**[५०] राष्ट्रहित के लिए मिलकर काम करने की इच्छा व्यक्त की गई है। जैसे पृथिवी, पर्जन्य, वायु और आदित्य मिलकर अंकुर उत्पन्न करते हैं, उसी प्रकार हम सभी राष्ट्रहित में मिलकर कार्य करें। साथ चलें, साथ बोलें- **सं गच्छध्वं सं वदध्वम्।**[५१] श्रेष्ठ गुणों से युक्त, समान चित्त अन्तःकरण वाले, एक साथ साधना करते हुए, कंधे से कंधा मिलाकर चलते हुए, कभी किसी से वियुक्त न होवें- **ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराध्ययन्तः**[५२] अपने साथियों के साथ सहभोज और सहपान प्राप्त होवें- **सग्धिश्च मे सपीतिश्च मे**[५३] सबके जलपान का स्थान एक हो, सबका भोजन मिलकर हो, सबको समान स्नेह में बाँधता हूँ- **समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि**[५४] हे ईश्वर! हम एक साथ भोजन करें- **सह भक्षः स्याम।**[५५] अच्छी वस्तुओं का उपभोग अकेले न करें, क्योंकि अकेला खाने वाला पापी कहा गया है- **केवलाघो भवति**

---

४५. शिवपुराण-अग्नियज्ञादिवर्णन पृ०१.१५।
४६. मनुस्मृति-२/२८/४३।
४७. यजुर्वेद-३६/१७।
४८. श्रीमद्भगवद्गीता-१८/५।
४९. ईशा०मन्त्र-२।
५०. ऋग्वेद-अश्विनीसूक्त १/११६/२५।
५१. ऋग्वेद-१०/१९१/२।
५२. अथर्ववेद-३/३०/५।
५३. यजुर्वेद-वा०सं०१८/९।
५४. अथर्ववेद३/३०/६।
५५. अथर्ववेद-६/४७/१।

केवलादी।[५६] हे ईश्वर! मुझे सब प्राणियों में प्रिय बनाइए- **प्रियं सर्वस्य पश्यत।**[५७] मैं सारी जनता के लिए कल्याण करने वाले ज्ञान का प्रचार और प्रसार कर सकूं **यथेमां वाचं कल्याणीभवदानि जनेभ्य:।**[५८] हे ईश्वर! सबको समान रूप से धन प्रदान करें- **इन्द्रो अस्मभ्यं शिक्षतु विभजा भूरि ते वसु। अदाशुषां तेषां नो वेद आभर।**[५९] वैदिकसाहित्य में ऐसे अनेक मन्त्र हैं जिनमें सबके कल्याण की कामना है। जिसके कारण आपसी सद्भाव बना रहता है। सद्भाव शान्ति का मूल है।

वैदिक साहित्य में आदर्शपरिवार हेतु सदस्यों में परस्पर प्रेम, अनुकूलता और विरोध के अभाव की आकांक्षा की गई है- **अनुव्रत: पितु: पुत्रो मात्रा भवतु संमना:। जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवान्।**[६०] पुत्र पिता का आज्ञापालक हो, माता पुत्रादिकों के साथ एक मनवाली हो। पत्नी पति के लिए मीठी तथा कल्याणकारी वाणी बोले। भाई-भाई से द्वेष न करें, समान गतिवाले तथा समान कार्यवाले होकर शिष्टता के वचन बोलें- **मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा समयञ्च: सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया।**[६१] किसी से विद्वेष न करें- **मा नो द्विक्षत कश्चन।**[६२] जैसे गौ अपने नये जन्मे बछड़े के साथ प्रेम करती है वैसे ही हम सब एक-दूसरे के साथ प्रेम करें- **अन्यो अन्यमभि हर्यत् वत्सं जातमिवाघ्न्या।**[६३] परिवार, समाज तथा विश्व में सभी समान हैं। कोई बड़ा-छोटा नहीं है। सभी अपनी महत्त्वांकाक्षा से आगे बढते हैं। सभी जन्म से कुलीन और दिव्य मर्त्य हैं **ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदोऽमध्यमासो महसा वि वावृधु:। सुजातासो जनुषा पृश्निमातरो दिवो मर्या आ नो अच्छा जिगातन।**[६४] ऐसी भावनाएं मानवीय व्यवहार के आदर्श हैं जिनसे शान्तिमय एवं सुखद वातावरण बनता है।

वैदिक साहित्य में राष्ट्र की समृद्धि के लिए परमात्मा से याचना की गई है-हे ब्रह्मन्! हमारे राष्ट्र में पवित्र, ज्ञानसम्पन्न एवं तेजस्वी ब्राह्मण उत्पन्न हों, पराक्रमी, बाण चलाने में कुशल, शत्रु का भेदन करने वाला, महान् योद्धा उत्पन्न हों, अधिक दूध देनेवाली गाय, भार ढोने में समर्थ शक्तिशाली बैल, शीघ्रगामी अश्व, सर्वगुण सम्पन्न स्त्री, शत्रु को जीतने वाले बहादुर उत्पन्न हों, सभा में जाने योग्य युवक वीरपुत्र उत्पन्न हों, पर्जन्य हमारे अनुकूल वर्षा करें, पौधे फल से युक्त होकर स्वयं पकें। हमें अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति तथा प्राप्त वस्तु की रक्षा सम्भव हों-**आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्य: शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां--------योगक्षेमो न: कल्पताम्।**[६५] हे ईश्वर! जो कल्याणकारी हो वह हमें प्राप्त होवें- **यद् भद्रं तन्न आसुव।**[६६] हे देवगण! हम लोग अपने कानों से कल्याणकारी वचन सुनें। नेत्रों से मंगलमय दृश्य देखें और देव द्वारा स्थापित १२०वर्ष की आयु प्राप्त करें-**भद्रं कर्णेभि: श्रुणुयाम देवा: भद्रं**

---

५६. ऋग्वेद-१०/११७/६।
५७. अथर्ववेद१९/६२/१।
५८. यजुर्वेद वा०सं०२६/२।
५९. ऋग्वेद-१/८१/६. ९।
६०. अथर्ववेद-३/३०/२।
६१. अथर्ववेद-३०/१/३।
६२. अथर्ववेद-१२/२३।
६३. अ०-सांमनस्यसूक्त३/३०/१।
६४. ऋ०५/५९/६।
६५. यजुर्वेद-२२/२२।
६६. यजुर्वेद-३०/३।

पश्येमाक्षभि र्यजत्राः--व्यशेम देवहितं यदायुः।[६७] हे देव! सम्पूर्ण मनुष्य और पशु का कल्याण होवे और वायु, सूर्य, मेघ हमारे लिए सुखकर होवें- **शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे।**[६८] **शं नो वातः पवतां शं नस्तपतु सूर्यः।**[६९] हे ईश्वर! जब तक हम रहें ज्ञान प्राप्त करते रहें। जब तक हम रहें उन्नति करते रहें- **बुध्येम शरदः शतम्, रोहेम शरदः शतम्।**[७०]

हे परेश्वर! आपकी कृपा, रक्षा और सहायता से हमलोग परस्पर एक-दूसरे की रक्षा करें, उत्तम ऐश्वर्य को भोगें, एक-दूसरे के सामर्थ्य को पुरुषार्थ सदा बढ़ाते रहे, परस्पर विरोध कभी न करें- **ओ३म् सह नाववतु सह नौ भुनक्तु। सह वीर्य्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमसतु मा विद्विषावहै।**[७१] हे ईश्वर! हमें भय से रहित करिए सब दिशाओं में जो आपकी प्रजा और पशु हैं उनसे भी हमको भय रहित करें- **यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु। शन्नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः।**[७२]

विश्वकल्याण के लिए प्रत्येक मानव में अनेक गुणों की आवश्यकता है जिससे विघ्नबाधाओं का शमन हो सकता है। वैदिक मन्त्रों में ऐसी कामना स्तोता द्वारा की गई है- हे परमेश्वर! आपमें तेज है, पराक्रम है, बल है, ओज है, दुष्टों के प्रति क्रोध है एवं सहन सामर्थ्य हैं, ये गुण मुझे भी प्रदान करें। ये गुण कभी मुझसे दूर न हों- **तेजोऽसि तेजो मयि धेहि। वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि। बलमसि बलं मयि धेहि। ओजोऽस्योजो मयि धेहि। मन्युरसि मन्युं मयि धेहि। सहोऽसि सहो मयि धेहि।**[७३] वह परमेश्वर हमारा बन्धु अर्थात् दुःखनाशक और सहायक है, हम लोगों का पालन करने वाला पिता है, सम्पूर्ण जगत् का रचयिता है, पूर्णानन्द को देने वाला है। उसमें कोई भेदभाव नहीं है।[७४] ऐसे सर्वगुणसम्पन्न ईश्वर से विश्वशान्ति की कामना करें तथा उनके गुणों को प्राप्त करने की कामना करें। उनके बताये गये सन्मार्ग का अनुकरण करें। वैदिकसूक्तों में सन्निहित स्तोता की भावना न केवल उसके लिए ही है, अपितु सम्पूर्ण प्राणिजगत् के लिए है।

वैदिकसाहित्य में निहित उक्त सभी भावनाओं का मूल धर्म है। धर्म का मूल वेद है। धर्म का अनुपालन करने से इस लोक में यशप्राप्ति और परलोक में अलौकिक सुख की प्राप्ति वर्णित है- **धर्ममनुतिष्ठन्हि मानवः इहकीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्।**[७५] धर्मपालन से सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है- **धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारमिदं जगत्। (रामायण।)** जहाँ धर्म है वहाँ विजय है-- **यतो धर्मस्ततो जयः। (महाभारत। शान्तिपर्व, ६२, ३२)** धैर्य धारण करना, क्षमाशीलता, मन को वश में करना, चोरी न करना, आन्तरिक-बाह्य पवित्रता, इन्द्रियों को नियन्त्रित करना, ज्ञान, विद्या, सत्य, क्रोध का त्याग ये धर्म के लक्षण हैं- **धृतिः क्षमादमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्यासत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।**[७६] यज्ञ करना, अध्ययन करना, दान देना, तप अर्थात् परिश्रम करना, सत्य, धैर्य, क्षमा, लोभ न करना ये

---

६७. ऋ०-विश्वेदेवसूक्त १/८९/८।
६८. ऋ०७/५४/१।
६९. यजु० ३६/१०।
७०. अथर्ववेद१९/६७।
७१. तैत्तीरीयारण्यक, ब्रह्मानन्दवल्लीप्र०पा०१०, अनु०-१।
७२. यजु०अ०३६, मं०१७/२२।
७३. यजु०१९/९।
७४. यजु०३६/१७।
७५. मनु०२/९/३८।
७६. मनु०६/९२।

धर्म के आठ मार्ग कहे गये हैं-**इज्याऽध्ययनदानानि तपः सत्यं धृतिः क्षमां अलोभं इति मार्गोऽयं धर्मास्याष्टविधः।**[७७] चाणक्यसूत्र में धर्म को सुख का मूल कहा है- **सुखस्य मूलं धर्मः।** (सू० १, १, २) वैशेषिकसूत्र में अभ्युदय और मोक्ष का साधन धर्म कहा गया है-**यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः सः धर्मः।** (वै०सू०अ०१पा०१सू०२)

वैदिक साहित्य की विद्या धर्मपरायणता की शिक्षा देती है। चाहे वह पुरुषार्थचतुष्टय की साधना हो, आध्यात्मिकता की प्राधान्यता हो, आस्तिकता की भावना हो, मातापितागुरुजनों का आदरभाव हो, अतिथिसत्कार हो, परोपकारपरायणता हो, त्यागभावना हो, अहिंसा की भावना हो, सन्तोष की भावना हो, निष्कामकर्मयोग की प्रधानता हो, सदाचारपालन की शिक्षा हो, सहिष्णुता हो एवं विश्वमंगलकामना हो, सब में धर्मभाव निहित है। इसीलिए विश्व की सुखद कामना के लिए हमारे आचार्यों द्वारा समय-समय पर धर्मपालन का संकेत किया है तथा धर्म से रहित मानव को पशुतुल्य कहा है-**आहारनिद्राभयमैथुनानि समानमेतत्पशुभिर्नराणाम्। धर्मो हि तेषामधिकविशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।**[७८] मानव को सचेत किया गया है कि उठो, अज्ञान से जागो, श्रेष्ठपुरुषों को प्रासकर वास्तविकज्ञान को प्राप्त करो- **उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।**[७९] क्योंकि ज्ञान से मुक्ति होती है सिर मुड़ाने से नहीं- **ज्ञानेन मुक्ति न तु मुण्डनेन।** ज्ञान से ही मानव की रक्षा होती है- **रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम्**[८०] ज्ञान से बुद्धि शुद्ध होती है-**बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्धयति।** (मनुस्मृति ५/१०९) तथा ज्ञानी एवं जागरूक जन ऐश्वर्य पाते हैं- **रयिं जागृवांसो अनुग्मन्**[८१] वास्तविक ज्ञान होने पर मनुष्य दूसरों से आत्मवत् स्नेह करता है- **ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते**[८२] **सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।**[८३] स्नेह अथवा प्रेम ही शान्ति का वाहक है। अतः त्याग की भावना, कर्म की प्रधानता, सहयोग की भावना, प्रेमभाव, समर्पणभाव, प्रकृतिप्रेम एवं ईश्वर के प्रति आस्था, धर्मपरायणता आदि भाव विश्वशान्ति के द्वार हैं।

आज विश्व में जिस तरह सुसंस्कृति का अभाव, आध्यात्मिकता का अभाव दिखाई दे रहा है। आज परिवार, समाज, राष्ट्र विखण्डित हो रहे हैं। अधर्म से धन प्राप्त कर अनैतिक आचरण किया जा रहा है। तृष्णा बढ़ती जा रही है, अभक्ष्य का सेवन किया जा रहा है। असहाय, निर्बल एवं निर्धन का शोषण किया जा रहा है, भोगप्रवृत्ति के कारण पर्यावरण प्रदूषित किया जा रहा है, प्रकृति का दोहन कर पशु-पक्षियों का आश्रय छीना जा रहा है, साहित्य, संगीत एवं कलाओं की अवमानना की जा रही है। गुरुजनों का अनादर किया जा रहा है। अनुशासन के अभाव में सामाजिक सुव्यवस्था का अभाव दिखाई दे रहा है। उसका कारण स्पष्ट है- वैदिक साहित्य की उपेक्षा। यद्यपि आज कुछ लोगों में भ्रम है कि हम वेद अथवा वैदिक साहित्य क्यों पढ़ें, अन्य भाषा में निबद्ध साहित्य से भी ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि जिसका ज्ञान प्रत्यक्ष या अनुमान से भी नहीं हो सकता उसका ज्ञान वेद अथवा वैदिक साहित्य के द्वारा हो जाता है- इस विषय में सायणाचार्य ने तैत्तिरीय-संहिता भाष्यभूमिका में कहा है- **प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते। एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता।। वेदप्रणिहितो धर्मः**

---

७७. महाभारत-विदुरनीति ३/५८।
७८. हितोपदेश।
७९. कठो०प्र०अ०, द्वि०ब०१४।
८०. ऋ०३/५३/१२।
८१. ऋ०६/१/३।
८२. कठो०द्वि०अ०, प्र०ब०-५।
८३. ईशावास्योपनिषद्मं०-६।

अधर्मस्तद्विपर्ययः अर्थात् वेदविहित कर्म ही धर्म है और जो वेद विहित नहीं है, वह अधर्म है।[८४]

निष्कर्षतः ज्ञान, ज्ञान का विषय और ज्ञान का साधन तीनों वेद ही हैं। धर्मादि चार पुरुषार्थों की प्राप्ति के उपायों को बताने वाला भी वेद ही है। वेद में आधारित ग्रन्थ यथा स्मृतिग्रन्थ, पुराणसाहित्य, उपनिषद्, आदिमहाकाव्य ये सभी ज्ञान के आकर हैं, मानव को सही दिशा देने वाले हैं। मानवजीवन का सार इन्हीं में निहित है। विश्वप्रेम, विश्वबन्धुत्व, अहिंसा, परोपकार, नारीसम्मान, मैत्रीभाव एवं प्रकृतिप्रेम या पर्यावरण संरक्षण जैसे गुणों को आत्मसात् कराने वाली तथा समाज को सभ्य, सुसंस्कृत बनाने वाली उदात्त सिद्धान्तों से परिपूर्ण शिक्षा इन्हीं में निहित है। अतः वैदिकसाहित्य का अध्ययन, मनन और अनुशीलन विश्वशान्ति का सहज एवं उत्तम साधन है।

---

८४. वैदिकसाहित्य का इतिहास-भूमिकाभाग। श्रीगजाननशास्त्री मुसलगाँवकर।

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०१० अङ्क १४ (पृ०२४-२८) ISSN 0974 – 8830

वेदों में पर्यावरण संरक्षण

डॉ. कृष्णा रंगा[१]

आज भौतिकवादी युग में मानव के चारों ओर अनेक विपत्तियां अपना जाल फैलाये हुए हैं। ऐसी ही एक विपत्ति है-पर्यावरण प्रदूषण। पर्यावरण प्रदूषण की समस्या ने अपने दानवी पंजों में मानव को दबोच रखा है। पर्यावरण शब्द परि तथा आङ् उपसर्गपूर्वक 'वृञ्' धातु से ल्युट् प्रत्यय करने से व्युत्पन्न हुआ है। जिसका अर्थ है चारों ओर का आवरण या आच्छादन। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वह वस्तु जो हमें चारों ओर से घेरती है और हम पर सीधा प्रभाव डालती है, वह पर्यावरण कहलाती है। विश्व की यदि कोई सांझी समस्या है तो वह पर्यावरण समस्या है। औद्योगिक क्रान्ति के इस युग में मानव की प्रगति की धारणा उसकी एकमात्र भौतिक उन्नति को माना जाने लगा है। माना यह जाता है कि हम प्रकृति का उपयोग अपनी इच्छानुसार करने, उसको चलाने की जितनी क्षमता प्राप्त कर लेंगे, वही हमारी प्रगति के लक्षण होंगे। प्रकृति के असीमित दोहन, वनों एवं वृक्षों की कटाई, औद्योगिक यन्त्रों एवं महाविनाशक शस्त्रों की होड़ ने विश्व के पर्यावरण को जो क्षति पहुँचाई है, उससे मानव जीवन के विनाश की आशा उत्पन्न हो गई है। पृथ्वी की संरक्षक ओजोन की परत, जो सूर्य की पराबैंगनी किरणों को पृथ्वी पर आने से रोकती है, उसमें छिद्र हो गया है, उसके फलस्वरूप पृथ्वी पर उष्णता बढ़ती जा रही है। न केवल प्रकृति का सन्तुलन विषम हुआ है अपितु भौतिकवादी, भोगवादी संस्कृति के प्रभाव के कारण सुख-सुविधा से सम्पन्न जीवन जीने की लालसा ने मानव में जो स्थान बनाया है, उसने मानव को मानव नहीं, यन्त्र बना डाला है। परिणामस्वरूप मानव का प्रकृति से ही नहीं, परस्पर भी सम्बन्ध विच्छेद होता जा रहा है।

यह सन्तोष का विषय है कि देर से सही, पर्यावरण संरक्षण के प्रति विश्व सचेत हुआ है। विश्व समुदाय की इस जागृति का इतिहास जून १९७२ में स्टॉकहोम में आयोजित विश्व पर्यावरण सम्मेलन से शुरू हुआ। भारत ने इसमें सक्रिय भूमिका का निर्वाह किया। इस सम्मेलन में जो संकल्प लिये गये उनका सम्पोषण २३ मई १९८३ में भारतीय संसद द्वारा **'पर्यावरण संरक्षण और सुधार अधिनियम'** के पारित होने से हुआ। इस अधिनियम में शब्दों की जो व्याख्या की गई, उनके अनुसार पर्यावरण से तात्पर्य जलवायु एवं भूमि से होते हुए भी उस अन्तःसम्बन्ध से लिया गया, जो जलवायु, भूमि, मनुष्य अन्य जीवित प्राणियों, वृक्षों एवं सूक्ष्म जीव जगत् के मध्य विद्यमान है। किसी भी ठोस, द्रव या गैसीय पदार्थ, जिससे पर्यावरण को क्षति होती हो, उसे प्रदूषणकारक तत्त्व माना गया है।[२] पर्यावरण की यही व्याख्या प्राचीन भारतीय चिन्तन की अवधारणा के अनुरूप ही है। भारतीय जीवन प्रणाली में तो पर्यावरण के प्रति सजगता का इतिहास मानव सभ्यता के उषा काल से ही प्रारम्भ होता है। इस देश ने पर्यावरण की दृष्टि से एक अति विकसित सभ्यता को उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त किया है। प्राचीन भारतीय परम्पराएँ, जो अद्यावधि अविच्छिन्न रूप से भारत के एक बड़े भाग में चली आ रही हैं। इस तथ्य का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि भारत में जनमानस को पर्यावरण की अनुकूलता बनाये रखने के लिए अनेक प्रकार से शिक्षित किया जाता रहा है। यहाँ के विभिन्न प्रदेशों के विविध त्यौहार अधिकतर

---

१. (रीडर) संस्कृत विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

२. पारिस्थितिकी एवं पर्यावरण, पृ० ४

प्रकृति के ही किसी न किसी पक्ष से जुड़े हुए हैं। चाहे वह पोंगल हो या ओणम, तीज, दीपावली, होली आदि। यह और बात है कि परवर्तीकाल में इनके साथ कुछ कथाएं जुड़ गईं। वेद में जहाँ जल, वायु, अग्नि, उषा, पर्जन्य आदि प्राकृतिक तत्त्वों की स्तुतियाँ हैं, वहाँ सोम को भी प्रमुख स्थान दिया है। वेद में आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथिवी-इन पाँच महाभूतों में परिव्याप्त दिव्य सत्ता की स्तुतियाँ विविध प्रकार से करते हुए उनसे कल्याणकारी बने रहने की प्रार्थनाएँ की गई हैं। अग्नि से प्रार्थना की गई है कि हे अग्नि! हमारे लिए आप सुगम्य हो जाओ जैसा पिता पुत्र के लिए होता है अर्थात् इस मन्त्र में अग्नि से पिता-पुत्र का सम्बन्ध जोड़ा गया है, नदियों को मातृतमा है, पर्जन्य पिता और भूमि को माता कहा है।[3] इन देवताओं के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन के लिए ही यज्ञ-संस्कृति विकसित हुई। यज् धातु देवपूजासंगतीकरण एवं दानार्थक है। भाव यह है कि जब हम किसी से कुछ प्राप्त करते हैं तो उसको हमारे द्वारा कुछ दिया जाना चाहिए। इसी से सम्बन्ध अच्छे बने रहते हैं; सुरक्षा भी प्राप्त होती है, किन्तु आज मानव अधिकाधिक संसाधन जुटाने के लिए धनसंचय करने की अंधी दौड़ में इतना लग चुका है कि वह प्राप्त तो सब कुछ करना चाहता है, किन्तु किसी को कुछ देना नहीं चाहता।

प्राचीन भारतीय साहित्य जगत् में परस्पर आदान-प्रदान के द्वारा सामंजस्य स्थापित करने का निरन्तर उपदेश देता है। इसलिए भारतीय संस्कृति में त्याग का अत्यधिक महत्त्व है। भारतीय जीवन-दर्शन चार आश्रमों का विधान करता है-ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास। इनमें से यदि गृहस्थ को छोड़ दें तो शेष तीन आश्रमों को प्रकृति की गोद में बिताने को कहा है। मानव यदि आश्रमों के अनुकूल अपना जीवन व्यतीत करे तो आज के जीवन में व्याप्त तनाव व व्याधियों कुछ कम हो सकती हैं। जीवन के चार पुरुषार्थ माने गये हैं-धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष। कहा गया है-आरोग्य से ही इन पुरुषार्थों को सम्पन्न किया जा सकता है। धर्म, अर्थ एवं काम-इन तीनों की प्राप्ति के लिए स्वस्थ रहना आवश्यक है। पर्यावरण का समाज के कल्याण से सीधा सम्बन्ध है। मनुष्य समाज में रहने वाला प्रत्येक सामाजिक प्राणी है। समाज के वातावरण को दूषित न होने देना उसका कर्त्तव्य है, लोभ, मात्सर्य, ईर्ष्या, छल, कपट जैसे दुर्भाव समाज को प्रदूषित करते हैं। इन भावों की रोकथाम समाज की सर्वोपरि सेवा है और वह मनुष्य के अन्दर विद्यमान गुणों के कारण ही हो सकती है। मनुष्य के अन्दर सत्य, ऋत, तेज, संकल्प, ज्ञान, तप, त्याग जैसे विशिष्ट गुणों का होना आवश्यक है।[4] इन गुणों से युक्त मनुष्य पृथिवि को संरक्षित कर सकता है।

वेदों में पर्यावरण को अनेक वर्गों में बांटा गया है-जैसे वायु, जल, ध्वनि, पृथ्वी, वनसम्पदा, पशु-पक्षी, संरक्षण आदि। इनमें से सजीव जगत् के लिए पर्यावरण की रक्षा में वायु की स्वच्छता का प्रथम स्थान है। बिना प्राणवायु के क्षणभर भी जीवित रहना सम्भव नहीं है। पेड़-पौधे ऑक्सीजन देकर क्लोरोफिल की उपस्थिति में कार्बनडाईआक्साइड अपने लिए रख लेते हैं और ऑक्सीजन हमें देते हैं। इस प्रकार पेड़-पौधे वायु की शुद्धि द्वारा हमारी प्राणरक्षा करते हैं। इसलिए वायु की शुद्धि जीवन के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इस तत्त्व को यजुर्वेद में स्पष्ट करते हुए कहा है कि उत्तम गुणवाले पदार्थों में उत्तम गुणवाला प्रकाशरहित तथा सबको प्राप्त होने वाला जो वायु शरीर में नहीं गिरता है, वह कामना करने योग्य मधुर जल के साथ स्रोत आदि मार्ग को प्रकट करें, उसको तुम जानो।[5] वायु-

---

३. अथर्ववेद, १२.१.१२ माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु।
४. अथर्व०१२.१.१ सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति। सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु।
५. यजु०, २७.१२ तनूनपादसुरो विश्ववेदा देवो देवेषु देवः। पथो अनक्तु मध्वा घृतेन।

प्रदूषण के सम्बन्ध में विचार करते हुए अथर्ववेद में कहा गया है कि वायु में रोगाणु एवं कृमि उत्पन्न हो जाते हैं। ये कृमि अनेक प्रकार के रोगों को उत्पन्न करते हैं। अत: इनका नाश किया जाना चाहिए। वेद में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि 'उदीयमान सूर्य कृमियों का नाश करें, अस्तायमान सूर्य भी अपनी किरणों से भूमि पर कृमियों का नाश करें।[६]

वृक्ष

पर्यावरण संतुलन में वृक्षों का बहुत महत्त्व है। आज मानव अपनी भौतिक सुख सुविधाओं के लिए वृक्षों को अन्धाधुन्ध काट रहा है। वैदिक ऋषियों ने अग्नि, सूर्य आदि देवताओं की भाँति वृक्षों को भी देवत्व प्रदान किया है और उनकी स्तुति करते हुए अनेक प्रकार से उन्हें नमस्कार किया है।[७] वनस्पतियों वृक्षों, वनों की हमें रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि वे हमें ऑक्सीजन प्रदान करते हैं। यदि यह संतुलन बिगड़ गया तो हम शुद्ध वायु प्राप्त नहीं कर सकेंगे। वेदों में वृक्षों की स्तुति करते हुए प्रार्थना की गई है कि वे हमारी रक्षा करें, हमें वरदान दें।[८]

जल

भारतीय संस्कृति में जल को देवता माना गया है और सरिताओं को जीवनदायिनी कहा गया है। वैदिक ऋषि पवित्र जल की उपलब्धि की कामना करता हुआ कहता है कि हमारे लिए शुद्ध जल प्रवाहित होते रहें।[९] अथर्ववेद में जल के महत्त्व को दर्शाते हुए इसको 'उदक' कहा है तथा जल को तेज बढ़ाने वाला एवं मधुरता से परिपूर्ण बताया है।[१०] ऋग्वेद में शुद्ध जल को दीर्घायु प्रदान करने वाला, प्राणों का रक्षक तथा कल्याणकारी बताते हुए इस प्रकार प्रार्थना की गई है कि सुखमय जल हमारे अभीष्ट की प्राप्ति के लिये तथा रक्षा के लिए कल्याणकारी हो।[११] वेद में जल को औषधि के रूप में माना गया है। जल केवल एक ही रोग की औषधि नहीं, अपितु सब प्रकार के रोगों की औषधियाँ है। इसलिए हर एक रोग का इलाज जल चिकित्सा से किया जा सकता है। अथर्ववेद में ऋषि कहता है कि मुझे सोमदेव ने बताया है कि जलों में सब औषधियाँ है और विश्व का कल्याण करने वाली अग्नि भी जलों में है, इसलिए जल सम्पूर्ण औषधि है। जल के उपर्युक्त गुणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि जल में किसी प्रकार का प्रदूषण न हो, अपितु ये जल शुद्ध और पवित्र हों।[१२]

कोलाहल

पर्यावरण को प्रदूषित करने वाले कारणों में कोलाहल अर्थात् शोर भी एक कारण है। यह कोलाहल प्रकृति की प्राकृतिक शान्ति एवं सौन्दर्य का हनन करके व्यक्ति को बधिर बना देता है। अधिक आवाज श्रोत्रेन्द्रिय के लिए घातक होती है। नगरों में बढ़ते वाहनों का शोर, बिजली अधिक जाने के कारण जनरेटरों का शोर आदि कुछ ऐसे कारण हैं, जिससे नगरों में तो पलभर के लिए विश्राम प्राप्त करने के लिए स्थान ढूँढना कठिन हो गया है। बढ़ते कोलाहल के

---

६. अथर्व०२.३२.१ उद्यन्नादित्य क्रिमीन् हन्तु निम्रोचन् हन्तुरश्मिभि:। ये अन्त: क्रिमयो गवि।
७. यजु०. १६.१७ १९ नमो वृक्षेभ्य:, वनानां पतये नम:, ओषधीनां पतये नम:।
८. वही, १६.४९ या ते रुद्र शिवा तनू: शिवा विश्वहा भेषजी। शिवा रुतस्य भेषजी तया नो मृड जीवसे।
९. अथर्व०१२.१.३० शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु यो न सुदूर प्रिये तम्। निदध्म: पवित्रेण पृथिवीमोत पुनामि॥
१०. ऋ०१०.९.१ आपो हि ष्ठा मयो भुवस्ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे॥
११. ऋ०१०.९.४ शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शं योरभि स्रवन्तु न:॥
१२. अथर्व०१.६.२ अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा। अग्निं च विश्वं भुवम्।

कारण मानसिक तनाव, पागलपन जैसी बीमारियाँ भी निरन्तर बढ़ती जा रही हैं, जो मनुष्य के लिए घातक हैं। वेदों में ध्वनि प्रदूषण को कम करने के लिए ऋषियों ने मौन धारण करने को विशेष महत्त्व देते हुए कहा है कि हम मौन धारण कर प्रसन्न रहें और कम बोलकर अपनी शक्ति का संचय करें[१३] क्योंकि इसी बात को आधुनिक शरीर-क्रिया-विज्ञान स्वीकारता है। अथर्ववेद में कहा गया है कि हम कम बोलें और मधुर बोलें अर्थात् भाई भाई से, बहन बहन से अथवा परिवार में कोई भी एक-दूसरे से द्वेष न करे।[१४] सब एकमत होकर शान्ति से भद्रपुरुषों के समान मधुरता से बातचीत करें, इसी वेद की एक अन्य ऋचा में कहा गया है कि मेरी जीभ से मधुर शब्द निकले भगवान् का भजन- पूजन कीर्तन करते समय मूल में मधुरता हो। मधुरता मेरे कर्म में रहे और मेरे चित्त में मधुरता बनी रहे।[१५]

खाद्य-प्रदूषण से बचाव

आज देश में चारों ओर मिलावटी खाद्य पदार्थों की भरमार है। मनुष्य लालच में अन्धा होकर हर वस्तु में विकारक तत्त्वों को मिलाकर समाज में परोस रहा है। जिसे खाकर मनुष्य अनेक प्रकार की बीमारियों से ग्रसित हो रहा है। वेद में खाद्य पदार्थों के विषय में कहा है कि मनुष्य पाचनशक्ति से भोजन को भली भाँति खुद पचाये, जिससे वह शारीरिक और आत्मिक बल बढ़ाकर सुखदायक बना सके।[१६] इसी प्रकार पेय पदार्थों के विषय में कहा गया है कि मैं जो कुछ पीता हूँ यथाविधि पीता हूँ, जैसे समुद्र नदियों व वृष्टिजलों को पीता है। उसी प्रकार मैं भी खाये और पीये गये अन्नरसों को अपनाता हूँ और उनसे अपना बल बढ़ाता हूँ।[१७] अर्थात् मैं जो कुछ भी ग्रहण करूँ वह ठीक रूप से पच सके, जिससे मैं स्वस्थ रहूँ।

यज्ञ

वैदिक साहित्य में पर्यावरण शुद्धि के लिए यज्ञ को महनीय तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है। जब घी से मिश्रित आहुति यज्ञकुण्ड में दी जाती है तब उससे उठता हुआ धुआँ सारे वातावरण को सुगन्धित कर देता है।[१८] और साथ ही पेड़, पौधों और वनस्पतियों पर भी अच्छा प्रभाव डालता है। यद्यपि इस विषय पर विदेशी विद्वान् खोज कर रहे हैं, लेकिन वेद में स्पष्ट कहा गया है-**मूलेभ्य: स्वाहा, शाखाभ्य: स्वाहा, वनस्पतय: स्वाहा, फलेभ्य: स्वाहौषधीभ्य: स्वाहा।**[१९] इसलिए संस्कृत साहित्य में यज्ञ को श्रेष्ठ कर्म माना है।[२०] जिसके माध्यम से देव रूपी प्राकृतिक शक्तियों का उद्बुद्ध एवं सक्रिय किया जाता है। यज्ञ की प्रक्रिया प्रकृति में निरन्तर चलती रहती है, जिसके चालक देवता आदित्य रूप अग्नि और सोम है। सूर्य रूपी अग्नि अनवरत प्रकृति से साम रूप अन्न की आहुति ग्रहण करता है और अखिल ब्रह्माण्ड में फैलता रहता है, तथापि उसकी शक्ति क्षीण नहीं होती है। अत: यज्ञ केवल कर्मकाण्ड ही नहीं, प्रत्युत ब्रह्माण्ड में रत प्रकृति की अनन्त शक्तियों में परस्पर समन्वय एवं सामंजस्य स्थापित करने के लिए ऊर्जा प्रदान करता है। इसी प्रकार

---

१३. ऋ०१०.१३६.३ उन्मदिता मौने येन वातां आ तस्थिमा वयम्।
१४. अथर्व०३.३०.३ मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा। समयञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥
१५. वही, १.३४.२ जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्। ममेदह क्रतावसो मम चित्तामुपायसि॥
१६. अथर्व०६.१३५.२ यत् पिबामि सं पिबामि समुद्र इव संपिबः। प्राणानमुष्य संपाय सं पिबामो अयुं वयम्।
१७. वही, ६.१३५.३
१८. यजु०, ५.२१ घृतेन द्यावापृथिवी पूर्येथाम्।
१९. वही, २२.२८
२०. शतपथ-ब्राह्मण, १७.१५

लौकिक यज्ञ भी अनेक प्रकार के रोगों को नष्ट करके मनुष्य को दीर्घायु प्रदान करते हैं। यज्ञ से वर्षा होती है और वृर्षा से अन्न और समस्त जीव अन्न से उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार यज्ञ पर्यावरण को ही नहीं अपितु निखिल जगत् को पुष्ट करता है।

प्राकृतिक पर्यावरण-प्रदूषण के साथ-साथ सामाजिक एवं मानसिक प्रदूषण भी अत्यधिक फैलता जा रहा है। इसका कारण यह है कि हम अपनी संस्कृति को भूलते जा रहे हैं। एक-दूसरे के प्रति उचित शब्दों और उचित वाणी का प्रयोग नहीं करते हैं। हमारे भीतर आपसी भेदभाव उत्पन्न हो जाते हैं, जिससे हम अपने सामाजिक ढाँचे को बिगाड़ लेते हैं। जब सृष्टि की रचना हुई तो प्रकृति और पुरुष के मेल को दर्शाया गया। प्रकृति को स्थिर रखने वाला पुरुष ही है, क्योंकि मानव द्वारा ही प्रकृति को सुरक्षित रखा जा सकता है, लेकिन आज का मानव न तो ईश्वर द्वारा प्रदान किये गये पदार्थों को और न ही स्वनिर्मित समाज को सुरक्षित रखने में समर्थ है। आज का मानव दानव बन चुका है, क्योंकि उसके कुविचार उसे पतन की ओर ले जा रहे हैं। सामाजिक प्रदूषण फैल रहा है। यदि मानव के मन में सद्भावना आ जाती है तो अच्छे विचारों के द्वारा स्वयं को श्रेष्ठ बनाने का प्रयास करता है, क्योंकि दृष्टि में बदलाव लाने से ही सृष्टि में बदलाव आता है और ऐसा तभी सम्भव है, जब हम दूसरों के प्रति श्रद्धा और विश्वास रखें। वेद हमें इकट्ठे मिलकर रहने का सन्देश देता है- हे मनुष्यो! आप लोग परस्पर प्रेम से बातचीत करें, आप लोगों का चित्त एक समान हो। जिस प्रकार पूर्व के विद्वज्जन सेवा और भजन करने योग्य प्रभु का स्मरण करते हुए उपासना करते रहें, उसी प्रकार आप भी ज्ञान सम्पन्न होकर सेवनीय प्रभु की उपासना करें।[२१] सभी मनुष्यों के विचार एक समान हो, उनमें परस्पर संगति मेलजोल भी एक समान हो।[२२] इस प्रकार सुकर्मों के द्वारा हम अपने जीवन को व्यतीत करते हैं तो हमारा मन, तन सब स्वस्थ रहते हैं। ईशोषनिषद् में भी यही सन्देश दिया है कि मनुष्य अच्छे कर्म करता हुआ सौ वर्षों तक जिये।[२३]

यज्ञ से सामाजिक और मानसिक प्रदूषण का भी समाधान बताया गया है। अग्नि में आहुतियाँ अर्पित करना ही यज्ञ नहीं, प्रत्युत यज्ञ एक भावना भी है। जो समस्त पर्यावरण को प्रभावित करती है। अकारण या स्वार्थवश हिंसा होने पर वातावरण दुर्गन्धपूर्ण हो जाता है। हिंसा से होने वाले इस भौतिक प्रदूषण से मनुष्य अछूता नहीं रह सकता है। इसलिए यज्ञ के द्वारा सभी प्रकार की हिंसा का विरोध किया जाता है। यज्ञ मनुष्य की मानसिक एवं वाचिक शुद्धि भी करता है, क्योंकि यज्ञ में सत्य बोलने आदि का संकल्प करवाया जाता है। अतः यज्ञ हर प्रकार के प्रदूषण को दूर करने में समर्थ है।

जीवन को सुखमय बनाने के लिए शुद्ध पर्यावरण की आवश्यकता है। पर्यावरण की रक्षा और शुद्धि के उपाय ईश्वरीय ज्ञान 'वेद' में निहित है। आज के परिवेश में पर्यावरण-प्रदूषण से मुक्ति हेतु वैदिक संहिताओं की शिक्षा पर बल देना होगा, क्योंकि वेद अथाह ज्ञान की राशि है। आधुनिक पर्यावरण प्रदूषण की समस्या का समाधान केवल 'वेद' में ही निहित है।

---

२१. ऋ०१०.१९१.२ संगच्छध्वं संवदध्वम् सं वो मनांसि जनाताम्। देवा भागं यथापूर्व संजानानाम् उपासते।

२२. वही, १०.१९१.३ समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सहचित्तमेषाम्। समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि।

२३. ईशोपनिषद्, मन्त्र २, कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। एवन्त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०१० अङ्क १४ (पृ०२९-३२) ISSN 0974 – 8830

अथर्ववेदीय वाङ्मय की श्रीवृद्धि में पाश्चात्य विद्वानों का योगदान

डॉ० रूप किशोर शास्त्री[१]

वैदिक साहित्य एवं संस्कृतभाषा ने भारतीय मनीषा, संस्कृति, सभ्यता, ज्ञान एवं अध्यात्म की उदात्तता का दर्शन जो विश्व के लिए दिया है, यह अपने में विश्व पटल पर कौतूहल एवं परम जिज्ञासा का विषय है तथा गत दो-तीन शताब्दियों में अत्यधिक चर्चा, अध्ययन एवं अनुसन्धान का विषय रहा है। वस्तुतः योरोपीय बुद्धिजीवियों को अत्यन्त आन्दोलित किया है उक्त साहित्य एवं भाषा ने, जिसने विश्व के अनेक देशों को विशेषकर भारतीय तथा योरोपीय देशों को एक भाषा परिवारीय सम्बन्धी बनने का मार्ग प्रशस्त किया, परिणामतः **वसुधैव कुटुम्बकम्** का लक्ष्य सच्चे अर्थों में इसी से प्राप्त हो सकता है।

वैदेशिक विशेषकर योरोपदेशीय लोगों को सर्वप्रथम संस्कृतभाषा से परिचित कराने का श्रेय यद्यपि अट्ठारहवीं शताब्दी के सातवें दशक में फोर्ट विलियम में नियुक्त मुख्य न्यायाधीश **सर विलियम जोन्स** को जाता है, जिन्होंने हिन्दुओं के सम्पत्ति एवं परिवार सम्बन्धी वादों एवं विवादों का स्मृतियों व धर्मशास्त्रों के आधार पर न्याय करने की उत्कट अभिलाषा के वशीभूत बड़े ही परिश्रम, श्रद्धा एवं सतत निष्ठा व लगन के साथ संस्कृत पढ़कर अपनी रुचि को संस्कृत वैदुष्य में परिवर्तित किया। वे यहीं नहीं रुके, बल्कि उन्होंने स्थायी एवं विकसित मूर्त रूप देने की दृष्टि से १७८३ को भारतीय प्राच्यविद्यानुसन्धान के निमित्त रायल एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना करके अपना भारतीय प्राच्य विद्याओं के प्रति अपना हार्दिकभाव व आदर प्रस्तुत किया। सोसाइटी की स्थापना के अवसर पर अपने उद्घाटन भाषण में संस्कृत की महनीय कीर्ति को जोन्स ने इन शब्दों में अभिव्यक्त किया-**संस्कृत की प्राचीनता का निश्चित ज्ञान भले ही हमें न हो, किन्तु इसकी संरचना आश्चर्यजनक है, जो ग्रीक से पूर्ण, लैटिन से अधिक विशद तथा इन दोनों से परिपूर्ण, परिष्कृत एवं परिमार्जित है।**[२]

सर विलियम जोन्स के संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, गाथी एवं केल्टिन भाषाओं के तुलनात्मक व विश्लेषणपरक तत्कालीन योरोपीय जर्नल्स में प्रकाशित कतिपय लेखों ने योरोपवासियों का ध्यान क्या आकृष्ट किया, उन्होंने तो संस्कृताध्ययन एवं भाषाविज्ञान के क्षेत्र में क्रान्ति मचा दी। परिणामतः योरोपीय संस्कृतप्रेमियों का संस्कृताध्ययन की प्रस्थापनानन्तर प्राच्य भारतीय शास्त्रों के प्रति आकर्षण अत्यन्त द्रुतगति से व्यापक हुआ। यूरोप के देशों में अपेक्षाकृत जर्मनी में संस्कृत का अनुराग अत्यधिक प्रचलित हुआ एवं भारतीय प्राच्यविद्यासम्बन्धी विभिन्न क्षेत्रों में व्यापक उन्नत कोटि का कार्य हुआ। यद्यपि सर विलियम जोन्स से पूर्व हेनरिख रॉथ (१६२०-१६६८), बार्थो लोमियस जीजेंवल्ग (१६८२-१७१९), एन्टिल डुपेरों (१७३१-१८०५) एवं कोएर्दू (१७२८-१७९७) इत्यादि संस्कृत विद्वान् हो चुके थे, जिन्होंने संस्कृताध्ययन, उपनिषदों एवं भाषाविज्ञान को अपना प्रिय विषय बनाया था, इन्होंने यूरोप में संस्कृताध्ययन की स्थापना करके अपने को पूर्णतः समर्पित कर दिया था। वस्तुतः सत्रहवीं शताब्दी से ही संस्कृतभाषा ने अपने वैभव एवं

---

१. अध्यक्षचरः-वेदविभाग, गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-२४९४०४ (उत्तराखण्ड)

२ The sanskrit language whatever its antiquity, is of wonderful structure, more perfect than Greek, more copious than latin and more complitly refined than either.

चमत्कार की पताका योरोप के क्षितिज में फहरा दी थी, परन्तु सर विलियम जोन्स द्वारा रॉयल एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना के अनन्तर संस्कृताध्ययन को जो विराट् आयाम मिला उससे यूरोप में संस्कृत एवं वैदिक साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन, पाण्डुलिपियों तथा दुर्लभ ग्रन्थों का संशोधन व पाठालोचनपूर्वक प्रकाशन, शोध एवं अनुवादों में प्रगति हुई, फलतः हिन्दू लॉ, स्मृतियों, भारतीय दर्शन, उपनिषद्, धर्म, दर्शन, संस्कृति, ज्योतिष, गणित, व्याकरण व भाषाविज्ञान पर गहनता से प्रस्तुति होने लगी, सर विलियम जोन्स से ही प्रेरणा लेकर हेनरी टॉमस कोलब्रुक ने संस्कृताध्ययन का क्षेत्र विस्तृत कर दिया था, जिसमें उसने यूरोपवासियों को संहिताओं से परिचय कराना विशिष्ट रहा। इसके अतिरिक्त हितोपदेश, किरातार्जुनीयम्, पाणिनि व्याकरण एवं अमरकोश का सम्पादन प्रमुख था। प्राचीन संस्कृत पाण्डुलिपियों का स- ह, संरक्षण एवं उनके उपयोग तथा प्रक्रिया की बड़े परिश्रमपूर्वक प्रस्तुति कर इन्होंने मार्गप्रशस्त किया था। हेनरी द्वारा कृत हजारों पाण्डुलिपियों का स- ह आज भी इंग्लैण्ड की इण्डिया ऑफिस लाईब्रेरी की प्रतिष्ठा को बढ़ा रहा है।

सत्रहवीं अठारहवीं शताब्दी में यूरोप के इंग्लैण्ड एवं पुर्तगाल देश से बड़ी संख्या में गोरे लोग व्यापार की दृष्टि से भारत में आये और यहाँ की भाषा, संस्कृति, सभ्यता, साहित्य, धर्म, दर्शन से भी परिचित हुए। लेकिन उस समय स्विटजरलैण्ड, आस्ट्रिया और जर्मनी कभी भी भारत में उपनिवेश बनाने के इच्छुक नहीं रहे, जबकि इन देशों के कतिपय मनीषी विद्वानों ने प्राच्यविद्यागत एक बड़ा योगदान दिया है। यह सत्य है कि यूरोपीय देशों के विद्वान् अधिकांशतः ईसाई मिशनरी भावना से परिपूरित थे, परन्तु अधिकतर विद्वानों के हृदय एवं चिन्तन में निस्सन्देह वैदिक एवं लौकिक साहित्य के उदात्त ज्ञान, भाषावैज्ञानिक सटीकता, शाश्वतसिद्धान्तता एवं समस्त काव्यगत विधाओं के सौन्दर्य ने परिवर्तन करने के लिए बाध्य कर दिया। समस्त भारतीयों को गर्व करना चाहिये कि हमारे वेदों तथा पूर्वजों, ऋषियों, मुनियों एवं आचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थों के प्रति योरोपवासियों का इतना अनुराग बढ़ा, जिसके कारण आज विश्व में भारतवर्ष, भारतीय धर्म-दर्शन-संस्कृति व सभ्यता एवं ज्ञान का विशिष्ट सम्मान है। इन विद्वानों ने वैदिक एवं लौकिक वाङ्मय की समस्त विधाओं पर शोधपरक एवं उच्चस्तरीय कार्य किया है, जिसमें उन्होंने दुर्लभ ग्रन्थों का प्रकाशन, वेदों का भाष्य, सम्पादन, कोष-निर्माण, समस्त वैदिक वाङ्मय, पुराणों, महाकाव्यों, बौद्ध-जैन ग्रन्थों, भाषाविज्ञान, धर्मशास्त्रों, अर्थशास्त्र, शिल्पविद्या, विधि, इतिहास, कला, संगीत, साहित्य इत्यादि पर अद्भुत कार्य किया है, निश्चय हीं इन विद्वानों ने वैदिक ग्रन्थों के विशुद्ध रूप से प्रकाशन एवं संरक्षण में जिस भूमिका का निर्वहन किया है, उससे वे सदा श्रद्धेय एवं हम लोग उनके आभारी रहेंगे। वस्तुतः उनके कृत कार्यों का विवरण एवं लेखा-जोखा अत्यन्त विस्तृत एवं समृद्ध है।

समस्त वैदिक एवं लौकिक साहित्य के अन्तर्गत उक्त यूरोपीय एवं अन्य वैदेशिक विद्वानों ने अथर्ववेदीय वाङ्मय पर भी अत्यन्त प्रशंसनीय कार्य किया है, जिसका उल्लेख करना सुतराम अपेक्षित है। इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम उल्लेखनीय कार्य है **आटो वॉन बोथालिंक** (१८१५-१९०४) का। इस दीर्घजीवी व्याकरण एवं वैदिक विद्वान् ने अथर्ववेद संहिता पर कार्य किया, जिसका ९० प्रतिशत भाग स्वयं बॉथलिङ्क ने तैयार किया तथा १० प्रतिशत कार्य के रूप में योगदान है **डब्ल्यू०डी० ह्विटनी** का, जो स्वयं वैदिक वाङ्मय का प्रसिद्ध विद्वान् रहा है। ह्विटनी ने इसकी शब्दसूची तैयार करने में श्रमसाध्य योगदान दिया है। वैसे इस जर्मनदेशीय विद्वान् बॉथलिङ्क ने पाणिनीय व्याकरण, उपनिषद् एवं संस्कृत नाटकों पर उच्चस्तरीय कार्य किया है, जो प्राय जर्मन भाषा में प्रकाशित है। इसके द्वारा कृत कार्यों में **पाणिनिज अख्त ब्यूशेर ग्रामाटिशेर रिगेन (Panini's acht Buecher Grammatischer Regeln) (Panini's eight looks of Grammitical rules)** वहीं इसने धातुपाठ एवं पाणिनि की शब्दसूची भी तैयार की। बॉथलिङ्क का मत था कि पाणिनि, कात्यायन एवं पतञ्जलि का समय क्रमशः ३५०, २५० और १५० ईसापूर्व है, भले ही

हम लोगों अथवा अन्य विद्वानों की सहमति ना हो। इसका एक और प्रशंसनीय कार्य था उणादिसूत्रों पर आ ळर्ह्र गै (The unadi affixes)। इसने शाकुन्तलम् १८४२, मृच्छकटिकम् १८७७, छान्दोग्योपनिषद् १८८९ और दण्डी का काव्यादर्श १८९० में जर्मन अनुवादसहित प्रकाशित किया जो अपने में एक विशिष्ट कार्य था।

जर्मन के ही दो विद्वान् डब्ल्यू०डी०ह्विटनी और रुडोल्फ वॉन रॉथ ने सम्मिलित रूप से बर्लिन में १८५६ में अथर्ववेद संहिता को दो भागों में प्रकाशित किया। रॉथ के पास अथर्ववेद संहिता की जो पाण्डुलिपि थी, वह जीर्णशीर्ण एवं अस्तव्यस्तावस्था में थी, उसने बड़े ही परिश्रम के साथ पूर्णतः व्यवस्थित की। रॉथ ने सुना था कि कश्मीरी ब्राह्मण किसी अथर्ववेदीय शाखा से अपने को सम्बंद्ध मानते हैं, वह कश्मीरी ब्राह्मणों की प्रकृति से आशान्वित था कि उसे संहिता की पाण्डुलिपि उनसे अवश्य मिल जायेगी। महाराजा कश्मीर ने रॉथ की उत्कट अभिलाषा को पूरा करने के उद्देश्य से उसे भोजपत्रों पर लिखित अथर्ववेद की पाण्डुलिपि भेंट की, जो आज भी जर्मनी के ट्यूबिंगन पुस्तकालय में सुरक्षित रखी है। रॉथ की प्रसन्नता का कोई ठिकाना नहीं था, फलतः उसने अपने दो प्रतिभाशाली विद्वान् शिष्यों एम०ब्लूमफील्ड और आर०गर्बे के साथ मिलकर पैप्पलाद-शाखा की अथर्वसंहिता की पाण्डुलिपि की ५४४ रंगीन प्लेटें ट्यूबिंगन विश्वविद्यालय के पुस्तकालय से तैयार करके १९०१ में स्टुटगार्ड में प्रकाशित की। प्रो० ब्लूमफील्ड ने भी काश्मीर की शारदा लिपि में प्राप्त एक पाण्डुलिपि के आधार पर १९०१ में अंग्रेजी अनुवाद के साथ अथर्ववेद संहिता को प्रकाशित किया था।

जुलियस जौली (१८४९-१९३२) नामक विद्वान् ने भारतीय चिकित्सा के क्षेत्र में उच्चस्तरीय कार्य किया है उसने **एन्साइक्लोपीडिया ऑफ इण्डो-आर्यन् रिसर्च** नामक ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में चिकित्सा सम्बन्धी प्रस्तुति अथर्ववेद की अनेक ऋचाओं एवं अथर्ववेद के सूत्र ग्रन्थ कौशिकसूत्र के आधार पर उदात्त चिन्तन के साथ की है। मर्बर्ग और म्यूंखेन विश्वविद्यालय में रहे संस्कृत के प्रो० हेन्स ऑर्टेल ने जहाँ यास्क के निरुक्त, जैमिनीय पूर्वमीमांसा, शंकराचार्य द्वारा कृत वेदान्त सूत्र के भाष्य और कपिष्ठल संहिता पर शोधपरक कार्य किया वहीं उन्होंने जर्मन भाषा में **जु देन वर्ट्सटेलुंगस्वेरियन्टेन देर मन्त्रास देस अथर्ववेद इन देर शौनक उण्ड पैप्पलाद रिजेन्शन उण्ड देस सामवेद इन देर कौथुम उण्ड जैमिनीय रिलेन्शन** (Zu den wortstellungsrianten der Mantras des Atharvaveda in der Shaunaka und Paippalada rezension und des Samveda in der Kauthuma und Jaiminiya rezension) (On the variation in order of words in the mantras of the Atharvaveda in the Shaunak and Pappalad recension and the Samveda in the Kauthuma and Jaiminiya recension) नामक शोधकार्य १९३८ में प्रकाशित किया, जिसमें उसने अथर्ववेद की शौनक एवं पैप्पलाद शाखा तथा सामवेद की कौथुम तथा जैमिनीय शाखा के क्रम वैभिन्य पर विशद विश्लेषण किया है।

जर्मनी देश के छोटे से शहर में जन्मे एक मेधावी विद्वान् प्रो० जुलियस वॉन निगेलियन (१८७२-१९३२) की अथर्ववेद एवं भारत के सांस्कृतिक इतिहास के क्षेत्र में विशेषज्ञ के रूप में प्रसिद्धि रही है। उसने भारतीय आस्थाओं एवं अन्धविश्वासों पर बहुत कार्य किया है। वैसे प्रो० निगेलियन का प्रारम्भिक प्रकाशन कार्य भाषाविज्ञान के क्षेत्र में रहा है, परन्तु निगेलियन के अध्यापक रहे प्रो० अल्ब्रेख्त वेबर की प्रेरणा से निगेलियन ने अथर्ववेद के परिशिष्ट को बड़े ही परिश्रमपूर्वक शोधकार्य करके १८९८ में प्रकाशित किया है। वह इतने से सन्तुष्ट नहीं था, क्योंकि उसका विचार था कि इस दुरूह कार्य करने से पूर्व भारत की सांस्कृतिक सम्पदा के इतिहास को गहराई से जानने की थी। अतः उसने दोनों बातों को लक्ष्यीकृत करते हुए उसने जर्मन भाषा में **जुर् रिलीजन्सगेसिस्टे इण्डियन्सः डी अथर्वपरिशिष्ट** (Zur Religiongeschichte Indiens: Die Atharvaparishist) (On the history of religion in India: The

Atharvaparishist) नामक शोधकार्य १९०८ में प्रकाशित किया। उसका शोधकार्य और आयाम लेता गया, फलत: उसने १९०९-१० में एक अमेरिकन विद्वान् जी०एम० बोलिंग के साथ मिलकर अंग्रेजी में **The Parishistas of the Atharvaveda** नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया। निगेलियन ने अन्य विषयों पर भी अपनी लेखनी से भारतीय प्राच्य विद्याओं पर लिखा है, परन्तु उसने अथर्ववेद पर लिखना नहीं छोड़ा, उसका एक अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य **जर्नल्स ऑफ द अमेरिकन ऑरियन्टल सोसाइटी** में १९१३ और १९१५ में प्रकाशित हुआ, जिसकी विषयवस्तु थी **Indian Expiatory Ceremonies**. वस्तुत: यह कार्य था प्रायश्चित्त सम्बन्धी प्रक्रियाओं पर। बहुआयामी व्यक्तित्त्व के धनी निगेलियन का मानना था कि प्रायश्चित्तविधान मूलत: अथर्ववेदीय अवधारणा है, जिसका विस्तार बाद में गृह्यसूत्रों, स्मृतियों एवं धर्मशास्त्रों में हुआ है। उसकी दृष्टि में प्रायश्चित्त अवधारणा भारतीयों की अद्‌भुत सामाजिक एवं आत्मिक सुधारात्मक प्रक्रिया एवं संस्कार था, जिससे पुन: सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्ति के साथ-साथ आत्मिक उत्थान एवं सुधार होता था और सभी दोषों, अपराधों एवं त्रुटियों से भविष्य में बचा जा सकता था।

ज्यूरिख विश्वविद्यालय में रहे प्रोफेसर पॉल होर्स्ख (१९१५-१९७१) जर्मनी के ऐसे विद्वान् हुए हैं जिन्होंने दर्शन, बौद्ध अध्ययन एवं वैदिक साहित्य के विषयों पर बड़ी गम्भीरता से शोधपरक कार्य एवं प्रकाशन किया है। इन्होंने जर्मन भाषा में **वोम सोफंगस्मिथोस जुम वेल्टगेसेट्ज़**-Vom Schoepfungsmgthas Zum Veltgesetz (Vom the myth of creation to cosmic order) नामक प्रकाशन में अथर्ववेदविषयक लेख लिखे हैं। २१ खण्डों में जर्मनभाषा में **ऐशियाटिक स्टडीयन** नामक प्रकाशन में उन्हें बहुत ख्याति मिली, जिसमें ऋग्वेद, अथर्ववेद, ब्राह्मणग्रन्थों, उपनिषदों एवं बौद्ध अध्ययन पर १९५५, ५६, ५८ में शोध लेख प्रस्तुत किये हैं।

पोलेण्ड में यद्यपि संस्कृताध्ययन को जर्मनी, फ्रांस, इंग्लैण्ड, इटली इत्यादि देशों की तुलना उतना आयाम न मिला हो, परन्तु गत अनेक दशकों में प्राच्य भारतीय वाङ्मय पर अध्ययन एवं शोधकार्य में वृद्धि हुई है। वर्तमान में अन्ताराष्ट्रिय ख्याति के संस्कृत विद्वान् प्रो० एम० क्रेजिस्टोफ ब्रिस्की, जो भारत में पोलेण्ड के राजदूत भी रह चुके हैं, ने उल्लेख किया है कि क्रेकोवा (पोलेण्ड) की एक विदुषी ने पोलिस भाषा में **Athravaveda-Wybrane hymny** (Atharvaveda-Selected hymns) पर एक शोधपरक कार्य ऑफिसियाना लिटरेका क्रेकोवा से १९९९ में प्रकाशित हुआ है, इटली में वैदिक एवं संस्कृत साहित्य सम्बन्धी अध्ययन-अध्यापन एवं शोधकार्य उन्नीसवीं शताब्दी से ही आज तक वहाँ के विश्वविद्यालयों एवं संस्थानों में निरन्तर चला आ रहा है। यद्यपि अथर्ववेद पर उतना कार्य वहाँ नहीं हुआ है जितना ऋग्वेद, स्मृतियों, अर्थशास्त्रों लेकिन संस्कृत ग्रन्थों एवं रामायण इत्यादि पर हुआ है। इटली के विद्वानों में डॉ० डेनियल मागी ने **Antico-Indiano Ksetra-nel Rigveda e nel Atharvaveda (एण्टीको-इण्डियन क्षेत्र-नेल ऋग्वेद इ०नेल अथर्ववेद** नामक विश्लेषणात्मक शोधकार्य इन्स्टीटूटि एडिटोरिबलि इ पोलिग्राफिसी इन्टरनेजनली १९९८ में प्रकाशित हुआ है। इधर एशियाई देश थाईलैण्ड के दो विद्वानों के शोधग्रन्थों ने अथर्ववेदीय वाङ्मय प्रकाशन में श्रीवृद्धि की है। डॉ० पी०वान्चाई किंग्केव का **ए क्रिटीकल स्टडी ऑफ द अथर्ववेद (XI-XV काण्ड)** और डॉ० पी० देवन दुसाडी-अरक का **ए क्रिटिकल स्टडी ऑफ द अथर्ववेद (XVI-XX काण्ड)** १९९२ में प्रकाशित हुए हैं।

यद्यपि भारत की दृष्टि से विदेशों में अथर्ववेद सम्बन्धी वाङ्मय पर कृत अध्ययन, शोध एवं प्रकाशनकार्य में न्यूनता प्रतीत होती हो, परन्तु वैदिशिक धरा पर उक्त कृतकार्य स्वयं में एक मील का पत्थर है जो देश-विदेश के विद्वानों के लिए सतत प्रेरणास्पद बना रहेगा।

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०१० अङ्क १४ (पृ०३३-४१) ISSN 0974 – 8830

अथर्ववेद में मशक-विज्ञान

(Mosquito Science in Atharvaveda)

डॉ. लखवीर सिंह[1] एवं डॉ. शगनदीप कौर[2]

वेद विषयक महर्षि मनु का कथन-'सर्वं **वेदात्प्रसिध्यति**'[3] तथा '**सर्वज्ञानमयो हि.स:**'[4] सर्वथा सत्य एवं समुचित है, क्योंकि वेदों का तलस्पर्शी अध्ययनोपरान्त यह पूर्ण प्रामाणिक सिद्ध हो जाता है, कि उनमें आधुनिक विज्ञान से भी उदात्ततर वैज्ञानिक सिद्धान्तों व आविष्कारों का प्रतिपादन हुआ है। परन्तु ब्रह्मवेद-अथर्वांगिरसवेद-अङ्गिरोवेद-भृग्वंगिरसवेद-क्षत्रवेद- भैषज्यवेद -निगद तथा छन्द इत्यादि अनेक नामों से विख्यात अथर्ववेद वेदों में अन्यतम एवं भूयसी विशिष्टता से युक्त है, क्योंकि ऋग्वेदादि अन्य तीनों वेद आमुष्मिक फल प्रदान करते हैं, जबकि अथर्ववेद ऐहिक फल देने वाला भी है। इस दृष्टि से इसका विषय-वैविध्य नितान्त विलक्षण है। अथर्ववेद में मुख्य रूप से भैषज्य, आयुष्य, अभिचार तथा कृत्या-प्रतिकरण कर्म, स्त्रीकर्म, सामन कर्म, राजकर्म, ब्राह्मण-हित-विषयक प्रार्थनाएं एवं अभिशाप, पौष्टिक कर्म, प्रायश्चित्त कर्म, आध्यात्मिक कर्म, याज्ञिक कर्म, व्यक्तिगत-विषय विवेचन, पृथिवी महिमा, परमात्मा तथा परब्रह्म स्वरूप विवेचन, दन्दुभि, व्रात्य, सृष्ट्युत्पत्ति इत्यादि अनेक विषयों से सम्बद्ध मन्त्र विद्यमान हैं।[5]

'मशक' शब्द की व्युत्पत्ति 'मशक' शब्द √मश् 'शब्दे रोषकृते च' अर्थक धातु से 'वुन्' प्रत्यय के संयोग से निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ है-मच्छर, पिस्सू तथा डांस।[6] परन्तु साहित्य में मच्छर के लिए अधिकतर 'मशक' शब्द का ही प्रयोग हुआ है, तद्यथा-

'प्राक् पादयो: पतति खादति पृष्ठमांसं, कर्णे कलं किमपि रौति शनैर्विचित्रम्।

छिद्रं निरूप्य सहसा प्रविशत्यशंक:, सर्वं खलस्य चरितं मशक: करोति'॥[7]

शब्दकोष में मच्छरार्थक 'मश' (√मश्+अच्) शब्द भी उपलब्ध है।[8] परन्तु अथर्ववेद में मशक अर्थ वाचक 'मकक' तथा इसके परिणामस्वरूप होने वाले ज्वर के लिए सामान्यत: 'तक्मन्' शब्द का प्रयोग हुआ है।[9]

---

१. एसोशियेट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, गवर्नमेण्ट गर्ल्स कॉलेज, सेक्टर-४२, चण्डीगढ़

२. असिस्टेंट प्रोफेसर, जन्तुविज्ञान, डी.ए.वी. कालेज, सेक्टर १०, चण्डीगढ़ १६००१०

३ मनुस्मृति (मनु.) १२.९७

४ वही, २.७

५ अथर्ववेद-संहिता ('वेदार्थबोधिनी'-हिन्दी व्याख्योपेता) भूमिका, पृ० २५

६ संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ७८१

७ हितोपदेश, १.८१

८ A Sanskrit-English Dictionary, P. ७९३

९ (क) अथर्ववेद (अथर्व.) १.२५.१ 'यदग्निरापो अदहत् प्रविश्य यत्राकृण्वन् धर्मधृतो नमांसि। तत्र त आहु: परमं जनित्रं स न: संविद्वान् परिवृङ्ग्धि तक्मन्॥ (ख) वही, ८.६.१२ 'ये सूर्यं न तितिक्षन्त आतपन्तममुं दिव:। आरायान् बस्तवासिनो दुर्गन्धींल्लोहितास्यान् मककान् नाशयामसि'॥

मनुस्मृतिकार ने जरामुज, अण्डज, स्वेदज तथा उद्भिज चतुर्विध सृष्टि का उल्लेख करते हुए उष्णता से उत्पन्न मशक, जूं, मक्खी, खटमल सदृश जीवों को स्वेदज श्रेणी के अन्तर्गत स्वीकार किया है-

'स्वेदजं दंशमशकं यूकामक्षिकमत्कुणम्।

ऊष्मणश्चोपजायन्ते यच्चान्यत्किंचिदीदृशम्।।[१०]

आयुर्वेद के विश्वविख्यात आचार्य सुश्रुत का भी यही मत है।[११]

अथर्ववेद तथा मशक-विज्ञान

अथर्ववेद में आधुनिक युगानुरूप व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक विज्ञान का इतना विशद चित्रण हुआ है, जिसके फलस्वरूप वस्तुत: यह वर्तमान की ही कृति प्रतीत होती है। इस ग्रन्थ में अन्य कृमियों के साथ ही 'मशक' का भी सुस्पष्ट वर्णन है। अद्यतन वैज्ञानिक जहाँ इस छोटे कृमि का माइक्रोस्कोप अथवा इलैक्ट्रोनमाइक्रोस्कोप (जिसमें किसी भी पदार्थ को एक लाख गुणा अथवा इससे भी अधिक बढ़ाकर दिखाने की क्षमता है) के द्वारा अध्ययन कर उसके विभिन्न शारीरिक अंगों प्रत्यंगों का विश्लेषणात्मक वर्णन करता है, वहीं हमारे तप:पूत मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने निम्नलिखित मन्त्रों में काव्यात्मक शैली के माध्यम से प्राय: तत्सदृश चित्रण प्रस्तुत किया है-

ये शाला: परि नृत्यन्ति सायं गर्दभनादिन:।

कुसूला ये कुक्षिला: ककुभा: करुमा: स्रिमा:।

तानोषधे त्वं गन्धेन विषूचीनान् वि नाशय।।[१२]

अर्थात् जो गधे के समान शब्द करने वाले सायं काल के समय घरों के चारों ओर नाचते हैं। सूई के समान अग्रभाग वाले, बड़े पेट वाले, टेढे मेढे, बुरा शब्द करने वाले रोग कृमि हैं, हे औषध! तुम उनको गन्ध द्वारा फैलाकर नष्ट कर दो।

उक्त मन्त्र में मशक कृमि की आन्तरिक एवं बाह्य शारीरिक संचरना तथा उसके व्यवहार का भी विस्तृत वर्णन हुआ है। उसके मुख की तुलना सूई से की गई है। वस्तुत: यह यथार्थ चित्रण है, क्योंकि वर्तमान वैज्ञानिक शब्दावली में इसे Needle like mouth parts कहा जाता है। इस सूई अर्थात् Needle के चार भाग होते हैं-1- Labrum, 2- Mandibles 3. Maxillae Deewj 4. Hypopharynx. Labrum ceW Sensilla (ज्ञानेन्द्रियां) होते हैं, जो मशक को काटने योग्य उचितस्थान का संकेत देते हैं। Mandibles leLee Maxillae के ऊपर दन्त होते हैं, जो सूई की तरह त्वचा को छेदने का कार्य करते हैं। इसी प्रकार Hypopharynx द्वारा रक्त को चूसने की प्रक्रिया की जाती है। (Fig. १-४)

१० मनु. १.४५

११ सुश्रुतसंहिता, प्रथम अयाय, पृ० ७. 'कृमिकीटपिपीलिकाप्रभृतय: स्वेजा:'।

१२ अथर्व. ८.६.१०

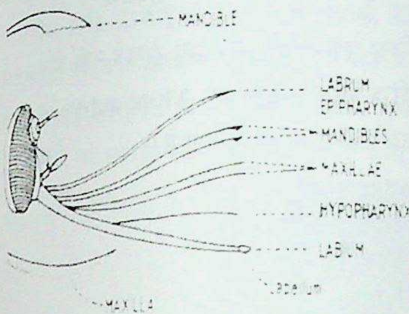


Fig. 1. Mouth Parts

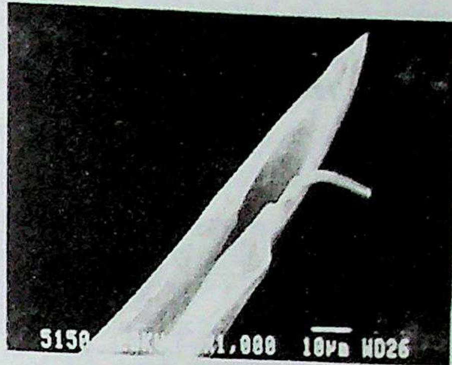


Fig. 2. Labrum (x 1,000 Magnification)

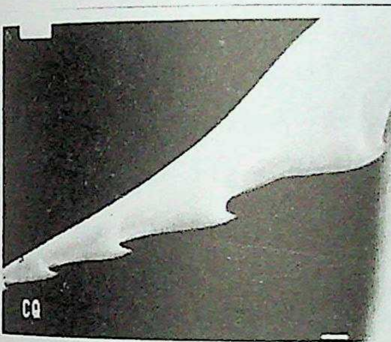


Fig. 3. Maxilla (x 6,000 Magnificaton)

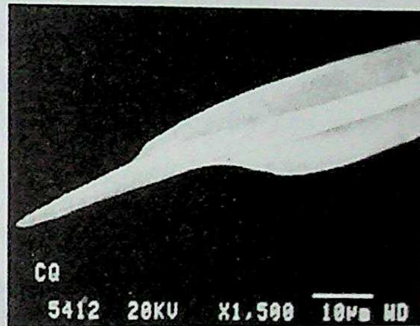


Fig. 4. Hypopharynx (x 1,500 Magnification)

अब मन्त्र में प्रतिपादित मशक की बाह्य शारीरिक रचना पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करें, तो जो उसे बृहद् उदर वाला कहा गया है, इसका अभिप्राय है, कि मशक के शरीर के तीन भाग होते हैं-१. शिर २. वक्षस्थल ३. पेट, जो आकार में सबसे बड़ा होता है। इसी कारण इसका शरीर टेढ़ा मेढ़ा दिखाई देता है। (Fig. 5)

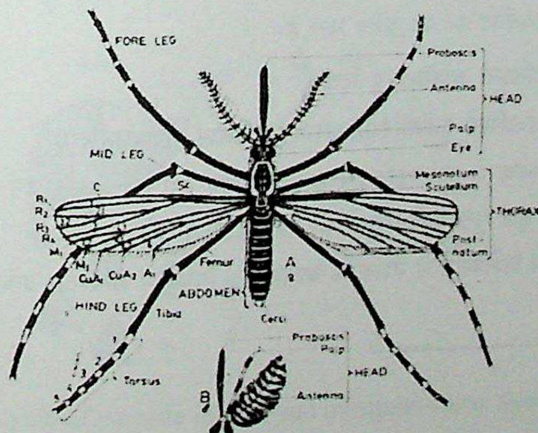


Fig. 5 Aedes aegypti (Linnaeus)- A. Female, B. Male head

इसी प्रकार यदि मशक के व्यवहार का विश्लेषण करें, तो जिस प्रकार गधे का शब्द सुखद नहीं होता, उसी प्रकार इसका भाव मशक का स्वर भी कर्णकटु होता है। इसके अतिरिक्त विज्ञाननुसार इसे More active at dusk अर्थात् सांय के समय अधिक सक्रिय स्वीकार किया गया है, जिसका उल्लेख भी मन्त्र में हुआ है।

तत्पश्चात् द्वितीय मन्त्र द्रष्टव्य है-

'ये कुकुन्धाः कुकूरभाः कृत्तीर्दूर्शानि बिभ्रति।

क्लीबा इव प्रनृत्यन्तो वने ये कुर्वते घोषं तानितो नाशयामसि'।। [१३]

अर्थात् जो बुरा शब्द करते हैं, थोड़े से चमकते हैं, काटने वाले, दंश करने वाले साधनों को धारण करते हैं, जो शब्द करते हुए क्लीबों के समान वन में नाचते हैं, उनकों यहाँ से नष्ट कर दो।

प्रकृत मन्त्र में प्रायः प्रथम मन्त्र में वर्णित मशक की विशेषताएं बतलाई गई हैं। परन्तु यहाँ जो यह कहा गया है कि 'कुकूरभाः' अर्थात् जो चमकते हैं, यह मशक की एक विशेष जाति, जिसे आधुनिक विज्ञान Aedes कहता है, की ओर संकेत है। यह मशक पूर्ण काले वर्ण का होता है और इसके शरीर पर Silvery White Clour के धब्बे होते हैं, जो चमकते हैं। (Fig. 6)

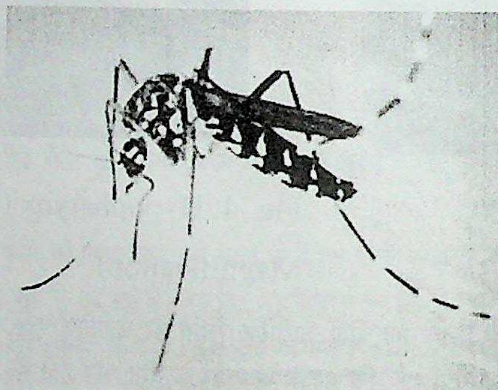


Fig. 6. Aedes (*Taken from Internet*)

इसी प्रकार अथर्ववेद का यह तृतीय मन्त्र है-

'ये सूर्यं न तितिक्षन्त आतपन्तममुं दिवः।

आरायान् बस्तवासिनो दुर्गन्धींल्लोहितास्यान् मककान् नाशयामसि'।। [१४]

अर्थात् जो द्युलोक से आने वाले इस सूर्य को सहन नहीं कर सकते, उन सत्त्वहीन करने वाले, चर्म में रहने वाले, दुर्गन्ध वाले, रक्त युक्त मुख वाले मशकों को यहाँ से नष्ट कर दो।

प्रस्तुत मन्त्र में विशेषरूप से मशक के व्यवहार के विषय में सविस्तार प्रकाश डाला गया है। इसीलिए दिन के

---

१३ वही, ८.६.११

१४ वही, ८.६.१२

समय ये गृहादि अनेक स्थलों में छिप कर रहते हैं। इनको दुर्गन्धयुक्त चर्मादि पदार्थों में रहने वाले इसलिए कहा गया है, क्योंकि इनके ज्ञानेन्द्रियां दुर्गन्धजन्य पदार्थ, तद्यथा स्वेद, कार्बनडाइऑक्साईड, जो श्वास द्वारा छोड़ी जाती है तथा मूत्र इत्यादि की ओर आकर्षित करती है। यही कारण है कि रात्रि के समय जब हम सोते हैं, तो हमारे द्वारा छोड़ी गई कार्बनडाइओक्साईड ही इन्हें हमारे अन्दर विद्यमान रक्त का संकेत देती है। इससे ज्ञापित होता है कि प्राचीन काल से ही भारतीयों को मशक की शारीरिक संचरना तथा उसके व्यवहार का भी बोध था। (Fig. 7)

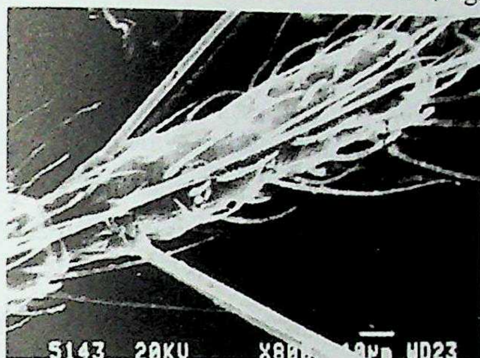


Fig. 7. Sensilla on the antenna (x 800 Magnification)

मशक का ज्वर से सम्बन्ध : विज्ञानानुसार यद्यपि मशक की अनेक प्रजातियां स्वीकार की गई हैं, जो विभिन्न प्रकार के रोगों, तद्यथा-Filiariasis, Elephentiasis, Japanese encephalitis, etc की जनन्नीस्वरूपा हैं, तथापि यहाँ अथर्ववेद में मुख्य रूप से प्रतिपादित परन्तु मलेरिया तथा यैलो फीवॅर् (Yellow Fever) आधुनिक नामकरण वाले ज्वर पर ही चर्चा की गई है। अर्थात् अथर्ववेद में ज्वर के जिन विभिन्न लक्षणों का सविस्तार वर्णन हुआ है, वे प्राय: अद्यतनीय मलेरिया तथा यैलो फीवॅर् भाव पीत ज्वर में भी विद्यमान है, तद्यथा-

(क) मलेरिया : वैज्ञानिकों के अनुसार अकेला मशक ही मलेरिया ज्वर का उत्पादक नहीं है, अपितु इसकी उत्पादित मलेरिया परजीवी (Parasite) द्वारा होती है। दूसरे शब्दों में मशक आतिथेय (Host) है और परजीवी अतिथि। परिणामत: परजीवी ही मूलत: मलेरिया का हेतु है। परन्तु इस परजीवी के सामान्य विकास (Growth) के लिए मशक तथा मानव दोनों की ही आवश्यकता होती है। मलेरिया परजीवी के जीवनचक्र (Life Cycle) को इस चित्र द्वारा समझा जा सकता है-(Fig. 8)

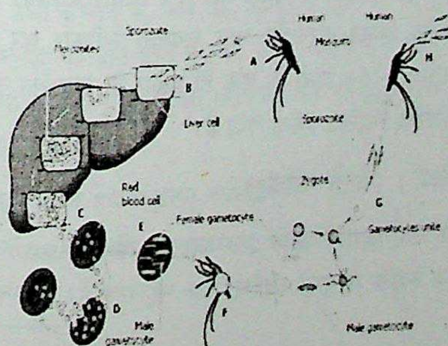


Fig. 8. Life cycle of parasite in man and mosquito (*Taken from Interent*)

मलेरियम अर्थात् मलेरिया उत्पादक परजीवी को वैज्ञानिक शब्दावली में (Plasmodium) कहा जाता है। यह परजीवी अतिसूक्ष्म और माइक्रोस्कोप मात्र से ही द्रष्टव्य है। वैज्ञानिकों ने Plasmodium की चार प्रजातियां स्वीकार की हैं-

1. Plasmodium Vivax
2. Plasmodium Ovale
3. Plasmodium Malariae
4. Plasmodium Falciparum

Plasmodium Vivax SJeb Plasmodium Ovale द्वारा Tertian मलेरिया अर्थात्-तीसरें दिन भाव ४८ घण्टे पश्चात् आने वाला ज्वर, Plasmodium Malariae mes Quartan मलेरिया अर्थात-चतुर्थ दिन भाव ७२ घण्टे बाद होने वाला ज्वर तथा इसी प्रकार Plasmodium Faciparum Üeje quotidian मलेरिया अर्थात् प्राय: प्रत्येक दिन आने वाला ज्वर उत्पन्न होता है।

परन्तु अथर्ववेद का यदि आधुनिक चिकित्साशास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन किया जाए, तो हम अपने पूर्वजों की बहुमुखी प्रतिभा से आश्चर्यचकित हुए विना नहीं रहते, क्योंकि अद्यतन विज्ञान द्वारा मुख्यरूप से स्वीकृत मलेरिया ज्वर के उपर्युक्त प्रभेदों का उल्लेख ईसा से सहस्रों वर्ष पूर्व लिपिबद्ध ग्रन्थ अथर्ववेद में भी स्पष्टत: हुआ है-

तृतीयकं वितृतीयं सदन्दिमुत शारदम्।
तक्मानं शीतं रूरं ग्रैष्मं नाशय वार्षिकम्॥[१५]

अर्थात् तिजरिया, चौथिया, सदैव बना रहने वाला, शीतकालीन, ग्रीष्मकालीन तथा वार्षिक अर्थात् वर्षर्तु में होने वाले अथवा वर्ष भर बने रहने वाले ज्वर को, ले अग्ने! तुम विनष्ट कर दो।

प्रकृत मन्त्र में 'तृतीयकम्' Tertian, 'वितृतीयम्' quartan तथा 'सदन्दिम्' अर्थात् quotidian ज्वर का प्रत्यक्षरूपेण वर्णन हुआ है।

यहाँ यह भी विशेष उल्लेखनीय है कि यद्यपि अथर्ववेद में कहीं भी मशक को ज्वर विशेषतः मलेरिया का कारण नहीं माना गया है, तथापि अथर्ववेद द्वारा स्वीकृत उक्त प्रथम तीनों ज्वर मशक में विद्यमान मलेरिया परजीवी से ही उत्पन्न होने वाले हैं, क्योंकि शीतकालीन, ग्रीष्मकालीन एवं वार्षिक ज्वर के अन्य कारण होते हैं न कि मलेरिया परजीवी। अत: सहर्ष कहा जा सकता है कि अथर्ववेदीय काल में Plasmodium द्वारा उत्पन्न इन तीनों प्रकार के ज्वर को आज आधुनिक विज्ञान भी विना किसी परिवर्तन भाव यथावत् स्वीकार कर रहा है, क्योंकि Plasmodium Vivax तथा Plasmodium Ovale इन दोनों के एक ही प्रकार के ज्वर का उत्पादक होने के कारण अद्यतन भी मुख्यरूप से तीन प्रकार का ही मलेरिया चिन्हित किया गया है।

(ख) पीत अर्थात् पीलिया ज्वर : (यैलो फीवॅर्)

वैज्ञानिकों के मतानुसार कम अवधि वाले इस ज्वर का हेतु Virus अर्थात् विषैला तीव्र होता है, जिसे विशेषत: एडीज नामक मशक एक व्यक्ति से दूसरे व्यकित तक पहुंचाता है। इस ज्वर की तीव्रता में प्राय: अन्तर रहता

---

१५ वही, ५.२२.१३

है। इसीलिए कुछ विशेष परिस्थितियों में यह विषाक्त पीलिया (Toxic Jaundice) में परिवर्तित हो जाता है। यही आगे चलकर अफ्रीका तथा दक्षिणी अमरीका के कुछ प्रान्तों में क्षेत्रीय रोग अथवा महामारी का रूप भी धारण कर लेता है, जो पुनः असंख्य लोगों की मृत्यु का कारण बनता है। परन्तु लिपिबद्ध वैज्ञानिक आंकड़ों के अनुसार एशिया में पीत ज्वर होने के संकेत अभी तक अनुपलब्ध ही हैं। जबकि इसका वाहक एडीज अथवा ए. एजीपटी मशक वहाँ अत्यधिक मात्रा में विद्यमान हैं।

परन्तु अथर्ववेद में 'हूडु' अर्थात् पीड़ाकर यन्त्र के समान कष्ट देने वाले पीत ज्वर का स्पष्टतः उल्लेख उपलब्ध होता है-

'यद्यर्चिर्यदि वाऽसि शोचिः शकल्येषि यदि वा ते जनित्रम्।

हूडुर्नामासि हरितस्य देव स नः संविद्वान् परि वृङ्ग्धि तक्मन्।।[१६]

अर्थात् यदि तुम ज्वाला रूप हो या तापरूप वाले हो अथवा तुम्हारा जन्मस्थान अङ्ग अङ्ग की गति में है, तो हे पीत ज्वर! पीड़ाकर यन्त्र के समान तुम्हारा कर्म और नाम है। अत एव अपने रूप तथा गुण को जानते हुए तुम हमें छोड़ दो। इसी प्रकार-

यदि शोको यदि वाऽभिशोको यदि वा राज्ञो वरुणस्यासि पुत्रः।

हूडुर्नामासि हरितस्य देव स नः संविद्वान् परि वृङ्ग्धि तक्मन्।।[१७]

अर्थात् चाहे तुम हृदय पीड़ाकर ज्वर हो, चाहे सम्पूर्ण शरीर में पीड़ा देने वाले हो अथवा तुम राजा वरुण के पुत्र हो। हे पीत ज्वर! तुम्हारा नाम हूडु (पीडाकारक यन्त्र) है, अपने इन गुणों को जानते हुए तुम हमें छोड़ दो।

उपर्युक्त अथर्ववेदीय दोनों मन्त्रों में पीत ज्वर के लक्षणों का विस्तारपूर्वक वर्णन हुआ है। इसे 'हूडु' कहा है, क्योंकि यह शरीर के प्रत्येक अङ्ग में व्याप्त होकर असहनीय वेदना उत्पन्न कर कृश कर देता है। अग्निताप द्वारा शरीरस्थ जल को जला देता है।

प्रस्तुत सन्दर्भ में विशेष उल्लेखनीय है कि यद्यपि भारत तथा समूचे एशिया में अधुना पीतज्वर अनुपलब्ध है, तथापि अथर्ववेदीय युग में लोग इस ज्वर के प्रकोप से ग्रस्त थे।

मशक नियन्त्रक एवं निरोधक उपाय

वैदिक मनीषा मनुष्य के पारिवारिक, सामाजिक, बौधिक, भौतिक तथा आध्यात्मिक इत्यादि सर्वांगीण विकास की पक्षधर रही है। वस्तुतः यह तभी सम्भव है, जब वह शारीरिक दृष्टि से भी पूर्ण स्वस्थ व प्रसन्नचित्त हो। इसीलिए कहा भी है-'हे रुग्ण! तुम, अभिवृद्धि को प्राप्त होते हुए सौ शरद, सौ हेमन्त तथा सौ वसन्त ऋतुओं तक जीवित रहो। इन्द्र-अग्नि-सविता-बृहस्पति तुम्हें सौ वर्ष तक जीवित रखें। सौ वर्ष की आयु देने वाले हविष्य के द्वारा मैं इस रोगी को मृत्यु देवता के निकट से खींच लाया हूं-

शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्तान्छतमु वसन्तान्।

शतं त इन्द्रो अग्निः सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषाहर्षमेनम्'।।[१८]

---

१६ वही, १.२५.२
१७ वही, १.२५.३

इसके अतिरिक्त इस पृथिवी को असुरों द्वारा अजय और देवों का प्रिय लोक कहा गया है, जहाँ मरणधर्मा मनुष्य उत्पन्न होता है। परन्तु वृद्धावस्था से पूर्व ही उसे मृत्यु को प्राप्त नहीं होना चाहिए-

अयं लोकः प्रियतमो देवानामपराजितः।

यस्मै त्वमिह मृत्यवे दिष्टः पुरुष जज्ञिषे।

स च त्वानु ह्वयामसि मा पुरा जरसो मृथाः॥[१९]

यही कारण है कि अथर्ववेद में दीर्घायुष्य प्राप्त्यर्थ बहुविध रसायन के साथ ही विभिन्न रोगोत्पादक मशक सदृश क्षुद्र कृमियों, दृष्ट एवं अदृष्ट परजीवियों के नियन्त्रण तथा निरोध के लिए, जहाँ अनेक दिव्य प्रार्थनाओं का उल्लेख उपलब्ध होता है, वहीं वस्तुतः सूर्य तथा अग्नि को इनका महत्त्वपूर्ण नियामक व प्रतिकारक माना गया है-

'उत् पुरस्तात् सूर्य एति विश्वदृष्टो अदृष्टहा।

दृष्टांश्च घ्नन्नदृष्टांश्च सर्वांश्च प्रमृणन् क्रिमीन्'॥[२०]

अर्थात् सबको देखने वाला सूर्य पूर्व से उदय होता है। वह दीखने अथवा न दीखने वाले सभी कीटों का संहारक है। और भी-

'उद्यन्नादित्य क्रिमीन् हन्तु निम्रोचन् हन्तु रश्मिभिः।

ये अन्तः क्रिमयो गवि'॥[२१]

अर्थात् उदय तथा अस्त होता हुआ सूर्य गाय अर्थात् पृथिवी के अन्दर स्थित कृमियों को मारे।

अथर्ववेद में कृमियों के लिए राक्षस, अप्सरा तथा गन्धर्व इत्यादि शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। इसीलिए कहा गया है कि इन कृमियों को तीव्रगन्ध वाली औषधि द्वारा चारों ओर फैलाकर नष्ट कर दो-

'तानोषधे त्वं गन्धेन विषूचीनान् वि नाशय।'[२२]

अथर्ववेद में गन्धवती औषधियों का भी वर्णन हुआ है, तद्यथा-गुल्गुलु, पीलु, नलदी, औक्षगन्धी तथा प्रमन्दनी इत्यादि।[२३]

विशेष उल्लेखनीय है कि आज भी मशक इत्यादि कृमियों को नष्ट करने अथवा भगाने के लिए बेगोन, हिट तथा कच्छुआ छाप सदृश तीव्र गन्धवती औषधियों का ही प्रयोग किया जाता है। इससे पता चलता है कि अथर्ववेद में उपलब्ध वैज्ञानिक तथ्य वर्तमान युग में उपयोगी ही नहीं, अपितु आधुनिक विज्ञान को एक नवीन दिशा प्रदान करने में पूर्ण सक्षम हैं।

---

१८ वही, ३.११.४

१९ वही, ५.३०.१७

२० वही, ५.२३.६

२१ वही, २.३२.१

२२ वही, ८.६.१०

२३ (क) वही, ४.३७.२ 'त्वया वयमप्सरसो गन्धर्वांश्चातयामहे। अजशृङ्‌ग्यज रक्षः सर्वान्गन्धेन नाशय'॥ (ख वही, ४.३७.३ 'नदी यन्त्वप्सरसोऽपां तारमवश्वसम्। गुल्गुलूः पीला नलद्यौक्षगन्धिः प्रमन्दनी। तत्परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन'॥

उपसंहार

इस भूतल पर समयानुसार विभिन्न सभ्यताएं तथा संस्कृतियां जन्मी, विकसित हुईं तथा काल कलवित भी हो गईं। परन्तु वेदों पर आधारित भारतीय संस्कृति अधुनापि जीवित है। किसी ने सत्य ही कहा है-

'यूनान मिस्र रोमां सब मिट गए जहाँ से।

कुछ बात है, कि हस्ती मिटती नहीं हमारी'।।

यही कारण है कि मशक से सम्बद्ध अथर्ववेद में वर्णित तथ्य आधुनिक विज्ञान की कसौटी पर पूर्ण सत्य सिद्ध होते हैं। मशक की आन्तरिक तथा बाह्य संरचना, उसका सामान्य व्यवहार, मशक का ज्वर से सम्बन्ध, मलेरिया परजीवी, 'तृतीयकम्' (Tertian), 'वितृतीयम्' (quartan) तथा 'सदन्दिम्' (quotidian) इत्यादि मलेरिया ज्वर के उपभेद, पीत ज्वर, मशक सदृश कृमियों के नियन्त्रण के उपाय इत्यादि का उल्लेख पूर्ण वैज्ञानिक है। आज भी क्षुद्र कीटाणुओं के निवारणार्थ सूर्य ताप तथा गन्धवती औषधियों के प्रयोग को ही लाभकारी माना जाता है। जबकि सहस्रों वर्ष पूर्व ही अथर्ववेद में स्वास्थ्य की दृष्टि से दृष्ट अथवा अदृष्ट कृमियों के संहार के लिए सूर्य तथा अग्नि सहित गुग्गुलु, पीलु, नलदी, औक्षगन्धी एवं प्रमन्दनी इत्यादि तीव्रगन्धयुक्त औषधियों के प्रयोग पर बल दिया गया है।

अद्यतनीय विज्ञान अत्युन्नत उपकरणों तथा सुविधाओं से सम्पन्न है, जिनके द्वारा वह क्षुद्रतम कृमियों के विभिन्नांगों व प्रत्यंगों का विश्लेषणात्मक अध्ययन कर सकता है, परन्तु प्राचीन भारत में हमारे पूर्वजों के पास आधुनिक युग की अपेक्षा और भी उत्तमकोटि के संसाधन उपलब्ध थे, इस कथन में लेशमात्र भी आत्मश्लाघा अथवा अतिशयोक्ति नहीं है।

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०१० अङ्क १४ (पृ०४२-४९) ISSN 0974 – 8830

अथर्ववेदीय दर्शनोपवर्णित ब्रह्म, ईश्वर, जीव एवं प्रकृतिविषयक अवधारणा

डॉ० नरेश कुमार[1]

वैदिकवाङ्मय में अथर्ववेद को अत्यन्त गरिमामय एवं सम्माननीय स्थान प्राप्त है। यदि हम अथर्ववेदोपवर्णित दर्शन का अवलोकन करें तो हमें ज्ञात होता है कि इस वेद में दर्शनशास्त्रविषयक लगभग ५० सूक्त प्राप्त होते हैं, जबकि ऋग्वेदादि अन्य तीनों वेदों में दर्शन को इतना स्थान नहीं मिला है। प्रस्तुत विषय पर गहन मनन-चिन्तन करने से पूर्व दर्शन शब्द के अर्थ एवं उसकी व्युत्पत्ति को जान लेना अत्यन्तावश्यक एवं महत्त्वपूर्ण है। **दर्शन** शब्द की व्युत्पत्ति \दृश **(दृशिर् प्रेक्षणे)** धातु से **ल्युट्** प्रत्यय करके होती है। **दृश्यते अनेन इति दर्शनम्** अर्थात् जिसके द्वारा देखा जाये, वह दर्शन है। ज्ञानदृष्टि अथवा दिव्यदृष्टि से देखना ही दर्शन कहलाता है।[2] अथवा जिसके द्वारा आत्मदर्शन अथवा आत्मसाक्षात्कार हो, वह दर्शन है। दर्शन का अंग्रेजी रूपान्तर फिलासफी दो ग्रीक शब्दों से मिलकर बना है-१. फिलास-प्रेम या अनुराग, २. सोफिया-विद्या। अत: फिलासफी का अर्थ हुआ-विद्या का प्रेम।[3] प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात ने दर्शन को सर्वप्रथम आंतरिक अध्ययन की ओर मोड़ा और कहा कि आत्मज्ञान ही दर्शन का प्रमुख उद्देश्य है। दर्शन अस्तित्व सम्बन्धी जीवन के मूलभूत और विश्वव्यापी प्रश्नों एवं मूल्यों का व्यवस्थित अध्ययन है। यह अध्ययन कभी विश्लेषणात्मक होता है तो कभी संश्लेषणात्मक।[4] महर्षि मनु ने मनुस्मृति में स्पष्ट रूप से निर्देश दिया है कि सम्यक् दर्शन प्राप्त होने पर कर्म मनुष्य को बन्धन में नहीं डाल सकते, सम्यक् दृष्टियुक्त मनुष्य कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त रहता है।[5] अथर्ववेदोपवर्णित दर्शनान्तर्गत प्रस्तुत शोधपत्र में अधोलिखित विषयों का विवेचन किया जा रहा है-१. ब्रह्मविद्या, २. दार्शनिक तत्त्व (ईश्वर, जीव एवं प्रकृति)।

१. **ब्रह्मविद्या**-अथर्ववेद में विभिन्न विद्याओं के साथ-साथ ब्रह्मविद्या का भी वर्णन प्राप्त होता है। ब्रह्मविद्यान्तर्गत ब्रह्म का स्वरूप, ब्रह्म की सर्वव्यापकता, ब्रह्म का एकत्व, ज्येष्ठ ब्रह्म, उच्छिष्ट ब्रह्म इत्यादि विवेचनीय विषय हैं। अथर्ववेद में लगभग आठ सूक्तों में ब्रह्मविद्या विषयक विवेचन द्रष्टव्य है।

ब्रह्म शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थचिन्तन-बृंह् धातु से **मनिन्** प्रत्यय करने पर **ब्रह्म** शब्द की व्युत्पत्ति होती है।[6] बृंह का अर्थ है-विस्तार अथवा व्यापकता। इसका अभिप्राय है कि ब्रह्म से ही जगत् का विस्तार हुआ है। ब्रह्म शब्द की द्वितीय व्युत्पत्त्यानुसार **भृ** धातु से **मन्** प्रत्यय लगाकर ब्रह्म शब्द की व्युत्पत्ति हुई है। इस व्युत्पत्त्यानुसार ब्रह्म के दो अर्थ किये गये हैं- **बिभ्रीयते जगदस्मिन्** तथा **बिभ्रीयते जगदनेन** अर्थात् जो संसार का आधिकरण एवं संसार को धारण करनेवाला है। इस प्रकार ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय का हेतु है। जगत् की उत्पत्ति का कारण होने के कारण इसे उक्थ, स्थिति का कारण होने के कारण इसे प्रतिष्ठा एवं जगत् में सर्वत्र व्याप्य होने के कारण इसे साम कहा

---

१. प्रोजेक्ट फेलो, वेदविभाग, गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार।

२ भारतीय दर्शन-डॉ० पारसनाथ द्विवेदी, पृ०-१

३ भारतीय दर्शन-पं० बलदेव उपाध्याय-उपोद्घात, पृ०-६

४ मानविकी पारिभाषिक कोश-(संपा०) डॉ० नगेन्द्र दर्शन खण्ड, पृ०-१५६

५ सम्यक् दर्शन सम्पन्न: कर्मभिर्न निबद्ध्यते। दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपाद्यते।। मनुस्मृति-६/७४

६ उणादिसूत्र-४/१/४६

गया है।[७] महर्षि यास्कानुसार-**ब्रह्म परिवृढं सर्वतः**[८] अर्थात् जो सर्वत्र विद्यमान है। वह ब्रह्म है। इस संसार में जो कुछ भी विद्यमान है उन सबका निमित्त एवं उपादान कारण ब्रह्म ही है। इस तथ्य का छान्दोग्योपनिषद् में प्रबल समर्थन किया गया है।[९] शतपथब्राह्मणकार ने ब्रह्म को प्रथमज कहा है।[१०] सबसे पहले ब्रह्म उत्पन्न हुआ, ब्रह्म के सर्वप्रथम उत्पन्न होने का अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि वह अनित्य है, अपितु ब्रह्म के बृंहण अर्थात् ब्रह्म के विस्तार को प्राप्त होने पर ही सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति हुई है। इसी विस्तारकभाव के कारण ही वह ब्रह्म कहलाता है।[११] ब्रह्मचतुष्पद्यानुसार ब्रह्म नित्य एवं सबका आदिमूल है।[१२] तत्पश्चात् एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि वह अद्वितीय होता हुआ भी सर्वत्र व्यापक है यथा एक ही बीज शाखा, पत्र, पुष्प, फलादि अनेक पदार्थों से वृक्ष बनता है उसी प्रकार ब्रह्मरूपी एक ही नित्य सत्ता में अनन्तानन्त अनित्यभावोत्पत्ति होती है, इन अनित्य भावों की समष्टि ही विश्व है।[१३]

अथर्ववेद में ब्रह्म को सर्वोच्च सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया है।[१४] वह अनेक रूपों वाला है, संसार में जो कुछ भी दिखायी देता है, वह ब्रह्म का प्रतिरूप है। जैसाकि अधोलिखित मन्त्र में स्पष्ट है-

शृतमुजं शृतया प्रोर्णुहि त्वचा सर्वैरङ्गैः सम्भृतं विश्वरूपम्।
स उत् तिष्ठेतो अभि नाकमुत्तमं पद्भिश्चतुर्भिः प्रति तिष्ठ दिक्षु॥[१५]

ब्रह्मयज्ञसूक्त में ब्रह्म एवं यज्ञ के ऐक्यभाव को प्रकट करते हुए उसे यज्ञस्वरूप माना गया है। वही क्रमशः होता, अध्वर्यु तथा ब्रह्मा का रूप धारण करता है।[१६] ब्रह्म से ही सृष्ट्युत्पत्ति हुई है, जिसका वर्णन अथर्ववेद के अधोलिखित मन्त्रों में स्पष्ट रूप से लक्षित होता है-

ब्रह्मज्येष्ठा संभृता वीर्याणि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमा ततान।
भूतानां ब्रह्मा प्रथमोत जज्ञे तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्धितुं कः॥[१७]
ब्रह्मणा भूमिर्विहिता ब्रह्म द्यौरुत्तरा हिता।
ब्रह्मेदमूर्ध्वं तिर्यक् चान्तरिक्षं व्यचो हितम्॥[१८]

---

[७] वेदविज्ञानवीथिका-दयानन्द भार्गव, पृ०६७
[८] निरु०१/८
[९] सर्वं खल्विदं ब्रह्म-छा०उप०३.१.४.१
[१०] ब्रह्मैवास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा, ब्रह्म वै सर्वस्य प्रथमजम्। शत०ब्रा०६/११/१/८
[११] विश्वस्य तूलस्य यदस्ति मूलं तस्यैव चैकस्य तु बृंहणेन। पश्यामि विश्वं तत् एव मूलं तद् ब्रह्मशब्देन सदा वदामि॥ ब्रह्मसिद्धान्त, पृ०२७
[१२] ब्रह्म तदुच्यते यत् इदं सर्वमभूद्भवति भविष्यति च यत्र प्रत्यतिष्ठत् प्रतितिष्ठति प्रतिष्ठास्यति च...तद्ब्रह्म। ब्रह्म०भूमिका
[१३] यथैकमूलात् फलपुष्पपर्णप्रकाण्डशाखा विष्पादिसिद्धिः। तथैव पश्यामि तदेकभावादनेकभावोदयेन विश्वम्॥ ब्रह्म० पृ०-६
[१४] तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेषनृम्णः। सद्यो जज्ञानो निरिणाति शत्रूननु यदेनं मदन्ति विश्व ऊमाः॥ अथर्व० ५.२.१
[१५] अथर्व०४.१४.९
[१६] ब्रह्म होता ब्रह्म यज्ञा ब्रह्मणा स्वरवो मिताः। अध्वर्युर्ब्रह्मणो जातो ब्रह्मणोऽन्तर्हितं हविः॥ अथर्व०१९.४२.१
[१७] अथर्व०१९.२२.२१
[१८] अथर्व०१०.२.२५

चतुष्पाद ब्रह्म का संक्षिप्त परिचय

अथर्ववेदानुसार ब्रह्म के चार पाद अथवा पैर हैं। साधकयोगीजन क्रमशः एक-एक पादप्राप्त्यनन्तर ब्रह्म के चतुर्थपाद को प्राप्त करता है। अथर्ववेद में इनका क्रम अधोलिखित मन्त्र में उपवर्णित है। यथा-,

पृष्ठात् पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद् दिवमारुहम्।
दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्व१र्ज्योतिरगामहम्॥ [१९]

अथर्ववेद में ब्रह्म के जो चार पाद एवं चार अवस्थाएँ बतायी गयी हैं, उनका विस्तृत एवं व्यापक वर्णन उपनिषदों एवं वेदान्तदर्शन में प्राप्त होता है। अथर्ववेदीय माण्डूक्योपनिषद् में चतुष्पाद् ब्रह्म का जो विवेचन प्राप्त होता है, वह वास्तविकता में वेदान्तदर्शन का आधार है। इस उपनिषद् के अनुसार जिसको ब्रह्म कहते हैं, वह आत्मा ही है। यह आत्मा चतुष्पाद है।[२०] इसका प्रथम पाद जाग्रतावस्था है। मनुष्य की वृत्तियाँ बहिर्मुखी होने के कारण वह स्थूल विषयों का उपभोग करता है। इसका नाम वैश्वानर है।[२१] इसका द्वितीय पाद स्वप्नावस्था है, इस स्थिति में मनुष्य की वृत्तियाँ अन्तर्मुखी होने के कारण वह सूक्ष्म विषयों का उपभोग करता है, इसको तैजस कहते हैं।[२२] इसका तीसरा पाद सुषुप्त्यवस्था है। इस अवस्था में जीव आनन्द का उपभोग करता है, इसको प्राज्ञ कहते हैं।[२३] इस तृतीयावस्था वाले ईश्वर को ही संसार का कर्त्ता, धारण करनेवाला एवं संहारकर्त्ता कहते हैं, वह सर्वज्ञ, सर्वेश्वर तथा अन्तर्यामी है।[२४] चतुर्थावस्था तुरीयावस्था है। इसमें वह अनिर्वचनीय रूप से रहता है। ऐसा वह ब्रह्म अदृष्ट, अचिन्त्य आदि गुणों से युक्त होने के साथ-साथ शान्त, शिव एवं अद्वैत है।[२५] इस प्रकार स्पष्ट है कि चतुष्पादात्मक ब्रह्म की जो कल्पना वेदान्तदर्शन में प्राप्य है, वह मूलरूप से अथर्ववेद की देन है।

ब्रह्मस्वरूपविषयकावधारणा

इस संसार में जो कुछ भी दृष्टिगोचर होता है, वह सृष्टि के मूलकारण ब्रह्म का विकारमात्र है। इसी बात का समर्थन शतपथब्राह्मणकार भी करता है।[२६] अथर्ववेद में ब्रह्म के स्वरूप का हंस के रूप में वर्णन किया गया है। जिस प्रकार हंस नीर-क्षीर का विवेक करता है, उसी प्रकार ब्रह्म भी सत् एवं असत् का सम्यक् विवेचन करता है। यहीं पर ब्रह्म को हरि के रूप में उपस्थापित करते हुए कहा गया है कि वह हरि अर्थात् सूर्यवत् प्रकाशयुक्त, जगत् का संहारक है तथा उसका निवासस्थल स्वर्ग है।[२७] ब्रह्मरूपी हंस को त्रिवृत् कहने का अभिप्राय यह है कि उस ब्रह्म में ईश्वर, जीव

---

१९ अथर्व०४.१४.३
२० मां०उप०-२
२१ मां०उप०-३
२२ मां०उप०-४
२३ मां०उप०-५
२४ मां०उप०-६
२५ मां०उप०-७
२६ प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च। शत०ब्रा०६.१.२.११., यद्वै किञ्च प्राणि: स प्रजापति: -शत०ब्रा०-११.१.६.१७
२७ सहस्राहण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम्। स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा॥ अथर्व०१०.८.१८

एवं प्रकृति इन तीनों तत्त्वों के गुण विद्यमान हैं।[२८] अथर्ववेद में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को ब्रह्म का शरीर माना गया है, समुद्र उसकी नाड़ियाँ हैं। मृत्यु और अमृत आदि गुणधर्म ब्रह्म में विद्यमान हैं।[२९] भूत, वर्तमान तथा भविष्य ये भी ब्रह्म में अधिष्ठित हैं।[३०] ब्रह्म के तीनों रूप पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग एवं नपुंसकलिङ्ग को क्रमशः आत्मा, शक्ति एवं ब्रह्मा कहा गया है। जो ज्ञानवान् एवं तत्त्वद्रष्टा हैं, वे ही इस ब्रह्म के दर्शन करने में समर्थ हो सकते हैं।[३१] अथर्ववेद का कथन है कि उस ब्रह्म से प्रथमतः ब्राह्मण की उत्पत्ति हुई।[३२] उसके दश सिर एवं दश मुख थे तथा उसने ही सबसे पहले सोमपान किया।[३३]

उच्छिष्ट ब्रह्म

उच्छिष्ट ब्रह्मविषयकविवेचन अथर्ववेद के ग्यारहवें काण्ड के सातवें सूक्त में प्राप्त होता है। उच्छिष्ट का अर्थ है-अवशिष्ट, छोड़ा हुआ, शेष बचा हुआ। ऋग्०-यजु०-अथर्व० में स्पष्ट रूप से उल्लेख प्राप्त होता है कि परब्रह्म परमात्मा के १/४ अंश,से सम्पूर्ण संसार का निर्माण हुआ है तथा ३/४ अंश आकाश में व्याप्त है।[३४] इसका अर्थ है कि संसार में परमात्मा के चतुर्थांश का ही साक्षात्कार होता है शेष ३/४ अंश उच्छिष्ट है। अथर्ववेद में उच्छिष्ट ब्रह्म के विराट् रूप का वर्णन प्राप्य है[३५] जो यजुर्वेदवर्णित रुद्र के वर्णन तथा भागवद्गीतोपवर्णित विराट् स्वरूप के द्वारा विश्वरूपदर्शन से साम्य रखता हुआ लक्षित होता है।[३६] **दृढो दृंहस्थिरो न्यो ब्रह्म विश्वसृजो दश। नाभिमिव सर्वतश्चक्रमुच्छिष्टे देवताः श्रिताः॥**[३७] इस मन्त्रानुसार सर्वोत्तम, प्रधान एवं केन्द्रीभूत देवता उच्छिष्ट ब्रह्म है, शेष अन्य उसके अंश स्वरूप हैं। संसार में जो कुछ भी दृष्टिगोचर हो रहा है, वह उच्छिष्ट ब्रह्म का ही परिणाम है।[३८] जल, समुद्र, चन्द्रमा और वायु ये सभी उच्छिष्ट ब्रह्म में विद्यमान हैं।[३९] अथर्ववेदीय मन्त्र **ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमो धर्मश्च कर्म च। भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं बले॥**[४०] के अनुसार ऋत, सत्य, तप, राष्ट्र, श्रमशीलता, क्रियाशीलता, क्रमशीलता, भूत, भविष्य, श्री, सम्पदा, बल इत्यादि सभी उच्छिष्ट ब्रह्म के ही आश्रित हैं। नौ खण्डों वाली भूमि, सातों समुद्र, दिव्यलोक, सूर्यलोक एवं

---

२८ ये अर्वाङ् मध्यं उत वा पुराणं वेदं विद्वांसमभितो वदन्ति। आदित्यमेव ते परि वदन्ति सर्वे अग्निं द्वितीयं त्रिवृतं च हंसम्॥अथर्व०१०.८.१७

२९ दूरे पूर्णेन वसति दूर ऊनेन हीयते। महद् यक्षं भुवनस्य मध्ये तस्मै बलिं राष्ट्रभृतो भरन्ति॥ अथर्व०१०.७.१५

३० यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति। स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ अथर्व०१०.८.१

३१ स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान् न वि चेतदन्धः। कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता विजानात् स पितुष्पितासत्॥ अथर्व०९.९.१५

३२ ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमो दशशीर्षो दशास्यः। स सोमं प्रथमः पपौ स चकारारसं विषम्॥ अथर्व०४.६.१

३३ अथर्ववेद का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ०४००.

३४ त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः। ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशनेऽअभि॥ऋग्०१०.९०.४, यजु०३१.४, अथर्व०१९.६.४

३५ अथर्व०११.७.१-२७

३६ यजु०१६.१-६६, भगवद्गीता-११.१-५०

३७ अथर्व०११.७.४

३८ सन्नुच्छिष्टे असंश्चोभौ मृत्युर्वाजः प्रजापतिः। लौक्या उच्छिष्ट आयत्ता व्रश्च द्रश्चापि श्रीर्मयि॥ अथर्व०११.७.३

३९ उच्छिष्टे द्यावापृथिवी विश्वं भूतं समाहितम्। आपः समुद्र उच्छिष्टे चन्द्रमा वात आहितः॥ अथर्व०११.७.२

४० अथर्व०११.७.१७

दिन-रात सभी उच्छिष्ट ब्रह्म में समाहित हैं तथा प्राण, अपान, चक्षु, भौतिक पदार्थ, दिव्यलोक एवं देवगण उसी से ही उत्पन्न हैं।[४१]

इस प्रकार हम देखते हैं कि अथर्ववेद में ब्रह्मविद्या का वर्णन जितनी सूक्ष्मता एवं विस्तार से किया गया है, वैसा वर्णन अन्यत्र दुर्लभ एवं अप्राप्य है। यदि यह कहा जाये कि ब्रह्मविद्या का विकास अथर्ववेद से ही हुआ है तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। उपनिषद् वाङ्मयोपवर्णित ब्रह्मविद्याविषयक अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों के मूलाधार में अथर्ववेदीय ब्रह्मविषयकसिद्धान्त ही विद्यमान हैं, जिसके परिणामस्वरूप अथर्ववेद को ब्रह्मवेद की सञ्ज्ञा से अभिहित किया गया है।

२. अथर्ववेदोपवर्णित दार्शनिक तत्त्व

इस संसार के मूल में ईश्वर, जीव एवं प्रकृति नामक तीन सत्तायें कार्य करती हैं। ये तीनों सत्तायें ही दर्शनशास्त्र के केन्द्र बिन्दु हैं। अथर्ववेद में इन तीनों अनादि सत्ताओं के विषय में पर्याप्त विवेचन प्राप्त होता है। अथर्ववेदानुसार इन तीनों के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार से है-

अथर्ववेदीय ईश्वर एवं उसका स्वरूप-√ईश ऐश्वर्ये धातु से **वरच्** प्रत्यय करने पर ईश्वर शब्द निष्पन्न होता है। विष्णुपुराणानुसार ईश्वर (भगवान्) में छह ऐश्वर्य होते हैं।[४२] महर्षि दयानन्दानुसार जिसके गुण-कर्म-स्वभाव और स्वरूप सत्य हैं, जो केवल चेतनमात्र वस्तु है तथा जो अद्वितीय सर्वशक्तिमान्, निराकार, सर्वव्यापक, अनादि और अनन्त आदि सत्य गुण वाला है और जिसका स्वभाव अविनाशी, ज्ञानी, न्यायकारी, दयालु तथा अजन्मा है, जिसका कर्म जगत् की उत्पत्ति, पालन और विनाश करना तथा सब जीवों को पाप-पुण्य के फल ठीक-ठीक पहुँचाना है, उसको ईश्वर कहते हैं।[४३] अथर्ववेद में अनेक स्थलों पर ईश्वर के गुणों और कर्मों का वर्णन किया गया है।[४४] अथर्ववेद में ईश्वर के गुणों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि ईश्वर एक है, विभु अर्थात् व्यापक है, ज्ञान का स्वामी है, अतिथि है, अनादि है और नवीन तथा प्राचीन सभी प्राणियों में व्याप्त है जैसाकि अधोलिखित मन्त्र में द्रष्टव्य है-

समेत विश्वे वचसा पतिं दिव एको विभूरतिथिर्जनानाम्।
स पूर्व्यो नूतनमाविवासत् तं वर्तनिरनु वावृत एकमित् पुरु।।[४५]

प्रत्येक पदार्थ का अपना एक विशिष्ट स्वरूप होता है, जो उसे अन्य पदार्थों से भिन्न तथा पृथक् बनाता है। किसी भी व्यक्ति अथवा वस्तु के स्वरूप को निर्धारित करने के लिए उसके गुण-कर्म-स्वभावादि के विषय में जानना अत्यावश्यक है। ईश्वरस्वरूपनिर्धारण में उक्त प्रक्रिया का आश्रय लेते हुए इस प्रकरण में सर्वप्रथम गुणों के आधार पर ईश्वर के स्वरूप का निर्धारण किया गया है। यहाँ पर यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि सांसारिक व्यक्ति अथवा वस्तुओं के कुछ गुण स्वाभाविक होते हैं तथा कुछ आरोपित, किन्तु ईश्वर के विषय में ऐसा नहीं है। ईश्वर के गुण-कर्मादि

---

४१ नव भूमीः समुद्रा उच्छिष्टेऽधि श्रिता दिवः। आ सूर्यो भात्युच्छिष्टेऽहोरात्रे अपि तन्मयि।। अथर्व०११.७.१४ प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या। उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः।। अथर्व०११.७.२५

४२ विष्णुपुराण-६.५.७४ ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसश्श्रियः। ज्ञानवैराग्यस्याथम षण्णां भग इतीरणा।।

४३ आर्योद्देश्य रत्नमाला, पृ०-१

४४ अथर्व०४.२.१-८

४५ अथर्व०७.२१.१

स्वभावतः नित्य हैं।[४६] ईश्वर के स्वरूप को गुणों के आधार पर दो भागों में विभाजित किया जा सकता है-१. सगुण और २. निर्गुण। श्रीमद्भगवद्गीतानुसार ईश्वर निर्गुण एवं निर्गुण तथा विरोधी गुणों के आश्रय हैं यथा-**ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते। अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते।।**[४७] अथर्ववेद के मन्त्र ७.२१.१ में ईश्वर के दोनों गुणों का वर्णन किया गया है।[४८]

अन्य स्थल पर ईश्वर के विराट् रूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि इसके हाथ, पैर, नेत्र इत्यादि सभी दिशाओं में फैले हुए हैं।[४९] पुरुषसूक्त में कहा गया है कि उसके हजारों नेत्र, हाथ, पैर आदि हैं।[५०] ईश्वर सनातन तथा सदा विद्यमान रहनेवाला है। अथर्ववेद में ईश्वर को सूत्रात्मक, वैश्वानर तथा सर्वव्यापक कहकर सम्बोधित किया गया है।[५१] जो ईश्वर को इन रूपों में जान लेता है वह ब्रह्मज्ञ अर्थात् ब्रह्म को जानने वाला है।[५२] जिस प्रकार ऋग्वेद में ईश्वर को सर्वज्ञ[५३] तथा सभी लोकों का ज्ञाता[५४] कहा गया है, उसी प्रकार अथर्ववेद में ईश्वर को सर्वज्ञ मानते हुए उसे दिन-रात, अन्तरिक्ष, वायु, द्युलोक, दिशाओं, अग्नि, ऋचा इत्यादि का जनक माना गया है।[५५] ईश्वर आत्मिक-शक्ति एवं बल का प्रदाता है।[५६] अथर्ववेद में एक अन्य स्थल पर ईश्वर को त्रित् कहा गया है अर्थात् वह तीनों लोकों को धारण करनेवाला है। ईश्वर को त्रित् कहने का अन्य अभिप्राय यह भी है कि ईश्वर की तीन शक्तियाँ है-वह जगत् कर्त्ता, धर्त्ता एवं संहारकर्त्ता है।[५७] अथर्ववेदानुसार ईश्वर एक है, एक से अधिक नहीं है-

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते। य एतं देवमेकवृतं वेद।।[५८]
न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते। य एतं देवमेकवृतं वेद।।[५९]
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते। य एतं देवमेकवृतं वेद।।[६०]

---

४६ श्वेता०उप०-६/८
४७ श्रीमद्भगवद्गीता-१३.१२
४८ समेत विश्वे वचसा पतिं दिव एको विभूरतिथिर्जनानाम्। स पूर्व्यो नूतनमाविवासत् तं वर्तनिरनु वावृत एकमित् पुरु।। अथर्व०७.२१.१
४९ यो विश्वचर्षणिरुत विश्वतोमुखो यो विश्वतस्पाणिरुत विश्वतस्पृथः। स बाहुभ्यां भरति सं पतत्रैर्द्यावापृथिवी जनयन् देव एकः।। अथर्व०१३.२.२६
५० यजु०३१.१-१२, अथर्व०१९.६.१-१६
५१ अथर्व०९.९.७
५२ यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः। सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्याद् ब्राह्मणं महत्।। अथर्व०१०.८.३७
५३ प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव।।ऋग्०१०.१२१.१०
५४ धामानि वेद भुवनानि विश्वा। ऋग्०१०.८२.३
५५ अथर्व०१३.७.२९-४०
५६ य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः। योऽ३स्येशे द्विपदो यश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम।। अथर्व०४.२.१
५७ ऋधङ्मन्त्रो योनिं य आबभूवामृतासुर्वर्धमानः सुजन्मा। अदब्धासुर्भ्राजमानोऽहेव त्रितो धर्ता दाधार त्रीणि।।अथर्व०५.१.१
५८ अथर्व०१३.४.१६
५९ अथर्व०१३.४.१७
६० अथर्व०१३.४.१८

इन मन्त्रों में स्पष्टत: निर्दिष्ट है कि ईश्वर दो, तीन, चार, पाँच, छह, सात, आठ, नौ अथवा दश नहीं है वह तो मात्र एक ही है। जो व्यक्ति ईश्वर के एकीकृत रूप को ठीक ढङ्ग से जानता है, उसे सभी वस्तुएँ, कीर्ति, धन और तेज इत्यादि प्राप्त होते हैं।[६१] ईश्वर एक है, परन्तु वही एक ईश्वर अनेक रूपों में प्रकाशित होता है।[६२] उसी ईश्वर के वायु, अर्यमा, वरुण, रुद्र, अग्नि, यम, सूर्य आदि अनेक नाम अथवा रूप हैं।[६३] एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि उसी ईश्वर के सैंकड़ों ही नहीं, अपितु करोड़ों अथवा अरबों रूप हैं।[६४]

जीवात्मा एवं उसका स्वरूप-निरूपण

पञ्चभौतिकतत्त्वों से निर्मित शरीर का नियन्त्रण एवं संयमनकर्त्ता कोई ऐसा तत्त्व आवश्यक है जिसकी शक्ति से अथवा प्रेरणा से शरीर की सम्पूर्ण गतिविधियाँ सञ्चालित होती हैं, जिसके अभाव में शरीर जड़ अर्थात् क्रियाविहीन हो जाता है, उस तत्त्व को वेदादि शास्त्रों में जीव अथवा जीवात्मा के नाम से सम्बोधित किया गया है। महर्षि मनु के अनुसार-**जीव संज्ञोऽन्तरात्मान्य: सहज: सर्वदेहिनाम्। येन वेदयते सर्वं सुखं दु:खं च जन्मसु॥**[६५] अर्थात् सुख अथवा दु:ख की अनुभूति करनेवाली शरीरस्थ आत्मा को जीव कहते हैं। तर्कस- हकार ने ज्ञान के अधिकरण को आत्मा कहा है।[६६] वैशेषिकदर्शन तथा न्यायदर्शन में प्राण-अपान-निमेष-उन्मेष-जीवन-मनोगति-इन्द्रियान्तरविकार-सुख-दु:ख-इच्छा-द्वेष-प्रय-भावना-धर्म और अधर्म ये आत्मा के लक्षण माने गये हैं।[६७] इस विषय में अथर्ववेद में कहा गया है कि जीवात्मा अजन्मा तथा सुख का साधन है, अत: उसे स्वर्ग कहा गया है।[६८] जीवात्मा अमर तथा निजी शक्ति से युक्त है तथा नये जन्म लेता है।[६९] एक अन्य स्थल पर जीवात्मा के गुणों को व्याख्यापित करते हुए कहा गया है कि वह स्थिर, प्रेरक, चेतन, दिव्य तथा प्राणशक्तियुक्त है।[७०] जीव के साथ पञ्चप्राणों का समूह चलता है।[७१] इससे तात्पर्य यह है कि लिङ्गशरीर में पञ्चप्राण भी रहते हैं। जीवात्मा में नौ कोश नौ स्थानों पर विद्यमान हैं।[७२] ये नौ कोश मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। शरीर की तुलना रथ से करते हुए कहा गया है कि ज्ञानेन्द्रियाँ रूपी घोड़े उस रथ को हाँकते हैं अर्थात् नियन्त्रित करते हैं।[७३] आत्मा पूर्णत: विशुद्ध एवं विकाररहित है। शरीर तथा इन्द्रियों से संयुक्त होने से सुख-दु:ख का अनुभव करने के कारण वह जीव कहलाती है। अपने को कर्मों का कर्त्ता तथा भोक्ता समझने लगती

---

६१ अथर्व०१३.४.१८
६२ अथर्व०५.१.२
६३ अथर्व०१३.४.१-५
६४ अथर्व०१३.४.४४-४५
६५ मनुस्मृति-१२.१३
६६ तर्कस- ह-१६
६७ प्राणापाननिमेषोन्मेष जीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकारा: सुखदु:खेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्ग॥ वै०द०३.२.४, न्या०द०१.१.१०
६८ अजोऽस्यज स्वर्गोऽसि त्वया लोकमङ्गिरस: प्राजानन्। तं लोकं पुण्यं प्र ज्ञेषम्॥ अथर्व०९.५.१६
६९ अनच्छये तुरगातु जीवमेजद् ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम्। जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनि:॥ अथर्व०९.१०.८
७० अनच्छये तुरगातु जीवमेजद्...... मर्त्येना सयोनि:॥ अथर्व०९.१०.८
७१ तस्यैष मारुतो गण:.....शिक्याकृत:॥ अथर्व०१३.४.८
७२ तस्येमे नव कोशा विष्टम्भा नवधा हिता:॥ अथर्व०१३.४.१०
७३ पञ्चवाही वहत्यग्रमेषां प्रष्टयो युक्ता अनुसंवहन्ति। अयातमस्य ददृशे न यातं परं नेदीयोऽवरं दवीय:॥ अथर्व०१०.८.८

है।[७४] वास्तविकता में जीवात्मा ज्ञानयुक्त है, अज्ञानता तो प्रकृति का धर्म है। जीवात्मा तो प्राकृतिक धर्मों से सर्वथा रहित है।

अथर्ववेदोपवर्णित प्रकृति-स्वरूपविषयकावधारणा

अथर्ववेदानुसार प्रकृति त्रिगुणात्मक अर्थात् तीन गुणों (सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण) से युक्त है।[७५] प्रकृति के त्रिगुणात्मक होने से इसमें तीन प्रकार के मनुष्य रहते हैं-**तिस्रो ह प्रजा अत्यायमायन् न्य१न्या अर्कमभितोऽविशन्त। बृहन् ह तस्थौ रजसो विमानो हरितो हरिणीरा विवेश॥**[७६] अर्थात् तीन प्रकार की प्रजाएं प्रकृति में निवास करती हैं-सात्त्विक ये सत्त्वगुण के कारण प्रकाश में निवास करते हैं, राजस् ये भोगविलास में संलिप्त रहते हैं तथा तामस् ये अन्धकार में रहते हैं। इसकी प्रकार ऋग्वेद[७७] तथा सांख्यदर्शन[७८] में भी प्रकृति को त्रिगुणात्मिकता से युक्त माना गया है। अथर्ववेद में त्रिगुण के अतिरिक्त महत् तत्त्व का भी वर्णन प्राप्त होता है, महत् को बृहत् कहकर सम्बोधित किया गया है।[७९] अथर्ववेद में बुद्धि को चार आँख वाली कुतिया कहकर सम्बोधित किया गया है। इसकी चार आँखें चार अन्तःकरण हैं-मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार।[८०] ज्ञानेन्द्रियों को गाय कहा गया है। ये मनुष्य के सिर से ज्ञानरूपी दूध दुहती है।[८१] अधोलिखित मन्त्र में प्रकृति के २१ पदार्थ माने गये हैं-

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः। वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे॥[८२]

अर्थात् मन्त्रानुसार प्रकृति के इक्कीस पदार्थ हैं। वे सर्वत्र व्याप्त हैं तथा सभी रूपों को धारण करते हैं। पञ्च महाभूत, तन्मात्रा तथा अहङ्कार इन सप्त पदार्थों को तीनों गुणों से गुणा करने पर २१ पदार्थ बनते हैं। एक अन्य स्थल पर उल्लेख प्राप्त होता है कि ऋत से आठ भूतों की उत्पत्ति हुई है। यहाँ पर ऋत का प्रयोग मूलप्रकृति के लिए किया गया है। इन आठ भूतों में महत्, अहङ्कार, मन तथा पञ्च महाभूतों को शामिल किया गया है।[८३] अथर्ववेद में सन्देश दिया गया है कि प्रकृति से साम्यता (तादात्म्य) का अनुभव करना चाहिए। सूर्य को चक्षु, वायु को प्राण, अन्तरिक्ष को आत्मा तथा पृथिवी को शरीर समझें।[८४] इसी साम्यतानुभूति के विषय में अन्यत्र लिखा गया है कि हमें भूमि को अपनी माता, अन्तरिक्ष को भाई तथा द्युलोक को पिता समझना चाहिए।[८५]

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि अथर्ववेद में दर्शन से सम्बन्धित सभी विषयों का अत्यन्त विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। अथर्ववेदोपवर्णित दार्शनिक तत्त्वों के विवेचन से ज्ञात होता है कि अथर्ववेद में ब्रह्म, ईश्वर, जीव, प्रकृति एवं इनके स्वरूप का अत्यन्त गम्भीरता से वर्णन किया गया है।

---

[७४] सुखदुःखसंयोगः संसारः पुरुषस्य च सुखदुःखानां संभोक्तृत्व संसारित्वम्। गीता-१३.२०
[७५] पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्। अथर्व०१०.८.४३, ८.९.२
[७६] अथर्व०१०.८.३
[७७] ऋग्०१०.१२९.३, सां०दर्शन कारिका-२६
[७८] सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः। सां०दर्शन कारिका-२६
[७९] बृहतः परि सामानि पृष्ठात् पञ्चाधि निर्मिता। बृहद् बृहत्या निर्मितं कुतोऽधि बृहती मिता॥ अथर्व०८.९.४
[८०] कृश्यपस्य चक्षुरसि शुन्याश्च चतुरक्ष्याः। वीध्रे सूर्यमिव सर्पन्तं मा पिशाचं तिरस्करः॥ अथर्व०४.२०.७
[८१] शीर्ष्णः क्षीरं दुहते गावो अस्य वव्रिं वसाना उदकं पदापुः॥ अथर्व०९.९.५
[८२] अथर्व०१.१.१
[८३] अष्ट जाता भूता प्रथमज ऋतस्याष्टेन्द्र ऋत्विजो दैव्या ये। अष्टयोनिरदितिरष्टपुत्राष्टमीं रात्रिमभि हव्यमेति॥ अथर्व०८.९.२१
[८४] सूर्यो मे चक्षुर्वातः प्राणोऽन्तरिक्षमात्मा पृथिवी शरीरम्। अथर्व०५.९.७
[८५] भूमिर्मातादितिर्नो जनित्रं भ्रातान्तरिक्षमभिशस्त्या नः। अथर्व०६.१२०.२

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०१० अङ्क १४ (पृ०५०-५४) ISSN 0974 – 8830

वेदों में समाज कल्याण की अवधारणा

डॉ. अनीता जैन[1]

वेदों में समाज कल्याण की क्या अवधारणा के विषय में विचार करने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि समाज क्या है ? समाज एक संघ है, संगठन है, औपचारिक सम्बन्धों का वह योग है जिसमें सहयोग देने वाले व्यक्ति आपस में बंधे रहते हैं। समाज शब्द सम् उपसर्ग पूर्वक अज् धातु से घञ् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है[2] -जिसका अर्थ है साथ रहकर चलना, बैठना, व्यवहार करना आदि।

समाज की मूलभूत इकाई व्यक्ति है। व्यक्ति की उन्नति के विना समाज के उत्कर्ष की कल्पना नहीं की जा सकती है। प्रत्येक व्यक्ति की समुन्नति एवं साथ-साथ मिलकर काम करने का भाव परिवार के माध्यम से पुष्ट होता है। **परि उपसर्ग पूर्वक वृञ् आवरणे धातु से घञ् प्रत्यय से निष्पन्न परिवार का शाब्दिक अर्थ है-घेरने वाला।**[3] शब्दकल्पद्रुम[4] के अनुसार परिवार का अर्थ है -**परिव्रियतेऽनेनेति** अर्थात् **जिससे व्यक्ति घेरा जाए।** परिवार के सदस्यों का एक दूसरे पर नियन्त्रण रहता है। परिवार का कोई भी सदस्य ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहता जिससे परिवार की प्रतिष्ठा पर आँच आये। ऐसे आदर्श परिवार आदर्श व्यक्तियों का सृजन करते हैं। यदि परिवार उत्तम नहीं होंगे तो समाज भी उत्तम नहीं हो सकता। अत: परिवार समाज की एक महत्त्वपूर्ण इकाई है जो व्यक्ति का सामाजीकरण करता है। नि:सन्देह इसे सामाजिक जीवन की पाठशाला कहा जा सकता है, क्योंकि परिवार से प्राप्त संस्कार ही मनुष्य के सुदृढ़ चरित्र निर्माण में सहायक होते हैं। इस प्रकार व्यक्ति के व्यक्तित्व का उत्थान करता हुआ परिवार सामाजिक उत्थान में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता आया है। **अब्राहम लिंकन** ने कहा था-में जो कुछ हूँ या जो कुछ भी बनने की आशा रखता हूँ, उसके लिए में अपनी देवी स्वरूपा माता का ऋणी हूँ।[5] अत: स्पष्ट है कि सुदृढ़ समाज व राष्ट्र निर्माण हेतु अपरिहार्य सामाजिक मान्यताओं, परम्पराओं व विश्वासों को व्यक्ति परिवार की आधारशिला पर ही निर्मित करता है। पारिवारिक नियमों के अधीन रहता हुआ व्यक्ति अनुशासित जीवन व्यतीत करता है।

एक स्वस्थ सांस्कृतिक परम्परा और नियमहीन समाज साथ-साथ नहीं रह सकते हैं। मानव हृदय में व्याप्त अनुशासनहीनता अत्यधिक तुच्छ स्वार्थभावना व भोग लिप्सा ही आज परिवार व समाज के कलह का मूल कारण है। जब मनुष्य दूसरों के हित से विरक्त होकर अपने ही स्वार्थ की अमर्यादित पूर्ति में लग जाता है तो वैयक्तिक एवं सामाजिक दोनों प्रकार के कल्याण को आघात पहुँचता है। भौतिकता की चकाचौंध ने व्यक्ति को इतना संवेदनशून्य एवं स्वार्थी बना दिया है कि हम स्वार्थपरता के कारण **सर्वे भवन्तु सुखिन:, सर्वे सन्तु निरामया:** जैसी पवित्र भावना को भूलकर दीन दु:खी और शोषितों का और अधिक शोषण करने एवं समाज को मजबूत बनाने की जगह उसकी जड़ें खोदकर उसे खोखला बनाने में लगे हैं। परिणामस्वरूप पारिवारिक संघर्ष, वर्गसंघर्ष, क्षेत्रीय संघर्ष व धार्मिक संघर्ष

---

१ असिस्टेंट प्रोफेसर- संस्कृत वनस्थली विद्यापीठ
२ संस्कृत हिन्दी कोप - वामन शिवराम आप्टे , पृष्ठ - १०७६
३ संस्कृत हिन्दी शब्दकोष - आप्टे
४ शब्दकल्पद्रुम - द्वितीय पृ. ६३ - ६४
५ अथर्ववेद संहितागत परिवार मीमांसा - मयूरा प्रसाद

उत्पन्न होने लगे। भौतिकता व स्वार्थपरता के दंश से उत्पीड़ित समाज के संघर्षों का समाधान वेद के माध्यम से ही संभव है। वैदिक साहित्य में अध्यात्म, नैतिकता, समाजशास्त्र आदि अनेक विषयों से सम्बद्ध ऋचाएँ (मन्त्र) हैं।

सर्वप्रथम प्रस्तुत शोधपत्र में परिवार व परिवार के विभिन्न घटक-माता, पिता, पुत्र, पुत्री, भाई, बहिन आदि के प्रति वेदों के कल्याणकारी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है। वेदों में प्रत्येक घटक के उत्थान के लिए समुचित शिक्षा, धर्म, अर्थ, राजनीतिक-कल्याण एवं श्रेष्ठ वर्णाश्रमव्यवस्था का उपस्थापन किया गया था।

पारिवारिक कल्याण

संघर्षों की शुरुआत का सबसे छोटा व महत्त्वपूर्ण क्षेत्र परिवार रहा है। आज परिवारों में कभी युवाओं का वृद्धों के साथ विचारों को लेकर, तो कभी सम्पदा व जमीन जायदाद के बटवारे को लेकर संघर्ष होते रहते हैं, पारिवारिक संघर्षों से समाजकल्याण प्रभावित होता है। पारिवारिक शान्ति के लिए प्राचीन ऋषियों ने प्रत्येक सदस्य की मानसिकता को सुसंस्कृत करने का प्रयास किया है।

वेद में सौमनस्य सूक्त में समभाव व पारस्परिक सौहार्द की भावना व्यक्त करते हुए अपेक्षा की गई है कि परिवार के सभी सदस्य प्रेमपूर्वक मिलजुलकर रहें, क्योंकि समाज का मूल परिवार ही है। यह सौमनस्य प्रत्येक काल में रहे, जिससे समाज में कलह ना हों और सब कार्य सुचारु रूप से चलते रहें।[६] समाज में समभावना का आधार परिवार है। समाज के आदर्श स्वरूप हेतु गृहस्थ-जीवन में पारस्परिक सौहार्द की अपेक्षा करते हुए अथर्ववेद[७] पुत्र को पिता का आज्ञाकारी तथा माता के साथ प्रीतियुक्त मन वाला होने का आदेश देता है तथापि आशा करता है कि वह अपने पति के साथ द्वेष न करे, सदा मधुर व शान्ति प्रदान करने वाली वाणी बोले। भाई बहिन में भी विद्वेष न हो, क्योंकि पारिवारिक असन्तोष बाह्य वातावरण को किसी न किसी रूप में अवश्य ही प्रभावित करता है।

अथर्ववेद के अनुसार पति (गृहपतिं) का समाज में सम्मान जनक स्थान था। वह सभी सदस्यों द्वारा आदरणीय होता था अत: सभी गृहपति बनने की आकांक्षा रखते थे।[८] वह अपने में ओजस्विता, बल व तेजस्विता की कामना करता था ताकि सामाजिक अभ्युदय में सहायक हो सके।

समानी प्रपा सह वोऽन्नभाग: समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।

सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभित:॥[९]

अर्थात् अन्न व जल ग्रहण करते हुए प्रेम पूर्वक समाज में ऐसे ही मिलजुलकर रहो जैसे चक्र के आरे नाभि में जुड़े होते हैं। आज अहम् भाव के कारण बिखरते परिवारों के लिये वेद के उक्त वचन अमृत तुल्य हो सकते हैं। वैदिक समाज में स्त्रियों को भी पुरुषों के समान सम्मान प्राप्त था। आदर्श दाम्पत्य-जीवन की मनोरमता वेदों में स्पष्ट दिखाई देती है-**गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं ....मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवा:।**[१०] **अस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि।**[११] तथा

---

६ वैदिक - संग्रह - डॉ कृष्णलाल पृ. १८९

७ अनुव्रत: पितु: पुत्रो मात्रा भवतु संमना: जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवान्। मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा सम्यञ्च: सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया। अथर्व. ३.३०.२-३

८ गृहमेधी गृहपतिं मा कृणु - वही. १९.३१.१३

९ अथर्व. - ३.३०.६

१० ऋ. १०.८५.३६

सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।[१२] आदि वेद कालीन ऐसी भावनाएँ हैं, जिन्हें यदि व्यवहार में लाया जाए तो दाम्पत्य जीवन सुखमय हो सकता है।

समाजकल्याण के प्रमुख स्तम्भ

धर्म, शिक्षा, अर्थ, राजनीति एवं वैदिक वर्णाश्रमव्यवस्था आदि समाजकल्याण के ऐसे स्तम्भ हैं जिनके सम्यक् प्रयोग से समाज की प्रत्येक इकाई व हर वर्ग का कल्याण संभव है। जिनके वैदिक स्वरूप को प्रस्तुत शोधपत्र के माध्यम से दर्शाने का प्रयास किया जा रहा है।

धर्म

धर्म कुछ ऐसे सार्वकालिक व सार्वभौमिक नियमों का नाम है जो प्रत्येक देश व काल में विना जाति व वर्णभेद के मनुष्य को समान रूप से उन्नति की ओर ले जाते हैं। महर्षि दयानन्द के मत में मनुष्य का आध्यात्मिक एवं भौतिक कल्याण करने वाले तत्त्वों का नाम धर्म है। वामन शिवराम आप्टे के अनुसार[१३] **ध्रियते लोकोऽनेन, धरति लोकं वा** अर्थात् धर्म ही एक ऐसा तत्त्व है जो व्यक्ति को देशकालानुसार आचरण की प्रेरणा देकर समाज में रहने योग्य वनाता है।

आचरण की शुद्धता एवं नैतिक उत्थान हेतु दीक्षान्त भाषण के अवसर पर शिक्षार्थियों को दिए जाने वाले **सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायान्मा प्रमदः** अथवा **मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव।**[१४] आदि वैदिक कालीन ऐसे बहुमूल्य उपदेश हैं जिनका यदि आज के शिक्षार्थियों द्वारा पालन किया जाए तो राष्ट्र का नैतिक कल्याण संभव हो सकता है। मानवता का आह्वान करते हुए ऋग्वेद में एक स्थान पर कहा है-**मनुर्भव**[१५] अर्थात् मनुष्य बनो। धर्म का उद्देश्य समाज में संतुलन रखना था। यह संतुलन तभी रह सकता है जब मनुष्य प्राणिमात्र को ईश्वर की सृष्टि समझकर समानता का व्यवहार करे। आज सामाजिक उन्नति हेतु जिन मानव मूल्यों एवं नैतिक आचारों की आवश्यकता है उन सबकी स्पष्ट परिकल्पना वेद (ऋग्वेद) में उपलब्ध होती है। **पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः**[१६] ऋग्वेद का उक्त मन्त्र मानवकल्याण को भावना को व्यक्त करता है वहीं **तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः**[१७] त्यागभावना को, **अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय**[१८] मन्त्र समत्वभाव को तथा **मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे**[१९] यजुर्वेद का उक्त मन्त्र प्राणिमात्र के प्रति समदृष्टि को पुष्ट करता है। वैदिक व्यवस्था के इन धर्मपरक गुणों के व्यावहारिक प्रयोग से निश्चित ही समाज का कल्याण होगा, ऐसी मेरी धारणा है।

---

११ वहीं. १०.८५.२७
१२ वहीं. १०.८५.४६
१३ संस्कृत हिन्दी शब्दकोष - पृ. ४८९
१४ तैत्तिरीयोपनिषद् - शिक्षा वल्ली - १.११.१.
१५ ऋ. १०.५३.६
१६ ऋ. ६.७५.१४
१७ यजु. ४०.१
१८ ऋ. ५.६०.५
१९ यजु. ३६.१८

अर्थ

अर्थ व्यक्ति, परिवार, राष्ट्र सभी के लिए अनिवार्य है। अत: उसका संग्रह एवं वितरण समान रूप से होना चाहिए। यदि अर्थ कुछ ही हाथों में संगृहीत हो गया तो विषमता उत्पन्न होगी। जो समाज कल्याण में बाधक है, अत: संगृहीत धन का मिल बाँटकर उपभोग करना चाहिए, क्योंकि वेदों में स्पष्ट कहा है-**केवलाघी भवति केवलादी** अर्थात् अकेला खाने वाला अकेला पाप खाता है। इसलिए वहाँ सौ हाथों से संग्रह करने एवं हजार हाथों से उनका वितरण करने को कहा है।[20]

ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृध: कस्यस्विद्धनम्॥

श्रेय एवं प्रेय मार्ग के प्रबन्ध का श्रेष्ठ दृष्टान्त ईशोपनिषद् के उक्त मन्त्र का परिपालन सामाजिक शान्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि **तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा:** के आदेश को न मानने के कारण आज समाज में अशान्ति उत्पन्न हो रही है। आज बड़ा भाई छोटे भाई के न्यायप्राप्त सत्व को हड़पना चाहता है तो पुत्र पिता के सत्व पर अनधिकार चेष्टा करना चाहता है। पराया धन, पराई स्त्री पर कुदृष्टि डालना उक्त सिद्धान्त का पालन न करने का ही परिणाम है।[21] अत: उक्त मन्त्र जहाँ एक ओर ईश्वर प्रदत्त सम्पदाओं में सभी के समान भाग की बात करता है, वहीं दूसरी ओर सांसारिक उत्पादों के अति उपभोग से होने वाले अनैतिक एवं वित्तीय अपराधों पर रोक लगाता है।

शिक्षा

शिक्षा मानव जीवन की उन्नति का अनिवार्य स्तम्भ है। शिक्षा के विना मानव जीवन का विकास असम्भव है। शिक्षा के दो अङ्ग हैं-सत्य ज्ञान की प्राप्ति और उस ज्ञान के अनुरूप अपने जीवन का निर्माण। वैदिक शिक्षा का उद्देश्य शिष्य का सर्वाधिक विकास करना था। शारीरिक विकास के लिये तप व साधना के पालन पर बल दिया जाता था। मानसिक विकास के लिये चिन्तन, मनन, ध्यान आदि की अपेक्षा होती थी। जहाँ एक ओर **तेजस्विनावधीतमस्तु** उपनिषद् वाक्य अपने अधीत ज्ञान के द्वारा जीवन को तेजस्वी बनाने की प्रेरणा देता है। वहीं दूसरी ओर **सा विद्या या विमुक्तये** एवं **विद्ययामृतमश्नुते** (ईशोप.१४) आदि वाक्य मानव को जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की ओर प्रेरित करते हैं।

वैदिक शिक्षा का लक्ष्य पंचमुखी शिक्षा; शारीरिक, व्यावसायिक, मानसिक, नैतिक एवं आध्यात्मिकता के माध्यम से मानव निर्माण व उसका चरित्र निर्माण करना था। वेदों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्णों स्त्री सेवकादि व उत्तम लक्षणयुक्त अन्त्यजादि सभी को वेद की शिक्षा पाने एवं अग्निहोत्र करने का अधिकार था, यजुर्वेद इसका स्पष्ट निर्देश करता है।[22] स्त्रियों को भी सुशिक्षा ग्रहण करने का निर्देश वेदों में प्राप्त होता है।[23]

राजनीति

राजनीति एवं राजनीतिक संगठन समाज की ऐसी आधारशिला है जिस पर सामाजिक जीवन का भव्य प्रासाद

---

२० शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर अथर्व. ३.२४.५

२१ ईशोपनिषद् - हिन्दी विज्ञानभाष्य - प्रथमखण्ड भाष्यकार - मोतीलाल शर्मा गौड़

२२ यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्य:। ब्रह्म राजन्याभ्यां शूद्राय चार्य्याय च स्वाय चारणाय च। यजु. २६.

२३ ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। -,अथर्व ११.५.१८

स्थिर रहता है। त्रिविध पुरुषार्थों की प्रवृत्ति के लिये, भय मुक्ति एवं सामाजिक सुरक्षा के लिए समाज में जिस व्यवस्था की अपेक्षा होती है, उसका उत्तरदायित्व राजा का होता है। यह ऐसी नीति है जिसमें राज्य, प्रजा एवं राजा सभी का कल्याण निहित है। अथर्ववेद[२४] में मातृभूमि के प्रति प्रेम को दर्शाता हुआ एवं प्रजानुरंजन के लिए तत्पर होता हुआ राजा उद्घोष करता है कि मैं अपनी मातृभूमि के लिये और उसके दु:खनिवारण के लिये सब प्रकार के कष्टों को सहन करने के लिये तैयार हूँ। अपने प्रयत्न से सब शत्रुओं को नष्ट करूँगा।

ऋग्वेद (१०.१७३.२) के अनुसार राजा राष्ट्र को धारण करने वाला है। अथर्ववेद (८.४.२२) में कामी, क्रोधी, लोभी, अज्ञानी, घमण्डी और मत्सरियों को राक्षस तुल्य बताया है, एवं इनके नाश का आदेश दिया है। यदि समाज से कण्टकतुल्य ऐसे आंतकियों का नाश हो जायेगा तो स्वत: ही समाज उत्थान पथ पर अग्रसर होगा। समाज कल्याण के उक्त कारकों के अतिरिक्त वैदिककाल में सामाजिक व्यवहार एवं आध्यात्मिक उन्नति हेतु भारतीय मनीषियों द्वारा चारों वर्णों की एक ऐसी आयोजना बनायी गयी थी, जिसका उद्देश्य समाज का संतुलन बनाए रखना, सबके लिये आजीविका का प्रबन्ध करना व समाज में सांस्कृतिक चेतना लाना था। वर्णों के उद्गम का प्राचीनतम उल्लेख ऋग्वेद[२५] के पुरुष सूक्त में मिलता है।

इसी प्रकार वेदकालीन आश्रमव्यवस्था को भोग और त्याग में समन्वय का आधार कहा जा सकता है, जिसमें मानव ब्रह्मचर्यकाल में ज्ञान का संग्रह, गृहस्थ में अर्थसंग्रह व भोगों का उपभोग, वानप्रस्थ में जीवन के अनुभवों व प्राप्त ज्ञान का शिक्षण द्वारा वितरण करता था और अन्तत: संन्यास में अपने सम्पूर्ण जीवन को ही मानव समाज के प्रति समर्पण करके अपने को परोपकार में लीन कर देता था। उक्त व्यवस्था के सम्यक् पालन से बेकारी की समस्या से बहुत हद तक मुक्ति पाई जा सकती है।[२६] इसके अतिरिक्त स्वास्थ्यरक्षा, व्यापार, वाणिज्य आदि से सम्बन्धित भी अनेक सन्दर्भ वेदों में प्राप्त होते हैं। अत: अन्त में यह कहा जा सकता है कि सुखमय भविष्य के लिए एवं सभी सामाजिक इकाईयों के उत्थान के लिये हमें वैदिक धारणाओं को अपनाना चाहिए जिनमें **जीओ और जीने दो** का स्पष्ट संदेश मिलता है।

---

२४ अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्। अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहि:। अथर्व. १२.१.५४

२५ ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य: कृत:। ऊरू तदस्य यद्वैश्य: पद्भ्यां शूद्रो अजायत। ऋ. १०.९०.१२

२६ जीवन के पाँच स्तम्भ - डॉ. प्रशान्त वेदालंकार पृ. ८

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०१० अङ्क १४ (पृ०५५-६४) ISSN 0974 – 8830

यजुर्वेदीय ब्राह्मण ग्रन्थों में खगोल-विद्या

डॉ. अपर्णा धीर[१]

पृथिवी के सब ओर आकाश में विस्तारित पिण्ड ही खगोल कहलाता है। इसे गगनमण्डल, आकाशमण्डल आदि नामों से भी पुकारा जाता है। अत: खगोलीय पिण्डों से सम्बद्ध विद्या खगोल-विद्या है। भले ही खगोल-शास्त्र के लिए प्रयुक्त 'खगोल' शब्द नालन्दा विश्वविद्यालय के खगोलीय-वेधशाला के नाम पर पड़ा है, तथापि खगोल-विद्या के सर्वप्राचीन सन्दर्भ प्राय: संहिताओं में ही प्राप्त होते हैं- **सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्व:।**[२]

वैदिक संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृति के रूप में सर्वविदित है। अत: तात्कालिक खगोलशास्त्रीय अवधारणाओं के ज्ञान से खगोल-विद्या के उद्भव को ज्ञात किया जा सकता है। इस दृष्टि से प्रस्तुत अध्ययन के लिए शुक्लयजुर्वेदीय शतपथ ब्राह्मण और कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय ब्राह्मण को मूल आधार के रूप में ग्रहण किया गया है।

विषय प्रवेश से पूर्व खगोल-विद्या के उद्भव की ओर ध्यान आकर्षित करना परमावश्यक है। इस सन्दर्भ में कह सकते हैं कि सर्वप्रथम वैदिक ऋषियों का ध्यान पृथिवी की सीमा के बाहर फैले हुए आकाश की ओर आकर्षित हुआ होगा। तत्पश्चात् आकाश में विद्यमान खगोलीय पिण्डों के अन्वेषण एवं चिन्तन में वे संलग्न हुए होंगे। वैदिक ऋषियों द्वारा आकाशीय पिण्डों को देखकर उनमें देवत्व की सम्भावना करना ही वैदिक मन्त्रों में खगोलीय पिण्डों के यत्र-तत्र दिखने का कारण है।[३] धीरे-धीरे कालक्रम से वैदिक ऋषि इन आकाश स्थित पिण्डों के स्वरूप, गति आदि के ज्ञान से अवगत हुए, वैदिक ऋषियों की इसी दृष्टि को खगोल-शास्त्र के जन्म के रूप में देखा जा सकता है। इस सन्दर्भ में तैत्तिरीय ब्राह्मण में वर्णित 'नक्षत्रदर्श'[४] (नक्षत्रनिरीक्षक) और 'गणक'[५] (नक्षत्रों एवं ग्रहों की गतियों की गणना करने वाला) जैसे शब्द ही खगोल-शास्त्र के ज्ञान के परिचायक हैं।

सर्वप्रथम उल्लेखनीय है कि यजुर्वेदीय ब्राह्मण ग्रन्थों में कथित तथ्य खगोलीय पिण्डों की गतिशीलता को प्रमाणित करते हैं, जैसे शतपथ ब्राह्मण में स्पष्टत: वर्णित है कि जब सूर्य उत्तर की ओर होता है तो वह देवों की रक्षा करता है और जब वह दक्षिण की ओर होता है तो वह पितरों की रक्षा करता है।[६] इसी प्रकार चन्द्रमा को पन्द्रह दिन में

---

१. म.नं०१, रोड २२, पंजाबी बाग एक्सटेंशन, नई दिल्ली ११००२६ मो० ०९९९०४३३३४०

२ वाजसनेयी-संहिता १८.४० (व्या.- रामकृष्ण शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९९२); तैत्तिरीय-संहिता ३.४.७.१ (वैदिक-संशोधन मण्डल, पूना, प्रथमखण्डस्य प्रथमो भाग:, १९७०); मैत्रायणी-संहिता २.१२.२ (श्रीपाददामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी नगर, गुजरात, १९८३); काठक-संहिता १८.१४ (श्रीपाददामोदर सातवलेकर, गुजरात, १९८३); कपिष्ठल-कठ-संहिता २९.३ (मेहरचन्द्र लक्ष्मनदास, दिल्ली, १९६८)

३ यानि नक्षत्राणि दिव्यन्तरिक्षे......चन्द्रमा यान्येति सर्वाणि ममैतानि शिवानि सन्तु। अथर्ववेद-संहिता १९.८.१ (विश्वेश्वरानन्द-वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर); सूर्याय स्वाहेति। सूर्यो वै सर्वेषां देवानामात्मा तत्सर्वा। श. ब्रा. १४.३.२.९ (शतपथ ब्राह्मण, सं.- स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती, विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली, तीन भाग, २००३)

४ प्रज्ञानाय नक्षत्रदर्शम्। तै. ब्रा. ३.४.४.१ (तैत्तिरीय ब्राह्मण, सं.- पुष्पेन्द्र कुमार, नाग प्रकाशक, दिल्ली, तीन भाग, २००३)

५ वीणावादं गणकं गीताय। तै. ब्रा. ३.४.१५

६ स यत्रोदगावर्तते। देवेषु तर्हि भवति देवांस्तर्ह्यभिगोपायत्यथ यत्र दक्षिणावर्तते पितृषु...। श. ब्रा. २.१.३.३

घटने वाला और पन्द्रह दिन में बढ़ने वाला कहा गया है।[७] ये उद्धरण सूर्य एवं चन्द्रमा की गमनशीलता के संकेतक हैं, क्योंकि वास्तव में उत्तरायण और दक्षिणायन तथा अमावस्या और पूर्णमासी क्रमशः सूर्य एवं चन्द्रमा के गति-चक्रों के फल रूप में उत्पन्न होते हैं। इन ब्राह्मणों में सूर्य और चन्द्रमा के साथ-साथ अन्य खगोल-पिण्डों पर भी विस्तृत चर्चा है। प्रस्तुत शोध-पत्र में इन सब पिण्डों की स्थिति, गति आदि खगोलपरक तथ्यों पर विचार किया गया है।

लोक

खगोल-शास्त्र की दृष्टि से दोनों ब्राह्मणों ने द्युलोक, अन्तरिक्षलोक और पृथिवीलोक नामक तीन[८] लोक स्वीकार किये हैं, क्योंकि कहा गया है कि इन तीनों लोकों के आगे कोई चौथा लोक है या नहीं, यह अनिश्चित है[९]। मान्यता है कि ये तीनों लोक एक साथ बनाये गये हैं।[१०] इन लोकों की स्थिति के विषय में मत है कि ये लोक गोल-गोल हैं[११] और जो कुछ भी इनके भीतर है, वह सब गतिशील है।[१२] ये खड़े हुए से प्रतीत होते हुए[१३] भी आगे-पीछे चलते हैं[१४]। शतपथ ब्राह्मण में द्युलोक और पृथिवी के मध्य अन्तरिक्ष की स्थिति कही गयी है।[१५] यहाँ चर्चा है कि द्युलोक और पृथिवी को अन्तरिक्ष थामे हुए है।[१६] पृथिवी को 'यह लोक' से सम्बोधित कर अस्थिर और चलायमान कहा है।[१७] इस प्रकार यजुर्वेदीय ब्राह्मणों में इन तीन लोकों के नाम, उनके स्वरूप एवं गति की कल्पना ऋषि के खगोलीय चिन्तन के ज्ञापक हैं।

सूर्य

यजुर्वेदीय ब्राह्मणों में 'आदित्य' और 'सूर्य' दोनों ही शब्द समान रूप से मिलते हैं[१८] इसीलिए शतपथ में आदित्य और सूर्य एक ही माने गये हैं।[१९] यहाँ सूर्य को स्वयं उत्पन्न होने वाला कहा है।[२०] द्यौ को सूर्य का उत्पादन-कर्त्ता मानते हुए वर्णित है कि पहले प्रजापति अकेला था, उसने सन्तान की इच्छा से श्रम एवं तप द्वारा पृथिवी आदि तीन लोकों को उत्पन्न कर उन्हें तपाया। उन तपे हुए लोकों में से तीन ज्योतियाँ निकली, इस प्रकार द्युलोक से निकली

---

७ ...स च पञ्चदशाहान्यापूर्यते पञ्चदशापक्षीयते...। श. ब्रा. ८.४.१.१०, १०.४.२.१७; तै. ब्रा. १.५.१०.५

८ श. ब्रा. ११.५.८.१, १३.१.७.२; तै. ब्रा. ३.८.१६.१

९ श. ब्रा. १.२.१.१२

१० ...सह हीमे लोका असृज्यन्त...। श. ब्रा. १०.१.२.२

११ श. ब्रा. ७.१.१.३७, ६.७.१.२६

१२ श. ब्रा. ७.४.१.२५-२७

१३ ...तिष्ठन्तीव वाऽइमे लोका अथो तिष्ठन्वै वीर्यवत्तरः। श. ब्रा. ७.४.१.३१

१४ ...तस्मादिमे लोका अर्वाञ्चश्च पराञ्चश्च। श. ब्रा. ८.५.२.९

१५ श. ब्रा. ३.८.३.३१, ७.५.१.२६

१६ ...नूपेणान्तरिक्षेण हीमे द्यावापृथिवी विष्टब्धे...। श. ब्रा. १.२.१.१६

१७ ...एष लोकोऽध्रुव इवाप्रतिष्ठित...। श. ब्रा. ८.२.१.४, ११.८.१.१

१८ आदित्यान्विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिं स्वाहा। श. ब्रा. ५.२.२.८; सूर्य इति त्रीणि। आदित्य इति त्रीणि। तै. ब्रा. ३.१०.१.१३

१९ असौ वाऽआदित्यः सूर्यो। श. ब्रा. ९.४.२.२३

२० श. ब्रा. १.९.३.१६, ४.१.१.२३

ज्योति ही सूर्य बनी।[२१] एक अन्य मत में कहा है कि प्रजापति जब वायुरूप से अन्तरिक्ष से संयुक्त हुआ तब आदित्य बना।[२२] यद्यपि सौरमण्डल का कोई उल्लेख यजुर्वेदीय ब्राह्मणों में नहीं है, तथापि शतपथ ब्राह्मण में 'आदित्य-मण्डल' शब्द मिलता है।[२३] सौरमण्डल में सूर्य की स्थिति का संकेत देते हुए तैत्तिरीय ब्राह्मण में समस्त जगत को सूर्य से घेरा हुआ बताया गया है।[२४] दूसरी ओर शतपथ का मत है कि आदित्य के नीचे वायु बहता है।[२५] अतः वायुमण्डल से ऊपर आदित्य की स्थिति स्वीकार की गई है। कुछ वाक्यों में सूर्य को भुजाओं से ऊपर पूर्व में उठा हुआ कहा है।[२६] उल्लेखनीय है कि दोनों ब्राह्मणों ने द्युलोक में सूर्य की स्थिति स्वीकार की है।[२७] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार आदित्य को द्युलोक की चौड़ाई के सिवाय कोई धारण नहीं कर सकता।[२८] सूर्य के द्युलोक में ऊपर चढ़ने का कारण शतपथ ने चन्द्रमा को माना है। उसके अनुसार आदित्य चन्द्रमा रूपी अन्न को खा-खा कर ऊपर चढ़ता है।[२९] जहाँ शतपथ ने सूर्य का अग्रभाग द्युलोक में, मध्य अन्तरिक्षलोक में और पैर पृथिवीलोक में माने हैं,[३०] वहीं तैत्तिरीय ब्राह्मण का मत है कि आदित्य द्युलोक में उन्नत स्थान पर रहता है और पृथिवी तथा अन्तरिक्ष के मध्य ठहरता है।[३१] शतपथ में अन्तरिक्ष को सूर्य का घर मानकर कल्पना की गई है कि सूर्य द्युलोक में तपकर अन्तरिक्ष रूपी आयतन को लौटता है, क्योंकि वह आधी दूरी पर है।[३२] एगलिङ्ग ने यहाँ वर्णित 'आधी दूरी' से अभिप्राय सूर्य और पृथिवी के अन्तर से लिया है।[३३] तैत्तिरीय ब्राह्मण ने सूर्य की स्थिति को परम-व्योम में भी बताया है।[३४]

सूर्य को दिशाओं में चमकने[३५] वाला तथा चलने[३६] वाला बताकर दिशाओं को आदित्य का माप[३७] माना गया है। जहाँ शतपथ ब्राह्मण ने आदित्य को स्थिर[३८] नहीं माना, वहीं तैत्तिरीय ब्राह्मण ने भी आदित्य को गतिशील[३९] कहा

---

२१ स इमांस्त्रींलोकानभिततापः...पवते सूर्य। श. ब्रा. ११.५.८.२. श. ब्रा. ६.७.२.२
२२ श. ब्रा. ६.१.२.३
२३ तस्यैते प्रतिष्ठे। रुक्मश्च पुष्करपर्णं चापश्चादित्यमण्डलं च...। श. ब्रा. १०.५.४.१५
२४ समाववर्ति पृथिवी। समुषाः। समु सूर्यः। समु विश्वमिदं जगत्। तै. ब्रा. २.६.६.५
२५ ...तदादित्याद्वायुं दधाति तस्मादेषोऽर्वाचीनमेवातः पवते। श. ब्रा. ९.४.२.४
२६ श. ब्रा. ६.७.२.९, ६.७.३.१०, ७.५.१.३६
२७ तै. ब्रा. १.३.२.७, ३.३.११.३, ३.११.१.१०-११; श. ब्रा. ६.२.३.६, ११.२.३.१
२८ ...असौ वाऽआदित्य एषोऽग्निर्नो हैतमन्यो दिवो वरिमा यन्तुमर्हति द्यौर्भूत्वैनं यच्छेत्येवैतदाह। श. ब्रा. ६.४.१.८
२९ श. ब्रा. १०.४.१.२१-२२
३० श. ब्रा. ३.७.१.१४
३१ सोमापूषणा रजसो विमानम्...दिव्यन्यः सदनं चक्र उच्चा। पृथिव्यामन्यो अध्यन्तरिक्षे। तै. ब्रा. २.८.१.५
३२ ...तदन्तरिक्षे दधाति तस्मादेषोऽन्तरिक्षायतनो व्यध्वे व्यध्वे ह्येष इतः। श. ब्रा. ९.२.३.१५
३३ एगलिङ्ग, द शतपथ ब्राह्मण, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६३, भाग-४, पृ. १९६
३४ सूर्यं गच्छतात्परमे व्योमन्। तै. ब्रा. ३.७.१३.४
३५ श. ब्रा. ९.५.१.३७
३६ श. ब्रा. ६.७.२.१६
३७ श. ब्रा. ७.४.१.१४
३८ श. ब्रा. ८.७.२.६, ९.२.३.१९
३९ आदित्यानेवैनं गमयति। तै. ब्रा. ३.८.९.३

है। यजुर्वेदीय ब्राह्मण ग्रन्थों ने सूर्य को अकेला चलने वाला बताया है।[४०] सूर्य का अकेले चलने का अर्थ रामेश्वर दयाल गुप्त ने 'सूर्य को किसी दूसरे के चारों ओर नहीं घूमने वाला' लिया है।[४१] सूर्य की दैनिक गति के के विषय में दोनों ब्राह्मणों में सूर्य को बाईं ओर से दाईं ओर घूमने वाला माना है।[४२] शतपथ ने आदित्य की गति को 'पश्चात्'[४३] एवं 'दक्षिणावत्'[४४] शब्दों से व्यक्त किया है। शतपथ ब्राह्मण ने आदित्य को शक्तिशाली[४५], विशाल[४६] तथा गोल, स्वर्णिम एवं बाहर की ओर निकली हुई एवं नीचे की ओर चमकने वाली इक्कीस किरणों से युक्त कहा है[४७]। जहाँ शतपथ ब्राह्मण ने सूर्य को १००[४८] अथवा ३६०[४९] प्रकार की किरणों से युक्त बताया, वहीं तैत्तिरीय ब्राह्मण में आदित्य-मण्डल की रश्मियों को द्युलोक में सर्प के समान संचरण करने वाला माना गया है[५०]। शतपथ ब्राह्मण में आदित्य को रश्मियों के कारण चमकदार पत्थर कहा है।[५१] उसके अनुसार सूर्य ने अग्नि का प्राण ले लिया, इसीलिए सूर्य में आग है और वह तपता है।[५२] ऐसा माना जाता है कि सूर्य के गमन के कारण ही काल की गतिशीलता ज्ञात होती है इसीलिए यह आदित्य संवत्सर का प्रतिनिधि रूप है।[५३] अतः आदित्य को रात और दिन की सन्धि कराने वाला कहा गया है।[५४]

चन्द्रमा

चन्द्रमा को द्युलोक में सबसे यशस्वी कहा है।[५५] यहाँ सूर्य को चन्द्रमा की उत्पत्ति का कारण मानकर उसे अर्थात् सूर्य को चन्द्रमा की प्रतिष्ठा बताया गया है।[५६] प्रस्तुत ब्राह्मणों ने यद्यपि नक्षत्रों के साथ ही चन्द्रमा की स्थिति कही है[५७] तथापि शतपथ ब्राह्मण के एक प्रसङ्ग में चन्द्रमा को तारों के साथ रहने वाला भी कहा है[५८]। इस प्रकार यजुर्वेदीय ऋषि नक्षत्र और अन्य तारों के भेद से परिचित प्रतीत होते हैं। चन्द्रमा की गति की ओर ध्यान आकर्षित करते

---

४० सूर्य एकाकी चरति। श. ब्रा. १३.५.२.१२ असौ वा आदित्य एकाकी चरति। श. ब्रा. १३.२.६.११; तै. ब्रा. ३.९.५.४

४१ रामेश्वर दयाल गुप्त. वैदिक वाङ्मय में विज्ञान, महर्षि सान्दीपनि राष्ट्रीय वेद विद्या प्रतिष्ठान, भरतपुरी, उज्जैन, १९९७, पृ. ६५

४२ तै. ब्रा. २.१.४.८; श. ब्रा. १.९.३.१७, १.९.३.२०, ३.२.१.१३, १३.८.१.१९

४३ श. ब्रा. ८.१.२.१, ८.६.१.१८

४४ ...तद्दक्षिणावृत्तद्धि देवत्रा। श. ब्रा. ७.२.२.१२, ७.२.२.१४

४५ श. ब्रा. ८.७.२.७

४६ श. ब्रा. ६.७.२.२

४७ श. ब्रा. ६.७.१.२, ७.४.१.१०

४८ ...य एष तपति तस्य रश्मयः शतं विधा मण्डलमेवैकशततमी विधा। श. ब्रा. १०.२.६.२

४९ ...षष्टिश्च ह वै त्रीणि च शतान्यादित्यस्य रश्मय...। श. ब्रा. १०.५.४.४

५० ये रोचने सूर्यस्यापि सर्पा। ये दिवं देवीमनुचरन्ति। तै. ब्रा. ३.१.१.६

५१ अथाश्मानं पृश्निमुपदधाति। असौ वाऽआदित्योऽश्मा...इमौ लोकावन्तरेण तपति। श. ब्रा. ९.२.३.१४

५२ श. ब्रा. ११.८.३.७

५३ संवत्सरस्य प्रतिमाणमेतत्। तै. ब्रा. २.५.८.१२

५४ संहित इति। असौ वाऽआदित्यः संहित एष ह्यहोरात्रे सदधाति...। श. ब्रा. ९.४.१.८

५५ ...चन्द्रमा वाऽअस्य दिवि श्रव उत्तमम्...। श. ब्रा. ७.३.१.४६

५६ तस्यैषा प्रतिष्ठा। य एष...तन्निरमिमीतात्मनः प्राजनयत्। श. ब्रा. १०.४.२.२८; आदित्योऽसि दिवि श्रितः। चन्द्रमसः प्रतिष्ठा...चन्द्रमा अस्यादित्ये श्रितः। तै. ब्रा. ३.११.१.११-१२

५७ श. ब्रा. १०.५.४.१७, १४.६.६.१; तै. ब्रा. २.३.३.२, २.७.८.२, ३.११.१.१३

५८ यश्चन्द्रतारके तिष्ठन्। चन्द्रतारकादन्तरो यं चन्द्रतारकं न वेद...। श. ब्रा. १४.६.७.१३

हुए तैत्तिरीय ब्राह्मण का मत है कि चन्द्रमा रूपी बालक अपनी शक्ति से (अन्तरिक्ष में) पूर्व-पश्चिम क्रीड़ा करता है[५९] एवमेव यह निरन्तर गतिशील रथ पर आरुढ़ होकर इस विश्व में आता है और पृथिवी और अन्तरिक्ष के मध्य ठहरता है।[६०] शतपथ ने भी गौण रूप से चन्द्रमा को पूर्व से पश्चिम गति करने वाला कहा है- जब चन्द्रमा आगे की ओर चलता है अर्थात् पूर्व की ओर तो वह छिप जाता है, परन्तु जब चन्द्रमा पीछे को लौटता है अर्थात् पश्चिम की ओर, तब सब उसे देख पाते हैं।[६१] वास्तव में इस वाक्य में चन्द्रमा की दैनिक गति का वर्णन है। चन्द्रमा प्रत्येक रात्रि पूर्व-दिशा से उदित होकर दक्षिण-दिशा की ओर चलता हुआ रात्रि के अन्त में पश्चिम-दिशा में अस्त होता हुआ प्रतीत होता है। सूर्य के उदित हो जाने के पश्चात् चूंकि पृथिवी प्रकाश से आवृत हो जाती है, फलस्वरूप चन्द्रमा के पश्चिम से आगे की चाल को हम देख नहीं पाते इसीलिए पूर्वगामी चन्द्रमा छिपा हुआ और पश्चिमगामी चन्द्रमा दृश्य होता है।

शतपथ एवं तैत्तिरीय ब्राह्मणों में चन्द्रमा को पुनः उत्पन्न होने वाला कहा है।[६२] चन्द्रमा के पन्द्रह दिन घटने-बढ़ने के कारण उसके लिए 'पञ्चदश'[६३] शब्द का प्रयोग किया गया है। चन्द्रमा की चाँदनी के कारण का उल्लेख भी वैदिक ऋषि ने शतपथ ब्राह्मण में किया है। कथित है कि सूर्य के छिपने पर चन्द्रमा की ज्योति होती है[६४] इसीलिए शतपथ में चन्द्रमा को 'गन्धर्व' कहा है।[६५] यद्यपि चन्द्रमा की चमक का कारण आदित्य है[६६] तथापि वह सूर्य से कम चमकता है[६७]। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार चन्द्रमण्डल (चन्द्रमसो गृहे) में सूर्य की किरणें जाती हैं, जिससे चन्द्रमा की रश्मियाँ अग्नि के समान प्रज्वलित होती है।[६८] इसके अतिरिक्त दोनों ब्राह्मणों में चन्द्रमा की कलाओं के आधार पर रात्रियों के नाम भी प्राप्त होते हैं- अनुमति, राका, सिनीवाली, कुहू।[६९] चन्द्रमा में दिखाई देने वाले काले धब्बों को देवताओं द्वारा चयन किये गए पृथिवी का यज्ञ-स्थान मानकर शतपथ ब्राह्मण के ऋषि ने वास्तव में चन्द्र-प्रेक्षण का निर्देश किया है।[७०] अतः चन्द्रमा की स्थिति, चमक, गति, काले धब्बे तत्कालीन ऋषि के चिन्तन के विषय रहे।

नक्षत्र

यजुर्वेदीय ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार ये नक्षत्र द्युलोक के नीचे इसके (द्यौस्) चिह्न के रूप में विद्यमान हैं[७१]

---

५९ पूर्वापरं चरतो माययैतौ...ऋतूंरन्यो विदधज्जायसे पुनः। तै. ब्रा. २.७.१२.२, २.८.९.३
६० सोमापूषणा रजसो विमानम्...पृथिव्यामन्यो अध्यन्तरिक्षे। तै. ब्रा. २.८.१.५
६१ ...सूर्याचन्द्रमसौ प्राञ्चौ यन्तौ न कश्चन पश्यति...सूर्याचन्द्रमसौ प्रत्यञ्चौ यन्तौ सर्व एव पश्यति...। श. ब्रा. ४.२.१.१८
६२ चन्द्रमाः पुनरसु। तै. ब्रा. २.५.७.३, चन्द्रमा वै जायते पुनः। तै. ब्रा. ३.९.५.४; श. ब्रा. १३.२.६.११
६३ चन्द्रमा वै पञ्चदशः। तै. ब्रा. १.५.१०.५; श. ब्रा. ८.४.१.१०
६४ अस्तमितऽआदित्ये याज्ञवल्क्यः। किंज्योतिरेवायं पुरुष इति चन्द्रज्योतिः...। श. ब्रा. १४.७.१.३
६५ ...चन्द्रमा ह गन्धर्वो...। श. ब्रा. ९.४.१.९
६६ प्राणेन वाऽअग्निर्दीप्यते। अग्निना वायुर्वायुनादित्य आदित्येन चन्द्रमा...। श. ब्रा. १०.६.२.११
६७ भामेव चन्द्रमस आदत्त। तस्मादेतयो सदृशयो सतोर्नतरां चन्द्रमा भात्यात्ता ह्यस्य...। श. ब्रा. ११.८.३.११
६८ अत्राह गोरमन्वत। नाम त्वष्टुरपीच्यम्। इत्था चन्द्रमसो गृहे। तै. ब्रा. १.५.८.१
६९ ...अनुमत्यै चरु राकायै चरुः सिनीवाल्यै चरुः कुह्वै चरु...। श. ब्रा. ९.५.१.३८; अन्वेवास्मा अनुमतिर्मन्यते। राते राका। प्रसिनीवाली जनयति। प्रजास्वेव प्रजावासु कुह्वा...। तै. ब्रा. १.७.२.१
७० ...तदेतद्यन्द्रमसि कृष्णं तस्मादाहुश्चन्द्रमस्यस्यै पृथिव्यै देवयजनमित्यपि...। श. ब्रा. १.२.५.१८
७१ ...तस्या अमुष्या अवस्तालक्ष्म चन्द्रमा नक्षत्राणि सूर्य। श. ब्रा. १.७.२.१८; नक्षत्रापि वै रोचना दिवि। तै. ब्रा. ३.९.४.२

तथा ये द्युलोक में विविध प्रकार के उपकारकों के समान दृष्टिगत होते हैं।[७२] शतपथ ब्राह्मण में नक्षत्रों को 'दिवलोक में रहने वाले पुण्डरीक' कहा गया है।[७३] माना गया है कि प्रजापति के द्वारा किये गये तप से ऊपर की ओर उठी हुई ज्योतियों ने ही नक्षत्रों का रूप धारण किया।[७४] इन ब्राह्मणों में द्युलोक में नक्षत्रों के प्रकाश का[७५] तथा चन्द्रमा से नक्षत्रों की चमक का कथन है।[७६] यहाँ चन्द्रमा को अंगारा और नक्षत्रों को चिंगारियाँ कहा है।[७७] तैत्तिरीय ब्राह्मण में चन्द्रमा[७८] के साथ-साथ सूर्य[७९] से भी नक्षत्रों की प्रतिष्ठा मानी गई है।

नक्षत्रों की संख्या की दृष्टि से तैत्तिरीय ब्राह्मण[८०] में क्रमानुसार सभी २८ नक्षत्र पढ़े गए हैं- कृत्तिका, रोहिणी, मृगशीर्ष या इन्वका, बाहू या आर्द्रा, पुनर्वसू, तिष्य, आश्लेषा, मघा, पूर्वे फाल्गुनी या फल्गुनी, उत्तरे या फल्गुनी, हस्त, चित्रा, निष्ट्या, विशाखे, अनुराधा, रोहिणी या ज्येष्ठा, मूलबर्हणी या मूल, पूर्वा अषाढा या अषाढा, उत्तरा या अषाढा, अभिजित्, श्रोणा, श्रविष्ठा, शतभिषक्, पूर्वे प्रोष्ठपदा या प्रोष्ठपदा, उत्तरे या प्रोष्ठपदा, रेवती, अश्वयुजौ, अपभरणी या भरणी। शतपथ ब्राह्मण[८१] में यद्यपि २७ नक्षत्रों तथा प्रति नक्षत्र के २७ उपनक्षत्रों की चर्चा की गई है, परन्तु यहाँ केवल कुछ के ही नाम[८२] प्राप्त होते है- कृत्तिका, रोहिणी, मृगशीर्ष, पुनर्वसु, पूर्वाफाल्गुनी, उत्तराफाल्गुनी, हस्त, चित्रा। तैत्तिरीय ब्राह्मण में नक्षत्रों को उनकी गति के आधार पर देवनक्षत्र एवं यमनक्षत्र कहकर सम्बोधित किया गया है। यहाँ बताया गया है कि कृत्तिका से विशाखा पर्यन्त देवनक्षत्र हैं और अनुराधा से अपभरणी पर्यन्त यमनक्षत्र हैं। ये देवनक्षत्र देवलोक के समीप दक्षिण-दिशा में और ये यमनक्षत्र यमलोक के समीप उत्तर-दिशा में घूमते हैं।[८३] इस प्रकार इन ब्राह्मणों में नक्षत्रों की स्थिति, चमक, संख्या, नाम, क्रम तथा गति का विशद वर्णन किया गया है।

विषुवत्-दिन

शतपथ ब्राह्मण के ऋषि जानते थे कि संवत्सर अर्थात् वर्ष में दो दिन (दो बार) जब सूर्य विषुवत्-वृत् अथवा भूमध्यरेखा पर होता है, तब पृथ्वी पर दिन और रात्रि समान अवधि के होते हैं। इसी कारण शतपथ में विषुवत्-दिन को किये जाने वाले यज्ञ को 'मूर्धा' कहा गया।[८४] संवत्सर-सत्र के वर्णन में संवत्सर की कल्पना समुद्र में और

---

७२ यथा द्युलोके नक्षत्राणि विविधान्युपकारकाणि च दृश्यन्ते....। तै. ब्रा. सा. भा. (तैत्तिरीय ब्राह्मण सायण भाष्य), पृ. २२८

७३ यानि पुण्डरीकाणि तानि दिवो नूं तानि नक्षत्राणां नूपम्....। श. ब्रा. ५.४.५.१४

७४ ..एभ्यो लोमगर्तेभ्य ऊर्ध्वानि ज्योतिष्यायंस्तद्यानि तानि ज्योतिष्येतानि तानि नक्षत्राणि...। श. ब्रा. १०.४.४.२

७५ द्यौर्न्यवर्तयत। सा नक्षत्रैरपुष्यत्। चन्द्रमा न्यवर्तयत। तै. ब्रा. २.३.३.२

७६ चन्द्रमसा नक्षत्राणि। श. ब्रा. १०.६.२.११

७७ चन्द्रमा अङ्गारा नक्षत्राणि विषुलिङ्गा। श. ब्रा. १४.९.१.१२

७८ चन्द्रमा अस्यादित्ये श्रितः। नक्षत्राणां प्रतिष्ठा। तै. ब्रा. ३.११.१.१२

७९ सूर्यो वा अकामयत। नक्षत्राणां प्रतिष्ठा स्यामिति।...प्रतिष्ठा ह वै समानानां भवति। तै. ब्रा. ३.१.६.५

८० अग्ने कृत्तिका। शुं परस्ताज्ज्योतिरवस्तात्। प्रजापते रोहिणी...। तै. ब्रा. १.५.१, अग्निर्नः पातु कृत्तिकाः। नक्षत्रं देवमिन्द्रियम्....। तै. ब्रा. ३.१.१-३.१.५

८१ तानि वाऽएतानि सप्तविंशतिर्नक्षत्राणि सप्तविंशतिः सप्तविंशतिर्होपनक्षत्राण्यैकैकं...। श. ब्रा. १०.५.४.५, गन्धर्वा सप्तविंशतिः। श. ब्रा. ५.१.४.८

८२ श. ब्रा. २.१.२

८३ कृत्तिकाः प्रथमम्। विशाखे उत्तमम्...दक्षिणेन परियन्ति। यानि यमनक्षत्राणि तान्युत्तरेण। तै. ब्रा. १.५.२.७

८४ मूर्धा विपुवानिमऽएवोत्तरे। श. ब्रा. १२.१.४.२

विषुवत्-दिन की द्वीप-प्रतिष्ठा के रूप में की गई है।[८५] संवत्सर अर्थ में विषुवत्-दिन को संवत्सर का शरीर कहते हुए मास को वर्ष के अङ्ग कहा गया है। यहाँ विषुवत्-दिन की स्थिति संवत्सर के मध्य कही गई है। वर्णन है कि संवत्सर में बारह मास होते हैं। अत: विषुवत्-दिन बीते हुए मासों और आगे आने वाले मासों, दोनों का उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार न शरीर अङ्ग से बाहर है और न अङ्ग शरीर से।[८६] एक अन्य प्रसंग में पुन: विषुवत्-दिन का सम्बोधन संवत्सर रूपी चील के शरीर के रूप में करके संवत्सर के छह मास उसका एक पंख और दूसरे छह मास उसका दूसरा पंख माने गये हैं।[८७]

शतपथ के समान तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी विषुवत्-दिन का कथन है। वर्णित है कि जिस प्रकार शाला के दो पक्ष होते हैं, उसी प्रकार संवत्सर के भी दो पक्ष होते हैं और विषुवान् को उसका मध्य भाग जानना चाहिए।[८८] इस प्रकार भूगोल में विषुवत्-रेखा की स्थिति के समान ही यज्ञ में विषुवत्-दिन की स्थिति जाननी चाहिए।[८९] सायणाचार्य ने भी विषुवत्-दिन को संवत्सर के मध्य मानकर बारह मासों को संवत्सर के दो पंख माना है।[९०] अत: जहाँ शतपथ ब्राह्मण[९१] में कई स्थलों पर विषुवत् का उल्लेख यज्ञ के रूप में दिखाई देता है, वहीं तैत्तिरीय ब्राह्मण[९२] के दो अनुवाक पूर्णत: विषुवत्-दिन को किये जाने वाले कृत्यों का ही प्रतिपादन करते हैं।

वस्तुत: विषुवत्-दिन के सन्दर्भ में सूर्य मुख्य भूमिका रखता है। अत: शतपथ ब्राह्मण के कुछ प्रसंगों में विषुवत् और आदित्य का सम्बन्ध प्रतिपादित है। उल्लिखित है कि देवताओं ने विषुवत् को आदित्य से बनाया है[९३] इसीलिए विषुवत्-दिवस के दिन आदित्य देवता के लिए यज्ञ[९४] एवं पशु का आलभन[९५] करना चाहिए। तिलक[९६] महोदय एवं ब. ल. उपाध्याय[९७] के अनुसार ब्राह्मण-ग्रन्थों में 'विषुवत्' शब्द यज्ञ-काल के मध्य दिवस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जो कालक्रम से सम्पातिक दिन अर्थात् जब रात्रि और दिन की अवधि बराबर हो, के अर्थ में ग्रहण किया जाने लगा।

पथ्य-स्वस्ति

शतपथ ब्राह्मण के तृतीय काण्ड में पथ्य-स्वस्ति का उल्लेख है। यहाँ वर्णित है कि देवताओं ने पृथिवी पर यज्ञ रचते समय पृथिवी को ही यज्ञ से बाहर कर दिया तत्पश्चात् पृथिवी के कहने पर देवताओं ने यज्ञ में पृथिवी के लिए

---

८५ समुद्रं वाऽएते प्रतरन्ति। ये संवत्सराय दीक्षन्ते...द्वीप: प्रतिष्ठा विषुवान्कुल्फदध्न...। श. ब्रा. १२.२.१.१-३
८६ ...ब्रूयादात्मा वै संवत्सरस्य विषुवानङ्गानि मासा यत्र वाऽआत्मा तदङ्गानि...। श. ब्रा. १२.२.३.६
८७ ...महासुपर्णा एव यत्संवत्सर:। तस्य यान्पुरस्ताद्विषुवत: षण्मासानुपयन्ति...। श. ब्रा. १२.२.३.७
८८ यत्पर: सामान:। विषूवान्दिवाकीर्त्यम्। यथा शालायै पक्षसी। एवं संवत्सरस्य पक्षसी। तै. ब्रा. १.२.३.१
८९ सरोज विद्यालंकार, ऐतरेय एवं तैत्तिरीय ब्राह्मणों के निर्वचन, नाग प्रकाशक, दिल्ली, १९८९, पृ. २३४
९० पूर्वोत्तरमासषट्कद्वयं पक्षद्वयस्थानीयम्। तत्र पूर्वोत्तरेषु...सुमध्यमे च विषुवति। तै. ब्रा. सा. भा., पृ. ८७
९१ श. ब्रा. १२.१.३.२३, १२.२.१.८, १२.२.३.४, १२.२.३.१०-११
९२ तै. ब्रा. १.२.३, १.२.४
९३ आदित्याद्विषुवन्तमुक्ता:। श. ब्रा. १२.१.२.२
९४ अथ यद्विषुवन्तमुपयन्ति। आदित्यमेव देवतां यजन्त...। श. ब्रा. १२.१.३.१४
९५ ...सौर्यं द्वितीयं पशुमालभते वैषुवतेऽहन्प्राजापत्यं महाव्रते। श. ब्रा. ४.६.३.३
९६ बाल गंगाधर तिलक, द ओरायन, पूना, १८९३, पृ. २१
९७ ब. ल. उपाध्याय, प्राचीन भारतीय गणित, विज्ञान भारती, नई दिल्ली, १९७८. पृ. २६०

प्रायणीय और उदयनीय आहुतियाँ दीं।[९८] उसके बाद देवताओं को पृथिवी पर पथ्य-स्वस्ति की प्राप्ति हुई।[९९] इस सन्दर्भ में पं. मोतीलाल शास्त्री का मत है कि मार्गीया स्थिति का नाम पथ्य-स्वस्ति है। सूर्य जिस मार्ग पर घूमा करता है, उसे 'क्रान्तिवृत्त' कहते हैं। इस वृत्त में ३६० अंश होते हैं और सूर्य प्रतिदिन एक अंश चलता है। प्रतिदिन सूर्य पूर्व में उदय होता है और पश्चिम में अस्त होता है। अत: पूर्व से पश्चिम में अस्त होने वाले सूर्य की जो गति का मार्ग है, वह पथ्य-स्वस्ति कहलाता है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि पृथिवी पर ३६० रेखाओं की कल्पना ही पथ्य-स्वस्ति है।[१००] सम्भवत: शतपथ ब्राह्मण के ऋषि द्वारा एक वर्ष में तीन सौ साठ दिनों की कल्पना का आधार पथ्य-स्वस्ति का ज्ञान ही हो।

सप्तर्षि-मण्डल

सात तारों के समूह को सप्तर्षि-मण्डल कहते हैं।[१०१] शतपथ ब्राह्मण में सप्तर्षि-मण्डल अर्थात् सात ऋषियों को ऋक्ष कहा गया है।[१०२] इस ब्राह्मण के चतुर्दश अध्याय में सात ऋषियों के नाम इस प्रकार पठित है- गोतम, भरद्वाज, विश्वामित्र, जमदग्नि, वसिष्ठ, कश्यप, अत्रि।[१०३] शतपथ में सप्तर्षि-मण्डल की स्थिति आकाश में उत्तर-दिशा की ओर कही गयी है।[१०४] वराहमिहिर ने बृहत्संहिता में शतपथ ब्राह्मण के समान सप्तर्षि-मण्डल की स्थिति उत्तर दिशा में ही स्वीकार की है।[१०५] जहाँ शतपथ में स्पष्टत: सप्तर्षि-मण्डल की स्थिति का कथन है, वहीं तैत्तिरीय ब्राह्मण में केवल एक वाक्य में 'सप्तर्षि' शब्द मिलता है। यहाँ सप्तर्षियों को प्रसन्न करने का उल्लेख है।[१०६]

ध्रुव-तारा

यजुर्वेदीय ब्राह्मणों में 'ध्रुव' शब्द प्राय: शाश्वत, दृढ़, स्थिर अथवा अचल अर्थों का द्योतक है।[१०७] ध्रुव-तारे का मुख्यत: उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में प्राप्त होता है। यहाँ ध्रुव-तारे का कथन ध्रुव-ग्रह नामक यज्ञपात्र के रूप में मिलता है। ध्रुव-ग्रह अर्थात् ध्रुव-तारे की परिभाषा देते हुए शतपथ में एक कथा का उल्लेख है। देव और असुर दोनों प्रजापति की सन्तानें थीं। जब देवता यज्ञ करने लगे तो उन्हें असुरों से भय हुआ। तत्पश्चात् असुरों ने दक्षिण-दिशा में आक्रमण कर दक्षिण हविर्धान को उलट दिया, परन्तु उत्तर-दिशा में विद्यमान उत्तरी हविर्धान को न गिरा सके। ऐसे समय में उत्तरी हविर्धान ने दक्षिण हविर्धान को ठीक रखा। इस प्रकार उत्तरी हविर्धान को न हिला सकने के कारण

---

९८ श. ब्रा. ३.२.३.१-७

९९ अथैभ्य: पथ्या स्वस्ति: प्रारोचत। श. ब्रा. ३.२.३.८

१०० मोतीलाल शास्त्री, शुक्लयजुर्वेदीय-माध्यन्दिन शतपथब्राह्मण विज्ञानभाष्य, 'अध्वरनाम' तृतीयकाण्डान्तर्गत प्रथम खण्ड, राजस्थान पत्रिका प्रकाशन, जयपुर, पृ. ३०७ एवं ३१५

१०१ श. ब्रा. ९.३.१.२१

१०२ ...सप्तऽर्षीनु ह स्म वै पुरऽर्क्षा इत्याचक्षते...। श. ब्रा. २.१.२.४

१०३ इमावेव गोतमभरद्वाजौ। अयमेव गोतमोऽयं भरद्वाज इमावेव विश्वमित्रजमदग्नीऽयमेव.....। श. ब्रा. १४.५.२.६

१०४ ...ऽर्क्षाणां ह वाऽएता अग्रे पत्न्य आसु...। श. ब्रा. २.१.२.४

१०५ सैकावलीव राजति...च दिग्यै कौबेरी सप्तभिर्मुनिभि:॥ बृहद् संहिता १३.१ (सं.- अच्युतानन्द झा शर्मणा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, २००३)

१०६ सप्तर्षीनेव प्रीणाति। तै. ब्रा. २.१.४.८

१०७ श. ब्रा. ४.२.४.८, ४.२.४.१९; तै. ब्रा. ३.२.७.२, ३.३.६.११, ३.३.९.५, ३.३.११.२, ३.१०.४.३ इत्यादि

उसका नाम ध्रुव हुआ।[१०८] शतपथ ब्राह्मण में ध्रुव-तारे की स्थिति सबसे अलग एवमेव अजर-अमर कही है।[१०९]

उल्का

'उल्का' शब्द का अर्थ है आकाश में रहने वाला दाहक तत्त्व।[११०] शतपथ ब्राह्मण में न केवल 'उल्का' अपितु 'उल्कापात' तथा 'उल्कुषी' शब्द भी मिलते हैं। मैकडॉनल एवं कीथ ने शतपथ ब्राह्मण में वर्णित इन शब्दों को 'अधजली लकड़ी' का बोधक माना है।[१११] शतपथ में नख वाली उल्का से पशुओं को हाँक जाने की बात कही गई है।[११२] एक अन्य वाक्य में कथित है कि यदि यजमान सूर्यास्त से पूर्व वसतीवरी जलों को ग्रहण नहीं कर सके, तब उस यजमान को एक जलती लकड़ी अर्थात् उल्का लेकर उन जलों को दिखाकर, उसे शुद्ध करके ग्रहण करना चाहिए। प्रस्तुत वाक्य में उल्का को सूर्य के समान बताया गया है। शतपथ के अनुसार जिस प्रकार उदित सूर्य के समय अर्थात् दिन में जल शुद्ध रहता है, उसी प्रकार उल्का (एक जलती लकड़ी) दिखा देने से जल हवि-युक्त हो जाता है।[११३] शतपथ के एकादश अध्याय में उल्का से शत्रु के शरीर को झुलसा देने की प्रार्थना प्राप्त होती है।[११४] इस प्रकार यहाँ उल्का की दहकता को सूर्य के समान दिखाया गया है। शतपथ के इस मत के समर्थन में पाश्चात्य विद्वान् अ. वोल्कोव का मन्तव्य है कि उल्का आकाश में छोटे-छोटे तारे नहीं, बल्कि अग्नि के तेज गति से उड़ते हुए गोले के समान हैं। यह गोला सूर्य से भी अधिक तेज चमकता है और पृथ्वी के वायुमण्डल में आते ही, वायु से रगड़ खाकर पल भर में तप उठता है।[११५]

ग्रहण

यजुर्वेदीय ब्राह्मण ग्रन्थ जहाँ सूर्य-चन्द्र-वर्णन से परिपूर्ण हैं, तो वहाँ ऋषियों द्वारा ग्रहण-विश्लेषण का होना भी स्वभाविक है। शतपथ ब्राह्मण में केवल दो स्थलों पर सूर्य-ग्रहण का उल्लेख प्राप्त है। वर्णित है कि एक दिन स्वर्भानु नामक असुर ने सूर्य को अन्धकार में छिपा लिया। अन्धकार से आवृत सूर्य चमकने में असमर्थ रहा। तत्पश्चात् सोम और रुद्र ने इस अन्धकार को हटा दिया और सूर्य को पाप से बचा लिया। इस प्रकार सूर्य अन्धकाररूपी पाप से मुक्त हो श्री और यश से युक्त होकर ज्योति बन जाता है।[११६] यह वाक्य निश्चित ही सूर्य-ग्रहण का संकेतक है। यहाँ न केवल सूर्य के ग्रसित होने का वर्णन है, अपितु सूर्य के ग्रहण से मुक्त होकर पुनः प्रकाशवान् होने का भी उल्लेख है। शतपथ के समान तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी सूर्य-ग्रहण का कथन है। यहाँ उल्लिखित है कि सूर्य रूपी अमृत अन्धकार से ग्रसित हो जाता है।[११७] सायणाचार्य ने इस अन्धकार का कारण स्वर्भानु नामक असुर बताया है।[११८] ग्रहण के सन्दर्भ में

---

१०८ ...तदुत्तरमेव हविर्धानं दक्षिणं हविर्धानमदृंहत्तद्यदेतं न शेकुरुद्धन्तुम्...। श. ब्रा. ४.२.४.१९

१०९ ...गृह्णात्यजरा हीयममृताजरं ह्यमृतमायुस्तस्मादनया गृह्णाति। श. ब्रा. ४.२.४.२

११० वामन शिवराम आप्टे, संस्कृत-हिन्दी कोश, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, २००७, पृ. २१८

१११ (अनु.) रामकुमार राय, वैदिक इण्डेक्स, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६२, भाग-१, पृ. ११४

११२ तदु तथा न कुर्यात्। उल्कया ह स नखिन्या पशूननुपुवति...। श. ब्रा. ५.५.४.१९

११३ ...तत्तऽएतद्धविः प्रविशन्ति तऽएतासु वसतीवरी...उल्कुषीमेवादायोपपरेयात्तामुपर्युपरि...। श. ब्रा. ३.९.२.७-९

११४ ...उल्कुषी तृतीयः...योऽभ्युष्टमिश्रऽइवोल्कुषी ह तमनुयाजो हन्ति। श. ब्रा. ११.२.७.२१-२३

११५ (अनु.) ब. म. शुक्ला, (सं.) म. ल. मधु, धरती और आकाश, विदेशी भाषा प्रकाशन गृह, मास्को, पृ. १८४

११६ स्वर्भानुर्ह वाऽआसुरः। सूर्यं तमसा विव्याध स तमसा...। श. ब्रा. ५.३.२.२-३

११७ सूर्यमृतं तमसो ग्राह्या यत्। तै. ब्रा. २.५.६.३

प्रस्तुत ब्राह्मणों में चर्चित स्वर्भानु असुर को विद्वानों ने राहु माना है।[११९]

निष्कर्षत: उल्लेखनीय है कि यजुर्वेदीय ब्राह्मण के ऋषि द्वारा दूरबीन (टैलीस्कोप) आदि आधुनिक खगोलीय यन्त्रों की सहायता के विना सप्तर्षि-मण्डल, ध्रुव-तारा, उल्का जैसे खगोलीय पिण्डों की स्थिति, गति आदि का विवेचन करना निश्चित ही प्रशंसनीय है। इन ब्राह्मण ग्रन्थों में लोक, सूर्य, चन्द्रमा, विषुवत्-दिन आदि का विस्तृत विश्लेषण तत्कालीन समाज में खगोल-विद्या के प्रारम्भिक चरण का द्योतक है। उपर्युक्त चर्चा स्पष्ट करती है कि वैदिक ऋषि खगोलीय पिण्डों के भ्रमण तथा उस भ्रमण से उत्पन्न स्थिति से भली-भाँति अवगत थे। यजुर्वेदीय ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित नक्षत्र-विषयक सामग्री परवर्ती खगोलशास्त्रीय एवं ज्योतिषशास्त्रीय ग्रन्थों के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि नक्षत्रों के नाम, क्रम आदि के निर्धारण में यजुर्वेदीय संहिताओं के साथ-साथ यजुर्वेदीय ब्राह्मणों का सहयोग भी अतुलनीय है। अन्त में कहना उचित होगा कि यजुर्वेदीय ब्राह्मणों में वर्णित खगोलशास्त्रीय तत्त्वों का विवेचन तत्कालीन ऋषि को खगोलविद् मानने का आधार है। अत: शतपथ एवं तैत्तिरीय ब्राह्मणों के ये तथ्य न केवल खगोल-विद्या की प्राचीनता को प्रमाणित करते हैं, अपितु खगोल-विद्या के विकास-क्रम में भारतीयों की भूमिका को भी स्पष्ट करते हैं।

११८ सुवर्भानुरसुर: सूर्यं तमसाऽविधयत्तस्मै देवा: प्रायश्चित्तिमैच्छन्। तै. ब्रा. सा. भा., पृ. ५३१

११९ तमस्तु राहु स्वर्भानु सैंहिकेयो विधुन्तुद:। वामन, अमरकोष, प्रथम काण्ड (दिग्वर्ग), भारतीय कला प्रकाशन, दिल्ली, २००४, पृ. १८; सूर्यकान्त, वैदिक देवशास्त्र, मेहरचन्द्र लक्ष्मनदास, दिल्ली, १९८२, पृ. ४१८

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०१० अङ्क १४ (पृ०६५-८०) ISSN 0974 – 8830

वैदिक साहित्य में वर्णित कृषि अभियांत्रिकी

डॉ० देवेन्द्र कुमार गुप्ता[१]

प्रस्तुत शोध पत्र का प्रमुख उद्देश्य वैदिक साहित्य में वर्णित कृषि उपकरणों एवं उनके तकनीकी ज्ञान का वर्णन करना है। किसी भी कार्य की सफलता उसके आवश्यक उपकरणों अथवा औजारों की समृद्धि पर निर्भर करती है। वास्तव में इनके अभाव में कोई भी कार्य सफलता प्राप्त नहीं कर सकता है। कृषि उद्योग को भी सुचारू रूप से सम्पन्न करने हेतु अनेक प्रयोजनीय उपकरणों का होना अति आवश्यक है। ऐसा ज्ञात होता है कि अति प्राचीन काल से ही भारतीय कृषकों को कृषि के अनेकानेक महत्त्वपूर्ण उपकरणों का ज्ञान प्राप्त हो गया था। वैदिक साहित्य में कृषि के उपयोग में लाये जाने वाले अनेक साधनों का उल्लेख मिलता है। शतपथ ब्राह्मण[२] में कृषि की चारों क्रियाओं कृषन्तः (जुताई), वपन्तः (बुआई), लुनन्तः (कटाई) और मृणन्तः (मसाई) का उल्लेख मिलना यह स्पष्ट करता है कि वे इन क्रियाओं को सम्पन्न करने के लिए अनेक प्रकार के उपकरणों का प्रयोग करते थे। वैदिक साहित्य में वर्णित कुछ प्रमुख महत्त्वपूर्ण कृषि-उपकरण इस प्रकार हैं-

हल

वेदों में कृषि के सबसे महत्त्वपूर्ण एवं प्रयोजनीय उपकरण के रूप में सर्वप्रथम हल का उल्लेख मिलता है। सामान्यत भू-कर्षण से ही कृषि कर्म का प्रारम्भ माना जाता है जो आज की ही भाँति वैदिक काल में भी हल एवं बैलों की सहायता से सम्पन्न होता था।[३] कदाचित् यही कारण है कि कृषि कार्य में हल की अनिवार्यता को देखते हुए गृह्यसूत्रों ने गृह्य सम्बन्धी सभी धार्मिक संस्कारों और पूजा सम्बन्धी कार्यों में उसके किसी न किसी भाग का आँगन में स्थान और पूजा अनिवार्य बना दी। धीरे-धीरे कृषि कार्यों के वार्षिक प्रारम्भ के समय उसकी पूजा का विधान भी प्रचलित हो गया। कालान्तर में हल कृषि का प्रतीक बन गया।

भू-कर्षण के लिए हल के अस्तित्व का बोध अंशतः ताम्रपाषाण युग से ही हो जाता है। कालीबंगा के प्राक् हड़प्पा स्तर से हल से जुते हुए खेत का साक्ष्य मिला है। यहाँ के उत्खनन से हमें ऐसे खेतों का साक्ष्य मिला है जिनमें हल की सीधी और तिरछी दो लाइनें हैं और वे एक-दूसरे को लम्बवत् काटती हैं। इससे सीधी लाइनों की कतारों में आपस की दूरी लगभग १९० से०मी० है जबकि तिरछी लाइनों की कतारों में यह दूरी मात्र ३० से०मी० है। इससे स्पष्ट पता चलता है कि ये लोग एक ही खेत में एक साथ दो प्रकार के धान्य उगाते थे। यद्यपि सैन्धव सभ्यता के किसी भी स्थल से अभी तक हल का साक्ष्य नहीं मिला है, लेकिन इस संस्कृति के विभिन्न स्थलों से प्राप्त प्रमाण इस बात की पुष्टि करते हैं कि ये लोग हल के प्रयोग से भली-भाँति परिचित थे। इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि पाकिस्तान स्थित बहावलपुर से मिट्टी के बने हुए खेत जोतने में प्रयुक्त हल के खिलौने (Terracotta Phoughs) के टूटे हुए अवशेष

---

१. एसोसियेट प्रोफेसर, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, उत्तराखण्ड

२. शतपथ ब्राह्मण, १/६/१/३

३. ऋग्वेद, १/२३/१५, १/१७६/२,. 'तस्मिन्ना वेशया गिरो य एकश्चर्षणीनाम्। अनु स्वधा यमुप्यते यवं न चर्कृषद्वृषा॥'

मिले हैं। मोहनजोदड़ों से मिट्टी का बना हुआ हल का प्रारूप मिला है। हरियाणा के हिसार जिले में स्थित बनवाली के उत्खनन के फलस्वरूप विकसित हड़प्पा संस्कृति के स्तर से मिट्टी का एक खिलौना मिला है जो बिल्कुल हल जैसा प्रतीत होता है। ऐसी स्थिति में यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सिन्धु सभ्यता के काल में मानव हल के प्रयोग से भली-भाँति परिचित था।

वैदिक साहित्य में भी हल से सम्बन्धित अनेक उद्धरण मिलते हैं। ऋग्वेद के एक मन्त्र में कहा गया है कि हल को जोतों, जूएें को तानों, यहाँ खेत में बीज बोओ। हमारी वाणियों के साथ खेती हरी-भरी हो। शस्य के नजदीक हसुंये जाएम्।[४] वहीं एक मन्त्र में मेधावी लोगों द्वारा हल चलाने का उल्लेख मिलता है।[५] एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि अश्विनी देवताओं ने मनु को बीज बोने की कला सिखाई तथा आर्यों को हल की सहायता से खेती करना सिखाया।[६] अथर्ववेद के अनुसार पृथी (पृथु) वैन्य ने सर्वप्रथम मनुष्यों के लिए कृषि कर्म द्वारा फसल पैदा की और इस प्रकार मानव जाति के लिए कृषि का मार्ग प्रशस्त किया।[७] अथर्ववेद में ही एक जगह इन्द्र को सीरपति (हल का स्वामी) कहा गया है।[८] अन्यत्र अथर्ववेद में कहा गया है कि बैल, किसान और हल आनन्द से खेती करें। आनन्दपूर्वक हल जोतो और आनन्द से चाबुक चलाओ[९] अर्थात् यह सब कार्य आनन्द से करो, ताकि उनसे आगे भी आनन्द ही उत्पन्न हो सके। यजुर्वेद तथा शतपथ ब्राह्मण में भी मेधावी (विद्वान् कवि) लोगों द्वारा हल चलाने का उल्लेख मिलता है।[१०] हल चलाने वाले को '**कीनाश**' कहते थे।[११] हल चलाने से खेत में जो मिट्टी खुद जाती थी और उससे जो कतारें बन जाती थीं, उसे '**सीता**' कहते थे।[१२]

सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में हल के लिए साधारणतः तीन नाम '**सीर**'[१३], '**सील**'[१४] एवं '**लांगल**'[१५] प्रयुक्त हुए हैं। एम०एस० रंधावा के अनुसार इसमें लांगल तीक्ष्ण नोक वाला तथा चिकनी मूठ वाला होता था, जबकि सीर बड़ा

---

४. ऋग्वेद, १०/१०१/३,. 'युनक्त सीरा वियुगा तनुध्वं कृतेयोनौ वपतेह बीजम्। गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत्सृण्यः पक्वमेयात्॥'

५. वही, १०/१०१/४, 'सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथक्। धीरा देवेषु सुम्नया॥'

६. वही, १/११७/२१,. 'यवं वृकेणाश्विना वपन्तेष दुहन्ता मनुषाय दस्रा। अभिदस्युं बकुरेणा धमन्तोरुज्योतिश्चक्रथुरार्याय॥'

७. अथर्ववेद, ८/१०/११-१२, 'तां पृथी वैन्योऽधोक्तां कृषिं च संस्यं च मनुष्या इ उप जीवन्ति कृष्टराधिरुपजीवनीयो भवति य एवं वेद।'

८. वही, ६/३०/१, 'इन्द्र आसीत् सीरपतिः।'

९. वही, ३/१७/६, 'शुनं वाहाः शुनं नरः कृषतु लाङ्गलम्। शुनं वरत्रा वध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिङ्गय॥'

१०. यजुर्वेद, १२/६७, 'सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथक्।' शतपथ ब्राह्मण, ७/२/२/४, 'ये विद्वांसस्ते कवयस्ते सीरं च युञ्जन्ति युगानि च वितन्वते पृथग्धीराः।'

११. ऋग्वेद, ४/५७/८

१२. वही, ४/५७/६-७

१३. वही, ४/५७/८, १०/१०१/३, ४, ४/१९/८, अथर्ववेद, ६/३०/१, ८/९/१६, ३/१७/१-२, ५, मैत्रायणी संहिता, २/७/१२, वाजसनेयी संहिता, १२/६७-६८, १८/७, तैत्तिरीय संहिता, १/८/७/१, काठक संहिता, १६/१२, शतपथ ब्राह्मण, ७/२/२/४-५, २/६/३/२

१४. कपिष्ठल-कठ संहिता, २८/८, वैदिक इण्डेक्स, भाग २, पृ० ४९९

१५. ऋग्वेद, १०/१०१/४, ४/५७/४, अथर्ववेद, २/८/४, ३/१७/३, ६, तैत्तिरीय संहिता, ६/६/७/४, मैत्रायणी संहिता, २/७/१२, काठक संहिता, १६/१२, शतपथ ब्राह्मण, ७/२/२/११, २/६/३/२

और भारी हल था।[१६] प्रो० प्रिजिलुस्की एवं टी० वरो ने लांगल शब्द को मुण्डा भाषा का माना है। रोमिला थापर ने द्रविड़ भाषा के नांगल शब्द का उल्लेख किया है जो निश्चय ही लांगल का परिवर्तित रूप है। भारोपीय शब्द लेग और लेंग से भी लांगल शब्द को जोड़ने की कोशिश की गई है, लेकिन रोमिला थापर ने उसे भाषा विज्ञान की दृष्टि से उचित नहीं माना है।[१७]

एस०एन० मिश्र[१८] ने वेदों में प्रयुक्त **'अर'**[१९] शब्द को हल के फाल का पूर्व रूप माना है। उनके अनुसार अरं, सीर के समान कोई औजार (आयुध) था जो तीक्ष्णाग्रदण्ड युक्त था जिससे जमीन खोदकर बीज का वपन किया जाता था। उनके अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि अरं भारोपीय अर से सम्बद्ध है, जिसका प्रयोग भूमि जोतने और हल के अर्थ में क्रमशः क्रिया और संज्ञा दोनों रूपों में होता था। अत: अरं का अर्थ ऐसा आयुध है जिसका रूप तीक्ष्णाग्रदण्ड का था और जो भूमि को खोदने के अर्थ में काम आता था। सी०डी० बक के अनुसार यह एक ऐसे यन्त्र का बोधक था जिसका अग्रभाग तीक्ष्ण होता था और इसका प्रयोग भूमि के खनन के लिए किया जाता था। इस यन्त्र के माध्यम से भूमि को खोदकर उसमें बीज वपन किया जाता था। यूनानी भाषा में **अरो** या **अरोत्रोन**, लैटिन में **अरार** या **अरात्रुम**, आयरिश में एरिम तथा लिथुआनियन में **अर्ति** आदि अर के सगोत्री शब्द हल के अर्थ में प्रयुक्त मिलते हैं।[२०] जयमल राय[२१] के अनुसार ऋग्वेद के एक सूक्त में अर शब्द का प्रयोग कृषि से सम्बन्धित अन्य शब्दों के साथ हुआ है। इस सूक्त[२२] में सीर (हल), युग (हल का जुआँ), वरत्रा (बैलों को बाँधने वाली रस्सी), द्रोणावाहम (बैलों के लिए बनाये गये लकड़ी के नाद), अश्मचक्र (पाषाण की चक्की), अवत् (जल प्राप्त करने के लिए कुआँ), ब्रज (पशुओं की गोशाला) कृते योनौ वपतेह बीजम् (भूमि में बीज वपन करने) आदि के अतिरिक्त अर का उल्लेख आयुध के साथ (आयुधारं) हुआ है।[२३] इस सूक्त में भूमि में बीज वपन की प्रक्रिया की समता नारी में किए जाने वाले बीज वपन से की गई है।[२४] इस प्रकार किया गया अन्नोत्पादन सौभाग्य का प्रतीक (स्वस्ति वाहम्) था।[२५] अन्नोत्पादक होने के कारण ही अर ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में भी सम्पन्नता अथवा सम्पूर्णता के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। **'अर करत'** शब्द ऋग्वेद[२६] तथा अथर्ववेद[२७] में पर्याप्त के अर्थ में प्राय: मिलता है। सायण ने भी **'अरं अलं पर्याप्तो'** कहा है। स्पष्टत: खनन यन्त्र के माध्यम से ही, जिसे अर, अरो, अरोत्रान, अरार, अरात्रुम, एरिम आदि नाम से अभिहित किया जाता था, भारोपीय काल

---

१६. एम०एस० रंधावा, ए हिस्ट्री ऑफ़ एग्रीकल्चर इन इण्डिया, पृ० ३१७
१७. रोमिला थापर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ० १८५, पाद टिप्पणी, २४
१८. एस०एन० मिश्र, प्राचीन भारत में ग्राम एवं ग्राम्य जीवन, पृ० १०४-१३
१९. ऋग्वेद, ७/७/६, 'अरं नर्या: अतक्षन्।' १०/१०१/२, 'आयुधारं कृणुध्वम्।' १०/१०६/८, 'घर्मेव मधु जठरे सनेरू भगेविता तुर्फरी फारिवारम्।' अथर्ववेद, १०/४/४ 'अरंघुषो निमज्योन्मज्य पुनरब्रवीत्।'
२०. सी०डी० वक, सलेक्टेड सिनानिम्स, ८/२१/१
२१. जयमलराय, प्राचीन भारत में कृषि, पृ० ७०
२२. ऋग्वेद, १०/१०१
२३. वही, १०/१०१/२
२४. वही, १०/१०१/३
२५. वही, १०/१०१/७
२६. वही, ५/४४/८, १०/६३/६
२७. अथर्ववेद, १८/२/१

में भी बीज वपन किया जाता होगा। सस्योत्पादन का यह सर्वथा आदिम रूप था। अभी तक सीर, वरत्रा, बैल, हल आदि का ज्ञान आर्यों को नहीं हुआ था। बाद के काल में कृषि सम्बन्धी अन्य सहायक साधनों का ज्ञान हो जाने पर भी उत्पादक यन्त्र होने के कारण अर का केन्द्रीय महत्त्व पूर्ववत् बना रहा।

भूमि को खोदने वाला यह अर वृक्ष की शाखा को काटकर बनाया जाता था। इसके आकार-प्रकार के विषय में श्रेडर का कथन है कि भारोपीय काल का यह हल वैसा ही होता था जैसा कि प्राचीन काल में रोम का अरार या अरात्रुम तथा यूनान का अरोत्रोन आतोगुआन होता था। यह किसी मजबूत लकड़ी का दण्ड होता था जो हूक की शक्ल में मुड़ा होता था। इसमें किसी प्रकार की मुठिया नहीं होती थी। कृषि के इस भारोपीय आदिम उपकरण में किसी प्रकार की धातु का प्रयोग नहीं होता था। बीज वपन से पहले लकड़ी के इस तीक्ष्ण दण्ड से भूमि को खोद दिया जाता था, हाथ से मिट्टी के ढेलों को तोड़ दिया जाता था तथा घास की जड़ों और पत्थर आदि को निकाल लिया जाता था।[२८] इस प्रकार भारोपीय अर तथा ऋग्वेदीय अर एक समान हैं। अन्नोत्पादन के सामर्थ्य के कारण ही अर का कृषि के सम्बन्ध में विशेष महत्त्व था और इससे सम्बद्ध जनों को आर्य कहा गया।

बी०पी० राय के अनुसार वेदों में उल्लिखित इन शब्दों से हलों के विकास की पूरी प्रक्रिया का आभास होता है। उनके अनुसार प्रारम्भिक अवस्था में अर द्वारा भूमि को खोदकर बीज छींट दिया जाता था। दूसरी अवस्था में मुठिया लगे हुए लांगल से जो उदुम्बर अथवा खदिर की लकड़ी से निर्मित होता था, आदमियों द्वारा खींचकर भूमि की जुताई और बीज वपन किया जाता था, किन्तु कृषि के विकास की तीसरी और अन्तिम अवस्था में सीर अथवा लांगल में मनुष्य के स्थान पर बैलों का प्रयोग होने लगा जो हल को खीचतें थे।[२९] वैदिक साहित्य में हल को खींचने वाले बैलों की संख्या ६, ८, १२ तथा २४ तक बताई गई है।[३०]

ऋग्वेद में उल्लिखित '**वृक**' शब्द भी हल के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद में एक स्थान पर कहा गया है कि वृक अर्थात् हल द्वारा अश्विन देवताओं ने आर्यों के लिए यव का वपन किया।[३१] किन्तु ऋग्वेद में ही तथा बाद में भी 'वृक' शब्द का प्रयोग भेड़िया के लिए हुआ है। यूनानी भाषा में वृक का समानार्थी शब्द इयुलक है। तीक्ष्ण दाँतों के कारण ही वृक[३२] या इयुलक से हल का तादात्म्य स्थापित किया गया। श्रेडर ने ग्रिम के मत का उल्लेख करते हुए कहा है कि अनेक प्राचीन भाषाओं में जानवरों के नाम पर ही हल या उसके किसी हिस्से का नामकरण कर दिया जाता था।[३३] जयमल राय के अनुसार जमीन को खोदकर बीज वपन करने की यह विधा आदिम काल से ही प्रचलित थी और भारत में प्रवेश के कुछ काल पश्चात् जब आर्यों का परिचय कृषि में प्रयुक्त होने वाले अधिक विकसित यन्त्र से हुआ, तो हल के अर्थ में वृक शब्द का प्रयोग वैसे ही विलुप्त हो गया जैसे अर शब्द।[३४]

---

२८. ओ० श्रेडर, प्रीहिस्टोरिक एण्टिक्वटीज, पृ० २८७
२९. ब्रजदेव प्रसाद राय, द लेटर वैदिक इकॉनमी, पृ० १३१
३०. अथर्ववेद, ६/९१/१, तैत्तिरीय संहिता, १/८/७/१, ५/२/५/२, काठक संहिता, १५/२
३१. ऋग्वेद, १/११७/२१,. 'यवं वृकेणाश्विना वपन्तेषं दुहन्ता मनुषाय दस्रा। अभि दस्युं बकुरेणां धमन्तोरु ज्योतिचक्रथुरार्याय॥ ८/२२/६, 'यवं वृकेण कर्षथः।'
३२. निरुक्त, ६/२६, 'वृको लांगलं भवति विकर्तनात्।'
३३. ओ० श्रेडर, पूर्वोक्त, पृ० २८८-२८९
३४. जयमलराय, पूर्वोक्त, पृ० ७१

इस काल में हल प्रायः लकड़ी के बनते थे जिनमें बहुत अधिक संख्या में बैल जोते जाते थे। यद्यपि सामान्यतया हल चलाने के लिए दो बैल[३५] प्रयोग में लाये जाते थे, पर इस काल में ऐसे भारी हल भी बनाये जाने लगे थे जिन्हें खींचने के लिए ६, ८, १२ तथा २४ बैलों तक की आवश्यकता पड़ती थी। वैदिक साहित्य में अनेक स्थलों पर हलों से ६ से लेकर २४ बैलों तक के जोते जाने का उल्लेख मिलता है। जिनका विवरण इस प्रकार है-

१. षड्योगं सीरमनु सामसाम षडाहुर्द्यावापृथिवी षड्डुर्वीः।[३६]

(छह बैलों से खींचा जाता है उसको सीर (हल) कहते हैं।)

२. इमं यवमष्टायोगैः षड्योगेभिरचर्कृषुः।[३७]

(इस यव (जौ) के खेत की छह बैलों से कृषि की है।)

३. षड्गवेन कृषति।[३८]

(छह बैलों से चलाये जाने वाले हल से कृषि करता है।)

४. सीरं युनक्ति। षड्गवं भव।[३९]

(हल जोतता है। छह बैलों का है।)

५. षड्गवेन कृषति।[४०]

(छह बैलों के हल से कृषि करता है।)

इस प्रकार इन मन्त्रों में छह बैलों से जुताई किये जाने वाले हलों के उल्लेख मिलते हैं। इस सन्दर्भ में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि अथर्ववेद में जौ के खेत की जुताई छह बैलों वाले हलों से किये जाने का उल्लेख है। इसी प्रकार वेदों में आठ बैलों द्वारा खींचे जाने वाले हलों का वर्णन मिलता है-

१. इमं यवमष्टायोगैः षड्योगेभिरचर्कृषुः।'[४१]

(इस जौ के खेत की कृषि आठ बैलों वाले हलों से की है।)

वेदों में बारह बैलों से खींचे जाने वाले हलों से सम्बन्धित मन्त्र इस प्रकार हैं-

१. द्वादशगवं सीरम्।[४२]

(बारह बैलों वाला हल होता है।)

२. द्वादशगवेन कृषति।[४३]

---

३५. ऋग्वेद, ८/२०/२
३६. अथर्ववेद, ८/९/१६
३७. वही, ६/९१/१
३८. तैत्तिरीय संहिता, ५/२/५/२
३९. शतपथ ब्राह्मण, १३/८/५/६, ७/२/२/६
४०. काठक संहिता, २०/३
४१. अथर्ववेद, ६/९१/१
४२. तैत्तिरीय संहिता, १/८/७/१
४३. वही, ५/२/५/२

(बारह बैलों के हल से कृषि करता है।)

३. द्वादशगवं वा।[४४]

(बारह बैलों का है।)

४. सीरं वा द्वादशायोगम्।[४५]

(हल में बारह बैल जोते जाते हैं।)

५. सीरं द्वादशायोगम्।[४६]

(हल में बारह बैल जोते जाते हैं।)

इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण[४७] तथा काठक संहिता[४८] २४ बैलों द्वारा खींचे जाने वाले हलों का उल्लेख करती है। जिससे हलों के प्राय: विशाल और भारी होने का अनुमान होता है।[४९] श्रौतसूत्रों में भी हमें शुनासीरीय नामक यज्ञ के अवसर पर ६, १२ या २४ बैलों द्वारा खींचे जाने वाले हलों को दक्षिणा में पुरोहितों को दिये जाने का उल्लेख मिलता है। ए०के० यज्ञनारायण अय्यर के अनुसार सम्भवत: इस काल के हल आधुनिक हलों की भांति अंग्रेजी वर्ण 'V' के आकार के होते थे।[५०] साथ ही उनका कथन है कि इन हलों में अश्वों का प्रयोग किया जाता था।[५१]

लेकिन अब प्रश्न उठता है कि हलों में इतने अधिक बैल जोतने की क्या आवश्यकता थी? इस सम्बन्ध में विद्वानों ने विभिन्न प्रकार की व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। इस सम्बन्ध में दामोदर सातवलेकर[५२] का मत है कि बड़ा हल भूमि के अन्दर बहुत गहरा जाता है इसलिए उसको खींचने के लिए अधिक बैल आवश्यक होते हैं। इस हल से अनाज की उत्पत्ति भी अधिक होती है। उनके अनुसार यह ऋग्वेद के इस कथन से स्पष्ट है जहाँ कहा गया है कि कृषि कार्य करते हुए जो हल से भूमि को गहराई से जोतते हैं वहीं कृषक अन्न उत्पादन करते हैं।[५३] एन०सी० बंद्योपाध्याय के अनुसार इतने अधिक बैलों का प्रयोग गहरी जुताई अथवा सख्त भूमि को जोतने में किया जाता होगा।[५४] आर०एस० शर्मा के अनुसार भी कठोर भूमि को जोतने के लिए ही दो से अधिक बैलों का प्रयोग किया जाता था।[५५] वास्तव में हलों में इतने अधिक बैलों को जोते जाने का मूल कारण यह था कि इस काल में कृषि योग्य भूमि का विस्तार अधिकांशत: जंगलों को जलाकर या काटकर किया गया जिसके उद्धरण भी वैदिक साहित्य में अनेक स्थानों पर मिलते हैं। यह

---

४४. शतपथ ब्राह्मण, ७/२/२/६

४५. काठक संहिता, १५/२

४६. मैत्रायणी संहिता, २/६/२

४७. शतपथ ब्राह्मण, ७/२/२/६, 'चतुर्विंशतिगवं वा।'

४८. काठक संहिता, १५/२, बेवर, इण्डिसे स्टूडियन, १३/२४४, नोट

४९. वैदिक इण्डेक्स, भाग २, पृ० ४९९

५०. ए०के० यज्ञनारायण अय्यर, एग्रीकल्चर एण्ड एलाइड आर्टस, पृ० १४

५१. वही, पृ० १५-१६

५२. दामोदर सातवलेकर, वेद में कृषि विद्या, पृ० २४

५३. ऋग्वेद, १०/११७/७

५४. एन०सी० बंद्योपाध्याय, इकनामिक लाइफ एण्ड प्रोग्रेस इन एंशियेण्ट इण्डिया, पृ० १२८-१२९

५५. आर०एस० शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएँ, पृ० ९९

जंगली भूमि अत्यधिक कठोर होती थी जिनको जोतने के लिए दो बैल पर्याप्त नहीं थे। अतः ऐसी कठोर जंगली भूमि को जोतने के लिए हलों में अधिक संख्या में बैलों को जोता जाना उचित प्रतीत होता है। लेकिन बी०पी० राय[५६] इन मतों से विपरीत मत प्रकट करते हुए कहते हैं कि वास्तव में हलों में इतने अधिक बैलों को जोते जाने की बात प्रतीकात्मक (Symbolic) है। इनका उल्लेख यज्ञ सम्बन्धी भूमि (Sacrificial Ground) को जोतने के प्रसङ्ग में ही हुआ है, कृषि के सम्बन्ध में नहीं। उन्होंने अपने इस मत के समर्थन में तैत्तिरीय संहिता के उस कथन को आधार बनाया है जहाँ वास्तव में ६ बैल ६ ऋतुओं को, १२ बैल वर्ष के १२ मास को और २४ बैल वर्ष के २४ पक्ष को इंगित करते हैं।[५७]

फाल

हल के नुकीले भाग को, जो भूमि में प्रविष्ट होकर मिट्टी उखाड़ता था, **फाल**[५८] कहलाता था। यह प्रायः नुकीला तथा तीक्ष्ण धार वाला होता था। ऋग्वेद के एक मन्त्र में कहा गया है कि जैसा फाल कृषि करता हुआ अन्न उत्पन्न करता है, उसी प्रकार आत्मा रूपी किसान इस शरीर रूपी खेत में पुरुषार्थ से अभ्युदय निःश्रेयस् रूप धान्य उत्पन्न करता है।[५९] ऋग्वेद[६०] के एक मन्त्र के अनुसार सर्वप्रथम पवित्र वृक्ष की लकड़ी से निर्मित हल में फाल को जोड़कर उसको सोम से अभिसिंचित किया जाता था। सोम से सिंचित होने के पश्चात् इसकी धार को 'अश्मन्मयी वाशी' से तेज किया जाता था। इसके पश्चात् इसमें बैलों को जोड़कर मन्त्रों के उच्चारण के साथ भूमि में लीक बनाई जाती थी। इसके अनन्तर वनस्पति (हल) को ग्राम से दूर किसी वन में स्थापित कर दिया जाता था, यहाँ बैल को तो हल से मुक्त कर दिया जाता था, किन्तु हल के फाल को हल में ही लगा हुआ छोड़ दिया जाता था। यहाँ इस बात की सावधानी रखी जाती थी कि 'उत्स' (सोम सिंचित हल के फाल) में किसी प्रकार का विकार न आने पाये।[६१] कौषीतकि सूत्र[६२] में भी कृषि कर्म का ऐसा ही वर्णन मिलता है। इसके अनुसार हल के फाल को ठीक कर उसमें बैलों को नद्ध किया जाता है। इसके बाद स्वामी भूमि को कुछ दूर तक जोतता है। जब तीन पूर्वी लीकें बन जाती हैं तो हल को 'आज्य' और जल से अभिषिक्त किया जाता है। इसके अनन्तर भू-स्वामी और उसकी पत्नी के बीच रोचक वार्तालाप होता है। पत्नी अपने पति से पूछती है कि क्या आपने भूमि जोत दी है? पति स्वीकारात्मक उत्तर देते हुए पत्नी से पूछता है कि तुमने क्या प्राप्त किया? पत्नी उत्तर देती है- धन, ऐश्वर्य, कल्याण, सन्तति, पशु, भोजन आदि। इस वार्तालाप के समय पति अपने हाथ में मिट्टी का ढेला अथवा लोना लिए रहता है, जिसको पत्नी के उत्तर के अनन्तर लीक के मध्य में स्थापित कर देता है। अभिसिंचित हल को भूमि में ही छोड़ दिया जाता है। इसके बाद दूसरे दिन से नियमित भूमि-कर्षण कार्य होने

---

५६. बी०पी० राय, पूर्वोक्त, पृ० १३४

५७. तैत्तिरीय संहिता, ५/२/५/२, 'यजुषा युनक्ति यजुषा कृषति व्यावृत्त्यै षड्गवेन कृषति षड् वा ऋतव कृषति यद् द्वादशगवेन संवत्सरेण वै।'

५८. ऋग्वेद, ४/५७/८, १०/११७/७, अथर्ववेद, ३/१७/५, काठक संहिता, १९/१, १२/७, १६/१२, मैत्रायणी संहिता, २/७/१२, वाजसनेयी संहिता, १२/६९, कौषीतकि ब्राह्मण, २५/१५

५९. ऋग्वेद, १०/११७/७, 'कृषन्नित् फाल आशितं कृणोति यन्नध्वानमप वृङ्क्ते चरित्रैः।

६०. वही, १०/११७/१०, 'आ तू षिञ्च हरिमीं द्रोरुपस्थे वाशीभिस्तक्षताश्मन्मयीभिः। परि ष्वजध्वं दश कक्ष्याभिरुभे धुरौ प्रति वह्निं युनक्त॥

६१. एस०एन० मिश्र, पूर्वोक्त, पृ० १०२

६२. कौषीतकि सूत्र, २०/१६

लगता है। ऋग्वेद के एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि हल के फाल हमारी भूमि की कृषि (हल जुताई) अच्छी प्रकार से करें। किसान बैलों के साथ खुशी से चलें। पर्जन्य उत्तम प्रकार से वृष्टि करके हमारा कल्याण करे। हल और फाल हमारे अन्दर आह्लाद धारण करें।[६३] दामोदर सातवलेकर के अनुसार इस मन्त्र का शुन शब्द जैसा हल का वाचक है वैसा ही पवित्रता, कल्याण, सुख, आनन्द, उन्नति, विजय, मंगल और प्रगति का वाचक है। इस एक विशेषता पर विचार करने से सुगमता से पता चल जाता है कि वेद में कृषि का कितना महत्त्व है।[६४] उनके अनुसार यजुर्वेद[६५] में भी इसी प्रकार का मन्त्र मिलता है जहाँ कहा गया है कि उत्तम फाल भूमि की उत्तम कृषि करें। किसान बैलों के साथ आनन्द से कृषि करते जाएँ। हल और फाल हवि से सन्तुष्ट होते हुए इसके लिए उत्तम फल से युक्त वनस्पति दें। इस मन्त्र में भी हल और फाल के साथ मनुष्यों के कल्याण का सम्बन्ध दिखाया गया है। अथर्ववेद[६६] में एक स्थान पर महिलाओं द्वारा स्वर्ण-निर्मित हल के फाल की मणि (ताबीज) को धारण करने का उल्लेख मिलता है। ये महिलाएं ऐसे ताबीजों को पहनकर प्रार्थनाएं करती थीं कि जिस प्रकार फाल से कृषित उपजाऊ भूमि में डाला हुआ बीज उगता और बढ़ता है उसी प्रकार मेरे आधार से प्रजा, पशु और प्रत्येक प्रकार के अन्न उत्पन्न होवें।

वेदों में फाल के लिए 'स्तेग' शब्द भी मिलता है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के एक-एक मन्त्र में कहा गया है कि स्तेग भूमि में प्रविष्ट होकर खोदता है।[६७] दामोदर सातवलेकर के अनुसार कदाचित् यह सम्भव है कि फाल और स्तेग के आकार में कुछ भेद रहा हो, परन्तु यह समझने के लिए इस समय कोई साधन नहीं है।[६८] फाल से खुदाई करते समय किसान बैल के पीछे-पीछे चलता था।[६९] कुछ विद्वानों ने वैदिक साहित्य में उल्लिखित शुन शब्द को भी फाल के अर्थ में ग्रहण किया है।[७०]

फाल लकड़ी अथवा धातु से बनते थे। लकड़ियों में अधिकांशत खदिर (खैर) एवं उदुम्बर (गूलर) की लकड़ी के फाल बनते थे जो काफी सख्त होती थी। एस०एन० मिश्र[७१] के अनुसार प्रारम्भ में भू कर्षण का कार्य बिल्व अथवा उदुम्बर लकड़ी के तीक्ष्णाग्रदण्ड से सम्पन्न होता था, क्योंकि ऋग्वेद[७२] में बिल्व तथा उदुम्बर को फलदाय की मान्यता प्राप्त थी। अथर्ववेद में एक स्थान पर नोकदार फाल का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।[७३] अच्छा फाल (सुफाल) उसे

---

६३. ऋग्वेद, ४/५७/८, 'शुनं नः फाला वि कृषन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अभि यन्तु वाहैः। शुनं पर्जन्यो मधुना पयोभिः शुनासीरा शुनमस्मासु धत्तम्॥

६४. दामोदर सातवलेकर, पूर्वोक्त, पृ० ०६

६५. यजुर्वेद, १२/६९,. 'शुनं सुफाला विकृषन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अभियन्तु वाहैः। शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्तनास्मे॥

६६. अथर्ववेद, १०/६/३३,. 'यथा बीजमुर्वरायां कृष्टे फालेन रोहति। एवा मयि प्रजा पशवोऽन्नमन्नं वि रोहतु॥

६७. ऋग्वेद, १०/३१/९, 'स्तेगो न क्षामत्येति पृथ्वीम्।' अथर्ववेद, १८/१/३९, 'स्तेगो न क्षामत्येषि पृथिवीम्।'

६८. दामोदर सातवलेकर, पूर्वोक्त, पृ० २५-२६

६९. ऋग्वेद, ४/५७/८, अथर्ववेद, ३/१७/५

७०. चन्द्रा चक्रवर्ती, कॉमन लाइन इन ऋग्वेद एण्ड अथर्ववेद, पृ० २२

७१. एस०एन० मिश्र, पूर्वोक्त, पृ० १९८

७२. ऋग्वेद, खिल सूक्त, ५/२२/१०, 'महान वै भद्रो बिल्वो महान् पक्व उदुम्बरः।'

७३. अथर्ववेद, १०/६/६-१०

कहा जाता था जिससे भूमि की सुगमता से जुताई हो जाती थी।[७४] अन्यत्र अथर्ववेद में खदिर के हल के फाल से गाएँ, बकरियाँ, सन्तान एवं अनाज प्रदान करने के लिए प्रार्थनाएँ की गई हैं।[७५] शतपथ ब्राह्मण में खदिर के फाल को बहुत कठोर बताया गया है और इसकी तुलना हड्डियों से की गई है।[७६] इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि सतलुज और व्यास नदियों के बीच के दोआब क्षेत्र में १९४० ई० तक लकड़ी के फाल वाले हल प्रयुक्त होते थे।[७७] आर०एस० शर्मा के अनुसार बनारस के क्षेत्र में आज भी एक अनुष्ठान प्रचलित है जिसके अन्तर्गत जोतने की प्रक्रिया को प्रारम्भ करने से पूर्व लकड़ी के फाल से युक्त हल से एक छोटे खेत में रेखाएँ अंकित की जाती हैं।[७८]

यद्यपि वैदिक साहित्य में लोहे के बने फाल के उल्लेख अप्राप्य हैं, लेकिन इस काल के साहित्य में उल्लिखित '**पवीरवन्त**'[७९] और '**पवीरव**'[८०] आदि शब्दों को विद्वानों ने 'धातु की चोंच से युक्त' हल का पर्याय माना है।[८१] अथर्ववेद में एक स्थान पर कहा गया है कि वह 'व्रज' के समान कठोर (पवीरव) और चलाने में सुखद हो।[८२] मैकडॉनल एवं कीथ ने भी ऋग्वेद के दो मन्त्रों का उद्धरण दिया है जहाँ एक[८३] स्थान पर पवीरव का अर्थ व्रज प्रतीत होता है वहीं दूसरे[८४] स्थान पर यह 'अंकुश से युक्त' अथवा 'भाले से युक्त' होने के आशय में मनुष्य के लिए व्यवहृत हुआ है। शतपथ ब्राह्मण में धार वाले हल के फाल के लिए '**लाङ्गलं पवीरवत्**' शब्द का प्रयोग किया गया है।[८५] इस आधार पर कुछ विद्वानों का मत है कि इस काल में ऐसे हल भी बनाये जाने लगे थे जिनके फाल धातु के बने होते थे। आर०एस० शर्मा के अनुसार जब हल में छह से लेकर चौबीस बैलों तक के जोते जाने के प्रसङ्ग मिलते हैं जो निश्चित रूप से गहरी जुताई की ओर संकेत करता है। लेकिन यह जुताई लोहे के फाल के इस्तेमाल से ही सम्भव थी।[८६] साथ ही उनका[८७] कथन है कि वेद मन्त्रों के उच्चारण में धातु अथवा लकड़ी के बने 'कुशी' नामक उपकरण का प्रयोग चिह्न लगाने के लिए किया गया है। परवर्ती कालों में यह शब्द हल के लौह निर्मित फाल का द्योतक बन गया और पश्चिमी उत्तर प्रदेश, पंजाब और हरियाणा की बोलियों में इसका प्रयोग अब भी इसी अर्थ में होता है। दामोदर सातवलेकर का मानना है कि इस काल में लकड़ी के हल में लोहे के फाल लगे होते थे और वे भूमि में प्रविष्ट होकर जमीन उखाड़ते थे, यह वर्णन

---

७४. वही, ३/१७/५
७५. वही, १०/६/२३
७६. शतपथ ब्राह्मण, १३/४/४/९
७७. आर०एस० शर्मा, मटीरियल कल्चर, पृ० ९२
७८. आर०एस० शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएँ, पृ० १००
७९. अथर्ववेद, ३/१७/३, वाजसनेयी संहिता, १२/७१, वैदिक इण्डेक्स, भाग १, पृ० ५०९
८०. वही, ३/१७/३, तैत्तिरीय संहिता, १०/२/५/६, काठक संहिता, १६/१२, मैत्रायणी संहिता, २/७/१२, वाजसनेयी संहिता, १२/७१
८१. वैदिक संहिता, भाग १, पृ० ५८०
८२. अथर्ववेद, ३/१७/३
८३. ऋग्वेद, १/१७४/४
८४. वही, १०/६०/३
८५. शतपथ ब्राह्मण, ७/२/२/११
८६. आर०एस० शर्मा, प्रारम्भिक भारत का आर्थिक एवं सामाजिक इतिहास, पृ० १३८
८७. आर०एस० शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएँ, पृ० ९९-१००

फाल के सम्बन्ध में वेदों में मिलता है।[८८] कल्पसूत्रों में भी लौह-फाल का उल्लेख मिलता है।[८९] पाणिनि ने भी अपनी अष्टाध्यायी में लोहे के फाल को **'अयोविकारकुशि'** नाम से सम्बोधित किया है। लोहे के बने फाल का उल्लेख पालि ग्रन्थों में भी मिलता है जहाँ उसे **अयङ्गल** कहा गया है। वास्तव में वेदों में हलों में ६ से लेकर २४ बैलों तक के जोते जाने के जो उल्लेख मिलते हैं उनकी सार्थकता तभी मानी जा सकती है जब हलों के फाल धातु (लोहे) के बनते हों, क्योंकि काष्ठ की सहायता से बनने वाले फाल अधिक बैलों से चलने वाले हलों के लिए उपयुक्त नहीं माने जा सकते। इस प्रकार उपर्युक्त उद्धरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि इस काल के प्रारम्भ में काष्ठ के बने हुए फाल प्रयोग में लाये जाते थे, जो विशेषत: नरम भूमि को जोतने में प्रयुक्त किये जाते थे। लेकिन जब कालान्तर में जंगलों को जलाकर अथवा काटकर कृषि योग्य भूमि का विस्तार किया गया तो उसके लिए अत्यधिक कठोर फालों की आवश्यकता प्रतीत हुई, क्योंकि यह जंगली भूमि अत्यधिक सख्त होती थी जिस पर लकड़ी के फाल की सहायता से जुताई करना आसान नहीं था। अत: ऐसी भूमि की जुताई के लिए लोहे के फाल का उपयोग किया गया जिसके परिणामस्वरूप कृषि के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए।

हल के जिस भाग को भू-कर्षण के समय पकड़कर वैदिक कृषक बैलों की गति तथा हल को नियन्त्रित करते थे इसे **'त्सरू'** अथवा **'मूठ'** कहा जाता था।[९०] परवर्ती साहित्य[९१] में यह शब्द चमस की मुठिया का द्योतक है। चमस की मुठिया के ही आशय में अथर्ववेद[९२] और बाद की संहिताओं[९३] में यह हल (लांगल) के वर्णन में भी प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है। हल की मूठ प्राय: सुन्दर और आकर्षक होती थी।[९४] यह सम्भवत: लकड़ी की बनी होती थी।

हल में एक लम्बा मोटा बांस बांधा जाता था जिसे **'ईषा'** कहते थे।[९५] इसके ऊपर **जुआ** (युग) रखा जाता था जो बैलों को आपस में सन्नद्ध करता था।[९६] इतनी अधिक संख्या में बैलों को आपस में सन्नद्ध करने के लिए सुदृढ वरत्राओं (रस्सियों)[९७] का प्रयोग किया जाता था। शतपथ ब्राह्मण में मूंज की त्रिवृत (तिहरी) रस्सियों द्वारा हल से बैलों को संयुक्त किये जाने का उल्लेख मिलता है।[९८] बैलों को हाँकने के लिए हलवाहे द्वारा **अष्ट्रा** (चाबुक)[९९] का प्रयोग किया जाता था। चूँकि इस काल में अधिकांशत वैश्य लोग कृषि कार्यों में संलग्न थे इसलिए काठक संहिता में अष्ट्रा वैश्यों का चिह्न बताया

---

८८. दामोदर सातवलेकर, पूर्वोक्त, पृ० २५-२६
८९. रामगोपाल, इण्डिया आफ वैदिक कल्पसूत्राज, पृ० १३४
९०. ऋग्वेद, ७/५०/१, अथर्ववेद, ३/१७/३, 'लांगलंपवीरवत् सुशीमं सोमसत्सरू।
९१. पंचविंश ब्राह्मण, २५/४, लाट्यायन श्रौतसूत्र, १०/१२/१२
९२. अथर्ववेद, ३/१७/३
९३. तैत्तिरीय संहिता, ४/२/५/६, मैत्रायणी संहिता, २/७/१२, काठक संहिता, १६/१२, वाजसनेयी संहिता, १२/७१
९४. अथर्ववेद, ३/१७/३, यज्ञनारायण अय्यर, पूर्वोक्त, पृ० १४
९५. ऋग्वेद, १०/१३५/३, ३/५३/१७, ८/५/२९, अथर्ववेद, ८/८/२३, २/८/४, 'ईषायुगेभ्य:।' शतपथ ब्राह्मण, १/१/२/१२
९६. ऋग्वेद, १/११५/२, १/१८४/३, २/३९/४, ३/५३/१७, ८/८०/७, १०/६०/८, १०/१०१/३, अथर्ववेद, २/८/४, शतपथ ब्राह्मण, ३/५/१/२४, ३४, तैत्तिरीय ब्राह्मण, १/५/१/३
९७. ऋग्वेद, ४/५७/४, १०/६०/८, १०/१०२/८, 'शुनं अष्ट्रा व्यचरत्कपर्दी वरत्रायां दावनिह्यमान:।' अथर्ववेद, ३/१७/६, ११/३/१०, २०/१३५/१३
९८. शतपथ ब्राह्मण, ७/२/२/३, 'समर्द्धयति मौञ्जं परिसीर्य्यं त्रिवृत्तस्योक्तो बन्धुम्।'
९९. ऋग्वेद, ४/५७/४, १०/१०२/८, ६/५३/९, 'या ते अष्ट्रा गोओप शाघृणे पशुसाधनी तपस्यास्ते सुम्नमीमहे।'

गया है।[१००] अष्ट्रा के लिए वेदों में **'तोद'**[१०१] एवं **'तोत्र'**[१०२] शब्द भी आये हैं। मैकडॉनल एवं कीथ के अनुसार यह शब्द ऋग्वेद में केवल एक बार अंकुश का द्योतक प्रतीक होता है, किन्तु अधिकतर यह एक संज्ञा है जिसका अर्थ प्रेरक है। गेल्डनर का विचार है कि एक स्थल पर इसका आशय 'दण्ड देने वाले डण्डे को धारण करने वाला' (दण्डधर) अर्थात् राजा है।[१०३] वेदों में इससे सम्बन्धित मन्त्र इस प्रकार है-

१. **शुनमष्ट्रा मुदिङ्गय।**[१०४]
(आनन्द से चाबुक चलाओ)
२. **या ते अष्ट्रा गोओपशाघृणे पशुसाधनी। तस्यास्ते सुम्नमीमहे।**[१०५]
(जो तेरा चाबुक पशुओं को चराने वाला है उससे हम सुख चाहते हैं)
३. **शुनमष्ट्रा व्यचरत् कपर्दी।**[१०६]
(चाबुक आराम के लिए चलता है)
४. **तोदो वातस्य हर्योरीशानः।**[१०७]
(चाबुक ही घोड़ों का ईर्शिता है)
५. **शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रा मुदिङ्गय।**[१०८]
(आनन्दपूर्वक हल जोतो और आनन्द से चाबुक चलाओ)

वर्तमान समय में भी बैलों से हल चलाते समय इसका उपयोग होता है। इस प्रकार चाबुक से बैलों को चलाकर भूमि में हल चलाया जाता है और उत्तम जल के साथ उत्तम कृषि करके बहुत धान्य प्राप्त किया जाता है।

वेदों में हल के एक अन्य भाग **'युग'** अर्थात् जुए का उल्लेख भी मिलता है।[१०९] इनमें युग लकड़ी और उसके गले में लटकाये जाने वाले दो-दो डण्डों से बंधी हुई डोरियों वाले उस जुये की ओर संकेत करता है, जो हल को खींचने वाले दो बैलों के कंधों पर इस प्रकार रखा जाता है जिससे उन्हें कठोर से कठोर भूमि को हल के फाल से विदीर्ण करते हुए आगे बढ़ने में कोई कठिनाई न हो। वेदों में **'सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते'**, **'युनक्त सीता वियुगा तनोत'** इन मन्त्रों में **'युगा'** शब्द द्वितीया बहुवचन नपुंसकलिंग **'युगानि'** का ही वैदिक संक्षिप्त रूप है और वह हल आदि को खींचने के अवसर पर बैलों के कन्धों पर रखे जाने वाले जुये का ही बोधक है। अतः यह युग भी कृषि का अन्यतम साधन है, क्योंकि उसके विना हल जोतने का कार्य हो ही नहीं सकता।

---

१००. काठक संहिता, ३७/१, 'परिक्रीणात्यष्ट्रां वैश्याय पुष्टिं।'
१०१. ऋग्वेद, ४/१६/११, 'तोदो वातस्य हर्यो रीशानः।'
१०२. शतपथ ब्राह्मण, १२/४/१/१०
१०३. वैदिक इण्डेक्स, भाग १, पृ० ३६३
१०४. ऋग्वेद, ४/५७/४
१०५. वही, ६/५३/९
१०६. वही, १०/१०२/३
१०७. वही, ४/१६/११
१०८. अथर्ववेद, ३/१७/६
१०९. ऋग्वेद, १/११५/२, १/१८४/३, २/३९/४, ३/५३/१७, ८/८०/७, १०/६०/८, १०/१०१/३, यजुर्वेद, १२/६७, शतपथ ब्राह्मण, ३/५/१/२४, ३४, तैत्तिरीय ब्राह्मण, १/५/१/३, काठक संहिता, १२/१०

बैल भी हल के प्रमुख भाग थे। वैदिक साहित्य में हल आदि में जुते हुए बैल आदि पशुओं के लिए 'वाह' शब्द प्रयुक्त हुआ है।[११०] अथर्ववेद के एक मन्त्र में कहा गया है कि बैल, कृषक, हल और चाबुक उत्तम होने चाहिए जिससे हल को सरलता से चलाया जा सके।[१११] शतपथ ब्राह्मण के एक उद्धरण में बैलों को जुताई में लगाने से पूर्व अच्छी तरह से खिलाने-पिलाने का उल्लेख मिलता है। **'वहन्ति हलादि भारं, ये ते वाहा:'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार हल इत्यादि के भार को खीचनें वाले पशुओं को वाह कहा गया है। उनके विना भी कृषि सिद्ध नहीं हो सकती। सम-विषम भूमि में जितनी आसानी से हल में जोते गये बैल चल सकते हैं, उस आसानी से आधुनिक पैट्रोल के इंजन से युक्त टैक्टर भी नहीं चल सकते। पहाड़ों की ऊँची-नीची विषम भूमि में आज भी कृषि बैलों से ही होती है, न कि ट्रैक्टर से। अथर्ववेद तथा काठक संहिता में ६, ८ तथा १२ जुओं वाले हलों का वर्णन है। एक जुए में २ बैल लगते हैं। इस प्रकार १२, १६ तथा २४ बैलों वाले बड़े हल काम में आते थे।[११२] आजकल भी इसी प्रकार ऊद में अधिक संख्या में बैल जोते जाते हैं।

शतपथ ब्राह्मण में एक स्थान पर **'अनडुही'** गायों को भी हल में जोते जाने का उल्लेख मिलता है।[११३] शतपथ ब्राह्मण के इस श्लोक के आधार पर भगवान सिंह[११४] ने यह मत व्यक्त किया है कि जुताई के काम के लिए पशुओं में पहले गायों का उपयोग किया गया। साँड़ों को हल में जोतना एक मुश्किल काम था। बधियाकरण के बाद इन्हें बैल बनाने के बाद ही उनकी उग्रता को नियन्त्रित करके ही उपयोग में लाया जा सकता था। ऋग्वैदिक काल से बहुत पहले साँड़ों का बधियाकरण प्रारम्भ हो चुका था। यह 'वध्रि' शब्द के लाक्षणिक अर्थों में प्रयोग से तो स्पष्ट है ही, अनट् और वृषभ-बैल और सांड के अन्तर से भी स्पष्ट है। वास्तव में शतपथ ब्राह्मण का यह विवरण इससे बहुत पहले की अवस्था का स्मरण कराता है।

खनित्र

हल के अतिरिक्त कृषि के अन्य महत्त्वपूर्ण औजारों का वर्णन भी इस काल के साहित्य में मिलता है। खेती में कई ऐसे कार्य होते हैं जो केवल हल की सहायता से ही नहीं हो सकते। जहाँ हाथ से खुदाई करनी पड़ती है, ऐसे स्थान में खुदाई करने के लिए कुदाल, बेलचा, फावड़ा या खुरपा की आवश्यकता होती है। इन्हीं को वेद में खनित्र कहा गया है। ऋग्वेद में एक स्थान पर भूमि खोदने के लिए खनित्र का प्रयोग किये जाने का उल्लेख मिलता है।[११५]

अगस्त्य: खनमान: खनित्रै: प्रजामपत्यं बलमिच्छमान:।

उभौ वर्णावृषिरुग्र: पुपोष सत्या देवेष्वाशिषो जगाम॥[११६]

अर्थात् अगस्त्य कुदाल से खोदता हुआ प्रजा, सन्तान और बल की इच्छा करता रहा। इस उग्र ऋषि ने दोनों वर्णों को पुष्ट किया और देवों के सत्य आशीर्वाद उसको प्राप्त हुए। मन्त्र में इस अर्थ को स्पष्ट करते हुए दामोदर

---

११०. ऋग्वेद, ४/५७/४, ८, अथर्ववेद, ६/१०२/१

१११. अथर्ववेद, ३/१७/६, 'शुनं वाहा: शुनं नर:।'

११२. वही, ६/९१/१, ८/९/१६, काठक संहिता, १५/२, 'सीरं वा द्वादशाथोगम्।

११३. शतपथ ब्राह्मण, ५/२/४/१३

११४. भगवान सिंह, हडप्पा सभ्यता और वैदिक साहित्य, पृ० ३८३

११५. ऋग्वेद, १/१७९/६

११६. ऋ०वे० १.१७९.६

सातवलेकर ने लिखा है कि- (१) तत्त्वज्ञानी स्वयं खेत में काम करता है, (२) देश के श्रेष्ठ और कनिष्ठ लोगों की उन्नति का मार्ग सोचता है, (३) अपना बल बढ़ाता है और उत्तम संतति पैदा करता है, (४) इस प्रकार के तत्त्वज्ञानी को परमात्मा का सहाय्य प्राप्त होता है।[११७] सम्भवत: इसकी सहायता से उस स्थान पर भूमि की खुदाई की जाती थी जो भूमि बहुत छोटी होती थी और जिस पर हल-बैल का प्रयोग सम्भव नहीं था या ऐसी असमतल भूमि जिस पर हल नहीं चल सकते थे। साथ ही ऋग्वेद में भूमि खोदकर जल निकालने अर्थात् कुआँ, नहर आदि खोदने के अर्थ में खनित्र का प्रयोग हुआ है। बौधायन धर्मसूत्र में भी कुद्दाल का उल्लेख मिलता है और उसे चलाने वाले को कुद्दालिक कहा गया है।[११८] आज भी इसे कुदाल ही कहते हैं।

दात्र या सृणि

फसलों के पक जाने पर उसे **दात्र**[११९] से काटा जाता था। दात्र शब्द दा धातु से बना है, जिसका अर्थ काटना होता है।[१२०] यास्क के अनुसार उदीच्य देश में जो दात्र था, प्राच्य देश में वही दांति (दात) कहलाता था।[१२१] पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार में आज भी दो प्रकार की हँसियाएँ प्रचलित हैं। एक में दाँत होते हैं और उस कारण उसे दंतुआ (दंतुल) हँसिया (हँसुआ) कहते हैं। वह कुछ-कुछ प्रत्यंचाहीन धनुष के आकार का होता है और धान, गेहूँ, मटर या घास जैसी फसलों तथा डण्ठलों वाली चीजों को काटता है। दूसरा विना दाँत का और अर्धचन्द्राकार होता है जो सोझऊ (सीधा) हँसुआ कहलाता है तथा ईख एवं अरहर जैसे मोटे डण्ठलों को काटता है। परन्तु हरियाणा तथा उसके निकटवर्ती क्षेत्रों में हँसिया के लिए दरान्ति शब्द का प्रयोग होता है।

वेदों में प्रयुक्त **सृणि**[१२२] शब्द भी दात्र के समान हंसिया का द्योतक है। परन्तु इस शब्द का अधिक प्रयोग नहीं होता था। आर०एस० शर्मा[१२३] के अनुसार उत्तर वैदिक साहित्य में हंसिया अथवा फसल काटने के अर्थों में 'लवित्र'[१२४] शब्द का प्रयोग प्रमुख रूप से किया गया है। वेदों में प्रयुक्त **'पर्शु'**[१२५] अथवा परशु शब्द को भी विद्वानों[१२६] ने हँसिये का द्योतक माना है। जो प्रत्यक्षत: **परशु**[१२७] शब्द का ही एक विभेदात्मक रूप है। इस प्रकार आज की भाँति वैदिक काल में भी लवनी का प्रमुख उपकरण हंसिया ही था। परन्तु यह हंसिया किस चीज का बना होता था, इस सम्बन्ध में वैदिक साहित्य से कोई जानकारी नहीं मिलती। सम्भवत: ये धातु के रहे होंगे।

---

११७. दामोदर सातवलेकर, पूर्वोक्त, पृ० २७

११८. बौधायन धर्मसूत्र, ३/२/५/६

११९. ऋग्वेद, ८/७८/१०, 'तवेदिन्द्राहमाशसा हस्ते दात्रं चना ददे।', १०/१३१/२, अथर्ववेद, १०/९/२४

१२०. दामोदर सातवलेकर, पूर्वोक्त, पृ० २८

१२१. निरुक्त, २/२

१२२. ऋग्वेद, १/५८/४, १०/१०१/३, 'श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत्सृण्यः पक्वमेयात्।' १०/१०१/६, अथर्ववेद, ३/१७/२, शतपथ ब्राह्मण, ७/२/२/५

१२३. आर०एस० शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति और सामाजिक संरचनाएँ, पृ० १००

१२४. देखे, वैदिक इण्डेक्स

१२५. अथर्ववेद, ९/७/६, ११/३/१२, ७/२८/१, १२/३/३१, 'प्रयच्छ पर्शुं त्वरया हरौषमहिंसन्त ओषधीर्दान्तु पर्वन्।

१२६. वैदिक इण्डेक्स, भाग १, पृ० ५७३

१२७. ऋग्वेद, १/१२७/३, ७/१०४/२१, अथर्ववेद, ३/१९/४, ७/२८/१, ११/९/१, काठक संहिता, १२/१०, शतपथ ब्राह्मण, ३/६/४/१०, ऐतरेय ब्राह्मण, २/३५, कौषीतकि ब्राह्मण, १०/१, कौषीतकि उपनिषद्, २/११

इस काल में मानव की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि लोहे का आविष्कार था, जिसके उद्धरण उत्तर वैदिक साहित्य में मिलते हैं और साथ ही पुरातात्त्विक उत्खननों से भी इस बात की पुष्टि होती है कि १००० ई०पू० के लगभग मानव को लोहे का ज्ञान हो गया था।[१२८] इस लोहे के आविष्कार ने कृषि के क्षेत्र में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन किए। इनकी सहायता से मनुष्य ने कृषि उपयोगी उपकरणों विशेषत: सकोटर कुल्हाडी (Socketed Axe) और फाल का निर्माण किया। इस कुल्हाड़ी की सहायता से उसे घने जंगलों को काटकर कृषि योग्य भूमि का विस्तार करने में बहुत अधिक मदद मिली। लेकिन दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति यह है कि वैदिक साहित्य में उल्लिखित इन उपकरणों का पुरातत्त्व के साथ कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सका है। यद्यपि पंजाब, हरियाणा, राजस्थान, उत्तर प्रदेश एवं बिहार के समीपवर्ती स्थानों की खुदाईयों से प्राप्त वस्तुओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस काल में मानव ने लौह उपकरणों का उपयोग करना प्रारम्भ कर दिया था, लेकिन इन लौह उपकरणों में कृषि उपयोगी उपकरणों की संख्या बहुत कम है। इस काल के केवल बाणाग्र, भाले के अग्रभाग और कुछ सीमा तक कीले ही प्राप्त हुई हैं। कुल्हाड़ी, कुदाल एवं दंराती विरल हैं। यद्यपि अतिरंजिखेडा से कुछ ऐसी वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं, जो कटाई के लिए प्रयुक्त हंसिया अथवा दरांत जैसी प्रतीत होती हैं, परन्तु इन्हें ठीक से पहचाना नहीं गया है।[१२९] लेकिन हल के फाल (Ploughshare) का अभी तक कोई अवशेष नहीं मिला है। यद्यपि प्रो० आर०एस० शर्मा ने एटा जनपद में जखेड़ा से एक हल का फाल प्राप्त होने का उल्लेख किया है, लेकिन वह ५०० ई०पू० से पहले का नहीं हो सकता है जो कि चित्रित घूसर मृद्भाण्ड परम्परा की समाप्ति का काल था। इस प्रकार चित्रित घूसर मृद्भाण्ड और लौह काल मूलत: लोहे के हथियारों का काल था, न कि लोहें के उपकरणों का।[१३०]

लेकिन यहाँ यह विचारणीय प्रश्न है कि जब इस काल में आर्यो ने लौह उपकरणों का निर्माण करना शुरू कर दिया था तो उन्होंने कृषि सम्बन्धी उपकरणों जैसे फाल आदि का निर्माण क्यों नहीं किया। जबकि इस काल में कृषि आर्यों का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व्यवसाय बन चुका था और वे कृषि की लगभग सभी क्रियाओं से भली-भाँति परिचित हो चुके थे। इसी प्रकार इस संस्कृति के बाद के स्तर उत्तर कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड संस्कृति के विभिन्न स्थलों से भी जो लौह उपकरण प्राप्त हुए हैं, उनमें भी कृषि सम्बन्धी उपकरणों की संख्या बहुत कम है। तो यह प्रश्न स्वाभाविक है कि ऐसा क्यों है? विचारोपरान्त प्रतीत होता है कि इस काल के जो लौह उपकरण प्राप्त हुए हैं, वे अधिकांशत: युद्धोपयोगी तथा घरेलू उपयोग के हैं, जिनका उपयोग प्राय: घर पर ही होता है, जबकि कृषि से सम्बन्धित उपकरणों का उपयोग मैदानी भूमि को जोतने तथा फसलों को काटने आदि में ही अधिकतर होता है। यह भूमि अधिकतर जल से परिपूर्ण, दलदली तथा अम्लीय होती है। ऐसी भूमि में लौह उपकरणों का अधिक समय तक सुरक्षित रहना असम्भव सा होता है और वे जंग खाकर मिट्टी के समान ही हो जाते हैं, जबकि घरेलू उपकरणों के उस प्रकार के सम्पर्क की सम्भावना कम ही रहती है, जिसके कारण वे लम्बे समय तक सुरक्षित रहते हैं। दूसरा पुरातत्त्ववेत्ता भी पुरास्थलों के मुख्य क्षेत्रों का ही उत्खनन कार्य करते हैं और मैदानी भागों को प्राय: ऐसे ही छोड़ देते हैं जिसके कारण कृषि सम्बन्धी उपकरणों के मिलने की सम्भावना प्राय: समाप्त हो जाती है। अत: ऐसी स्थिति में यह कहना कि वैदिक आर्य लोहे के बने हुए कृषि सम्बन्धी उपकरणों जैसे फाल आदि का प्रयोग नहीं करते थे, उचित नहीं जान पड़ता।

---

१२८. आर०एस० शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति और सामाजिक संरचनाएँ, पृ० ९६-९८

१२९. इण्डियन आर्कियालोजिकल रिव्यू, १९६५-६६

१३०. आर०एस० शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएँ, पृ० ९८-९९

इस सन्दर्भ में वी०एस० पाठक का यह विचार भी उपयुक्त ही जान पड़ता है कि इन स्थलों में बार-बार आने वाली बाढ़ों और मिट्टी की बराबर बनी रहने वाली नमी और उपजाऊपन तथा उसके अम्लीय तत्त्वों के कारण छोटे लौह उपकरणों का जमीन के भीतर बहुत दिनों तक पड़े रहकर बचा रहना असम्भव सा था। इन प्रदेशों में जंग लगकर वे जल्दी खराब हो गये होंगे। विशेषतः यह इस कारण भी हुआ होगा कि इन प्रदेशों में वर्षा ऋतु में भूमिगत पानी की सतह बहुत ऊपर आ जाती है और नीचे जमीनों में पानी वर्ष के कई-कई महीनों तक लगा ही रह जाता है। फलतः यहाँ से जो कुछ भी लौह वस्तुएँ प्राप्त हुई है वे जंग खाकर करीब-करीब नष्टप्रायः हैं और अब पहचानी भी नहीं जा सकती।[१३१]

धान्य के कटने के बाद जब उसको गट्ठरों में बांधा जाता था तो उसे **'पर्ष'** कहते थे।[१३२] इसके पश्चात् उसे गाड़ी पर लादकर सरलतापूर्वक खलियान अथवा **खल**[१३३] तक पहुँचाया जाता था। जहाँ पर अनाज और भूसे को अलग-अलग करने के लिए फसलों की मणनी की जाती थी।[१३४] अथर्ववेद में अन्नागार को **'शाला'**[१३५] और गृहस्वामी को **'शालापत्ति'**[१३६] कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण[१३७] में कृषि की जिन चार क्रियाओं का उल्लेख मिलता है उससे भी यह बात भली-भाँति स्पष्ट हो जाती है जहाँ कहा गया है कि (कृषन्तः) हल चलाते हैं, (वपन्तः) बीज बोते हैं, (लुनन्तः) धान्य काटते हैं, (मृणन्तः) धान्य कूटकर साफ करते हैं। इस प्रकार इसमें हल चलाने से लेकर धान्य घर में लाने तक की सारी प्रक्रियाएँ वर्णित हैं।

शूर्प और तितउ

अनाज को भूसे से पृथक् करने हेतु वैदिक काल में दो प्रमुख साधन थे- (१) **शूर्प**[१३८] या छाज, (२) तितउ[१३९] या चलनी। यहाँ पर शूर्प अन्न ओसाने के लिए प्रयुक्त एक बिनी हुई टोकरी का द्योतक है। जिसकी सहायता से भूसा उड़ाकर अन्न को अलग किया जाता था। अथर्ववेद[१४०] में प्रयुक्त 'वर्ष-वृद्ध' के आधार पर त्सिमर का कथन है कि यह अकसर सूखी लकड़ी की ही नहीं वरन् नरकट की बनी होती थी।[१४१] वैदिक इण्डेक्स के लेखकों के अनुसार ऋग्वेद में यह शब्द केवल एक बार मिलता है। यह संभवतः ओसाने के लिए प्रयुक्त उस पंखे का द्योतक है जिसका अन्न को परिष्कृत करने के लिए प्रयोग किया जाता था।[१४२] अथर्ववेद में इसके लिए **'पवन'** शब्द आया है।[१४३] जबकि तितउ

---

१३१. वी०एस० पाठक, प्राचीन भारत का आर्थिक इतिहास, पृ० १३२
१३२. ऋग्वेद, १०/४८/७, शतपथ ब्राह्मण, १२/४/२/५, दामोदर सातवलेकर, पूर्वोक्त, पृ० २८
१३३. वही, १०/४८/७, अथर्ववेद, ११/३/९, ८/६/१५, मैत्रायणी संहिता, २/९/६
१३४. शतपथ ब्राह्मण, १/६/१/३
१३५. अथर्ववेद, ३/१२/१, ९/३/१, ५/३१/५, ६/१०६/३, १४/१/६३, तैत्तिरीय ब्राह्मण, १/२/३/१, शतपथ ब्राह्मण, ३/१/१/६
१३६. वही, ९/३/१२
१३७. शतपथ ब्राह्मण, १/६/१/३
१३८. अथर्ववेद, ९/६/१६, 'शूर्पं पवित्रम्।', १०/९/२६, 'शूर्पे तण्डुलः कणः।' १२/३/१९, 'वर्षवृद्धमुप तुषं पलावानप तद्विनक्तु।' २०/१३६/९, तैत्तिरीय संहिता, १/६/८/३, तैत्तिरीय ब्राह्मण, १/६/५/४, ३/२/५/११
१३९. ऋग्वेद, १०/७१/२, 'सक्तुमिव तितउना पुनन्तः।'
१४०. अथर्ववेद, १२/३/१९
१४१. उद्धृत वैदिक इण्डेक्स, भाग २, पृ० ४३५
१४२. वही, भाग १, पृ० ३४४

(चलनी) द्वारा अवांछित धूलकणों को अनाज से पृथक् किया जाता था। मैकडॉनल एवं कीथ के अनुसार यह तृण से अन्न को पृथक् करने के लिए प्रयुक्त किसी यन्त्र का द्योतक है। अत: इससे एक चलनी अथवा ओसाने की टोकरी अर्थ हो सकता है।[१४४] गृह्यसूत्रों में इसका प्रयोग दाहक्रिया के उपरान्त शव की हड्डियों को साफ करने के अर्थ में हुआ है।[१४५]

अनाज को साफ करने वाला व्यक्ति '**धान्याकृत**' कहलाता था।[१४६] अनाज को नापकर उसे सुरक्षित रूप से रखने की व्यवस्था भी की जाती थी। जिस पात्र में अनाज को नापा जाता था उसे '**ऊर्दर**'[१४७] कहते थे। ऋग्वेद में यह शब्द केवल एक बार आया है जहाँ इन्द्र को सोम से उसी भाँति परिपूर्ण करने का सन्दर्भ है जिस प्रकार एक व्यक्ति ऊर्दर को यव (अन्न) से भरता है। सायण ने इसका अर्थ अन्नागार किया है, किन्तु रौथ तथा त्सिमर ने इसे अन्न संचित करने का साधन माना है और यही मत भी अधिक उचित प्रतीत होता है।[१४८] जिस घर में सुरक्षार्थ अनाज को रखा जाता था उसे '**स्थिवि**' कहा जाता था।[१४९] 'स्थिवि का तात्पर्य सम्भवत: आधुनिक धान्यागारों अथवा भण्डारों से हैं। आजकल भी ग्रामीण भारत में कृषि एवं अन्न भण्डारण का प्राय: यही तरीका दिखाई देता है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि वैदिक आर्य कृषि उपकरणों एवं उनके तकनीकी ज्ञान से भली-भाँति परिचित थे। आधुनिक काल की हरित क्रान्ति से पूर्व सामान्यतया भारत की कृषि इसी परम्परागत ज्ञान पर ही आधारित थी। आज भी कृषि में नए-नए यन्त्रों का प्रयोग करने के कारण ही खाद्य-उत्पादन में आत्मनिर्भरता प्राप्त की जा सकी है।

---

१४३. अथर्ववेद, १८/३/११, ४/३४/२, 'अनस्था: पूता पवनेन शुद्धा: शुचय: शुचिमपि यन्ति लोकम्।'
१४४. वैदिक इण्डेक्स, भाग १, पृ० ५७७
१४५. आश्वलायन गृह्यसूत्र, ४/५/७
१४६. ऋग्वेद, १०/९४/१३
१४७. वही, २/१४/११, 'तमूर्दरं न पृणता यवेनेन्द्रं सोमेभिस्तदपो वो अस्तु।'
१४८. वैदिक इण्डेक्स, भाग १, पृ० ११९
१४९. ऋग्वेद, १०/६८/३, 'बृहस्पति: पर्वतेभ्यो वितूर्या निर्गा ऊपे यवमिव स्थिविभ्य:।

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०१० अङ्क १४ (पृ०८१-८९) ISSN 0974 – 8830

वैदिक वाङ्मय में मानवतावादी सन्देश

डॉ.मोहर सिंह मीणा[1] एवं डॉ० गोपाल लाल मीणा[2]

वर्तमान के भौतिकवादी युग में मानवमात्र में आर्थिक प्रतिस्पर्धा, आत्मपरक-प्रवृत्ति, चरित्रहीनता, कृतघ्नता, असन्मार्ग का अवलम्बन, मिथ्या-प्रलाप, समाज एवं संस्कृति के प्रति उदासीनता आदि अनेक ऐसे दोष मानवीय समाज में व्याप्त हो गये हैं, जो मानवता विरोधी तथा मानव समाज के विनाशक हैं। इनके विद्यमान रहते हुये मानव कल्याण का लक्ष्य निश्चित ही अधूरा प्रतीत होता है। यदि हम यथार्थ रूप में मानव का उत्कर्ष एवं मानवीय मूल्यों की स्थापना करना चाहते हैं तो हमें वैदिक विचारधारा एवं महर्षि दयानन्द के अमर उद्घोष **वेदों की ओर लौटो** को आत्मसात् करना होगा।

मानवता के उत्कर्ष एवं वैदिक वाङ्मय की उपयोगिता एवं उपादेयता को कदापि विस्मृत नहीं किया जा सकता। विश्व में सत्य, अहिंसा, शान्ति, प्रेम, भातृत्व, सद्भावना, सामञ्जस्य, विश्वबन्धुता एवं समन्वय की भावना को प्रतिष्ठापित करने में वेद अपनी उत्कृष्ट भूमिका का निर्वाह करते हैं। जर्मन विद्वान् प्रो० मैक्समूलर ने अपनी कृति **इण्डिया-ह्वाट कैन इज टीच अस** में लिखा है कि हम यूरोपवासी जो अब तक केवल ग्रीक, रोमन तथा यहूदी विचारों में पलते रहे हैं, किस सत् साहित्य से प्रेरणा ले सकते हैं, जो हमारे भीतरी जीवन का परिशोधन करे, उसे उन्नति के पथ पर अग्रसर करे, व्यापक बनाये, सही अर्थों में मानव बनाये, ध्येय इस पार्थिव जीवन को नहीं हमारी सनातन आस्था को शान्ति मिले, तो फिर मेरी अङ्गुली भारत की तरफ उठेगी। वेद एवं भारतीय तत्त्वदर्शियों के चिन्तन, मनन एवं अन्वेषण ने न केवल भारतीय धरा को ही ज्ञानसलिल से आप्लावित किया है अपितु विश्व समुदाय को भी आलोकित एवं आलोडित किया। वैदिक वाङ्मय के फलस्वरूप ही भारत **विश्वगुरु की उपाधि** से विभूषित एवं सुशोभित हुआ। यही विचारधारा है जिसकी मौलिकता के आलोक में अन्य ग्रन्थों ने भी मानव-जाति को दिव्य गुणों, अध्यात्म, आचार-विचार तथा चरित्र की शिक्षा दी है, उसमें गुरुवाणियों के रूप में उपनिबद्ध अत्यन्त पवित्र ग्रन्थ उपनिषद् अग्रणी है। निश्चय ही इसमें प्रतिपादित एवं व्याख्यापित विचारधाराएँ लोक-कल्याण एवं विश्वशान्ति का सन्देश देती हैं।

भारतीय चिन्तन में वेदों को अपौरुषेय, ईश्वरवाणी तथा सृष्टि के आरम्भ में आदि ऋषियों के हृदयों में प्रकाशित ज्ञान माना गया है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद इन चारों वेदों में मन्त्रों की संख्या २० हजार से अधिक है। महर्षि मनु एवं अन्य ऋषियों ने वेद को **वेदोऽखिलो धर्ममूलम्**[3] कहकर वेद को सभी धर्मों का मूल एवं सभी विद्याओं का भण्डार कहा गया है। इनको संसार एवं मानव जाति का आदि ग्रन्थ माना गया है। परवर्ती वाङ्मय के विस्तार में इन्हीं का महनीय एवं मौलिक योगदान रहा है। वेद, वैदिक संस्कृत भाषा में निबद्ध तथा सैंकड़ों ऋषियों के हृदय में परमात्म-प्रेरणा स्वरूपतः प्रकाशित मन्त्रों की राशि के रूप में गुम्फित है।

वैदिक वाङ्मय सर्वविध ज्ञान-विज्ञान एवं विश्व संस्कृति का उन्मेषक भण्डार है। **या संस्कृतिः सा प्रथमा**

---

१. असिस्टेंट प्रोफेसर संस्कृत-विभाग, गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार।
२. असिस्टेण्ट प्रोफेसर, आयुर्वेद संहिता, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
३. मनुस्मृति २.१

विश्ववारा[४] अर्थात् धर्म एवं सभ्यता की विपुल सम्पदा वेद की आधारभूमि पर ही विकसित हुई है। वस्तुतः वेद ही सम्पूर्ण मानव जाति के लिए एक शाश्वत संविधान एवं आचार संहिता है। वेदों के प्रसिद्ध भाष्यकार आचार्य सायण का कहना है कि **इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति सः वेदः**[५] अर्थात् इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट का परिहार करना वेद का नैसर्गिक सन्देश है। दूसरे शब्दों में कहा गया है कि वेद उन्नति और प्रगति का मार्ग प्रशस्त करता हुआ दुष्कर्मों के कुपरिणामों से सतत निवृत्ति की प्रेरणा देता है। वेद पुरुषार्थ-चतुष्टय पर बल देता है तथा उनकी प्रेरणा का अन्तिम लक्ष्य सांसारिक प्रलोभनों को त्यागकर वास्तविक सत्य का अन्वेषण करना अर्थात् **सा विद्या विमुक्तये** रहा है। वेद, सन्त एवं ऋषियों की चिन्तन परम्परा में ज्ञान का लक्ष्य निःश्रेयस् ही रहा है। अन्धकार से प्रकाश की ओर, असत्य से सत्य की ओर तथा मृत्यु से अमृत की ओर गमन करने का सन्देश देते हुए कहा गया है कि-

असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्माऽमृतं गमय।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।।[६]

मानव एक चिन्तनशील, तत्त्वदर्शी एवं बुद्धि प्रधान प्राणी है और बुद्धि तत्त्व की कामना वेद बहुशः करता है।[७] वेद ने मानव को सच्चे अर्थों में मानव बनने एवं दिव्यगुणों को धारण करने हेतु प्रेरित किया है।[८] मानव के जीवन पथ में अनेकानेक विघ्न बाधाओं के परिणामस्वरूप मानवीय एवं नैतिक मूल्यों के ह्रास की सम्भावना बनी रहती है, इसीलिए सतत सचेत रहने की दृष्टि से वेद ने **मनुर्भव**[९] का उपदेश दिया है। मानवीय जीवन में उदात्त मूल्यों के संरक्षण एवं संवर्धन को अत्यावश्यक समझा है, इन्हीं को लक्ष्य कर वेद ने उदात्त मानवीय मूल्यों के आश्रयभूत रहकर जीवन जीने की प्रेरणा प्रदान की है, इन्हीं नैतिक मूल्यों का स्वरूप अन्य धर्म ग्रन्थों एवं साहित्य में सरल, सरस, मनोहर एवं हृदयग्राह्य प्रस्फुटित हुआ है।

वैदिक वाङ्मय में सर्वत्र धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष आदि के पर्यालोक में अध्यात्म, नैतिकता, आचार संहिता, सन्मार्गगामिता, विधि-निषेध का ज्ञान, लौकिक एवं पारलौकिक उत्कर्ष, आत्म-संयम, मर्यादा-पालन इत्यादि का सारगर्भित एवं सार्वभौमिक विवेचन हुआ है। सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में भेदभाव से रहित सामान्य धर्म-निर्वहन, कर्त्तव्य-पालन एवं मानवोचित दिव्यगुणों को ग्रहण करने का सन्देश दिया गया है। यथा-

पारिवारिक आदर्श-मानव जीवन की एक सर्वाधिक प्रमुख इकाई है- परिवार। प्रत्येक सदस्य परस्पर आजीवन जुड़ा रहता है, उनके लिए प्रशस्त आदर्श का सन्देश अथर्ववेद देता है कि प्रत्येक का कर्त्तव्य है कि अपने माता-पिता के प्रति स्वस्तिमय सद्भाव का आचरण करे, कदापि उनकी उपेक्षा न करता हुआ, उन्हें सदैव सत्कृत एवं सन्तुष्ट रखें।[१०] वेद की यह शिक्षा सुतराम् धारणीय होनी चाहिए कि जन्मोपरान्त बचपन में माता-पिता को कष्ट पहुँचाता हुआ मैं स्वयं अत्यन्त प्रमुदित रहा तो मुझे चाहिए कि जन्मोपरान्त बचपन में माता-पिता को कष्ट पहुँचाता हुआ मैं स्वयं

---

४. वाजसनेयी संहिता (यजुर्वेद) ७/१४ शतपथ ब्रा० ४/२०/१२७
५. तैत्ति०सं०सा०भाष्य
६. बृहद्०उप० १.३.१८ यजु० ४०.१४
७. ऋग्० १०.५३.६, तै०सं० ३.४.२२
८. भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।। ऋग० ३.६२.१०, यजु० २६.३
९. मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्। ऋग्० १०.३.६
१०. स्वस्ति मात्र उत पित्रो नो अस्तु। अथर्व० १.३१.४

अत्यन्त प्रमुदित रहा तो मुझे चाहिए कि वे शिथिल हो चले हैं, उन्हें कदापि किसी भी रूप में पीड़ित न करता हुआ उनकी सदा सेवा एवं सत्कार में रहकर प्रसन्नतापूर्वक उनके ऋण से उर्ऋण होऊँ,[११] इसी दिशा में पारिवारिक सदस्यों को वेदोक्त आचार संहिता अपने जीवन में इस आचार को अपनाने को कहती है कि पुत्र, पिता के अनुकूल कर्त्तव्यनिष्ठ.होवे, माता के साथ श्रद्धायुक्त मनवाला रहे, पत्नी, पति के प्रति मधुर, शान्तिमय वाणी का व्यवहार करे, भाई-भाई के प्रति द्वेष न करे, बहिन-बहिन के साथ प्रेम के साथ व्यवहार करे तथा अन्य सभी परस्पर प्रेम एवं सद्भाव रखें[१२] इससे पूर्व अथर्ववेद ने स्पष्ट सन्देश दिया है कि परम सत्ता की ओर से सभी सदस्यों का हृदय परस्पर प्रेम एवं सद्भाव वाला बनाया गया है, इसलिए परस्पर एक-दूसरे को सभी तरह से चाहो जैसे गौ अपने सद्योजात अभिनव बछड़े के प्रति अत्यन्त स्नेह रखती है, वैसे तुम भी सब परस्पर छल कपट, द्वेष से सर्वथा रहित होकर विशुद्ध स्नेह से युक्त होकर आनन्दित रहो।[१३] वैदिक वाङ्मय में अनेक स्थलों पर यही ध्वनित होता है कि सुखी संसार एवं जीवन का मेरुदण्ड सुखी परिवार एवं गृहस्थ है। जहाँ परस्पर प्रेम, स्नेह, मधुर व्यवहार एवं बड़ों का सम्मान हो, यही सुखी परिवार के लक्षण हैं।

पुण्यमयी एवं भद्रा लक्ष्मी प्राप्ति-सन्देश

वेद अन्याय, अनीति, रिश्वत अथवा विना परिश्रम एवं किसी को कष्ट देकर अर्जित लक्ष्मी अर्थात् धन मानव को विनाशकारी, समाज में संघर्षकारी एवं पापकारी बनाता है। श्रम, धर्मयुक्त उपायों, तथा दूसरों को विना कष्ट पहुँचाए अर्जित लक्ष्मी की वेद प्रशंसा करता है और मानव के लिए यह कहते हुए चेताता है कि जिस प्रकार वन्दना (अमरबेल) नामक लता हरे-भरे वृक्ष को पनपने नहीं देती, शोषण करती है उसी प्रकार भ्रष्ट तरीके से अर्जित लक्ष्मी दुर्गतिकारिणी एवं धर्म व नीति से भ्रष्ट करने वाली होती है। वेदों में दोषपूर्ण लक्ष्मी से सदा दूर रहने का परामर्श दिया गया है।[१४] पुण्यार्जित लक्ष्मी में रमण करने से अत्यन्त सुख शान्ति मिलती है तथा पापमय साधनों से अर्जित कुलक्ष्मी उसी मनुष्य को सकुल बार-बार नाश करती है, **अनीनशमः** आख्यात पद बार-बार नाश करने की ओर इङ्गित करता है। ऐसी पापमयी लक्ष्मी को घर से दूर चले जाने एवं दूर रहने की प्रार्थना की गई है।[१५] अतः हमें गलत तरीकों से धनार्जन नहीं करना चाहिये, क्योंकि इस प्रकार से अर्जित किया गया धन अपकर्ष, अशान्ति एवं दुःखों का कारण बनता है, ऐसा वेद में स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है।

विकास का आधार दुराचरण निवारण

वेद का दृढ़ सन्देश है कि मानव जब तक दुराचरण व दुर्व्यसनों को तिलाञ्जलि नहीं देता तब तक सच्चे अर्थों में उसके मानवीय गुणों का विकास होना नितान्त असम्भव है। इस सम्बन्ध में गुरु नानकदेव की एक पवित्र वाणी का

---

११. यदापिवेष मातरं पुत्रः भवतु प्रमुदितो धयन्। एतत्तदग्रे अनृणो भवाम्यहतौ पितरौ मया॥ यजु० १९.११

१२. अनुव्रतः पितु पुत्रो मात्रा भवतु संमना। जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवान्॥ मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा। सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदतु भद्रया। अथर्व० ३.३०.२-३

१३. सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः। अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या। अथर्व० ३.३०.१

१४. या मा लक्ष्मी पतयालूरजुष्टाभिचस्कन्द वन्दनेव वृक्षम्। अन्यत्रास्मात् सवितस्तामितो धा.हिरण्यहस्तो वसु नो रराणः॥ अथर्व० ७.११५.२

१५. प्र पतेतः पाप लक्ष्मि नश्येतः प्रामुतः पत॥ अथर्व० ७.११५.१ रमन्तां पुण्यां लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम्। अथर्व० ७.११५.४

उल्लेख मिलता है जिसमें उन्होंने धर्म के मार्ग पर चलने वालों को कुकर्मों से सर्वथा के लिए तिलाञ्जलि देने का उपदेश किया है। ऐसा सुकृतकर्मी ही ईश्वर का ध्यान कर सकता है।[16] इन दुर्व्यसनों एवं दुराचरणों के फलस्वरूप मनुष्य का अन्तःस्थल पशुता व दानवीय दुर्गुणों का भण्डार बन जाता है, जिससे वह अविलम्ब ही छुटकारा पाये यह ऋग्वेद का कहना है।[17] इसलिए मानवीय गुणों के विकास के लिए जाग्रत अथवा सुप्तावस्था अथवा ज्ञातावस्था में बुरे संस्कारों, दुष्प्रवृत्तियों एवं दुष्टाचरणों को जीवन में स्थान कथमपि न देना परम आवश्यक है।[18] काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहङ्कार इत्यादि दुर्गुण मनुष्य की मनुष्यता को भ्रष्ट कर देते हैं। इसलिए जो व्यक्ति पढ़ने तथा शिक्षा लेने के उपरान्त भी लोभ, अहङ्कार में लिप्त रहता है, वह पढ़ा हुआ मूर्ख ही है अर्थात् अपने आचार-विचार से भ्रष्ट है।

सुखी जीवन में माधुर्य का प्रातिष्ठ्य

मानवीय जीवन के सौन्दर्य में मधुरता की अहं भूमिका को वेद ने रेखाङ्कित किया है। मधुरता का अभिप्राय सहजता, नैसर्गिकता, सरलता एवं मधुर वाक् प्रयोग है। जीवन के उत्कर्ष एवं आनन्द में इन गुणों की अत्यन्त प्रतिष्ठा है। मधुर वाणी प्रयोग का उद्देश्य दुःखों से रक्षा करना माना जाता है। बनावटी जीवन, कर्कश व्यवहार एवं कठोर वाणी का प्रयोग वस्तुतः सामाजिक अथवा वैधानिक दृष्टि से विशेष दोष या अपराध न होने पर भी नैतिक दृष्टि से अपराध माना जाता है। ऋग्वेद ने कर्कश व्यवहारकर्त्ता एवं कठोर वाक् प्रयोग करने वालों की निन्दा करते हुए उन्हें गर्हित व्यक्ति कहा है[19] जैसा जीवन वैसा मरण यह सामान्य नियम है। जीवन की मधुरता अथवा कटुता क्रमशः निर्भर करती है मधुर वाग्व्यवहार पर। अतः मानवीय जीवन अच्छा, मधुर एवं सुखकारी हो एतदर्थ अथर्ववेद में मधुरता का उल्लेख उदात्तरूप से मिलता है।[20] इसी के साथ ही परस्पर मधुर सम्भाषण करने, वृद्धों का मधुरता से सम्मान करने, सुविचारशीलों को एकमत होने पर पर्याप्त बल दिया गया है।[21] किसी को दुःख पहुँचाने वाला कठोर वचन न बोलना ही वचन की पवित्रता है। बहु, व्यर्थ या अनर्गलभाषण ही वचन की अपवित्रता है, अतः वचनों में शुचिता एवं परनिन्दा का परिहार आवश्यक है।

मित्रभाव एवं विश्वबन्धुत्व

वैदिक मान्यता ने इस संसार में सभी को समानाधिकार, समभाव एवं परस्पर सङ्गठनात्मक प्रवृत्ति पर बल दिया है। सभी को समान अवसर एवं मातृभाव मिले तो इस सङ्गठनात्मक दृष्टि से सभी को न्याय मिलता है।[22] वेद ने तो स्पष्ट संकेत दिया है कि प्रत्येक मानव का अन्न, जल इत्यादि प्राकृतिक भोग्य पदार्थों पर समान अधिकार है तथा सभी

---

१६. सेव कीती संतोखीइऔ जिन्हीं सचु धिआइआ। ओन्हीं मन्दै पैरु न रखिओ करि सुकृतु धरमु कमाइआ॥ श्रीगु०ग्र०सा० पृ० २८४

१७. श्रेष्ठो जातस्य रुद्र श्रियासि तवस्तमस्तवसां वज्रबाहो। पर्षि णः पारमंहसः स्वस्ति विश्वा अभीति रपसो युयोधि॥ ऋग् २.३३.३

१८. यदाशसा निःशसाभिशसोपारिम जाग्रतो यत् स्वपन्तः। अग्निर्विश्वान्यप दुष्कृतान्यजुष्टान्यारे अस्मद् दधातु॥ ऋग्० १०.१६४.३

१९. इंद्राग्नी अवसा गतमस्यभ्यं चर्पणीसहा। मा नो दुशंसः ईशत॥ ऋग् ७.९४.७

२०. जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्। ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि॥ मधुमन्मे निष्क्रमणं मधुमन्मे परायणम्। वाचा वदामि मधुमत् भूयासं मधुसन्दृशम्॥ अथर्व १.३४.२-३

२१. ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वियौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः। अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोमि॥ अथर्व० ३.१३.५

२२. स वः पृच्यन्तां तन्वः सं मनांसि समुव्रता। स वोऽयं ब्रह्मणस्पतिर्भगः सं वो अजीगमत्। अथर्व० ६.७४.१

इस तरह सङ्गठित रहें जैसे रथ के पहिए के अरे एक केन्द्र में स्थित रहते हैं। निश्चय ही यहाँ सह-अस्तित्व की अवधारणा मानव के लिए आवश्यक बताई गई है।[२३] सभी मिलकर अभ्युदयकारक अच्छे सत्य-हित-प्रिय वाक्यों को ही बोलें तथा सभी के मन, सुखदु:खादिरूप भाव को सबके लिए समानरूप से जानें। परस्पर अलगावभाव या विरोध मानव विरोधी आचरण है। सभी के हृदय सङ्कल्प, मन, निश्चय, प्रयत्न समान समभाव वाले हों, यह मानव के लिए सन्देश वेद में पहले से ही निर्धारित कर दिया गया है।[२४] वेद में द्वेष को ऐसा मानवीय दुर्गुण कहा है जिससे सिवाय शत्रुता के कुछ भी प्राप्त नहीं होता, इसलिए अथर्ववेदीय **मनसा परिक्रमा** के मन्त्रों में द्वेष की प्रवृत्ति को प्रभु की न्याय व्यवस्था में रखने की बात कही गई है।[२५] यजुर्वेद ने परस्पर मिलकर रक्षा करनें, भोज्य पदार्थों का सेवन करने, अध्ययन करने की चर्चा कर मैत्रीभाव रखना एवं द्वेषभावों से सुतराम् दूर रहने पर बल दिया है।[२६] ऋग्वेदीय ऋचा में द्वेष एवं असूया को प्राय: समतुल्य कहा है। और इस द्वेष व असूया के जन्म में वस्तुत: मानसिक दुर्बलता मूल कारण है, जो पाप एवं अपराध की ओर उन्मुख करती है।[२७] यही कारण है कि वेद ने द्वेष भाव का शमन करने के लिए प्राणियों से मित्रभाव रखना अनिवार्य कहा है।[२८] यही भावना है विश्वबन्धुत्व की और यही कारण था वैदिक परम्परा एवं संस्कृति से ही निकला एक विश्व प्रसिद्ध उद्घोष **वसुधैव कुटुम्बकम्।** यह थी उदात्त परिकल्पना वैदिक चिन्तन की जिसमें एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति की रक्षा की बात कही गई है।[२९] केवल मानव, मानवमात्र की रक्षा अपितु प्राणिमात्र अर्थात् द्विपाद्, चतुष्पाद् आदि प्राणियों की रक्षा कल्याण एवं हित की बात कही गई है।[३०] वैदिक साहित्य एवं आचार्यों/सन्तों की वाणी में व्यक्ति और समाज से ऊपर उठकर विश्व के कल्याण की बात कही गई है। यहाँ **सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया:। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दु:खभाग् भवेत्-** ही विश्वबन्धुत्व एवं विश्वकल्याण भावना की दृष्टि है।

मानवजीवनसौन्दर्य

मानव के जीवन को वैदिक कर्म-सिद्धान्तानुसार सुखदु:खात्मक कहा है, परन्तु मानव अति काम-क्रोध-लोभ-मद-मात्सर्य के कारण अपने जीवन को दु:खयुक्त ही कर लेता है। इन्हीं अतिदु:खों एवं असफलताओं के वशीभूत जीवन में नीरसता, असरसता एवं नारकीयता के कारण आत्महत्या तक कर लेता है, परन्तु वेद ने जीवन को एक संग्राम मानते हुए अपने लक्ष्य साधन के लिए यह कहते हुए सतत अध्यवसायी बताया है और प्रेरणा दी है कि जिस व्यक्ति ने

---

२३. समानी प्रपा सह वोऽन्नभाग: समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि। सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभित:॥ अथर्व ३.३०.६

२४. सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्। देवा भागं यथा पूर्वे सं जानाना उपासते॥ ऋग० १.१९१.२ मा वि यौष्ट अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त। अथर्व० ३.३०.४ समानी व आकूति: समाना हृदयानि व:। समानमस्तु वो मनो यथा व: सुसहासति॥ ऋग् १०.१९१.४ समानो मन्त्र: समिति: समानी मन: सह चित्तमेषाम्। समानं मन्त्रमभिमत्रये व: समानेन वो हविषा जुहोमि॥ ऋग् १०.१९१.२

२५. योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्म:॥ अथर्व० ३.२७.१-६

२६. सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै। तैत्ति० आ० ९/१

२७. इद्रासोमा समघशंसमभ्यघं तपुर्ययस्तु चरुरग्निवाँ इव। ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे घोरचक्षसे द्वेषो धत्तमनवायं किमीदने॥ ऋग् ७.१०४.२

२८. दृते दृ:ह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याऽहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥ यजु० ३६.१८

२९. पुमान्पुमांसं परिपातु विश्वत:। ऋग० ६.७५.१४

३०. शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे। ऋग० ७.५४.१

जन्म लिया है वह जीवन को सुन्दर बनाने के लिए उत्पन्न हुआ है, क्योंकि धीर व्यक्ति अपनी मननशक्ति से अपने कर्मों में पवित्रता रखते हैं।[३१] जिस कार्य को करना पुण्य माना जाता है वह धर्म और जिसके करने से पाप होता है वह अधर्म है। अत: वेदों में पापकर्मों का निषेध किया है, वेद में पाप के लिए दुरित, एनस्, अंहस्, अघ, अनृत, अवद्य, आगस्, किल्विष, दुष्कृत, रेपस्, रिप्र, अमेध्य इत्यादि पदों का व्यवहार हुआ है। जो व्यक्ति पाप को प्यार करते हैं, वे पाप का बोझ व्यर्थ में उठाते हैं और अपने व्यवहार व कार्य-व्यापार में उसी का विस्तार करते हैं, परन्तु जो मानव पापवृत्तियों को त्यागकर आत्म स्वरूप को पहचान लेता है, उसे शोक, सन्ताप, वियोग, आदि नहीं छू पाते। यही मानव जीवन की सार्थकता है। मानव जीवन की सार्थकता इसी में है कि जब वह धर्म के तत्त्वों के जानने में ही लगे रहने की अपेक्षा शुद्धाचरण पालन में रहे। वही सच्चे सुख एवं नि:श्रेयस् को प्राप्त कर सकता है। यही जीवन का वास्तविक सौन्दर्य है।

सत्य का सन्देश

ऋग्वेद में ऋत अर्थात् सत्य को धर्म कहा गया है- **सुगा ऋतस्य पन्था:** इस वाक्य से स्पष्ट है कि धर्म सुख से गमन करने योग्य है। भवसागर से पार लगाने वाले सत्य-तत्त्व को उच्चता प्रदान की गई है।[३२]

इसका पालन ही वास्तविक धर्म है।[३३] अत: धर्म ही सत्य और सत्य ही धर्म का ऐसा तत्त्व है जो अभ्युदय और नि:श्रेयस् सिद्धि का प्रदायक है। ऐसा महर्षि कणाद ने वैशेषिक दर्शन में स्वीकार किया है।[३४] यद्यपि महर्षि मनु ने सत्य को धर्म के दश तत्त्वों में प्रमुख तत्त्व माना है।[३५]

अहिंसा

वैदिक वाङ्मय एवं ऋषियों, सन्तों व आचार्यों ने सत्याचरण के अतिरिक्त अहिंसा को उदात्त मानवीय गुण कहा है। **अहिंसा परमो धर्म:** वैदिक संस्कृति का महावाक्य है जो संसार के मनुष्यों के लिए दूसरों को कष्ट न पहुँचाने का सन्देश है। महर्षि पतञ्जलि ने कहा है कि अहिंस्य भाव रखने से संसार के प्राणियों के साथ वैरभाव का हमेशा-हमेशा के लिए त्याग हो जाता है।[३६]

अहिंसा एक ऐसा पावन गुण एवं कर्म है जिससे मानव आजीवन सुख-शान्ति से रह सकता है। किसी भी प्राणी को मन-वचन एवं कर्म से कष्ट पहुँचाना शारीरिक क्षति करना, वध करना, मारना आदि ये सब हिंस्य कर्म माने गये हैं। इसलिए वेद ने कहा है कि किसी भी प्राणी को कष्ट न दो ना मारो।[३७] ऋग्वेद में अहिंसक के लिए **अवृक** पद का प्रयोग किया गया है।[३८] अन्यत्र हिंसा से रहित अनिन्द्य, पापरहित तथा स्तोता बनने की प्रेरणा मिलती है।[३९] सभी मानव

---

३१. जातो जायते सुदिनत्वे अह्नां समर्य आ विदथे वर्धमान:। पुनन्ति धीरा अपसो मनीषा देवया विप्र उदिर्यति वाचम्॥ ऋग् ३.८.५
३२. सत्यस्य नाव: सुकृतमपीपरन्॥ ऋग० ९.७३.१
३३. यो वै स धर्म सत्यं वै तत्। तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति॥ बृहद० उप० १.४.१४
३४. यतोऽभ्युदयनि:श्रेयससिद्धि: स धर्म:॥ वै०द० १.१.२
३५. धृति: क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिद्रियनिग्रह:। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ मनु० ६.९२
३६. अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्याग:। योग०द० २/६५
३७. मा हिंसीस्तन्वा प्रजा:। यजु० ४.१
३८. असुं य ईयुरवृका:। ऋग० १०.१५.१
३९. यथा चित्पूर्वे जरितार आसुरनेद्या अनवद्या अरिष्टा:। ऋग० ६.१९.४

को अदब्ध- अर्थात् अहिंसक होने का सन्देश वेद में विद्यमान है।[४०] इसलिए अहिंसा एवं अहिंस्यभाव को महाभारतकार ने परम धर्म, परम तप, परम सत्य, परम दान, परम यज्ञ, परम मित्र, परम तीर्थ एवं परम सुख कहा है।[४१] इसलिए महर्षि मनु ने मानव के लिए उद्घोषणा की कि जो मनुष्य किसी भी प्राणी का बन्धन या वध नहीं करता, कष्ट नहीं पहुँचाता और दूसरों का हितचिन्तक है, वह मनुष्य अपार सुख को प्राप्त करता है।[४२]

नारी सम्मान की भावना

वेदों द्वारा नारी जाति को अत्यन्त सम्मान एवं प्रतिष्ठा को प्रदान करने का सन्देश दिया गया है। इसके कन्या, माँ, दादी, बहिन, पत्नी इत्यादि रूप हैं, सभी रूपों में उसे सम्मान ही नहीं बल्कि पूज्य स्थान भी दिया गया है। महर्षि मनु ने तो यहाँ तक कह दिया है कि **यत्र नार्यन्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:। यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफला: क्रिया:।**[४३] अर्थात् जहाँ नारी जाति का सम्मान होता है वहाँ देवता अर्थात् दिव्य शक्तियाँ रमण करती हैं, जहाँ नारी का सम्मान नहीं होता उस समाज का पतन अवश्यम्भावी है। वस्तुत: वैदिक साहित्य में नारी जाति को परिवार, समाज एवं राष्ट्र का मेरुदण्ड कहा गया है। उसे त्याग, समर्पण, निष्ठा, धीरता, दिव्य शक्ति की प्रतिमूर्ति एवं साक्षात् लक्ष्मी कहा गया है। नारी जाति के विना मानव का अस्तित्व अधूरा ही नहीं असम्भव कहा गया है। यदि पिता के घर है तो वह कन्या स्वरूप में पूज्या एवं प्रियदर्शिनी है। ससुराल में जाने पर उस की संज्ञा वेद में साम्राज्ञी कही गई है अर्थात् जैसे नदियों में सिन्धु मान्य है उसी प्रकार समाज एवं कुल में स्त्री पूज्या है। अथर्ववेद का ऋषि तो उसे स्वसृ, श्वसुर, देवर, ननद, पति इत्यादि की साम्राज्ञी ही घोषित करता है।[४४] वस्तुत: वेद का यह उपदेश मानव के लिए वरदान है।

अकेला खानेवाला पापी

वेद में मानव के लिए सन्देश है कि कोई भूखा न रहे। सदा मिल बाँटकर खाने की अवधारणा वेद में बलवती है। जिसे धन की चञ्चलता और अस्थिरता का बोध नहीं है उसे वेद ने **अप्रचेता-अज्ञानी,** बेसमझी कहा है। जो मात्र धनलिप्सा में अन्यों को भूल जाता है, कञ्जूस हो जाता है ऐसे व्यक्ति को अन्न धनादि की प्राप्ति व्यर्थ है, क्योंकि वह अपने को उसका अकेले ही उपभोग एवं खानेवाला मानता है। ऐसे व्यक्ति को पापी कहा गया है और अपनी बहुत बड़ी हानि करता है।[४५] इसलिए ऋग्वेद कहता है अन्न अर्थात् भोग्य पदार्थ की कामना करने वाले निर्धन याचक को जो अन्न देता है, वही वास्तव में भोजन करता है, वही बहुत धन धान्य की प्राप्ति एवं रक्षा करने वाला होता है।[४६] इस वेदोक्त

---

४०. ऋग्० १.८९.१

४१. अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परं तप:। अहिंसा परमं सत्यं यतो धर्म: प्रवर्तते॥ अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तप:। अहिंसा परमो यज्ञश्चाहिंसा परमं फलम्॥ अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं सुखम्॥ सर्वदानफलं वापि नैतत् तुल्यमहिंसया॥ महा०अनु० पर्व ११५.२३-३०

४२. यो बन्धनवधक्लेशान् प्राणिनां न चिकीर्षति। स सर्वस्य हितप्रेप्सु सुखमत्यन्तमश्नुते॥ मनुस्मृति- ५.४६

४३. मनुस्मृति-३.५६

४४. यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा। एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युस्तं परेत्य॥ सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु। ननान्दु: सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्र्वा:॥ अथर्व० १४.१.४३-४४

४५. मोघमन्नं विन्दते अप्रचेता: सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य। नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥ ऋग्० १०.११७.६

४६. स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय। अस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम्॥ ऋग्० १०.११७.३

अवधारणा की प्रत्यक्ष क्रियान्विति यदि कहीं दिखाई देती है तो इसका साक्षात् स्वरूप गुरुलङ्गरों के रूप में प्रतिदिन देखने को मिलता है कि विना किसी भेदभाव के समानभाव से अन्नदान द्वारा पवित्र भाव बनाए जाते हैं। वहाँ अकेले खाने की भावना नहीं है। अतः स्पष्ट सन्देश है कि जिसके अन्न में अन्य व्यक्ति भाग नहीं लेते, वह सभी पापों से मुक्त नहीं होते।[४७] इसलिए मनुष्य अपने सम्मुख जीवन का दीर्घ पथ देखे और याचना करने वाले को दान देकर सुखी करे और स्वयं सुखी होवे।[४८]

विश्वशान्ति की अवधारणा

आज समस्त विश्व अशान्त दिखाई देता है। प्रायः प्रत्येक समाज, राष्ट्र एवं प्राकृतिक भूतत्त्वों में पर्यावरणिक अशान्ति इत्यादि अपनी चरम सीमा पर हैं। प्राकृतिक पदार्थों में भी असन्तुलन बनता जा रहा है, इस सम्बन्ध में वेदों में प्रारम्भ से ही अपनी चिन्ता से मानव को चेता दिया है। आज विश्व में अशान्ति का कारण भी मानव ही है। इसलिए मानव के लिए वेद का सन्देश है कि यदि मानवीय सृष्टि को बचाकर अपने अस्तित्व को बचाकर रखना चाहते हो तो द्युलोक, पृथिवीलोक, अन्तरिक्षलोक, जल, ओषधियाँ, वनस्पतियाँ, देवतत्त्वों और ब्रह्म में भी शान्ति बनाए रखने में सतत प्रयत्न करो।[४९] जपुजी साहिब की अन्तिम वाणी, पृ०-८ पर श्री गुरुनानक देव का इस सम्बन्ध में बड़ा ही सारगर्भित सन्देश है, जहाँ उन्होंने इन सभी प्राकृतिक दिव्य पदार्थों को आदरणीय शब्दों का प्रयोग कर इनमें शान्ति बनाए रखने की ओर संकेत दिया है, उन्होंने पवन, जल, पृथिवी को क्रमशः गुरु, पिता एवं माता बताया है, इस संसार के लिए जिनका कार्य मार्गदर्शन करना, पृथिवी पर वनस्पतियाँ, ओषधियाँ, जीवों का अस्तित्व एवं जीवन बनाए रखना है। अतः इसमें सदा शान्ति का बना रहना आवश्यक है, क्योंकि जीवों को मोक्ष तक पहुँचने के ये ही पवित्र सांसारिक साधन हैं।[५०] इसके उपाय में ऋग्वेद- ५.५१.१२, ६.५१.१६, ७.३४.४, ७.३५.५, ७.३५.८, ७.३५.९-११, ७.९८.११, १०.१८.३, १०.३५.१ इत्यादि सैकड़ों मन्त्रों में प्राकृतिक देवतत्त्वों, जल, वायु, औषधि, वनस्पति, द्यावापृथिवी, अन्तरिक्ष, सूर्य, अग्नि, नदियों, पर्वतों, पृथिवी, पर्जन्य को प्रदूषणमुक्त रखने तथा चेतन तत्त्वों यथा-प्राणियों के संरक्षण माता-पिता, आचार्य एवं पितरों के प्रति आदरभाव व सेवा शुश्रूषा इत्यादि द्वारा मानव को अपने उत्तरदायित्वों एवं कर्त्तव्यों द्वारा विश्वशान्ति स्थापित करना प्रत्येक मानव का कर्त्तव्य होना चाहिए। इसलिए वेद का ऋषि मानव के लिए समस्त दिशाओं को अपना मित्र बनाने की प्रेरणा देता है।[५१]

आध्यात्मिक सन्देश

वेदों को सभी सत्यविद्याओं का आगार माना गया है, जिसमें अध्यात्मविषयक पर्याप्त सामग्री विद्यमान है।

---

४७. सर्वो वा एषोऽजग्धपाप्मा यस्यान्नं नाश्नन्ति॥ अथर्व० ९.२.९

४८. पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयांसमनु पश्येत पन्थाम्॥ ऋग्० १०.११७.५

४९. द्यौ शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवा शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वं शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तरेधि॥ यजु० ३६.१७

५०. पवणु गुरु पाणी पिता माता धरति महतु। दिवसु राति दुइ दाई दाइआ खेलै सगल जगतु॥ चंगिआईआ बुरि आईआ वाचै धरमु हदूरि। करमी आपो आपणी के नेड़ै के दूरि॥ जिनी नामु धिआइया गये मसकति घालि। नानक ते मुख उजले केती छुटी नालि॥

५१. सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु। अथर्व० १९.१५.६ असपत्नाः प्रदिशो मे भवन्तु न वै त्वा द्विष्मो अभयं नो अस्तु॥ अथर्व० १९.१४.१

परवर्ती वाङ्मय में प्रायः सभी विद्याओं का विकास वेद से ही माना गया है। अध्यात्मपरक विकास के अनेक सन्दर्भों में बाद में विविध आयामों का स्पर्श किया हैं जीवात्म-परमात्म, मन, प्राण, बुद्धिपरक तथा कर्मविपाकगत हजारों मन्त्र वेदों में विद्यमान हैं। ऋग्वेद १.१६४.३० में उल्लेख है कि आत्मा अमर है, जिसका विनाश मृत्यु भी नहीं कर सकती है। इस जगत् का सृष्टिकर्त्ता परमात्मा सर्वज्ञ और जीवात्मा अल्पज्ञ है, परन्तु वह जब परमात्मा को योग के माध्यम से जान लेता है तब उसी परमात्मा में अपने को समाया हुआ पाता है।[५२] उसी परमात्मा को जानकर मोक्ष को प्राप्त करना ही श्रेयस्कर है इसके अलावा कोई उपाय नहीं है।[५३] वेदोत्तर परवर्ती वाङ्मय में अध्यात्म पक्ष को ही प्रबलता से प्रतिपादित किया गया है। वहाँ आत्मा, परमात्मा के स्वरूप का चिन्तन, मन व बुद्धि की सत्य से शुद्धि एवं अक्षर ओङ्कार का स्मरण, कीर्तन का प्रकृष्ट रूप एवं आत्मा-परमात्मा के मिलन का सुन्दर चित्रण सरस भाषा में मिलता है।

इस तरह संक्षेपतः उक्त सन्दर्भों से विवेचित है कि वेदों एवं वैदिक वाङ्मय ने प्रायः सभी परवर्ती वाङ्मय संस्कृति एवं सभ्यता को प्रभावित किया है केवल वेदों के अनुसरण से ही विश्वव्याप्त वर्तमानकालिक आपसी द्वेषभावना, हिंस्यभाव, कलुषित विचारधारा एवं असत्यता का परित्याग करके ही सत्य, धर्म, नैतिकता, मित्रता, द्वेषरहितता एवं विश्वबन्धुता की भावना को मानवमात्र के मन में आरोपित करके **वसुधैव कुटुम्बकम्** के ध्येय को प्राप्त किया जा सकता है। जो कि वर्तमान की मांग है।

---

५२. य इत्तद्विदुस्त इमे सहासते। ऋग्० १.१६४.३९
५३. वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ यजु० ३१.१८

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०१० अङ्क १४ (पृ०९०-९४) ISSN 0974 – 8830

ऋग्वेद में सतत जीवन की अवधारणा

डॉ० नीलम त्रिवेदी[1]

मृत्यु के बाद का जीवन मानव मात्र के लिये सदैव से एक रहस्य रहा है और उत्सुकता भी कि मृत्यु के बाद वह कहाँ जाता है। यदि वह आत्मा के रूप में है, तो आत्मा का क्या स्वरूप है। आत्मा किस रूप में रहती है। पुर्नजन्म होता है या नहीं? पितरों की हमारे जीवन में क्या भूमिका है ? ऐसे अनेक प्रश्न विचारशील मनुष्य को सदा से उद्वेलित करते रहे हैं। अनेक मत-मतान्तर के बाद एक बात जो अधिकांश धर्म स्वीकार करते हैं कि मृत्यु के बाद मनुष्य की आत्मा जीवित रहती है। देश, काल और दूरी तथा किसी प्रकार के संचार माध्यम के न होते हुये भी, एक सत्य को सभी ने स्वीकार किया है।

वर्तमान में यम, पितर, आत्मा एक विवादास्पद विषय है। पुनर्जन्म में हमारा पूर्ण विश्वास है, पर मरने के बाद जीव पहले कहाँ जाता है और कब जन्म लेता है। मरने के बाद मृतक की जीवात्मा का उसके सांसारिक सम्बन्धियों से कोई सम्बन्ध रहता है या नहीं, यदि रहता है, तो किस रूप में आदि अनेक प्रश्न हमारे सामने हैं। ऋग्वेद में इस विषय में क्या कहा गया है, यही इस शोधनिबन्ध में जानने का प्रयास है।

ऋग्वेद के दसवें मण्डल, सूक्त १६ मन्त्र १ के अनुसार जब तक देह सम्पूर्णतया जल नहीं जाती अथवा सम्पूर्णतया नष्ट नहीं हो जाती, तब तक आत्मा उस देह को छोड़कर स्थानान्तर में नहीं जाती। उस देह के आसपास ही मंडराती रहती है। इस निर्देशानुसार आत्मा को देह से शीघ्र मुक्त कराने के लिये व उसके लिये निर्धारित भावी स्थान पर शीघ्रता से पहुंचाने के लिये शरीर का शीघ्र दहन करना अधिक उत्तम है, क्योंकि अग्निदहन के सिवाय शरीर को सम्पूर्णतया शीघ्र नष्ट करने का अन्य कोई सुगम उपाय नहीं है।

मैनमग्ने वि दहो माभि शोचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम्।

यदा शृतं कृणवो जातवेदोऽथेमेनं प्र हिणुतात् पितृभ्य:।। [2]

मन्त्र के चतुर्थपाद से यह पता चलता है कि मृतात्मा शरीर से पृथक् होकर पितृलोक में जाती है। अग्नि आत्मा को पितृलोक में भेजती है।[3] वेद में मृतों के दो विभाग मिलते हैं-एक अग्निदग्ध और दूसरा अनग्निदग्ध। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक होगा कि ऋग्वेदानुसार जो अग्निदग्ध है और जो अनग्निदग्ध है दोनों का ही पुनर्जन्म होता है।[4]

वर्तमान में मुसलमान व ईसाई शव (मुर्दे) को गाड़ते हैं। पारसी पृथिवी के ऊपर वायु में रखते हैं। जलाना व

---

१ एसोसियेट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, दयानन्द गर्ल्स पी०जी० कालेज, कानपुर email- neelamtrivedi@rediffmail.com correspondence address- 4D/3 West Campus, H.B.T.I. Kanpur-208002.

२ ऋग्वेद १०-१६-१

३ ऋग्वेद १०-१६-१

४ ऋग्वेद १०-१५-१४

जल में बहाना हिन्दुओं में प्रचलित है, पर वेदानुसार आत्मा को देह से मुक्त कराने के लिये, शीघ्रता से निर्धारित भावी स्थान पर पहुंचाने के लिये मृत शरीर का शीघ्र दहन करना ही अधिक उत्तम है।[५] मृत्युपरान्त मृत देह देवों के वश में हो जाती है। शरीर में विद्यमान सभी तत्त्व अपने-अपने देवों के अंश में वापिस चले जाते हैं -

सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा।

अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः॥[६]

हे प्रेत! तेरी आंखें सूर्य को जावें, तेरी आत्मा वायु को जावे, जो धर्म से अर्थात् कर्मजन्य फल (पार्थिव आदि तत्त्व) पृथिवी में जा मिलें। जो जलीय है वह जल में जा मिले। औषधियों का अंश ओषधि में चला जाये अर्थात् जहाँ से जो-जो अंश तेरे शरीर में आया है, वह अंश वहाँ-वहाँ चला जाये।

अग्नि केवल मानव शरीर का ही नाश करती है, उसकी आत्मा को नष्ट नहीं कर सकती। मरणोपरान्त आत्मा को अग्नि नानाविध अर्चियों से शुद्ध करके सुकृत लोक में ले जाती है।[७]

यम जो मृत्यु का अधिष्ठाता है।[८] वह यमलोक जाने का मार्ग जानता है। प्रत्येक प्राणी को यम लोक में अवश्य जाना पड़ता है। यमलोक के मार्ग से कोई बच नहीं सकता।[९] सभी प्राणी अपने-अपने कर्मानुसार विभिन्न लोक में जाते हैं।[१०] यम का लोक कैसा है और वह कहाँ स्थित है, इस विषय में निम्न मन्त्र में वर्णन है -

नरा व शंसं पूषणमगोह्यमग्निं देवेद्धमभ्यर्चसे गिरा।

सूर्यामासा चन्द्रमसा यमं दिवि त्रितं वातमुषसमक्तुमश्विना॥[११]

यम लोक किस दिशा में स्थित है इसके विषय में अथर्ववेद में एक मन्त्र आया है जिससे ज्ञात होता है कि यम लोक दक्षिण दिशा में हैं[१२] (शायद यही कारण है कि जनसामान्य में यह धारणा है कि दक्षिणमुखी आवास शुभ नहीं होते है) अतः द्युलोक दक्षिण दिशा में स्थित है, यही यमलोक है घोर कर्म करने वालो पापियों को यमलोक में स्थान नहीं मिलता है। वे यमलोक से परे पापलोक में जाते हैं।[१३]

पितर द्युलोक में निवास करते हैं। द्युलोक तीन प्रकार का है, सबसे नीचे जिसमें मेघमण्डल स्थित है, दूसरा उससे ऊपर जिसमें गृह, नक्षत्र आदि स्थित हैं। तीसरा इससे ऊपर जो द्यौं के नाम से प्रख्यात है, यही वह द्युलोक है जिसमें पितर निवास करते हैं।[१४] पितर इन लोकों में कैसे और किस मार्ग से जाते हैं, उसके सम्बन्ध में 'पितृयाण' शब्द आया है, जिससे विदित होता है कि 'पितृयाण' और देवयान दो मार्ग हैं। पितृयाण मार्ग संभव है सूर्य किरणें हों। इसी

---

५ ऋग्वेद १०-१६-२
६ ऋग्वेद १०-१६-३
७ ऋग्वेद १०-१६-४
८ ऋग्वेद १०-१४-७
९ ऋग्वेद १०-१४-२
१० ऋग्वेद १०-१४-१, १६
११ ऋग्वेद १०-६४-३
१२ अथर्ववेद १८-२-४८
१३ ऋग्वेद १०-१०३-१२, १०-१५२-४, ७-१०४-३
१४ ऋग्वेद १-३५-६

पितृयाण मार्ग से पितर द्युलोक में जाते हैं।

द्वे स्तुती अशृणवं पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।

ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति यदन्तरा पितरं मातरं च।।[१५]

जहाँ हमारे पूर्व पितर गये हुये हैं वहाँ पहले मार्गों द्वारा तू जा वहाँ स्वधा से तृप्त होते हुये दोनों राजा यम और वरुण देव को देख।[१६]

इन मन्त्रों से ज्ञात होता है कि पितरों के जाने का मार्ग पितृयाण नाम से प्रसिद्ध है इसके अतिरिक्त एक मन्त्र ऐसा भी आया है जिसमें पितृयाण मार्ग से आने का भी उल्लेख पाया जाता है।[१७] हे सोम पान करने वाले पितरो! गहन पितृयाण मार्ग से आओ। हमारे लिये आयुष्य प्रजा तथा धन, सम्पत्ति दो। इससे विदित होता है कि पितृयाण मार्ग से पितरों का आवागमन होता है।

अग्नि को पितृयाण मार्ग का जानने वाला बताया गया है।[१८] अग्नि पितरों एवं पितृलोक को जानती है।[१९] इतना ही नहीं पितृलोक में जाकर पितरों को हवि पहुंचाती है।[२०] उनको हमारे यज्ञ में भी अपने साथ ले आती है।[२१] पितर सूर्य किरणों के साथ जाते हैं।[२२] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि पृथ्वी लोक की सीमा पार्थिव अग्नि पितरों को ले जाती है तथा द्युलोक में वही अग्नि सूर्य रूप में परिणत होकर ले जाती है। अग्नि को पितर अपना दूत बनाकर हमारे पास भेजते हैं और वह अग्नि हमारे पास से हवियों (कव्य) को ले जाकर पितरों को पहुंचाती है। पितरों को दी जाने वाली हवियों का नाम कव्य है।[२३] पितर स्वधा के आश्रय से जीते हैं। अत: पितरों को स्वधा देनी चाहिये।[२४] अत: पितर अपना दूत बना अग्नि को हवि लाने भेजते हैं। पितरों को यज्ञ में बुलाया जाता है।[२५] उन्हें हवि दी जाती है।[२६] पितर अग्नि द्वारा हवि को स्वीकार करते हैं।[२७] पितरों को दी जाने वाली अग्नि का नाम क्रव्याद है। क्रव्याद अग्नि का अर्थ है मांसाहारी अग्नि अर्थात् जिसमें मांस होम किया जाता है। क्रव्याद अग्नि का सम्बन्ध यमलोक से है।[२८] पितृलोक की अवधि पूर्ण होने पर अग्नि फिर जीवात्मा को मृर्त्य लोक में वापस लौटा लाती है।

ऋग्वैदिक ऋषि का मानना है कि मृत्यु के पश्चात् प्राप्त होने वाला परलोक का जीवन भी देहयुक्त ही होता है।

---

१५ ऋग्वेद १०-८८-१५
१६ ऋग्वेद १०-१४-७
१७ ऋग्वेद १०-१४-८
१८ ऋग्वेद १०-२-७
१९ ऋग्वेद १०-१५-१३
२० ऋग्वेद १०-१५-१२
२१ ऋग्वेद १०-१५-९,५,१०
२२ ऋग्वेद १०-१७-३
२३ ऋग्वेद १०-१६-११
२४ ऋग्वेद १०-१४-७
२५ ऋग्वेद १०-१४-५
२६ ऋग्वेद १०-१४-१३
२७ ऋग्वेद १०-१४-१४
२८ ऋग्वेद १०-१६-९,१०

जैसा निम्न मन्त्र में अग्निदेव से प्रार्थना करते हुये कहा गया है कि मृतक अपनी शेष आयु को पूर्ण करने हेतु शरीर से युक्त हो जाये -

अव सृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधाभिः।
आयुर्वसान उप वेतु शेषः सं गच्छतां तन्वा जातवेदः॥[२९]

हे अग्निदेव! जो यह प्रेतात्मा स्वाहा, स्वधा आदि से युक्त मन्त्रों से विचरण कर रहा है, उसे आप पितरों के पास पहुंचा दें तथा आपकी यदि कृपा हो तो अपनी शेष आयु को पूर्ण करने हेतु अस्थि एवं रक्तमय शरीर से युक्त हो जाये। इसी प्रकार एक अन्य मन्त्र में कहा गया है हे स्त्रीपुरुषो! तुम अपने कर्मों के बल से उत्कृष्ट लोक में पितरों तथा परमात्मा से मिलो और निन्दनीय कार्यों को त्याग कर पुनः पुनः अपने निज देह को प्राप्त हो, तेजस्वी बनो।[३०]

इस प्रकार मृत्युपरान्त पुण्यलोक की प्राप्ति के साथ यह भी दर्शाया है कि पृथ्वीलोक पर शरीर त्याग करने के पश्चात् सुकृत प्राणियों को परलोक में ऐसा दिव्य शरीर प्राप्त होता होगा जिससे स्वर्गादि सुखो का भोग किया जा सके।

मरने के बाद जीव एकदम पुर्नजन्म नहीं लेता, कम से कम सब जीव तो एकदम नहीं लेते। परलोक वासी जीवों का इस लोक वासी जीवों से सम्बन्ध बना रहता है। वे इस लोक में आकर यहाँ के जीवों के कार्यें में भाग लेते हैं तथा रक्षा आदि के कार्य भी करते हैं। अतः मध्यस्थ अग्नि के माध्यम से जीवित पितरों की तरह उनका भी समय-समय पर सत्कार करना चाहिये।[३१]

शरीर दहन की क्रिया के पश्चात् की जाने वाली प्रार्थना का निम्न मन्त्र यह सिद्ध करता है कि मृत्यूपरात जीवन है एवं उसका पुनर्जन्म भी है -

सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन्।
हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छस्व तन्वा सुवर्चाः॥[३२]

उत्कृष्ट व्योम के पितरों के साथ तू जा, यम के साथ स्वर्ग में जा। इष्टापूर्त के साथ स्वर्ग में जा, निन्द्य कार्यों का त्याग करके पुनः घर को आ अर्थात् पुनर्जन्म ले। उत्तम तेज से युक्त हुआ शरीर धारण करके विचरण कर।

पितरों के द्वारा किये जाने वाले कार्यों से भी मृत्यूपरांत जीवन सिद्ध है, सोम सम्पादन करने वाले कनिष्ठ, मध्यम तथा उत्कृष्ट पितर उन्नति करें।[३३] जिन हिंसा रहित सत्य वा यज्ञ को जानने वाले पितरों ने प्राण, बल व जीवन को प्राप्त कर लिया है, वे पितर संग्रामों में, युद्ध में वा बुलाये जाने पर हमारी रक्षा करें।[३४] ब्रह्म यज्ञ में, कर्म यज्ञ में, प्रतिष्ठा में, चेतना युक्त कार्यों में, संकल्प में[३५] आर्शीवाद कार्य में, देवों के आवाहन में पितर हमारी रक्षा करें, पाप से छुड़ाना, सुख व कल्याण करना[३६] गर्भधारण करना,[३७] संतति बढ़ाना[३८] पितरों के यज्ञ में आने प्रार्थना सुनने,[३९] आदि का उल्लेख

---

२९ ऋग्वेद १०-१६-५
३० ऋग्वेद १०-१४-८
३१ ऋग्वेद १०-१५-११
३२ ऋग्वेद १०-१४-८
३३ ऋग्वेद १०-१५-१
३४ ऋग्वेद १-१०६-३
३५ ऋग्वेद ६-५२-४
३६ ऋग्वेद ७-३५-१२

मिलता है। एक मन्त्र ऐसा भी प्राप्त होता है, जिसमें पितरों के द्वारा प्रकाश देने के महत्त्व को दर्शाया गया है, पितर बादलों का भेदन कर उसमें छिपे प्रकाश को प्राप्त कराते हैं।[४०]

उपर्युक्त समग्र विवेचन से स्पष्ट होता है कि प्राणी के कर्मफलों के भोग हेतु ही संसार की सृष्टि होती है। उसके द्वारा संचित कर्म ही उसके पुनर्जन्म के हेतु होते हैं। मृत्यु का अधिष्ठाता यम हमारे सभी कार्यों एवं गति को जानता है, उसके मार्ग से कोई बच नहीं सकता।[४१] मनुष्य का प्राणान्त होने पर उसकी आत्मा तीन प्रकार से विभिन्न योनियों में विचरण करती है। जीव के उत्तम कर्म पितरलोक प्रदान करते हैं, अधम कर्म नरक लोक (तिर्यगादि) लोक प्रदान करते हैं, जब कि पाप-पुण्य से मिश्रित कर्म उसे यह पृथ्वी लोक प्राप्त कराते हैं। जिसमें प्राणी पुनः पुनः जन्मों के द्वारा स्व-स्व कर्म फलों को भोगता है, पुनः जन्म ग्रहण करता है। अथर्ववेद में स्पष्ट रूप से पुनर्जन्म का वर्णन प्राप्त होता है जबकि ऋग्वेद में सूक्ष्म रूप से वर्णन है। ऋग्वेद में प्रार्थना की गयी है कि समस्त देवता मुझे पुनः प्राण, मन, इन्द्रियों को प्राप्त कराये, जीवात्मा मुझमे पुनः प्रवेश करे -

असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम्।
ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमनुमते मृळया नः स्वस्ति।।[४२]
पुनर्नो असुं पृथिवी ददातु पुनर्द्यौर्देवी पुनरन्तरिक्षम्।
पुनर्नः सोमस्तन्वं ददातु पुनः पूषा पथ्यां या स्वस्तिः।।[४३]

मनुष्य योनि ही कर्म योनि है शेष समस्त योनियाँ भोग योनि हैं। मनुष्य अपने शुभ कर्मों, विचारों से पितृलोक को प्राप्त करता है।[४४] कुत्सित आचरण से कीट पतंग आदि योनि में नरक भोगते हैं।[४५]

मृत्यूपरान्त वृत्तान्त का जानना मनुष्य की शक्ति के बाहर है, पर इतना सत्य है कि शरीर त्याग के बाद प्राणियों को ऐसा दिव्य देह युक्त शरीर प्राप्त होता है जिससे पितृलोक के सुखों का भोग किया जा सके।

---

३७ ऋग्वेद ९-८३-३
३८ ऋग्वेद १०-५६-६
३९ ऋग्वेद १०-१५-६
४० ऋग्वेद १०-१०७-१
४१ ऋग्वेद १०-१४-२
४२ ऋग्वेद १०-५९-६
४३ ऋग्वेद १०-५९-७
४४ ऋग्वेद १-९१-२०, ७-३५-४, १०-८५-२४
४५ ऋग्वेद १०-१०३-१२, ७-१०४-३, १०-१५२-४

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०१० अङ्क १४ (पृ०९५-९८) ISSN 0974 – 8830

ऋग्वेद के परिप्रेक्ष्य में संगीत

कु० निधि शर्मा[1]

वेद अक्षय विचारों का मानसरोवर है जहाँ से विचारधारा अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होकर भारतभूमि के मस्तिष्क को उर्वर बनाती हुई अपनी सत्ता के लिए उसी उद्गम भूमि पर अवलम्बित रहती है। ये भारतीय साहित्य के ही सर्वप्रथम ग्रन्थ नहीं हुई हैं; प्रत्युत मानवमात्र के इतिहास में इनसे बढ़कर प्राचीन ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हैं।[2] वेदों में हमारे जीवन से सम्बन्धित समस्त क्रिया कलापों का अन्तर्भाव है।[3] इसलिए आचार्य मनु ने कहा है कि -**वेदोऽखिलो धर्ममूलम्**।[4] ऋक्, यजु,साम और अथर्व भेद से चार हैं। इन्हीं को संहिता भी कहते हैं। मन्त्रों का समुदाय ही संहिता कहलाता है। अथर्ववेद सबसे अवार्चीन है। इससे पूर्व वेदों के लिए त्रयी शब्द का प्रयोग किया जाता था।[5] वैदिक साहित्य के के दो प्रमुख विभाग हैं-संहिता और ब्राह्मण।[6] संहिताओं के व्याख्या कारक ग्रन्थों को ब्राह्मण कहते हैं, ये वस्तुतः एक ही हैं।[7] संगीत भी ज्ञान रूपी गंगा की एक धारा है। इसलिए कहा गया है कि छन्दोबद्ध मन्त्र ही ऋक् हैं।[8] इन्हीं ऋचाओं पर गान निबद्ध है, उन्हीं की साम संज्ञा है।[9] ऋक् और साम से अतिरिक्त मन्त्रों को यजुष् कहा जाता है।[10]

संगीतरत्नाकर में शार्गंदेव ने संगीत को पारिभाषित करते हुए लिखा है कि गीत, वाद्य और नृत्य इन तीनों का अन्वित स्वरूप ही संगीत है।[11] आचार्य कौटिल्य ने भी गीत-वाद्य और नृत्य का उल्लेख सहचरी कलाओं के रूप में अपने ग्रन्थ अर्थशास्त्र में किया है।[12] आचार्य भरतमुनि ने भी गीत को नाटक के प्रमुख अंगों में अन्यतम माना है तथा वादन और नृत्य को उसके अनुगामी कहा है।[13] व्याकरणात्मक दृष्टि से संगीत शब्द सम् उपसर्ग पूर्वक √गै धातु से क्त प्रत्यय के योग से निष्पन्न माना गया है। जिसका व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है-**सम्यक् रूपेण गीतम्** अर्थात् अच्छी प्रकार गाया

---

१. शोध छात्रा, नृत्य एवं संगीत विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र
२. आचार्य बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० सं०-२७
३. चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्। भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति॥ मनुस्मृति, -१२/९७
४. मनुस्मृति, -२/६
५. श्रीमद्भगवद्गीता, ९/२०, २१
६. मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्। यज्ञपरिभाषा -३१
७. वेदं तावदेकं सन्तम्, अतिमहत्त्वात् दुरध्ययेयमनेकशाखाभेदेन समाम्नासिषु ....व्यासेन समाम्नातवन्तः। दुर्गाचार्य, निरुक्तवृत्ति, -१/२०
८. तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था। जै० सू० - २/१/३५
९. जै० सू० - २/१/३६
१०. शेषे यजुः शब्दः। - जै० सू० - २/१/३७
११. गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते॥- संगीतरत्नाकर-१/२१
१२. आचार्य कौटिल्य, अर्थशास्त्र, -२/२७
१३. आचार्य भरतमुनि, नाट्यशास्त्र, अ०-४/२६०-२६५

हुआ।[१४] इस प्रकार चौसठ कलाओं में से एक संगीतकला ऋचाओं के काल से ही मानी जाती है। ऋग्वेद संहिता में इसके प्रमाणों को निम्नलिखित रूप में अभिव्यक्त किया जा सकता है-

ऋग्वेद में संगीत

ऋग्वेद में संगीत का पर्याप्त प्रचलन दृष्टिगोचर होता है। शांखायन ब्राह्मण में गीत, वाद्य और नृत्य का प्रयोग अभिन्न साहचर्य के रूप में प्राप्त होता हैं।[१५] ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार इन शिल्पत्रय की गणना दैवी शिल्पों में होती है।[१६] ऋग्वेदसंहिता में गीत के लिए गीर, गाथा, गायत्र[१७] गीति तथा साम आदि शब्दों का प्रयोग प्राप्त होता है तथा गायक के लिए गातुवित्तम् शब्द का उल्लेख भी मिलता है।[१८] ऋग्वेद में संगीत की गुरुशिष्य परम्परा का भी एक स्थल पर वर्णन मिलता है जिसमें गुरु शिष्य से यह कहता है कि हे शिष्य! तुम अपने आत्मिक उत्थानार्थ मेरे पास आए हो, मैं तुम्हें ईश्वर को प्राप्त करने का मार्ग बताता हूँ।[१९] ईश्वर प्राप्ति का एक साधन संगीत भी है। ऋग्वेद में सुप्रसिद्ध वाद्य बाण अथवा वाण का वर्णन मिलता है। वीणा शब्द का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। आचार्य सायण के अनुसार वाण शब्द का अर्थ सौ तारों वाली वीणा है।[२०]

जिस प्रकार आधुनिक संगीत में वैचित्र्य निर्माण के लिए गीत की पंक्ति तथा पदों का गान अनेक बार विविध स्वरों के साथ किया जाता है उसी प्रकार वैदिक संगीत में ऐसा गान स्तोम के नाम से प्रसिद्ध था।[२१] ऋग्वेद में गाथाओं के गायक को गाथिन कहा गया है।[२२] गायत्रिन् शब्द भी गायक हेतु ही प्राप्त होता है।[२३] पुरुषसूक्त में ऋक् तथा साम को परमेश्वर की आदिम सृष्टि माना गया है।[२४] सामों के आधार पर ही ऋचाओं का गान होता था। ये सामगान उन्हीं विद्वानों को प्राप्त होते हैं जो अध्यवसायी एवं जागरणशील होते हैं।[२५] साम के गायन से सम्पूर्ण नभोमण्डल प्रतिध्वनित होता था।[२६] ऋग्वेद में पक्षियों के कूजन की उपमा उद्गाता के साम-गान से की गई है।[२७] ऋग्वेद में सामों के आविष्कर्ता

---

१४. डॉ० ईश्वरचन्द्र शर्मा, पारिजात कोश, पृ० सं०-९९५
१५. त्रिवृद्वै शिल्पं नृत्यं गीतं वादितमिति, शांखायन ब्राह्मण-२९/५
१६. एतद्धि दिव्यं शिल्पं न मानुषम्।- कथासरित्सागर पर उद्धृत ए० बा०-२५/१७५
१७. स नः स्तवान आ भर गायत्रेण नवीयसा।- ऋ० वे०-१/१२/११
१८. ऋग्वेद - ३/६२/१३, ९/१०४/५
१९. ऋग्वेद, -८/३३/२
२०. ऋग्वेद, -१/८५/१०, पर सायण भाष्य।
२१. निरुक्त, नैगमकाण्ड -२/११
२२. ऋग्वेद, -१/७/१
२३. ऋग्वेद, -१/१०/१
२४. तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।-ऋ० वे०-१०/९०/९
२५. यो तं जागार ऋचः कामयन्ते यो जागार तमु सामानि यन्ति।-ऋ० वे०-५/४४/४
२६. गायन् साम नमन्यं यथा वेः, -ऋ०वे०-१/१७३/१
२७. उद्गातेव शकुने साम गायसि ब्रह्मपुत्र इव सवनेषु शंससि।-ऋ० वे०- २/४३/२

आचार्यों में अङ्गिरस[२८] भरद्वाज,[२९] तथा वशिष्ठ[३०] का उल्लेख हुआ है। कुछ विशिष्ट छन्दों के नाम से साम प्रसिद्ध हो जाते थे जिनमे गायत्र तथा शार साम इसी कोटी में आते हैं।[३१] इनके अतिरिक्त रैवत, वैरूप, अर्क, भद्र आदि सामों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। ऋग्वेद में अन्त्येष्टि के समय साम के गायन का स्पष्ट विधान है।[३२]

ऋग्वेद में अनेक वाद्यों का भी भूरिशः उल्लेख प्राप्त होता है, यथा दुन्दुभि, वाण, नाडी, वेणु, कर्करि, गर्गर, गोधा, पिंग तथा आघाटि। दुन्दुभि वाद्य का तो ऋग्वेद में अनेकशः प्रयोग हुआ है।[३३] वाण वाद्य का वादन पवमान सोम के प्रीत्यर्थ किये जाने का उल्लेख भी इसमें प्राप्त होता है।[३४] वाण बजा कर पराक्रम करने का वर्णन है।[३५] इसे सप्त तन्त्रियों का संकेत भी मिलता हैं।[३६] इनके अतिरिक्त कर्करि, गर्गर,[३७] क्षोणी आदि वाद्यों का भी उल्लेख ऋग्वेद में प्राप्त होता है।[३८] ऐतरेय आरण्यक में दैवी और मानुषी वीणा का अत्यन्त रमणीय सामंजस्य देखा जा सकता है।[३९]

गीत तथा वाद्य के साथ नृत्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है। ऋग्वेद में सामूहिक नृत्य से उत्थित होने वाली धूलि का उल्लेख भी मिलता है।[४०] इसमें नारियाँ भी भाग लिया करती थीं। ऋग्वेद में एक स्थान पर विविध गीतक्रमों से युक्त लोकनृत्य का उल्लेख भी प्राप्त होता है।[४१] ऐतरेय आरण्यक में नृत्य के विषय में वर्णन मिलता है कि महाव्रत नामक सोमयाग में दासियो का समूह नृत्य आयोजित होता था, जिसमें कम से कम तीन तथा अधिक से अधिक छः नर्तकियाँ होती थीं, प्रत्येक नर्तकी मस्तक पर जल भरी गगरी धारण करती हुई बायें से दायें की ओर वर्तुलाकार गति से नृत्य करती थी। नृत्य का आरम्भ पदक्षेप गीत के साथ हुआ करता था।[४२] विवाहादि के अवसर पर भी चार से आठ सुहागिनियों को सुरा पिलाकर चतुर्वार नृत्य करने के लिए प्रेरित किया जाता था। सीमन्तोन्नयन विधि में पति वीणावादकों से सोमदेव के सम्बन्ध में वादनयुक्त गान करने को प्रेरित करता था।[४३] विवाह के पश्चात् वधू द्वारा गायन किये जाने का

---

२८. देवाः अङ्गिरसां सामभिः स्तूयमानाः। भरद्वाजो बृहदाचक्रे- --------। ऋ० वे०-१/१०७/२
२९. ऋ० वे०- १०/१८१/१
३०. ऋ० वे०- ७/३३/४, १०/७१/११
३१. ऋ० वे०- १०/१३५/४
३२. ऋ० वे०- १/२८/५, ९/५१/१
३३. ऋ० वे०- ७/९७/८
३४. ऋ० वे०- १/८५/१०
३५. ऋ० वे०- १०/३२/४
३६. ऋ० वे०- २/४३/३
३७. ऋ० वे०- १/११७/८
३८. ऐतरेय आरण्यक- ३/३५
३९. ऋ० वे०- ७/६३/१
४०. ऋ० वे०- १०/१८/३
४१. ऐ० आ०- १/१
४२. शांखायन गृह्यसूत्र-१/११/५
४३. शांखायन गृह्यसूत्र -१/२२/११, आ० गृ०- १/१४/६

उल्लेख शांखायन गृह्यसूत्र में अनेकशः प्राप्त होता है।[४४]

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि भारतीय संगीत का आदि ग्रन्थ ऋग्वेद है, क्योंकि इसी में वर्णित उदात्त, अनुदात्त और स्वरित नामक तीन स्वरों[४५] से सप्तक[४६] बना जिस पर वर्तमान संगीत प्रतिष्ठित है। इस प्रकार गीत, वाद्य, और नृत्य के सामरस्य संगीत का वर्णन प्राणिमात्र के आदिग्रन्थ ऋग्वेद में बीजरूप में वृद्धि को प्राप्त होता हुआ प्रतीत होता है।

४४. शां० गृ० ७ १/२२/१६

४५. महाभाष्य-१/२/२९

४६. स्वरा-अर्ध चार्यार्धम्। छन्दःशास्त्र-४/१४, महाभाष्य, १/२/३३

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०१० अङ्क १४ (पृ०९९-१०३) ISSN 0974 – 8830

सौर ऊर्जा- ऋग्वेदीय दृष्टि

डॉ. (श्रीमती) विजयलक्ष्मी[१]

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च[२] यह ऋचा कहती है कि सूर्य समस्त चराचर जगत् की आत्मा है, सूर्य की ऊर्जा सम्पूर्ण जगत् के लिए जीवनी शक्ति है, प्राणों का आधार है। मानव-जगत्, जीव- जन्तु, वनस्पति, औषधि तथा समस्त आधुनिक उपकरणों पर्यन्त विश्व का ऐसा कोई पक्ष नहीं जहाँ सौर ऊर्जा प्राणदायिनी न हो। अत एव तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा है- '**असावादित्य: शिर: प्रजानाम्**[३] तथा प्रश्नोपनिषद् भी सूर्य को प्रजा प्राणरूप में देखती है।[४]

सौर ऊर्जा के महत्त्व को दृष्टिगत करते हुए वैज्ञानिक ऐसे उपकरणों के अनुंधान में प्रयासरत हैं जिनसे सूर्योष्मा अधिकाधिक प्रभावी ढंग से उपयोग में लाई जा सके, इस गम्भीर प्रयास के परिणामस्वरूप इस दिशा में आशा की छोटी किरण दिखाई भी दी है, ३०.१२.०८ के टाइम्स ऑफ इण्डिया[५] नामक अंग्रेजी समाचार पत्र में ' A made-in-lab Sun for endless energy'? शीर्षक से एक समाचार है, पत्र लिखता है।'

The Thermonuclear Test will Mark First Step Towards Building A Nuclear Fusion Power Station. Attempting to create an artificial Sun on Earth. An achievement that will provide answer to the world`s impending energy shortage. We are creating the corndition that exist inside the sun. Said Ed Moses director of facility. It is like tapping into the real solar energy as fusion is the source of all energy in the world. It is really exciting physics. but beyond that there are huge social. economic and global problems. that it can help to solve.

उच्च ताप के कारण हाइड्रॉजन से हीलियम में परिवर्तित यह Fusion ही सौर ऊर्जा का स्रोत है, वैज्ञानिकों का मानना है कि यह शोध भौतिकी की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होने के साथ-साथ विश्व की सामाजिक, आर्थिक और भौगोलिक समस्याओं के समाधान में भी अत्यन्त उपादेय है। पद्मश्री डॉ. कपिलदेव द्विवेदी सौर ऊर्जा विषय में लिखते हैं[६] कि अथर्ववेद का कथन है कि सूर्य ऊर्जा (Energy) का स्रोत है। वह ऊर्जा का स्वामी है, इसका अभिप्राय यह है कि सूर्य ऊर्जा का अन्तिम आश्रय है, ऊर्जा चाहिए तो सूर्य की शरण में जायें-**सविता प्रसवानाम् अधिपति:।**[७]

अथर्ववेद में कहा गया है कि विराट् ब्रह्म ऊर्जा के रूप में है। सबसे पहले यह ऊर्जा सूर्य को प्राप्त हुई, देवों

---

१. प्रवक्त्री, एस. डी. कॉलेज, मुजफ्फरनगर
२. ऋग्वेद १.११५.१
३. तैत्तिरीयब्राह्मण १.२.३.३
४. प्रश्नोपनिषद् १.८, प्राण: प्रजानाम् उदयत्येष सूर्य:।
५. Times of India— Times Global— Page 13/Date 30-12-08
६. वैदिक देवों का आध्यात्मिक और वैज्ञानिक स्वरूप- पद्मश्री डॉ. कपिलदेव द्विवेदी- विश्वभारती अनुंधान परिषद, ज्ञानपुर (भदोही) उ. प्र.। प्रथम संस्करण २००७
७. अथर्ववेद ५.२४.१

ने उस ऊर्जा का दोहन किया और सौर ऊर्जा प्राप्त की- **तां देवः सविताऽधोक्, ताम् ऊर्जाम् एवाधोक्।**[८]

जैमिनीय (तलवकार) उपनिषद् के अनुसार सूर्य की सहस्रों रश्मियाँ हैं।[९] ताण्ड्य ब्राह्मण का कथन है कि सूर्य अनेक हैं।[१०] हजारों किरणें व अनेक सूर्य- तात्पर्य कि ऊर्जा का अनन्त भण्डार। सूर्य की शक्ति ही चन्द्रमा के प्रकाश का हेतु है। इस विषय में निरुक्तकार आचार्य यास्क लिखते हैं- **अस्यैको रश्मिः चन्द्रमसं प्रति दीप्यते। आदित्यतोऽस्य दीप्तिर्भवति।**[११] शतपथ ९.४.१.९ में उल्लेख है- **(चन्द्रमाः) सूर्यस्येव हि चन्द्रमसो रश्मयः।**

आज तकनीकी उन्नति के साथ विश्व में ऊर्जा सम्बन्धी मांग भी दिन-प्रतिदिन बढ़ रही है, हमारा रहन-सहन एवं दिनचर्या भी अधिकाधिक मशीनी हो गई है, औद्योगिक विकास के कारण हमारी मूलभूत आवश्यकताएँ बढ़ी हैं। इसके लिए हमें ऊर्जा के नए स्रोत तो ढूँढने ही हैं, साथ ही उपलब्ध तकनीकी संसाधनों का कुशलतापूर्वक प्रयोग करना है तथा ऊर्जा आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु इस तरह की तकनीक अपनानी होगी जिससे प्राकृतिक संसाधनों का दोहन कम हो सके और वातावरण भी प्रदूषित न हो। सौर ऊर्जा के सम्बन्ध में भारतभूमि सौभाग्यशाली है, क्योंकि यहाँ लगभग सम्पूर्ण वर्ष पर्याप्त मात्रा में सौर ऊर्जा उपलब्ध है, परिणामस्वरूप सोलर कुकर एवं सोलर सैल्स जैसे उपकरणों का प्रयोग भारत में हो रहा है, जहाँ सोलरकुकर भोजन बनाने में प्रयोग किया जाता है वहीं सोलर सैल का उपयोग कृत्रिम उपग्रहों हेतु किया जाता है, दूर-दराज (Remote Areas) के क्षेत्रों में रेडियो और टी. वी. रिले स्टेशनों, ट्रैफिक सिग्नल्स, कैलकुलेटर और बहुत से खिलौनों में सोलर सैट फिट होते हैं, लेकिन **स्पेशल ग्रेड सिलिकॉन** जिससे सोलर सैल का निर्माण होता है उसकी उपलब्धता कम होने के कारण सम्पूर्ण प्रक्रिया अभी बहुत मंहगी है, इसकी महार्घता के कारण ही सोलर सैल्स का उतना प्रयोग नहीं हो पा रहा है। सोलर सैल्स के ट्यूब या बल्ब जलाना, पानी गर्म करना आदि अनेकों गृह-उपयोग दुष्प्रभावों रहित हैं, किन्तु महार्घता एवं जनजागरण के अभाव में इस दैवीय कृपा का पूर्ण लाभ हम नहीं उठा रहे, वैज्ञानिक इस दिशा में शोधरत हैं।

सूर्य ऊर्जा के अनेकों लाभ व उपयोग ऐसे हैं जिनमें किसी सैल्स को व्यय की आवश्यकता ही नहीं है। सूर्य ऊर्जा की महत्ता इससे भी है कि वह द्युलोक और भूलोक को धारण करने वाला है तथा प्रजाओं का पालक है, वह अपने तेज से विश्व को आपूरित करता हुआ प्राणियों को सुख देता है।[१२] सूर्य ऊष्मा ही स्वस्थ तन और मन का कारण है, क्योंकि वह रात्रि में विश्राम प्रदान कर प्राणियों को शारीरिक स्वास्थ्य तथा दिन में परिश्रम करने की प्रेरणा देता हुआ मानसिक स्वास्थ्य का हेतु बनता है[१३]-

आ प्र रजांसि दिव्यानि पार्थिवा श्लोकं देव कृणुते स्वाय धर्मणे।
प्र बाहू सविता सवीमनि निवेशयन् प्रसुवन्नक्तुभिर्जगत्।।

ऋग्वेद की एक ऋचा कहती है कि सूर्य अपनी भुजाओं को फैलाकर व्रतों की रक्षा करता है अर्थात् अपनी बहुवर्णी किरणों को फैलाकर समय पालन रूपी व्रतों को धारण करता है तथा लोकों को नियम पालन करने की

---

८. अथर्ववेद ३.१०(५).३
९. जै. उ. ४४.५.१, सहस्रं हैत आदित्यस्य रश्मयः।
१०. ताण्ड्य २३.१५.३, सप्तादित्याः
११. निरुक्त २.६
१२. ऋग्वेद ४.५३.२, दिवो धर्ता भुवनस्य प्रजापतिः ....।
१३. वही, ४.५३.३

स्वाभाविक प्रेरणा प्रदान करता है।[१४] सूर्य अपने तेज से अन्तरिक्ष को तीन बार भर देता है अर्थात् प्रातः मध्याह्न और सायं इन तीनों कालों को अपने तेज से परिपूर्ण कर देता है।[१५] इस सूक्त का प्रथम मन्त्र भी यही संकेत करता हुआ कहता है कि हम प्राणशक्ति के देने वाले तथा बुद्धिमान् उस सविता देव के तेज की अभिलाषा करते हैं, जिस तेज से वह देव दानशील मनुष्य के लिए सुख प्रदान करता है।

मित्र भी सूर्य का पर्याय है, सूर्य प्राणशक्ति का कारण है इसमें शतपथ ब्राह्मण प्रमाण है।[१६] उदित होता हुआ सूर्य विशेष रोगापहारक माना जाता है, प्रात:कालीन किरणें सुखद लगती हैं, अतः ये मित्ररूप हैं। माङ् त्राणे धातु से निष्पन्न मित्र पद रक्षार्थ का द्योतक है, प्रात:कालीन सूर्य जो मित्र रूप में उदित हो रहा है, वह हमारे शरीरों को नीरोगता प्रदान करे ऐसी कामना वैदिक ऋषि करता है, यथा- **उद्यन्नद्य मित्रमह आरोहन्नुत्तरां दिवम्। हृद्रोगं मम सूर्य हरिमाणं च नाशय।।**[१७] सूर्य का तेज बहुत ही हितकारी है, इसके प्रकाश में रोगों को दूर करने की शक्ति है, इसीलिए बाल सूर्य में स्नान का विधान वैद्यकशास्त्रों में है, पाश्चात्य देशों में सूर्य स्नान (Sun Bath) परम्परा उन्मुक्त रूप में प्रचलित है, सूर्य रश्मियों से प्राप्त विटामिन-डी हड्डियों को पुष्टि प्रदान करता है, यह स्वीकृत तथ्य है। अथर्ववेद में सूर्य किरणों से यक्ष्मा, सिरदर्द, पीलिया, जलोदर, ज्वर, पेट के रोग, वातरोग आदि की चिकित्सा का उल्लेख मिलता है।[१८] इसीलिए ऋग्वेद कहता है- **सूर्य देवः ज्योतिषा उत एति-** सूर्यदेव अपने तेज के साथ उदय हो रहा है। ऐतरेय ब्राह्मण में उद्धृत है सूर्य सभी प्राणियों का अधिपति है।[१९] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार[२०] **सूर्यो वै सर्वेषां देवानामात्मा।** जीव-जन्तु वृक्ष, वनस्पतियाँ सूर्य के कारण प्राण धारण करने में समर्थ हैं। सूर्योष्मा अन्न का कारण है, अतः ऋग्वेद में कामना है कि सूर्य हमें ऋतु अनुकूल अन्न प्रदान करे।[२१]

आगन् देव ऋतुभिर्वर्धतु क्षयं दधातु नः सविता सुप्रजामिषम्।

स नः क्षपाभिरहभिश्च जिन्वतु प्रजावन्तं रयिमस्मे समिन्वतु।।

शतपथ भी कहता है कि आदित्य ही सब ऋतुओं का आधार है।[२२] यज्ञ का विधान सूर्योदय के पश्चात् होना भी इस ओर इङ्गित करता है कि सूर्य-रश्मियाँ यज्ञ के औषधीय गुणों को सर्वत्र पहुँचा देती हैं, भारत में उदित होते सूर्य को अर्घ्य देना भी सूर्य की किरणों से सम्बन्धित हो सकता है, साथ ही आलस्यत्याग कार्य में व्यापृत होने की प्रेरणा भी प्रदान करता है, हमें भी उद्बोधित करता है कि हम भी रागद्वेष को दूर कर उदारभाव से अपने धन, बल, विद्या का यथासमय दान देने में कंजूसी न करें। **मित्रस्याहं चक्षुषा, संगच्छध्वम्** जैसे ऐक्यसूक्तों का निरन्तर पाठ करने वाले भी यदि ऊँच-नीच, छुआ-छूत, जातिवाद की जंजीरों में जकड़े ही रहे तो **सर्वे भवन्तु सुखिनः** को मूर्तरूप देने में कठिनाई

---

१४. वही ४.५३.४, अदाभ्यो भुवनानि प्रचाकशद् व्रतानि देवः सविताभि रक्षते। प्रास्राग्बाहू भुवनस्य प्रजाभ्यो धृतव्रतो महो अज्मस्य राजति।।

१५. वही ४.५३.५

१६. शतपथ ६.५१.५. प्राणो वै मित्रः।

१७. ऋग्वेद १.५०.१

१८. अथर्ववेद ९.८.१ से २२ मंत्रों पर्यन्त।

१९. ऐतरेय ब्राह्मण ७.२०, आदित्य एषां भूतानामधिपतिः।।

२०. शतपथ १४.३.२.९

२१. ऋग्वेद ४.५३.७

२२. शतपथ २.२.३.९, आदित्यस्त्वेव सर्वऽऋतवः।

का सामना करना पड़ेगा, आदित्य रश्मियाँ यहाँ भी हमारे लिए पथप्रदर्शक हो सकती हैं। सूर्य-किरणें जैसे-जैसे फैलती हैं वैसे वैसे विश्व का नियमन करती हैं, प्रकाश ज्यों-ज्यों बढ़ता है त्यों-त्यों तमस् का विनाश होता चला जाता है। हम भी अपनी शक्तियों का उचित प्रयोग करें एवं लोक से दुःखरूपी तमस् का यथासम्भव विनाश करें।

ऋग्वेद कहता है कि सूर्य विद्वानों को धन देता है[२३] - **नूनं देवभ्यो विदधाति रत्नम्।** चिन्तन करने पर सिद्ध होता है कि सूर्य विचारशील व्यक्ति की भौतिक उन्नति का हेतु है, चिकित्सा के द्वारा चिकित्सक, धनार्जन करता है। साम्प्रतिक युग में सूर्य के विविध पक्षों पर शोधकार्य हो रहे हैं, धनव्यय की चिंता किए बिना कई राष्ट्र शोधपरियोजनाओं को बनाने तथा उन्हें क्रियान्वित करने में सर्वात्मना लगे हैं, इनमें शोधार्थियों, अनुसन्धित्सुओं हेतु धनार्जन की कोई कमी या कठिनाई नहीं है। भारत ने भी **आदित्य**[२४] नाम से एक परियोजना आरम्भ की है जो कि सूर्य के सबसे बाह्यस्थान का अध्ययन करेगी। जिसे Corona या प्रभामण्डल अथवा परिमण्डल के नाम से जाना जाता है तथा जहाँ से सूर्य हवाओं की उत्पत्ति होती है, ये हवायें सैटेलाइट लांच में भी बाधक हो सकती हैं तथा अन्तरिक्ष विज्ञानी (Astronauts) के लिए भी हानिप्रद हो सकती हैं।

टॉइम्स ऑफ इण्डिया ने भी २ जनवरी २००९ को A Star is Born नाम से सम्पादकीय में लिखा है कि लीवरमोर (कैलिफोर्निया) के वैज्ञानिकों ने Micro Sun सूक्ष्म सूर्य बनाने के प्रयास में कुछ सफलता पाई है जो आज के प्रदूषित वातावरण में ऊर्जा उत्पादन का उपादेय हेतु हो सकता है, क्योंकि हाइड्रोजन (Hydrogen) ब्रह्माण्ड में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है, जबकि उसका हानिरहित रूपान्तरण हीलियम बहुत कम है। Fusion Power से उत्पन्न ट्राइटियम (Triotium) भी घातक नहीं है। सम्पादक अन्त में लिखता है कि Fusion प्राप्त करना मनुष्य जाति की सबसे बड़ी उपलब्धि होगी। इस प्रकार सूर्य विद्वानों को अर्थार्जन के माध्यम से भौतिक उन्नति प्रदान करता हुआ, अनुन्धान से आत्मसन्तुष्टि तथा यश भी देता है।

सूर्य-किरणें शुद्धि व स्वास्थ्य का सर्वोत्कृष्ट हेतु हैं, गृहनिर्माण में गृह का पूर्वाभिमुख होना इस तथ्य का प्रतिपादक है, वेद भी कहता है कि सूर्याग्नि का घरों और मनुष्यों पर अधिकार रहता है।[२५] शुन्ध्युवः तथा शोचिष्केश दोनों विशेषण भी सूर्य किरणों की शुद्धता व स्वच्छता के द्योतक हैं।[२६] तैत्तिरीय ब्राह्मण भी कहता है[२७] - **सूर्योऽग्नेर्योनिरायतनम्।** सूर्यकिरणें अग्नि की तरह जगमगाती हैं' यह कथन वेद भगवान् का है।[२८] वेद में एक अन्य सूक्ति भी है- **त्वाम् अग्न आदित्यासः आस्यम्**[२९] अर्थात् आदित्य ऊर्जा का अनन्त भण्डार है। आदित्य अपने बल से महान् है, आदित्य का बल ऊर्जा ही है।

वेद में अनेकत्र सूर्य की सप्त रश्मियों का (अश्वों, हरितो का) वर्णन मिलता है।[३०] ये सप्तवर्णी रश्मियाँ विश्व को

---

२३. ऋग्वेद २.३८.१

२४. The Tritiume Science 'n' Techology- Page No. 12. Jan. 2, 2009, Friday

२५. ऋग्वेद २.३८.५, नानौकांसि दुर्यो विश्मायुर्वि तिष्ठते प्रभवः शोको अग्ने।

२६. वही १.५०.८, ९

२७. तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.९.२१

२८. ऋग्वेद १.५०.३, भ्राजन्तों अग्नयो यथा।

२९. वही २.१.१३

३०. वही १.५०.८ सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति सूर्यः। शोचिष्केशं विचक्षण। १.५०.९ अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः सूरो रथस्य नप्त्यः। ताभिर्याति स्वयुक्तिभिः।

अनेकों रंग देती है, **ये त्रिसप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः**[३१] मन्त्र के माध्यम से प्रार्थना की गई है कि वाणी का स्वामी बलों का आधार परमेश्वर **त्रिसप्ताः** अर्थात् 7 x 3=21 रूपों में विभक्त सूर्य रश्मियों से आयुष्य तथा शक्ति प्रदान करें। सूर्य किरणों का प्रभाव अलग-अलग वर्णों पर अलग-अलग पड़ता है।

वेदानुसार सोम सूर्य के तेज का हेतु है- **अर्कः सूर्यं अपिन्वः**:- अर्थात् तू (सोम) अपने तेज से सूर्य को चमकाता है।[३२] ज्ञानी (सोमरस) सूर्य के रथ पर चढ़ गया है अर्थात् इससे सूर्य का तेज बढ़ा है।[३३] इसी प्रकार- **बिभ्राड् बृहत् पिबतु सोम्यं मधु**[३४] विशेष प्रकाशमान सूर्य बहुत सोमरस पीवे। डॉ. कपिलदेव द्विवेदी **सूर्य में सोम तत्त्व** शीर्षक से लिखते हैं[३५] कि सूर्य की शक्ति का आधार सोम तत्त्व अर्थात् हाइड्रोजन है- **सोमेन आदित्या बलिनः।**[३६]

यजुर्वेद का कथन है कि सूर्य में दो तत्त्व मिलते हैं- **अपां रसम्** अर्थात् जल का सार भाग जो ऊर्जा के रूप में है। **उद्वयस्** का अर्थ- शक्ति का उत्कृष्ट रूप। यह उत्कृष्ट रूप गैसें है (Gas)। जल का यह सारभाग हाइड्रोजन गैस है। वेद में हाइड्रोजन के लिए पारिभाषिक शब्द १. **अपां रसः** का प्रयोग किया गया है। २. **अपां रसस्य यो रसः** का अर्थ है- जल के सारभाग का सारभाग। जल का सारभाग गैसीय रूप हाइड्रोजन है और उसका सूक्ष्मरूप या सारभाग हीलियम है। मन्त्र में हीलियम के लिए पारिभषिक शब्द **अपां रसस्य यो रसः** का प्रयोग किया गया है। मन्त्र में **सूर्ये सन्तं समाहितम्** के द्वारा यह स्पष्ट निर्देश किया गया है कि ये दोनों सूर्य में विद्यमान हैं-

अपां रसम् उद्वयसं सूर्ये सन्तं समाहितम्।
अपां रसस्य यो रसस्तं वो गृहणाभ्युत्तमम्।।[३७]

हीलियम का तेजी से उत्पादन करना आज वैज्ञानिकों का लक्ष्य है, क्योंकि यह **Fusion** (हीलियम के रूप में) सौर ऊर्जा का हेतु है। इस अध्ययन के आधार पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि यदि वैज्ञानिक सोच व शोध के साथ वेदाध्ययन भी किया जाए तो सूर्य ऊर्जा सम्बन्धी उपलब्धियाँ, ऊर्जा उत्पादन के नए मार्गों को प्रशस्त करती हुई **सर्वे सन्तु निरामयाः** को मूर्त्तरूप देने में अत्यन्त उपादेय सिद्ध होगी।

---

३१. अथर्ववेद १.१.१
३२. ऋग्वेद ९.९७.३१
३३. वही ९.७५.१ विचक्षणः सूर्यस्य रथं अधि आरुहत्। तथा ९.१०१.७
३४. वही १.१७०.१
३५. वै. देवों का आ. और वै. स्वरूप- पृ. १७३-१७४
३६. ऋग्वेद १०.८५.२, अथर्ववेद १४.१.२
३७. यजुर्वेद ९.३.

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०१० अङ्क १४ (पृ०१०४-१०८) ISSN 0974 – 8830

वैदिक यज्ञानुष्ठानों में निहित मनोविज्ञान

डॉ० उमा जैन[1]

यज्ञ शब्द को अंग्रेजी में Sacrifice कहते हैं। ई०ओ० जेम्स ने Sacrifice शब्द को लैटिन भाषा में Sacrificeum माना। Sacer का शाब्दिक अर्थ अंग्रेजी भाषा में Holy (पवित्र) तथा Facere का शाब्दिक अर्थ अंग्रेजी भाषा में To Make (अनुष्ठान) है। अत: किसी द्रव्य का जब देवता के उद्देश्य से त्याग किया जाता है तो उसे 'याग' कहते हैं। संस्कृत में यह 'यज्' धातु से बना है। जिसका शाब्दिक अर्थ है– देवपूजा, सत्संगति या दान। यज्ञ का मूल उद्देश्य पृथ्वी पर मानव-जीवन को सुखमय तथा कल्याणमय बनाना था। इनका एकमात्र लक्ष्य द्रव्य का त्याग एवं समाज की उन्नति करना था। वैदिककाल में ये सभी निष्काम भावना से किए जाते थे। जो प्राय: अल्प प्रयाससाध्य एवं आडम्बरों से रहित थे। इनके माध्यम से हम अपने स्वरूप के ही निकट होते जाते हैं। हमारे जागतिक जीवन के स्वप्न, आकांक्षाएँ और मनोकामनाएँ ही यागानुष्ठान के प्रयोजन के रूप में अन्वित हुई हैं।

श्री अरविन्द महोदय का कथन है कि वैदिक आर्य अग्निकुण्ड में देवताओं के उद्देश्य से अपने परम प्रियतम पदार्थ का हवन करते थे। परन्तु यह अनुष्ठान केवल हवि: प्रक्षेप मात्र नहीं है। इसका उद्देश्य विश्व को परम शान्ति और सौख्य का सम्पादन है। विश्व में मानवों और देवों के मध्य परस्पर कल्याण के साधन का एकमात्र उपाय यह धार्मिक कृत्य या अनुष्ठान थे।

ऋग्वेद के अनुसार 'यज्ञ मनुष्य को परमात्मा के पास पहुँचाने वाला होता है। यह यज्ञ स्वयं पवित्र है और दूसरों को पवित्र करने वाला है।'[2] मानव-जीवन गतिशील है। जीवन की इसी गतिशीलता का नाम यज्ञ है। यजुर्वेद में यज्ञ को तप का स्वरूप तथा मुख्य धर्म बतलाया है। जो वीरतादायक और कायरता-विनाशक है।[3] यह देवताओं, मनुष्यों, पितृजनों और अपने प्रति जाने-अनजाने किए गए पापों से बचाने वाला है।[4] इससे आत्मबल में वृद्धि होती है।[5] यहाँ तक कि मेरा अन्न, ऐश्वर्य, ध्यान, प्रजा, प्रशंसा, कीर्ति, ज्ञान, सुख-समृद्धि, चित्र, वाणी, मन, चक्षु, चातुर्य, धन-धान्य, सत्य, श्रद्धा, तेज, श्रेष्ठकर्म, आरोग्यता, शत्रुरहित, निर्भयता, भविष्य और सुपथ भी यज्ञ से ही सुसम्पन्न होता है।[6] तैत्तिरीय संहितानुसार 'जो श्रद्धासहित होकर यज्ञकर्म करता है, उसका देव और मनुष्य दोनों इष्टसिद्ध करते हैं।' छान्दोग्योपनिषद् का तो कहना है कि 'यह जो चलता है, निश्चय ही यज्ञ है, चलते हुए ही यह जगत् को पवित्र कर देता है।'[7] नि:सन्देह अध्यवसायात्मक मानव-जीवन क्रतुमय ही है।[8] और यज्ञसंस्था सामाजिक तथा वैयक्तिक उभयात्मक

---

१. रीडर संस्कृत-विभाग, मु०ला० एण्ड जयना०खे० गर्ल्स कॉलिज, सहारनपुर।
२ ऋग्वेद १/१७७/४
३ यजुर्वेद ४/३७
४ वही ८/१३
५ वही १७/६५
६ यजुर्वेद अ० १८
७ छान्दो० उप० ४/१६/१ 'एष ह वै यज्ञो योऽयं पवते, एष ह यन्निदं सर्वं पुनाति।'
८ वही ३/१४/१ अथ खलु क्रतुमय: पुरुष:।

उन्नति के निमित्त है।

मानव के प्रत्येक कार्य और व्यवहार के मूल में जन्मजात और अर्जित प्रवृत्तियाँ छिपी होती हैं, जो उसके व्यवहार को प्रेरणा देती हैं।[९] भारतीय मनीषियों ने मुख्य पुरुषार्थों धर्म, अर्थ और काम को मानव व्यवहार का मुख्य प्रेरक तत्व माना है। जिनकी प्राप्ति अथवा सिद्धि के लिए मानव विभिन्न धार्मिक या सामाजिक कृत्यों को सम्पादित करता है। 'फ्रायड' नामक मनोवैज्ञानिक ने इन तथ्यों को स्वीकारते हुए कहा है कि मानव व्यवहार के मूल में पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणा प्रेरक शक्ति के रूप में कार्य करती है। जो बरसात की बाढ़ के समान व्यक्ति के भीतर उमड़ती है, जिनसे प्रभावित होकर मानव किसी भी प्रकार की क्रिया या अनुष्ठान करता है। सभी मनोवैज्ञानिक मन की इच्छाशक्ति राग को ही सम्पूर्ण सृष्टि के मूल प्रेरक तत्त्व के रूप में स्वीकार करते हैं।

पारस्कर ने प्रतिदिन अनुष्ठान करने की बात कही है,[१०] जिसमें अनेक क्रियाएँ होती हैं। इनकी अपनी मनोवैज्ञानिकता है। इनका उद्देश्य मानव को एक सारगर्भित उद्देश्यपूर्ण जीवन प्रदान करना था। वैदिक यज्ञानुष्ठान में प्रयुक्त क्रियाएँ- प्रोक्षण, संकल्प, उपवास, स्तुतियाँ, दीक्षा, यज्ञोपवीत आदि मनोवैज्ञानिक तथ्यों से परिपूर्ण हैं।

भारतीय सभ्यता के अनुसार यज्ञोपवीत धारण करना एक अनिवार्य कर्त्तव्य माना गया है।[११] इसके तीन सूत्र सत्व, रज और तम तीन गुणों के परिचायक है। कहीं यह ब्रह्मा, विष्णु और महेश के परिचायक माने जाते हैं। इसकी चित्त गाँठ को अद्वैतग्रन्थि बनाकर बाँयें कन्धे से कमर तक पहनने से चित्त की शुद्धि होती है। कहीं पर क्षिति, जल और पावक नामक तीन तत्त्वों का प्रतिनिधित्व करते हैं। मानव को संस्कारित करने के लिए यज्ञानुष्ठान से पूर्व यज्ञोपवीत को धारण करना आवश्यक है तभी व्यक्ति 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना से युक्त होकर सम्पूर्ण विश्व की भलाई के लिए कार्य करता है।

यज्ञानुष्ठानों को सम्पन्न करने में उपवास का विशेष विधान है, क्योंकि उपवासकाल में साधक की आत्मिक शक्तियाँ जाग्रत, चैतन्य और तीव्र हो जाती हैं, जिससे विचारों में नवोत्थान आता है, विवेक बुद्धि का विकास होता है। यह मानव की मलिन इच्छाओं का दमन कर दूसरों के उत्थान की भावना जाग्रत करता है।

यज्ञानुष्ठान के समय जल से प्रोक्षण किया जाता है। जल का स्वभाव है कि मलिनता को धोना और दो वस्तुओं को आपस में संयुक्त कर देना। मनुष्य के समय-समय पर असत्य भाषण करने से उसके अन्तःकरण में मलिनता आ जाती है। इसी मलिनता को धोने के लिए प्रोक्षण की आवश्यकता होती है। जिससे शुद्ध अन्तःकरण वाले व्यक्ति में नूतन संस्कार दृढ़ता से स्थिर रह सकें।

स्नान, सन्ध्या, दान, देवपूजन तथा किसी भी सत्कर्म के प्रारम्भ में संकल्प करना आवश्यक है। अन्यथा सभी कर्म निष्फल हो जाते हैं।[१२] संकल्प एक ऐसी मानसिक शक्ति है जो असम्भव कार्य को भी सम्भव बना देती है। इसलिए

---

९ पारस्कर गृह्यसूत्र २/९/१६

१० मनोवैज्ञानिक जॉन्स और सिम्पसन के अनुसार - 'प्रेरणा एक प्रक्रिया है, जिसमें सीखने वाले की आन्तरिक शक्तियाँ या आवश्यकताएँ उसके वातावरण में विभिन्न लक्ष्यों की ओर निर्देशित होती हैं।

११ पारस्कर गृह्य० २/२/११

१२ आचारेन्दु, (मार्कण्डेय पुराण का वचन) संकल्पं च तथा कुर्यात् स्नानदानव्रतादिकम्। अन्यथा पुण्यकर्माणि निष्फलानि भवन्ति हि॥ मनोविश्लेषक 'जोड' के अनुसार प्रार्थना, प्राणायाम, उपवास और ध्यान-धारणा के द्वारा चित्तवृत्ति को संस्कृत करना चाहिए।

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक काण्ट ने संकल्प को तीसरी मानसिक शक्ति माना है।

वैदिक आर्य यज्ञानुष्ठान के समय सत्य, श्रद्धा और पवित्रता से परिपूर्ण ईश्वर से अपनी सुख-समृद्धि के लिए स्तुति करता था जिससे वह प्रसन्न होकर उसकी मनोकामना पूर्ण करें। ऋग्वेद में एक स्थान पर इन स्तुतियों को पवित्र वचन कहा गया है।[१३] मानव-जीवन इन पवित्र वचनों के द्वारा जाग्रत यज्ञानुष्ठानों से उसी प्रकार विकसित या सम्वृद्ध होता था, जैसे वृक्ष के अंकुर को बढ़ाने के लिए माली अनेक क्रियाएँ करता है।

वैदिक दीक्षा एवं दक्षता का सम्बन्ध मानव के मानसिक उत्कर्ष एवं उदात्त चरित्र के साथ है। दीक्षा द्वारा दक्ष हुआ व्यक्ति मानवता की भलाई के लिए स्वयं को अर्पित कर आत्मिक उत्कर्ष के उस उच्च शिखर पर पहुँचता है, जहाँ चारों ओर कल्याण ही कल्याण होता है।

ऋग्वेद में विविध प्रकार के दानों तथा दाताओं की प्रशस्ति गायी गयी है।[१४] गायों का दान करने वाला स्वर्ग में उच्च स्थान प्राप्त करता है। अश्व-दान करने वाला सूर्यलोक में निवास करता है। स्वर्ण का दानी देवता होता है। परिधान दानकर्ता दीर्घ जीवन का लाभ पाता है-[१५] तैत्तिरीय संहिता में सर्वस्व दान को ही व्यक्ति की तपस्या बताया गया है।[१६] वैदिक अनुष्ठानों में प्रयुक्त सामग्रियाँ भी वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक तथ्यों से परिपूर्ण हैं।

मानव द्वारा किये जाने वाले विभिन्न यज्ञानुष्ठानों के पीछे स्वर्ग-प्राप्ति, धन-धान्य की वृद्धि, चारित्रिक शुद्धि, सभी के मध्य श्रेष्ठतर बनने एवं सम्पूर्ण कामनाओं की सिद्धि आदि भावनाएँ समाहित रहती हैं, जिनसे प्रेरित होकर वह समय-समय पर आवश्यकतानुसार अनुष्ठान सम्पन्न करता रहता है।

वेदकालीन ग्रामीण लोगों की जीविकोपार्जन का प्रमुख साधन कृषि था। अपनी फसल की रक्षार्थ वे विभिन्न प्रकार के यज्ञों का आयोजन करते थे। जिसमें वे वैदिक देवताओं से प्रार्थना कर उनको प्रसन्न कर सकें और वे उनकी फसल की रक्षा करें। इसमें नये अन्न की आहुति दी जाती थी। जिसका उद्देश्य था कि प्रसन्नचित्त देवता अतिवृष्टि तथा अनावृष्टि से उनकी फसलों की रक्षा करते हुए भविष्य में उन्हें धन-धान्य से पूर्ण करें।[१७]

मनुष्य को बुरे कर्मों से बचाने के लिए, चरित्र को शुद्ध तथा दृढ़ निश्चयी बनाने के लिए यागों की व्यवस्था की जाती थी। 'सौत्रामणी याग' का आयोजन इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु होता था। सूत्रात् अर्थात् बुराई से बचाना। अश्विनी एवं सरस्वती ने नमुचि नामक राक्षस के पराक्रम और वीर्य को इन्द्र में पुनः स्थापित कर इन्द्र को बुराईयों से बचाया। यजुर्वेद का कथन है कि यज्ञ न करने वाले का तेज नष्ट हो जाता है। अपनी तेजस्विता को स्थिर रखने के लिए यज्ञ किया कीजिए .... जो इस अग्नि के चारों ओर बैठकर दिव्य उद्देश्य से हवि चढ़ाते हैं, उनके हृदय में परमात्मा का तेज प्रकाशित होता है।[१८] और मनुष्य चारित्रिक शुद्धता को प्राप्त होता है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों से यह आशा अधिक की जाती है कि वह अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखकर अपने पति के प्रति निष्ठावान् हों। यदि उससे कोई त्रुटि हो जाती थी तो उसके लिए 'चातुर्मास्य याम' में एक कृत्य किया जाता था जिसमें अध्वर्यु यजमान की पत्नी से पति के

---

१३ ऋग्० १/७९/१०

१४ ऋग्० १/१२५, १२६, ७/१८/२२-२५, ८/५/३७-३९

१५ वही १०/१०७/२, ७

१६ तैत्ति० सं० ६/१/६/३

१७ वै० अनु० मनोवै० अनु०, पृ० १३४

१८ यजु० ६/७५

अतिरिक्त अन्य किसी के साथ सम्भोग करने की बात पूछता है, यदि उसने यह किया होता है तो वह उसका नाम बताने मात्र से दोष रहित हो जाती है। उसे अपने दुष्कृत्य से मुक्ति मिल जाती है। ताण्ड्य ब्राह्मण के अनुसार इस याग को करने से यजमान तीनों लोकों में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है।[१९] अतः यज्ञानुष्ठान से समाज में अनिन्द्य गुण, चारित्रिक पवित्रता एवं निष्ठा उत्पन्न हो जाती है।

अपने को अन्य व्यक्तियों से श्रेष्ठतर सिद्ध करने एवं उन्नति व श्रेय की प्राप्ति के लिए यागानुष्ठान को महत्त्वपूर्ण माना है। गीता का कथन है कि यज्ञ के द्वारा तुम देवताओं को उन्नत करो और वह देवगण तुम लोगों को उन्नत करें। परस्पर उन्नति करते हुए श्रेय को प्राप्त हो। अपने को श्रेष्ठतम सिद्ध करने के लिए ही 'पुरुषमेध' तथा 'राजसूय' प्रभृति यागों का प्रारम्भ हुआ। जिनके आयोजन से स्वराज्य प्राप्ति और स्वर्ग प्राप्ति की जा सकती है। ताण्ड्य ब्राह्मण ने तो इस अभिषेक को स्वर्गारोहण के सदृश माना है।[२०] अश्वमेध-याग का अनुष्ठाता सशरीर स्वर्ग-गमन का अधिकारी हो जाता है।[२१] सम्पूर्ण विश्व में यज्ञ करने वाले के यश का भी प्रसार हो जाता है। सैन्य बल की प्रदर्शनात्मक वृत्ति के साथ-साथ लोकैषणा की तृप्ति भी हो जाती है। वाजपेय-याग को करने से स्वराज्य की प्राप्ति होती है- **'वाजपेयेन स्वाराज्यकामो जयेत।'**[२२] अर्थात् इस याग को करने के पश्चात् यजमान स्वर्ग प्राप्त करता है[२३] और प्रजापति के समकक्ष हो जाता है।[२४]

यजुर्वेद का कथन है- 'यज्ञ करने वाले को स्वर्ग-सुख प्राप्त होता है, जिन्हें स्वर्गीय सुख प्राप्त करना अभीष्ट हो वे यज्ञ करें।'[२५] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार- 'यज्ञ-अग्नि-होम निश्चय ही स्वर्ग सुख प्राप्त कराने वाली विशेष नौका है।'[२६] यज्ञ ही विष्णु है, यज्ञ ही प्रजापति है और यज्ञ ही सूर्य है। अंत एव मीमांसक कहते है- **'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः।'** एक स्थान पर तो यहाँ तक कहा गया है कि अग्निहोत्र के सम्पादन से सभी यज्ञ स्वयमेव अनुष्ठित हो जाते हैं, सबसे प्राप्य फल प्राप्त होता है।[२७] छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि जैसे क्षुधातुर बालक सर्वथा माता के समीप जाता है, वैसे प्राणी भी अग्निहोत्र की उपासना करते हैं।[२८] दर्शपूर्णमास याग का विधान करने से भी स्वर्ग प्राप्ति होती है- **'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्यजेत।'**

अग्निष्टोम प्रभृति यागों का आयोजन करने से सम्पूर्ण कामनाओं की सिद्धि हो जाती है। ताण्ड्य ब्राह्मण में तो अग्निष्टोम को 'ज्येष्ठयज्ञ' की गरिमा से विभूषित किया गया है।'[२९] एकदा त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप त्रिशिरा के वध से लगे पाप से इन्द्र इस यज्ञ का अनुष्ठान करके उस पाप से मुक्त हुए थे। इसलिए इस यज्ञ का अनुष्ठान पाप से मुक्ति दिलाने

---

१९ ताण्ड्य ब्रा० १७/१३/८ पर सायणभाष्य
२० ताण्ड्य ब्रा० १८/११/१०
२१ वही २१/४/३
२२ वही १८/७/१
२३ वही १८/७/१२
२४ वही १८/६/४
२५ यजु० १८/४/२
२६ शत० ब्रा० २/३/३/१५
२७ षड्विंश ब्रा० ५/१/६-९ तथा ५/२/१
२८ छान्दो० उप० ५/२४
२९ ताण्ड्य ब्रा० ६/३/८ **'ज्येष्ठयज्ञो वा एष यदाग्निष्टोमः।**

वाला है।[30] इसका अनुष्ठान मुख, वक्ष, बाहु, मध्यभाग और चरणगत अशुद्धि का निवारण कर ब्रह्मवर्चस् को प्रदान कराता है।[31] यजमान के मालिन्य के निवारणार्थ वायु से सम्बन्धित विशेष ऋचाएँ इस याग में गायी जाती हैं। 'जो असुर प्राण इस पृथ्वी पर असुर रूप में विचरण करते रहते हैं, यज्ञ की बलि द्वारा शरीर में से बाहर किये जाते हैं।'[32] पशु कामना से भी इस याग का आयोजन किया जाता है। प्रायश्चित्त स्वरूप भी इसको करने का विधान अनेक स्थलों पर उपलब्ध होता है।

स्पष्ट है कि वैदिक ऋषियों तथा अन्य व्यक्तियों ने स्वर्गादि लोकों में पहुँचने का भव्य स्वप्न यागानुष्ठानों के माध्यम से संजोया है। वास्तव में यह विभिन्न सुखों की कामना पूर्तियों का आधार स्तम्भ है। जीवन को उदात्त, उन्नत और भव्य बनाने के लिए कर्मानुष्ठान की सुदृढ़ आधार भित्ति पर यज्ञ के विराट् स्वरूप की संरचना वेद में विद्यमान है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम देखते हैं कि मानव मनोविज्ञान को समझकर (अर्थात् मनुष्य की इच्छाएँ क्या होती हैं, वह उनको किस रूप में पूर्ण करना चाहता है) यज्ञों का निर्माण किया गया था। यह यज्ञानुष्ठान बहुत खर्चीले थे, किन्तु उसमें इस बात का ध्यान रखा गया था कि जिस वर्ण के व्यक्ति को अनुष्ठान करने का अधिकार है, उसके पास उतना धन है अथवा नहीं। जैसे- राज्यप्राप्ति, विश्वविजय दिलाने वाले अश्वमेध। राजसूय यज्ञ अधिकतर राजा करते थे और उनके पास धन की कमी नहीं थी। इसी प्रकार ब्रह्मवर्चस् व स्वर्गप्राप्ति कराने वाले अग्निष्टोम तथा अग्निहोत्र इतने अधिक धनव्ययी नहीं थे। इससे स्पष्ट होता है कि यज्ञ संस्था कल्पना मात्र नहीं थी, अपितु मानव-मनोविज्ञान, देश, काल और परिस्थितियाँ तथा धर्म के स्वरूप को समझकर इनका निर्माण किया गया था। इसीलिए यज्ञ संस्था इतनी विकसित एवं पल्लवित हुई कि वर्तमानकाल में भी मानव अपनी विभिन्न मनोकामनाओं की पूर्ति हेतु समय-समय पर पृथक्-पृथक् प्रकार से यागानुष्ठानों का आयोजन करते रहते हैं।

---

३० वही १७/२/२
३१ वही १७/५/६
३२ यजुर्वेद २/३०

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०१० अङ्क १४ (पृ० १०९-११५) ISSN 0974 – 8830

वैदिक वाङ्मय में कृषि

डॉ० योगेश शास्त्री[1]

मानव समाज के लिए आहार अपरिहार्य है। पृथिवी से अन्न, फल, कन्द-मूलादि की उत्पत्ति करना ही कृषि-कर्म है। चारों वेदों में यज्ञों की महिमा वर्णित है, इस आधार पर वैदिक संस्कृति को यज्ञीय संस्कृति कहा जाता है। ऋग्वेद में वर्णित है कि जुए में पराजित दूतकर को ऋषि ने उपदेश दिया है-जुआ खेलना छोड़ दो और खेती करने का अभ्यास करो।"[2] ऋग्वेद के अनुसार **अश्विन्** ने आर्यों को सर्वप्रथम हल के द्वारा बीज बोने की कला सिखाई।[3]

यजुर्वेद के २२वें अध्याय में **निकामे-निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो नः ओषधयः पच्यन्ताम्** आदि वैदिक राष्ट्रगीत में कृषि-संस्कृति का मनोहारी वर्णन है। यजुर्वेद के ही २३वें अध्याय के मृत्युञ्जय मन्त्र **त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्** आदि में प्रार्थना है कि खेतों में स्वयं पककर अपनी लता से पृथक् होने का उर्वारुक का वर्णन प्राप्त होता है जो कृषि के महत्त्व को विशदतापूर्वक वर्णित करता है। अथर्ववेद में वर्णन है -

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती।।[4]

यहाँ पृथिवी को गऊ की तरह दुधारू कहा गया है। उसके सहस्र स्तन हैं, जिनसे वह अन्न, औषध आदि द्वारा सभी का पोषण करती है। अथर्ववेद के जिन सूक्तों को देवता वायु (२-३०) सूर्य (१-१२, २-२१), चन्द्र (२-२२), आपः (२-२३), त्वष्टा (२-२७), औषधी (२-२७), अग्नि (२-२८), बृहस्पति (२-२९), आदित्य (२-३२), विद्युत् और सिन्धु (१-१५) आदि हैं, इनमें स्पष्टतः कृषि सम्बन्धी संकेत प्राप्त होते हैं। अथर्ववेद के ही दशम काण्ड के षष्ठ सूक्त का देवता **फाल्मणी** है। यह फाल्मणी कृषि द्वारा उत्पन्न अन्न ही है।

अथर्ववेद के यम, अग्नि, भूमि, इन्द्र आदि देवता भी कृषि कर्म से ही सम्बद्ध हैं। इसी प्रकार औषधी सूक्त तथा जहाँ-जहाँ भी वनस्पतियों का वर्णन हैं वे सब कृषि से ही सम्बन्धित हैं। अथर्ववेद में वर्णन है कि वैवस्वत मनु शिशु था और पृथिवी दूध दोहने का पात्र था, उस शक्ति का दोहन वैन्य प्रभु ने किया, उसका दोहन करके उसने धान्य आदि प्राप्त किया।[5] उसी कृषि और धान्य पर मनुष्य जीवित रहते हैं। अथर्ववेद के तृतीय काण्ड के १७वें सूक्त का देवता सीता है। इस सूक्त में स्पष्टतः विधिपूर्वक कृषि-कर्म का उल्लेख है। अथर्ववेद के ही सप्तम काण्ड के ७५वें सूक्त का देवता **अघ्न्याः** है, इसमें वर्णन है कि **इमं गोष्ठमिदं सदो घृतेनास्मान्त्समुक्षत** अर्थात् यहाँ पशुपालन की अभीष्टता की ओर संकेत प्राप्त होता है, जिससे प्रकारान्तर से कृषि का ही संकेत मिलता है। वेदों में और भी कतिपय सूक्तों के देवता कृषि से सम्बन्धित प्रतीत होते हैं। यथा-वृषभ (अथर्व ७-१११), दूर्वा (६-१०६-२-३), अनडवान् और गौ आदि इन

---

१. प्राध्यापक (संस्कृत) विद्यालय-विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
२. अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व। - ऋग्वेद - १०-३४-७,
३. दशस्यन्ता मनवे पूर्व्यं दिवि यवं वृकेण कर्षथः। - ऋग्वेद - ०८-२२-६,
४. अथर्ववेद -१२/१४५
५. अथर्ववेद - ०८/१३/९-१२

सूक्तों में कृषि सम्बन्धी वर्णन भी के साथ-साथ वैदिक-संस्कृति का वर्णन कृषि-संस्कृति के रूप में प्राप्त होता है।

यजुर्वेद में वर्णन है -**मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमां अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः॥**[६] अर्थात् वनस्पति हमारे लिए मधुमय हो, सूर्य मधुमान् हो, भूमियाँ मधुमती हों, सूर्य और भूमि से वनस्पतियों में मधु उत्पन्न होता है। व्यक्ति सुवर्ण व पशु-धन के साथ-साथ कृषि की भी तीव्र कामना करता है तथा खेती करके प्रचुर धन-धान्य प्राप्त करना चाहता है। यथा-**कृषिश्च मे वृष्टिश्च मे जैत्रं च म औद्भिद्यं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।**[७] मेरी खेती, वृष्टि, विजय और उन्नति यह सब यज्ञ से बढ़े-**सुसस्याः कृषीस्कृधि**[८] अर्थात् उत्तम फल से अथवा धान्य से युक्त कृषि करो। इन सभी मन्त्रों में कृषि-कर्म की अनिवार्यता एवं महनीयता का भाव विद्यमान है।

वेद में ऐसे अनेक मन्त्र हैं, जिनमें यह निर्देश मिलता है कि राष्ट्रवासियों को कृषि की उन्नति करने में सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए। यथा-**रयिं वीरवतीमिषम्**[९] अर्थात् हे अग्नि तू हमें **'इष'**[१०] अर्थात् अन्न प्रदान कर, जिसके सेवन से हमारे पुत्र वीर हो जायें।

ऋग्वेद में कृषि-विशेषज्ञों का भी वर्णन है जो खेती की ऊपज बढ़ाना जानते हैं। ये **ऋभु** नामक विद्वान् एक को चार गुणा बनाने में सिद्धहस्त होते हैं। ऋभुओं से कहा गया है-**एकं चमसं चतुरः कृणोतन**[११] अर्थात् हे ऋभुओ! तुम एक अन्न (चमसम्)[१२] को चार गुणा बना देते हो।

याभिः शचीभिश्चमसां अपिंशत यया धिया गामरिणीत चर्मणः[१३] अर्थात् हे ऋभुओ! तुम अपनी जिस बुद्धि से **(शचिभिः)**[१४] अन्नों (चमसाम्) को बनाते हो **(अपिंशत)**[१५] और जिस बुद्धि से भूमि को **(गाम्)** ऊपर के कठोर छिलके से **(चर्मणः)** बाहर निकालते हो। इसका भाव यह है कि वे वैज्ञानिक परीक्षणों द्वारा कृषि के पदार्थों के पारस्परिक योग-विभागों के माध्यम से कठोर छिलके को तोड़कर भूमि को बाहर निकालते हैं। यहाँ अन्न (चमसम्) के साहचर्य से गौ का अर्थ भूमि तथा चमड़े का अर्थ भूमि के ऊपर की कठोर पपड़ी या छिलका करना अभीष्ट है।

सुक्षेत्रा कृण्वन्ननयन्त सिन्धून् धन्वातिष्ठन्नोषधिर्निम्नमापः[१६] अर्थात् ये ऋभु जन खेतों को उत्तम बना देते हैं, नदियाँ (सिन्धून्) अर्थात् नहरें चला देते हैं। इनके द्वारा रेगिस्तानों (धन्व) में अनाज (औषधी) उत्पन्न होने लगते हैं और जलाशय पानी से भर जाते हैं। राज्य में ऐसे कुशल शिल्पी रखने चाहिए जो राष्ट्र की कृषि को उत्तम और उपजाऊ बनाकर रेगिस्तानों को भी बसाकर अन्न और जल से युक्त करने के उपाय सोचते रहें। ऐसा दिग्दर्शन वैदिक-वाङ्मय के अनेक मन्त्रों में प्राप्त होता है।

---

६. यजुर्वेद - १३/२९
७. यजुर्वेद - १८/९
८. यजुर्वेद - ४/१०
९. ऋग्वेद- १/९६/११
१०. इषमिति अन्ननामसु पठितम् निघ. २/७ अन्नं वा इषम् कौ. २८/०५
११. ऋग्वेद - १/१६१/२
१२. ऋग्वेद - ३/६०/२
१३. चमु अदने। वेदेषु बहुधात्रार्थे चमसः शब्दः प्रयुज्यते।
१४. शचीति प्रज्ञानामसु पठितम् - निघ. ३/९
१५. पिशि अवयवे (किसी वस्तु को बनाने-रूप देने में इसका प्रयोग होता है)
१६. ऋग्वेद - ४/३३/७

वेद में भूमि के तीन भेद बताये गये हैं-१. आर्तना भूमि, २. अप्नस्वती भूमि और ३. उर्वरा भूमि।

१. **आर्तना भूमि**-जो पथरीली जलहीन और उपजाऊ नहीं होती, उसे आर्तना भूमि कहते हैं।

२. **अप्नस्वती भूमि**-जो भूमि अत्यन्त उपजाऊ होती है तथा जिसमें थोड़े परिश्रम से ही प्रचुर धन-धान्य उत्पन्न होता है।

३. **उर्वरा भूमि**-जिसमें प्रतिवर्ष हल चलाया जाता है और जो धन-धान्य से परिपूर्ण रहती है।

ऋग्वेद में वर्णन किया गया है कि हे क्रियाशील सुखपूर्वक समीपस्थ घर में जाकर निवास करो।[१७] जल से रहित मरुभूमि और कृषि योग्य उर्वरा भूमि में क्या अन्तर है? कृषि द्वारा अन्न उत्पन्न करने के लिए भूमि पर जो प्रथम क्रिया की जाती है, वह भूमि-कर्षण अर्थात् भूमि की जुताई है।

ऋग्वेद के ही अनुसार कृषि के लिए भूमि को जोतने की शिक्षा सर्वप्रथम अश्विनी देवों द्वारा दी गई।[१८] अथर्ववेद में कहा गया है-पृथी-वैन्य ने सर्वप्रथम खेती करना और खेती द्वारा **सस्य** उत्पन्न करना प्रारम्भ किया था।[१९] वेद में कर्षण-क्रिया करने वाले हल के लिए **लांगल, वृक् और** सीर आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। हल की फाल को वेद में **युग** शब्द से परिभाषित किया गया है।

ऋग्वेद में बोये हुए बीज और उससे उत्पन्न हुए अन्न को **यवंकृत** तथा **सस्य** कहा गया है। कृषि के लिए उपयोग में लाये जाने वाले अनेक साधनों का उल्लेख वैदिक-वाङ्मय में वर्णित है। शतपथ ब्राह्मण में जोतना, बोना, काटना आदि विभिन्न कृषि-क्रियाओं का उल्लेख कृषन्तः वपन्तः, लुनन्तः तथा मृणन्तः के रूप में वर्णित है।

कृषि के अन्य साधनों के रूप में-**हल**-सीर, सील, लांगल, **जुआ**-युग, **किसान**-कीनाश और सीरपति, फाली-सीता (ऋषि दयानन्द ने यजुर्वेद भाष्य १२.७० में सीता का अर्थ काष्टपट्टिका अर्थात् पटेला किया है।)

बैल-आदि-वाह, **दराती**-सृण्यः, **कुदाल या फावड़ा**-खनित्र, **बैलों के हांकने वाले** साधन को-अष्ट्रा कहा गया है। **शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिङ्गय**[२०] (बैलों को हांकने में इसका प्रयोग किया जाता था। ऋग्वेद में अनेक बार इसका वर्णन मिलता है, यह अधिकतर लकड़ी तथा लोहे का बना होता था।[२१]

कृषि के भोजन के रूप में उर्वरक खाद (गोबर की खाद) यज्ञीय खाद तथा जल-सेचन (सिंचाई) का वर्णन भी वैदिक-साहित्य में सम्यक्तया प्राप्त होता है।

वेद में अन्न, अन्ध, वाज, इरा, श्रवः, पयः, पितु, सुतः, पृक्षः, सिनम्, अवः, इषम्, इडा, अर्क, रसः, स्वधा, अर्क, क्षदम्, नेमः, शषम्, नमः, आयुः, सूनृता, वर्च, ब्रह्म, कीलालम्, आज्यम्, हविः, द्युम्नम्, भक्षः, उख्यः, धान्यः, पाथः, आदि अन्नवाची शब्द दृष्टिगत होते हैं। वहीं विविध प्रकार के अन्नों को बोने, काटने और उनके उपयोग का ज्ञान भी तत्कालीन लोगों को था। वैदिक युग में मुख्य अन्न जौ (यव) तथा द्वितीय अन्न (व्रीहि) चावल है।

शपतथ ब्राह्मण में फसल को हंसिया (दात्र और सृणि) से काटे जाने, उसे गठ्ठरों में बांधे जाने को **'वर्प'** और

---

१७. धन्व य यत्कृन्तत्रं च कति स्वित्ता वि योजना। नेदीयसो वृषाकपेऽस्तमेहि गृहाँ उप विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ ऋ. १०/८६/२०
१८. यवं वृकेणाश्विना वपन्तेषं दुहन्ता मनुषाय दस्रा। अभिदस्युं बकुरेणा धमन्तोरू ज्योतिश्चक्रथुरार्याय॥ ऋ. १/११७/२१
१९. तां पृथी वैन्योधौक्तां कृषिं च सस्यं चाधोक्। अथर्व. ८/१०/११
२०. अथर्ववेद - ३/१७/६
२१. तै. ब्राह्मण - २/७/९/२ पर सायण भाष्य।

अन्न को '**अन्नागार**' में रखने आदि अनेक कार्यों का उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद में अन्नागार को '**शाल**' और गृह-स्वामी को '**शालापति**' कहा गया है।

यजुर्वेद में विविध अन्नों का वर्णन प्राप्त होता है-मुझे चावल, जौ, उड़द, तिल, मूंग, गेहूँ, नीवार (जंगली धान), प्रियंगू, श्यामाक (सावा) यज्ञ द्वारा प्राप्त होवें।[२२] ज्ञातव्य है कि अधिकांशतः ये अन्न आज भी खाद्य सामग्री के रूप में प्रयुक्त होते हैं। व्रीहि (चावल) का वर्णन प्रायः यव (जौ) के साथ ही आता है। जिस भूमि में चावल और जौ तथा अन्न बहुत उपजते हैं,[२३] प्राण, अपान ही चावल और जौ हैं। जौ में प्राण और चावल अपान को कहते हैं। चावल और जौ तेरे लिए कल्याणकारी, रोगनाशक तथा खाने में सुखदायक हों। आयुर्वेद की दृष्टि से ये दोनों रोग का नाश करते हैं।[२४] जौ और चावल अत्यन्त प्रिय अन्न माने गये हैं तथा इन्हें सोमलता का खण्ड भी कहा गया है।[२५] सभी अन्नों में यव और व्रीहि को श्रेष्ठ माना गया है। अन्न के वैशिष्ट्य में इन्हीं दोनों का महत्त्व है। यथा-वह मणिरूपी चावल, जौ तथा ऐश्वर्यों के साथ मेरे पास आ गया।[२६] तैत्तिरीय संहिता में काले तथा सफेद धान में अन्तर करके धान के तीन भेद बताये गये हैं-१. कृष्ण (काला), २. आशु (शीघ्र जमने वाला) तथा ३. महाव्रीहि (बड़े दानों वाला)।[२७] इन भेदों में आशु (साठी) नामक धान को लक्षित करता है, क्योंकि यह साठी नामक धान साठ ही दिनों में पककर तैयार हो जाता है।

अन्नों के अतिरिक्त ककड़ी, खीरे, खरबूजा आदि बेलों पर लगने वाली सब्जी आदि का भी वर्णन उर्वारुक और उर्वारु के रूप में प्राप्त होता है।

वैदिक-वाङ्मय में उपलब्ध होने वाले अन्नों का उल्लेख **डॉ० महावीर अग्रवाल** द्वारा लिखित वैदिक-अर्थ-व्यवस्था में निम्नतः प्राप्त होता है। आँव- एक प्रकार का धान्य, (काठक संहिता १५/५, तै. संहिता १-८-१०-१) नांव-(शतपथ ब्राह्मण ५-३-३-८) उपवाक् (धान्य विशेष इन्द्रयव, इन्द्रजव वा. य. १९-२२) कुल्माष-(छा. उप. १-१०-२), खल-(कुलत्थ) (वृ. उ. ४-३-१३), खल्व-(चने) (वा. य. १८-१२), गर्भुत-(तै. सं. २-४-४-१), गविधुका, गवेधुका (गावीधुक्, गावेधुक) तै. सं. ५-४-३-२, तण्डुल-चावल (अथर्व. १०-०९-२७), तिर्य-तिल (अथर्व. २-८-३, ४-७-३), धाना-धान्य (ऋ. १-१६-२), फ्लाशुक्-चावल (श. ब्रा. ५-३-३-२), मसूस्य-(तै. ब्रा. ८-१४-६) शारि-(शाली) चावल (अथर्व. ३-१४-५), सवतु-सत्तु (ऋ. १०-७१-२) तथा सस्यु आदि अन्नों का इन सूक्तों में वर्णन प्राप्त होता है। यहाँ फलों को भी अन्नों के रूप में ही वर्णित किया गया है।[२८]

सामान्यतः अन्न उत्पन्न करने वाले खेतों को कृषि के नाम से ही अभिहित किया गया है। जबकि फलों को देने वाले वन-उपवन भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। मनुष्य के प्रयत्न से भूमि का कर्षण, बीज-वपन, सिंचाई, खादादि के द्वारा जितने खाद्य-पदार्थ प्राप्त होते हैं, उनका एक मात्र कारण कृषि ही है। कृषि का उल्लेख शास्त्रों में निम्नतः प्राप्त होता है।

---

२२. व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे खलवाश्च मे प्रियंगवश्च मेऽणवश्च मे श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥ यजुर्वेद- १८/२२

२३. प्राणापानौ व्रीहियवावनड्वान् प्राण उच्यते। यवे ह प्राण आहितोऽपानो व्रीहिरुच्यते॥ अथर्ववेद -११/४/१३

२४. शिवौ ते स्तां व्रीहियवावबलासावदोमधौ। एतौ यक्ष्मं वि बाधेते एतौ मुञ्चतो अंहसः॥ अथर्व. ८/२/१८

२५. ये व्रीहयो यवा निरुप्यन्तेऽशव एव ते। अथर्ववेद - ९/६/१४

२६. स मायं मणिरागमत्सह व्रीहियवाभ्यां महसा भूत्या सह। अथर्ववेद - १०/६/२४

२७. तै. संहिता - १/८/१०/१

२८. वैदिक अर्थव्यवस्था - (प्रो० महावीर) पृ० ८४

कृषिजानामोषधीनां जातानां च स्वयं वने।

वृथालम्भेऽनुगच्छेद् गां दिनमेकं पयोव्रतः॥[२९]

अथर्ववेद के पृथिवी सूक्त में वर्णन है कि हे भूमि! तेरे वृक्षों को मैं इस तरह काटूं कि वे शीघ्र ही पुनः अंकुरित हो जायें। सम्पूर्ण रूप से काटकर मैं तेरे मर्म स्थल या हृदय पर प्रहार न कर बैठूँ। यथा -

यत् ते भूमिं विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु।

मा ते मर्म विमृग्वरि मा ते हृदयमर्पिपम्॥[३०]

वनस्पतियों को समूल नष्ट कर देना भूमि के मर्म या हृदय पर प्रहार है। वृक्ष, वनस्पतियां वायुमण्डल के शोधन का कार्य करते हैं।

अथर्ववेद के भूमि सूक्त में वर्णित है कि **अरण्यं ते पृथिवी स्योनमस्तु**[३१] अर्थात् हे वनस्पति तेरे जंगल हमारे लिए सुखदायी होवें। **मातरम् औषधीनाम्**[३२] अर्थात् भूमि को औषधियों की माता कहा गया है, इनमें वृक्ष और औषधियां स्थिर रूप से रहती हैं। **यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा।**[३३]

ऋग्वेद में वर्णन है कि वन में वनस्पतियों को प्रचुर मात्रा में उगाओ।[३४] वनों से सुस्वादु फलों एवं अन्नों की प्राप्ति होती है। इसलिए जिस कृषि से हवनीय अन्न प्राप्त होता है, अरण्य से औषधियां, चारागाह से समिधायें और बगीचों से अनेक प्रकार की मेवा मिलती हैं, वे सब कृषि के प्रबल आधार हैं। वेद में भूमि को **माताभूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः** के रूप में अभिव्यक्त किया गया है। जैसे माता के रक्त, मांस आदि से बालक की देह का निर्माण होता है, वैसे ही भूमि से उत्पन्न होने वाले अन्न, जल, वायु तथा वनस्पतियों से वहाँ रहने वाले प्राणियों का निर्माण होता है। प्राच्यकाल में प्रचलित गौमेध यज्ञ एक प्रकार का कृषि महोत्सव था। वेद में मुख्यतः पृथिवी के लिए गो शब्द प्रयुक्त हुआ है। गाय को भी गो कहा जाता है। इस प्रकार गो-पृथिवी, गो-पशु, ये दोनों कृषि के साधनभूत प्रमाण हैं।

अथर्ववेद के द्वादश काण्ड का प्रथम सूक्त जो भूमि अथवा मातृभूमि सूक्त कहा जाता है, वह भूमि पर उन्नत कृषि-कर्म कराने में पूर्णतः सक्षम है। जिस भूमि पर चावल, जौ आदि अन्न उपजते हैं और खाने के पदार्थ जिसमें अगण्य हैं तथा जहाँ पांच प्रकार के लोग कृषि-कर्म करते हुए निवास करते हैं और जहाँ वर्षा से अन्नादि उपजते हैं और पर्जन्य अर्थात् वर्षा होने से जिस भूमि का पालन होता है, वह मातृभूमि अथवा भूमि सभी के लिए वन्दनीय है।[३५]

हे भूमे! तुम्हारे मैं हल जोतकर हम जो बोयें वह शीघ्र उगे और बढ़े।[३६] जिस भूमि अथवा मातृभूमि के खेत में विशेष परिश्रम किया जाता है[३७] और जिस भूमि पर हम अन्न उत्पन्न करने वाले हुए, वह भूमि हमें गाय और अन्न देवे।[३८]

---

२९. मनुस्मृति - ११/१४४
३०. अथर्ववेद - १२/१/३५
३१. अथर्ववेद - १२/१/११
३२. अथर्ववेद - १२/१/१७
३३. अथर्ववेद - १२/१/२७
३४. वनस्पतिं वन आस्थापयध्वम् - ऋ. - १०/१०/११
३५. यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्या इमाः पञ्च कृष्टयः। भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोस्तु वर्षमेदसे॥ अथर्ववेद - १२/१/४२
३६. यत्ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु॥ अथर्ववेद - १२/१/३५
३७. यस्याः पुरो देवकृताः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते। अथर्ववेद - १२/१/४३ - यस्यामन्नं कृष्टयः सम्बभूवुः। अथर्ववेद - १२/१/४

भूमि सूक्त के इन मन्त्रों को दृष्टिगत करने से यह द्योतित होता है कि भूमि में श्रद्धापूर्वक परिश्रम करके कृषि द्वारा विभिन्न अन्नों का उत्पादन करने वाले जन कहते हैं-हे भूमि माता! तुम हमारी हिंसा मत करो और हम भी तुम्हारी हिंसा न करें।[३९] वेद मनुष्य को प्रेरणा देता है कि तू उत्कृष्ट खाद आदि के द्वारा भूमि को पोषक-तत्त्व प्रदान कर। भूमि को दृढ़ कर और भूमि की हिंसा मत कर।[४०] भूमि की हिंसा करने का अभिप्राय है उसके पोषक-तत्त्वों को अनवरत फसलों द्वारा इतना अधिक खींच लेना कि फिर वह भूमि उपजाऊ ही न रहे। इसके निवारण के लिए भूमि पर फसलों को अदल-बदल कर लगाना तथा विधिपूर्वक पौष्टिक खाद देना उचित है। आज पहाड़ों, मैदानों एवं नदियों के तटों से वृक्षों और जंगलों को काटने से भूमि की दृढ़ता समाप्त हो रही है। यदि हम वृक्षादि को न काटकर नवीन वृक्ष उगायें तो भूमि दृढ़ रहती है, यही उसका अहिंसित भाव है। भूमि या भूतल की मिट्टी में यदि कोई कमी आ जाये तो प्रजापति राजा विभिन्न उपायों द्वारा उस कमी को दूर करे।[४१] भूमि का रक्षण एवं संवर्द्धन सभी का कर्त्तव्य है, जिससे वह भूमि अन्नों को उत्पन्न करने वाली औषधियों की माता एवं विश्वधात्री बनी रहे।[४२] अथर्ववेद के अनुसार भूमि की गोद अर्थात् उसका धरातल एवं अन्दर के अवयव हमारे लिये कीटाणुयुक्त और रोगोत्पादक न हों।[४३]

यजुर्वेद में वर्णित है कि उत्तान लेटी हुई भूमि का हृदय यदि क्षतिग्रस्त हो गया, तो मातरिश्वा वायु उसमें पुनः शक्ति-संधान कर दे।[४४] यदि भूमि की उपजाऊ शक्ति न्यून या समाप्त प्राय: हो गई है तो कुछ समय उसमें कृषि न करके उसे खाली छोड़े रखने से शुद्ध वायु, सूर्य-रश्मियाँ, वर्षा आदि के द्वारा उसमें पुनः शक्ति आ जाती है। भूमि के संवर्द्धन एवं संरक्षण में जल का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

ऋग्वेद में वर्णन है कि हे नदियो! उत्तम अन्न को पैदा करके ऐश्वर्य बढ़ाने वाली नहरों को तुम जल के रूप में पूर्ण कर दो।[४५] नहर के लिए **वक्षणा** और **कुल्या** शब्दों का प्रयोग भी वेद में मिलता है। निरुक्त में **घृत** का अर्थ जल किया है।

ऋग्वेद के अनुसार **इन्द्रो या वज्री वृषभो रराद ता आपो देवीरिह मामवन्तु**[४६] अर्थात् वज्रधारी सुखों का वर्षक इन्द्र जिन्हें खोदकर बहाता है, वे कृष्यादि व्यवहारोपयोगी जल मेरी तथा राष्ट्र की रक्षा करे तथा जल न मिलने से क्षीण हो रही कृषि आदि को उन्नत करे।

शतपथ ब्राह्मण में वर्णन है कि प्लक्षा झील कृषि आदि को सिंचित कर उपयोगी बनाती है।[४७] ऋग्वेद में ही कहा गया है-जल से भरे हुए अच्छी प्रकार सींचने योग्य कभी भी जिनका जल क्षीण न हो, ऐसे कूप से खेत की सिंचाई

---

३८. सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु। अथर्ववेद - १२/१/४
३९. पृथिवी मातर्मा मा हिंसीर्यो अहं त्वाम्। यजुर्वेद - १०/२३
४०. पृथिवीं यच्छ, पृथिवीं दृंह, पृथिवीं मा हिंसी। यजुर्वेद - १३/८
४१. यत्त ऊनं तत्त आ पूरयाति प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य। अथर्ववेद -१२/१/६१
४२. विश्वस्य मातरमोषधीनां पृथिवीं विश्वधायसं घृतमच्छ वदामसि। अथर्ववेद - १२/१/१७
४३. उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा। अथर्ववेद -१२/१/६२
४४. सं ते वायुर्मातरिश्वा दधातु - उत्तानाया हृदयं यद् विकस्तम्। यजुर्वेद ११/३०
४५. प्र पिन्वध्वमिषयन्ती सुराधा आ वक्षणाः पृणध्वं यात शीभम्। ऋग्वेद - ३/३३/१२
४६. ऋग्वेद - ७/४९/१
४७. शतपथ ब्राह्मण - ११/५/१/४

करें।[४८] नहर और कूप के समान तालाबों को सिंचाई का मुख्य साधन माना जाता था। छोटी-छोटी नहरों से बड़े तालाबों में पानी एकत्रित करके उससे कृषि की सिंचाई की जाती थी। नहर को गाय रूपी नदी का वत्स कहा गया है। वेगवती धारायें समुद्र को जाती हैं, नाले तालाब को प्राप्त करते हैं और आकाश से होने वाली वृष्टि रूपी दान से किसान कृषि द्वारा यव आदि की वृद्धि करते हैं।[४९]

उपसंहार

वेदों में कृषि सम्बन्धी विषयों पर विशद विवेचन प्राप्त होता है। वैदिक-वाङ्मय में वर्णित अन्न के महत्त्व एवं अन्न की प्राप्ति राष्ट्र के लिए अन्न के महत्त्व एवं अर्थ--शुचिता को प्रतिपादित करते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में अन्न को ब्रह्म कहा गया है। महर्षि दयानन्द ने अन्न उत्पन्न करने वाले किसान को राजाओं का राजा कहा है। वैदिक आर्य कृषिजीवी थे। ऋग्वेद के अनुसार **कृष्टि** शब्द से आर्यों के कृषक होने का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। कृषि को अपनाना श्रेष्ठत्व का प्रमाण है। वेद ने **अक्षैर्मा दिव्यः कृषिमित् कृषस्व** कहकर कृषि की महत्ता को वर्णित किया है। कृषि कार्य न करने वाले अथवा उनको हीन भावना से देखने वाले लोगों को समाज में उच्च स्थान प्राप्त नहीं था। तत्समय अर्थोपार्जन का मुख्य साधन कृषि ही था। कृषि द्वारा मानव स्व एवं राष्ट्र की उन्नति में प्रयत्नशील रहता था। कृषि से जहाँ अन्नौषधी की प्राप्ति होती है वहीं मानवीय जीवन सुखकारी एवं प्रगतिशील भी होता है। वर्तमान समय में भी यदि वेदोक्त कृषि संसाधनों को उपलब्ध कर सर्वोत्तम कृषि-कर्म को जीवन में व्यवस्थित किया जाये तो अर्थ-शुचिता के साधन के रूप में कृषि राष्ट्रोन्नति का मुख्य घटक सिद्ध हो सकती है।

---

४८. निराहावान् कृणोतन सं वरत्रा दधातन। सिञ्चामहा अवतमुद्रिणं वयं सुषेकमनुपक्षितम्॥ ऋग्वेद - १०/१०१/५
४९. ऋग्वेद - १०/४३/७

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०१० अङ्क १४ (पृ०११६-१२८) ISSN 0974 – 8830

महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य में धन तथा उसके उपयोग

डॉ० सत्यदेव निगमालङ्कार[1]

पाणिनीय धातुपाठ में **धन धान्ये** धातु पठित हैं[2], जो उत्पन्न करना, पैदा करना और फलना, बौर लगना अर्थों को बताती है।[3] **धन** धातु को **अच्** प्रत्यय होकर **धनम्** पद सिद्ध होता है।[4] **धनम्** पद के **द्रव्यम्, वित्तम्, स्वापतेयम्, रिक्थम्, ऋक्थम्, धनम्, वसु, हिरण्यम्, द्रविणम्, द्युम्नम्** ये दस नपुंसकलिङ्ग में और **अर्थः, राः, विभवः** ये तीन पुल्लिङ्ग में पर्यायवाची पठित हैं।[5] यद्यपि 'धनम्' पद सांसारिक सम्पत्ति के लिये प्रसिद्ध है तथा उसी अर्थ को मानकर **दधन्ति धान्यादिकमुत्पादयतीति धनम्** अथवा **दधाति सुखमिति धनम्** ये निरुक्तियाँ की गयी हैं। इसी प्रसिद्धि के कारण उद्‌भट्ट ने कहा है-

धनैर्निष्कुलीनाः कुलीना भवन्ति, धनैरापदं मानवा निस्तरन्ति।

धनेभ्यः परो नास्ति बन्धुर्हि लोके, धनान्यर्जयध्वं धनान्यर्जयध्वम्॥

धन-सम्पदा के द्वारा निम्न कुल के व्यक्ति कुलीन बन जाते हैं, मनुष्य आपत्ति से पार हो जाते हैं, इसके विना संसार में बन्धु नहीं हैं, अतः धन कमाओ, धन कमाओ।

विश्वकोष में **धनम्** पद गोधन का भी वाचक है।[6] उस समय में 'गो' का धन सर्वोपरि और सर्वोत्तम माना जाता रहा। मेदिनीकोषकार की भी यही मान्यता है।[7] लोक में कुछ काल ऐसा भी आया जब धन शब्द गोधन, गजधन, अश्वधन, रधन तथा सन्तोषधन में ख्यात हुआ। रहीम खानखाना ने इसी ओर सङ्केत दिया है।[8] काशकृत्स्न धातुपाठ के टीकाकार ने **धन** धातु अन्नवाची मानी है और **धनम्** का अर्थ **भाग्य** किया।[9] यद्यपि उन्होंने 'धनम्' को द्रव्यवाची भी माना है किन्तु पुल्लिङ्ग में 'धनः' पद पशुवाची भी दर्शाया है।[10] हरिवंश पुराण में '**धनम्**' को स्नेहपात्र तथा गोधन का वाचक मानकर प्रयोग किया है।[11] वस्तुतः धन जीवन का एक आवश्यक साधन है[12] जिसके सहारे व्यवहारोपयोगी कार्य सम्पन्न होते हैं। इसके छियालिस पर्यायवाची-**द्रविणम्, द्रव्यं, वित्तं, स्वापतेयं, रिक्थम्, ऋक्थम्, वसु, हिरण्यम्, द्युम्नम्,**

---

१. अध्यक्ष-श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान, गु०कां०वि०वि०, हरिद्वार)
२. धातुपाठ-३/२१
३. पं० युधिष्ठिर मीमांसक कृत संस्कृत-धातु-कोषः।
४. नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः। अष्टा०-३.१.१३४
५. अमरकोषः-२.९०
६. धनं तु गोधने वित्ते०॥८५.१॥
७. मेदिनी-८३.१२
८. गोधन गजधन वाजिधन और रत्नधन खान। जब आवे सन्तोषधन सब धन धुरि समान॥
९. काशकृत्स्न धातुपाठ २.७७
१०. काशकृत्स्न धातुपाठ १:२०६; धनः पशुः धनम् द्रव्यम्॥
११. अनुजग्मुश्च गोपालाः कालयन्तो धनानि च॥ ७३.३३॥
१२. हलायुधकोशः।

अर्थः, राः, **विभवः, काञ्चनम्, लक्ष्मीः, भोग्यम्, सम्पत्, वृद्धिः, श्रीः, व्यवहार्यं, रैः, भोगः, स्वं, मघं, रेक्णः,** वेदः, **वरिवः, श्वात्रं, रं, रयिः, क्षत्रं, भगः, मीलु, गयः, इन्द्रियं, रायः, राधः, भोजनं, तना, नृम्णं, बन्धुः, मेधाः,** यशः, **ब्रह्म, क्षवः, वृत्रं, वृत्तम्** पदों से ही ज्ञात होता है कि यह विभिन्न स्थलों में सहायक और जीवन का अविभाज्य फल है, जो अनिच्छन्नपि हमसे दूर नहीं हो सकता है।[१३] वैदिककोश निघण्टु में इन पदों को अट्ठाईस पदों में निबन्धित किया है और **रेक्णः, मिढुम्, तना** इन पदों को भी माना है।[१४] वेद में एकवचन में 'मेधा' पद धन का वाचक है और वृद्धि का भी। चारों वेदसंहिताओं में 'धनम्' पद के **धनम्, धनस्य, धना, धनात्, धनानाम्, धनानि, धनाय, या, धने,** धनेन, **धनेषु, धनैः**-ये बारह रूप लगभग एक सौ सतासी मन्त्रों में प्रयुक्त हैं।

महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा रचित वेदभाष्य में विभिन्न स्थलों पर धन की चर्चा अनेक रूपों में की गयी है। वे धन और ऐश्वर्य में किञ्चित् भेद दर्शाते हैं। यथा पुरोहित यजमान का ऐश्वर्य बढ़ाता है और यजमान पुरोहित का धन- यथा **पुरोहितो यजमानस्यैश्वर्यं वर्द्धयति, तथा यजमानोऽपि पुरोहितस्य धनं वर्द्धयेत्।**[१५] वस्तुतः पुरोहित ऐश्वर्यसम्पन्न और यजमान धनसम्पन्न होता है। इसी दृष्टि से ऐश्वर्य को बढ़ाने वाला सर्वथा पुरुषार्थी और सुशिक्षित वाणी से युक्त होने वाला चाहिए, तभी ऐश्वर्य की वृद्धि होती है। यतोहि जो पूर्व में ऐश्वर्य प्राप्त करता है, वही अन्यों को उसे दे सकता है।[१६] ऐश्वर्य की वृद्धि का हेतु आप्तजनों का सत्कार करना है, जिससे व्यक्ति गुणवान् भी बनता है।[१७] विद्या और विनय की उन्नति सबसे श्रेष्ठ ऐश्वर्य को उत्पन्न करती है।[१८] प्रचुर ऐश्वर्य की प्राप्ति धर्मयुक्त कर्मों द्वारा ही सम्भव मानी गयी है।[१९] दुष्टों के साथ खिन्नता और उत्तम मनुष्यों के साथ मित्रता अगणित ऐश्वर्य-प्राप्ति का हेतु है।[२०] पृथ्वी, सूर्य और वायु की विद्या से ईश्वर, जीव और प्राणों को जानना तथा इस विद्या को पढ़ाकर परीक्षा करके विद्वानों को पुरुषार्थी बनाना अनेकविध ऐश्वर्य की वृद्धि का हेतु है।[२१] जो मनुष्य सभी प्राणियों का हितैषी होता है, वह बहुत ऐश्वर्य प्राप्त करता है।[२२] कार्य के प्रति निरन्तर सन्नद्ध रहना ऐश्वर्य का हेतु और अनेक रों का प्रापक माना गया है।[२३]

इस प्रकार महर्षि दयानन्द सरस्वती ने ऐश्वर्य और धन में भेद करते हुए ऐश्वर्य के हेतु पुरुषार्थ, सुशिक्षित वाणी, आप्तजनों का सत्कार, विद्या और विनय की उन्नति, धर्मयुक्त कर्म, दुष्टों से खिन्नता, सज्जनों से मित्रता, पृथ्वी, सूर्य और वायु की विद्या द्वारा ईश्वर, जीव और प्राणों का जानना, सभी प्राणियों का हितकारी बनना तथा कार्य के प्रति निरन्तर

---

१३. हलायुधकोशः।
१४. निघण्टु २.१०॥
१५. यजु०२०.७० का भावार्थ।
१६. क ऐश्वर्यं वर्द्धितुं शक्नुयादिति प्रश्नस्य यः सर्वथा पुरुषार्थी सुशिक्षितया वाचा युक्तश्चेति। कुतो य आदावैश्वर्यं प्राप्नुयात्स एवान्येभ्यो दातुमर्हेत्॥ ऋग्०४.२४.१०
१७. ये मनुष्या आप्तानां सत्कारं कुर्वन्ति, ते तूर्णं गुणवन्तो भूत्वैश्वर्ययुक्ता भवेयुः॥ ऋग्०४.३१.८
१८. हे मनुष्याः! यथाऽऽकाशे सूर्यो महानस्ति, तथैव विद्याविनयोन्नत्या सर्वोत्कृष्टमैश्वर्यं जनयतेति॥ ऋग्०४.३१.१५
१९. हे मनुष्याः! यदि यूयं शक्तिं वर्धयित्वा धर्म्येण कर्मणैश्वर्यादिप्राप्तेरभिलाषं वर्धयेयुस्तर्हि युष्मान् पुष्कलमैश्वर्यं प्राप्नुयात्॥ ऋग्०७.२०.९ का भावार्थ।
२०. य उत्तमैः पुरुषैः सहाभिसन्धिं दुष्टैः सह वैमनस्यं रक्षन्ति, तेऽसङ्ख्यमैश्वर्यमाप्नुवन्ति॥ ऋग्०७.३२.६
२१. ऋग्०७.३५.६ का भावार्थ।
२२. ये मनुष्याः सूर्यवच्छुभगुणकर्मप्रकाशिता मनुष्यादिहितं कुर्वन्ति, ते बह्वैश्वर्यं प्राप्नुवन्ति॥ ऋग्०७.४५.१
२३. मनुष्या इहैश्वर्यप्राप्तये सततमुत्तिष्ठेरन् परस्परं सम्मत्या पृथिव्यादेः सकाशाद्रत्नानि प्राप्नुयुः॥ यजु०११.२१ का भावार्थ।

लगे रहना माना है, तभी मनुष्य ऐश्वर्यसम्पन्न बन सकता है।

धन प्राप्त करने के विभिन्न उपाय हैं। वायु और सूर्य से सब पदार्थों के क्षण आदि व्यवहार सम्भव होते हैं, और विद्वान् पुरुष इन दोनों से अनेक कार्यों को सिद्ध करके धन को प्राप्त करते हैं।[२४] धन की कामना की पूर्ति परमेश्वर की उपासना और विद्वानों का सङ्ग का करना महर्षि ने माना है- **नहि मनुष्याणां परमेश्वरोपासनेन विद्वत्सहवासेन च विना धनकामपूर्तिर्भवितुं शक्या।**[२५] धन-प्राप्ति का एक हेतु कालविभाग है, मनुष्यों के द्वारा प्रातःकाल से लेकर कालविभाग के अनुरूप व्यवहार करके ही सुख के सब साधन और सुख प्राप्त किये जा सकते हैं। इसलिये मनुष्यों को ऐसा नित्य करना चाहिये।[२६] इसी स्थिति को सोचते हुए महर्षि ने धन कमाने के उपाय पर कालविभाग का महत्त्व बताते हुए लिखा-

यथेषुकृता सेना शत्रून् विजयते, तथा धनस्य सदुपायं शीघ्रमेव कुर्यात्। कालविशेषेषु दिनेषु कार्याणि रात्रिभागेषु नोत्पद्यते।[२७]

मनुष्य को उस कर्म का अनुष्ठान निरन्तर करते रहना चाहिए, जिससे अतुल धन-धान्य प्राप्त होता हो।[२८] सम्माननीय बनने के लिये धन-धान्य की प्राप्ति होना अवश्यम्भावी है और धन-धान्य की प्राप्ति का एक साधन महर्षि ने अग्नि प्रधान दिव्य पदार्थों का व्यवहार की सिद्धि के लिए सम्यक् प्रयोग करना बताया है।[२९] वस्तुतः सम्यक् सिद्ध किया गया अग्नि धन-प्राप्ति का निमित्त होता है।[३०] बहुत प्रयत्न करना धनप्राप्ति का कारण है और यह प्रयत्न मनुष्य को धनाढ्य बना देता है।[३१] धन-प्राप्ति का एक उपाय राजपुरुषों के साथ कभी विरोध न लेना भी है और न्यायपूर्वक कमाये गये धन का अन्यायपूर्ण व्यवहार में खर्च न करना भी है। इससे ज्ञात होता है कि विपरीत परिस्थितियाँ आ जाने पर भी परमात्मा की आज्ञा में जो लोग विद्यमान रहते हैं, धन की स्थिरता उन्हीं के पास रहती है।[३२] अतुल लक्ष्मियों की प्राप्ति चार कारणों से सम्भव है[३३]-१. शरीर का स्वस्थ रहना, २. बुद्धि का पवित्र होना, ३. धर्मात्मा आप्त विद्वानों का सङ्ग करना, ४. जितेन्द्रियता से पूर्ण आयु को प्राप्त करना। विद्वानों की सेवा सम्पूर्ण ऐश्वर्यों को प्राप्त कराती है।[३४] जब मनुष्य के सामने अनेक प्रकार की बाधाएं उठ खड़ी हों, तब वह अनेक उपायों का उपयोग करें। इस प्रकार पुरुषार्थ से विघ्नों को

---

२४. ऋग्०१.२३.६ का भावार्थ।

२५. ऋग्०१.७८.२ का भावार्थ।

२६. मनुष्यैः प्रातःकालमारभ्य कालविभागयोग्यान् व्यवहारान् कृत्वैव सर्वाणि सुखसाधनानि सुखानि च कर्त्तुं शक्यन्ते। तस्मादेतन्मनुष्यैर्नित्यमनुष्ठेयम्॥ ऋग्०१.९२.१३ का भावार्थ।

२७. ऋग्०१.१८४.३

२८. ये कर्मणाऽतुलानि धनधान्यानि प्राप्यन्ते, तस्यानुष्ठानं मनुष्याः सततं कुर्वन्तु॥ ऋग्०१.१८८.२ का भावार्थ।

२९. यदि मनुष्या अग्निप्रधानान् दिव्यान् पदार्थान् व्यवहारसिद्ध्ये सम्प्रयुञ्जीरन् तर्हि त ऐश्वर्याढ्या भूत्वा मान्या जायन्त इति वेद्यम्। ऋग्०१.१८८.११ का भावार्थ।

३०. यथा संसाधितोऽग्निर्धनप्राप्तिनिमित्तो जायते॥ ऋग्०२.२.६ का भावार्थ

३१. य उत्तमधनलाभाय बहु प्रयतन्ते, ते धनाढ्या जायन्ते-ऋग्०२.७.१॥ धनैश्वर्योन्नतये सर्वदा प्रयतन्ते ते पुष्कलं वैभवं प्राप्नुवन्तीति॥ ऋग्०१.१४.१२॥

३२. ऋग्०२.२७.१७ का भावार्थ।

३३. ऋग्०३.१.५ का भाव।

३४. ये मनुष्या अविदुष उपेक्ष्य विदुषः सेवन्ते, ते सर्वैश्वर्यमाप्नुवन्ति॥ ऋग्०३.१.१६ का भावार्थ।

हटाकर लक्ष्मी और शान्ति को निरन्तर बढ़ाना चाहिये।[३५] महर्षि ने धन कमाने के लिये धर्मयुक्त पुरुषार्थ का होना माना है-हे **मनुष्या:! यदि यूयं धनमिच्छत, तर्हि धर्म्येण पुरुषार्थेन योग्यां क्रियां सततं कुरुत।।**[३६]

कतिपय विद्वानों की मान्यता है कि विद्वान् व्यक्ति धनवान् नहीं होता- **विद्वान् धनीर्भूपति: दीर्घजीवी,** किन्तु महर्षि दयानन्द ने वेदमन्त्र के भावार्थ में विद्वान् व्यक्ति को धनाढ्य होने का उपाय स्पष्ट बताया है- **ये मनुष्या इह सृष्टिस्थानां पदार्थानां सुपरीक्षया संयोगवियोगाभ्यां श्रेष्ठान् पदार्थान् कर्माणि च निष्पादयन्ति, ते विद्वद्वरा धनाढ्यतमाश्च जायन्ते।**[३७] अर्थात् जो मनुष्य इस संसार में सृष्टि के पदार्थों की उत्तम परीक्षा से संयोग और विभाग के द्वारा श्रेष्ठ पदार्थों का निर्माण करते और अच्छे कार्य करते हैं, वे उत्तम विद्वान् और सबसे अधिक धनाढ्य होते हैं।

संसार में अतुल लक्ष्मी की प्राप्ति उन्हें ही होती है, जो विद्युत् के समान सामर्थ्य को बढ़ाते हैं।[३८] अप्राप्त की प्राप्ति और प्राप्त की रक्षा में प्रयशील मानव धन को प्राप्तकर सकता है।[३९] दान देने से धन की वृद्धि की चर्चा भी महर्षि ने की है।[४०] परस्पर विरोध करके धन की हानि होती है और मेलमिलाप के माध्यम से पुरुषार्थ द्वारा धन की उपलब्धि होती है।[४१] सम्पत्तियाँ उसी मनुष्य के पास आकर स्थिर होती हैं, जो धार्मिक और उद्योगी होता है।[४२] धनाढ्य विद्वानों को सम्मानित करना राजा का कार्य है, यतोहि उनको सम्मानित करने से निरन्तर लक्ष्मी बढ़ती है।[४३] धन की वृद्धि में सहायक भूमि और विद्युत् भी है, जिनके माध्यम से व्यक्ति धनवान् बन सकता है।[४४] धनवान् बनने के कतिपय उपाय और भी हैं जैसे सूर्य के समान प्रतापी होना, वायु के समान बलवान् होना तथा विद्या, विद्वज्जन, विनय और शूरवीरों का रक्षक होना- ऐसा करने पर व्यक्ति शत्रुओं को जीतकर तथा कीर्तिमान् बनकर धनवान् बनता है।[४५] सज्जनों की समीपता और दुष्टों की दूरी होने से सम्पत्ति की वृद्धि होती है।[४६] भूगर्भ विद्या का ज्ञान मनुष्य को सुवर्णादि पदार्थों से परिपूर्ण कर देता है। अत: महर्षि ने लिखा है-

मनुष्यै: सुसाधनै: पृथिवीं खनित्वाऽग्निना संयोज्य सुवर्णादीनि निर्मातव्यानि, परन्तु पूर्वं भूगर्भतत्त्वविद्यां प्राप्यैवं कर्त्तुं शक्यमिति वेदितव्यम्।। मनुष्यैर्भूगर्भाग्निविद्यया पार्थिवान् पदार्थान् सुपरीक्ष्य सुवर्णादीनि रान्युत्साहेन प्राप्तव्यानि। ये खनितारो भृत्या सन्ति तान् प्रति तद्विद्योपदेष्टव्या। मनुष्या इहैश्वर्यप्राप्तये सततमुत्तिष्ठेरन्, परस्परं सम्मत्या

---

३५. यदा मनुष्यस्यानेकविधा बाधा: समुत्थिता: स्युस्तदाऽनेकानुपायान् युञ्जीत। एवं पुरुषार्थेन विघ्नानि निवार्य श्रीबले सततं वर्धनीये- ऋग्०३.३०.३ का भावार्थ।
३६. ऋग्०४.२४.११ का भावार्थ।
३७. ऋग्०४.३३.९ का भावार्थ।
३८. ये विद्युद्वत्सामर्थ्यं वर्द्धयन्ति, ते धीमन्तो भूत्वाऽतुलां श्रियं जगति लभन्ते।। ऋग्०४.४३.३
३९. ये मनुष्या: प्रयत्नेनाऽप्राप्तस्य प्राप्तिं लब्धस्य रक्षणं कुर्वन्ति, ते वत्सान् गाव इव धनमाप्नुवन्तीति-ऋग्०५.३३.१०
४०. ये धार्मिका राज्ञा रक्षिता: प्रशंसितधनयुक्ता दातार: सन्ति, त एव यशस्विनो भूत्वा धनाढ्या जायन्ते-ऋग्०५.४२.८
४१. मनुष्यैर्विरोधं विहाय सम्प्रयोगेणोद्यमं कृत्वा विजयधनादिकं प्रापणीयम्-ऋग्०५.६४.६ का भावार्थ।
४२. यथा नद्यो वेगेन समुद्रं प्राप्य स्थिरा भवन्ति, तथैव धार्मिकमुद्योगिनं श्रियं सेवन्ते- ऋग्०६.१९.५ का भावार्थ।
४३. हे राजादयो जना: ! युष्माभि: स्वकीयराज्ये बहवो धनाढ्या विद्वांस: सत्कृत्य रक्षणीया येन सततं श्रीर्वर्धेत-ऋग्०६.४४.१
४४. हे मनुष्या: ! मिलितयोर्भूमिविद्युतो: सकाशाद् यूयं धनानि प्राप्नुत-ऋग्०६.५७.३ का भावार्थ।
४५. ऋग्०६.६८.७ के भावार्थ का भाव।
४६. मनुष्यै: सज्जनानां निकटे दुष्टानां दूरे स्थित्वा श्रीरुन्नेया-ऋग्०७.३४.१८।

पृथिव्यादेः सकाशाद्रानि प्राप्नुयुः।[४७]

अग्नि आदि पदार्थों से सम्पत्तिशाली बनने की चर्चा महर्षि दयानन्द ने अनेकत्र की है। उनका कथन है कि अच्छी प्रकार जाने गये और कर्मों में लगाये गये लक्ष्मी प्राप्त कराने वाले अग्नि आदि पदार्थों से मनुष्य सम्पत्तिशाली बन सकता है। अग्नि के द्वारा पृथिवीस्थ पदार्थों से भी धन प्राप्त किया जा सकता है। विद्या और युक्ति से सेवन किया गया अग्नि प्रचुर धन तथा धान्य प्रदान करता है। वैश्य जन अग्नि आदि की विद्याओं से अपने लोगों के लिये और राजकीय जनों के लिए समस्त धन संगृहीत करते हैं।[४८]

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने धर्मपूर्वक धन आदि पदार्थों के संचय करने के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए कहा है कि जो धर्मपूर्वक धन आदि पदार्थों का संचय करते हैं, उनके अतुल धन, उत्तम प्रजाएँ और सुशील सन्तान होते हैं। जो विद्वत्ता और दृढ़ परिपक्वता प्राप्त करके अध्यापक तथा उपदेशक बनते हैं, वे दुःख नहीं देखते हैं।[४९] जो धार्मिक लोग धर्माचरण से धन कमाते हैं, वैसे ही सब लोग धन कमावें।[५०] जो धर्माचरण से धन के द्वारा धन को बढ़ाते हैं। वे प्रशंसा प्राप्त करते हैं।[५१] जैसे उत्तम वैद्य अपने और अन्यों के शरीरों की रक्षा करके उन्हें बढ़ाते हैं, वैसे सबको धर्म की रक्षा करके उसे बढ़ाना चाहिये, जिससे इस संसार में अनुपम सुख होवे।[५२] हे मनुष्यो! यदि तुम धर्मयुक्त व्यवहार से लक्ष्मी सञ्चित कर लो, तो जल और अग्नि के द्वारा चलाये गये रथ के समान तुम शीघ्र सब सुखों को प्राप्तकर सकते हो।[५३] जो मनुष्य इस संसार में विद्या और धर्म के द्वारों को खोलकर और पदार्थ-विद्या का सम्यक् सेवन करके ऐश्वर्य बढ़ाते हैं, वे अनुपम सुख पाते हैं।[५४] हे विद्वान् मनुष्यो! जैसे जल समुद्रों को पूर्ण करके और जन्तुओं की रक्षा करके मोती आदि र उत्पन्न करता है, वैसे तुम धर्म से धनकोष को प्रपूर्ण करके और अन्य दरिद्रों को रक्षा करके यश को बढ़ाओ।[५५] जो मनुष्य धर्मयुक्त पुरुषार्थ से धन आदि सञ्चित करते हैं, वे सूर्य-किरणों के समान प्रसिद्ध यशवाले हो जाते हैं।[५६]

महर्षि ने धन हेतु परमात्मा से प्रार्थना करते हुए लिखा- हे जगदीश्वर! आपकी कृपा और अत्यन्त पुरुषार्थ से जिस धन के द्वारा बहुत सुख सिद्ध करने वाली सेनाएँ प्राप्त होती हैं, उसे आप हममें नित्य स्थापित करो।[५७]

धन की इच्छा करना अपराध नहीं है। महर्षि ने इसलिये लिखा है-**मनुष्यैः सदा धनाढ्यत्वमेषणीयं प्रमादो नैव कर्त्तव्यः॥** ऋग्०५.५४.१३ का भावार्थ॥

अर्थात् मनुष्यों को सदा धनसम्पन्नता की इच्छा करनी चाहिये और आलस्य नहीं करना चाहिये॥

---

४७. यजु०११.११, ११.१९ तथा ११.२१ का भावार्थ।
४८. यजु०११.२४; २५; १५.२१; ३० का भावार्थ
४९. ऋग्०२.२.१२ का भावार्थ।
५०. यजु०१७.५६ का भावार्थ।
५१. यजु०२०.६९ का भावार्थ।
५२. यजु०२१.५७ का भावार्थ।
५३. यजु०२१.५५ का भावार्थ।
५४. यजु०२८.५ का भावार्थ।
५५. यजु०२८.४४ का भावार्थ।
५६. ऋग्०५.६१.१२ का भावार्थ।
५७. ऋग्०१.९.८ का भावार्थ।

धन से सबका हित करना मनुष्यों का उद्देश्य होना चाहिए।[५८] इस संसार में जैसे आप्तजन धर्मयुक्त व्यवहार से ऐश्वर्य बढ़ाकर उसे सबके उपकार वाले कार्य में खर्च करते हैं, और जैसे सत्य के जिज्ञासु लोग विद्वानों से याचना करते हैं वैसे सब मनुष्य अपने ऐश्वर्य को उत्तम कार्य में खर्च करें और विद्वानों से विद्याओं की याचना करें।[५९] जो धन पावें वे अन्यों का सत्कार करें।[६०] धनवान् लोगों को न ही अन्यायपूर्ण व्यवहार में न्याय से कमाये धन को खर्च करना चाहिये।[६१] धर्म से अर्जित धन से अनाथ-पालन, विद्या और धर्म की वृद्धि, औषध वितरण एवं मार्गशुद्धि करके अपनी प्रशंसा सब दिशाओं में फैलानी चाहिये।[६२] इस संसार में जो धनाढ्य हो वह प्रेमपूर्वक निर्धनों से उद्योग करवाके निरन्तर उन्हें पाले। और जो उत्तम क्रिया में उन्नति करते हैं, उनको धन्यवाद से और धन आदि के दान से प्रोत्साहित करे।[६३] हे मनुष्यो! जैसे दाता लोग उत्तम दान देते हैं, और पौत्र-पर्यन्त धन-धान्य और पशु आदि को बढ़ाते हैं, वैसे सबको व्यवहार करना चाहिये।[६४]

धन से मनुष्य को सम्मान भी प्राप्त होता है। इसीलिये महर्षि ने लिखा-**ईश्वरस्याज्ञास्ति ये जनाः पुरुषार्थिनो भूत्वा धार्मिकाः परोपकारिणो भवन्ति, त एव पूर्णमैश्वर्यरक्षणं कृत्वा सर्वत्र सत्कृता जायन्ते।**[६५]

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वेदभावार्थ में धन का सम्बन्ध संसार के व्यवहार के समान सुख से जोड़ा है। उन्होंने अनेकों मन्त्रभावार्थों में धन से सुख-प्राप्ति की चर्चा की है। इस प्रकार लिखा-

मनुष्यैर्ब्रह्मचर्येण विषयलोलुपतात्यागेन भोजनाच्छादनादि-सुनियमैश्च-विद्याचक्रवर्त्ति-श्रीयोगेन समग्रस्यायुषो भोगार्थं सन्धेयम्। यत ऐहिकं परमार्थिकं च दृढं विशालं सुखं सदैव वर्धते। न ह्येतत् केवलमीश्वरस्य प्रार्थनयैव भवितुमर्हति, किन्तु विविधपुरुषार्थापेक्षं वर्त्तत एतत्। ईश्वरस्यानन्तसौभगत्वाद्धार्मिकस्य सभासेनान्यायाधीशस्य चक्रवर्त्ति-सुखैश्वर्ययुक्तत्वादेतौ समाश्रित्य मनुष्यैरसङ्ख्यातानि विद्यासुवर्णादिधनानि प्राप्य बहुसुखभोगः कर्त्तव्यः कारयितव्यश्चेति। येऽत्र गोवत् सुखप्रदाः प्राणवत् प्रियाः प्रजासु वर्त्तन्ते, तेऽतुलमानन्दमाप्नुवन्ति। यथा सूर्य आकाशे मेघमुन्नीय सर्वान् सुखयति, तथा सत्पुरुषस्यैश्वर्यं वर्द्धमानं सत् सकलानानन्दयति। ये परमेश्वरादीनां पदार्थानां विज्ञानेनाऽहिंसादिलक्षणे व्यवहारे वर्त्तित्वा युक्ताहारविहाराः सन्त ऐश्वर्यमुन्निनीषन्ति, ते सर्वतः सुखिनो जायन्ते। ये सुहृदो भूत्वा प्रयेनैश्वर्यमिच्छन्ति, ते सुखदुःखनिन्दादिकं सोढ्वा विद्वत्सङ्गं कृत्वाऽऽनन्दं वर्धयेयुः। ये धनादिकं प्राप्यान्येभ्यो यथासुपात्रं सद्व्यवहारं च विज्ञाय ददति, ते सेक्ता कुम्भमिव सर्वान् पूर्णसुखान् कुर्वन्ति। ये सूर्यवन्नियमेन धर्म्यकार्याणि साध्नुवन्ति, वायुरिव सततं प्रयं कुर्वन्ति, ते बह्वैश्वर्यं लब्ध्वाऽऽनन्दन्ति। यदि सत्पुरुषैः सहाऽऽनुकूल्येन वर्त्तित्वा, परस्परानुभूत्या पशुधनादिभिरिच्छामलं कुर्युस्ते सदा सुखिनः स्युः। मनुष्यै राज्ञो राजपुरुषेभ्यश्च धनोन्नतिः सदा कार्या, येन बहुविधं सुखं भवेदिति। ये साहसेन पुरुषार्थयन्तो वीरसेनां गृहीत्वैश्वर्यप्राप्तये

---

५८. ऋग्०१.१७.६ का भावार्थ।
५९. ऋग्०१.१३६.४ का भावार्थ।
६०. ये धनमाप्नुयुस्ते परेषां सत्कारं कुर्युः-ऋग्०१.७७.५
६१. ऋग्०२.२७.१७ के भावार्थ का भाव।
६२. ऋग्०६.४४.८ का भावार्थ।
६३. ऋग्०७.१६.६ का भावार्थ।
६४. ऋग्०७.१८.२२ का भावार्थ।
६५. ऋग्०१.८.९ का भावार्थ।

प्रयतन्ते, त एव सुखिनो भवन्तीति। ये मनुष्या धनाद्यैश्वर्येण धर्मविद्ये उन्नयन्ति, त एव बहुसुखधना भवन्ति। विद्वानग्निना पृथिवीस्थपदार्थेभ्यो धनं प्राप्य सुमार्गे सत्पात्रेभ्यो दत्त्वा विद्याप्रचारेण सर्वान् सुखयेत्।[६६]

धर्मयुक्त धन कौनसा है ? इसके उत्तर में महर्षि दयानन्द ने लिखा है कि जिस धन से पुष्टि, विद्या तथा विद्वानों का सत्कार, वेदविद्या की प्रवृत्ति और सबका उपकार होवे वही धर्मयुक्त धन है, अन्य नहीं।[६७]

धन से मनुष्य **श्रीमान्, धनपति, लक्ष्मीवान्** कहलाता है। जो रागद्वेषरहित और गुणों के ग्रहण करने वाले मनुष्य होते हैं, वे दूसरों को भी अपने समान बनाकर दाता होते हुए श्रीमान् बनते हैं। जो ब्रह्मचर्य और विद्या से धर्मयुक्त कार्य करके शुद्ध अन्तःकरण और आत्मा से य करें, वे धनपति बन सकते हैं। जो मनुष्य अन्यों के प्रति अपने समान व्यवहार करके, उनके साथ सुख को स्वीकार करके और सुवर्ण आदि धन की वृद्धि करके, तृप्त होते हुए बलिष्ठ बनते हैं, वे ही लक्ष्मीवान् होते हैं। जो मनुष्य उषावेला के समान विद्या के प्रकाश की ओर अभिमुख हुए और सूर्य के समान धर्माचरण की कामना करते हुए, प्रयत्न के साथ ऐश्वर्य की कामना करें, वे सब प्रकार से श्रीमान् बनकर निरन्तर बढ़ते हैं। हे मनुष्यो ! आप लोग अग्नि आदि पदार्थों से दरिद्रता को नष्ट करके लक्ष्मीवान् होवें। जो मनुष्य सूर्योदय से पहले उठकर, जब तक शयनकाल हो तब तक प्रयत्न करते हैं, वे दुःख और दरिद्रता को समाप्त करके सुखी और श्रीमान् बनते हैं। विद्वान् मनुष्यों को इस संसार में सुबुद्धि और पुरुषार्थ से श्रीमान् बनकर अन्यों को भी धनवान् बनाना चाहिये। जो शीघ्र सुख देनेवाले और बुद्धि बढ़ाने वाले पदार्थों का सेवन करते हैं वे संसार में श्रीसम्पन्न बनते हैं। हे मनुष्यो ! तुम अग्नि आदि पदार्थों की विद्या से श्रीमान् बनकर, सच्चे भाव से सब अनाथों का पालन करो और दुष्टों की ताड़ना करो। जो मनुष्य शरीर और आत्मा से बलिष्ठ होकर और शस्त्रास्त्र विद्या में निपुण होकर उत्तम यान आदि साधनों से सम्पन्न होते हुए, पुरुषार्थ करते हैं, वे लक्ष्मीवान् बनते हैं। जो मनुष्य धन आदि ऐश्वर्य से धर्म और विद्या की उन्नति करते हैं, वे ही बहुत सुखी और धनवान् होते हैं। जो मनुष्य सूर्य के समान सबके धनों को बढ़ाकर, उन्हें सुपात्रों को देते हैं, वे धनपति बनते हैं। जो मनुष्य संसार के रचयिता अनादि ईश्वर को तथा जगत् के अनादिकारण को गुण-कर्म-स्वभावों के साथ जानकर उपासना करते हैं और उपयोग करते हैं, वे चिरजीवी और धनवान् बनते हैं। जैसे विद्या और युक्ति से सेवन किया गया धन प्रचुर धन तथा धान्य प्रदान करता है, वैसे ही सेवा किया गया पुरुषार्थी जन मनुष्यों को लक्ष्मीवान् बनाता है। यदि मनुष्य आकाश के समान चञ्चलता-रहित, आनन्ददाता, एकमात्र प्रसन्न स्वभाव वाले, आज्ञा का अवश्य पालन करवाने वाले और पुरुषार्थी होवें, तो इस संसार में वे लक्ष्मीवान् क्यों न हों। जो मनुष्य सूर्य के समान नियमपूर्वक प्रवृत्त रहकर, शरीर को निरोग और आत्मा को विद्वान् बनाकर, पूर्ण ब्रह्मचर्य करके, स्वयं वरण की हुई हृदय को प्रिय स्त्री से विवाह करके उसमें सन्तान उत्पन्न करके तथा उनको सुशिक्षित करके विद्वान् बनाते हैं, वे धनपति बनते हैं।[६८]

महर्षि दयानन्द ने धन द्वारा परोपकार करने का स्पष्ट निर्देश दिया है, यतोहि परोपकारी व्यक्ति प्रिय बनते हैं-

---

६६. ऋग्० १.९.७; १.४२.६; १.१५३.४; १.१७३.८; ३.२८.५; ३.३०.१; ३.३२.१५; ३.४४.३; ३.५०.४; ४.३७.८; ५.२०.४; ६.४४.२; यजु०११.२५ का भावार्थ।

६७. ऋग्०१.१४२.१२ का भावार्थ।

६८. ऋग्०२.६.४; ३.१९.३; ३.४४.२; ५.५४.१०; यजु०१२.४१; ऋग्०५.६१.११, ५.४१.५; ५.५७.६; ६.४४.२; ७.४५.३; यजु०१२.२५; १५.२१; २१.५७; २५.४६ का भावार्थ।

ये धनाढ्या धनेन परोपकारं कुर्युस्ते सर्वेषां प्रिया जायन्ते। हे मनुष्या:! त एवात्र जगति परोपकाराय वर्त्तन्ते, ये न्यायेन द्रव्योपार्जनमाचरन्ति।[६९]

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने धन-प्राप्ति होने के उपरान्त उसका सर्वोत्तम प्रयोग संसार के उपकार में लगाना है। इस उपकार से दाता के घर में धन स्थिर हो जाता है- **तस्यैव कुलाद्धननाशो न भवति, योऽन्येभ्य: सुपुत्रेभ्यो जगदुपकाराय प्रयच्छति। हे मनुष्या! य: सत्यन्यायेन स्वांशं भुक्त्वा प्रजाया: सुखवर्धनायाऽन्यायं दुष्टांश्च हन्ति, स समृद्धो भवति।**[७०]

यद्यपि धन किसी भी परिश्रमशील मनुष्य के पास चला जाता है, किन्तु वह परिश्रमशील मनुष्य सज्जन है अथवा दुर्जन ? इसका निर्णय उसके द्वारा प्रयुक्त धन से होगा। महर्षि इस निर्णय को इस प्रकार बताते हैं- **सज्जनानां धनमन्येषां सुखाय दुष्टानां च दु:खाय भवति।**[७१] अर्थात् सज्जनों का धन अन्यों के सुख के लिये और दुष्टों का धन अन्यों को दु:ख देने के लिये हुआ करता है।

धन कमाकर उसका उपयोग मात्र स्वार्थ हेतु निम्नकोटि के लोग किया करते हैं, परोपकार में उसका उपयोग करने वाला मनुष्य जैसे वायु के आधार पर स्थित सूर्य आदि लोक जलवर्षा आदि के द्वारा सबको आनन्दित करते हैं, वैसे ही लक्ष्मी अर्जित करने वाला पुरुष सबको सुभूषित करता है।[७२]

दु:खों के विनाश का एक साधन ऐश्वर्य की वृद्धि भी होता है, किन्तु यह साधन तभी सफल होता है जब मनुष्य अपने हाथों से परिश्रमशील करके ऐश्वर्य की प्राप्ति करे। अत: महर्षि लिखते हैं-**येऽश्वैरिव स्वाङ्गुलिभि: कर्माणि कृत्वैश्वर्यमुन्नयन्ति, ते क्षीणदु:खा जायन्ते। सर्वेषां मनुष्याणामियं योग्यताऽस्ति, यदप्राप्तस्यैश्वर्यस्य पुरुषार्थेन प्राप्तिस्तद्रक्षोन्नती कृत्वा धार्मिकान् मनुष्यान् सङ्गत्यैतेन सत्कृत्य च धर्ममनुष्ठाय विज्ञानमुन्नीय दु:खबन्धनान् मुक्ता भवन्तु।**[७३]

धन के विषय में महर्षि का चिन्तन अपार दार्शनिक एवं व्यावहारिक है। कई बार मनुष्य संस्थान आदि को चलाने हेतु धनी लोगों के पास जाकर अपार धन की याचना कर बैठते हैं, किन्तु वहाँ से उसे बहुत कम धन की उपलब्धि होती है। तथा कई बार उसे धनीजनों के पास से न याचना करके पर भी बहुत धन उपलब्ध हो जाता है। सम्भवत: जीवन के इस कडुवे सत्य का अवलोकन कर महात्मा ने कहा था-**बिन मांगे मोती मिले, मांगे मिले न भीख।** अर्थात् विना मांगने पर कई बार आशातीत धन की उपलब्धि होती है और मांगने पर दो रोटी के योग्य आहार भी नहीं मिलता। महर्षि ने भी इस लौकिक व्यवहार को वेदों में देखकर लिखा-**ये धनाढ्यान् प्राप्यासङ्ख्यान् पदार्थान् याचन्ते, ते स्वल्पं लभन्ते, ये च न याचन्ते, ते बहु प्राप्नुवन्ति।**[७४] भाव यह है कि जो लोग धनाढ्य जनों के पास पहुँचकर अगणित पदार्थ मांगते हैं, वे थोड़ा पाते हैं और जो नहीं मांगते हैं, बहुत पाते हैं।

धन का आदान-प्रदान संसार में नित्य चलता रहता है। धनी मनुष्य के पास जो आज धन है, वह दान देने से पुन:

---

६९. ऋग्०२.९.४; ५.६१.१६ का भावार्थ।
७०. ऋग्०२.९.५; ३.५०.१ का भावार्थ।
७१. ऋग्०२.१४.१२ का भावार्थ।
७२. ऋग्०३.३८.४ का भावार्थ।
७३. ऋग्०४.६.९; यजु०५.३९ का भावार्थ।
७४. ऋग्०४.३२.१७ का भावार्थ।

उसी के पास लौटकर आता रहता है। प्रस्तुत मन्त्र का भावार्थ इसी भाव को प्रकट कर रहा है-

हे धनाढ्य! तव सकाशाद्वयं गवादीन् प्राप्याऽन्येभ्यो दद्मः। अस्माकं धनं भवन्तं प्राप्नोतु।[७५]

ऐश्वर्यशाली मनुष्य के लिये महर्षि स्पष्ट आदेश देते हैं कि वह अन्यों को धन-धान्य आदि देवे- **ऐश्वर्यवान्मनुष्योऽन्येभ्यो धनधान्यादिकं दद्याद्।**[७६]

धन को बढ़ाने का एक उपाय व्यापार है, जो व्यापार गाड़ी आदि यानों द्वारा दूर देश में जाकर हजारों मनुष्यों के साथ सन्धि करके किया जाता है, इस प्रक्रिया से मनुष्य धन, धान्य और पशुओं से युक्त हो जाते हैं-

ये मनुष्याः शकटादियानचालनकुशला अनेकैः सहस्त्रैः पुरुषैः सह सन्धिं कुर्वन्ति, ते धनधान्यपशुयुक्ता जायन्ते।[७७]

जो विद्युत् के समान, उषावेला के समान और ऋषि के समान धनकोश का सञ्चय करते हैं, वे प्रतिष्ठित होते हैं। दरिद्रता का वे ही नाश कर पाते हैं, जो मनुष्य-शरीर का आश्रय लेकर लक्ष्मी का अन्वेषण करते हैं। यदि मनुष्य सब ओर से बल बढ़ावे तो, वे लक्ष्मीवान् क्यों न हो सकें। वे ही लक्ष्मीवान् हैं, जो आलस्य त्यागकर सदा शुभ कर्म के लिये प्रयत्न करते हैं। जैसे पशुपालक लोग पशुओं को पालकर समृद्ध होते हैं, वैसे ही पुरुषार्थी दरिद्रता को नष्ट करके धनपति बनते हैं। जो लोग विद्वानों के समान प्रयत्न करते रहते हैं, वे इस संसार में प्रचुर लक्ष्मी को प्राप्त करते हैं।[७८]

इस प्रकार महर्षि ने वेदभाष्यभावार्थ में धन द्वारा प्रतिष्ठित होने की दिशा, दरिद्रता के विनाश का उपाय, और लक्ष्मीवान् बनने का मार्ग, सरल शब्दों में निर्दिष्ट किया है।

महर्षि ने धर्मयुक्त पुरुषार्थ से प्राप्त धन को ही अपना मानने की बात कही। अन्याय से प्राप्त धन अपना नहीं है। ज्ञानी जनों के मार्ग को पाखण्डयुक्त उपदेश से दूषित न करने की प्रेरणा दी है तथा जिस रीति से धर्मयुक्त पुरुषार्थ के द्वारा धन प्राप्त हो सके, वैसा प्रयत्न करने को कहा है। उन्होंने उसी का धन सफल माना है, जिसने न्याय से कमाया है और धर्मयुक्त व्यवहार में उसका व्यय किया है। दरिद्रता उनके पास नहीं आती है, जो सच्चे भाव से परमेश्वर की उपासना करके न्याययुक्त व्यवहार से धन प्राप्त करना चाहते हैं और जो सदा आप्तजनों का सङ्ग करते हैं।[७९]

अन्याय की रीति से धनोपार्जन करने से मनुष्य की आयु समाप्त होने लगती है। जो मनुष्य दुष्ट आचरण और दुष्टों के सङ्ग को त्यागकर, परमेश्वर और आप्तजनों की सेवा करते हैं, वे धनधान्य से युक्त होते हुए, चिरजीवी बनते हैं।[८०]

स्वयं ऐश्वर्य प्राप्त करना बहुत उत्तम है, किन्तु अन्यों को भी ऐश्वर्य प्राप्त करा देना उत्तमोत्तम है, किन्तु यह कार्य वही कर सकता है जो स्वयं शोभनीय वेश और आचरण में विराजमान रहता है, वही ऐश्वर्य प्राप्त करके, अन्यों को प्राप्त करा सकता है।[८१]

जब मनुष्य धन का संग्रह करता है, तब उसे चुराने के लिये चोरों की गिद्धदृष्टि उस पर होती है, उसी से

---

७५. ऋग्०४.३३.९ का भावार्थ।
७६. ऋग्०५.३१.८ का भावार्थ।
७७. ऋग्०५.२७.१ का भावार्थ।
७८. ऋग्०५.५९.८; ६०.४; ६.१५.३; ६.२९.३; यजु०१८.५६ का भावार्थ।
७९. ऋग्०७.४.७; ७.१५.५; ७.३७.८ का भावार्थ।
८०. यजु०३५.१६ का भावार्थ।
८१. यजु०१२.१०९ का भावार्थ।

बचाव का साधन महर्षि बताते हुए लिखते हैं-**यदि मनुष्या वायुविद्युतौ सूर्यनिमित्ते विज्ञायोपयुज्य धनानि सञ्चिनुयुस्तर्हि स्तेननाशकाः स्युः।**[८२] अर्थात् मनुष्य वायु और विद्युत् को सूर्य का निमित्त जानकर और उनका उपयोग करके धनों को सञ्चित करें तो, वे चोरों के नाशक हो सकें।

अपरिमित धन का सञ्चय करने वाले और उस धन को संसार के उपकार-कर्त्ता सुपात्रों को देने वाले मनुष्य की कोई स्पर्धा नहीं कर सकता है, वे अजेय होते हैं। ऐश्वर्य को बढ़ाने के लिए मनुष्य को सत्य का आचरण, परमेश्वर की उपासना और विद्वानों की संगति बहुत आवश्यक है। समस्त कामनाओं को मनुष्य तभी पूर्ण कर सकता है, जब वह धन प्राप्त करके, उसे अच्छे कर्मों में खर्च करे।[८३]

संस्कृतभाषा में एक लोकोक्ति प्रसिद्ध है जिसका भाव है कि सूर्योदय तथा सूर्यास्त काल में जो शयन करता है, वह यदि स्वयं चक्रपाणि भगवान् विष्णु भी क्यों न हो उसे लक्ष्मी त्याग देती है।[८४] महर्षि दयानन्द ने उस सन्धिवेला में शयन और आलस्य त्यागकर ईश्वर का ध्यान करने का निर्देश देते हुए पुरुषार्थी बनकर सूर्य, चन्द्रमा और सन्ध्या के समान प्रयत्न करने को कहा। जिससे प्रचुर लक्ष्मी प्राप्त होवे-**ये पुरुषार्थिनो मनुष्याः सूर्यचन्द्रसन्ध्यावन्नियमेन प्रयतन्ते, सन्धिवेलायां शयनाऽऽलस्यादिकं विहायेश्वरस्य ध्यानं कुर्वन्ति, ते पुष्कलां श्रियं प्राप्नुवन्ति।**[८५]

आगे पुनः उन्होंने कहा-काल की स्थूल और सूक्ष्म गति को विद्वानों के संग से जो मनुष्य जान जाते हैं और एक क्षण भी व्यर्थ नहीं गवाते हैं, वे विचित्र ऐश्वर्य प्राप्त कर लेते हैं-

ये मनुष्या विद्वत्सङ्गेन कालस्य स्थूलसूक्ष्मगती विज्ञायैकक्षणमपि व्यर्थं न नयन्ति, ते विचित्रमैश्वर्यमाप्नुवन्ति।[८६]

धन प्राप्त करने का एक साधन पूर्ण युवावस्था में गृहस्थ में प्रवेश करना भी है। समाज में बाल्यावस्था में विवाह प्रथा प्रचलित रही। जिससे शरीर में अनेक रोग तथा बाल-विधवा आदि कुप्रथाओं की उत्पत्ति होती है। महर्षि ने इस सामाजिक कुप्रथा के विनाश के लिए भरपूर विरोध किया। अपने वेदमन्त्र भावार्थ में भी उन्होंने इस कुप्रथा से होने वाले अनिष्टों का संकेत दिया तथा युवावस्था में विवाह के लाभों का वर्णन किया- **ये मनुष्याः पूर्णयुवावस्थायां विद्याः समाप्य सुशीलतां स्वीकृत्यातीवोत्तमाः सन्तः सुशीलाः स्त्रियः स्वीकृत्य च प्रयतन्ते, ते ऐश्वर्यं प्राप्यानन्दिता भवन्ति। ये मनुष्याः सूर्यवन्नियमेन वर्तित्वा शरीरमरोगमात्मानं विद्वांसं संसाध्य पूर्णं ब्रह्मचर्यं कृत्वा स्वयं वृतां हृद्यां स्त्रियं स्वीकृत्य तत्र प्रजा उत्पाद्य सुशिक्ष्य विदुषीः कुर्वन्ति, ते श्रियः पतयो जायन्ते।**[८७] अर्थात् जो मनुष्य पूर्ण युवावस्था में विद्याएं प्राप्त करके तथा सुशीलता अपनाकर अत्यन्त उत्तम होते हुए सुशील स्त्रियों से विवाह करके प्रयत्न करते हैं, वे ऐश्वर्य प्राप्त करके आनन्दित होते हैं। जो मनुष्य सूर्य के समान नियमपूर्वक प्रवृत्त रहकर, शरीर को निरोग और आत्मा को विद्वान् बनाकर, पूर्ण ब्रह्मचर्य करके, स्वयं वरण की हुई हृदय को प्रिय स्त्री से विवाह करके तथा उनको सुशिक्षित करके विद्वान् बनाते हैं, वे धनपति बनते हैं।

महर्षि की दृष्टि में वर्तमान समय में यथार्थ पुरुषार्थ करने वाला मनुष्य धनपति बन जाता है, किन्तु जो धनपति

---

८२. यजु०२८.१७ का भावार्थ।
८३. ऋग्०२.१९.४; यजु०२७.४१; २५.२५ का भावार्थ।
८४. सूर्योदये चास्तमिते शयानं विमुञ्चति श्रीर्यदि चक्रपाणिः॥
८५. यजु०२१.५० का भावार्थ।
८६. यजु०२१.२५ का भावार्थ।
८७. ऋग्०५.६०.५; यजु०२५.४६ का भावार्थ।

बनने के बाद भी विद्वानों का सङ्ग नहीं करता है वह धनहीन होते हुए दरिद्रता को भोगता है- **ये वर्त्तमाने समये यथार्थं पुरुषार्थं कुर्वन्ति ते धनपतयो भवन्ति, ये च विद्वत्सङ्गं न कुर्वन्ति, ते धनहीनाः सन्तो दारिद्र्यं भजन्ते।**[८८]

धन को स्थिर रखने का उपाय महर्षि ने विद्वानों से सद्गुणों की याचना करना लिखा है- **हे मनुष्या! विद्वद्भ्यः सद्गुणान् भवन्तो याचेरंस्तर्हि स्वयं प्रजा धनाढ्या भवेयुः॥**[८९]

धन के साथ साथ महर्षि ने अनेकत्र ऐश्वर्य शब्द का प्रयोग भी किया है। धन तथा ऐश्वर्य के सामान्य अन्तर को हमने पूर्व में ही महर्षि दयानन्द के शब्दों में दिखाया है। उन्होंने इस ऐश्वर्य की प्राप्ति और वृद्धि का हेतु भी निरन्तर पुरुषार्थ होना माना है। वे लिखते हैं- **नहि प्रतिदिनं सततं पुरुषार्थेन विना मनुष्याणामैश्वर्यप्राप्तिर्जायते तस्मादेव तैर्नित्यं प्रयतितव्यं यत ऐश्वर्यं वर्धेत। सर्वैः पुरुषार्थेन विद्वत्प्रज्ञां प्राप्य महदैश्वर्यं सञ्चेतव्यम्। ये पुरुषार्थिनो जना दस्य्वादीन् दुष्टान् निवार्य श्रेष्ठान् रक्षणे सन्दध्युस्ते जगत्यैश्वर्यं लभन्ते। य इह सर्वेषां बलपराक्रमवर्धकाः साधनोपसाधनयुक्ताः पृथक् मिलित्वा वा प्रयतन्ते, तेऽन्नाद्यैश्वर्ययुक्ता भवन्ति। ये धनवत्सर्ववर्धकाः सन्ति, ते परमैश्वर्यं लब्ध्वा प्रयतन्ते। त एव श्रीकरा जना भवन्ति, य आलस्यं त्याजयित्वा पुरुषार्थेन सह योजयन्ति। ये ब्रह्मचर्यमाचरन्ति, तेषामैश्वर्यप्रापकं सामर्थ्यं जायते। येऽन्योन्यस्य रक्षां विदधाति, ते सदा सुखिनो भवन्तीति। मनुष्यैः श्रीप्राप्तय उद्योगः सदैव कर्त्तव्यो यथा विद्वांसो धनलब्धये प्रयतेरंस्तद्वदनुप्रयतितव्यम्। ये पुरुषार्थेन महदैश्वर्यं प्राप्य धनं सुरक्ष्याऽऽनन्दं भुञ्जते, ते सदैव वर्द्धन्ते। यदि मनुष्या ऐश्वर्यवर्धनाय प्रयतेरंस्तर्हि सत्यं परमात्मानं विदुषश्च सेवेरन्। य उत्साहेनैश्वर्यमुन्नेतुमिच्छन्ति, ते सकलैश्वर्यं प्राप्य सर्वत्र सत्कृता ये चालसास्ते दरिद्रत्वेनाऽभिभूताः सदा तिरस्कृता भवन्ति।**[९०]

अन्त में महर्षि ने पुरुषार्थ से ऐश्वर्य को प्राप्त करने का आदेश देते हुए लिखा- **मनुष्यैर्यथा युक्ताः पुरुषाः सर्वैश्वर्यमाप्नुवन्ति, तथैव वयं सर्वानन्दं प्राप्नुयामेतीच्छा कार्या।**[९१] अर्थात् मनुष्यों को जैसे पुरुषार्थ में लगे हुए मनुष्य समस्त ऐश्वर्य को प्राप्त कर लेते हैं, वैसे ही हम सम्पूर्ण आनन्द को प्राप्त करें ऐसी इच्छा करनी चाहिये।

ऐश्वर्यप्राप्ति के कतिपय उपायों की चर्चा महर्षि दयानन्द ने विभिन्न वेदमन्त्रभावार्थों में करते हुए कहा कि जो शत्रुओं को जीतते हुए, अतिथियों का सत्कार करते हुए और धार्मिकों को विद्याएं प्रदान करते हुए वर्त्तमान हैं, वे सूर्य जैसे मेघ को वैसे सम्पूर्ण ऐश्वर्य को धारण करते हैं। जैसे वायु और विद्युत् सबमें व्यापक होकर सब वस्तुओं का सम्पर्क करते हैं, वैसे सज्जनों को ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए सब साधनों का उपयोग करना चाहिये। जो सूर्य और वायु के समान सबका उपकार करते हैं, वे लक्ष्मीसम्पन्न बनते हैं। जो विद्वान् लोग सबके मित्र होकर बहुत जनों के साथ सुधरे हुए भोजन करते हैं और विद्यावृद्ध विद्वानों के साथ संवाद करते हैं, वे समर्थ और ऐश्वर्यवान् बनते हैं। जिसके अधिकार में समस्त विद्याएं हैं और जो उत्पन्न हुए शत्रुओं को मारता है, वह दिव्य ऐश्वर्य को प्राप्त कराने वाला होता है। जो लोग बल चाहते हैं, दुष्टों को ताड़ना देकर धर्मात्माओं को सुखी करते हैं और सदैव सबकी उन्नति चाहते हैं, वे अगणित ऐश्वर्य को प्राप्त करते हैं। जो मनुष्य सुख के लिये बहुत साधन संगृहीत करते हैं, वे ऐश्वर्य पाकर प्रसन्न रहते हैं। जो विद्वान् इस विविध आकृतियों वाले संसार के

---

८८. ऋग्०४.३३.११ का भावार्थ।

८९. ऋग्०५.३.६ का भावार्थ।

९०. ऋग्०१.९२.१५; १.१४२.४; २.१५.९; २.१७.३; ६.२३.५; ७.२०.१०; यजु०१७.५६; २०.७६; २७.२२; ऋग्०४.१५.२ का भावार्थ।

९१. ऋग्०४.४१.१० का भावार्थ।

कारणभूत अव्यक्त को जानता है और इस विश्व के निर्माण करने वाले परमात्मा की प्रशंसा करता है, वही ऐश्वर्यसम्पन्न बनता है। जो ऐश्वर्य को चाहें, वे अवश्य बल और बुद्धि को बढ़ावें। हे मनुष्यो! विद्वानों के द्वारा रक्षित और प्रबुद्ध किये जाते हुए तुम लोग, लक्ष्मी को तथा उत्तम मनुष्यों के सहाय्य से समस्त ऐश्वर्यों को प्राप्त करो। हे विद्वानो! तुम शरीर और आत्मा की पुष्टि करने वाले पदार्थों को जानकर और उनका उपयोग करके ऐश्वर्य प्राप्त करो। जो विद्वानों को धन प्रदान करता है तथा जिसकी रक्षा आप्तजन करते हैं, वह सदा रक्षित होकर बढ़ता हुआ सम्पूर्ण ऐश्वर्यों वाला हो जाता है। जो पूर्ण विद्वानों के साथ कर्म, उपासना और ज्ञान की विद्या तथा उत्तम क्रिया को ग्रहण करके उनका सेवन करते हैं, वे सब ओर से रक्षित होते हुए महान् ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं। ऐश्वर्य की कामना वाले मनुष्यों को कभी भी विद्वानों की सेवा तथा संगति को त्यागकर और वसन्त आदि ऋतुओं के यथोचित विज्ञान तथा सेवन को छोड़कर वर्त्ताव नहीं करना चाहिये।[९२]

इस प्रकार महर्षि ने ऐश्वर्यप्राप्ति के हेतु शत्रुविजय, अतिथि-सत्कार, विद्यादान, साधनों का उपयोग, उपकार, मित्रता, वृद्ध विद्वानों से चर्चा, प्रकृतिज्ञान, परमेश्वर-प्रशंसा, धनदान, ऋतुज्ञान और विज्ञान आदि दर्शाये हैं। ऐश्वर्य की प्राप्ति में ये सब कहीं न कहीं कारण अवश्य हैं।

महर्षि ने धन के स्थान पर कहीं कहीं श्री शब्द का भी प्रयोग किया है। इस श्री की प्राप्ति में हेतु दर्शाते हुए उन्होंने लिखा है-

हे मनुष्याः! यावद्युष्माकं दृढाङ्गानि शरीराणि पवित्राः प्रज्ञाः धर्मात्मनामाप्तानां विदुषां सङ्गो जितेन्द्रियत्वेन पूर्णमायुर्न भवति, तावदतुलाः श्रियो विद्याश्च न भवन्तीति वेद्यम्।[९३] ये मनुष्या धनेन सैन्यं श्रेष्ठतां प्रजामारोग्यं बलं च वर्धयन्ति, ते सर्वदाऽग्रश्रियो भवन्ति।[९४] अर्थात् हे मनुष्यों! जब तक तुम्हारे दृढ़ अंगों वाले शरीर, पवित्र बुद्धियाँ, धर्मात्मा आप्त विद्वानों का संग और जितेन्द्रियता से पूर्ण आयु नहीं होती, तब तक अतुल श्री और विद्याएँ नहीं होती हैं, ऐसा जानना चाहिये। जो मनुष्य धन से सेना श्रेष्ठता, प्रजा, स्वास्थ्य और बल बढ़ाते हैं, वे सदा नवीन नवीन श्री वाले होते हैं।

इसी प्रकार उन्होंने अन्यत्र भी लिखा-यथा ऋद्धिसिद्धयः पूर्णां श्रियं कुर्वन्ति तथात्मवान् पुरुषः परमेश्वरे भूराज्ये च सुप्रकाशते।[९५]

अन्त में महर्षि के इन आशीर्वादात्मक वचनों को प्रकाशित करना चाहता हूँ-

ये पूर्णविद्यावाप्तौ विद्वांसावाश्रयन्ति, ते धनधान्यैश्वर्यैः पूर्णा जायन्ते। ये धनमाप्नुयुस्ते परेषां सत्कारं कुर्युः। ये क्रियाकुशलाः शिल्पिन ऐश्वर्यमाप्नुयुस्ते सर्वैः सत्कर्त्तव्याः स्युः।[९६]

अर्थात् जो लोग पूर्ण विद्या वाले दो आप्त विद्वानों का आश्रय लेते हैं, वे धन-धान्य आदि ऐश्वर्यों से पूर्ण हो जाते हैं। जो धन पावें वे अन्यों का सत्कार करें। जो क्रियाओं में निपुण शिल्पी लोग ऐश्वर्य प्राप्त करें, वे सबके द्वारा

---

९२. ऋग्०१.१३०.७; १.१३५.४; १५८.१; १७०.५; १७६.३; २.१.६; ३.३०.१८; ६२.१३; ५.४०.१; ४.२.१८; ६.५५.६; ७.७.७; यजु० ३७.१३; ऋग्०१.१०९.३ का भावार्थ।
९३. ऋग्०३.१.५ का भावार्थ।
९४. ऋग्०३.१६.३ का भावार्थ।
९५. ऋग्०१.१४४.६ का भावार्थ।
९६. ऋग्०१.१३९.३ का भावार्थ।

सम्माननीय होवें।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कोषकारों ने जिस धन शब्द के विभिन्न पर्यायवाची दर्शाते हुए उसकी महत्ता प्रकट की है, महर्षि दयानन्द सरस्वती ने उस धन को धर्मपूर्वक कमाते हुए परोपकार में लगाने का आदेश दिया है। उन्होंने धन और ऐश्वर्य में यत्किञ्चित् भेद भी माना है। धनप्राप्ति हेतु उन्होंने अनेक उपायों के साथ पुरुषार्थ और धर्म को मुख्य माना है। लोक में प्रचलित विभिन्न किंवदन्तियों को उन्होंने वेद भावार्थ में सरल शब्दों में दिखाया है। धन से होने वाले सुख सम्मान, प्रतिष्ठा, यश, स्वास्थ आदि का स्थान-स्थान पर वर्णन किया है। मनुष्य धन होने से ही श्रीमान्, धनपति और लक्ष्मीवान् कहलाये तो शोभा देता है। परोपकार हेतु निर्मित संस्थानों में धनदान के आदेश महर्षि ने दिये हैं। धन प्राप्त हो गया किन्तु वह धन स्थिर कैसे रहे इस पर महर्षि का मन्तव्य धनी पुरुषों के लिये आवश्यक अनुकरणीय है। इस धन की चर्चा करते हुए उन्होंने समाज में पूर्ण युवावस्था में विवाह होवे ऐसा निर्देश भी दिया है जिससे धन पीढ़ी दर पीढ़ी बढ़ता है। इस प्रकार धन तथा उसके उपयोग के विषय में महर्षि दयानन्द के विचार समाज में नई चेतना को प्रस्फुरित करने वाले हैं।

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०१० अङ्क १४ (पृ०१२९-१४४) ISSN 0974 – 8830

दयानन्दीय विचारधारा के आलोक में अथर्ववेद के मणिसूक्तों का स्वारस्य

डॉ० दिनेशचद्र शास्त्री[1]

कौशिक सूत्र, नैदानसूत्र, नक्षत्रकल्प, अथर्वपरिशिष्ट एवं सम्बन्धित अनुक्रमणिकाओं का अनुगमन कर कर्मकाण्डपरक वैनियोगिक भाष्य करने वाले आचार्य सायण आदि ने अथर्ववेद के कुछ प्रकरणों को जादू-टोनों (Amulet) का पिटारा बना दिया है। वेदों के अप्रतिम भाष्यकार स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ईश्वरीय ज्ञान वेद को दूषित करने वाली इस प्रकार की सब कुत्सित बातों का पुरजोर विरोध किया। इनके वेदभाष्यों और वेद संबन्धी सत्साहित्य से उचित आर्ष दृष्टि और प्रेरणा प्राप्त कर, अनुयायी अनेक वेदभाष्यकारों जैसे पं. क्षेमकरणदास त्रिवेदी, पं. जयदेव शर्मा विद्यालंकार, पं. बुद्धदेव विद्यालंकार, प्रो. विश्वनाथ वेदोपाध्याय एवं स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती आदि ने अपने-अपने अथर्वभाष्यों में यह दिखाने का प्रयास किया है कि ये सब बातें वेद में नहीं हैं, प्रत्युत थोप दी गयी हैं। यहाँ हम अथर्ववेद के कुछ सूक्तों और मन्त्रों पर स्वामी दयानन्द की विचारधारा के आलोक में लिखे गये भाषा-भाष्यों के अनुसार विचार करके यह दिखाने का प्रयास करेंगे कि किस प्रकार ये सब बातें वेद के अपने (स्वारस्य) के सर्वदा विपरीत हैं।

अथर्ववेद की शौनक संहिता में अनेक ऐसे सूक्त हैं जिन्हें मणि सूक्त कहा जाता है,[2] जैसे कि-

१.	अभीवर्तमणि अथर्व. १.२९	२	जङ्गिडमणि अथर्व. २.४, १९.३४, १९.३५	३.	पर्णमणि अथर्व. ३.५
४.	अश्वत्थमणि अथर्व. ३.६	५.	शङ्खमणि अथर्व. ४.१०	६.	प्रतिसरमणि अथर्व. ८.५
७.	वैयाघ्रमणि अथर्व. ८.७	८.	वरणमणि अथर्व. १०.३	९.	फालमणि अथर्व. १०.६
१०.	दर्भमणि अथर्व. १९.२८-३०, ३२-३३	११.	औदुम्बरमणि अथर्व. १९.३१	१२.	शतवारमणि अथर्व. १९.३६
१३.	अस्तृतमणि अथर्व. १९.४६				

सायणादि वैनियोगिक भाष्यकारों के अनुसार उपर्युक्त मणिसूक्तों में वर्णित पदार्थों को उस सूक्त में वर्णित मन्त्रपाठ पूर्वक छोटे-छोटे खण्डों के रूप में शरीर के किसी अंग पर बाँधकर अथवा किसी अन्य प्रकार से प्रयोग में लाकर अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिए तथा अनिष्ट के निवारण के लिए जादू- टोने के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। इस क्रियाकलाप से अन्धविश्वास की बू (गन्ध) आती है। यह सब 'मणि' शब्द के अर्थ को ठीक से न समझने तथा मन्त्रों के आशय को भी ठीक से न समझ सकने के कारण किया जाता है। ध्यान से देखने पर ऐसे मन्त्रों का कुछ अन्य ही

१. रीडर, वेदविभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराखण्ड)

२. इनमें से अधिकांश ऐसे सूक्त हैं जिनमें 'मणि' शब्द भी साथ प्रयुक्त हुआ है। कुछ ऐसे भी सूक्त हैं जिनमें पूरे सूक्त में कहीं भी इस शब्द का प्रयोग नहीं हुआ फिर भी आचार्य सायण ने मणि सूक्त के रूप में स्वीकार किया है, जैसे- अश्वत्थमणि (अथर्व. ३.६) शकलमणि (१.२९) आदि।

आशय सामने आता है। 'मणि' शब्द और 'रत्न' शब्द किसी भी अत्यन्त उपयोगी और मूल्यवान् वस्तु को कहा जाता है।[३] इसी अर्थ में अथर्ववेद में 'मणि' शब्द का प्रयोग हुआ है।[४] इसलिए बोलचाल की भाषा में पुरुष के वीर्य को भी 'मणि' कहा जाता है, क्योंकि स्वास्थ्य आदि की दशा तथा वंशवृद्धि के लिए वीर्य से बढ़कर और कोई उपयोगी और श्रेष्ठ वस्तु नहीं है। व्यावहारिक भाषा में इसी कारण किसी प्रतिष्ठित पण्डित या महान् कवि आदि को कविशिरोमणि, कविरत्न और पण्डित शिरोमणि और पण्डित रत्न आदि शब्दों से सम्मानित किया जाता है। इन मणिसूक्तों में जिस पदार्थ का वर्णन है, वह पदार्थ अपने प्रयोजन को पूरा करने की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी और मूल्यवान् होता है, इसीलिये उसे 'मणि' कह दिया जाता है।[५] मन्त्रों में कहीं-कहीं 'मणि' से बांधने का उल्लेख भी आता है।[६] मन्त्र के इस कथन का भाव उसे किसी ताबीज की भाँति बाँधने का नहीं होना चाहिए। उसे भली-भाँति अपने वश में करना, उससे उपयोग लेना, उसका सेवन करना आदि भाव लेना चाहिए।[७] क्योंकि बन्धन केवल धागे आदि द्वारा ही नहीं होता। योगदर्शन के **'देशबन्धः चित्तस्य धारणा'** (३.१) सूत्र में नासिकाग्र आदि में चित्त को बाँधने का भी कथन हुआ है। धारणा योगाङ्ग है। इसी प्रकार मणिसूक्तों में **बध्नामि, बध्नात्** आदि पदों का अर्थ भी यथोचित ही करना चाहिए। अथर्ववेदीय मणिसूक्त काव्यमयी आलंकारिक भाषा में लिखे गये हैं, और उसी रूप में इन मन्त्रों के बाँधने आदि शब्दों का लोक प्रसिद्ध साधारण अर्थ न लेकर उनका अन्तर्निहित तात्पर्यार्थ ही देखना चाहिए। पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने इन धागा, ताबीज आदि के जादू-टोने के रूप में बाँधने को केवल विश्वास की चीज मानते हुए लिखा है कि **यह केवल भावना की कल्पना है।**[८] डॉ. कपिल देव द्विवेदी के अनुसार- 'अथर्ववेद में मणि के पीछे यह भावना छिपी हुई है कि प्रत्येक वृक्ष में कुछ गुण होते हैं। वे गुण उसकी शाखा और पत्तों आदि में भी होते हैं। उस वृक्ष के फल आदि के सेवन से जो लाभ प्राप्त हो सकता है वह उसकी शाखा को पास में रखने से भी प्राप्त हो सकता है। इसलिए विशेष वृक्षों के मनके बनाकर उन्हें शरीर पर बाँध लेते हैं या उन्हें गले में लटका लेते हैं। विशेष वृक्ष में होने वाले सभी गुण उनके मनकों या मणियों के द्वारा भी प्राप्त किए जा सकते हैं। वृक्ष जिन रोगों आदि को दूर करता है, उसकी मणियां या मनके भी उन रोगों को दूर कर सकते हैं।[९] 'पुनर्नवा' नामक औषधि के छोटे-छोटे मनके बनाकर उसकी माला गले में इस तरह पहनी जाये कि शरीर को स्पर्श करती रहे तो पीलिया रोग में यह औषधि प्रभावकारी सिद्ध होती है। यह तो हमारा अनुभूत प्रयोग है। इसी तरह मणिसूक्तोक्त औषधियों के आयुर्वेदिक प्रयोग तरह-तरह से अथर्ववेद में इङ्गित हैं। उक्त भाषा भाष्यों के अनुसार उपर्युक्त मणिसूक्तों को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं- (१) आयुर्वेदपरक (२) राजनीतिपरक। निम्नलिखित रूप में इनको हम इस प्रकार प्रदर्शित कर सकते हैं- आयुर्वेद (औषधि) परक मणिसूक्त, राजनीतिपरक मणिसूक्त

१. जङ्गिडमणिअथर्व. २.४१. पर्णमणि अथर्व. ३.५	२. शङ्खमणि अथर्व. ४.१०२. प्रतिसरमणि अथर्व. ८.५

---

३. जातौ-जातौ यदुत्कृष्टं तद्रत्नमभिधीयते (मल्लिनाथ) Anything best of kin (आप्टे)
४. अथर्व. २/४, १५/२ आदि सूक्त।
५. वेद और उसकी वैज्ञानिकता, आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति, पृ. ३६०
६. बध्नामि, बध्नात् आदि पदों का संबन्धित मणिसूक्तों में प्रयोग।
७. सेवित शङ्खभस्म आदि को शरीर में अनुपान की सहायता से दृढ़बन्ध करना।
८. जंगिडमणि (अथर्व. २/४) का भाषा-भाष्य।
९. अथर्ववेद का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. ३६२

३. शतवारमणि अथर्व. १९.३६३. अभीवर्तमणि अथर्व. १.२९	४. वैयाघ्रमणि अथर्व. ८.७.१४४. अस्तृतमणि अथर्व. १९.४६
५. अश्वत्थमणि अथर्व. ३.६५. दर्भमणि अथर्व. १९.२८-३०, ३२-३३	६. औदुम्बरमणि अथर्व. १९.३१

उपर्युक्त मणिसूक्तों में से 'वरण', 'फाल', 'जङ्गिड' और 'अश्वत्थ' मणियों की उभयविध व्याख्या हो सकती है। ऐसा हमारे अध्ययन से ज्ञात हुआ है। आचार्य प्रियव्रत वेद वाचस्पति ने अपने ग्रन्थ वेद और उसकी वैज्ञानिकता' के पृ. ३६६ पर लिखा है कि गम्भीर अध्ययन, मनन, चिन्तन, अनुसन्धान करने पर तथा आयुर्वेद के ग्रन्थों से सहायता लेने पर प्रायः सभी मणिसूक्तों की किसी न किसी औषधि परक सुन्दर व्याख्या हो सकती है' यह कथन कुछ सत्य प्रतीत नहीं होता। क्योंकि आर्यभाषा-भाष्यों के अनुसार तो उपर्युक्त १३ मणिसूक्तों में से आधे से अधिक राजनीतिपरक व्याख्यात हैं। फिर आचार्य प्रियव्रत का कथन कैसे सत्य माना जा सकता है? उपर्युक्त दो वर्गों में विभक्त मणिसूक्तों का स्वारस्य इस प्रकार है-

(क) आयुर्वेदपरक मणिसूक्त-

१. **जङ्गिडमणि-** इस मणि का वर्णन अथर्ववेद के २.४ तथा १९.३४-३५ इन तीन सूक्तों में प्राप्त होता है। अथर्व. २.४ सूक्त के भाष्य की उत्थानिका में जङ्गिडमणि की महिमा बताते हुए आचार्य सायण ने लिखा है कि जो व्यक्ति कृत्या (हिंसा) से बचना चाहता हो, अपनी रक्षा करना चाहता हो तथा विघ्नों की शान्ति चाहता हो, वह जङ्गिड पेड़ से बनी विशेष प्रकार की मणि को शण (सन) के धागे में पिरोकर मणि बाँधने की विधि से इस सूक्त के मन्त्रों को पढ़कर बाँध ले।[१०]

जङ्गिड कोई इस प्रकार की मणि नहीं है जिसको सूक्त के मन्त्र पढ़कर बाँधने से वह जादू-टोने के रूप में हिंसा आदि विपत्तियों से किसी की रक्षा कर सके। यह एक प्रकार की औषधि ही है। अथर्व. १९.३४.९ मन्त्र में जङ्गिड को भूमि पर उत्पन्न होने वाली वनस्पति कहा गया है ज[११] अथर्व. १९.३४.९ में ही इसे रोगों का निवारण करने वाली औषधि कहा गया है, तथा अथर्व. १९.३५.१ में इसे भेषज अर्थात् रोगों की चिकित्सा करने वाली औषधि कहा गया है।[१२] एवं अथर्व. २.४.३ तथा १९.३५.५ में इसे विश्वभेषज अर्थात् अनेक प्रकार के रोगों का निवारण करने वाली औषधि बताया गया है। अथर्व. २.४.५ मन्त्र में कहा गया है कि जङ्गिड के साथ शण (सन) नामक औषधि का प्रयोग करने से विशेष लाभ होता है। जङ्गिड औषधि जंगलों में प्राप्त होती है तथा सन की खेती की जा सकती है। यह औषधि रोग-बाधा से शिथिल होकर गतिशून्य अंगों को गति प्रदान करती है।[१३] किसी रोग या घाव आदि के कारण शरीर के

---

१०. 'दीर्घायुत्वाय' इति सूक्तेन कृत्यादूषणार्थम् आत्मरक्षार्थं विघ्नशमनार्थं च जङ्गिडाख्य वृक्षविशेषमणिं शणसूत्रप्रोतं कृत्वा संपात्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात्। 'दीर्घायुत्वायेति मन्त्रोक्तं बध्नाति' इति सूत्रम् (कौ. ५.६)। तत्र 'जङ्गिडोऽसि' इति प्रथमद्वितीयाभ्यां (१९.३४-३५) सूक्ताभ्यां 'वायव्यां वातवात्यायाम्' इति (न.क.१७) विहितायां वायव्याख्यायां महाशान्तौ जङ्गिडवृक्षनिर्मितं मणिं बध्नीयात्।

११. उग्र इत् ते वनस्पत इद्र ओज्मानमा दधौ। अमीवाः सर्वाश्चातयञ्जहि रक्षांस्योषधे॥

१२. इद्रस्य नाम गृह्णन्त ऋषयो जङ्गिडं ददुः। देवा यं चक्रुर्भेषजमग्रे विष्कन्धदूषणम्॥

१३. शणश्च मा जङ्गिडश्च विष्कन्धादभिरक्षताम्। अरण्यादन्य आभृत कृष्या अन्यो रसेभ्यः॥ २.४.५, बृहते रणाय (२.४.१)

किसी स्थान का मांस गल गलकर गिर रहा हो तो (विशरात्) यह औषधि उसे भी ठीक करती है।[१४] इसी मन्त्र में इस औषधि को सहस्रवीर्य अर्थात् बड़ी भारी गुणकारी शक्तिशाली भी बताया गया है। यह औषधि किसी के द्वारा शरीर को काट देने से बने घाव (कृत्या) आदि को भी ठीक कर देती है। इस औषधि के प्रयोग से कन्धों के जकड़ जाने का रोग (संस्कन्ध) भी ठीक हो सकता है।[१५] यह औषधि सब प्रकार के अर्थात् अनेक प्रकार के रोगों (अमीवा) को ठीक करती है। यह औषधि बल की क्षीणता (बलास), पीठ के रोगों (पृष्ट्यामय) तथा कष्टदायक ज्वर (तक्मा) आदि को भी शान्त करने की शक्ति रखती है।[१६] इस सूक्त में जो अराति अर्थात् शत्रुओं को मारने की[१७] बात कही है तथा जो राक्षसों को मारने की बात[१८] कही है, उसका तात्पर्य रोगजनक कृमिरूप शत्रुओं से समझना चाहिए।

अथर्ववेद में जङ्गिडमणि के जो गुण माने गये हैं राजनिघण्टु में भी प्रायः वे ही गुण '**वच**' के बताए गए हैं। अतः विद्वानों ने जङ्गिड से '**वचा**' का अभिप्राय लिया है।[१९] पं. दामोदर सातवलेकर ने 'अथर्ववेद का सुबोध भाष्य' प्रथम भाग, पृ. ३२ पर 'वचा' और 'जङ्गिड' की तुलना इस प्रकार की है-

वचा के गुण

वैद्यकग्रन्थ के शब्द	इस सूक्त (२.४) के शब्द
१. आयुष्या	१. दीर्घायुत्वाय (मं.२) आंयूषि तारिषत् (मं.६),
२. रक्षोघ्नी/भूतघ्नी	२. रक्षांसि सहामहे (मं.४),
३.वातघ्नी/उन्मादघ्नी	३. जम्भात् पातु (मं.२) अभिशोचनात् पातु (मं.२)
४. मंगल्या, भद्रा, स्मृतिवर्धिनी	४. अरिष्यन्तः (मं.२) दक्षमणाः। सहस्रवीर्य (मं.२),
५. विजया	५. अरातिदूषिः (मं.६),
६.अतिसारघ्नी	६. विशरात् (वि-सारात्) पातु (मं.२)
७. शोफघ्नी, ज्वरघ्नी,	७. विश्वभेषजः (मं.३), कफहनी, ग्रंथिहनी

पं. दामोदर सातवलेकर ने भी अपने 'अथर्ववेद का सुबोध भाष्य' प्रथम भाग में जङ्गिड को औषधि मानते हुए जोरदार शब्दों में जादू-टोने का खण्डन करते हुए लिखा है- इस २.४ सूक्त में जो 'जङ्गिडमणि' का वर्णन है वह ताबीज या धागा डोरा या जादू की चीज नहीं है। यह वास्तविक औषधि पदार्थ है। इसके पूर्व के तृतीय सूक्त में पर्वत और पृथ्वी के ऊपर होने तथा समुद्र के तल में उत्पन्न होने वाली औषधि वनस्पतियों का वर्णन असंदिग्धरीति आया है, इस औषधि वनस्पतियों की अनुवृत्ति इस सूक्त में है। ये दोनों सूक्त साथ-साथ हैं और दोनों का रोग निवारण और आरोग्य साधन यह विषय समान ही है। इसीलिये यह औषधि का मणि है यह बात स्पष्ट है।..................आजकल जो

१४. अथर्व. २.४.२
१५. वही, १९.३४.५
१६. वही, १९.३४.९
१७. वही, १९.३४.४
१८. वही, १९.३४.९
१९. डॉ. कपिल देव द्विवेदी, अथर्ववेद का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. ३६३

ताबीज, कवच, धागा, डोरा जादू का पदार्थ है वह केवल विश्वास की चीज है अथवा भावना से उसकी कल्पना है। वैसा जङ्गिमणि नहीं है। इसमें औषधियों का सम्बन्ध विशेषरीति से शरीर के साथ होता है। यद्यपि शरीर के अन्दर औषधि नहीं सेवन की जाती तथापि शरीर के ऊपर के स्पर्श से लाभ पहुंचता है।.............जङ्गिडमणि (Disinfectant) स्पर्शजन्य दोष को हटानेवाला होने के कारण यदि वह शरीर पर धारण किया जाय, तो उससे रोग दूर होने में शंका ही नहीं हो सकती। इस सूक्त में 'दूषण, दूषि:' इन शब्दों का प्रयोग विलक्षण अर्थ में हुआ है। जैसे-

१. विष्कन्ध दूषण-विष्कन्ध को बिगाड़ने वाला
२. कृत्यादूषि-कृत्या को दोष लगाने वाला
३. अरातिदूषि-अराति को दोष लगाने वाला

सूक्ष्मदृष्टि से देखने पर इस शब्द प्रयोग में यह स्पष्ट दिखाई देता है कि शत्रु में 'दोष उत्पन्न करना' यहाँ सूचित किया है। कई कहते हैं कि शत्रु को मारो, काटो या शत्रु का नाश करो। वेद में शत्रु का नाश करने का उपदेश कई बार किया है। परन्तु यहाँ दूसरी बात का उपदेश शत्रु को दूर करने के विषय में किया है। शत्रु में दोष उत्पन्न करना, शत्रु में हीनता उत्पन्न करना, शत्रु की कार्यवाही में दोष उत्पन्न करना। जिस समय शत्रु का शीघ्र नाश नहीं होता है उस समय अनेक उपायों से शत्रु के अन्दर दोषों को बढ़ाने से शत्रु का बल घटता जाता है और अपना बल बढ़ता जाता है। यह जितना व्यक्तिगत रोगों के विषय में सत्य है उतना ही सामाजिक और राष्ट्रीय शत्रुओं के विषय में भी सत्य है, शत्रु में दोष उत्पन्न करने से थोड़े से प्रयत्न से शत्रु का पराभव होता है और अपने लिये विजय प्राप्त होता है।

पं. सातवलेकर के अनुसार इस मणि को धारण करने से जैसे शरीर के रोगादि शत्रुओं की शक्ति में दोष उत्पन्न होते हैं उनकी शक्ति क्षीण होती जाती है और अपना बल बढ़ता जाता है, वैसी ही राष्ट्र रूपी शरीर के क्षेत्र में भी इस मणि से राजनीति के शत्रुदमन विषयक एक बड़े सिद्धान्त का ज्ञान हो सकता है। हमारे मतानुसार इस दृष्टि से सूक्तोक्त जङ्गिड के गुणों के आधार पर जङ्गिडमणि का अर्थ योग्य सेनापति भी हो सकता है।

(२) **शङ्खमणि-** अथर्व. ४.१० सूक्त में शङ्खमणि का उल्लेख है। सायणाचार्य ने इस सूक्त के अपने भाष्य की उत्थानिका में कौशिक सूत्र ७.६, ७.९ और नक्षत्र कल्प १७ और १९ के अनुसार लिखा है कि- उपनयन संस्कार के पश्चात् बालक की दीर्घायु के लिए शङ्ख को इस सूक्त के मन्त्रों से बाँध दे तथा यह भी लिखा है कि बाढ़ आ जाने पर जल में डूब जाने आदि का भय उपस्थित होने पर भी रक्षा के लिए शङ्ख को मणि रूप में इस सूक्त के मन्त्रों का पाठ करके बाँध लेने पर वह भय दूर हो जाता है।[२०]

आचार्य सायण द्वारा की गई इस सूक्त के मन्त्रों की इस प्रकार की शङ्ख की जादू-टोने भरी मणिपरक व्याख्या भी उनकी जङ्गिडमणि आदि की व्याख्याओं की भाँति नितान्त असंगत है। यदि शङ्ख के बाँधने से और इन मन्त्रों का पाठ करने से आयु लम्बी हो जाती हो तब तो सौ साल तक और उससे अधिक जीने का आसान तरीका हाथ लग जाता है। हर कोई ऐसा कर लिया करे और वह कभी भी सौ साल से पहले न मरे। इसी प्रकार बाढ़ के भय से बचने का भी यह

---

२०. 'वाताज्जात:' इति सूक्तेन उपनयनानन्तरम् आयुष्कामस्य माणवकस्य शङ्खमणिं संपात्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात्। तदुक्तं कौशिकेन। 'उपनयनम्' (कौ.सू.७.६) प्रकम्य 'वाताज्जात इति वृक्षम्' इति (कौ.७.९) 'वारुणीं जलभये' (न.क.१७) इति विहितायां वारुण्याख्यायां महाशान्तौ शङ्खमणिबाधनेऽपि एतत् सूक्तम्। उक्तं नक्षत्रकल्पे। 'वाताज्जात इति शङ्खं वारुण्याम्' इति (न.क १९)

बड़ा सरल उपाय है। भारत के सब लोग विशेषकर हिन्दू लोग छोटे-छोटे शङ्खों की ऐसी मणियां बाँधकर रखा करें जिससे देश में कभी बाढ़ आयेगी ही नहीं। यह सब कोरी गप्पे हैं, जिन्हें वेद पर ... वेद जैसे महान् ग्रन्थ को बिल्कुल हास्यास्पद और तुच्छ बनाकर रख दिया है। वस्तुत: तो इस सूक्त में शङ्ख का एक गुणकारी औषधि के रूप में वर्णन किया गया है और रोगों की चिकित्सा में बहुत उपयोगी होने के कारण उसे मणि कह दिया गया है। अथर्व. ४.१०.३ में शङ्ख को **विश्वभेषज** अर्थात् अनेक प्रकार के रोगों का निवारण करने वाला बतलाया गया है। अथर्व. ४.१०.१ में इसे '**कृशन:**' अर्थात् रोगों को दुर्बल करके दूर करने वाला बताया गया है। दूसरे मन्त्र में इसे शरीर को खा जाने वाला (अत्रिण:) रोग तथा तज्जनक कृमिरूप राक्षसों को मारने वाला कहा है। तीसरे मन्त्र में कहा गया है कि शङ्ख के सेवन से अनेक प्रकार के रोग (अमीवा) मस्तक या बुद्धि की दुर्बलता, पागलपन आदि को (अमतिम्) तथा पीड़ा देकर रुलानेवाले अन्य रोगों को दूर करने वाला बताया गया है। चौथे मन्त्र में इसके सेवन को आयुवर्धक कहा है। छठे मन्त्र में शङ्ख में हिरण्य (स्वर्ण) तथ सोम जैसे रोगनिवारण गुण बताये गये हैं। सूक्त के अन्तिम सातवें मन्त्र में कहा गया है कि शङ्ख के सेवन से १०० वर्ष की दीर्घायु प्राप्त होती है, बल प्राप्त होता है। चिकित्सक लोग शङ्ख को बारीक घसकर व उसकी भस्म बनाकर उसे औषधि के रूप में प्रयोग में लाते हैं। आयुर्वेद के ग्रन्थों में शङ्ख भस्म को अनेक रोगों में बड़ा उपयोगी बताया गया है।

शङ्ख यह एक समुद्री कोशस्थ जीव का अस्थिवत् रक्षक है। यह शङ्ख के जीव के साथ बढ़ता है। यह हड्डी के तुल्य होता है। यह बात अथर्ववेद के मन्त्र ४.१०.७ में **अस्थि** शब्द के द्वारा स्पष्ट होती है। पानी में शङ्ख को घोलकर बच्चों को पिलाने से उनकी बहुत सी बीमारियां दूर हो जाती हैं। यह विधि महाराष्ट्र में अधिक प्रचलित है। चिकित्सकीय दृष्टि से बच्चों के गले में शङ्ख की मणि बाँधने की प्रथा आज भी है। छोटे शङ्ख को सोने में जड़कर गले में आभूषण के तुल्य छोटे बच्चों को पहनाने की भी प्रथा है। इससे लाभ देखा गया है। ऐसा डॉ. कपिल देव द्विवेदी ने लिखा है।[२१]

पं. विश्वनाथ विद्यालंकार ने अपने अथर्ववेद भाष्य में शङ्खमणि से शङ्खभस्म का अभिप्राय लिया है। वे अथर्व. ४.१०.१ में पठित **हिरण्यजा: शङ्ख:** का अभिप्राय हिरण्य भस्ममिश्रित शङ्खभस्म लिया है। वे लिखते हैं कि अथर्व. ४.१०.७ में जो अस्थिमय शङ्ख को आयु-वृद्धि आदि का कारण बताया गया है वह संभव नहीं है। यह तभी संभव है जब इसका अर्थ शङ्खभस्म करें। यह अर्थ समग्र सूक्त के अभिप्राय के अनुकूल भी है।

(३) **शतवारमणि-** अथर्व. १९.३६ सूक्त में शतवारमणि का वर्णन है। इस सूक्त के अपने भाष्य की उत्थानिका में आचार्य सायण ने लिखा है कि जिस व्यक्ति की सन्तानें मर जाती हों और इस प्रकार उसके कुल का क्षय हो रहा हो, वह इस सूक्त के मन्त्रों को पढ़कर शतवारमणि को बाँध ले तो उसका यह संकट दूर हो जाता है।[२२] यहाँ भी अथर्ववेद में शतवारमणि का वर्णन किसी जादू-टोने भरी मणि के रूप में नहीं किया गया है, प्रत्युत एक बल वीर्य और पुंस्त्व शक्तिवर्धक औषधि के रूप में किया गया है। यदि जादू-टोने वाली बात होती तो कोई भी व्यक्ति इस औषधि की मणि बनाकर बाँध लिया करता और इस सूक्त के मन्त्रों का पाठ करा लिया करता तो उसकी कभी कोई सन्तान नहीं मरती और न कभी यही होता कि उसके घर में सन्तान ही न हो। यद्यपि सूक्त में इसके लिए औषधि शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है तो भी इसके गुणों का जो वर्णन वहां मिलता है, उससे यह औषधि ही सिद्ध होती है। सायणाचार्य ने भी

---

२१. अथर्ववेद का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. ३६८

२२. 'शतवारो अनीनशत्' इति........ सूक्तम्। तेन 'संततिं कुलक्षये प्रयुञ्जीत' इति (न.क. १७) विहितायां संतत्याख्यायां महाशान्तौ शतवारं मणिम् अभिमन्त्र्य बध्नीयात। सूत्रितं हि। 'शतवारो अनीनशद् इति शतवारं संतत्याम्' इति (न.कृ. १९)।

सूक्त के मन्त्रों के अपने भाष्य में शतवार को एक औषधि ही बताया है। सूक्त के प्रथम मन्त्र में कहा गया है कि शतवार अपने सामर्थ्य से अनेक यक्ष्म अर्थात् रोगों को तथा रोगों के जनक कृमियों (रक्षांसि) को नष्ट कर देता है। कठिनता से झुकाये, दबाये अर्थात् नष्ट किये जो सकने वाले रोगों को भी यह औषधि नष्ट कर देती है। तीसरे मन्त्र में कहा गया है कि यह औषधि छोटे रोगों को भी दूर करने की शक्ति रखती है। बड़े रोगों के विनाश का भी सामर्थ्य रखती है तथा पीड़ा से रोगी को रोता चिल्लाता रखने वाले रोगों को भी नष्ट कर देती है। चौथे मन्त्र में कहा गया है कि 'शतवार' में इतनी पुंस्त्व पैदा करने की शक्ति है जो व्यक्ति एक भी सन्तान उत्पन्न न कर सकता हो, वह भी सैकड़ों अर्थात् अनेक सन्तानें पैदा कर सकता है। यह वीर्य के अनेक प्रकार के दोषों और रोगों को दूर करने की शक्ति रखता है। आचार्य सायण ने 'शतवार' औषधि के नाम की व्याख्या दो प्रकार से की है- एक तो उन्होंने यह व्याख्या की है कि इसके मूल में सैकड़ों अर्थात् अनेक मूल, मोटी जड़ों या कन्द से निकलते हैं, तथा दूसरा अर्थ उन्होंने यह किया है कि इसमें अनेक रोगों को रोकने की शक्ति है। पुंस्त्व या वीर्यवर्धक औषधि में यह शक्ति तो होती ही है। पाँचवें मन्त्र में 'शतवार' को हिरण्यशृंग भी कहा है। आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति के अनुसार जिसका एक भाव तो यह प्रतीत होता है कि इसके कन्द की नोकें स्वर्ण की भाँति चमकदार या उज्ज्वल होती हैं। एक ध्वनि इससे यह भी निकलती है कि इसमें हिरण्य अर्थात् सोने जैसे औषधि के गुण हैं और यह रोगों को सींगों की तरह फोड़ डालती है अर्थात् नष्ट कर देती है। इसकी यहं ध्वनि भी निकलती है कि स्वर्ण के साथ इसका प्रयोग किया जाये तो यह और भी गुणकारी सिद्ध होगी। ये सब बातें परीक्षा करके देखने की हैं। दूसरे मन्त्र में इसको दो सींगों वाला भी बताया गया है। इससे प्रतीत होता है कि इसके कन्द में दो सींग या नोकें भी निकलती होंगी। पाँचवे मन्त्र में इस औषधि को ऋषभ भी कहा गया है। ऋषभ का अर्थ साँड की भाँति बड़ा शक्तिशाली होता है। इसका भाव यह है कि रोगों के निवारणृ में यह औषधि बड़ी शक्तिशाली है। इस शब्द का अर्थ साँड़ की भाँति वीर्यसेचन में समर्थ अर्थात् अधिक सन्तानें उत्पन्न करने में समर्थ भी होता है। जो औषधि पुंस्त्व और वीर्यवर्धक है, उसमें यह गुण तो होता हैं। आयुर्वेद के ग्रन्थों में वाजीकरण या वीर्यवर्धक औषधि के रूप में औषध का नाम **ऋषभ** कहा भी गया है।

(४) **वैयाघ्रमणि**- इस मणि का उल्लेख अथर्व. ८.७.१४ में हुआ है। कौशिक और वैतान सूत्रों के अनुसार आचार्य सायण ने इस सूक्त की उत्थानिका में लिखा है कि- यक्ष्मा आदि सकल व्याधियों की चिकित्सा के लिये इस सूक्त से दशवृक्षों के टुकड़ों को लाख और सुवर्ण से मढ़ मणि बनाकर गुगल, जामुन, कबीला, स्रक्, बङ्क, सिरस, वरण, बेल, जङ्गिड, कुटक, गृह्य, गलागल, बेत, शिम्बल, सिपुन, तिनश, अरणिका, अश्मयोक्त, तुन्यु और पूतदारु- ये शान्त वृक्ष कहलाते हैं। इनमें से किन्हीं भी दश वृक्षों के टुकड़ों से निर्मित मणि शाकलमणि कहलाती है तथा सौत्रामणि याग में इस सूक्त के द्वारा औषधियों से खिंचती हुई सुरा का अनुमन्त्रण करें।

अथर्व. ८.७ सूक्त में २८ मन्त्र हैं। जिनमें पाप का फल यक्ष्मा को बताया गया है। इस सूक्त के १४ वें मन्त्र में वैयाघ्रमणि का वर्णन आया है। मन्त्र इस प्रकार है-

वैयाघ्रो मणिर्वीरुध्रां त्रायमाणोऽभिशस्तिपाः।

अमीवाः सर्वा रक्षांस्यपहन्त्वधि दूरमस्मत्॥

अर्थात् वीरुधाम्=विरोहण स्वभाववाली लता आदि में, वैयाघ्रःठवैयाघ्र वीरुध् मणिःठ सर्वश्रेष्ठ रत्न है,

त्रायमाण:ठयह मणि पालन करता, अभिशस्तिपा:=तथा रोजजन्य हिंसा से रक्षा करता है। अमीवा:[२३]=रोगों या रोगकीटाणुओं, तथा सर्वा रक्षांसि- सब राक्षसी कर्मों का, अपहन्तु= यह हनन करे अर्थात् हमसे दूर कर दे।[२४]

'वैयाघ्र' का अर्थ है व्याघ्रवत् रोगों पर आक्रमणकारी-व्याघ्र इव वैयाघ्र:।[२५] व्याघ्र का अभिप्राय है **कास्टर आयल का पौधा।** आप्टे ने स्वार्थ में अण् प्रत्यय मानकर वैयाघ्र पद सिद्ध किया है और 'व्याघ्र' को The red Variety of the caster-oil माना है।[२६]

उपर्युक्त सूक्त में व्याघ्र औषधि को मणि कहा है, यह वीरुधों में श्रेष्ठ है। कास्टर आयल पौधे को मणि इसलिये कहते हैं कि बद्ध कोष्ठता (कब्ज) के लिए यह सर्वोत्तम तैल है। रोगों का कारण कब्ज है। कब्ज के ठीक रहने पर रोग प्राय: नहीं होते। व्याघ्रपदघटित अन्य औषधियां भी हैं, यथा व्याघ्रपुच्छ, व्याघ्रपात्।[२७]

उपर्युक्त वर्णन में सायणकृत व्याख्या कहाँ टिकती हैं? यह स्वयं ही देखा जा सकता है। समस्त रोग पेट की खराबी से पनपते हैं। वेद में 'अमीवा' रोग के कीटाणुओं को कहते हैं। अत: इनको सायण के द्वारा बताये मणिबन्धन प्रकार से कैसे दूर किया जा सकता है? इस ८.७ सूक्त में त्राणसंबन्धी, पुरुषजीवनी, बलासरोगनाशक, हृदय कल्याणकारी और रोगनाशक पीपल, दर्भ आदि औषधियों का वर्णन किया गया है। इसी क्रम में वैयाघ्र औषधि का भी अत्यन्त उपयोगी मणिरूप में वर्णन आया है। मनुष्यों को उचित है कि इसका यथोचित प्रयोग करें। **यह ध्यातव्य है कि इस सूक्त में केवल 'वैयाघ्र' के साथ ही मणि पद का प्रयोग हुआ है, अन्य औषधियों के साथ नहीं। यह इसकी महत्ता को इङ्गित करता है।**

(४) **अश्वत्थमणि-** सायण आचार्य के अनुसार 'अश्वत्थमणि' का वर्णन अथर्व. ३.६ में आता है। यद्यपि मन्त्रों में कहीं भी 'मणि शब्द' का उल्लेख नहीं हुआ है। भाष्यकारों ने इस सूक्त का देवता '**वानस्पत्याश्वत्थ**' लिखा है। आचार्य सायण ने इस सूक्त की उत्थानिका में लिखा है- अभिचारकर्म में इस सूक्त द्वारा खैर में उगे पीपल की मणि का सम्पातन और अभिमन्त्रण करके बाँधे तथा इङ्गिडालंकृत पाशों को इससे संपातित और अभिमन्त्रित कर शत्रु के मर्म में बींधे। तथा इसी सूक्त से पूर्ववत् पाशों को अभिमन्त्रित कर '**तेऽधराञ्च:**' इस सातवीं ऋचा से नदी के प्रवाह में फेंक देवे। इसी प्रकार पहिले के समान अभिमन्त्रित पाशों को आठवीं ऋचा से प्रेरित करे। तथा अभिचरित और अभिचर्यमाण के लिये विहित महाशान्ति के मणिबन्धन में भी यह सूक्त पढ़ा जाता है।

उपर्युक्त सूक्त में आठ मन्त्र हैं। जिनमें '**पुमान् पुंस:**'[२८], दार्ष्टान्त (उपमेय) का वर्णन '**अश्वत्थ: खदिरात्**' के दृष्टान्त रूप में हुआ है। दूसरे मन्त्र में उपमान=अश्वत्थ और उपमेय=पुमान् दोनों का वर्णन है। अश्वत्थ रोग शत्रुओं का विनाशक हैं। इस अर्थ में इन्द्र है विद्युत्, मित्र है सूर्य, वरुण है मेघ। इन तीन की सहायता द्वारा अश्वत्थ बढ़ता है, अत: वह इनके साथ स्नेह करता है। उपमेय-पुमान् राष्ट्रिय शत्रुओं का विनाश करता है। इस अर्थ में इन्द्र है सम्राट्, मित्र है

---

२३. अम् रोगे (चुरादि:) इति प्रो. विश्वनाथ वेदभाष्ये।
२४. प्रो. विश्वनाथ विद्यालंकार कृत अथर्वभाष्य।
२५. वही, पृ. २६९
२६. व्याघ्र एव वैयाघ्र: (स्वार्थेऽण्) आप्टे कोश
२७. चद्रराज भण्डारी, वनौषधि चद्रोदय।
२८. अभिवर्धनशील पिता से अभिवर्धनशील पुत्र (प्रो. विश्वनाथ)

मित्र राजा, तथा वरुण है माण्डलिक राजा।[२९] अन्तिम मन्त्र में '**वृक्षस्य शाखयाश्वत्यस्य नुदामहे**' द्वारा यह ज्ञात होता है कि 'अश्वत्थ' प्रकरण द्वारा वृक्ष ही है। '**नुदामहे**' द्वारा ज्ञात होता है कि शत्रुओं को धकेलने वाले बहुत हैं। ये प्रजाएँ हैं। जब समग्र प्रजा मिलकर 'राष्ट्रिय शत्रु-स्वकीय राजा' को राष्ट्र से धकेलने के लिए तत्पर हो जाए तो वह वृक्षों की शाखाओं के प्रहारों द्वारा ही शत्रु-राजा को अपने राष्ट्र से धकेल सकती है, किसी उग्र शत्रास्त्र की आवश्यकता नहीं होती, इसे मन्त्र में दर्शाया है।

पं. सातवलेकर ने भी इस सूक्त की 'अश्वत्थ की अन्योक्ति' नाम से व्याख्या की है। वे लिखते हैं यह सूक्त अश्वत्थ की अन्योक्ति है। **एक का प्रत्यक्ष उल्लेख करके दूसरे के ही विषय में कहने का नाम अन्योक्ति है।** इसी प्रकार यहाँ अश्वत्थ वृक्ष का वर्णन करते हुए वीर पुरुष का वर्णन किया है।[३०]

(ख) राजनीतिपरक मणिसूक्त

(१) **पर्णमणि-** राजनीतिपरक मणिसूक्तों में पहले पर्णमणि (अथर्व. ३.५) सूक्त को लेते हैं। इस सूक्त की उत्थानिका में अपने भाष्य में विनियोगकारों और अनुक्रमणिकाकारों का अनुसरण करते हुए आचार्य सायण ने लिखा है- जो व्यक्ति तेज, बल, आयु और धन आदि को प्राप्त करना चाहता है, वह पर्ण अर्थात् ढाक के वृक्ष की बनी हुई मणि को त्रयोदशी के दिन दही और शहद में भिगोकर तीन दिन रखे और चौथे दिन निकालकर उस मणि को इस सूक्त के मन्त्रों का पाठ करके बाँध ले।[३१] आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति के अनुसार आचार्य सायण ने इस सूक्त की उत्थानिका में यह भी लिखा है[३२] कि यदि किसी राजा का राज्य किसी शत्रु ने छीन लिया हो तो वह काम्पील नामक वृक्ष की टहनियों से, जो वृक्ष की पहले कटी हुई शाखाओं के स्थान पर पुनः उगी हों, आग जलाकर उस पर ऐसे चावलों को पकाकर जो कि खेत कटने के बाद पुराने धान की जड़ों से पुनः निकले हुए पौधों से प्राप्त किये गये हों, इस सूक्त के मन्त्रों को बोलकर खाये तो उसे पुनः उसका राज्य प्राप्त हो जायेगा।[३३] यों सायणाचार्य ने धनादि की प्राप्ति के लिये इस वाक्य में जो 'आदि' शब्द का प्रयोग किया है, उससे भी पर्णमणि की महिमा से छिन गये राज्य की प्राप्ति की बात समाविष्ट ही है, क्योंकि सूक्त के मन्त्रों में भी पर्ण से क्षत्र और राष्ट्र के अभीवर्ग द्वारा राज्य प्राप्ति की प्रार्थना की गई है। आचार्य सायाण द्वारा कृत 'पर्णमणि' शब्द का अर्थ इस प्रकार की जादू भरी ढाक की बनी विशेष प्रकार की मणि करना बुद्धिसंगत नहीं है। यदि सायण का अर्थ ठीक मान लिया जाये तो कोई भी राष्ट्र अपनी स्वतन्त्रता खोकर पराधीन नहीं हो सकता। उस राष्ट्र की जनता वासित मणि को बाँध लिया करे और दही शहद को खा लिया करे, तथा उक्त वासित की गई लकड़ियों पर वासित चावलों को भी पकाकर खा लिया करे। स्वतन्त्रता न छिनने और पराधीन न होने का यह बड़ा आसान नुस्खा है। भारत के बाहर के लोगों को तो वेद का ज्ञान नहीं है। उनकी बात जाने भी दें, तो भारतवर्ष के आर्यों (हिन्दुओं) को तो

---

२९. प्रो. विश्वनाथ विद्यालंकार कृत निम्न मन्त्र का भाष्य- तानश्वत्थ निःशृणीहि शत्रून् वैबाधदोधतः। इद्रेण वृत्रघ्ना मेदी मित्रेण वरुणेन च। ११ अथर्व. ३.६.२

३०. अथर्ववेद का सुबोधभाष्य, प्रथम भाग, पृ. ३०

३१. 'आयमगन् पर्णमणिः' इत्यनेन सूक्तेन तेजोबलायुर्धनादिपुष्टये पलाशवृक्षमणिं वासितं कृत्वा संपात्य अभिमत्र्य बध्नीयात्। तथा च सूत्रम्। आयमगन् (३.५) अयं प्रतिसरः (८.५) अयं मे वरुणः (१०.३) अरातीयो (१०.६) इति मन्त्रोक्तान् वासितान् बध्नाति। इति (कौ. ३.२)। उक्तवासित शब्दार्थ।

३२. मूल सायण भाष्य में नहीं है।

३३. वेदों की वैज्ञानिकता, प्रियव्रत वेदवाचस्पति, पृ. ३६०.

कभी पराधीन न होना चाहिए था। यहाँ तो सदा से वेद पढ़ा-पढ़ाया जाता रहा है। फिर भी, शत्रु को भगाने और स्वतन्त्र होने का इतना सरल नुस्खा प्राप्त होने पर भी भारत के लोग शताब्दियों तक पराधीन क्यों रहे ? इसलिये सायण आदि का किया हुआ 'पर्णमणि' सूक्त का यह अर्थ सही और मानने योग्य नहीं है।

वेदोपाध्याय प्रो. विश्वनाथ विद्यालंकार ने 'पर्णमणि' शब्द से पालकसेनापति रत्न-सेनाध्यक्ष, जो कि राष्ट्र का पालक पुरुषरत्न है' यह अभिप्राय लिया है एवं तदनुसार ही पूरे सूक्त की संगति लगायी है। परन्तु आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति ने 'वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त' नामक अपने बृहद् ग्रन्थ के प्रथम भाग के 'पर्णमणि' नामक नौवें अध्याय में इस सूक्त की बहुत विस्तृत व्याख्या की है। जिसमें आचार्यश्री ने पर्णमणि का अर्थ चुनाव के लिए मतदाताओं द्वारा अभ्यर्थी का नाम लेकर डाला जानेवाला पत्र अर्थात् मतपत्र (Ballot Paper) किया है। मत या वोट माँगने वाले के लिए मतपत्र से बढ़कर और कोई कीमती वस्तु नहीं हो सकती। उसके लिए तो वह मणिरूप है। इसीलिए सूक्त में मतपत्र को 'पर्णमणि' कहा गया है। 'पर्ण' और 'मणि' इन दो शब्दों के योग से पर्णमणि शब्द बना है। पर्ण का अर्थ होता है कागज और मणि का अर्थ जैसा हम ऊपर लिख चुके हैं, अत्यन्त उपयोगी और मूल्यवान् वस्तु होता है। अतः 'पर्णमणि' का अर्थ होगा 'एक बहुमूल्य पत्र'। प्रजातन्त्र में इस मतपत्र द्वारा ही राजा का चुनाव होता है। अतः यह बलशाली है। राष्ट्र के ही वर्ग द्वारा इसका उपयोग होता है। आचार्य प्रियव्रत द्वारा निर्दिष्ट इस अर्थ की संगति अथर्ववेद के इस उपर्युक्त सूक्त पर सटीक घटती है, क्योंकि इसके दूसरे, तीसरे, छठे और सातवें मन्त्रों में स्पष्ट रूप से एक अभ्यर्थी द्वारा राष्ट्र प्राप्ति की अर्थात् उसका राष्ट्रपति चुने जाने की प्रार्थना काव्यमय शैली में पर्ण से की जाती है।[३४] ये मन्त्र स्पष्ट रूप से सूक्त के मुख्य आशय को व्यक्त कर रहे हैं।

(२) **प्रतिसरमणि**- अथर्ववेद ८.५ में प्रतिसरमणि का उल्लेख मिलता है। इस सूक्त की उत्थानिका में आचार्य सायण ने तथाकथित विनियोगों के आधार पर लिखा है कि- अयं प्रतिसरः' (अथर्व. ८.५) आदि दो सूक्त अर्थसूक्त कहलाते हैं, इस अर्थसूक्त का अभिलषित प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए प्रयोग किया जाता है। इस अर्थसूक्त से दही और शहद में तीन रात बसाई हुई तिलकमणि को संपातित और अभिमन्त्रित करके बाँधे। इन सूक्तों का कृत्याप्रतिहरणगण में भी पाठ है। अत एव इसका शान्तिजल के अभिमन्त्रण आदि में विनियोग होता है। रौद्री नामक महाशान्ति के तिलकबन्धन में भी इस सूक्त का विनियोग किया जाता है। पिष्ट रात्री विधान के प्रतिसर बन्धन में भी इस सूक्त का पाठ है जिसमें कि रक्षासूत्र को बाँधा जाता है।

आचार्य सायण ने उक्त सूक्त के प्रथम मन्त्र के भाष्य में इस मणि को तिलकवृक्ष से निर्मित माना है- '**अयं तिलकवृक्षनिर्मितोमणिः**', दयानन्दीय विचारधारा में उक्त सूक्त में सम्राट्, राष्ट्रपति तथा पुरुषमणि रूप सेनाध्यक्ष की प्रायः चर्चा हुई है। इसके पहले दो मन्त्रों में मणि के जो शूरवीर, सपत्नघ्न, सुमङ्गल, सहस्वान्, वाणी आदि विशेषण पठित हैं, वे काष्ठ निर्मित मणि के सम्बन्ध में नहीं। क्योंकि यदि विशेषणों के अनुरूप विशेष्य व्यक्ति या वस्तु न हो, तो विशेषण गप्प ही होंगे। तीसरे मन्त्र में कहा है कि सेनाध्यक्ष रूपी पुरुष रत्न द्वारा सम्राट् (इन्द्र) ने शत्रुदल (वृत्र) का हनन किया। क्या यह मन्त्रोक्त वर्णन काष्ठनिर्मित मणि द्वारा सम्भव है ? चतुर्थ मन्त्र में इस मणि को '**स्राक्त्यः**' कहा है। '**स्राक्त्यमणि**' वस्तुतः है स्रक् (स्रज्) अर्थात् माला द्वारा सत्कार योग्य विजयी सेनाध्यक्षरूपी पुरुषरत्न। इसके सम्बन्ध

३४. मयि क्षत्रं पर्णमणे मयि धारयताद् रयिम्। अहं राष्ट्रस्याभीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः॥२॥ यं निदधुर्वनस्पतौ गुतं देवाः प्रियं मणिम्। तमस्मभ्यं सहायुषा देवा ददतु भर्तवे॥३॥ ये धीवानो रथकाराः कर्मारा ये मनीषिणः। उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान्॥६॥ ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये। उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान्॥७॥

में ही प्रस्तुत सूक्तोक्त वर्णन उपपन्न हो सकते हैं। 'स्राक्त्य' का वर्णन 'स्रक्त्य' द्वारा अथर्व २.११.२ में भी हुआ है। स्वार्थ में अण् प्रत्यय के योग से स्रक्त्य से स्राक्त्य पद निष्पन्न हुआ है। आचार्य सायण ने यहाँ- (अथर्व. २.११.२) भी इसे तिलक वृक्ष द्वारा निर्मित कहा है। यथा- **'स्रक्तिस्तिलकवृक्षः तत्र भव स्रक्त्यः'**। अथर्व. २.११.४ में 'स्रक्त्य' को 'सूरि' कहा है। सूरिः का अर्थ सायण ने 'अभिदा' अर्थात् ज्ञानी किया है। क्या काष्ठनिर्मित या फलरूप वस्तु ज्ञानी हो सकती है? अथर्व. ८.५ के मन्त्र सात और आठ में भी क्रमशः **'स्राक्त्यं मणिं'**, **'स्राक्त्येन मणिना'** पदों का प्रयोग हुआ है। जिनका अर्थ 'सत्कार योग्य पुरुषरत्न (सेनाध्यक्ष)' और 'सत्कार योग्य पुरुषरत्न सेनाध्यक्ष द्वारा' होता है। मन्त्र ग्यारह में इस मणि को **'उत्तम ओषधीनाम्'** और **'व्याघ्रः श्वपदाम् इव'** कहा है। ओषधियों के दो प्रयोजन होते हैं, रोगी के दोषों अर्थात् रोगों को दूर करना और उसके शरीर का संवर्धन करना। राष्ट्र के भी दो प्रयोजन हैं, राष्ट्र शरीर के रोगों को दूर करना और राष्ट्र शरीर का संवर्धन करना। राष्ट्र शरीर के रोग हैं चोरी, डकैती, लूटमार, व्यभिचार, विप्लव तथा उपद्रव आदि। राजा सेनाध्यक्ष की सहायता से इन रोगों को दूर करता है। अतः उसे **'उत्तम ओषधीनाम्'** कहा है। और अवशिष्ट मन्त्रियों की सहायता से व्यापार, उद्योग, कृषि आदि द्वारा राष्ट्र का संवर्धन करता है। इनसे अतिरिक्त एक राजनैतिक रोग है- 'पर राष्ट्र द्वारा आक्रमण' एतदर्थ राजा सेनाध्यक्ष को व्याघ्र से उपमित करता है **(व्याघ्रः श्वपदामिव)**। क्या ये वर्णन आचार्य सायण द्वारा इङ्गित काष्ठनिर्मित मणि में उपपन्न हो सकते हैं? यह विचारणीय बात है। मन्त्र बीस में इसका एक विशेषण 'देवमणि' भी आया है। इसका अर्थ होता है दिव्यगुणी मणि अर्थात् पुरुषरत्न सेनाध्यक्ष। जो कि चेतन पुरुष में ही सार्थक बैठता है, अचेतन काष्ठ में नहीं। मन्त्र २० में **'अस्मिनिन्द्रो निदधातु नृम्णम्'** और मन्त्र २१ में **'इन्द्रो बध्नातु ते मणिम्'** कहा गया है। जिनके अर्थ होते हैं- हे राजा (इन्द्र) इस मणिरूप सेनाध्यक्ष में बल और धन (नृम्णम्) निधिरूप में स्थापित करें।' हे राष्ट्र के राजन्! सम्राट् (इन्द्र) तेरी रक्षा के लिए तेरे साथ पुरुषरत्न सेनाध्यक्ष को सुदृढ़ करें।' क्या ये दोनों अर्थ विनियोगों पर आधारित सायण कृत 'काष्ठनिर्मित मणि' में घट सकते हैं?

(३) **अभीवर्तमणि-** अथर्ववेद १.२९ में इस मणि का उल्लेख मिलता है। इस सूक्त की उत्थानिका में आचार्य सायण ने लिखा है कि इसका माहेन्द्री महाशान्ति में और इस सूक्त की प्रथम चार ऋचाओं का शत्रुमर्दित राष्ट्र की वृद्धि के लिए विनियोग होता है। लोहा, शीशा, चाँदी और तांबा मढ़ी हुई स्वर्ण की नाभि को त्रयोदशी से तीन दिन दही और मधु से पूर्ण पात्र में रखे फिर उसे धागे में पिरोकर कुशा पर रखकर उसके लिए यज्ञ करे और बाद में उसे अभीवर्त और उत्तमा से बाँधे।'

आचार्य सायण ने 'अभीवर्तमणि' का अर्थ- **'चक्रनेमिनिर्मितमणि'** किया है। सायण भाष्य के अनुसार इसके धारण करने से इन्द्र विजयी हुआ और उसकी वृद्धि हुई इसके धारण करने से राष्ट्रिय शक्ति की वृद्धि होती है। यह शत्रुओं को नष्ट करती है। आक्रमणकारियों को तिरस्कृत करती है और राष्ट्र की अभिवृद्धि करती है। सूर्य और चद्रमा अभीवर्तमणि को पुष्ट करते हैं। इसको धारण करनेवाला सभी प्राणियों का सहयोग प्राप्त करता है। और इसका तेज सूर्य की तरह बढ़ता है और वह सभी शत्रुओं को नष्ट करने में समर्थ होता है।[३५]

स्वामी दयानन्द की विचारधारा में 'अभीवर्त' का अर्थ होता है **परराष्ट्र या शत्रु के सम्मुख (प्रवृत्त) होने वाला मणिरूप पुरुषरत्न सेनाधिपति। अभिवर्तते अनेन इति अभीवर्त सेंनाधिपतिः।**[३६] उक्त सूक्त के मन्त्र दो में 'अभिवृत्य' पद आया है जिसका अर्थ होता है 'घेरकर'। अभीवर्त सेनाधिपति वह होता है जो विद्रोही प्रजाजनों को,

३५. अथर्व. १.२९ पर सायण भाष्य।
३६. वही १.२९.१ पर प्रो. विश्वनाथ विद्यालंकार कृत भाष्य, पृ. ५६-५८

राज्यकर न देने वालों को और दुष्ट कर्म (युद्ध) करने की इच्छा करने वालों के अभिवृत्य= घेरकर निजपादाधीन कर लेता हो। मन्त्र ३ और ५ में अभीवर्त के लिए **'सपत्नक्षयणः'** **'शत्रुहा'** और **'सपत्नहा'** विशेषण आये हैं जो कि ऐसे पुरुषरत्न मणिरूप सेनाधिपति पर ही घट सकते हैं **'चक्रनेमिनिर्मित मणि'** पर नहीं। सपत्नों (शत्रुओं) का क्षय करने वाले ऐसे सेनाधिपति के साथ ही राष्ट्रोन्नति के लिए राजा दृढ़बन्धन की अभिलाषा करता है- **'राष्ट्राय मह्यं बध्यतां सपत्नेभ्यः पराभुवे'**।

पं. दामोदर सातवलेकर ने अभीवर्त का अर्थ 'शत्रु' को घेरनेवाला किया है। वे इस अभीवर्तमणि को राजदण्ड, छत्र, चामर आदि की तरह एक राजचिह्न मानते हैं, जिसको धारण करने के समय उक्त सूक्त को बोला जाता है। वे लिखते हैं- छत्र, चामर, राजदण्ड आदि चिह्नों के धारण करने से जनता पर कुछ विशेष प्रभाव पड़ता है। और उस प्रभाव के कारण राजा के इर्द गिर्द शक्ति केन्द्रीभूत हो जाती है। यद्यपि इस प्रत्येक चिह्न में कोई विशेष शक्ति नहीं होती, तथापि राजचिह्न धारण करने वाले साधारण सिपाही में भी अन्य सामान्य जनों की अपेक्षा कुछ विशेष शक्ति होने का अनुभव हर एक करता है। इसी प्रकार उक्त चिह्नों के कारण अमूर्त राजशासन का एक विशेष प्रभाव जनता पर पड़ता है। जिस कारण राजा शक्तियों का केन्द्र बनता है। जिस समय अपने चिह्नों से और सम्पूर्ण ठाठ से राजा जाता है उस समय उसका बड़ा भारी प्रभाव सामान्य जनता पर पड़ता है, इसी कारण राजा में शक्ति इकट्ठा होती है। इस सूक्त के चतुर्थ मन्त्र (अभीवर्तो०) में यह मणि ही शत्रुनाश करने वाला, प्रभाव बढ़ाने वाला, राष्ट्रहित साधने वाला है' इत्यादि कहा है। उसका भाव उक्त प्रकार ही समझना योग्य है। सिपाही की शक्ति उसके चिह्नों से ही उसमें आती है और यह शक्ति वास्तविक नहीं प्रत्युत एक विशेष भावना से ही उत्पन्न होती है। सम्पूर्ण राजचिह्नों की शक्ति इसी प्रकार भावनात्मक है।[३७]

(४) **अस्तृतमणि-** इस मणि का उल्लेख अथर्व. १९.४६ में हुआ है। मारुद्रणी महाशान्ति में इसके प्रयोग को इङ्गित करते हुए आचार्य सायण ने इस सूक्त की उत्थानिका में लिखा है- **प्रजापतिष्ट्वा'** इस सूक्त से बलकाम की मारुद्रणी शान्ति को करे। इस महाशान्ति में अस्तृतानामक मणि को अभिमन्त्रित करके बाँधे। इस १९.४६ सूक्त में अस्तृतानामक मणि की स्तुति की गई है। प्रथम मन्त्र के भाष्य में सायण ने लिखा है- **अत्र सूक्ते अस्तृतताख्यो मणिः स्तूयते। 'अस्तृतस्त्वाभिरक्षतु' इति चरमपादे सर्वत्र युष्मच्छब्देन अस्तृतमणिधारकः पुरुषोऽभिधीयते। प्रजापतिः प्रजानां पालकः सर्व जगद्विधाता देवः प्रथमम् सृष्ट्यादौ मणिधारकेभ्यः पूर्वं वा अस्तृतम् परैरबाधितम् एतत्संज्ञकं त्वा त्वाम् बध्नात् धारयामास। त्रिवृन्मणिरेव वा अतिशयितप्रभावत्वाद् अस्तृतसंज्ञया उच्यते। 'अस्तृतस्त्वाभिरक्षतु'** यह टेक प्रत्येक मन्त्र के अन्त में आती है। आचार्य सायण के अनुसार इसमें युष्मद् 'त्वा' शब्द से अभिप्राय अस्तृतमणिधारक पुरुष से है। इसे त्रिवृन्मणि भी कहते हैं। अत्यधिक प्रभावशाली होने से इसका एक नाम अस्तृतमणि भी है। सायण लिखते हैं कि हे मणे! प्रजा के पालक सर्व जगद्विधाता देव ने सृष्टि के प्रारम्भ में तुझ दूसरों से अबाधित मणि को दूसरों को दबाने की शक्ति पाने के लिए धारण किया था। हे मणिधारक पुरुष! ऐसी मणि को मैं पुरोहित, आयु, वर्च, ओज और बल प्राप्त करने के लिए तेरे बाँधता हूँ, यह अस्तृतमणि तेरी रक्षा करे।[३८]

दयानन्दीय विचारधारा के अनुसार यहाँ तीन का वर्णन प्रतीत होता है। प्रजापति का अस्तृत का और बाँधने वाले का। प्रजापति-माण्डलिक राजा प्रतीत होता है। प्रजापति के राज्य में दो शासन संस्थाएँ होती हैं- सभा और

---

३७. अथर्ववेद का सुबोध भाष्य, प्रथम भाग, पृ. ८१

३८. अथर्ववेद संहिता, सायणकृत भाष्य सहित, सम्पा. पं. रामस्वरूप शर्मा गौड (१९.४६.१)

समिति। सभा तो लोकसभा है, और समिति है-राज्यसभा अर्थात् मुख्य-मुख्य प्रभावशाली व्यक्तियों की सभा। यथा- **सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने। येन संगच्छा उप मा स शिक्षाचारु वदानि पितरः संगतेषु** (अथर्व. ७.१२.१)। समिति राज्यसभा है। यथा- **राजानः समिताविव** (यजु. १२.८०)। अस्तृतम् का अर्थ होता है- 'अपराजित अर्थात् युद्ध में जिसकी हिंसा या जिसका पराजय नहीं हुआ'[३९] ऐसा महाशासक सम्राट्। यथा- **शास इत्था महाँ अस्यमित्रसाहो अस्तृतः। न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदा चन** (अथर्व. १.२०.४) में 'अस्तृतः' को 'महान् शासः' अथात् महाशासक कहा है। तथा यह कहा है कि इसका सखा न तो मारा जाता है, न कभी पराजित होता है। यह अमित्रों का पराभव करता है। इसलिये ऐसे महाराजा के साथ राजनीतिक सन्धि में, माण्डलिक राजाओं का बन्धना आवश्यक हो जाता है। '**अस्तृतस्त्वाभिरक्षतु**' द्वारा इसी बात की ओर बार-बार संकेत किया गया है। वर्तमान समय में भी आत्मरक्षार्थ राज्यों में पारस्परिक सन्धियाँ होती हैं। राजनैतिक सन्धि कराने वाला तीसरा व्यक्ति है, जो कि माण्डलिक या महाशासक का राजदूत है।[४०]

(५) **वरणमणि-** वरणमणि का उल्लेख अथर्व. १०.३ में हुआ है। इसकी उत्थानिका में आचार्य सायण ने लिखा है कि- इस सूक्त में वरण नामक मणि का प्रताप वीर्य और शत्रु क्षय की शक्ति तथा धारक के सब दुःखों के नाश का वर्णन है और अभया नामक महाशान्ति के वरण मणि बन्धन में भी यह सूक्त पढ़ा जाता है। सायण के अनुसार शत्रुक्षय आदि को चाहने वाला इस सूक्त से दही और मधु में तीन रात तक बसाई हुई वरणमणि को संपातित और अभिमन्त्रित करके बाँधे।

दयानन्दीय वैदिक विचारधारा में प्रस्तुत सूक्त में 'वरण' का वर्णन हुआ है। इसके दो अर्थ सूक्त में सङ्गत होते हैं। (१) शत्रु निवारक सेनाध्यक्ष, और (२) रोगनिवारक वरणवनस्पति।[४१] मन्त्रों में **अवारयन्त,**[४२] **अवीवरन्,**[४३] **वारयिष्यते**[४४] द्वारा 'वरण' का अर्थ निवारक' ही प्रतीत होता है। इस सूक्त में मणि' द्वारा सेनाध्यक्षरूपी राज्यरत्न का निर्देश हुआ है।[४५] **जातौ जातौ युदत्कृष्टं तद्रत्नमित्यभिधीयते**' द्वारा सेना में उत्कृष्ट सेनाध्यक्ष को मणि अर्थात् रत्न कहा है। मणि और रत्न समानार्थक है। 'वरण' औषध भी वनस्पतियों में श्रेष्ठ है, अतः मणि है, रत्न है। मन्त्र १७ में 'वरण' द्वारा सेनाध्यक्ष तथा वरण-औषध का युगपत् वर्णन हुआ है। शेष मन्त्रों में किन्हीं में मुख्यरूप में वरण औषध का, तथा किन्हीं में मुख्यरूप में सेनाध्यक्ष का वर्णन हुआ है। इस सूक्त के मन्त्र ९ से २५ तक में, प्रायः वरण द्वारा सेनाध्यक्ष का वर्णन संगत होता है।

(६) **फालमणि-** अथर्व. १०.६ में इस मणि का उल्लेख प्राप्त होता है। याज्ञिक सम्प्रदायानुसार खादिर काष्ठ के फाल के विकाररूपी मणि को बाँधने का यहाँ वर्णन है। शत्रुनाश और सब कामनाओं की पूर्ति के लिए इस मणि को बाँधने हेतु प्रस्तुत सूक्त के विनियोग में आचार्य सायण ने लिखा है- **खदिरकाष्ठफालविकारं मणिं शत्रुनाशाय**

---

३९. अ+स्तृ (स्तृणाति वधकर्मा, निघं २/१९)-क्त।
४०. प्रो. विश्वनाथविद्यालंकार, अथर्ववेद भाष्यम् १९.४६.१, पृ. ३१८
४१. वही, १०.३.८
४२. वही, १०.३.३
४३. वही, १०.३.५
४४. वही, १०.३.४, ६, ८
४५. वही, १०.३.१, २, ३, ६

सर्वकामावाप्तये च बध्नाति।' पाश्चात्य वैदिक विद्वान् भी इस मणि को Amulet अर्थात् जादू-टोना रूप मानते हैं।

उक्त सूक्त में ३५ मन्त्र हैं। स्वामी दयानन्द की विचारधारा के अनुसार 'फालमणि' का अर्थ होता है फाल से उत्पन्न मणि[४६]=कृष्यन्न, मठा तथा औषधि रस- यह पूर्ण अन्न है। कृष्यन्न मणि है, श्रेष्ठ रत्न रूप है। वन्यान्न की अपेक्षया कृष्यन्न शक्तिप्रदान में श्रेष्ठ है, अत: मणिरूप है। यह अन्न मनुष्यों की रक्षा करता है, अत: कवच है। अन्न के बिना मृत्यु हो जाती है। परन्तु कृष्यन्न तब पूर्ण अन्न होता है जबकि मठे और दुग्धरस तथा औषधिरसों का इसके साथ सहयोग हो, अन्यथा केवल कृष्यन्न अपूर्ण अन्न है। इन मिश्रित अन्नों के सेवन द्वारा वर्चस् प्राप्त होता है।[४७]

मन्त्र ३ और ६ से पता चलता है कि फाल 'खदिर' काष्ठ का होता है जिसे कि तर्खान घड़ता है। सम्भवत: यह फाल खैर के काष्ठ से निर्मित किया गया है। खैर कारण है, और फाल कार्य। कार्य में कारण का उपचार हुआ है, यथा **अन्नं वै प्राणिनां प्राण:**' प्राण कार्य है और अन्न कारण है अत: प्राण को अन्न कहा है। इसी प्रकार फाल को खदिर कहा है।

मन्त्र दो में फाल से उत्पन्न कृष्यन्न को मणि कहा है फाल और कृष्यन्न में भी कारण और कार्यभाव है। अथवा साधन और साध्य भाव है। एक जाति के पदार्थों में सर्वश्रेष्ठ पदार्थ मणि कहाता है। अन्नों में कृष्यन्न श्रेष्ठ है अत: कृष्यन्न मणि है, रत्न है। कृष्यन्न से गौओं को चारा मिलता है, और गौओं से दूध और दूध से घृत मिलता है, अत: कृष्यन्न को मन्त्र ६ में '**घृतश्चुत**' कहा है। कृष्यन्न के सेवन से शरीर और मन में बल और उग्रता पैदा होते हैं। बृहस्पति जब कृष्यन्न के परिणाम 'वीर्य' को निज शरीर में बाँधे रखता है, और विषयलम्पट होकर उसका विनाश नहीं करता तो वह ओज को प्राप्त करता है। **(ओजसे) 'अबध्नात्'** द्वारा 'मणि' को बाँधना सूत्र या धागे द्वारा अभिप्रेत नहीं है जैसा कि आचार्य सायण ने लिखा है। अपितु इसे शरीर में स्थिर रखना ही अभिप्रेत है। जैसे कि **देशबन्ध: चित्तस्य धारणा**' (यो.द. ३.१) में चित्त के ध्येय में बाँधने का वर्णन हुआ हैं। ध्येय के साथ चित्त को सूत्र द्वारा नहीं बाँधा जा सकता। ध्येय में चित्त को स्थिर करना' यह अभिप्राय है।

सूक्तोक्त विभिन्न मन्त्रों से ज्ञात होता है कि इस मणि को सूर्य, चद्रमा, अन्तर्देश, प्रदिश:, देवता:, ऋतु, मास, माससमूह, संवत्सर, आप: आदि जड़ पदार्थ भी धारण करते हैं (बांधते हैं)। अत: मणिबन्धन का जो अर्थ याज्ञिक सम्प्रदायानुसार किया गया है, वह समुचित प्रतीत नहीं होता। इससे ज्ञात होता है कि यह मणि खदिर या खदिर फाल से उत्पन्न स्थूलमणि नहीं, जिसे कि सूर्य आदि भी धारण करते हैं। सूर्य आदि सम्बन्धी मणियां क्या हैं? इसे प्रो. विश्वनाथ विद्यालंकार आदि के भाष्यों में देखा जा सकता है। परमेश्वर भी सृष्ट्युत्पादन के लिये मणि को बाँधता है, अत: **यह मणि सृष्टि के उत्पादन में परमेश्वरीय कामनारूप है, न कि कोई प्राकृतिक मणि** (मं. ९.१७)। इस सूक्त के मन्त्र २१ से २८ और ३१ से ३२ में आया है कि-

(१) सबको धारण पोषण करने वाला परमेश्वर भी मणि को भूत-भौतिक विविध पदार्थों की रचना के लिए बाँधता हैं क्या परमेश्वर का कोई शरीर है जिसके अवयव पर स्थूल मणि बाँधी जा सके।

(२) यह मणि असुरों का असुरकर्मों का क्षय करने वाली (असुरक्षिति) है।

(३) परमेश्वररूपी मणि, जब सिर पर आरूढ़ हो जाती है, तब मनुष्य सिर से पैरों तक श्रेष्ठ बन जाता है।

---

४६. वही, १०.६.२ 'अयं मणि: फालाज्जात:'।

४७. वही, १०.६.२ पर प्रो. विश्वनाथ भाष्य।

(७) **दर्भमणि-** अथर्ववेद काण्ड १९ सूक्त २८ से ३० और ३२, ३३ कुल पाँच सूक्तों के ३९ मन्त्रों में दर्भमणि का वर्णन हुआ है। याज्ञिक सम्प्रदायानुसार काण्ड १९ के २८, ३० सूक्तों का ऐन्द्री नामक महाशान्ति के दर्भमणिबन्धन और ३२ से ३३ सूक्तों का याम्या महाशान्ति के दर्भमणि बन्धन में विनियोग होता है। आचार्य सायण ने इस विषय में लिखा है-**'इमं बध्नामि ते मणिम्' इति सूक्तत्रयम्......ऐनद्र्याख्यायां महाशान्तौ दर्भमणिबन्धने विनियुक्तम्। 'शतकाण्डो दुश्च्यवन:' इत्यादिकं षष्ठं सूक्तम्। 'तस्य याम्यां यमभये (न.क. १७) इति विहितायां याम्याख्यायां महाशान्तौदर्भमणिबन्धनं कुर्यात्।'**

आचार्य सायण ने इसका विश्लेषण करते हुए लिखा है कि यह कुशा (दर्भ) से निर्मित मणि है। आर्यभाषाभाष्यों के अनुसार दर्भ शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है- दृ विदारणे (दर्) भा दीप्तौ (भम्)। आतोऽनुपसर्गे कः (अष्टा. ३/२/३)। जिसका अर्थ होता है 'शत्रुओं के विदारण द्वारा चमकंने वाला। मणि=सेनापतियों में शिरोमणि रूप।' दृणाति विदारयतीति दर्भ (उष्ण. ३/१५१) =शत्रु के विदारण के कारण सेनापति को दर्भ कहा है। दर्भाङ्कुर का अग्रभाग कण्टकमय होता है, जो कि पैर का विदारण कर देता है। इस प्रकार **रूपक दृष्टि से भी सेनापति को दर्भ कहा जा सकता है। जैसे कि बहादुर को 'शेर' तथा निर्बुद्धि को गदहा कह दिया जाता है।** सूक्त २९ के मं. ०१ से ०४ तक में साम उपायों का वर्णन हुआ है, और मन्त्र ५ से ९ तक में दण्ड-उपाय कहे गए हैं। शत्रु को अपने अनुकूल करने के चार उपाय हैं- साम, दान, दण्ड और भेद। साम का अभिप्राय है- शान्ति, समझौते, परस्पर वार्तालाप तथा सन्धि आदि शान्त उपायों का वर्तना।

अथर्व. १९/२८-३० तीन सूक्तों में दयानन्दीय विचारधारा में 'शत्रु विदारक सेनापति' को 'दर्भमणि' नाम से कहा गया है। इसके लिए कुछ निम्नलिखित विशेषण हैं जो उक्त सूक्तों में आये हैं-

(१) **सपत्नदम्भनम्**-आन्तरिक शत्रुओं को दबाने वाला।

(२) **द्विषतस्तपनं हृद:**-द्वेषी राजा के हृदय को तपानेवाला।

(३) **शत्रूणां तापयन् मन:**-शत्रुओं के मनों को तपानेवाला।

(४) **घर्म इव**- ग्रीष्म ऋतु के सूर्य के सदृश संतप्त करने वाला।

(५) **दुर्हार्दान्**-दुष्ट हार्दिक भावनाओं को हनन करने वाला।

(६) **तनूपानम्**-शरीर का रक्षक।

उपर्युक्त कतिपय विशेषण आचार्य सायण निर्दिष्ट 'कुशा (दर्भ) से निर्मित मणि' पर नहीं घट सकते। सूक्त २८ के प्रथम मन्त्र में प्रजाजनों का प्रतिनिधि कहता है कि मैं उपर्युक्त विशेषणों से युक्त सेनापति (दर्भमणि) को तेरे साथ दृढ़ बद्ध करता हूँ **(बध्नामि)**।

भिन्द्धि=भिन्न-भिन्न (विभेद) कर, **छिन्द्धि=छिन्न-भिन्न** कर, **वृश्च=काट** डाल, **कृन्त** कतर डाल, **पिश=टुकडे-टुकडे** कर डाल, **विध्य=टुकडे-टुकडे** कर डाल, निक्ष=वेंध डाल, **तृद्धि=क्षीण** कर, **रुद्धि=अनादर** कर, **मृण=**घेरा डाल, मन्थ=प्राणदण्ड दे, **पिड्ढि=प्राणदण्ड** दे, **ओष=मथ** डाल, **दह=झुलसा** दे, दग्धकर, **जहि=हनन** कर आदि इन लोट् लकार मध्यमपुरुष एकवचन की क्रियाओं का प्रयोग शत्रुविदारक सेनापति के साथ हुआ है, न कि सायण निर्दिष्ट तथाकथित दर्भनिर्मित मणि के साथ। वैसे भी इन क्रियाओं की सार्थकता चेतन पुरुष के साथ ही घट सकती है। **'त्वं राष्ट्राणि रक्षसि** (१९.३०.३) तू राष्ट्रों की रक्षा करता है- यह मन्त्रांश 'दर्भ निर्मित मणि' के साथ कैसे उपपन्न होगा? यह तो शत्रुओं का विदारण करनेवाले शिरोमणि रूप सेनापति पर ही घट सकता है।

अथर्व. १९/३२-३३ सूक्तों में परमात्मा को अविद्याग्रन्थि विदारक-रागद्वेषविदारक और भयविदारक कहा गया है। यह इन दो सूक्तों में 'दर्भमणि' का आध्यात्मिक अर्थ है। **दर्भ=विदारयति अविद्या ग्रन्थिम्।** औषधि (१९.३२.१) - **ओषद्धयति दोषं धयतीति वा** (नि. ९.३.२७) परमेश्वर अविद्यादि रोगों का औषध रूप है, उग्र औषधरूप है। आचार्य सायण ने १९.३२ समग्र सूक्त में दर्भ द्वारा कुशा घास का वर्णन किया है। यहाँ 'दर्भ' कुशा घास नहीं है। क्योंकि १९.३२.९ में जो विशेषण दर्भ के बताये गये हैं वे कुशा घास पर नहीं घटते। वे तो अविद्याग्रन्थिविदारक परमेश्वर (दर्भ) पर उपपन्न हो सकते हैं। पूरा मन्त्र इस प्रकार है-

यो जायमानः पृथिवीमदृंहद् यो अस्तभ्नादन्तरिक्षं दिवं च।
यं विभ्रं ननु पाप्मा विवेद सनोऽयं दर्भो वरुणो दिवा कः॥

उपर्युक्त मन्त्र में (१) **पृथिवीमदृंहत्-** जिसने पृथिवी को दृढ़ किया। (२) **अन्तरिक्षं दिवं च अस्तभ्नात्-** **अन्तरिक्ष** और द्युलोक को जिसने थामा। (३) **दिवा कः-** ज्ञानप्रकाश करने वाला ये विशेषण कुशा पर घटित नहीं होते, अपितु परमात्मा पर घटते हैं। वेदों में अन्यत्र भी ऐसी बातें परमात्मा के बारे में ही आयी हैं, जैसे **येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा** (यजु. ३२.६)।

उपसंहार- हमने ऊपर की पंक्तियों में लगभग सभी मणिसूक्तों की समीक्षा प्रस्तुत की है। इनमें किसी जादू-टोने (Amulet) की शक्ति रखनेवाली मणिविशेष का वर्णन नहीं है। इनमें जहाँ गुणकारी ओषधियों का वर्णन है, जिन्हें रोगनिवारण में बहुत उपयोगी होने के कारण मूल्यवान् मणि कह दिया गया है, वहीं राष्ट्र रोग भूख, प्यास, हिंसा आदि के निवारण में मणिरूप सेनापति ओषधि आदि का भी वर्णन है। इस प्रकार गम्भीर अध्ययन, मनन, चिन्तन, अनुसन्धान करने पर सभी मणिसूक्तों की कहीं आयुर्वेदपरक और कहीं राजनीतिपरक सुन्दर व्याख्या हो सकती है। जहाँ कुछ मणिसूक्तों की उपर्युक्त उभयविध व्याख्या संभव है, वहीं 'दर्भमणि' की आध्यात्मिक (अविद्याग्रन्थिविदारक परमेश्वर) व्याख्या भी होती है।

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०१० अङ्क १४ (पृ०१४५-१५२) ISSN 0974 – 8830

महर्षिदयानन्दस्य दार्शनिकं चिन्तनम्

डॉ. अरुणिमा रानी[१]

महर्षि दयानन्दो वेदभाष्यकारः, भारतीयस्वतन्त्रतायाः प्रद्योतकः, अन्धविश्वासानां विनाशकः, समाजसंशोधकः, राष्ट्रनिर्माता, युगपुरुष इत्यादिभिः नामभिस्तु प्रायः स्मर्यते परं तस्य दार्शनिकविचाराणाम् ऊहापोहः स्वल्पैवाभूत्। तथ्यमेतद् वर्तते यत् दयानन्दस्य सम्पूर्णे व्यक्तित्वे कृतित्वे च एका सुस्पष्टा, सुविचारिता, सतर्कचिन्तनधारा च कार्यरता दृश्यते। दयानन्ददर्शने या यथार्थवादिता गह्वरता = गभीरता, स्पष्टता, आडम्बरहीनता, वैज्ञानिकता च दृग्गोचरीभवति सैव तस्य दार्शनिकं चिन्तनं बुद्धिगम्यं करोति।

ऋषिवरदयानन्दः स्वस्य समयस्य महान् दार्शनिकोऽनुशास्ता चास्ति। स दर्शनविषयकान् पूर्वप्रचलित-विरुद्धवादान् स्वस्याः सत्यान्वेषिकाया ऋतम्भरायाः प्रज्ञायाः विषयं करोति। तस्य तर्कपूर्णा प्रज्ञा पूर्वप्रचलितविरुद्धवादेभ्यो भिन्नान् नवीनदार्शनिकसिद्धान्तान् आविष्करोति। स कथयति यत् पूर्वमीमांसा- वैशेषिक-न्याय-योग-सांख्य-वेदान्ताख्यानि षड्दर्शनानि यथासम्भवमृषिप्रणीतव्याख्यायुतानि उत्तमविदुषां सरलव्याख्यायुक्तानि वाऽधीयीरन्।[२] संक्षेपेण तस्य दार्शनिकविचारधारा षड्बिन्दुषु एवं विभज्यते-

(१)त्रैतवादः

(२)जीवात्मपरिच्छिन्नवादः

(३)मुक्तेः परावर्तनम्

(४)सेश्वराणि वैदिकषड्दर्शनानि

(५)षड्दर्शनसमन्वयः

(६)आर्षग्रन्थप्रामाण्यवादः

(१) त्रैतवादः

महर्षिणा दयानन्देन स्वरचितेषु ग्रन्थेषु यत्र-तत्र त्रैतवादोद्घोष्यते। तेनोच्यते स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाशे[३] - यान् यान् पदार्थान् यथायथाऽहं मन्ये, तानेव संक्षेपेणात्र वर्णयामि। तेषां विशेषव्याख्यानञ्चास्मिन्नेव ग्रन्थे तत्तत्प्रकरणे पूर्वमेव विहितम्। अनेनोद्घोषेण ज्ञायते यत् 'महर्षेः दयानन्दस्य यद्दर्शनं यत्र तत्र स्फुटीभवति तस्य स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाशे एकत्र समावेशः कृतः। तस्य दर्शनस्य प्रथमः डिण्डिमघोषः त्रैतवादरूपेण संलक्ष्यते। तस्य मते त्रयोऽनादिपदार्थाः'[४] परमेश्वरः जीवः, जगत्कारणभूता प्रकृतिश्चेति। एत एव नित्यपदार्था अप्यभिधीयन्ते। ये हि नित्यपदार्था, तेषा गुणकर्मस्वभावा अपि

---

१. प्रवक्त्री संस्कृतविभागे, एस. डी. महाविद्यालयः मुजफ्फरनगरम्

२. सत्यार्थप्रकाशः, तृतीयसमुल्लासः

३. द्रष्टव्यः, सत्यार्थप्रकाशः (स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाशः), दयानन्दः सरस्वती, सम्पादकः युधिष्ठिरमीमांसकः, रामलालकपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, सोनीपत

४. द्रष्टव्यः, तत्रैव षष्ठे पदार्थे

नित्या एव। जीवेश्वरयो स्वरूपगुणकर्मस्वभावाः कीदृशाः[५] अस्मिन्विषये सत्यार्थप्रकाशस्य सप्तमे समुल्लासे तेन व्याख्यायते-उभावपि चेतनस्वरूपौ। स्वभाव उभयोरपि पवित्रः, अविनाशी धार्मिकत्वादिसंयुक्तश्च। परं सर्गस्योत्पत्तिस्थितिप्रलयाः, सर्वेषां नियमेषु अवस्थापनम्, जीवेभ्यः पापपुण्यफलप्रदानादिकञ्च परमेश्वरस्य धर्मयुक्तकर्माणि। जीवस्य तु सन्तानसमुत्पादनं, तत्परिपालनं, शिल्पविद्यादिकञ्च सदसदुभयविधान्यपि कर्माणि। ईश्वरस्य नित्यज्ञानानन्दानन्तबलप्रभृतयो गुणाः। जीवविषये ऋषिवरदयानन्दः न्यायवैशेषिकयो सूत्रद्वयं उदाहरति- इच्छाद्वेषप्रयत्न-सुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति।[६] प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तर्विकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि॥[७] यथा- इच्छा, द्वेषः, प्रयत्नः, सुखम्, दुःखम्, ज्ञानम्, प्राणः, अपानः, निमेषः, उन्मेषः, जीवनम् मनः (अध्यवसायस्मरणाहङ्कारानुष्ठानम्), गतिः, सर्वेन्द्रियप्रेरणम्, अन्तर्विकारः क्षुत्-तृष्- हर्षशोकादिभिस्संयोगः। इमे गुणाः परमात्मगुणेभ्यो भिन्नाः। एभिरेव गुणैरात्मा प्रत्येतव्यः यतो वै स नास्ति स्थूलः अपितु परिच्छिन्नः।[८] आत्मनाधिष्ठित एव देहे गुणा इमे प्रकाशन्ते। यदा चायं शरीरं विहाय निर्याति तदेमे गुणा अपि तद् विमुञ्चन्ति। अन्वयव्याप्त्या विशदयति दयानन्दो **जिसके होने से जो हों, और न होने से न हों, वे गुण उसी के होते हैं। जैसे दीप और सूर्य्यादि के होने से प्रकाशादि का होना और न होने से न होना है, वैसे ही जीव और परमात्मा का ज्ञान गुणों द्वारा होता है।**[९] सत्यार्थप्रकाशस्याष्टमे समुल्लासे प्रकृतेस्त्विदं लक्षणमुपस्थाप्यते- सत्त्वं रजः तमः, एषां त्रयाणां सङ्घातः प्रकृतिनाम्ना व्यपदिश्यते। प्रकृतेरपरपर्यायः प्रधानम्। अस्मिन् विषये दयानन्दः साङ्ख्यदर्शनस्य सूत्रमुपस्थापयति-सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान्, महतोऽहङ्कारोऽहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं, पञ्चतन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः॥[१०] तत्रैव त्रैतवादविषय ऋग्वेदस्य प्रमाणमैकं प्रस्तौति- **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥**[११] अस्यायमर्थः- जीवात्मपरमात्मानावुभावपि चैतन्यपालनादिगुणैः समानौ व्याप्यव्यापकभावेन संयुक्तौ मिथो मैत्रीभावसंयुजौ सनातनावनादी स्तः। दयानन्दः प्रकृतिं वृक्षमूलभूतेन चित्रयति- **वैसा ही अनादि मूल रूप कारण और शाखा रूप कार्य युक्त वृक्ष अर्थात् जो स्थूल होकर प्रलय में छिन्न-भिन्न हो जाता है, वह तीसरा अनादि पदार्थ प्रकृति है।**[१२] भोक्ता-अभोक्तारूपेण जीवब्रह्मणो स्वरूपं निर्दिशति दयानन्दः-जीवात्मा वृक्षात्मकेऽस्मिन् संसारे पापपुण्यात्मकफलानि सम्यगश्नाति परमेश्वरश्चानश्नन् कर्मफलान्यभितो बहिरन्तस्सर्वत्र प्रकाशते।[१३] त्रिष्वेव पार्थक्यप्रदर्शनपुरस्सरमाचक्षते- जीवादीश्वर ईश्वराच्च जीवः, उभाभ्याञ्चेयम्प्रकृतिर्भिन्नस्वरूपा। त्रयोऽप्यनादयो वर्तन्ते।[१४]

एवं दयानन्दमत ईश्वरजीवप्रकृतीनां त्रयाणामेव अनाद्यनन्तस्थितिर्वर्तते। ईश्वरः सच्चिदानन्दादिलक्षणयुक्तः,

---

५. द्रष्टव्यः, सत्यार्थप्रकाशः (सप्तमः समुल्लासः), दयानन्दः सरस्वती
६. न्यायदर्शनम् १/१/१०
७. वैशेषिकद. ३/२/४
८. द्रष्टव्यः, सत्यार्थप्रकाशः (सप्तमः समुल्लासः)
९. द्रष्टव्यः, तत्रैव पृ. १८१
१०. सांख्यद. १/६१
११. ऋग्वेदः १/१६४/२०
१२. द्रष्टव्यः, सत्यार्थप्रकाशः (अष्टमः समुल्लासः) पृ. १९६
१३. द्रष्टव्यः, तत्रैव 'द्वा सुपर्णा.' अस्य व्याख्याप्रसङ्गे
१४. तत्रैव

गुणकर्मस्वभावाश्च यस्य पवित्राः सर्वज्ञः, निराकारः, सर्वव्यापकः, अजन्मा, अनन्तः, सर्वशक्तिमान्, दयालुः, न्यायकारी, सकलसृष्टेः कर्त्ता, धर्त्ता, हर्ता च, सकलजीवानां कर्मानुरूपं सत्यन्यायेन फलदातृत्वादिलक्षणयुक्तश्च वर्तते। जीव इच्छाद्वेषसुखदुःखज्ञानादिगुणयुक्तोऽल्पज्ञः परिच्छिन्नः नित्यश्च विद्यते। प्रकृतिश्च तद्भिन्ना जडरूपा, अज्ञा, जगत्कारणभूता, नित्या च वर्तते। एते त्रयोऽनादिपदार्थाः। एषु न कोऽपि कदापि पररूपे परिणमति। परमेश्वरश्च नैतयोरुत्पादनं करोति, नैव रचयतीत्यर्थः॥ एवं द्वैताद्वैतखण्डनरूपो यथार्थसत्तात्मकत्रैतवाद इति निश्चप्रचम्।

(२) जीवात्मपरिच्छिन्नवादः

जीवात्मा न तु विभुः= व्यापकः न च मध्यमपरिमाणः किन्तु अणुमात्रमेव वर्तते। सत्यार्थप्रकाशस्य द्वादशसमुल्लासे मध्यमपरिमाणस्य जीवस्य युक्तिपुरस्सरं खण्डनं कृतं दयानन्देन। तेनोच्यते- अपि च जैनेष्वार्हताः देहपरिमाणेन जीवस्यापि परिमाणं मन्यन्ते। सहजदार्शनिकभावेन ऋषिदयानन्दः खण्डयति- 'तत्र ते प्रष्टव्याः- एवं सति हस्तिनो जीवः पिपीलिकायां, तस्याश्च करिणि कथं मातुं शक्नुयात्? एतदपि मौर्ख्यमेव जीवो हि सूक्ष्मं वस्तु यः परमाणौ अपि निवसतुमर्हति।'[१५] जैनाचार्या कोशत्रितयं च देहस्य परिमाणं मन्यन्ते। अस्मिन् विषये ऋषिदयानन्दः टिप्पणीं करोति- **तीन कोश के शरीर वाले मनुष्य इस भूगोल में बहुत थोड़े समा सकें.......... उनके सन्तान भी तीन-तीन कोश के शरीर वाले होने चाहिए; जैसे मुम्बई में दो एक और कलकत्ते में तीन व चार मनुष्य निवास कर सकते हैं। जो ऐसा है तो जैनियों ने एक नगर में लाखों मनुष्य लिखें हैं तो उनके रहने का नगर भी लाखों कोशों का होना चाहिए तो सब भूगोल में वैसा एक नगर भी न बस सकें।**[१६] एवं विविधयुक्त्या जीवात्मनः मध्यमपरिमाणस्य अर्थात् देहानुसारपरिमाणस्य खण्डनं कृतम्। जीवात्मनो विभुप्रसङ्गेऽपि हेतुपुरस्सरं खण्डनं विदधाति दयानन्दः। सत्यार्थप्रकाशस्य सप्तमे समुल्लासे जीवात्मनः परिमाणविषये पूर्वं स्वमतं स्थापयति पश्चात् विभुपरिमाणस्य जीवात्मन हेतुं दत्त्वा खण्डनं निगदति। यथा- परिच्छिन्नः स जीवः। दार्शनिकभावेन हेतुं च प्रददाति- **जो विभु होता तो जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मरण, जन्म, संयोग, वियोग, जाना, आना कभी नहीं हो सकता। इसलिए जीव का स्वरूप अल्पज्ञ, अल्प अर्थात् सूक्ष्म है।**[१७] जीवेश्वरयोः सम्बन्धविषये सहजभावेनोदाहरणपुरस्सरं विविच्यते- परमात्मनोऽपेक्षया जीवस्य स्थूलत्वात्, परमेश्वरस्य च जीवतः सूक्ष्मत्वात्परमेश्वरो व्यापको जीवश्च व्याप्यो वर्तते।[१८] उपदेशमञ्जर्यामीश्वरसिद्धिविषये तेन निर्दिश्यते- **शरीर स्थित जो जीव है, वह भी आकार रहित है।**[१९]

उपनिषद्यपि जीवात्मनः परिमाणविषये ऋषिभिरुदीर्यते। छान्दोग्योपनिषद ऋषिः व्याहरति- एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामकतण्डुलाद्वा, एष म आत्माऽन्तर्हृदये ज्यायान् पृथिव्या ज्यायान् अन्तरिक्षाज्ज्यायान्दिवो ज्यायान् एभ्यो लोकेभ्यः।[२०] बृहदारण्यकोपनिषदि एवमेवानुहरते अनुकरणं करोतीत्यर्थः- मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यः तस्मिन्नन्तर्हृदये यथा व्रीहिर्वा यवो वा स एष सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं

---

१५. सत्यार्थप्रकाशः (द्वादशःसमुल्लासः), परोपकारिणी सभा अजमेर, ३८वाँ संस्करण, पृ. ४४२
१६. तत्रैव, पृ. ४८३
१७. सत्यार्थप्रकाशः (सप्तमसमुल्लासः), पृ. १८१
१८. तत्रैव
१९. उपदेशमञ्जरी (ईश्वरसिद्धिविषयक प्रथम उपदेश), आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, नया बांस, दिल्ली-६, षष्ठ संस्करण, पृ. २
२०. छान्दोग्योपनिषद् ३/१४/३

प्रशास्ति यदिदं किञ्च।[२१] तद्विपरीतमन्येषु स्थलेषु जीवं 'प्रादेशमात्रम्'[२२] 'अंगुष्ठपरिमाणम्'[२३] च निगदति। मुण्डकोपनिषदि ऋषि: जीवात्मानम् अणुरूपं घोषयति।'[२४] श्वेताश्वतरोपनिषद ऋषि: जीवतत्त्वम् 'अंगुष्ठमात्रम्' पुन: 'आराग्रमात्रम्' एवं क्रमेण सूक्ष्मयति अणुत्वं करोतीत्यर्थ।'[२५] अग्रे जीवात्मन एतादृशीं सूक्ष्मतामपर्याप्तं मत्त्वा उपमयति सैव ऋषि:- बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीव: स विज्ञेय: स चानन्त्याय कल्पते।[२६] अथर्ववेदे तु जीवं बालादणीयान् घोषितम्।[२७]

एवमृषिणा दयानन्देन जीवात्मन अणुत्वं प्रतिपादितम्। मध्यमपरिमाणस्य विभुपरिमाणस्य च जीवात्मन: खण्डनं कृतम्।

(३) मुक्ते: परावर्तनम्

ऋषिवरदयानन्देन स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाशे मुक्ते: परिभाषा प्रदत्ता/यथा- सर्वदु:खनिवृत्तिपूर्वकं, बन्धनरहितं, सर्वव्यापकपरमात्मनि तस्य सृष्टौ च सानन्दावस्थानं, मुक्तेरानन्दमुपभुज्य पुन: संसारे परावर्तनम्।[२८] केषुचिज्जनेषु एषा धारणा वर्तते यत् मुक्ते पुनरावर्तनं न भवति। अस्मिन् विषये ते प्रमाणानि प्रददति। यथा-

'न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तत इति।'[२९]

'अनावृति: शब्दादनावृत्ति: शब्दात्॥'[३०]

'यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।'[३१]

दयानन्द ऋग्वेदस्य मन्त्रद्वयेन स्थापयति स्वमतम्- 'कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम। को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च॥१॥ अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम। स नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च॥२॥'[३२] एतयो: मन्त्रयो मुक्ते: पुनरावर्तनस्य दर्शनं कारयन्नाह-यो हि अस्मान् कैवल्ये ब्रह्मानन्दमुपभोज्य पुनरप्यस्यां क्षितौ पित्रो सम्बन्धेन जननं प्रदाय, जनकयोर्दर्शनं कारयति। स एव परमेश्वरो कैवल्यव्यस्थां विदधाति।

---

२१. बृहदारण्यकोपनिषद् ५/६/१

२२. यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानम् ......। छान्दोग्योपनिषद् ५/१८/१

२३. कठोपनिषद् २/३/१७, २/१/१२-१३ तथा श्वेताश्वरतरोपनिषद् ३/१३

२४. एषोऽणुरात्मा। मुण्डकोपनिषद् ३/१/९

२५. अंगुष्ठमात्रो रवितुल्यरूप: संकल्पाहङ्कारसमन्वितो य:। बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेव चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्ट:॥ श्वेताश्वरोपनिषद ५/८

२६. श्वेताश्वतर. ५/९

२७. बालादेकमणीयस्कमुतैकं नैव दृश्यते। अथर्ववेद १०/८/२५

२८. द्रष्टव्य:, सत्यार्थप्रकाश: (स्वमन्तन्यामन्तव्यप्रकाश) पृ. ५६२

२९. छन्दो. ८/१५

३०. वेदान्तद. ४/४/३३

३१. भगवद्गीता १५/६

३२. ऋ. १/२४/१-२

सांख्यानुसारं[३३] दयानन्देनोच्यते यत् यथा इदानीं बद्धा मुक्ताश्च जीवात्मानस्सन्ति तथैव सर्वदा वर्तन्ते बन्धमोक्षयोरत्यन्तविच्छेदो न भवति कर्हिचिदपि अर्थात् नित्यं नावतिष्ठेते बन्धमोक्षौ। केचन जनाः 'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः'[३४] 'अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः' एताभ्यां सूत्राभ्यां दुःखात्यन्तनिवृत्तिं व्याहरन्ति अर्थात् न मुक्तेः पुनरावर्तनं दर्शयन्ति। परमत्र 'अत्यन्त' शब्दः आधिक्यार्थे प्रयुज्यते न तु अनन्तार्थे।[३५] मुण्डकोपनिषदपि मुक्ते पुनरावर्तनमुद्घोषयति- ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे।[३६] अस्यायमर्थो यत्- निःश्रेयसमधिवसन्तस्ते मुक्तात्मानो महाकल्पपर्यन्तं ब्रह्मानन्दमुपभुज्य पुनः मोक्षसुखं प्रविहाय इमं संसारमावर्तन्त इति॥ एवं ऋषिवरदयानन्दस्य यद् दर्शनं मुक्तेः परावर्तनं तत् वेदापनिषद्रीत्या अपि सिद्धमेव।

(४) सेश्वराणि वैदिकषड्दर्शनानि

दयानन्दमते वैदिकषड्दर्शनानि सेश्वराणि सन्ति। केषाञ्चित् जनानां एषा धारणा वर्तते यत् एषु दर्शनेषु ईश्वरस्य चर्चा नास्ति। अस्मिन् विषये ते उदाहरन्ति। यथा- 'ईश्वरासिद्धेः'[३७] परमत्र तेषां भ्रान्तिरस्ति सूत्रमिदं सांख्यदर्शनस्य वर्तते। एतत् योगिनाम् अबाह्यप्रत्यक्षविषये वर्तते। अस्यायमर्थो यत्- बाह्यप्रत्यक्षेण अर्थात् इन्द्रियप्रत्यक्षेण ईश्वरस्य सिद्धिर्न भविष्यति अतः योगिनाम् अबाह्यप्रत्यक्षमवश्यमेव मन्येत। यतो हि स ईश्वरः बाह्यप्रत्यक्षस्य = इन्द्रियप्रत्यक्षस्य विषयो नास्ति। यथोक्तं शास्त्रे- 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्'[३८] परं श्रुतौ ईश्वरस्य प्रत्यक्षं निगदितम्। यथा- 'यो विद्यात् प्रत्यक्षं ब्रह्म.'[३९] 'त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि, त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि'[४०] एवमीश्वरसाक्षात्करणाय योगिनाम् अबाह्यं प्रत्यक्षमवश्यमेव मन्येत। ये व्याख्यातारः सूत्रमिमं ईश्वरस्यासिद्धिविषये उदाहरन्ति ते न शास्त्रमर्मज्ञाः यतो हि सांख्यशास्त्रे एतादृशानि बहूनि सूत्राणि वर्तन्ते येषु ईश्वरस्य सिद्धिः कथिता। यथा- 'स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता'[४१] 'ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा'[४२] 'नेश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्तिः कर्मणा तत्सिद्धेः'[४३]। सांख्यदर्शनस्य पञ्चमे अध्यायेऽपि[४४] बहूनि सूत्राणि अस्मिन् विषये वर्तन्ते। अतः दयानन्दमते यः खलु कपिलाचार्यमनीश्वरवादी इत्यभिधत्ते स एवानीश्वरवादी न तु कपिलाचार्य इति विज्ञेयम्।

अन्येऽपि शास्त्रकारा न खलु सन्त्यनीश्वरवादिनः। वेदानां कर्मकाण्डात्मकस्य भागस्य पोषिकायां जैमिनीयपूर्वमीमांसायां तु प्राधान्येन कर्मणः प्रतिपादनं तत्र तु ईश्वरस्य सिद्धेरसिद्धेर्वा प्रसङ्गोपात्त एव न भवति। एवमेव

---

३३. सांख्यद. १/१५९
३४. न्याय. १/१/२२
३५. सांख्यद. १/१
३६. मुण्डक. ३/२/६
३७. सांख्यद. १/९२
३८. कठोपनिषद् ३/१५
३९. अथर्ववेदः ९/६/१
४०. तै. उ. १/१/१
४१. सांख्यद. ३/५६
४२. सांख्यद. ३/५७
४३. सांख्यद. ५/२
४४. सांख्यद. ५/२-१२

वैशेषिकदर्शनेऽपि बहूनि सूत्राणि अस्मिन् विषये दृश्यन्ते। यथा- **'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्'**[४५] तथा च **'संज्ञा कर्म तु अस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम्।'**[४६] अर्थात् अप्रत्यक्षपदार्थानां संज्ञाकरणं तु अस्मद्विशिष्टानां साक्षात्कृधर्माणामृषीणामीश्वरस्य वा कार्यं वर्तते। ते वैशेषिका: वेदं प्रामाणिकं बुद्धिपूर्वकं शिरोधार्यं च मन्यन्ते। यथा-**'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे।'**[४७] 'बुद्धिपूर्वो ददाति।'[४८] य: वेदं प्रशंसति स कथं नास्तिको भवितुमर्हति। यतो हि नास्तिको वेदनिन्दक:। वैशेषिकदर्शनस्य ज्ञातारस्तु **'प्रत्यक्षपरिकलितमप्यर्थम् अनुमानेन बुभुत्सन्ते तर्करसिका:'** इत्यादिना 'सिद्धान्तमुक्तावली' प्रभृतिग्रन्थेषु 'क्षित्यङ्कुरादिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वात् घटादिवत्' इत्यादिभि: सुदृढानुमानादिभि: ईश्वरस्य सिद्धिं कुर्वन्ति। ईश्वरस्य सिद्धिविषये 'श्री उदयनाचार्यस्य' 'न्यायकुसुमाञ्जलि:' नामक: ग्रन्थ: प्रसिद्ध एव। एवं सत्यार्थप्रकाशस्य सप्तमे समुल्लासे ऋषिवर दयानन्दो निगदति- **'मीमांसा का धर्मधर्मी से ईश्वर। वैशेषिक और न्याय भी 'आत्म' शब्द से अनीश्वरवादी नहीं, क्योंकि सर्वज्ञत्वादि धर्मयुक्त और जो सर्वत्र व्यापक और सर्वज्ञादि धर्मयुक्त सब जीवों का आत्मा है, उसको मीमांसा, वैशेषिक और न्याय 'ईश्वर' मानते हैं।**

एवं सिद्धमेतत् यत् सर्वाणि वैदिकदर्शनानि ईश्वरं मन्यन्ते न खलु अनीश्वरवादिनस्ते वैदिक- षड्दर्शनकारा इति।

(५) षड्दर्शनसमन्वय:

क्रान्तदर्शी दयानन्द: सम्पूर्णे भारतीयवाङ्मये-वैदिकसाहित्ये, स्मार्तसाहित्ये आस्तिकषड्दर्शनेषु च समन्वयं प्रस्फुरति। तस्य दार्शनिकदृष्टि: वैदिकषड्दर्शनेषु विरोधं न पश्यति। दयानन्दस्यैषा धारणा वर्तते यत् य: विरोधाविरोधौ न जानीते सैव षड्दर्शनेषु विरोधं पश्यति।[४९] सृष्टिविद्याया: पृथक्भूतषडवयवानां षट्शास्त्रेषु प्रतिपादनात् नास्ति तेष्वल्पीयानपि विरोध:। यथा खलु घटनिर्माणे कर्म-समय-मृद्-विचार-संयोग-वियोगादिपुरुषार्थ: प्रकृतेर्गुणा: कुम्भकारश्च कारणं तथैव सृष्टे: कर्मकारणस्य व्याख्यानं मीमांसायां, समयस्य वैशेषिके, उपादानकारणस्य न्याये पुरुषार्थस्य योगशास्त्रे, तत्त्वानामनुक्रमेण परिगणनस्य सांख्ये, निमित्तकारणस्य परमात्मनश्च वेदान्तशास्त्रे व्याख्यानम्। तस्मान्नास्ति कश्चन विरोध:।[५०] वैद्यकशास्त्रे, निदानचिकित्सौषधिप्रदानपथ्यानां प्रकरणानि पृथक् पृथगुच्यन्ते परं सर्वेषां रोगनिवृत्तावेव तात्पर्यं भवति। तथैव सृष्टेरपि षट्कारणानि एकैकमेकैकशास्त्रकारेण व्याख्यातानि तस्मादेषु नास्ति विरोधलवोऽपि।

एवमेव सत्यार्थप्रकाशस्याष्टमे समुल्लासेऽपि षड्दर्शनसमन्वयविषये प्रश्नोत्तररूपेण दयानन्द ऋषिणा एका महती चर्चा व्यवस्थापिता- प्रश्नकर्ता पृच्छति 'ननु सृष्टिविषये वेदादिशास्त्राणि विरुद्ध्यन्ते यतो हि तैत्तिरीयोपनिषदि, आकाशादिक्रमेण, छान्दोग्येऽग्न्यादिक्रमेण, ऐतरेये च जलादिक्रमेण सृष्टेरुत्पत्तिरुपवर्णिता। वेदष्वपि चित्पुरुषात् चित् हिरण्यगर्भादिभ्य:, मीमांसायां कर्मण:, वैशेषिके कालात् न्याये परमाणुभ्य: योगे पुरुषार्थात् सांख्ये प्रधानात् वेदान्ते च ब्रह्मण:, सृष्ट्युत्पत्तिर्वर्णिताऽस्ति। कतमत्तत्र सत्यमसत्यं वा जानीमहे। ऋषिवरदयानन्द उत्तरयति- एषु सर्व एव सत्यवादिनो न कोऽपि मिथ्याभिधायक:। सैवालीकभाषी यो हि याथार्थ्यं नावबुद्ध्यते। यतो हि जगतोऽस्य निमित्तं

---

४५. वैशेषिक द. १/१/३ व १०/२/४
४६. तत्रैव २/१/१८
४७. तत्रैव ६/१/१
४८. तत्रैव ६/१/३
४९. सत्यार्थप्रकाश: (तृतीयसमुल्लास:) पृ. ६७
५०. तत्रैव द्रष्टव्य:

परमेश्वरः प्रकृतिरुपादानमिति। अत्रेदमवधेयम्-महाप्रलयादनन्तरमग्रिमसर्गारम्भ आकाशात्प्रारभ्यते एवं यदा प्रलयो वह्न्यन्तः सम्पद्यते आकाशवायू तु अवशिष्येते ततः वह्नेः सर्गारम्भः सञ्जायते। यदा च अग्निविद्युतौ न विनश्यतः तदा अद्भ्यः सर्गारम्भः सञ्जायते। यस्मिन् प्रलये यावतां प्रलयः सम्भवति ततः परस्मिन् सर्गे तत एव सृष्टिरुत्पद्यते इति भावः। विरोधस्य परिभाषारूपेण वाक्यमेकमुपदिशति ऋषिवरदयानन्दः- 'एकस्मिन्नेव कार्ये विषये वा विरुद्धवादो विरोध इत्यभिधीयते। षट्स्वपि दर्शनेषु परस्परमविरोध इत्थमवधेयम्-मीमांसायाम्-नास्ति जगति तादृक् किमपि कार्यं यस्य निर्माणे न क्रियते कर्मचेष्टा। वैशेषिके-कालमन्तरेण नोत्पत्तुं शक्यते किमपि। न्याये-उपादाननिमित्ताभावे न किञ्चिदपि निर्मीयते। योगशास्त्रे-विद्या-ज्ञान-विचाराणाम् असद्भावेऽपि न जायते। सांख्ये-तत्त्वानां संयोगं विना नोद्भवितुमर्हति। वेदान्ते-असति निर्मातरि न केनापि पदार्थेन शक्यमुत्पत्तुम्। अतः षड्भिः कारणैः सृष्टिरियमुत्पद्यते तेषाञ्च षण्णां कारणानाम् एकैकं व्याख्यातं प्रतिशास्त्रमिति नास्ति तत्र लेशतोऽपि विरोधः। यथा हि खलु षड्जनाः छदिषमेकामुत्तोल्य भित्तिषु अवस्थापयेयुस्तथैव सृष्टिरियं षड्भिर्दर्शनकारैर्मिलित्वा व्याख्याता इति विभावनीयम्।'

एवम् ऋषिवरदयानन्दः षड्दर्शनेषु क्वापि विरोधलेशं नैव व्याहरति। दयानन्दमते वेदानां चत्वारः प्रमुखाः विषयास्सन्ति। यथा- ज्ञानम्, कर्म, उपासना, विज्ञानम्।[५१] ज्ञानादिषु चतुर्ष्वेषु विरोधो न संलक्ष्यते। ज्ञानस्यार्थवत्ता कर्मणि मत्वा ऋषिवरदयानन्दः यजुर्वेदभाष्ये कथयति- **'न केवलेन कर्मणा न केवलेन ज्ञानेन च कश्चिदपि धर्मादिसिद्धिं कर्तुं समर्थो भवति।'**[५२] तस्य मते कर्मणा विना न ज्ञानस्य पूर्णत्वमवाप्नोति। यथा ऋग्वेदभाष्यभूमिकायाम्- नैतेन विना विद्याभ्यासज्ञाने अपि पूर्णे भवतः।[५३] अतः ऋषिवरदयानन्दस्य एषा महत्यवधारणा विद्यते यत् न केवलं षड्दर्शनेषु अपितु सम्पूर्णवैदिकवाङ्मये न कुत्रापि विरोधलवोऽपि दृश्यते।

(६) आर्षग्रन्थप्रामाण्यवादः

महर्षिणा दयानन्देन आर्षग्रन्थानाम् अध्ययनाय बहूनां ग्रन्थानां नामनिर्देशः कृतः। ते तु सत्यार्थप्रकाशस्य तृतीये समुल्लासे सुतरां द्रष्टुं शक्नुवन्ति। अत्रापि केषाञ्चित् ग्रन्थानां नामनिर्देशः क्रियते। यथा पाणिनेरष्टाध्यायी, पतञ्जले महाभाष्यम्- एतौ द्वौ ग्रन्थौ आर्षव्याकरणरूपे अध्येतव्यौ। व्याकरणमधीत्य यास्कमुनिकृते निघण्टुनिरुक्तशास्त्रेऽध्येतव्ये। पुनः षड्दर्शनानि यथासम्भवमृषिप्रणीतव्याख्यायुतानि अधीयीरन्। वेदानामध्ययनं सर्वैः त्रिपुरुषैः श्रद्धाविश्वासयुतैः करणीयम्। एषा वेदाज्ञा वर्तते- **'यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च।'**[५४] **'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।'**[५५] श्रौतसूत्रादिषु- **'इमं मन्त्रं पत्नी पठेत्'** इत्यादिना लिङ्गनिर्देशेन स्पष्टमेव विहितं यत् नार्योऽपि वेदानधीयीरन्। दयानन्दमते मूलसंहितानां चतुर्णां वेदानामेव वेदसंज्ञा विहिता। स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाशे स्वतः प्रमाणविषये लिखितम्- वेदा हि चत्वारः स्वतः प्रमाणभूता, न हि ते स्वप्रामाण्ये ग्रन्थान्तरमपेक्षन्ते। यथा हि- सूर्यप्रदीपादयः स्व-स्व-स्वरूपेण स्वतः प्रकाशकाः पृथिव्यादेश्च प्रकाशकास्तथैव चत्वारो वेदा अपि स्वतः प्रकाशकाः। ये च वेदचतुष्टयस्य ब्राह्मणग्रन्थाः (शतपथ-गोपथ-ऐतरेय-साम-प्रभृतयः) षडङ्गानि (शिक्षा-कल्प-व्याकरण-निरुक्त-छन्दो ज्योतींषि) षडुपाङ्गानि (न्याय-वैशेषिक-सांख्य-योग-मीमांसा-वेदान्त-

---

५१. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (वेदविषयविचारः)
५२. दयानन्दयजुर्वेदभाष्यम् ४०/१४
५३. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (वेदविषयविचारः)
५४. यजुर्वेदः २६/२
५५. अथर्ववेदः ११/५/१८

शास्त्राणि) उपवेदचतुष्टयम्, वेदव्याख्यानरूपं सप्तविंशत्युत्तरैकादशशतसंख्याकं (११२७) ब्रह्मादिमहर्षिप्रणीतं ग्रन्थजातं तदपि परतः प्रमाणम् अर्थात् वेदानुकूलांशरूपं प्रमाणं वेदविरुद्धञ्चाप्रमाणमिति।'[५६] वेदेषु सर्वे शब्दाः यौगिकाः सन्ति। तेषु न तु रूढिशब्दाः न च कस्यापि इतिहासो लभ्यते। यथा- 'नाम च धातुजमाह निरुक्ते.'[५७] दयानन्दः निरुक्तानुसारेण वेदार्थं करोति। स सर्वेषामेव मन्त्राणाम् आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकार्थान् मन्यते। महीधरादेः अश्लीलार्थम् इतिहासादिकं च श्रीमद्दयानन्दो नैव स्वीकरोति। वैदिकयज्ञेषु पशुहिंसामपि नैव मन्यते। वेदे एकेश्वरस्यैव पूजामर्चनां मन्यते। तद्विपरीतं विविधदेवानां मूर्तिपूजायाश्च समर्थनं न करोति। तस्य दर्शने अवतारवादस्य जन्मना वर्णव्यवस्थायाश्च नैव स्वीकरणम्। मृतकश्राद्धादिबाह्याडम्बरस्य अनौचित्यं प्रतिपादयता मनुना प्रतिपादितानां पञ्चमहायज्ञानामेव समर्थनं विधत्ते। यथा- 'अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्। होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥'[५८] एवं दयानन्दः मनुमहाराजेन वर्णितानां विधीनां समर्थनं करोति। सर्वासां विद्यानां वेदा एव आश्रयाः सन्ति। वेदानां पठनं पाठनं श्रवणं श्रावणञ्च सर्वेषामार्याणां परमो धर्मः। एवं दयानन्दस्यार्षग्रन्थप्रामाण्यवादेन भारतस्य दार्शनिकचिन्तने एका नवीना क्रान्तिरनुस्यूता, नात्र संशयः। तथा च महर्षेः दार्शनिकचिन्तनानुशीलनेन स्फुटमेतद् अवगम्यते यत् स क्रान्तदर्शी, निर्भीकः, निःस्वार्थः, धर्मपरायणः, नारीसम्मानसंवर्धकः, मूर्तिपूजा-अवतारवादादिदोषसंहारकः, आर्यजातिप्राणरूपः, भारतोन्नतिः साधकश्च महायोगी महापुरुषश्चासीत्।

५६. सत्यार्थप्रकाशः (स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाशः), पृ. ५६०
५७. महाभाष्यम् ३/३/१/१
५८. मनु. ३/७०

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०१० अङ्क १४ (पृ०१५३-१६०) ISSN 0974 – 8830

महर्षि दयानन्द सरस्वती के मत की पृष्ठभूमि में वेदों का स्वतः प्रामाण्य

डॉ० सुनीता जायसवाल[1]

वेद परमपिता परमात्मा की सर्वज्ञानमय वाणी है। महर्षि दयानन्द सरस्वती अखिल प्राचीन वाङ्मय के परमनिष्णात सुध्युपास्य हैं। प्रामाण्यवाद निखिलदर्शन शास्त्रों का निःसत्वभूत है। इन तीनों के एकल संमिलन की यह त्रिवेणी त्रिवेणी तट पर निश्चय ही विद्वज्जन के मनोमस्तिष्क को झंकृत करने में समर्थ होगी। विश्व की सर्वप्राचीन पुस्तक वेद, मध्यकाल के सम्पूर्ण दार्शनिकों की शेमुषी का निकषोपल प्रामाण्यवाद एवं आधुनिक भारत के निर्माताओं में अग्रगण्य अतुलित प्रतिभा के आगार महर्षि दयानन्द का बुद्धिवैभव एवं प्रचण्ड तार्किकता, इन तीनों का एकान्त सन्निवेश इस विषय वस्तु को हृदयङ्गम बनाकर लोकप्रियता की तरफ अग्रसर करेगी। इस मानसिकता के कारण प्रस्तुत विषय का चयन करने को मेरी प्रवृत्ति हुई है।

वेदों का स्वतः प्रामाण्य

१- प्रामाण्यवाद का परिचय

प्रामाण्य शब्द का अर्थ है प्रमाणों का भाव, प्रमाणपना। यह शब्द प्रमाण शब्द से 'ष्यञ्' प्रत्यय लगाकर बना है। तर्कशास्त्रियों का मत है कि लक्षण तथा प्रमाणों के द्वारा ही किसी तथ्य या वस्तु की सिद्धि की जाती है- **'लक्षणप्रमाणाभ्यां हि वस्तुसिद्धिः'**। अतः प्रमाण वह साधन है जिसके द्वारा किसी तथ्य, वस्तु या मन्तव्य आदि की सिद्धि की जाती है।

इस अर्थ को प्रकट करने के लिये प्रमाण शब्द की व्युत्पत्ति यह की गई है- **'प्रमाकरणं प्रमाणम्'**- प्रमा अर्थात् यथार्थ अनुभव का साधन प्रमाण कहलाता है। स्वामी दयानन्द ने इस अर्थ में प्रमाण शब्द का कई स्थलों पर प्रयोग किया है। सत्यार्थ प्रकाश में **'लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः'**[2] इस वचन को उद्धृत करते हुए वे कहते हैं-'लक्षण और प्रत्यक्षादि प्रमाण इनसे सब सत्यासत्य और पदार्थों का निर्णय हो जाता है। प्रमाण शब्द का दूसरा अर्थ हैं प्रमाणों से उत्पन्न होने वाला ज्ञान यथार्थ ज्ञान या वस्तु का दर्शन। स्वामी दयानन्द ने इस अर्थ में भी प्रमाण शब्द का व्यवहार किया है- **एवमष्टविधं दर्शनमर्थाज्ज्ञानं मया मन्यते।**[3] इस अवस्था में प्रमाण=प्रमा। प्रामाण्यवाद शब्द में जो प्रामाण्य शब्द आया है वह यथार्थ ज्ञान के समानार्थक, प्रमाण शब्द से बना है। अतः यहाँ प्रामाण्य का अर्थ है-ज्ञान का यथार्थ्य, ज्ञान का यथार्थ होना। वाद कहते हैं पारस्परिक-विचार या विचार-विमर्श को। इस प्रकार प्रामाण्यवाद का अभिप्राय है-ज्ञानों की यथार्थता का विचार। यथार्थता के साथ-साथ ही ज्ञानों की अयथार्थता का विचार भी किया जाता है। अतः कौन ज्ञान यथार्थ है? कौन ज्ञान यथार्थ नहीं है? और क्यों? इस प्रकार का विचार विमर्श ही भारतीय तर्कशास्त्र में प्रामाण्यवाद के नाम से प्रसिद्ध है।

इस प्रकार का विचार कब आरम्भ हुआ? यह निश्चित रूप से कहना कठिन है। उपलब्ध वाङ्मय के आधार

---

१. विभागाध्यक्षा-संस्कृत, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय चकिया, चन्दौली उ.प्र. २३२१०३
२ सत्यार्थप्रकाश, समु० ३, पृ० ८४ (९५)।
३ ऋग्वेदादि०, वेदविषय०, पृ० ३२४ (६१)।

पर इतना कहा जा सकता है कि न्यायसूत्र, उसके वात्स्यायन भाष्य तथा मीमांसा सूत्र एवं उसके शाबर भाष्य में इसके बीज विद्यमान हैं।[४] कुमारिल भट्ट ने श्लोकवार्तिक में प्रामाण्यवाद का विस्तृत विवेचन किया है।[५] और तदुत्तरवर्ती आचार्यों ने इसका सर्वाङ्गीण विशद विवेचन करने का प्रयास किया है। उदाहरणार्थ शान्तरक्षित एवं कमलशील जैसे बौद्ध आचार्यों ने तत्त्वसंग्रह तथा पंजिका में कुमारिल भट्ट के मत को उद्धृत करते हुए उसका खण्डन किया है तथा अन्य विविध मत उपस्थित करते हुए बौद्ध सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।[६] जयन्त भट्ट ने न्यायमंजरी में परिष्कृत गद्य में एतद्विषयक अन्य मतों की समीक्षा करते हुए न्याय-वैशेषिक के मत की स्थापना की है।[७] इसी प्रकार प्रभाचन्द्र जैसे जैन दार्शनिक ने अपने कई ग्रन्थों में इसकी विवेचना की है।[८] केशव मिश्र की तर्कभाषा[९] तथा धर्मराज अध्वरीन्द्र की वेदान्तपरिभाषा[१०] जैसे ग्रन्थों में इसका संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट निरूपण किया गया है। इस प्रकार उत्तरवर्ती भारतीय तर्कशास्त्र में प्रामाण्यवाद का एक विशिष्ट स्थान है।

२- प्रामाण्यवाद सम्बन्धी विविध मत

ज्ञानों की यथार्थता और अयथार्थता सम्बन्धी विचार ही प्रामाण्यवाद के नाम से प्रसिद्ध है। इसी सन्दर्भ में विविध दार्शनिक सम्प्रदायों ने अपने मतों की स्थापना की है। संक्षेप में भारतीय दर्शन में प्रामाण्य सम्बन्धी मन्तव्यों को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है[११] :

(क) प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों स्वतः। (सांख्य दर्शन) (ख) प्रामाण्य स्वतः अप्रामाण्य परतः। (मीमांसा तथा वेदान्त दर्शन)[१२] (ग) प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों परतः। (नैय्यायिक)[१३] (घ) प्रामाण्य परतः अप्रामाण्य स्वतः। (बौद्ध दर्शन)[१४] (ड.) प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों चित् स्वतः चित् परतः। (कमलशील बौद्ध विद्वान्)[१५]

३- वेद प्रामाण्य विरोधी मतों का निराकरण

वेद प्रमाण हैं या नहीं, इस विषय में चिरकाल से विवाद रहा है। एक ओर, मनु का उपदेश है

४ (क) प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत् प्रमाणम्। वात्स्यायन भाष्य, उपोद्घात। (ख) मीमांससूत्र १.१.५। (ग) शाबरभाष्य, मीमांस सूत्र १.१.२ तथा १.१.५।

५ मीमांसा श्लोकवार्तिक, १.१.२।

६ तत्त्वसंग्रह तथा पंजिका, कारिका २८१०-३१२२।

७ न्यायमंजरी (चौखम्बा, बनारस, १९३६) भाग १, पृ० १४८-१६०।

८ द्र०, न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० १९५-२०५।

९ तर्कभाषा, प्रामाण्यवाद।

१० वेदान्तपरिभाषा, सप्तम परिच्छेद।

११ मि० (क) सर्वदर्शनसंग्रह। (ख) जयन्त भट्ट, न्यायमंजरी, पृ० १४६।

१२ श्लोकवर्तिक, मीमांसा सूत्र, १.१.२। शास्त्रदीपिका (चौखम्बा बनारस, १९१३), पृ० ७४ तथा आगे।

१३ न्याय मंजरी, पृष्ठ १५७-१६०, केशवमिश्र, तर्कभाषा, प्रामाण्य।

१४ तत्त्वसंग्रहपञ्जिका, कारिका ३१२२।

१५ वही ३१२२

'धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः'।[१६] और वैदिक दर्शनों के आचार्य अनेक युक्तियों तथा प्रमाणों के आधार पर वेदों का प्रामाण्य सिद्ध करते हैं। दूसरी ओर, नास्तिक रूप में प्रसिद्ध विचारधाराओं में ही नहीं अपितु पूर्वपक्ष के रूप में वैदिक विचारधाराओं में भी वेद की प्रामाणिकता को चुनौती दी जाती रही है। सांख्यसूत्र, न्यायसूत्र तथा मीमांसासूत्र आदि में भी पूर्वपक्ष के रूप में वेदों के प्रामाण्य के विषय में शंका की गई है। निरुक्त में भी एक ऐसी विचारधारा का संकेत मिलता है, जिसमें मन्त्रों को अनर्थक माना जाता था। निरुक्त में इस मत को कौत्स के नाम से प्रस्तुत किया गया है और कतिपय युक्तियाँ भी दिखलाई गई हैं, जिनका निरुक्तकार ने निराकरण किया है।[१७] चार्वाक, बौद्ध तथा जैन दर्शन में तो वेद की प्रामाणिकता मानी ही नहीं गई। यह समझा जाता है कि ये तीनों मत बीभत्स कर्मकाण्ड की प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न हुए थे। इनके द्वारा वेदों का विरोध ही नहीं किया गया, खिल्ली उड़ाई गई है। वेद को प्रमाण मानने वालों की भरपेट निन्दा भी की गई है। स्वामी दयानन्द के समक्ष ये सभी विरोधी विचार उपस्थित थे। उन्होंने चार्वाक आदि के मतों की समीक्षा के अवसर पर उनके एतद्विषयक विचार दिखलाये हैं। चार्वाक आदि की युक्तियाँ आज पुरातन होकर भी नवीन समझी जाती हैं। उन्हें किसी न किसी रूप में वेदों के विरोध में दोहराया जाता है। चार्वाक मत का परिचय देते हुए स्वामी जी कहते हैं-कोई एक वृहस्पति नामा पुरुष हुआ था जो वेद, ईश्वर और यज्ञादि उत्तम कर्मों को भी नहीं मानता था।[१८] और **चार्वाकमतप्रचारक वृहस्पति** कहता है कि-अग्निहोत्र, तीन वेद, तीन दण्ड और भस्म का लगाना बुद्धि और पुरुषार्थ रहित पुरुषों ने जीविका बना ली है।[१९] जिन यज्ञ आदि को आज का युग परिश्रम से बचने वाले किन्तु विशिष्ट बुद्धि सम्पन्न ब्राह्मणों का दम्भ कहता है, जीविकोपार्जन का साधन बतलाता है, चार्वाकों ने उसे बुद्धिहीन और पुरुषार्थहीन जनों की जीविका कहा था।[२०]

चार्वाक के इस वचन के खण्डन में स्वामी जी कहते हैं-अग्निहोत्र आदि से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की सिद्धि होती है, उसको न जानकर वेद, ईश्वर और वेदोक्त धर्म की निन्दा करना धूर्तों का काम है।[२१] चार्वाकों की यह भी घोषणा थी कि तीनों वेदों के कर्ता भाण्ड, धूर्त और निशाचर हैं। क्यों? (१) जर्फरी, तुर्फरी आदि पण्डितों के धूर्ततायुक्त वचन हैं, (२) उस (घोड़े) के साथ समागम यजमान की स्त्री से कराना, कन्या से ठठ्ठा आदि लिखना धूर्तों के विना नहीं हो सकता। (३) और जो मांस का खाना लिखा है, वह वेदभाग राक्षस का बनाया है।[२२]

स्वामी जी ने चार्वाकों की युक्तियों का निराकरण करते हुए उनकी अविद्या तथा बुद्धिहीनता दिखलाई है। वे कहते हैं जो चारवाक आदि ने वेदादि सत्य शास्त्र देखे, सुने वा पढ़े होते तो वेदों की निन्दा कभी न करते।[२३] वे यह भी बतलाते हैं कि वेदों में निन्दनीय कर्मकाण्ड दिखलाना टीकाकारों का काम है-हाँ, भाण्ड, धूर्त, निशाचरवत् महीधरादि टीकाकार हुए हैं, उनकी धूर्तता है वेदों की नहीं।[२४] किन्तु उनके अर्थ को विना सोचे-समझे मान लेना भी तो बुद्धिहीनता

---

१६ मनुस्मृति, २.१२।
१७ निरुक्त, १.१५-२०
१८ सत्यार्थप्रकाश, समु० १२, पृ० ५४७ (६०९)
१९ वही, पृ० ५५० (६१२)
२० द्र०, सर्वदर्शनसंग्रह, चार्वाकदर्शन, पृ० ७
२१ सत्यार्थ प्रकाश, समु० १२, पृ० ५५० (६१३)
२२ द्र०, वही, पृ० ५५१-५५२ (६१४-६१५)
२३ वही, पृ० ५५३ (६१६)
२४ वही, पृ० ५५४ (६१७)

ही है- अत्यन्त शोक तो इन चारवाक आदि पर है, जो कि विना विचारे वेदों की निन्दा करने पर तत्पर हुए। तनिक तो अपनी बुद्धि से काम लेते।[२५] दयानन्द की दृष्टि में वेदों के ऐसे टीकाकार और विना समझे वेदों की निन्दा करने वाले ये दोनों ही पाप के भागी हैं।[२६] वे यह भली-भांति अनुभव करते हैं कि सामाजिक एवं ऐतिहासिक परिस्थितियों की विषमता में ही कुछ भले लोग भी नासमझ हो गए थे और वेदों की निन्दा करने लगे थे। वाममार्गी जनों ने अपने निन्दनीय कर्मों को भी वेद के आधार पर धर्म बतलाया और वेदों को कलंक लगाया। इन्हीं बातों को देखकर चारवाक, बौद्ध और जैन लोग वेदों की निन्दा करने लगे और पृथक् एक वेदविरुद्ध अनीश्वरवादी अर्थात् नास्तिक मत चला लिया।[२७]

स्वामी दयानन्द ने जैन और बौद्ध की वेद-विरोधी युक्तियों की पृथक् से समीक्षा नहीं की। उनका कथन है- नास्तिकता-वेद-ईश्वर की निन्दा, परमतद्वेष, ... जगत् का कर्ता कोई नहीं, इत्यादि बातों में सब एक ही है।[२८] इसीलिये स्वामी जी ने जो चार्वाक की वेद विरोधी युक्तियों का निराकरण किया है, उसी से अन्य मतों की युक्तियों का भी निराकरण समझा जा सकता है। वे इसी सन्दर्भ में बौद्ध, जैन आदि का भी कई बार उल्लेख करते दिखलाई देते हैं। वे वेदों की निन्दा करने वाले सभी मतों के प्रति क्षोभ प्रकट करते हुए यही कहते हैं-शोक है चारवाक, आभाणक, बौद्ध और जैनियों पर कि इन्होंने मूल चार वेदों की संहिताओं को भी न सुना, न देखा और न किसी विद्वान् से पढ़ा। इसीलिये नष्ट-भ्रष्ट बुद्धि होकर ऊटपटांग वेदों की निन्दा करने लगे।[२९] बौद्ध और जैन मत के ग्रन्थों में वेदों की प्रामाणिकता का खण्डन करने के लिये अनेक युक्तियाँ दी गई है। वेदों की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिये उनका निराकरण करना भी अपेक्षित है।

४- वेद-प्रामाण्य-विषयक विविध मत

यह तो रही वेदों की प्रमाण न मानने वाले या वेद-निन्दक मतों की बात। जो दार्शनिक सम्प्रदाय वेद के अनुयायी माने जाते हैं, वेद को प्रमाण मानते हैं, वे भी वेदों के स्वतः प्रामाण्य और परतः प्रामाण्य के विषय में मतभेद रखते दृष्टिगोचर होते हैं, किन्तु स्वामी दयानन्द तो सभी वैदिक दर्शनों का समन्वय करते हैं उनमें परस्पर कोई वैमत्य नहीं देखते, अतः उन्होंने समन्वयवादी दृष्टि से सभी का ऐकमत्य दिखलाया है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में वेदनित्यता के सन्दर्भ में वे प्रायः सभी वैदिक दर्शनों के एतद्विषयक मतों का उल्लेख करते हैं।

इस सन्दर्भ में स्वामी जी ने जैमिनि मुनि के अनुसार केवल वेदों की नित्यता का ही उल्लेख किया है।[३०] मीमांसा दर्शन में वेदों का प्रामाण्य किस आधार पर माना गया है? और किस प्रकार वेदों को स्वतः प्रमाण कहा जाता है? इसका विवेचन यहाँ नहीं किया गया। वैशेषिक दर्शन का मत दिखलाते हुए **तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्**[३१] यह वैशेषिक सूत्र उद्धृत करके इसकी व्याख्या में कहा है-उन दोनों धर्म और ईश्वर का निरूपण करने से अर्थात् धर्म का ही

---

२५ द्र०, वही, पृ० ५५४ (६१७) क्रमश २
२६ वही, पृ० ५५४ (६१८)
२७ वही, पृ० ५५३ (६१७)
२८ ऋग्वेदादि०, वेदनित्यत्व, पृ० २९६ (३५-३६)।
२९ वैशेषिकसूत्र, १.१.३
३० ऋग्वेदादि०, वेदनित्यत्व, पृ० २९७ सं० (३६)।
३१ न्याय सूत्र, २.१.१९९९

कर्तव्य रूप में प्रतिपादन करने से तथा ईश्वरोक्त होने से आम्नाय-वेदचतुष्टय का प्रामाण्य सबको सदा स्वीकार करना चाहिये।[३२] इस प्रकार वेदों को प्रमाण क्यों माना जाये? इस विषय में वैशेषिक की ओर से यहाँ दो युक्तियाँ दी गई हैं- एक यह कि वेद धर्म का प्रतिपादन करते हैं, दूसरी यह कि वे ईश्वरोक्त हैं।

वेद क्यों प्रामाणिक हैं? इस विषय में गौतम मुनि ने कहा है- **मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्**।[३३] अर्थात् मन्त्र और आयुर्वेद के प्रामाण्य के समान उस (वेद) का भी प्रामाण्य है, आप्तों का प्रामाण्य होने से। इसकी व्याख्या करते हुए स्वामी जी कहते हैं-इसका यह अर्थ है:-उन नित्य तथा ईश्वरोक्त वेदों का प्रामाण्य सबको स्वीकार करना चाहिये। क्यों? आप्तों का प्रामाण्य होने से, क्योंकि धर्मात्मा, कपट-छल आदि दोषरहित, दयालु, सत्य का उपदेश करने वाले विद्यापारंगत, महायोगी सभी ब्रह्मा आदि आप्तों ने वेदों का प्रामाण्य स्वीकार किया है। किस प्रकार? मन्त्र, आयुर्वेद के प्रामाण्य के समान, जैसे सत्यपदार्थों के प्रकाशक मन्त्रों अर्थात् विचारों की सत्य होने से प्रामाणिकता होती है। और जैसे आयुर्वेद के एक भाग में कहे गये औषध के सेवन से रोग की निवृत्ति हो जाने के कारण उसके दूसरे भाग की भी प्रामाणिकता मानी जाती है। उसी प्रकार वेदोक्त अर्थ के एक भाग का प्रत्यक्ष हो जाने से अन्य जो वेदभाग है, जिसके अर्थ का प्रत्यक्ष नहीं हुआ है, उसका भी प्रामाण्य स्वीकार करना चाहिये।[३४] स्वामी जी की इस व्याख्या में वात्स्यायनभाष्य की अपेक्षा कुछ भिन्नता सी प्रतीत होती है। सम्भवतः यहाँ स्वामी जी ने **'ईश्वरोक्तानाम्'** पद वेदों की नित्यता का बोध कराने के लिये जोड़ दिया है, क्योंकि यह वेदनित्यता का ही प्रकरण है। **'आप्तप्रामाण्यात्'** शब्द की व्याख्या स्वामी जी की अपनी प्रतीत होती है, जिसका भाव है-क्योंकि आप्तों ने वेदों का प्रामाण्य स्वीकार किया है, अतः सभी को इनका प्रामाण्य स्वीकार करना चाहिये। उनकी अग्रिम व्याख्या से तथा हिन्दी अर्थ से भी यही भाव प्रकट होता है।[३५]

इस सूत्र के भाष्य का कुछ अंश भी स्वामी जी ने उद्धृत किया है। उसका आशय यह है-द्रष्टा और प्रवक्ता की समानता होने से वेद के प्रामाण्य का अनुमान होता है, जो आप्तजन वेद के अर्थ के द्रष्टा तथा प्रवक्ता हैं वे ही आयुर्वेद आदि के (प्रवक्ता) हैं। इसलिये आयुर्वेद आदि के समान वेदों के प्रामाण्य का भी अनुमान कर लेना चाहिये।[३६] अन्त में न्याय के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए स्वामी जी कहते हैं-'जिस प्रकार आप्तों द्वारा उपदिष्ट शब्द प्रमाण होता है उसी प्रकार सर्वथा आप्त जो परमेश्वर है, उसके द्वारा उपदिष्ट वेदों को सब आप्त पुरुषों ने प्रमाण माना है, अतः वेद प्रमाण हैं, यह जानना चाहिये।[३७]

न्याय-वैशेषिक की दृष्टि से आप्तवचन होने से ही कोई शब्द प्रमाण होता है। वेद ईश्वरोक्त हैं और ईश्वर तो परम आप्त हैं, अतः वेद प्रमाण हैं, जैसा कि वात्स्यायन मुनि ने कई बार कहा है, वेदों के प्रामाण्य का अनुमान किया जाता है। अनुमान का प्रकार है-वेद प्रमाण हैं, क्योंकि वे परम आप्त ईश्वर के वचन हैं।[३८]

---

३२ ऋग्वेदादि०, वेदनित्यत्व, पृ० २९८ सं० (३७)।
३३ द्र०, वही पृ० २९८, २९९ (३७, ३८)।
३४ वही, पृ० २९८ सं० (३७)।
३५ वही पृ० २९८ सं० (३७)।
३६ द्र०, वात्स्यायनभाष्य, न्यायसूत्र, २.१.६९
३७ योगसूत्र, १.२६
३८ वहीं, १.२४, १.२५

योग में भी इसी प्रकार वेदों का प्रामाण्य स्वीकारा गया है। योग के **'स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्**[३९] इस सूत्र को उद्धृत करते हुए स्वामी दयानन्द ने इसकी व्याख्या की है और वेद की नित्यता दिखलाई है। साथ ही योग के ईश्वरविषयक दो अन्य सूत्रों[४०] का आधार लेकर योग की दृष्टि में वेद के प्रामाण्य का निरूपण किया है। उनका कथन है-वह (ईश्वर) अविद्या आदि क्लेशों से और पापकर्म तथा उनकी वासनाओं के भोगों से अलग है, जिसमें अनन्त विज्ञान सर्वदा एकरस बना रहता है। उसी के रचे वेदों का भी सत्यार्थपना और नित्यपना भी निश्चित है, ऐसा ही सब मनुष्यों को जानना चाहिये।[४१] यहाँ भी वेदों के प्रामाण्य (सत्यार्थपना) में दो हेतु स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं :- एक ईश्वर का क्लेश आदि दोषों से अलग होना और दूसरा उसमें नित्य निरतिशय ज्ञान होना। व्यासभाष्य आदि के अनुशीलन से भी यही विदित होता है कि ईश्वरीय ज्ञान होने से ही शास्त्र प्रमाण है।[४२]

सांख्य का मत दिखलाते हुए दयानन्द ने **'निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्'**[४३] यह सांख्यसूत्र उद्धृत किया है। और कहा है-'इसका अर्थ है निजशक्ति से अभिव्यक्त होने से अर्थात् पुरुष (परमेश्वर) के साथ रहने वाली प्रकृति के सामर्थ्य से प्रकट होने के कारण वेदों का स्वतः प्रामाण्य तथा नित्यत्व स्वीकार करना चाहिये।[४४] यहाँ यह स्पष्ट है कि सांख्य की दृष्टि में वेदों का स्वतः प्रामाण्य है। उसमें हेतु है **'निजशक्त्यभिव्यक्तेः'**। सांख्यसूत्र के इस पद की व्याख्याकारों ने विभिन्न व्याख्याएँ की हैं। दयानन्द की उपर्युक्त व्याख्या के साथ उन व्याख्याओं का तुलनात्मक अध्ययन करने से सांख्य का एतद्विषयक मन्तव्य स्पष्ट हो सकता है।

वेदान्तशास्त्र का मत दिखलाते हुए स्वामी जी ने वेदान्त के दो सूत्र उद्धृत किये हैं।[४५] उन्होंने अपनी व्याख्या में बतलाया है-**ईश्वरोक्तत्वात् नित्यधर्मकत्वाद् वेदानां स्वतः प्रामाण्यम्**[४६] अर्थात् ईश्वरोक्त होने से तथा नित्य होने से वेदों का स्वतः प्रामाण्य (सभी को मानना चाहिये)। इससे स्पष्ट है कि वेद स्वतः प्रमाण हैं, क्योंकि वे ईश्वरोक्त हैं और नित्य हैं। यह विचारणीय है कि नित्य होने से वेद प्रमाण है, क्या ऐसा वेदान्त सम्प्रदाय का अभिमत है।

इस प्रकार स्वामी दयानन्द ने वेदनित्यता के सन्दर्भ में विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों की दृष्टि से वेदों के प्रामाण्यविषयक मन्तव्यों को भी प्रकट किया है। साथ ही उन्होंने अपना मन्तव्य भी स्पष्टतः दिखलाया है। उनका मन्तव्य है :-

५- वेद स्वतः प्रमाण

ग्रन्थों के प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य पर विचार करते हुए दयानन्द कहते हैं :- **ये स्वतः प्रमाणभूता मन्त्रभागसंहिताख्याश्चत्वारो वेदा उक्ताः**[४७] अर्थात् जो स्वतः प्रमाण मन्त्रसंहिता नामक चार वेद कहे गये हैं।

---

३९ ऋग्वेदादि०, वेदनित्यत्व, पृ० ३०० (३८)।
४० द्र०, व्यासभाष्य, योगसूत्र, १.२४
४१ सांख्यसूत्र, ५.५१
४२ ऋग्वेदादि०, वेदनित्यत्व, पृ० ३०० स० (३८)।
४३ शास्त्रयोनित्वात्: ब्रह्मसूत्र १.१.३ अत एव च नित्यत्वम्, वहीं, १.३.२९।
४४ ऋग्वेदादि०, वेदनित्यत्व, पृ० ३०० (३९)।
४५ वही, ग्रन्थप्रामाण्य, पृ० ६०१ (३११)।
४६ स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश, २
४७ वही, २

स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश में वे लिखते हैं-'**चारों वेदों (विद्याधर्मयुक्त ईश्वर-प्रणीत संहिता मन्त्रभाग) को निर्भ्रान्त स्वतः प्रमाण मानता हूँ।**'[४८] इन वचनों से स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में वेद स्वतः प्रमाण हैं।

स्वामी जी ने यह भी दिखलाया है कि वेदों के स्वतः प्रामाण्य से क्या अभिप्राय है-वे स्वयं प्रमाण रूप हैं कि जिनका प्रमाण होने में किसी अन्य ग्रन्थ की अपेक्षा नहीं, जैसे सूर्य वा प्रदीप अपने स्वरूप के स्वतः प्रकाशक और पृथिव्यादि के भी प्रकाशक होते हैं, वैसे चारों वेद हैं।[४९] जैसा कि ज्ञानों के प्रामाण्य पर विचार करते हुए ऊपर दिखलाया गया है, प्रामाण्य के निश्चय के लिये अन्य साधन की अपेक्षा न रखना ही स्वतः प्रामाण्य है। वह स्वतः प्रामाण्य वेदों में भी विद्यमान है। स्वामी जी ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में इसी भाव को कई स्थलों पर स्पष्ट किया है। वेदनित्यता के सन्दर्भ में वे कहते हैं- वेद के प्रामाण्य की सिद्धि के लिये अन्य प्रमाण का ग्रहण नहीं किया जाता, किन्तु अन्य शास्त्रों के प्रमाणों को साक्षी के समान समझना चाहिये, क्योंकि वेद स्वतः प्रमाण हैं। सूर्य के समान, जैसे सूर्य स्वयं प्रकाशित होता हुआ संसार के बड़े या छोटे पर्वत आदि से लेकर त्रसरेणु पर्यन्त पदार्थों को प्रकाशित करता है।[५०] यही भाव ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्य के प्रसङ्ग में भी प्रकट किया गया है। वहाँ सूर्य के साथ-साथ प्रदीप का दृष्टान्त दिया गया है और अपने मन्तव्य को दृढ़तापूर्वक इन शब्दों में प्रस्तुत किया गया है-**तत्र वेदेषु वेदानामेव प्रामाण्यं स्वीकार्यम्, सूर्यप्रदीपवत्।**[५१] -वेदों में वेदों का ही प्रामाण्य स्वीकार करना चाहिये, सूर्य और प्रदीप के समान। सूर्य और प्रदीप के दृष्टान्त से स्वामी जी दो तथ्यों को प्रकट करते हैं। एक यह कि वेद स्वयं प्रकाश हैं, उनके प्रकाश के लिये अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं और दूसरा यह कि वे अन्य सभी विद्याओं के प्रकाशक हैं।[५२] वेदों को स्वतः प्रमाण मानने में हेतु है- उनका भ्रान्तिरहित होना। जैसा कि उपर्युक्त स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश के वचन से विदित होता है, स्वामी जी के मत में चारों वेद निर्भ्रान्त हैं, अतः स्वतः प्रमाण हैं। कुछ प्रसङ्गों से ऐसा भी प्रतीत होता है कि स्वामी जी ईश्वरोक्त होने से वेदों को स्वतः प्रमाण मानते हैं, किन्तु यदि ईश्वरोक्त होने से वेदों को प्रमाण माना जाय तो वे स्वतः प्रमाण कैसे हो सकते हैं? फिर तो उनका प्रामाण्य आप्तोक्त होने के कारण ही होगा और नैयायिक के समान परतः प्रामाण्य ही होगा। अतः वेद निर्भ्रान्त होने से स्वतः प्रमाण हैं, यह स्वामी जी का मन्तव्य प्रतीत होता है।

ठीक है, कि कुछ सन्दर्भों में स्वामी जी ने ईश्वरोक्त होने से या नित्य होने से वेदों को स्वतः प्रमाण बतलाया है, जैसे वेदनित्यता के प्रसङ्ग में वे कहते हैं-**अतः ईश्वरोक्तत्वान्नित्यधर्मकत्वाद् वेदानां स्वतः प्रामाण्यम्**[५३]-इसलिये ईश्वरोक्त होने से तथा नित्य होने से वेद स्वतः प्रमाण हैं। ऐसे सन्दर्भों में यह मानना युक्तियुक्त है कि स्वामी जी वेदों के स्वतः प्रामाण्य के हेतु का हेतु बतला रहे हैं। भाव यह है कि वेदों का स्वतः प्रामाण्य तो निर्भ्रान्त होने के कारण है, और वेद निर्भ्रान्त हैं, इसमे दो हेतु हैं- एक तो उनका ईश्वरोक्त होना और दूसरा नित्य होना।

वैदिक दर्शनों में परस्पर मतभेद है, इस दृष्टि के आधार पर ऐसा समझ लिया जाता है कि न्याय-मत में वेद आप्तोक्त होने से प्रमाण हैं, अतः उनका प्रामाण्य परतोग्राह्य है, और पूर्वमीमांसा के अनुसार वेद नित्य हैं, अपौरुषेय होने

---

४८ ऋग्वेदादि०, वेदनित्यत्व, पृ० ३०१ सं० (३९)।
४९ वही, ग्रन्थप्रामाण्य, पृ० ६०१ (३११)।
५० तथैव वेदाः स्वप्रकाशेनैव प्रकाशिताः सन्तः सर्वानन्यविद्याग्रन्थान् प्रकाशयन्ति। वहीं, पृ० ६०१ (३११)।
५१ वही, वेदनित्यत्व, पृ० ३०० (३९)।
५२ वही, ग्रन्थप्रामाण्य०, पृ० ६०१ स० (३११)।
५३ स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश, २

से दोष रहित हैं, अतः उनका प्रामाण्य स्वतः सिद्ध है, किन्तु ऋषि दयानन्द तो षड्दर्शन का समन्वय करते हैं। उनकी पैनी दृष्टि में षड्दर्शन में मतभेद नहीं है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में भी उन्होंने इसी दृष्टि से समन्वय किया है। उनकी दृष्टि में नैयायिक भी ईश्वरोक्त होने से वेदों की निर्दोषता सिद्ध करता है, वस्तुतः वेद निर्दोष होने से ही प्रमाण हैं। अपने अभिमत को स्पष्ट करते हुए दयानन्द कहते हैं-जो ईश्वरोक्त ग्रन्थ हैं, उन्हें स्वतः प्रमाण मानना उचित है, जो जीवोक्त हैं, वे परतः प्रमाण के योग्य हैं। ईश्वरोक्त होने से चारों वेद स्वतः प्रमाण हैं। क्यों? ईश्वर की वाणी में भ्रम आदि दोष नहीं हो सकते, वह तो सर्वज्ञ, सर्वविद्यायुक्त तथा सर्वशक्तिमान् है।[५४] इस प्रकार दयानन्द की दृष्टि में ईश्वरोक्त तथा नित्य होने से वेद भ्रमादि दोष रहित हैं। अतः स्वतः प्रमाण हैं। वेद ईश्वरोक्त होने पर भी नित्य किस प्रकार है, इसका ऊपर विवेचन किया जा चुका है। न्याय तथा वेदान्त के ग्रन्थों में इस विषय का विशद निरूपण उपलब्ध होता है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि न्याय और मीमांसा में जो वेदों के प्रामाण्य के विषय में मतभेद दृष्टिगोचर होता है। वहाँ दृष्टिमात्र का ही भेद है, तथ्य का भेद नहीं। न्यायमत में गुणों को प्रामाण्य का निमित्त माना गया है। यहाँ आप्तोक्त या ईश्वरोक्त होने से यह सिद्ध किया जाता है कि आप्तजन पदार्थों का साक्षात्कार करके प्राणियों पर दयादृष्टि रखते हुए उनके हित-प्राप्ति तथा अहितपरिहार के उपायों का उपदेश करते हैं। इस प्रकार आप्तोक्त होने से किसी वचन में यथार्थता गुण का समावेश हो जाता है और वह प्रमाण होता हैं। मीमांसा की दृष्टि में कोई भी ज्ञान या वचन प्रमाण होता है, यदि उसमें दोष न हो। यदि किसी वचन में वक्ता कोई पुरुष होता है तो उसमें दोषों की आशंका हो सकती है। दोषाभाव से ही कोई वचन प्रमाण हुआ करता है। वेद तो नित्य हैं किसी ने उन्हें नहीं बनाया, वेद अपौरुषेय हैं, अतः उनमें पुरुषकृत दोषों की शंका भी नहीं हो सकती। दोषरहित होने से वेद प्रमाण हैं। दोषरहित होना प्रामाण्य का निमित्त तो है, किन्तु वह तो अभावरूप है, भावरूप नहीं। और जहाँ प्रामाण्य के निश्चय के लिये ज्ञानग्राहक सामग्री से भिन्न किसी भावरूप साधन की अपेक्षा नहीं होती, वहाँ ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य माना जाता है। अतः मीमांसक के मत में वेद स्वतः प्रमाण हैं। दयानन्द ने इस मन्तव्य को अत्यधिक स्पष्ट शब्दों में कहा है-**वे स्वयं प्रमाणरूप हैं कि जिनका प्रमाण होने में किसी अन्य ग्रन्थ की अपेक्षा नहीं।**[५५]

वेदों को स्वतः प्रमाण मानते हुए स्वामी जी ने अन्य कुछ ग्रन्थों को परतः प्रमाण माना है और कतिपय ग्रन्थों का प्रामाण्य स्वीकार ही नहीं किया।[५६] महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपनी प्रचण्ड तार्किक शक्ति के बल पर वेद विरोधियों तथा वेदों के स्वतः प्रामाण्य के विरोधियों के आक्षेपों का निराकरण करते हुए भारतीय दर्शन के अन्तर्गत उपलब्ध वेद के स्वतः प्रामाण्य और परतः प्रामाण्य सम्बन्धी मतों का अद्भुत समन्वय प्रस्तुत करते हुए अपनी नवीन रीति से वेद के स्वतः प्रामाण्य की पताका फहराई है।

---

५४ ऋग्वेदादि०, ग्रन्थप्रामाण्य, पृ० ६०४ सं० (३१५) वही० पृ० ६०३ सं० (३१४)। वही, पृ० ६०१ (३११)।
५५ वही० पृ० ६०१ (३११)। ये ग्रन्था वेदविरोधिनों वर्तन्तें, नैव तेषां प्रामाण्यं स्वीकर्तुं योग्यमस्ति।
५६ वही, पृ० ६०१ (३११)।

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०१० अङ्क १४ (पृ० १६१-१७३) ISSN 0974 – 8830

वर्णध्वनि-विज्ञान : एक परिचय

डॉ० ब्रह्मदेव[१]

वर्णध्वनि परिज्ञान की प्राचीनपरम्परा

भारतीय समाज में प्राचीन काल से ही माता, पिता या अध्यापकों से अपेक्षा रही है कि वे बाल्यावस्था में ही बालक को वर्ण-ध्वनि-विज्ञान अर्थात् कौन सा वर्ण कैसे और किस स्थान विशेष से उच्चरित होता है, उसका प्रयत्न क्या है, उसके बोलने में कितना समय लगेगा आदि से परिचित करा देने की परम्परा रही है, जिससे वह आजीवन शुद्ध भाषा का प्रयोग करे। संस्कृत भाषा में शिक्षाग्रन्थों (वर्णोच्चारण के लिए संस्कृत के प्रसिद्ध वैज्ञानिक ग्रन्थ) की रचना इसी उद्देश्य से हुई, जिन के द्वारा शैशवकाल में ही बच्चों को वर्णों के उच्चारण स्थान आदि का अभ्यास करवा दिया जाता था, क्योंकि प्रौढ अवस्था होने पर लाख प्रयत्न करने पर भी जिह्वा में वह लचक नहीं आती, जिसकी वर्ण को शुद्ध बोलने में आवश्यकता होती है। हिन्दी भाषा पूर्णरूपेण संस्कृत का ही अनुगमन करती है, अतः यहाँ भी वे ही वर्णध्वनियाँ हैं। आजकल शिक्षाग्रन्थों, जिनमें वर्णध्वनिविज्ञान का पूर्ण विवेचन है, का पठन-पाठन शैशवकाल में प्रायः संस्कृतजगत् में भी नहीं है तो हिन्दी में कहाँ होगा? इसीलिए जिस स्थान विशेष का व्यक्ति रहने वाला है, वहाँ की बोली का प्रभाव उसके उच्चारण में संस्कृत आदि किसी भी भाषा के बोलने पर भी स्पष्टतः परिलक्षित होता है। आज का छात्र ही नहीं, अपितु बड़े-बड़े शिक्षक भी सामान्य बोलचाल की भाषा हिन्दी के बोलने और लिखने में भी सैंकड़ों अशुद्धियाँ करते हैं। ह्रस्व या दीर्घ मात्राओं की तो प्रायः अशुद्धियाँ सर्वत्र देखी ही जाती हैं, अपितु ऐसे शब्द भी गलत लिखे दिखाई देते हैं, जिनमें इकार आदि की मात्रायें नहीं हैं। यथा- कृपया को कृप्या, उज्ज्वल को उज्ज्वल, पूजनीय को पूज्यनीय, आशीर्वाद को आर्शीवाद के रूप में अशुद्ध लिखा और बोला जाता है। ऐसे ही त्रिविध श ष स के उच्चारण और लिखने में भी प्रायः अशुद्धियाँ देखी जाती हैं। प्रयोगकर्ता नहीं जानता किञ्चित् व्यञ्जनध्वनि के बदलने मात्र से ही शब्द का दूसरा अर्थ हो गया है, वह अभीष्ट अर्थ को नहीं कह रहा है या प्रयोग किया जा रहा शब्द निरर्थक हो गया है। यथा- **शकल** शब्द **टुकड़ा** अथवा **खण्ड** अर्थ को कहता है और **सकल** शब्द समस्त अर्थ को। **शंकर** शब्द का अर्थ **कल्याण करने वाला** है तो **संकर** का **सम्मिश्रण** या **मिलावट**। यहाँ उद्धृत शब्दों के आरम्भ में क्रमशः तालु और दन्त्य ध्वनि है, ध्वनि परिवर्तन मात्र से अर्थ कितना बदल गया है, यह ध्यातव्य है। ऐसे ही **शश** शब्द **खरगोश** का वाचक है तो ध्वनि परिवर्तन के बाद हलन्त के साथ **षष्** शब्द संख्यावाची **छः** का वाचक हो जाता है या उसी को मूर्धन्य ध्वनि के साथ कोई **षष्** बोल रहा है तो वह निरर्थक बोल रहा होता है। **पलाश ढाक के पेड़** का वाचक शब्द है, परन्तु वही मूर्धन्य ष के साथ **पलाष** रूप में प्रयुक्त हुआ निरर्थक हो जाता है, परन्तु प्रायः इस पर ध्यान नहीं दिया जा रहा। संयुक्त वर्णों क्ष, त्र, ज्ञ, द्ध, द्य, ह्म इत्यादि के प्रयोग में भी प्रायः नहीं जानते कि किन-किन वर्णों का यहाँ संयोग है अथवा कौन सा शुद्ध व्यञ्जन वर्ण है और कौन सा स्वर के साथ प्रयुक्त। इनका मिले हुए वर्णों के अनुकूल उच्चारण सर्वत्र देश में एक सदृश नहीं है, उसमें भेद है। अतः एक शुद्ध है और दूसरा अशुद्ध। **ज्ञ** को ही ले लीजिए, यह **ज्+ञ्+अ** तीन वर्णों के संयोग से बना है। इन्हें एक साथ बोलेंगे तो क्या हम जो कुछ बोल रहे हैं वह उचित है? परन्तु

---

१. उपाचार्य, गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

ध्यान कोई नहीं दे रहा है। संस्कृत के स्नातक (बी. ए) एवं स्नातकोत्तर (एम. ए.) के छात्रों को पढ़ाते हुए भी यही समस्यायें आयीं तो विचार करने पर अनुभव किया कि बचपन में वर्णध्वनि का उचित परिज्ञान न करवाना इसमें मूलकारण है, क्योंकि मातृभाषा हिन्दी होने और बाजार में उपलब्ध वर्णमाला का ज्ञान करवाने के लिए अनेक पुस्तकों के होते हुए भी वे मात्र लिपि का ज्ञान करवाने वाली ही हैं, वे पूर्णता लिए हुए नहीं हैं, वर्णध्वनि के विषय में तो वे सर्वथा मौन हैं, अतः गलतियाँ होना स्वाभाविक है। इसका निराकरण संस्कृत की प्राच्यपरम्परा में दिखाई देता है। वाल्मीकिरामायण आदि ग्रन्थों में भी शिक्षाशास्त्र के अनुसार ही उच्चारण आदि की परम्परा के संकेत मिलते हैं।[२] पुरातन शिक्षा-पद्धति में जैसे ही शिशु बोलना शुरु करता था, माता उसे शिक्षाशास्त्र के माध्यम से **वर्णोच्चारण** अर्थात् **वर्णध्वनि-विज्ञान** की शिक्षा देती थी। माता के ऐसा न कर पाने पर पिता का यह कर्त्तव्य होता था और वह भी यदि किसी कारणवश यह शिक्षा नहीं दे पाता था तो आचार्य यह दायित्व गुरुकुल में पूर्ण करता था।[३] इसी को पुष्ट करने वाला महर्षि दयानन्द का एक वक्तव्य यहाँ उद्धृत करना उचित होगा, वे संस्कारविधि के वेदारम्भप्रकरण में लिखते हैं- यदि **घर में वर्णोच्चारण की शिक्षा यथावत् न हुई हो तो आचार्य बालकों को और कन्याओं को स्त्री, पाणिनिमुनिकृत वर्णोच्चारणशिक्षा एक महीने के भीतर पढ़ा देवें।**[४] अपने अमरग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय समुल्लास में शिशुओं की शिक्षा के विषय में भी दयानन्द लिखते हैं- **बालकों को माता सदा उत्तम शिक्षा करे, जिससे सन्तान सभ्य हों और किसी अंग से कुचेष्टा न करने पावें। जब बोलने लगे तब उसकी माता बालक की जिह्वा जिस प्रकार कोमल होकर स्पष्ट उच्चारण कर सके वैसा उपाय करे कि जो जिस वर्ण का स्थान, प्रयत्न अर्थात् जैसे प इसका ओष्ठ स्थान और स्पृष्ट प्रयत्न दोनों ओष्ठों को मिला कर बोलना, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत अक्षरों को ठीक-ठीक बोल सकना। मधुर, गम्भीर, सुन्दर स्वर, अक्षर, मात्रा, पद, वाक्य, संहिता, अवसान भिन्न-भिन्न श्रवण होवे।**[५] इसीप्रकार तृतीय समुल्लास में वर्णित हुई पठनपाठनविधि में भी लिखते हैं- **प्रथम पाणिनिमुनिकृतशिक्षा जो कि सूत्ररूप है, उसको रीति अर्थात् इस अक्षर का यह स्थान, यह प्रयत्न, यह करण है। जैसे प इसका ओष्ठ स्थान, स्पृष्ट प्रयत्न और प्राण तथा जीभ की क्रिया करनी करण कहाता है। इसी प्रकार यथायोग्य सब अक्षरों का उच्चारण माता, पिता, आचार्य सिखलावें**[६] परन्तु यह परम्परा इस समय क्षीण प्रायः हो गई है। भाषा के वैशिष्ट्य को प्रायः सभी ने भुला दिया है। विडम्बना यह है कि हिन्दी भारत की राष्ट्रिय भाषा होते हुए भी हिन्दीभाषी क्षेत्रों में भी ठीक से उसके वर्णों का उच्चारण करने वाला ढूँढने पर ही शायद मिले! इसका कारण है- वर्णों के उच्चारण के स्थान तथा ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत अक्षर, जो काल के निर्धारक होते हैं, आदि की ध्वनि का सही परिज्ञान विद्यालयों में नहीं करवाया जाता। हिन्दी और संस्कृत ऐसी भाषायें हैं जिनमें जैसा बोला जाता है वैसा ही लिखा जाता है। जैसा लिखा हुआ होता है वैसा ही बोला जाता है, परन्तु अंग्रेजी भाषा ऐसी नहीं है, जबकि आजकल गलतियाँ हिन्दी के बोलने और लिखने में अधिक देखी जाती हैं, अंग्रेजी में

---

२. वाल्मीकिरामायण १.१४.८ ऋष्यशृङ्गादयो मन्त्रैः शिक्षाक्षरसमन्वितैः। २.९१.२२, शिक्षास्वरसमायुक्तं सुव्रतश्चाब्रवीन्मुनिः।।

३. प्राचीन काल में यदि शिक्षाशास्त्र के अध्ययन अध्यापन की ऐसी व्यवस्था नहीं होती तो निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि संस्कृत भाषा की वर्णध्वनियों को जानने और इसके ग्रन्थों को भी समझने वाला शायद इस समय कोई न होता।

४. दयानन्दग्रन्थमाला (द्वितीय-खण्ड) के अन्तर्गत संस्कारविधि, वेदारम्भप्रकरण, पृ० ९८, निर्वाण-शताब्दी- संस्करण १९८३, श्रीमती परोपकारिणी सभा, अजमेर

५. दयानन्दग्रन्थमाला (प्रथम-खण्ड) के अन्तर्गत सत्यार्थप्रकाश, द्वितीय समुल्लास, पृ० २९, निर्वाण-शताब्दी- संस्करण १९८३, श्रीमती परोपकारिणी सभा, अजमेर

६. वही, तृतीय समुल्लास, पृ० ६१-६२

नहीं। अत: आइये इस लेख के माध्यम से पुन: प्राचीन भारतीय परम्परा से पूर्ण वैज्ञानिक वर्णध्वनि के गौरव को समझें तथा तदनुरूप व्यवहार कर वाणी में सरसता और माधुर्य का संचार करवा कर हिन्दी को शुद्ध बोलने और लिखने का प्रयत्न तो कम से कम करें ही और इसके माहात्म्य को भी बढ़ायें, साथ ही उसके माध्यम से संस्कृत की गौरवशाली वर्णों की वैज्ञानिक परम्परा को दिग्दिगन्तों तक फैलायें।

वर्णध्वनि की वैज्ञानिकता

संस्कृतभाषा हिन्दी भाषा की वर्णध्वनि का भी स्रोत है। समस्त विश्व स्वीकार करता है कि संस्कृत गूढ़ चिन्तनपरक और वैज्ञानिक भाषा है। अत: उसी की अनुजीवी हिन्दी की वर्णमाला भी नि:सन्देहरूपेण वैसे ही गुणों से युक्त होगी। हमारे सुनने में अनेकों ध्वनियाँ आती हैं, परन्तु स्फुट उच्चरित ध्वनि ही भाषा कहलाती है। भाषा वाक्यों के समूह से बनी है, वाक्य शब्दों और शब्द वर्णों के समूह से। इसप्रकार मुख से निकलती हुई वर्णों की परम्परा ही अन्ततोगत्वा भाषा का रूप धारण करती है। यहाँ इस पत्र का मुख्य प्रयोजन भाषा की मूल इकाई वर्णों को ही ठीक से जानने और समझने का प्रयास है, जिससे वर्णध्वनिविज्ञान को सरलता से समझा जा सके।

वर्णध्वनि का उत्पत्ति-विज्ञान

कोई भी सार्थक ध्वनि जब मुख से निकलती है तो उसके पीछे लम्बी प्रक्रिया काम करती है, जो क्षणभर में होती है, सामान्यत: अनुभव नहीं होती तथा विचार करने पर ही प्रतीत होती है। उस प्रक्रिया को स्पष्ट करने वाले महान् संस्कृत के वैयाकरण पाणिनि (लगभग पाँच हजार वर्ष पूर्व[७]) का मत इसप्रकार है-

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मन: कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्।।
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्।[८]

अर्थात् आत्मा बुद्धि से मिलकर अर्थों अर्थात् विषयों को कहने, स्पष्ट करने के लिए मन से युक्त होता है, सम्बद्ध होता है। मन शारीरिक अग्नि को उद्वेलित करता है, वह फुप्फुसस्थ मारुत को प्रेरित करती है, फिर वक्ष:स्थल के फेफड़ों से ऊपर उठती हुई प्राणवायु (गलप्रदेशस्थ स्वरतन्त्रिका और मुख के साहाय्य से) स्वर को उत्पन्न करती है।

यदि कोई छोटा बच्चा भी इस प्रक्रिया का साक्षात् करना चाहे तो वह संगीत की सुमधुर लहरियों को उत्पन्न करने वाले वाद्यों बंसरी, हारमोनियम आदि को देख कर अनुभव कर सकता है। जिसमें वायु को बाहर फेंकने का कार्य, मुख में आत्मा, बुद्धि आदि की तरह उस वाद्य को बजाने वाला कर रहा होता है और कण्ठ में स्थित स्वरतन्त्रिकाओं की तरह वहाँ भी स्वरतन्त्रिकायें स्वर को उत्पन्न करने का कार्य करती हैं। विभिन्न वर्णों को स्वरूप प्रदान करने का कार्य जिह्वा और ओष्ठ साधन बन कर कण्ठ, तालु आदि स्थान विशेष का स्पर्श कर करते हैं। उसी कार्य को स्पन्दन करती हुई अंगुलियाँ वाद्य पर करती हैं। यदि इन साधनों का प्रयोग नहीं किया जाये तो विभिन्न स्वर उत्पन्न होना सम्भव ही नहीं।

---

७. द्र० संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग), प्रकाशक- रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, सोनीपत, हरयाणा, सं० सन् १९९४, पांचवाँ अध्याय, पाणिनि और उसका शब्दानुशासन, पृ० २०४-३०९

८. वर्णोच्चारणशिक्षा (विबोधवृत्तिविभूषित), पाणिनिमुनिप्रणीत, प्रकाशक- हरयाणा साहित्य संस्थान, गुरुकुल झज्जर, सं० १९८७ ई०, पृ० १२

अर्थात् जिह्वा के विना न वर्णध्वनि उत्पन्न हो सकती है और न उँगलियों की क्रीड़ा के विना वाद्यों से स्वरध्वनियाँ। यही वर्णों के उत्पन्न होने की वैज्ञानिक प्रक्रिया है।

वर्ण और वर्णमाला से तात्पर्य

वर्ण नानार्थक शब्द है- यह कोषग्रन्थों[९] और दैनिक व्यवहार से भी स्पष्ट होता है, परन्तु यहाँ यह शब्द पारिभाषिक है अर्थात् विशेष ग्रन्थों में विशेष अर्थ को कहने वाला शब्द। पारिभाषिक होने से वर्ण शब्द यहाँ ऐसे समझा जा सकता है- स्वर और व्यञ्जन दोनों वर्णित अर्थात् स्पष्टतः उच्चरित होकर मनुष्य के अभिप्रेत वक्तव्य का वर्णन करते हैं अथवा मानव के मन में विद्यमान भावों को अभिव्यक्ति देते हैं, अभिव्यञ्जित करते हैं, अतः वे वर्ण शब्द से कहे जाते हैं।[१०] अक्षर शब्द भी वर्ण का पर्यायवाची है। समस्त स्वरों और व्यञ्जनों का एक स्थान पर उल्लेख करना वर्णमाला या वर्णोपदेश कहा जाता है।

स्वर और उसके भेद

स्वरस्वरूप- स्वर एक पारिभाषिक शब्द है। अपने स्वरूप से विना किसी अन्य वर्ण की सहायता और कण्ठ आदि स्थान विशेषों के स्पर्श अथवा विशेष प्रयत्न के विना ही केवल प्रयत्न से बोले जाने वाले वर्ण स्वर कहलाते हैं।[११] संस्कृत में स्वरों को ही अच् कहा जाता है।

स्वरभेद- स्वरों के मुख्यतः तीन प्रकार हैं।[१२] १. मूल स्वर- अ, इ, उ। २. कृत्रिम स्वर- ऋ, लृ (संस्कृत में लृ वर्ण है, परन्तु हिन्दी में इसका प्रयोग नहीं है।)। र् और ल् की ध्वनि से संश्लिष्ट होने के कारण ये कृत्रिम कहे जाते हैं। इन स्वरों को बोलने में स्वर का कितना भाग और व्यञ्जन का कितना भाग है, यह आचार्यों ने निश्चित किया हुआ है। जैसे ह्रस्व ऋ एक मात्रिक है, उसके चार भाग किये जायें तो प्रथम भाग स्वरांश का फिर दो भाग व्यञ्जनांश के और अन्तिम चतुर्थ भाग स्वरांश का होता है। ऐसे ही दीर्घ ॠ दो मात्रिक होती है, उसमें एक मात्रा का चौथाई भाग आरम्भ में स्वरांश का फिर दो भाग व्यञ्जन के और अन्त में सवा एक भाग स्वरांश का होता है। ऐसा ही लृकार में समझना चाहिए।[१३] आजकल इन स्वरों के स्वरांश को देश के उत्तर भाग में इकार के रूप में और दक्षिण में उकार के

---

९. अमरकोष (सुधा व्याख्या सहित) ३.३.४८, संस्कर्ता- महामहोपाध्याय पं० शिवदत्तदाधिमथ, चौखम्बासंस्कृत- प्रतिष्ठान, दिल्ली, तृतीय सं०, १९९७ ई०, पृ० ४०५, वर्णो द्विजादौ शुक्लादौ स्तुतौ वर्णं तु चाक्षरे। वहीं व्याख्या में उद्धृत, मेदिनीकोष- वर्णो द्विजादिशुक्लादियशोगुणकथासु च। स्तुतौ ना न स्त्रियां भेदरूपाक्षरविलेखने।।

१०. शिक्षाशास्त्र के पारिभाषिक शब्दों के विशेष परिज्ञान के लिए द्रष्टव्य- महर्षि-पाणिनि-विरचित शिक्षाशास्त्र (शिक्षातत्त्वालोकभाष्योपेत), भाष्यकार- पं० उदयनाचार्य, प्रकाशक- रामलाल कपूर ट्रस्ट, रेवली, सोनीपत, हरयाणा, संस्करण- सन् २००८ ई०, शिक्षा-भाष्य-भूमिका, पृ० ८-७८

११. शिक्षाशास्त्रम्, ले० चित्राचार्योपनामा जगदीशाचार्यः, प्रकाशक- श्रीमती गायत्रीदेवी, अध्यक्षा, बालार्क- संस्कृत-अनुसंधानाश्रमः, वेदमन्दिर, महसी बाजार, बहराइच (उ० प्र०), संस्करण फरवरी १९६९, पृ० ०४, स्वेन रूपेणान्यवर्णसाहायेन विनैवोच्चार्यमाणा राजन्त इति स्वराः। तथा च व्याकरणमहाभाष्य (पतञ्जलि) १.२.२९, स्वयं राजन्त इति स्वराः।

१२. द्र० वही पृ० ४

१३. विशेष विवरण के लिए द्र० सम्भाषणसन्देश (संस्कृत मासिक पत्रिका), सप्टम्बर २००९, पृ० ४, ले० विद्वान् श्रीरमणशर्मा का प्रकाशित लेख- लृकारस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्।

रूप में अशुद्ध उच्चरित करते हैं। ३. संयुक्त स्वर- वर्णों के संयोग से बनने के कारण ये संयुक्त स्वर कहे जाते हैं। यथा- अ+इ= ए, **अ+ए= ऐ, अ+उ= ओ, अ+ओ=औ।**

स्वर के साथ प्रयुक्त होकर अपने कार्य का निष्पादन करने वाले अनुस्वार (ं) और विसर्ग (:) मूलतः व्यञ्जन से निर्मित हैं, परन्तु स्वर के साथ ही उच्चरित होते हैं। इसीलिए संस्कृत में अकारादि समस्त स्वरों के योग से कार्यसिद्धि करने के कारण ये दोनों अयोगवाह के नाम से कहे जाते हैं।[१४]

काल अर्थात् मात्रा की दृष्टि से ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत भेद भी स्वरों के होते हैं। ह्रस्व गुण वाले वे स्वर हैं, जिन्हें हिन्दी में छोटा अ या उ अथवा छोटी इ के नाम से जाना जाता है और जिनके बोलने में एक क्षण (Second) का समय लगता है। दीर्घ गुण वाले वे स्वर हैं, जो ह्रस्व से दुगना समय लेते हैं तथा हिन्दी में जो बड़ा अ अर्थात् आ या ऊ अथवा बड़ी ई के रूप में जाने जाते हैं। प्लुत गुण वाले स्वर को लम्बा करके बोलना होता है, जिसमें ह्रस्व से तिगुना वा अधिक समय लगता है। यह ह्रस्व वा दीर्घ दोनों प्रकार के वर्णों के साथ ३ (तीन) के चिह्न से जाना जाता है। जैसे- ओ३म् में अथवा किसी को दूर से सम्बोधित करते हुए नाम के अन्तिम वर्ण के स्वर को लम्बा किया जाता है तब वह प्लुत कहा जाता है। याज्ञवल्क्यशिक्षा श्लोक १३ में ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत वर्णों और व्यञ्जन की मात्रा को संक्षेप में इसप्रकार कहा है-

एकमात्रो भवेद् ह्रस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते।
त्रिमात्रस्तु प्लुतो ज्ञेयो व्यञ्जनं चार्धमात्रिकम्।।

इसप्रकार लृकार सहित संस्कृत भाषा में मुख्यरूप से नौ स्वरों को माना जाता है, परन्तु हिन्दी में अ, इ, उ, ऋ, ए, ऐ, ओ, औ -ये आठ स्वर हैं, जिनमें आरम्भ के चार वर्ण ह्रस्व, दीर्घ, प्लुतरूप काल के भेद से प्रत्येक तीन-तीन प्रकार के होकर कुल बारह प्रकार के होते हैं। अन्तिम चार में ह्रस्व न होने से प्रत्येक दो-दो प्रकार के होकर कुल आठ प्रकार के होते हैं। अतः कहा जा सकता है कि काल भेद के अनुसार लृ वर्ण सहित संस्कृत में कुल स्वर **तेईस**[१५] और हिन्दी में इसके अभाव के कारण बीस हैं। दो अयोगवाह को मिलाकर हिन्दी में २२ स्वर भेद हो जाते हैं तो संस्कृत में पच्चीस। परन्तु ऋकार के दीर्घ और प्लुत तथा अन्य स्वर वर्णों के भी प्लुत वर्णों का वर्णन हिन्दी भाषा के व्याकरण में नहीं देखा जाता, जो होना चाहिए।

शिक्षाशास्त्र में संस्कृत के स्वर वर्णों के बाह्यप्रयत्नजन्य उदात्त, अनुदात्त, स्वरित भेदों का परिगणन भी किया जाता है, लेकिन लौकिक संस्कृत भाषा में इनका प्रयोग अब लुप्त प्रायः हो गया है। वैदिक भाषा में खड़ी, पड़ी रेखाओं के द्वारा इनका ज्ञान होता है।

---

१४. शिक्षाशास्त्रम्, ले० चित्राचार्योपनामा जगदीशाचार्यः, पृ० ५, अनुस्वारविसर्गौ त्वयोगवाहौ। अयोगेनैव वहतः कार्यमिति आश्रयस्थानभागिनौ। अयोगवाह शब्द के विशेष विवरण के लिए द्र० शिक्षाशास्त्र (शिक्षातत्त्वालोकभाष्योपेत), परिशिष्ट-१, पृ० १६४-१६७

१५. लृ वर्ण के दीर्घत्व के विषय में विभिन्न मत हैं। पाणिनि आदि आचार्य इसके दीर्घत्त्व में अभाव मानते हैं तो वाजसनेयिप्रातिशाख्य के प्रमाण से जगदीशाचार्य का मत इसको दीर्घ मानने का भी है। द्र० शिक्षाशास्त्रम्, ले० चित्राचार्योपनामा जगदीशाचार्यः, पृ० ५ और ७, लृवर्णोऽपि दीर्घ इति वाजसनेयिनां मतमेव युक्तम्। इत्यादि।

व्यञ्जन और उसके प्रकार

व्यञ्जनस्वरूप- स्वर की सहायता से अभिव्यक्त होने अर्थात् बोले जाने वाले या स्वर का अनुगमन करने वाले अथवा स्थान और प्रयत्न दोनों के उपयोग से उच्चरित वर्ण व्यञ्जन कहे जाते हैं।[१६] इनके शुद्ध स्वरूप को बोलने में अर्धमात्रा का समय लगता है। संस्कृत में व्यञ्जन को ही हल् कहा जाता है। अत एव हलन्त अर्थात् हल् है अन्त में जिसके ऐसा कहने से तात्पर्य उस व्यञ्जन से होता है, जो अपने शुद्ध रूप में होता है, जिसमें कोई स्वर नहीं मिला होता और कोष्ठस्थ (्) इस चिह्न से जाना जाता हुआ यह सिद्ध करता है कि अकारादि कोई स्वर इस व्यञ्जन में नहीं है।

व्यञ्जन भेद- व्यञ्जन वर्ण तीन प्रकार के हैं- स्पर्श, अन्त:स्थ और ऊष्म। स्पर्श वर्ण पाँच समूहों में पाँच-पाँच की संख्या में कुल २५ होते हैं, जिन्हें प्रथम वर्ण के साथ वर्ग शब्द को संयुक्त कर संक्षेप में कवर्ग आदि के रूप में सभी को स्पर्श नाम से इसलिए कहा जाता है, क्योंकि इनके उच्चारण में जिह्वा और नीचे का ओष्ठ अपने-अपने स्थानों को पूर्णत: स्पर्श करते हैं।[१७] ये पाँच वर्ग इसप्रकार हैं- **कवर्ग-** क् ख् ग् घ् ङ्, **चवर्ग-** च् छ् ज् झ् ञ्, **टवर्ग-** ट् ठ् ड् ढ् ण्, **तवर्ग-** त् थ् द् ध् न् और **पवर्ग-**प् फ् ब् भ् म्। संस्कृत में वर्ग को कहने का एक अन्य प्रकार भी है। जिसमें हर वर्ग के प्रथम वर्ण के साथ उकार का प्रयोग कर कु, चु, टु, तु, पु के रूप में संक्षेप में वर्ग को कहा जाता है, जिससे कु कहने मात्र से उस वर्ग के समस्त पाँचों वर्णों का बोध हो जाता है। **अन्त:स्थ** वर्ण चार हैं- य् र् ल् व्। इन्हें स्पर्श और ऊष्म वर्णों के मध्य स्थित होने से अन्त:स्थ कहा जाता है।[१८] **ऊष्म** वर्ण भी चार हैं- श् ष् स् ह्। इन्हें बोलते हुए तालु आदि स्थान और जिह्वा रूप साधन को वायु घर्षण करती हुई सी ऊष्मा के साथ बाहर आती है, अत: इस स्थिति में उत्पन्न होने के कारण इन्हें ऊष्म वर्ण नाम दिया गया है।[१९] इसप्रकार कुल ३३ व्यञ्जन वर्ण हैं। ८ मूलस्वरों और २ अयोगवाहों के योग से कुल स्वर और व्यञ्जन वर्ण ४४ बनते हैं। ये ही काल भेद के अनुसार कुल २२ स्वरों और ३३ व्यञ्जनों के योग से कुल ५५ वर्ण हिन्दी वर्णमाला में स्वीकार किये जाने चाहिए। संस्कृत में ॡ वर्ण को मिलाने से ५८ का योग होता है।

यहाँ यह संकेत करना भी उचित होगा कि सामान्यत: वर्णमाला में उपलब्ध होने वाले क्ष, त्र, ज्ञ अलग व्यञ्जन नहीं हैं, अपितु ये **क्+ष्+अ=क्ष (क्ष), त्+र्+अ=त्र, ज्+ञ्+अ=ज्ञ (ज्ञ)** रूप में वर्णों के समुदाय हैं, जिनमें लिखावट की सरलता के कारण स्पष्टत: किन-किन वर्णों का यह समुदाय है, यह परिज्ञान नहीं होता। अत: लिपिदोष के कारण इन्हें हिन्दी भाषा में अलग से स्वीकार किया जाने लगा तथा क्ष को छ और ज्ञ को ग्य, ग्न्य आदि के रूप में विभिन्न स्थानों पर अशुद्ध भी बोला जाने लगा।

स्वर, व्यञ्जन वर्णों की उत्पत्ति के साधक तत्त्व

वर्णों की उत्पत्ति के विषय में ऐसी कोई अन्धपरम्परा नहीं है, जिसे हम वैसे ही मानते चले आ रहे हों। हमारे पूर्वजों ने बहुत अधिक सोच विचार कर उनका स्वरूप निर्धारित किया है। उक्त स्वरों और व्यञ्जनों में एक विशेष क्रम

---

१६. वही, पृ० ४, व्यञ्जयन्ति स्फोटात्मकशब्दस्वरूपाणीति व्यञ्जनानि। अन्वग्भवति वा व्यञ्जनम् इति स्वरसाहाय्यमपेक्ष्यैव व्यक्तिरित्यर्थ:।

१७. वही, पृ०१२, तत्र कुचुटुतुपूनां पञ्चवर्गीयाणामुच्चारणे करणस्थानयो: परस्परं स्पर्शो जायतेऽत इमे कादयो मावसाना: पञ्चविंशतिवर्णा: स्पर्शाख्या:।

१८. वही, ईषत्स्पर्शत्वादन्त:स्थितत्वाद् यरलवा अन्त:स्था:।

१९. वही, स्थानकरणयो: सामीप्यमात्रत्वाद् वायुवेगाधिक्यात् केषाञ्चिद् वातावरोधादूष्मा प्रजायतेऽत ऊष्माख्या: शषसहा इति।

है, जो वैज्ञानिक है। वर्णों की उत्पत्ति की एक विशेष प्रक्रिया है। बोलने की इच्छा पर जब प्राणवायु बाहर आती है तो प्राणवायु के साथ बहुत से अन्य साधन भी वर्णों की उत्पत्ति में सहायक बनते हैं। अकेले प्राणवायु कुछ नहीं कर सकती। साधनरूप शिक्षाशास्त्र के वे तत्त्व- स्थान, करण, प्रयत्न नाम से परिभाषित किये जाते हैं। जिन्हें स्पष्ट करने पर वर्णों की वैज्ञानिकता का स्वत: परिज्ञान हो जायेगा।

वर्णोच्चारण के साधक तत्त्व स्थान

स्थान का स्वरूप- वर्ण जहाँ स्पष्टत: ध्वनित, अभिव्यञ्जित अथवा सूचित हो विद्यमान होते हैं, वह स्थान कहा जाता है[२०] और वे वर्ण उसी स्थान विशेष के नाम से जाने जाते हैं। वर्णों के ये उच्चारण स्थान पूर्वापर्य रूप से क्रमश: छ: हैं- **कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त, उपरि ओष्ठ** और **नासिका**।[२१] ये मुख के ऊपर की ओर कण्ठ से लेकर ऊर्ध्व ओष्ठ पर्यन्त स्थिर रूप में एक पङ्क्ति में विद्यमान होते हैं तथा स्थान नाम से परिभाषित होते हैं।

स्थान भेद विवेचन- जिह्वामूल[२२] जब कण्ठ अर्थात् कोमल तालु भाग को छूता है अथवा स्थान का कुछ सामीप्य प्राप्त करता हुआ वायु के प्रवाह में बाधा डालता है। बाधा से वर्णों की उत्पत्ति में सहायक बनता है, तब स्थान की ही दृष्टि से अ, कवर्ग, ह् और विसर्ग वर्ण कण्ठ्य अथवा कण्ठस्थानीय कहे जाते हैं। क्रम प्राप्त दूसरा तालु स्थान, जो कोमल तालु से कुछ आगे दाँतों की ओर मुख के उपरि कठोर भाग में स्थित है, जहाँ जिह्वा के मध्यभाग के स्पर्श से अथवा कुछ दूरी पर रहकर ही अपना कार्य करने से तालव्य इ, चवर्ग, य् और श् वर्ण अभिव्यञ्जित होते हैं। तीसरे स्थान पर ऋ, टवर्ग, र् और ष् मूर्धन्य वर्ण हैं। इनकी उत्पत्ति जिह्वा के उपरि अथवा निम्न उपाग्रभाग द्वारा मूर्धा स्थान को स्पर्श करने से होती है, यह स्थान दाँतों से ऊपर की ओर जाती हुई दीवार के मुख की छत से संयुक्त होने वाले उपरि भाग अर्थात् मुख के सबसे उन्नत भाग पर विद्यमान है। यहाँ यह भी अवधेय है कि उक्त स्थान के स्वरूप में पं० जगदीश आचार्य ने मुख से निकलने वाले प्राणवायु के प्रवाह के अनुरूप पूर्वापर्यरूपेण क्रमश: स्थानों की स्थिति स्वीकार की है, जो उचित और वर्णविज्ञानसम्मत प्रतीत होती है। जबकि परम्परया और पठन पाठन में आ रहे कुछ ग्रन्थों में व्याख्याकारों ने तालु और मूर्धा का विपरीत व्याख्यान किया है, जो वर्णों के क्रम की वैज्ञानिकता को छिन्न-भिन्न कर देता है।[२३] अत: यह विपरीत क्रम कथमपि उचित प्रतीत नहीं होता। तालु यदि दाँतों से ऊपर खुरदरे भाग पर स्वीकार

---

२०. वही, पृ० ८, यत्र वर्णा व्यङ्ग्यत्वेन तिष्ठन्ति तत्स्थानम्। तथा महर्षि-पाणिनि-विरचित शिक्षाशास्त्र (शिक्षातत्त्वालोकभाष्योपेत) ७.३, इह यत्र स्थाने वर्णा उपलभ्यन्ते तत् स्थानम्।

२१. वही, षडेव स्थानानि वर्णानां नाष्टाविति। तद्यथा- कण्ठ:, तालु, मूर्धा, दन्ता:, ऊर्ध्वौष्ठ:, नासिका चेति पौर्वापर्येण क्रमश:। पाणिनीय के नाम से प्राप्त श्लोकात्मिका शिक्षा में अष्टविध स्थानों का उल्लेख भी है। द्र० सिद्धान्तकौमुदी, सम्पादित- पणशीकर वासुदेवशर्मा, प्रकाशक- मेहरचन्द लछमनदास पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, संस्करण १९८५, पृ० ६७३, परिशिष्ट-१, पाणिनीयशिक्षा श्लोक १३, अष्टौ स्थानानि वर्णानामुर: कण्ठ: शिरस्तथा। जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकौष्ठौ च तालु च।। यहाँ उर: और जिह्वामूल को भी स्थान मान लिया गया है, जबकि ये दोनों क्रमश: बाह्य और अन्त: करण हैं। करण होने पर स्थान संज्ञा का होना सम्भव नहीं। पं० जगदीशाचार्य ने भी इसका खण्डन किया है, द्र० शिक्षाशास्त्र, पृ० ८

२२. जिह्वारूप करण का कौन-कौन सा भाग स्थान का स्पर्श करता है, इसका प्रमाण आगे करण-विवरण में देखें।

२३. (क) भाषाविज्ञान, ले० डॉ० कर्णसिंह, प्रकाशक- साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ, संस्करण- १९८३, ग्रन्थकार ने ध्वनिविज्ञान नामक आठवें अध्याय में पृ० १७२ पर तालु स्थान को कठोर तालु कहा है और उसे मूर्धा से गलप्रदेश की ओर न मानकर दाँतों से ऊपर माना है तथा करण जिह्वाग्र कहा है। (ख) तालु स्थान के विषय में ऐसी ही स्वीकृति शिक्षाशास्त्र के शिक्षातत्त्वालोक नामक हिन्दी भाष्य में पं० उदयनाचार्य की है। द्र० पृ० ३५, ७४, ९३ जबकि आप ११० पृ० पर **जिह्वामध्येन**

किया जाये तो वहाँ जिह्वा का मध्य भाग कैसे करण बन सकता है ? भैमी व्याख्याकार ने भी मुख की छत के कोमल भाग को मूर्धा कहा है,[२४] जो उचित नहीं। क्योंकि वहाँ जिह्वा के उपाग्रभाग का स्पर्श बहुत आयास के बाद भी सम्भव प्रतीत नहीं होता, सामान्य अवस्था में तो कहना ही क्या ? कण्ठ से चलकर क्रमशः चतुर्थ स्थान दाँत हैं, जहाँ दाँतों के मूल में जिह्वा के अग्रभाग का स्पर्श दन्त्यवर्णों तवर्ग, ल् और स् की उत्पत्ति का कारण बनता है। ओष्ठ्य वर्ण उ, पवर्ग और व् हैं।[२५] इनमें अधर ओष्ठ ऊर्ध्व ओष्ठरूप स्थान को स्पर्श कर अथवा अन्य प्रकार से वर्ण की सिद्धि में साधन बनता है। वकार का स्थान दन्तौष्ठ भी कहा जाता है उस स्थिति में अधरौष्ठ को करण और ऊर्ध्वौष्ठ तथा दाँतों दोनों को स्थान मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिए।[२६] ङ्, ञ्, ण्, न्, म् नासिका से भी उच्चरित होते हैं, अतः इनका नासिका स्थान भी है और पूर्व वर्णित स्व-स्व स्थान भी। अनुस्वार का केवल नासिका ही स्थान है। कण्ठ्य और तालव्य वर्णों के संयोग से बने ए और ऐ वर्ण कण्ठतालु स्थान वाले हैं। ओ और औ में कण्ठ्य और ओष्ठ्य वर्णों का योग है, अतः ये वर्ण कण्ठौष्ठ स्थान वाले कहे जाते हैं।

इसप्रकार हम ने जाना कि समस्त स्वर और व्यञ्जन वर्ण एक विशेष क्रम में हैं। यही इनकी वैज्ञानिकता है। यह कहिए कि उदरस्थ वायु जैसे-जैसे बाहर आता हुआ जिन-जिन स्थान विशेषों को प्रथम और पश्चात् क्रमशः छूता हुआ वर्णों की उत्पत्ति करता है, वे-वे वर्ण उसी नाम से अभिहित होते चले गये हैं, उसी प्रकार से जैसे कि हरिद्वार से दिल्ली जाते हुए पूर्व आने वाले किसी स्थान विशेष का व्यक्ति उसी स्थान के नाम से जाना जाता है और पश्चात् वाला बाद के स्थान के नाम से।

तालव्यानाम् को स्पष्ट करते हुए **तालुस्थानीयानाम् उपकरणं जिह्वामध्यभाग इति यावत्** लिखते हैं। उक्त स्थिति में जिह्वा का मध्य भाग स्थान का स्पर्श कैसे करेगा ? यह उन्होंने स्पष्ट नहीं किया। स्थान की स्थिति को विपरीत स्वीकार करने पर वर्णों के प्राप्त होने वाले वर्गक्रम- कण्ठ्य, तालव्य, मूर्धन्य प्रश्न के घेरे में आता है। जिसका समाधान करणरूप जिह्वा के भागों के अनुसार करने का प्रयत्न किया है, द्र० पृ० ११३, इस समाधान पर यह आशङ्का होती है कि मूर्धन्य वर्णों के उच्चारण में जिह्वा के उपाग्र भाग को आचार्य ने जहाँ करण कहा वहाँ जिह्वाग्र के अधः भाग को भी विकल्प से करण कहा है। फिर तो इस व्याख्यान के अनुसार दन्त्य से पीछे मूर्धन्य वर्णों का क्रम चला जायेगा, अतः करणों के अनुरूप वर्णों का क्रम है- यह स्वीकार करना चिन्त्य है। (ग) वर्णोच्चारणशिक्षा (विबोधवृत्तिविभूषित) में पं० सुदर्शनदेव आचार्य का मत भी तालु के लक्षण- **दन्तानामुपरि भागो यत्र काकुरुदृते। काकुदं तद्धि विज्ञेयं तालु तदत्र कीर्तितम्।।** भी पूर्ववत् होने से वही प्रश्न खड़े करता है। साथ ही व्याख्यायित वर्णोच्चारणशिक्षा के इस लघुपाठ के करणप्रकरण में तालु स्थान को करण द्वारा स्पर्श करने को स्पष्ट करने वाला सम्बद्ध सूत्र भी प्राप्त नहीं है। न ही विबोधकार ने उस भाग को स्पष्ट किया है, अतः यह प्रकरण वहाँ अस्पष्ट है।

२४. द्र० भैमीव्याख्या, लघुसिद्धान्तकौमुदी, प्रथम भाग, पृ० २२

२५. शिक्षाशास्त्रम् (जगदीशाचार्य), पृ० ९, उपुवकाराणामूर्ध्वौष्ठम्।

२६. जगदीशाचार्य के मन्तव्य में वकार का दन्तौष्ठ स्थान उचित नहीं है, तर्क यह है कि अधरौष्ठ करण है, फिर केवल दन्त्य ही वकार रह जायेगा और उकार को वकारादेश नहीं हो पायेगा। यह उचित भी प्रतीत होता है, लेकिन आचार्य पाणिनि के मत में करण प्रकरण में निर्दिष्ट सूत्र शेषाः स्वस्थानकरणाः २.८ के अनुसार वकारो दन्तोष्ठ्यः १.१३ स्थान निर्दिष्ट सूत्र में समाहारद्वन्द्व समास- **दन्ताश्च ओष्ठौ च दन्तोष्ठम्** मानकर अधरौष्ठ करण बन जायेगा और ऊपर का ओष्ठ व दान्त स्थान कहे जा सकते हैं।

वर्णोच्चारण के साधक तत्त्व करण

करणस्वरूप- अन्तः और बाह्य प्रयत्न को सिद्ध करने वाले साधन को करण कहा जाता है,[२७] क्योंकि वर्णों की उत्पत्ति में ये जिह्वा आदि ही सबसे अधिक सहायक होते हैं। इनकी उपयोगिता ये है कि यदि ये हिले डुले नहीं तो वर्णों का स्पष्ट ध्वनिरूप उच्चारण कथमपि सम्भव नहीं। अतः अन्तःप्रयत्न की साधक जिह्वामूल से अधर ओष्ठ पर्यन्त नीचे की पङ्क्ति करण अथवा साधन नाम से जानी जाती है, जिनके द्वारा स्थान के स्पर्शरूप प्रयत्न से वा किञ्चित् दूर रहकर वर्ण उत्पन्न किये जाते हैं। नासिका भी करण बनती है तथा बाह्यप्रयत्न को सिद्ध करने वाले कण्ठ और उरः भी।

अन्तःकरण के भेद- अन्तःप्रयत्न को सिद्ध करने वाले दो तत्त्व हैं- जिह्वा और अधरौष्ठ।[२८] जिह्वारूप करण भी अपने चार भागों से वर्ण के बोलने में साधन बनता है। वे हैं- १. जिह्वामूल, २. जिह्वामध्य, ३. जिह्वोपाग्र (आगे के भाग का समीपवर्ती भाग) और ४. जिह्वाग्र। इसप्रकार जिह्वामूल के सहयोग से कण्ठ्य, जिह्वामध्य से तालव्य, जिह्वोपाग्र से मूर्धन्य, जिह्वाग्र से दन्त्य वर्णों की उत्पत्ति होती है तथा अधरौष्ठ जिन वर्णों की उत्पत्ति में साधन बनता है वे ओष्ठ्य कहे जाते हैं।[२९] शेषाः स्वस्थानकरणाः (पाणिनिशिक्षाशास्त्रम् २.८) के अनुसार नासिका भी अन्तःकरण के अन्तर्गत आ जायेगा, जगदीशाचार्य ने करण के अन्तर्गत इसे नहीं माना है, अपितु स्थान ही स्वीकार किया है। जहाँ नासिक्य अनुस्वार और वर्गों के पञ्चम वर्ण प्राणवायु से अभिव्यञ्जित होते हैं।

बाह्यकरण के भेद- बाह्यप्रयत्न के भी दो करण हैं- कण्ठ (गल प्रदेश में विद्यमान स्वरतन्त्रिका) और उरः (वक्षःस्थ फेफड़े)। ये दानों करण वर्ण उच्चारण में अल्पसंकोच, अतिसंकोच जैसी अपनी स्थिति से वर्णों के कारण बनते हैं। आचार्य पाणिनि ने स्पष्टरूप से करण के रूप में इन दोनों का उल्लेख शिक्षाशास्त्र के लघु अथवा वृद्ध पाठ में नहीं किया है।

वर्णोच्चारण में प्रयत्न से तात्पर्य और भेद

प्रयत्न का स्वरूप- वर्णोच्चारण के लिए स्पर्श आदि के रूप में किये जाने वाले करणों के आयास को ही प्रयत्न कहते हैं। वह आभ्यन्तर और बाह्य भेद से दो प्रकार का कहा गया है।[३०] आभ्यन्तर को ही अन्तःप्रयत्न, मुखप्रयत्न, आस्यप्रयत्न भी कह दिया जाता है।[३१] सरलता से बोध करवाने हेतु मुख के अन्दर जिह्वा (जीभ) और अधरौष्ठ (नीचे का होठ) रूप साधन, करण के द्वारा किये जाने वाले यतन को आभ्यन्तरप्रयत्न कहा जाता है तथा मुख से बाहर गलबिल में विद्यमान कण्ठस्थ स्वरतन्त्री और उरः (फुप्फुस= फेफड़ों) से होने वाला प्रयतन बाह्यप्रयत्न कहलाता है।[३२]

आभ्यन्तरप्रयत्न के भेद- अन्तः और बाह्य प्रयत्न के साधक करण एक ही प्रकार से वर्णों की उत्पत्ति में

---

२७. वही, पृ०१०, तत्र प्रयत्नसाधकं साधनं करणम्। तथा महर्षि-पाणिनि-विरचित शिक्षाशास्त्र (शिक्षातत्त्वालोकभाष्योपेत) ७.४, येन निर्वृत्यन्ते तत् करणम्।

२८. शिक्षाशास्त्रम् (जगदीशाचार्य), पृ०१०, द्वे चान्तःकरणे जिह्वाधरौष्ठे।

२९. वही, पृ० १०, तत्र कण्ठ्यानां वर्णानां जिह्वामूलं करणम्। तालव्यानां जिह्वामध्यम्। मूर्धन्यानां जिह्वोपाग्रम्। दन्त्यानां जिह्वाग्रमिति। ओष्ठ्यानामधरौष्ठम्।

३०. वही, वर्णोच्चारणार्थं प्रयतनं प्रयत्नः। स द्विविधः आभ्यन्तरो बाह्यश्चेति।

३१. विशेष विवरण के लिए द्र० महर्षि-पाणिनि-विरचित शिक्षाशास्त्र (शिक्षातत्त्वालोकभाष्योपेत), पृ० ११५

३२. शिक्षाशास्त्रम् (जगदीशाचार्य), पृ०१०, तत्र मुखस्याभ्यन्तरे जिह्वादिभिः कृतं प्रयतनमन्तःप्रयत्नः। जिह्वादिरूपकरणेभ्यो भिन्नैः कृतं प्रयतनं बाह्यप्रयत्नः।

आयास नहीं करते हैं, अपितु विभिन्न प्रकार से किन्हीं वर्णों में स्थान के समीप रहते हुए वे वर्णोत्पत्ति में सहायक बनते हैं तो कभी दूर, दूरतर और दूरतम होकर। उसी के आधार पर दोनों अनेक प्रकार के भेद वाले हो जाते हैं। यही कारण है कि आभ्यन्तरप्रयत्न पाँच प्रकार का स्वीकार किया जाता है- **स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, ईषद्विवृत, विवृत** और **संवृत**।[३३] जिह्वा और अधरौष्ठ रूप करण का अपने-अपने स्थानों को पूर्णरूपेण जोर से स्पर्श करना **स्पृष्टप्रयत्न** और इसीलिए तज्जन्य वर्ण स्पर्श कहे जाते हैं। इस प्रक्रिया को उपमा के माध्यम से सरलता से बोध करवाने हेतु वर्णविज्ञानवेत्ता यह कहते हैं कि स्पर्श वर्णों के उच्चारण में एक प्रकार से उच्छ्वासरूप प्राणवायु स्थान को लौहपिण्ड के समान पीड़ित करता है अर्थात् स्थान और करण के कठोरता से स्पर्श किये जाने से प्राणवायु का विभिन्न स्थानों पर वेग से टकराना भी वैसा ही होता है। अतः उससे उत्पन्न होने वाले वर्णों को स्पर्श कहा जाता है। किञ्चित् स्पर्श करना **ईषत्स्पृष्टप्रयत्न** और उससे उत्पन्न होने वाले अन्तःस्थ वर्ण हैं। इस ईषत्स्पर्श की क्रिया में काष्ठपिण्ड के समान प्राणवायु स्थान का अल्प मात्रा में अभिघात करता है। ऊन के पिण्ड के समान अकठोर अभिघात प्राणवायु जब वर्णों के उच्चारण हेतु स्थान का करता है और करण का स्थान के साथ सामीप्यमात्र होता है तब **ईषद्विवृतप्रयत्न** और तदुत्पन्न वर्ण ऊष्म संज्ञा वाले होते हैं। स्थान और करण के मध्य में सामीप्य का न होना **विवृतप्रयत्न** कहा जाता है, परन्तु फिर भी करण उन-उन स्थानों से दूर रहते हुए भी उनके साहचर्य से जिन वर्णों के उच्चारण में सहायक बनते हैं वे समस्त स्वर वर्ण हैं। कुछ आचार्यों के मत में ऊष्मवर्णों का भी विवृतप्रयत्न होता है। स्वर वर्णों का उत्पत्ति कर्त्ता प्राणवायु स्थान का मृदु स्पर्श करता है। अतः उसे शाल्मलि वृक्ष के फलों से उत्पन्न कपास के पिण्ड के समान स्थान का अभिघात करने वाला कहा जाता है, क्योंकि नितान्त स्पर्श के अभाव में वर्णों की उत्पत्ति होना सम्भव नहीं। कण्ठ के संकोच से **संवृतप्रयत्न** होता है और इसमें प्राणवायु काष्ठपिण्ड के समान ही स्थान पर अभिघात करता है, उससे उत्पन्न वर्ण ह्रस्व अकार स्वीकार किया जाता है।[३४]

बाह्यप्रयत्न के भेद- बाह्यप्रयत्न के साधक करणों- उरः और कण्ठ दोनों की संकुचित अथवा असंकुचितदशा ही उसके विभिन्न भेदों का कारण बनती है। यथा जब फेफड़ों में अल्पसंकोच होता है तो प्राणवायु का बहिर्गमन अल्पमात्रा में होता है और उससे अल्पप्राणप्रयत्न वाले वर्णों की सृष्टि होती है। विपरीत होने पर अतिसंकोच से अधिक वायु का निःसरण होगा और उससे महाप्राणप्रयत्नजन्य वर्णों की उत्पत्ति होगी। ऐसे ही कण्ठ का संकुचन न किये जाने पर स्वाभाविक रूप से प्राणवायु का बाहर की ओर गमन त्रिविध विवार, श्वास और अघोष प्रयत्नों से जन्य वर्णों का उत्पादक होगा तो विपरीत संकुचन की स्थिति में कण्ठतन्त्रिकायें संकुचित होंगी और उस स्थिति में संवार, नाद, घोषरूप त्रिविध प्रयत्नजन्य अस्वाभाविक गुणधर्म वाले वर्ण उत्पन्न होंगे। ऐसे ही कण्ठ के असंकोच से अनुदात्तवर्ण, संकोच से उदात्तवर्ण और सम्मिलितरूप में मध्यप्रयत्न वाले स्वरित गुणधर्म वाले वर्ण उत्पन्न होंगे। इसप्रकार बाह्यप्रयत्न- **उदात्त, अनुदात्त, स्वरित। विवार, श्वास, अघोष, संवार, नाद, घोष, अल्पप्राण, महाप्राण** के भेद से ग्यारह प्रकार का हो जाता है। इनमें आद्य तीन उदात्त आदि केवल सभी स्वरों के बाह्यप्रयत्न होते हैं तो शेष सभी आठ विवार आदि सभी व्यञ्जनों के।

प्रत्येक स्वर का उच्चारण तीन प्रकार से होता है। ऊँचे, नीचे और मध्यम या सामान्यरूप से न अधिक ऊँचे न

---

३३. लघुकौमुदी प्रथम भाग, भैमीव्याख्या सहित, पृ० २४, आद्यः (आभ्यन्तरः) पञ्चधा, स्पृष्टेषत्स्पृष्टेषद्विवृतविवृतसंवृतभेदात्।

३४. अन्तःप्रयत्न के विशेषविवरण के लिए द्र० वही, पृ० २४-२५ एवं महर्षि-पाणिनि-विरचित शिक्षाशास्त्र (शिक्षातत्त्वालोकभाष्योपेत), पृ० ११५-१२१, १३१-१३३ तथा शिक्षाशास्त्रम् (जगदीशाचार्य), अन्तःप्रयत्नविज्ञानीयनामा अष्टमोऽध्यायः, पृ०१२-१३

नीचे से। इन्हें ही क्रमशः उदात्त, अनुदात्त और स्वरितप्रयत्न कहा जाता है। इसप्रकार प्रत्येक ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत स्वर के उदात्त आदि तीन-तीन प्रयत्न होते हैं। जिस वक्ता की जैसी उच्चारण की इच्छा होती है, जिस पर बल देना चाहता है, वह वैसे ही स्वरों का उच्चारण कर लेता है, लेकिन इनमें उदात्त प्रधान अर्थ का प्रतिपादक होता है, गौणार्थ का अनुदात्त और उभयार्थ का स्वरित।

व्यञ्जन वर्णों के उच्चारण में गलबिल कदाचित् विवृत अर्थात् प्राणवायु में किसी प्रकार की बाधा न पहुँचाने वाला खुला हुआ और कभी संकुचन के कारण प्राण में बाधा डालने वाला होता है। इन्हीं दो आधारों पर विवार और संवार दो विरुद्ध धर्म वाले प्रयत्न बनते हैं। इसप्रकार जब गलबिल विवृत होता है तो मार्ग में किसी प्रकार का अवरोध न होने से श्वासप्रयत्न भी होता है और उसी से अघोष भी अर्थात् ये तीनों सहचारी हैं। गलबिल के संवृत होने पर संकुचन के कारण मार्ग में अवरोध होगा तो प्राण के संकरे स्थान से निकलने के कारण नाद होता है और उससे घोष भी। इसप्रकार संवार के सहचारी नाद और घोष प्रयत्न भी बनते हैं। इनमें विवारादि प्रयत्न स्वाभाविक और संवारादि प्रयत्न कुछ अधिक आयासजन्य होने से अस्वाभाविक कहे जाते हैं।

उच्चारण में जब वायु का वेग अल्प होता है अर्थात् न्यून प्राणवायु का प्रयोग होता है तो अल्पप्राणप्रयत्न और जब अधिक होता है तो महाप्राणप्रयत्न होता है। इसप्रकार ये प्रयत्न भी परस्पर विरुद्ध हैं अर्थात् जिन वर्णों का अल्पप्राणप्रयत्न होता है उनका महाप्राणप्रयत्न नहीं होता और जिनका महाप्राण है उनका अल्पप्राणप्रयत्न नहीं होता। उक्तप्रकार से ही ये भी क्रमशः स्वाभाविक और अस्वाभाविक कहे जा सकते हैं।

उक्त विवेचन के अनुसार सभी व्यञ्जनों के चार-चार प्रकार के प्रयत्न होने सम्भव हैं। विवार और संवार गण के आधार पर पृथक् पृथक् तीन-तीन तथा अल्पप्राण और महाप्राण। व्यञ्जनों में वर्गों के प्रथम, द्वितीयवर्ण और श् ष् स् विवार-श्वास-अघोष प्रयत्न वाले होते हैं तथा तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम वर्ण और य् र् ल् व् ह् संवार-नाद-घोष प्रयत्न के। वर्गों के प्रथम, तृतीय, पञ्चम वर्ण और य् र् ल् व् का अल्पप्राणरूप चतुर्थ बाह्यप्रयत्न होता है। वर्गों के द्वितीय, चतुर्थ तथा श् ष् स् ह् वर्ण महाप्राणप्रयत्न वाले होते हैं।[३५]

वर्णक्रम की वैज्ञानिकता

संस्कृत की वर्णमाला के प्रत्येक वर्ण का क्रम प्राचीन ऋषि, मुनियों की सूक्ष्मबुद्धि से सुविचारित और वैज्ञानिक है। तदनुरूप ही हिन्दी के वर्ण भी जानने चाहियें। इस वैज्ञानिकता को ऐसे समझ सकते हैं कि उरः से चली प्राणवायु बाहर आती हुई जिह्वा और ओष्ठ के सहयोग से जिस भी कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त और ओष्ठ स्थान को स्पर्श कर वर्णोत्पत्ति करवाती गई है, वैसे-वैसे क्रमशः स्थान को प्राप्त करने पर उनका नामकरण कण्ठ्य, तालव्य आदि किया गया है। यथा दैनिक व्यवहार में हम देखते हैं कि किसी भी स्थान विशेष में उत्पन्न व्यक्ति उसी गाँव वा नगर आदि के नाम से जाना जाता है। ऐसे ही मूलस्वरों में प्रथम अकार की उत्पत्ति कण्ठ से ततः इकार की तालु से और उकार की ओष्ठ से हुई, अतः इन्हें क्रमशः कण्ठ्य, तालव्य, ओष्ठ्य कहा जाता है और क्रम भी वही है। कृत्रिम स्वरों ऋ, ऌ में भी

---

३५. बाह्यप्रयत्न के विशेषविवरण के लिए द्र० शिक्षाशास्त्रम् (जगदीशाचार्य), बाह्यप्रयत्नविज्ञानीयनामा नवमोऽध्यायः, पृ०१३-१६ तथा भैमीव्याख्या, लघुकौमुदी प्रथम भाग, पृ० २५-२८ एवं महर्षि-पाणिनि-विरचित शिक्षाशास्त्र (शिक्षातत्त्वालोकभाष्योपेत), पृ० १२२-१३०

क्रम प्राप्त मूर्धन्य और दन्त्य स्थान हैं। संयुक्त स्वरों में प्रथम क्रमशः विवृततर और विवृततम कण्ठतालव्य स्थानीय ए, ऐ वर्ण हैं तो ततः कण्ठौष्ठ्य क्रमशः विवृततर और विवृततम ओ, औ वर्णों की उपस्थिति है, जो सर्वथा वैज्ञानिक है। अनुस्वार और विसर्ग व्यञ्जनादेश होते हुए भी स्वरों के साथ ही सर्वदा प्रयोग किये जाने के कारण स्वरों के साथ लिखे जाते हैं। यहाँ यह भी प्रश्न हो सकता है कि कण्ठ्य ध्वनि होने से विसर्ग को पहले रखा जाना चाहिए था और अनुस्वार को नासिका स्थान वाला होने से बाद में। इसमें यह कारण है कि ये दोनों व्यञ्जनों से ही निर्मित हैं, अतः व्यञ्जनों में विद्यमान आगे उल्लिखित किया जाने वाला वर्गगत बाह्यप्रयत्नानुसारी पौर्वापर्य स्वाभाविक, अस्वाभाविक तथा अल्पप्राण, महाप्राण का विज्ञान यहाँ कार्य कर रहा है। अतः अनुस्वार स्वाभाविक और अल्पप्राण वाला होने से पूर्व में तथा विसर्ग अस्वाभाविक और महाप्राणजन्य होने से बाद में रखा गया है।

व्यञ्जन वर्णों के वर्गों का पौर्वापर्य भी यथास्थानक्रम से उच्चरित होने के अनुसार क्रमशः कवर्ग को कण्ठ्य कहा गया, चवर्ग को तालव्य, टवर्ग को मूर्धन्य, तवर्ग को दन्त्य और पवर्ग को ओष्ठ्य। वर्गों में भी वर्णगत वैशिष्ट्य है, उन्हें भी जहाँ तहाँ इच्छानुसार नहीं रखा गया है। इनके पीछे विशेष चिन्तन कार्य कर रहा है अर्थात् यहाँ क् आदि प्रथम अथवा अन्य वर्णों के स्थान को परिवर्तित कर क् के स्थान पर ख् वा अन्य किसी वर्ण को नहीं रखा जा सकता, क्योंकि यहाँ वर्ग्य अक्षरों का क्रम बाह्यप्रयत्न आधृत है। बाह्यप्रयत्न में विवार-श्वास-अघोष स्वाभाविकप्रयत्न हैं और संवार-नाद-घोष अस्वाभाविकप्रयत्न हैं, अतः प्रथम स्वाभाविक प्रयत्नवाले प्रथमद्वितीयवर्णों क्ख्, च्छ्, ट्ठ्, त्थ्, प्फ् को रखा गया है और ततः अस्वाभाविक अन्य तीन-तीन वर्णों तृतीयचतुर्थपञ्चमवर्णों ग्घ्ङ्, ज्झ्ञ्, ड्ढ्ण्, द्ध्न्, ब्भ्म् को क्रमशः स्थान दिया गया है। वहाँ पर भी दोनों में स्वाभाविक अल्पप्राण को पहले और अस्वाभाविक महाप्राण अक्षर को बाद में रखा गया है। इसप्रकार क्च्ट्त्प् अल्पप्राण अक्षर प्रथम और ख्छ्ठ्थ्फ् महाप्राण अक्षर द्वितीय स्थान पर रखे गये। ऐसे ही सभी वर्गों के तृतीय अक्षर पहले और चतुर्थ अक्षर बाद में रखे गये हैं। पञ्चम वर्ण अल्पप्राण वाले होते हुए भी चतुर्थ अक्षरों से पूर्व में इसलिए नहीं रखे गये, क्योंकि वे सभी अनुनासिकरूप विशिष्ट अस्वाभाविकगुण वाले भी हैं।

अन्तःस्थ के नाम से कहे जाने वाले य् र् ल् व् रूप सभी वर्ण संवार-नाद-घोष और अल्पप्राणरूप बाह्यप्रयत्न वाले हैं, अतः पौर्वापर्य का निर्धारण इसके अनुसार न होने पर स्थानक्रम का आश्रय लिया जाना अपेक्षित होने से स्थान के अनुरूप क्रमशः इन्हें वर्णमाला में रखा गया है।

श् ष् स् ह् रूप ऊष्म वर्णों का क्रम भी विशेष है, क्योंकि बाह्यप्रयत्न की दृष्टि से प्रथम तीन वर्ण विवार-श्वास-अघोषरूप स्वाभाविक बाह्यप्रयत्न और महाप्राण वाले हैं तो हकार महाप्राणवाला होते हुए भी संवार-नाद-घोषरूप अस्वाभाविक बाह्यप्रयत्न वाला है, अतः ह् कण्ठ्य ध्वनि से युक्त होने पर भी बाद में रखा गया है और श् ष् स् को स्थानक्रम के अनुसार क्रमशः पहले स्थान दिया गया है।

सम्पूर्ण वर्णमाला की पूर्वापरता की बात करें तो वह अन्तःप्रयत्नानुसारी है। तदनुसार स्पर्श के नाम से कहे जाने वाले वर्ण स्पृष्ट नामक अन्तःप्रयत्न वाले हैं, अतः प्रथम पढ़े गये। अन्तःस्थ वर्ण ईषत्स्पृष्टप्रयत्न के होने से दूसरे स्थान पर रखे गये। ईषद्विवृतप्रयत्न ऊष्म वर्णों का है अतः उनका स्थान अन्त में है। स्वरों के विवृतप्रयत्नजन्य होने पर

भी स्वाभाविकता के गुण के कारण उनका सर्वप्रथम पाठ किया जाता है। यह भी सिद्ध है कि स्वरों के विना व्यञ्जनों का उच्चारण भी सम्भव नहीं है।[३६]

इसप्रकार हम कह सकते हैं कि देवनागरी लिपि के नाम से जाने वाले सभी वर्ण विशिष्टक्रम और गहन चिन्तन से सृष्ट ध्वनिविज्ञान की एक प्रक्रिया वाले हैं। जिनका संसार में कोई साम्य नहीं। पं० रघुनन्दन शर्मा के अनुसार तो एक-एक वर्ण अपना विशेष अर्थ रखता है, जिनका निरीक्षण हमारे ऋषि मुनियों ने किया था।[३७]

---

३६. द्र० शिक्षाशास्त्रम् (जगदीशाचार्य), अक्षरसमाम्नायविज्ञानीयनामा त्रयोदशोऽध्यायः, पृ०१९-२४

३७. विशेषविवरण के लिए द्र० वैदिक सम्पत्ति, लेखक- पं० रघुनन्दन शर्मा, प्रकाशक- माता कलावती धमार्थ न्यास, पानीपत, सन् १९९०, पृ० २४८-२७०

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०१० अङ्क १४ (पृ०१७४-१७८) ISSN 0974 – 8830

व्यपदेशिवदेकस्मिन् परिभाषा का समीक्षात्मक अध्ययन

साहिब सिंह[१]

मानव-समाज में परस्पर विचार-विनिमय का साधन भाषा है। भाषा का अर्थ होता है 'व्यक्त-वाणी' अर्थात् जिसमें वर्णों का स्पष्ट उच्चारण हो, वह भाषा है।[२] भाषा परिवर्तनशील है अत: उसे संस्कार-च्युत होने से बचाने के लिए 'व्याकरण' का जन्म हुआ। व्याकरण शब्द के विद्वानों ने भिन्न अर्थ स्वीकार करते हुए उसकी व्याख्या की है। व्याकरण शब्द के अर्थ के क्रमिक विकास की दृष्टि से पं० काशीनाथ वासुदेव अभ्यंकर ने व्याकरण के सात अर्थ बताये हैं[३]-

(A) Analyses or explanation by analysis.

(B) Rules of explanation

(C) Specific rules explaining the formation of words

(D) Explanation of the formation of rules

(E) A treatise in which such an explanation is given.

(F) A collection of such treatises.

(G) A systematic explanation of the formation of words in language.

उनके अनुसार महाभाष्य के पस्पशाह्निक में व्याकरण शब्द का प्रयोग व्याकरण-शास्त्र के अर्थ में किया गया है।[४] अत: किसी भी भाषा के शुद्ध ज्ञानार्थ उस भाषा के व्याकरण का अत्यन्त महत्त्व होता है। व्याकरण शब्दों का शुद्ध ज्ञान कराने का सामर्थ्य रखता है। भारतवर्ष में प्राचीन काल से ही व्याकरण के अध्ययन पर विशेष बल दिया जाता है- **यद्यपि बहुनाधीषे तथापि पठ पुत्र व्याकरणम्।**[५]

संस्कृत व्याकरण-शास्त्र में छ: प्रकार के सूत्र स्वीकार किये जाते हैं[६], परन्तु स्वामी दयानन्द ने निषेध को भी सूत्र की श्रेणी में रखते हुए सात प्रकार के सूत्र स्वीकार किये हैं।[७] इन सभी छ: अथवा सात प्रकार के सूत्रों में परिभाषा-सूत्रों का विशेष महत्त्व है। परिभाषा-सूत्रों के समान संस्कृत व्याकरण में व्याकरण-शास्त्रीय परिभाषाओं को भी विशेष स्थान प्राप्त है। परिभाषाओं को विभिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न रूपों में परिभाषित किया है। महाकवि माघ ने शिशुपालवध में परिभाषा को अत्यन्त थोड़े अक्षरों वाली होने पर भी सम्पूर्ण देश में व्याप्त रहने वाली स्वीकार किया गया है।[८]

---

१. शोध छात्र, संस्कृत, पालि एवं प्राकृत विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र।

२. महाभाष्य, १.३.४८, व्यक्ता वाचि येषां त इमे व्यक्तवाच:।

३. Abhyankar K.K. Dictionary of Sanskrit Grammar. p. 349

४. वही, पृ० ३४९-३५० The Word व्याकरण is mostly used in the sense of the Grammar in the Mahabhasya.

५. संस्कृत व्याकरण दर्शन, पृ० ५६

६. लघुसिद्धान्त कौमुदी, भूमिका, पृ० ४, संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च। अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रलक्षणम्।

७. पारिभाषिक भूमिका, पृ० १ संज्ञापरिभाषाविधिनिषेधनियमातिदेशाधिकाराख्यानि सप्तविधानि सूत्राणि भवन्ति।

८. शिशुपालवधम्, १६.८० परित: प्रमिताक्षरापि सर्वविषयं प्राप्तवती गता प्रतिष्ठाम्। न खलु प्रतिहन्यते कदाचित् परिभाषेव गरीयसी यदाज्ञा।

काशिकाकार के अनुसार परिभाषा अनियम की प्राप्ति होने पर नियम की व्यवस्था करती है।[९] स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुसार सम्पूर्ण शास्त्र में व्यवहार जिससे सिद्ध हो उसे परिभाषा कहते है अर्थात् जो सम्पूर्ण शास्त्र में परिव्याप्त हो वह परिभाषा कहलाती है।[१०]

व्यपदेशिवदेकस्मिन् परिभाषा का सामान्य अर्थ-एक में (असहाय वर्णादि में) व्यपदेशिवद् अर्थात् अङ्गीवत् या मुख्य के तुल्य कार्य होता है।

अवतरणिका

'अस्यापत्यम्' इस विग्रह में वासुदेवार्थक 'अ' शब्द से 'अत इञ्'[११] सूत्र से इञ् प्रत्यय हुआ। इस तरह 'अ-इ' ऐसी स्थिति में 'भ' संज्ञा[१२] होने से 'यस्येति च'[१३] से लोप होने पर 'इ' बनता है, किन्तु यह सूत्र अदन्त प्रातिपदिक से 'इञ्' प्रत्यय करता है। अत: जिस प्रातिपदिक के अन्त में ह्रस्व अकार हो उस प्रातिपदिक को अदन्त कहते हैं और उसी प्रातिपदिक से यह सूत्र 'इञ्' का विधान करेगा। '**दशरथस्यापत्यम्**' यहाँ दशरथ शब्द तो अदन्त हो सकता है; क्योंकि यहाँ 'दशरथ' इस समुदाय के अन्त में 'अ' है, इसलिए 'अ' जिसके अन्त में हो वह अदन्त होता है। अदन्त का यह लक्षण वहाँ घटित नहीं होता; क्योंकि वहाँ केवल अकार मात्र ही है; क्योंकि यहाँ कोई ऐसा समुदाय नहीं है जिसके अन्त में अकार होने से हम उसे अदन्त कहें। इस प्रकार की आशंका होने पर प्रस्तुत परिभाषा प्रस्तुत की गई।

परिभाषा का उद्देश्य

किसी वर्ण में अदन्तत्व का व्यवहार वहीं किया जाएगा जहाँ अनेक वर्णों की सत्ता हो। उसमें कोई वर्ण आदि में, कोई मध्य में हो और कोई अन्त में हो। ऐसे शब्द को ही अदन्त कहा जाएगा, किन्तु जहाँ एक ही वर्ण हो जैसे वासुदेव अर्थ का वाचक 'अ' वर्ण। यहाँ 'अ' वर्ण किसी के अन्त में नहीं है जिससे उसे अदन्त कहा जाए। मुख्य अदन्तत्व धर्म वाले दक्ष शब्द का घटक (अवयव) भी यह नहीं है, इसलिए यह अकार असहाय है। इस असहाय में इस परिभाषा के द्वारा व्यपदेशिवद्भाव अर्थात् मुख्य व्यवहार कर लिया गया जिससे 'इञ्' प्रत्यय होकर 'ई:' इस रूप की सिद्धि होती है।

व्यपदेश शब्द का अर्थ है मुख्य व्यवहार। निमित्त अर्थात् कारण या हेतु के रहने पर जहाँ मुख्य व्यवहार हुआ करता है, उसे व्यपदेशी कहते हैं। 'व्यपदेशी' शब्द वि-अप् उपसर्ग पूर्वक उच्चारणार्थक दिश् धातु[१४] से घञ् प्रत्यय[१५] करके मतुबर्थक 'इनि'[१६] प्रत्यय करके बनता है।

बहुत से अचों के रहने पर जागृ धातु में 'जाग्' रूप एकाच् का व्यवहार उचित है किन्तु 'भू' में तो केवल

---

९. काशिका, १.१.३, परिभाषेयं स्थानिनियमार्था। अनियमप्रसंगे नियमो विधीयते।
१०. पारिभाषिक भूमिका, पृ० १, परितो व्यापृतां भाषां परिभाषां प्रचक्षते।
११. अष्टाध्यायी, ४.१.९५
१२. वही, १.४.१८ - यचि भम् १
१३. वही, ६.४.१४८
१४. तुदादिगण, धातु स०, ३
१५. अष्टा०, ३.३.१८
१६. वही, ५.२.११५ - अत इनिठनौ

एक ही अच् है। इसलिए बभूव में धातु के अवयव प्रथम एकाच् को द्वित्व करते समय 'भू' को द्वित्व कैसे होगा, इस प्रकार की शंका उत्पन्न होती है। उसका समाधान है कि 'जागृ' में ऋ रूप निमित्त होने के कारण धात्वयव प्रथम एकाच् का व्यपदेश हो सकता है 'भू' में नहीं हो सकता। इसलिए यह परिभाषा 'भू' को जागृ की तरह मानने की प्रेरणा देती है। एकस्मिन् का अर्थ है अकेला असहाय। 'भू' धातु में अच् अकेला है- असहाय है, उसे ससहाय की तरह मानना चाहिए। व्यपदेश के कारणों के अभाव में जिसके लिए अजादि और अजन्त का व्यवहार नहीं किया जा सकता, वह असहाय व्यपदेशी अर्थात् ससहाय के तुल्य होता है-कार्य के प्रति। अतः परिभाषा का अर्थ हुआ कि एक में अर्थात् असहाय में ससहाय के समान कार्य करना चाहिए। इसलिए अस्यापत्यम् 'इः' में 'अ' को अदन्त मानने के कारण 'अत इञ्' से इञ् प्रत्यय हुआ और 'आभ्याम्' में अदन्त मानकर 'सुपि च'[१७] से दीर्घ हुआ।

परिभाषा में एकस्मिन् शब्द का ग्रहण किया गया है इसलिए जहाँ अनेक वर्ण होंगे वहाँ व्यपदेशिवद्भाव नहीं होगा। **'सभासन्नयने भवः'** यहाँ सभासन्नयन शब्द से **'वृद्धाच्छः'**[१८] से 'छ' प्रत्यय करते समय व्यपदेशिवद्भाव नहीं होता है; क्योंकि **'वृद्धिर्यस्याचामादौ'**[१९] यह सूत्र अचों में आदि जो वृद्धिसंज्ञक 'अच्' उसकी वृद्धसंज्ञा करता है। 'सभासन्नयन' में आदि अच् वृद्धसंज्ञक नहीं है और 'भा' के आकार को 'स' आदि में होने के कारण अकेला न होने से इस परिभाषा से व्यपदेशिवद्भाव नहीं कर सकते। इसलिए वृद्ध संज्ञा नहीं हुई और जब वृद्ध-संज्ञा नहीं हुई तो **'वृद्धाच्छः'** से 'छ' प्रत्यय की प्राप्ति नहीं होगी।

इसी प्रकार दरिद्रा धातु में इकार को अकेला न होने के कारण इस परिभाषा से अन्तत्व भी प्राप्त नहीं होगा। इसलिए 'दरिद्रा'[२०] धातु से भी 'एरच्'[२१] से अच् प्रत्यय नहीं होता। इसी प्रकार 'हरिषु' में केवल सु की पद संज्ञा[२२] नहीं हुई; क्योंकि 'सु' यहाँ असहाय (अकेला) नहीं है। यहाँ सुबन्तत्व सम्पूर्ण हरिषु में है। हरि प्रकृति रहित केवल 'सु' को सुबन्त सिद्ध नहीं किया जा सकता।

लोक में भी बहुत पुत्रों के होने पर किसी एक को ही ज्येष्ठ, मध्यम और कनिष्ठ नहीं कहा जाता। एक पुत्र वाला व्यक्ति ही अपने एक ही पुत्र को ज्येष्ठ, मध्यम या कनिष्ठ कहता है। इसी तरह एक ही अच् के रहने पर उसे ही आदि और अन्त माना जा सकता है। अनेक अच् वाले शब्दों में किसी एक को आदि मध्य या अन्त नहीं कहा जा सकता।

यह परिभाषा अशास्त्रीय धर्म में भी कार्य करती है। जैसे- 'एकाच्त्व धर्म' शास्त्रीय न होकर अशास्त्रीय कहा जाता है; क्योंकि किसी भी शास्त्र से 'एकाच्' यह संज्ञा नहीं की गई है। इस परिभाषा से अशास्त्रीय धर्म का अतिदेश स्वीकार करने के कारण ही 'इण्' धातु के परोक्ष रूप (लिट् लकार) इयाय में इ को एकाच् मानकर द्वित्व की सिद्धि की जाती है।[२३] अशास्त्रीय धर्म का अतिदेश होने के कारण ही 'भवति' इस प्रयोग में **'यः प्रत्ययो यस्मात् विहितः** तदादि

---

१७. अष्टा०, ७.३.१०२
१८. वही, ४.२.११४
१९. वही, १.४.७३
२०. अदादिगण, धातु स०-३६
२१. अष्टा०, ३.३.५६
२२. अष्टा०, १.४.१४ - सुप्तिङन्तं पदम्
२३. वही, ६.१.१ - एकाचो द्वे प्रथमस्य

शब्दरूपत्वम्' अर्थात् जो प्रत्यय जिससे किया गया है तदादि शब्दरूपत्व रूपी अशास्त्रीय धर्म का अतिदेश हुआ और अङ्ग संज्ञा[२४] होकर 'सार्वधातुकार्धधातुकयो:'[२५] से गुण की प्राप्ति हुई। इसी तरह 'व्यतिसे' में 'से' केवल प्रत्ययमात्र है। उसमें तिङन्त-तदादित्व का इस परिभाषा से अतिदेश करके पद संज्ञा हुई। इसलिए यहाँ 'सात्पदादयो:'[२६] से षत्व का निषेध होता है।

यह परिभाषा 'असहाय' में ही व्यपदेशिवद्भाव करती है, इस प्रकार का अर्थ मानने पर भवति में 'भू' की अङ्ग संज्ञा नहीं होगी; क्योंकि 'भू-अ-ति' ऐसी स्थिति में 'अ' के साथ रहने के कारण वह ससहाय ही प्रतीत होता है। इस प्रकार की आशंका होने पर ग्रन्थकार का कहना है कि जिस प्रकार विजातीय कन्याओं के रहने पर भी एक पुत्र को लोक में असहाय माना जाता है और उस एक ही के लिए ज्येष्ठ, मध्यम और कनिष्ठ शब्द का प्रयोग किया जाता है। उसी प्रकार यहाँ ति-प्रत्यय निरूपित अङ्ग संज्ञा करने में यद्यपि 'भू' ससहाय है तथापि शप् निरूपित अङ्ग संज्ञा करने में तो वह असहाय ही है। यहाँ तिप् निरूपित ससहायत्व असहायत्व का विघातक नहीं हो सकता। जिस प्रकार विजातीय कन्याएं एक पुत्र में ज्येष्ठत्वादि व्यवहार के हेतु असहायत्व का विघातक नहीं होती हैं[२७] उसी प्रकार शप् निरूपित अङ्गसंज्ञा करने में 'भू' असहाय ही कहा जाएगा। इसलिए यहाँ व्यपदेशिवद्भाव से अङ्गसंज्ञा हो जाती है।

अहसाय में व्यपदेशिवद्भाव मानने पर दूसरा दोष यह आता है कि 'निजौ चत्वार: एकाच:'[२८] भाष्यकार का यह कथन असंगत हो जाता है। भाष्यकार ने 'निज्' धातु में चार एकाच् माने हैं- निज्, इज्, नि, इ। इनमें 'इ' के आगे और पीछे नकार और चकार होने के कारण वह असहाय नहीं है, तो ऐसी स्थिति में उसे एकाच् कैसे माना जा सकता है। इस प्रकार की आशंका होने पर नागेश ने कहा है कि भाष्यकार ने एकस्मिन् का अर्थ असहाय होता है, ऐसा न समझकर ही **'निजौ चत्वार: एकाच:'** ऐसा प्रयाग किया है। भाष्यकारानुसार **'अर्थवता व्यदेशिवद्भाव:'**[२९] अर्थात् अर्थवान् में ही व्यपदेशिवद्भाव होता है, किन्तु परिभाषा में असहाय में व्यपदेशिवद्भाव कहा गया है। इसके उत्तर में नागेश कहते हैं कि भाष्य में प्रयुक्त 'अर्थवत्' शब्द असहाय का ही सूचक है, क्योंकि असहाय वर्ण ही अर्थवान् होता है। जैसे-वासुदेव अर्थ का वाचक 'अ' वर्ण असहाय होने के कारण अर्थवान् है, परन्तु दक्ष शब्द का अकार ससहाय होने के कारण अनर्थक ही है, क्योंकि समुदाय स्थल में अथर्वत्ता पूरे समुदाय में होती है। वहाँ प्रत्येक वर्ण अनर्थक होता है।

'कुरुते' इस प्रयोग में 'त' के अकार की टि संज्ञा[३०] होती है, परन्तु वह असहाय नहीं है। उसे अचों में अन्तिम अच् सिद्ध करने के लिए व्यपदेशिवद्भाव होगा नहीं और उसके विना 'टि' संज्ञा नहीं होगी और टि संज्ञा के विना एत्व नहीं होगा।

---

२४. यस्मात् प्रत्यय विधि०। वही, १.४.१३
२५. वही, ७.३.८४
२६. अष्टा०, ८.३.१११
२७. परिभाषेन्दुशेखर, पृ० ७४ शपमादायाङ्गत्वे कार्येऽथस्मात्विहितस्तादित्वे तस्य ससहायत्वाभावाल्लोके विजातीयकन्यादि-सत्वेऽप्येकपुत्रस्य तस्मिन्नेवायमेव ज्येष्ठ इत्यादिव्यवहारवत्।
२८. महाभाष्य, ७.४.७५
२९. वही, १.१.२१
३०. अष्टा०, १.१.६४ - अचोऽन्त्यादि टि।

इसके उत्तर में नागेश कहते हैं कि यहाँ 'त' शब्द के अकार को 'अचाम् अन्त्य' इस व्यवहार के योग्य बनाना है अथवा स आदिर्यस्य अर्थात् बहुत अचों में अन्त्य के साथ-साथ उसे कुछ वर्णों का आदि भी बनाना है तो इन दोनों व्यवहारों की दृष्टि से 'त' का अकार असहाय ही है। अतः उसे व्यपदेशिवद्भाव के द्वारा 'टि' संज्ञा हो ही जायेगी। उपर्युक्त विवरण के पश्चात् हम कह सकते हैं कि व्यपदेशि अर्थात् असहाय में मुख्य के समान व्यवहार होता है।

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०१० अङ्क १४ (पृ०१७१-१८४) ISSN 0974 – 8830

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस में अङ्गद के चरित्र का तुलनात्मक अध्ययन

डॉ० मृदुल जोशी[1]

दोनों महाकाव्य में बालि पुत्र अङ्गद के चरित्र के अनेक रूप मिलते हैं। वह एक आज्ञाकारी पुत्र, भावुक भक्त, निष्ठावान् सेवक, स्वाभिमानी, निर्भीक और साहसी युवक के रूप में समुपस्थित होता है। उसमें कुशल नेतृत्व के गुण भी दृष्टिगत होते हैं। वाल्मीकि की दृष्टि में हनुमान् और अङ्गद दो ही ऐसे वीर उद्भट योद्धा हैं, जो विशाल वानर वाहिनी को नियन्त्रित कर सकने में समर्थ हैं-

कोऽन्यस्तां वानरीं सेनां शक्तः स्तम्भियितुं भवेत्।
अन्यत्र बालितनयादन्यत्र च हनूमतः।[2]

स्पष्ट है कि ओजस्वी अङ्गद की प्रभावशाली उपस्थिति समूह मन को सम्मोहित कर सकती है। स्थिति की गम्भीरता को समझकर उचित परामर्श तथा दिशा निर्देश देना, सेना का उत्साह बढ़ाना और उन्हें यथासमय उपदेशित करना एक कुशल नेतृत्व की पहचान है। रामचरितमानस हो या वाल्मीकि रामायण दोनों ही में अङ्गद एक विवेकी सेनानायक के रूप में दिखाई पड़ते हैं। सेना का मनोबल बढ़ाये रखना भी एक कुशल सेनानायक का कर्तव्य है। सीता की खोज में निकले वानरों की हताशा को अङ्गद इन शब्दों से दूर करते हुए उत्साहवर्धन करने का प्रयास करते हैं-

न विषादे मनः कार्यं विषादो दोषवत्तरः।
विषादो हन्ति पुरुषं बालं क्रुद्ध इवोरगः।।[3]

अर्थात् मन में विषाद नहीं लाना चाहिए, क्योंकि विषाद बहुत बड़ा दोष है। जैसे क्रोध में भरा हुआ साँप अपने पास आये हुए बालक को काट खाता है, उसी प्रकार विषाद पुरुष का नाश कर डालता है। जो पराक्रम का अवसर आने पर विषादग्रस्त हो जाता है, उसके तेज का नाश हो जाता है। तेजोहीन पुरुष का पुरुषार्थ निष्फल होता है।[4]

अङ्गद राम की सेना के दूत भी हैं। चाणक्य ने दूत को राजा का मुख माना है-**दूतमुखा वै राजानस्त्वं चान्ये च।**[5] दूत के माध्यम से ही राजा लोग परस्परिक वार्ता विनिमय करते हैं। इसलिए दूत को अत्यन्त बुद्धिमान्, वाक्पटु, साहसी, गम्भीर और प्रत्युत्पन्न मति वाला होना चाहिए। अङ्गद में हमें इन सभी गुणों का परिपाक मिलता है। रावण की सेना में निर्भीक खड़े अङ्गद रावण के साथ बड़ी चतुरता से अपने स्वामी राम के मन्तव्य को रखते हैं। उनका काम केवल स्वामी के संदेश को ही सम्प्रेषित करना नहीं है, अपितु शत्रु पक्ष के मनोबल को क्षीण करना भी है। अङ्गद ने ये दोनों ही काम बड़ी चतुराई से निभाये हैं।

---

१ असिस्टेंट प्रोफेसर, कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हरिद्वार
२ किष्किन्धाकाण्डे चतुःषष्टितमः सर्गः श्लोक सं० १३
३ किष्किन्धाकाण्डे चतुःषष्टितमः सर्गः श्लोक सं० ९
४ यो विषादं प्रसरति विक्रमे समुपस्थिते। तेजसा तस्य हीनस्य पुरुषार्थो न सिद्ध्यति।। किष्किन्धाकाण्डे चतुःषष्टितमः सर्गः श्लोक सं० १०
५ कौटिल्य, अर्थशास्त्र भाग-१, अध्याय-१५

रामायण में अङ्गद का चरित्र विद्रोही शंकालु पुत्र का-सा है। उसके मन में पितृघाती चाचा के प्रति श्रद्धा के भाव उत्पन्न नहीं होते। वह तो मन ही मन उससे अलग रहना चाहता है- **भिन्नमन्त्रोऽपराद्धश्च भिन्नशक्तिः कथं हाहम्।**[६] उसे तो सुग्रीव में धार्मिकता का लवलेश भी दिखाई नहीं देता। उसकी तो सहजस्वभाविक प्रतिक्रिया है कि- **भ्रातर्ज्येष्ठस्य यो भार्यां जीवतो महिषीं प्रियाम्। धर्मेण मातरं यस्तु स्वीकरोति जुगुप्सितः॥ कथं स धर्मं जानीते येन भ्रात्रा दुरात्मना। युद्धायाभिनियुक्तेन बलस्य पिहितं मुखम्॥ सत्यात् पाणिगृहीतश्च कृतकर्मा महायशाः। विस्मृतो राघवो येन स कस्य सुकृतं स्मरेत्॥**[७] अर्थात् जिसने अपने भाई के जीते जी उसकी धर्म पत्नी को जो धर्मतः उसकी माता के समान थी, कुत्सित भावना से ग्रहण किया था, वह धर्म को जानता है, यह बात कैसे कही जा सकती है? जिस दुरात्मा ने युद्ध के लिये जाते हुए भाई द्वारा बिल की रक्षा-कार्य में नियुक्त होने पर भी पत्थर से उसका मुँह बन्द कर दिया, वह कैसे धर्मज्ञ माना जा सकता है? जिन्होंने सत्य को साक्षी देकर उसका हाथ पकड़ा और पहले ही उसका कार्य सिद्ध कर दिया उन महा यशस्वी भगवान् राम को ही जिसने भुला दिया तो वह दूसरे के उपकार को कैसे याद रखेगा? उसने तो सुग्रीव को सत्ता लोभी, शठ, क्रूर और निर्दयी तक कह दिया है-**शठः क्रूरो नृशंसश्च सुग्रीवो राज्यकारणात्।**[८] मनोवैज्ञानिक निकष पर अङ्गद की यह प्रतिक्रिया अत्यन्त स्वाभाविक है। रामचरितमानस का अङ्गद सुग्रीव के प्रति विनत है। राम की शरण उसे अभय प्रदान करती है और उनकी छत्र-छाया में राम-मित्र सुग्रीव के प्रति शंका का प्रश्न ही नहीं उठता। अङ्गद अतीत को सर्वथा भुलाकर सुग्रीव की अधीनता में **'युवराज पद'** की सहजता से स्वीकृति अटपटी-सी लगती है। चरित्रिक गठन की दृष्टि से वाल्मीकि का अङ्गद तुलसी के अङ्गद से कहीं अधिक विश्वसनीय बन पड़ा है। मानस के अङ्गद में मर्यादा व राम-भक्ति के साथ सहज समर्पण का भाव अधिक है। तुलसी के अधिकांश पात्र नैतिकता, आदर्शवाद व आध्यात्मिकता की भावना से अनुरंजित है। अङ्गद का चरित्र भी उनमें से एक है।[९]

उत्तरकाण्ड में तुलसी का अङ्गद भावुक भक्त के रूप में पाठकों के सामने आता है। वानरी-सेना की ससम्मान विदा-बेला है। राम जामवंत, नल-नील इत्यादि में से एक-एक को पुकार कर उन्हें विविध वस्त्राभूषणों से सुसज्जित करते हुए विदा कर रहे हैं लेकिन अङ्गद की भाव दशा भिन्न है- **'अंगद बैठ रहा नहीं डोला। प्रीति देखि प्रभु ताहि न बोला'**[१०] वह राम का सान्निध्य कदापि छोड़ना नहीं चाहता। राम भी इस भाव को जानते हुए सहसा कुछ बोल नहीं पाते हैं। अंततः अङ्गद के उद्गार अत्यन्त मार्मिक हो उठे हैं-

असरन सरन बिरदु संभारी। मोहि जनि तजहु भगत हितकारी।
मोरे तुम्ह प्रभु गुर पितु माता। जाउँ कहाँ तजि पद जलजाता।
तुम्हहिं विचार कहहु नरनाहा। प्रभु तजि भवन काज मम काहा।
बालक ग्यान बुद्धि बलहीना। राखहु सरन नाथ जन दीना।
नीच टहल गृह कै सब करिउँ। पद पंकज बलोकि अवतरिहउँ।[११]

६ श्रीमद्वाल्मीकि रामायणे, किष्किन्धाकाण्डे पंचपंचांशः सर्ग ९
७ श्रीमद्वाल्मीकि रामायणे, किष्किन्धाकाण्डे पंचपंचांशः सर्ग ३-५
८ श्रीमद्वाल्मीकि रामायणे, किष्किन्धाकाण्डे पंचपंचांशः सर्ग १०
९ उत्तराकाण्ड १७ख/१-८), (१८क, १८ ख १-३)
१० उत्तराकाण्ड १६/८
११ उत्तरकाण्ड १७ ख/३-७

यहाँ अङ्गद का स्वरूप निरभिमानी, भावविह्वल, एकनिष्ठ भक्त का-सा है, जहाँ पद, मान, प्रतिष्ठा की कोई इच्छा नहीं है। भक्ति की वेदी पर समस्त निज सुखों का होम है। आज्ञाकारी सेवक के समान वह घर के निम्न से निम्न स्तर का कार्य करने को प्रस्तुत है, पर किसी भी मूल्य पर राम के सामीप्य को नहीं छोड़ना चाहता। वह तो **'मरती बेर नाथ मोहि बाली, गयउ तुम्हारेहि काँछे घाली'**[१२] कहता हुआ मृतक पिता की उस निश्चिंतता का स्मरण कराता है जो उसे अपने पुत्र को उनके संरक्षण में छोड़ने पर हुई थी। वास्तव में अङ्गद यह कहना चाहता है कि राम को पिता को दिये आश्वासन के अनुरूप ही अपने संरक्षण में रखना चाहिए, न कि अपने से विलग करने की भावना रखनी चाहिए।

'वाल्मीकि रामायण' में अङ्गद का यह स्वरूप नहीं मिलता। वहाँ तो वह **'सर्वे चले वाष्पकला: साश्रुनैना विचेतस:'**[१३] सभी वानरों के समान ही दु:खी होता हुआ और विना किसी प्रतिवाद के विदा लेता दृष्टिगत हो रहा है। यहाँ तो राम ने ही उसे विशिष्ट रूप से चिह्नित करते हुए वानरों को अनेक सेनाधिपतियों के साथ अङ्गद व हनुमान् के प्रति विशिष्ट प्रेम-भाव बनाये रखने की बात की है।[१४] जबकि **'मानस'** में राम द्वारा प्रेम के प्रतिदान स्वरूप अपने गले की माला देकर बारम्बार समाश्वासित करने पर ही बड़ी कठिनता से उसकी विदाई संभव हुई है। जाते-जाते भी उसके मन में यह भाव है कि राम अभी भी उसे रखने के लिए सहमति दे दें। **'फिरि फिरि चितव राम की 'ओरा'**[१५]या **'बार-बार कर दंड प्रनामा, मन अस रहन कहहिं मोहि रामा'**[१६] सदृश पंक्तियों द्वारा तुलसी के मानस में अङ्गद की चरित्राभिव्यंजना में अधिक विशदता, मार्मिकता और सूक्ष्मता है, जबकि **'वाल्मीकि रामायण'** में उक्त प्रसङ्ग की प्रस्तुति अत्यन्त साधारण है।

दूत के रूप में तुलसी का अङ्गद कहीं अधिक मुखर है। रावण को हतोत्साहित व निरुत्तर करता हुआ **'रामचरितमानस'** में अङ्गद के चरित्र में अधिकाधिक विस्तार है। एक दूत में धैर्य, बल, बुद्धि-चातुर्य, निर्भीकता व स्वाभिमान होना चाहिए। अङ्गद में इन सभी गुणों का समावेश है, इसीलिए तो राम **'बालितनय बुधि बल गुन धामा'**[१७] कहते हुए उसका दूतरूप में चयन करते हैं। **'रन बाँकुरा बालिसुत बंका'**[१८] कहते हुए तुलसी ने उसे रण कौशल में निष्णात, धैर्यवान्, अतुलित बलशाली और स्वाभिमानी और निर्भीक चरित्र के रूप में चित्रित किया है। **सिंह ठवनि इत उत चितव धीर बीर बलपुंज,**[१९] रावण-सभा का अतुलनीय ऐश्वर्य और प्रभुता भी उसे यत्किंचित् प्रभावित नहीं कर पाती।[२०] अङ्गद का प्रारंभिक वार्तालाप अत्यन्त चतुराई से भरा है। उसने बड़ी ही विनम्रता से रावण की यश कीर्ति की गाथा कहते हुए उपने पक्ष को रखना चाहा है। रावण द्वारा परिचय और आने का कारण पूछने पर सहज प्रत्युत्पन्न मति वाले अङ्गद का प्रत्युत्तर है कि वह राम का दूत है और पिता के मित्र के रूप में रावण को मानते हुए वह उसका हित

---

१२ उत्तरकाण्ड, १७ ख/२
१३ उत्तरकाण्डे चत्वारिंश सर्ग: २
१४ उत्तरकाण्डे चत्वारिंश सर्ग:/३
१५ रामचरितमानस उत्तरकाण्ड, तुलसीदास, १८ ख/२
१६ रामचरितमानस उत्तरकाण्ड, तुलसीदास, १८ ख/३
१७ रामचरितमानस लंकाकाण्ड, १६ख/६
१८ रामचरितमानस, लंकाकाण्ड, १७ ख/२
१९ रा०मा० लंकाकाण्ड, १८
२० गयउँ सभाँ मन नेकु न मुरा। बालितनय अतिबल बाँकुरा।रामचरितमानस, लंकाकाण्ड, १८/७

करने आ रहा है।[२१] इसके बाद दोनों ही के मध्य प्रश्न-प्रतिप्रश्न का लम्बा सिलसिला चलता है।[२२] और हर बार अङ्गद रावण पर भारी पड़ता है। अङ्गद के निर्भीक एवं अपेक्षाकृत उद्दंड उत्तरों से क्रोधित रावण के कहने पर कि धर्म के कारण वह उसे मार नहीं रहा है, अङ्गद उसके पूर्वकृत अधार्मिक कृत्यों की झड़ी लगा देता है-**कह कपि धर्मसीलता तोरी। हमहुँ सुनी कृत पर त्रिय चोरी। देखी नयन दूत रखवारी। बूड़ि न मरहु धर्म ब्रतधारी। कान नाक बिनु भगिनि निहारी। छमा कीन्हि तुम्ह धर्म बिचारी। धर्मसीलता तव जग जागी। पावा दरसु हमहुँ बड़भागी।**[२३] स्वयं को नीतिज्ञ और धार्मिक मानने वाले रावण के प्रति अङ्गद की प्रतिक्रिया बड़ी तीखी है। वह व्यङ्ग्यात्मक सुर में कहता है कि पराई स्त्री का अपहरण बड़ा ही धार्मिक कृत्य है। ऐसे धार्मिक वृत्ति वाले को तो डूब कर मर जाना चाहिए। भगिनी को तो विरूप करने वाले शत्रु को क्षमा-याचना रावण ने संभवतः धर्म को विचार कर ही दी है। वस्तुतः दूत का कर्तव्य शत्रु के मनोबल को भी गिराना है। अङ्गद इस उत्तरदायित्व का भी भली भाँति निर्वहण करता है। शत्रु पक्ष द्वारा सुभट योद्धा के विषय में पूछे जाने पर अङ्गद अपने सेना बल का बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन करता है। रावण के द्वारा हनुमान् को '**है कपि एक महा बलसीला**'[२४] कहे जाने पर अङ्गद उसे '**सो सुग्रीव केर लघु धावन**'[२५] अर्थात् सुग्रीव सेना का छोटा सा दौड़ कर चलने वाला हरकारा बताता है। यही नहीं उसका यहाँ तक कहना है कि- **सत्य कहहि दसकंठ सब मोहि न सुनि कछु कोह। कोउ न हमारें कटक अस तो सन लरत जो सोह।।**[२६] यह वास्तव में एक मनोवैज्ञानिक विजय का ही रूप है। शत्रु पक्ष को मानसिक रूप से कमजोर कर देना भी युद्ध की रणनीति का एक प्रकार है। यही नहीं रावण जब-जब अङ्गद को मार्मिक चोट पहुँचाना चाहता है, तब-तब अङ्गद उसे निरूत्तर कर देता है।[२७] पितृघाती कहने पर अङ्गद का दृढ़ता पूर्वक उत्तर है कि वह उसे भी मार डालता लेकिन वह इसलिए नहीं मार रहा, क्योंकि वह उसके पिता के यश का कारण है। फिर एक-एक कर उसके अपमानित अतीत को याद दिलाता हुआ उसके तेजोदर्प को क्षीण करता चलता है। जब बात केवल वाक्युद्ध से नहीं बनती तो अंततः वह अपने अतुलनीय बल का परिचय देता हुआ रावण को पूर्णतः नतमस्तक कर देता है तथा रावण के चार मुकुट के रूप में राजा के चार गुण साम, दान, दण्ड और भेद को छीन लेता है। तुलसी ने इस रूपक के माध्यम से यही बताना चाहा है कि अङ्गद ने अपनी सूझ-बूझ के बल पर रावण के गोपन रहस्य को जान लिया है, यथोचित दण्ड भी दिया है और प्रारम्भ में बातचीत की मित्रतापूर्वक पहल भी उसके द्वारा की गई थी। अङ्गद का ऐसा रूप वाल्मीकि रामायण में नहीं मिलता।

यद्यपि वाल्मीकि ने भी अङ्गद को अग्नि के समान तेजस्वी, बलशाली रूप में चित्रित किया है- **ततस्तस्याविदूरेण निपत्य हरिपुंगवः। दीप्ताग्निसदृशस्तस्थावंगदः कनकांगदः।।**[२८] लेकिन यहाँ अङ्गद केवल राम का संदेशवाहक बना है। उसने अपनी ओर से कोई भी बात नहीं की है। वाल्मीकि के ही शब्दों में-**तद् रामवचनं सर्वमन्यूनाधिकमुत्तमम्। सामात्यं श्रावयामास निवेद्यात्मानमात्मना।।** उसने अपना संक्षिप्त परिचय केवल बालि पुत्र अङ्गद

---

२१ मम जनकहि तोहि रही मिताई। तव हित कारन आयउँ भाई। रामचरितमानस, लंकाकाण्ड, १९/२
२२ रामचरितमानस, लंकाकाण्ड, २०/१-१०
२३ रामचरितमानस, लंकाकाण्ड, २१/५-८
२४ लंकाकाण्ड, २२ ख/५
२५ लंकाकण्ड २२ ख/९
२६ लंकाकाण्ड, २३ ख
२७ लंकाकाण्ड २३ च, २३ च/१-१६
२८ वाल्मीकि रामायण, युद्धकाण्डे एकचत्वरिंशः सर्ग ७५

के रूप में दिया है इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं। यहाँ अङ्गद ने अपने बल का प्रत्यक्ष प्रदर्शन भी किया है जिससे राक्षसी सेना आतंकित हो उठी थी। **ततः प्रासादशिखरं शैलश्रृंगमिवोन्नतम्। चक्राम राक्षसेन्द्रस्य वालिपुत्रः प्रतापवान्॥**[२९] **पफाल च तदाक्रान्तं दशग्रीवस्य पश्यतः। पुरा हिमवतः शृंगवज्रेणेव विदारितम्॥**[३०] **भङ्क्त्वा प्रासादशिखरं नाम विश्राव्य चात्मनः। विनन्द्य सुमहानादमुत्पपात विहायसा॥**[३१] वाल्मीकि रामायण में अङ्गद के शौर्य प्रदर्शन का विस्तार पूर्वक वर्णन है। युद्धकाण्ड में रणस्थल पर मेघनाद को घायल करता हुआ अङ्गद का रूप दिखाई पड़ता है। **अङ्गदस्तु रणे शत्रून् निहन्तुं समुपस्थितः। रावणिं निजघानाशु सारथिं च हयानपि॥**[३२] युद्धकाण्ड में ही अङ्गद और बलशाली **वज्रदंष्ट्र** के बीच युद्ध का विस्तार से वर्णन है जहाँ अङ्गद **वज्रदंष्ट्र** को मार डालता है।[३३] इसी प्रकार युद्धकाण्ड के इकहत्तरवें सर्ग में अङ्गद द्वारा **नरान्तक** को युद्ध में पराजित करने का भी विस्तार से वर्णन हुआ है।[३४] इसी प्रकार छिहत्तरवें सर्ग में अङ्गद **कम्पन्न और प्रजंघ** नामक राक्षसों का संहारक बना है।[३५] इस प्रकार वाल्मीकि ने अङ्गद की शूरवीरता को प्रदर्शित करने के लिए विस्तार का सहारा लिया है।

वाल्मीकि रामायण में बाली के कथनों द्वारा एक ऐसे आज्ञाकारी गुण सम्पन्न पितृस्नेही पुत्र का भी परिचय मिलता है जिससे विलग होने की कल्पना से बाली को बहुत दुःख है। बाली के शब्दों में पिता की अनुपस्थिति में वह उसी प्रकार सूख जायेगा जिस प्रकार जिसका सारा जल पी लिया हो ऐसा तालाब सूख जाता है- **स ममादर्शनाद् दीनो बाल्यात् प्रभृति लालितः। तडाग इव पीताम्बुरुपशोषं गमिष्यति॥**[३६] निश्चित रूप से यह एक पिता के प्यार पर पूरी तरह से निर्भर किशोरवय पुत्र के मानसिक आघात का चित्रण है। तुलसी के समान ही वाल्मीकि ने भी अङ्गद को राम द्वारा अपनी संरक्षण में लेते हुए चित्रित किया है- **त्वय्यंगदो नित्यं वर्तते वानरेश्वर। तथा वर्तते सुग्रीवे मयि चापि न संशयः॥**[३७] किष्किन्धा काण्ड के २२वें सर्ग में बाली ने अपने पुत्र के बल और गुणों का बखान किया है- **एष तारात्मजः श्रीमांस्त्वया तुल्यपराक्रमः। रक्षसां च वधे तेषामग्रतस्ते भविष्यति॥ अनुरूपाणि कर्माणि विक्रम्य बलवान् रणे। करिष्यत्येष तारेयस्तेजस्वी तरुणोऽङ्गदः॥**[३८] वाल्मीकि रामायण में पिता की मृत्यु पर शोकग्रस्त अङ्गद की क्रिया-प्रतिक्रिया को विस्तार से चित्रित किया है- **सुग्रीवेण ततः सार्धं सोऽङ्गदः पितरं रुदन्। चितामरोपयामास शोकेनाभिपल्तेन्द्रियः॥** तथा **पितरं दीर्घमध्वानं प्रस्थितं व्याकुलेन्द्रियः।**[३९]

निष्कर्षतः तुलसी और वाल्मीकि दोनों ने ही अङ्गद के चरित्र को सूक्ष्मता से उकेरा है। वाल्मीकि का अङ्गद

---

२९ वाल्मीकि रामायण, युद्धकाण्डे एकचत्वरिंशः सर्ग ८८
३० वाल्मीकि रामायण, युद्धकाण्डे एकचत्वरिंशः सर्ग ८९
३१ वाल्मीकि रामायण, युद्धकाण्डे एकचत्वारिंशः सर्ग ९०
३२ वाल्मीकि रामायण, युद्धकाण्डे पंचचत्वरिंशः सर्ग २८
३३ श्री मद्वाल्मीकि रामायण, युद्धकाण्डे चतुःपंचाशः सर्ग २१-३५
३४ वाल्मीकि रामायण, युद्धकाण्डे एकोनसप्ततितमः सर्ग ८६-९४
३५ श्रीमद्वाल्मीकि रामायणे, युद्धकाण्डे षट्सप्ततितमः सर्ग १-२७
३६ श्रीमद्वाल्मीकि रामायण०, किष्किन्धाकाण्डे अष्टदाशः सर्ग ५१
३७ श्रीमद्वाल्मीकि रामायणे, किष्किन्धाकाण्डे अष्ट्दाशः सर्ग ६४
३८ श्रीमद्वाल्मीकि रामायणे, किष्किन्धाकाण्डे द्वाविंशः सर्ग १०-११
३९ श्रीमद्वाल्मीकि रामायणे, किष्किन्धाकाण्डे पंचविंशः सर्ग ४९-५०

युद्धवीर, बलशाली, पितृस्नेही, आज्ञाकारी सेनानायक के रूप में सामने आया है। जहाँ मानवोचित शंकाएँ और समयोचित मानसिक उद्वेलन की भी यत्र-तत्र अभिव्यक्ति है, जबकि तुलसी का अङ्गद निर्भीक किन्तु भावुक, सेवक और राम भक्त के रूप में सामने आता है। दूत के रूप में भी तुलसी के अङ्गद में बुद्धि चातुर्य अधिक है, जबकि वाल्मीकि के अङ्गद ने अपने बल का प्रदर्शन ही अधिक किया है।

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०१० अङ्क १४ (पृ०१८५-१८९) ISSN 0974 – 8830

वाल्मीकीय रामायण में श्रीराम के आदर्शों का उल्लेख

डॉ. देवीसिंह[१]

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण ऐसी प्राचीन आर्यसभ्यता एवं संस्कृति का दर्पण है जिसमें अस्तिकता, धार्मिकता, प्रभुभक्ति, उदात्त एवं दिव्य भावनाओं तथा उच्च नैतिक आदर्शों का वर्णन मिलता है। वाल्मीकि ने रामायण में मर्यादा पुरुषोत्तम राम के सम्पूर्ण जीवन का अत्यन्त काव्यमय वर्णन किया है। माता पिता का आज्ञापालन, सत्यवादिता, प्रतिज्ञापरिपालन, दीन-दुर्बल एवं आश्रित संरक्षण, एक पत्नीव्रत, वर्णाश्रम मर्यादानुसार आचरण, भ्रातृप्रेम, त्याग, सन्ध्या, यज्ञ इत्यादि गुणों के चित्रण से राम का जीवन सम्पूर्ण जगत् के लिये परम-उपकारी बन गया है। राम किस प्रकार समस्त सद्गुणों एवं सत्प्रवृत्तियों से सम्पन्न थे, किस प्रकार उनके आचार-व्यवहार से जनता के सामने आदर्शों की सृष्टि हुई, इन सब विषयों पर प्रकृत शोध-पत्र में दृष्टिपात किया गया है।

यद्यपि दशरथ को अपने चारों ही पुत्र प्रिय थे तथापि राम पर उनका विशेष अनुराग था, क्योंकि वे सब प्राणियों में ब्रह्मा के समान अत्यन्त गुणवान् थे। वे अत्यन्त रूपवान्, महाशक्तिशाली, दुर्गुणों से रहित, पृथिवी पर अनुपम और गुणों में दशरथ के ही समान थे।[२] वे दयालु, क्रोध को वश में रखने वाले, ब्राह्मणों का सम्मान करने वाले, दीनों पर दया करने वाले, धर्म को जानने वाले, जितेन्द्रिय एवं पवित्र थे।[३] इस प्रकार राम को सभी गुणों से विभूषित देखकर दशरथ ने शुभ गुणों से युक्त मन्त्रियों के साथ परामर्श कर उन्हें युवराज पद पर अभिषिक्त करने का निश्चय किया।[४] उन्होंने सभी ब्राह्मणों, राजाओं तथा राज्य के प्रमुख लोगों के विचार राम के विषय में जानने के लिये परिषद् में कहा कि जब मैं धर्मपूर्वक राज्य कर रहा हूँ तो फिर आप सभी राम को क्यों युवराज बनाना चाहते हो?[५] यह सुनकर प्रजाजनों ने कहा कि आपके पुत्र में प्रजा के कल्याणकारक बहुत से गुण हैं। वे धर्मज्ञ, सत्यवादी, शीलयुक्त, ईर्ष्यारहित, शान्त दुःखियों को सान्त्वना देने वाले, मधुरभाषी, कृतज्ञ और जितेन्द्रिय हैं। उनका क्रोध और प्रसन्नता कभी निरर्थक नहीं होती। वे मारने योग्य को मारते ही हैं और अवध्यों पर कभी क्रोध नहीं करते। यम-नियम आदि पालन में कष्ट-सहिष्णु हैं। इन सभी गुणों से अलंकृत श्रीराम रश्मियों से युक्त सूर्य की भाँति देदीप्यमान हैं। इसलिये हम आपके पुत्र श्रीराम को युवराज देखना चाहते हैं।[६] महर्षि वाल्मीकि ने राम के चरित्र के विभिन्न आदर्शों को अनेक स्थलों पर प्रकट किया है जो इस प्रकार हैं-

गुरुओं के प्रति श्रद्धा

श्रीराम गुरुओं का आदर करते थे। जब विश्वामित्र अपने यज्ञ की रक्षा के लिये राम को लेने आते हैं तो वे पिता

---

१. संस्कृत, पालि एवं प्राकृत विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र
२. वाल्मीकीय रामायण, अयोध्या काण्ड, प्रथम सर्ग, श्लोक ५-७
३. सानुक्रोशो जितक्रोधो ब्राह्मणप्रतिपूजकः। दीनानुकम्पी धर्मज्ञो नित्यं प्रग्रहवासशुचिः॥ वही, श्लोक १०
४. तं समीक्ष्य महाराजो युक्तं समुदितैर्गुणैः। निश्चित्य सचिवैः सार्धं युवराजममन्यत्॥ वही, श्लोक १४
५. कथं नु मयि धर्मेण पृथिवीमनुशासति। भवन्तो द्रष्टुमिच्छन्ति युवराजं ममात्मजम्॥ वही, द्वितीय सर्ग, श्लोक १६
६. वाल्मीकीय रामायण, अयोध्या काण्ड, द्वितीय सर्ग, श्लोक १७-२८

की आज्ञा से गुरु के पीछे-पीछे चलते हैं। जपस्नानादि के पश्चात् वे गुरु की वन्दना करते हैं। जहाँ-जहाँ गुरु उनको प्रणाम करने का आदेश देते हैं, वे अत्यन्त विनम्रता से उसका पालन करते दिखाई देते हैं। सिद्धाश्रम पर उनकी गुरु-भक्ति के विशेष दर्शन होते हैं। वे निरन्तर छः दिन और रात जागते रहकर तपोवन की रक्षा करते हैं और राक्षसों का विनाश करके गुरु के यज्ञ को सफल बनाते हैं।[७] वनवास के समय राम लक्ष्मण और सीता सहित ऋषि भरद्वाज के आश्रम में पहुँचते हैं और विनयपूर्वक कहते हैं कि भगवन्! हम लोग पिता जी की आज्ञानुसार तपोवन में प्रवेश करेंगे और फल-फूल खाते हुए धर्म का आचरण करेंगे।[८] सुतीक्ष्ण के आश्रम में जाकर श्रीराम ने विनम्रता से अपना परिचय देते हुए कहा- भगवन्! मेरा नाम राम है। मैं आपके दर्शन करने आया हूँ।[९] इसीप्रकार महर्षि अगस्त्य के आश्रम में प्रविष्ट होकर श्रीराम ने ऋषिचरणों को छूकर प्रणाम किया।[१०] ऋषि अगस्त्य ने प्रसन्न होकर राम को अनेक दिव्यास्त्र प्रदान किये। श्रीराम ने कहा कि मैं अपने को धन्य एवं अनुगृहीत समझता हूँ कि आप मुझसे सन्तुष्ट हैं।[११] इस प्रकार राम गुरु की आज्ञा के विना कोई कार्य नहीं करते। मिथिला में जनक की सभा में शिव धनुष का स्पर्श करने के लिये वे गुरु से आज्ञा माँगते हैं। गुरु उनके लिये पूज्य हैं। वे चित्रकूट में भरत से भी पूछते हैं कि क्या तुम धर्म में तत्पर रहने वाले विद्वान्, ब्राह्मण और महातेजस्वी गुरुओं की यथावत् पूजा करते हो। इस प्रकार महर्षि वाल्मीकि ने राम की गुरुभक्ति को रामायण में दर्शाया है।

पितृभक्ति

वाल्मीकि ने राम को पिता की सेवा में दत्तचित्त रहने वाला और उनकी प्रसन्नता को बढ़ाने वाला कहा है। राम श्रद्धा एवं विनम्रता की प्रतिभा हैं। वे जब कभी भी पिता के पास जाते हैं तो हाथ जोड़कर तथा चरणों में झुककर प्रणाम करते हैं। वनवास का आदेश पाकर भी वे अपने कर्त्तव्य से विमुख नहीं होते, अपितु माता कैकेयी को कहते हैं कि हे देवि! महाराज दशरथ अर्थात् मेरे पिता जी को जो भी अभीष्ट है वह मुझसे कहिये। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं उनकी आज्ञा का पालन करूंगा। हे माता! सदा स्मरण रखें, राम दो प्रकार की बात नहीं करता अर्थात् राम जो कहता है वही करता है।[१२] कैकेयी द्वारा सारा वृत्तान्त बता दिये जाने पर राम कहता है कि ऐसा ही होगा। महाराज की प्रतिज्ञा पूर्ण करने के लिये मैं जटा ओर वल्कल को धारण कर अभी नगर को छोड़कर वन को जाऊँगा।[१३] यदि मैं अपने प्राण देकर भी पूज्य पिता जी का अभीष्ट कार्य कर सकूं तो उस कार्य को किया हुआ ही समझो, क्योंकि पिता की सेवा और उनकी आज्ञा का पालन करने से बढ़कर संसार में कोई धर्माचरण है ही नहीं।[१४] वनवासकाल में भी राम पिता जी को प्रणाम

---

७. वाल्मीकीय रामायण, बालकाण्ड काण्ड, सर्ग १९, श्लोक १-१६

८. पित्रा नियुक्ता भगवन् प्रवेक्ष्यामस्तपोवनम्। धर्ममेव चरिष्यामस्तत्र मूलफलाशनाः॥ अयोध्या काण्ड, सर्ग ४२, श्लोक ९

९. तत्र सुतीक्ष्णमासीनं तपोवृद्धमभाषत। रामोऽहमस्मि भगवन् भवन्तं द्रष्टुमागतः॥ अरण्य काण्ड, सर्ग ६, श्लोक २

१०. तत्र गत्वा महाबाहुरगस्त्यं सर्ववर्चसम्। जग्राह परमप्रीतस्तस्य पादौ परन्तपः॥ वही, सर्ग ९, श्लोक १०

११. गृहीत्वा तांस्तदा रामः प्रत्युवाच महामुनिम्। धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि यस्ये मे परितुष्यति॥ वही, श्लोक २०

१२. तद् ब्रूहि वचनं देवि राज्ञो यदभिकाङ्क्षितम्। करिष्ये प्रतिजाने च रामो द्विर्नाभिभाषते॥ अयोध्या काण्ड, सर्ग १५, श्लोक १७

१३. एवमस्तु गमिष्यामि वनं वस्तुमहं त्वितः। जटाजिनधरो राज्ञः प्रतिज्ञामनुपालयन्॥ वही, सर्ग १६, श्लोक २

१४. यदत्रभवतः किञ्चिच्छक्यं कर्तुं प्रियं मया। प्राणानपि परित्यज्य सर्वथा कृतमेव तत्॥ न हि अतो धर्मचरणं किञ्चिदस्ति महत्तरम्। यथा पितरि शुश्रूषा तस्य वा वचनक्रिया॥ वही, सर्ग १६, श्लोक १४, १५

करना नहीं भूलते। वे सुमन्त्र से कहते हैं- मेरी ओर से पिता के चरणों में प्रणाम करना।[१५] राम के मन में पिता को सत्यवादी सिद्ध करने की भावना निरन्तर कार्य करती है। वे किसी भी मूल्य पर पिता के चरित्र पर असत्यवादी होने का आक्षेप सहन नहीं कर सकते। राम को इतना भी सह्य नहीं कि उनके कारण पिता जी दुःखी हों। वे वनगमन के समय माता कौशल्या से कहते हैं कि तुम दुःखी होकर मेरे पिता की ओर मत देखना। पिता की मृत्यु उन्हें विह्वल कर देती है। उनके मन में इस बात का अत्यधिक दुःख है कि उन्होंने स्वयं पिता का दाह संस्कार नहीं किया। वे रोते हुए पिता को जलांजलि देते हैं और पिण्डदान करते हैं। इस प्रकार वाल्मीकि ने राम की पिता के प्रति निश्छल एवं दृढ़ भक्ति का मर्मस्पर्शी वर्णन किया है।

मातृभक्ति

श्रीराम का माताओं के प्रति जो भक्तिभाव है उसका समय-समय पर स्वतः ही दिग्दर्शन होता है। राम अपने राज्याभिषेक की सूचना सर्वप्रथम माता कौशल्या को ही देते हुए कहते हैं- हे माता! पिता जी ने मुझे प्रजापालन की आज्ञा दी है। अतः मुझे कल ही पिता की आज्ञा से राज्यभार ग्रहण करना होगा।[१६] राज्याभिषेक के स्थगित हो जाने पर अशुभ समाचार भी प्रथमतः अपनी मां को ही देने जाते हैं, जिसके अन्तर्गत वे उपस्थित होने वाले भय का तथा अपने वनवास का और भरत के राज्याभिषेक का उल्लेख करते हैं।[१७] वनगमन के समय वे अपनी मां के लिये अत्यधिक दुःखी प्रतीत होते हैं। वे अयोध्या लौटते हुए सुमन्त्र के द्वारा भरत के प्रति यह सन्देश भेजते हैं कि जैसे तुम्हारे लिये कैकेयी और सुमित्रा में भेद नहीं है, विशेष रूप से मेरी मां कौशल्या को भी वैसा ही मानना। माता कैकेयी को भी राम वनगमन के समय इस प्रकार प्रार्थना करते हैं कि पूज्य पिता के न कहने पर भी मैं आपने ही आदेश से चौदह वर्ष तक निर्जन वन में निवास करूंगा। मेरे लिये आप पिता से भी अधिक पूज्य हैं।[१८] अतः आप ऐसा प्रयत्न करें जिससे भरत ठीक प्रकार से राज्य का पालन करे और पिता जी की शुश्रूषा करे, क्योंकि पुत्र के लिये यही सनातन धर्म है।[१९] इस प्रकार के वचनों से रामायण में श्रीराम की मातृभक्ति प्रदर्शित है।

भ्रातृस्नेह

राम का अपने भाइयों के प्रति अत्यन्त स्नेह है। उनके राज्याभिषेक की उद्घोषणा हो जाने पर वे लक्ष्मण से कहते हैं- हे लक्ष्मण! तुम मेरे साथ इस पृथिवी का शासन करो। तुम मेरी दूसरी आत्मा के समान हो अतः यह लक्ष्मी तुम्हें प्राप्त हुई है। तुम अभीष्ट भोगों और राज्यफल को भोगो। मेरा जीवन और राज्य सब कुछ तुम्हारे लिये है।[२०] तुम मेरे स्नेही, धर्म में रत, सदैव सन्मार्ग पर चलने वाले हो। तुम मुझे प्राणों के समान प्रिय हो, मेरे अनुवर्ती, मेरे भाई एवं मित्र भी हो।[२१] वनवास के समय माता कैकेयी को भाई भरत के स्नेह में भावविभोर होकर श्रीराम कहते हैं कि हे माता!

---

१५. अदृष्टदुःखं राजानं वृद्धमार्यं जितेन्द्रियम्। ब्रूयास्त्वमभिवाद्यैव मम हेतोरिदं वचः॥ वही, सर्ग ४०, श्लोक १५

१६. अम्बपित्रा नियुक्तोऽस्मि प्रजापालनकर्मणि। भविता श्वोऽभिषेकोऽयं यथा मे शासनं पितुः॥ अयोध्या काण्ड, सर्ग ४, श्लोक २५

१७. वाल्मीकीय रामायण, अयोध्या काण्ड, सर्ग १७, श्लोक ८-११

१८. अनुक्तोऽप्यत्रभवता भवत्या वचनादहम्। वने वत्स्यामि विजने वर्षाणीह चतुर्दश॥ वही, सर्ग १६, श्लोक १६

१९. वही, श्लोक १९

२०. लक्ष्मणेमां मया सार्धं प्रशाधि त्वं वसुन्धराम्। द्वितीयं मेऽन्तरात्मानं त्वामियं श्रीरूपस्थिता॥ सौमित्रे भुङ्क्ष्व भोगांस्त्वमिष्टान् राज्यफलानि च। जीवितं च हि राज्यं च त्वदर्थमभिकामये॥ वही, सर्ग ४, श्लोक २९-३०

२१. स्निग्धो धर्मरतो वीर सततं सत्पथे स्थितः। प्रियः प्राणसमो वश्यो भ्राता चापि सखा च मे॥ वही, सर्ग २६, श्लोक ८

महाराज की तो बात ही क्या मैं तो तेरे कहने से ही प्रसन्नतापूर्वक भाई भरत के लिये राज्य ही नहीं अपितु सीता, अपने प्राण, इष्ट और धन सब कुछ वार सकता हूँ।[२२] युद्धभूमि में लक्ष्मण के मूर्छित हो जाने पर राम विलाप करते हुए कहते हैं कि इस मर्त्यलोक में ढूंढने पर सीता जैसी नारी तो मिल सकती है, परन्तु लक्ष्मण जैसा भाई नहीं मिल सकता। इस प्रकार भातृस्नेह से ओतप्रोत हृदय वाले राम को अपने इन अनुजों के साथ भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के अनुसार व्यवहार करना पड़ा है। वे परिस्थितियाँ कभी अनुकूल भी रही और कभी प्रतिकूल भी। उन भाइयों में लक्ष्मण जैसा सेवा तत्पर एवं उग्र स्वभाव वाला भाई भी है। भरत जैसा भाई भी है जिसे राज्य देने के लिये कैकेयी ने राम को वनवास दिलाया और शत्रुघ्न जैसा तटस्थ भाई भी है। इन भाइयों से विविध प्रसंगों में राम का जो व्यवहार रहा है तथा राम के मन में उनके प्रति जो भाव उठे हैं, उन सबसे भातृ-स्नेह का परिचय मिलता है।

मैत्री भाव

वाल्मीकीयरामायण में पात्रों के मुख से मित्रता के महत्त्व को दर्शाया गया है। राम और सुग्रीव की मित्रता का विस्तार से वर्णन है। दोनों की समावस्था ही इस मैत्री को सुदृढ़ करती है। रामचन्द्र ने सुग्रीव को कहा कि आप मेरे मित्र हैं, हृदय के प्यारे सखा हैं। आज से हम दोनों का सुख-दु:ख समान है।[२३] मैं यह भली भाँति जानता हूँ कि मित्रता का फल उपकार होता है। अत: मैं तुम्हारी भार्या का अपहरण करने वाले बाली का वध अवश्य करूँगा।[२४] हे सुग्रीव! आपत्ति के समय स्नेही तथा हितैषी मित्र को जो कार्य करना चाहिए आपने सब कुछ उसके अनुकूल ही किया है। तुम्हारे सान्त्वना प्रदान करने से इस समय मैं आश्वस्त हो गया हूँ। तुम्हारे जैसे मित्र का मिलना दुर्लभ है और वह भी ऐसी विपत्ति के समय में। मुझसे तुम अपना जो कार्य करवाना चाहते हो, वह भी नि:संकोच होकर मुझे बतला दीजिए। मैंने अपने जीवन में न तो कभी पहले मिथ्या भाषण किया है और न आगे करूँगा। आपके कार्य को पूर्ण करने की मैं प्रतिज्ञा करता हूँ और सत्य की शपथ खाता हूँ।[२५] इस प्रकार वाल्मीकि ने राम-सुग्रीव की पारस्परिक मित्रता का वर्णन किया है।

शरणागत के संरक्षक

महर्षि वाल्मीकि ने राम को शरणागत का रक्षक कहा है। जब विभीषण राम की शरण में आता है तो राम कहते हैं कि जो मित्रभाव से आया है उसका त्याग कभी नहीं करना चाहिये। भले ही उसमें दोष भी हों, क्योंकि शिष्टजनों का यही अनिन्दित कर्त्तव्य है।[२६] शरण में आए हुए की रक्षा न करने में महान् दोष है। शरणागत की रक्षा न करना दु:खों का मूल है, अपयश का कारण है और शक्ति तथा पराक्रम का नाशक है।[२७] मेरा व्रत है कि जो मेरी शरण में आकर कह दे कि 'मैं आपकी शरण में हूँ'-मैं उसे प्राणिमात्र से अभयदान प्रदान कर देता हूँ।[२८] इस प्रकार राम ने

---

२२. अहं हि सीतां राज्यं च प्राणानिष्टान् धनानि च। हृष्टो भ्रात्रे स्वयं दद्यां भरताय प्रचोदित:॥ वही, सर्ग १६, श्लोक ५
२३. त्वं वयस्योऽसि मे हृद्यो ह्येकं दु:खं सुखं च नौ। सुग्रीवं राघवो वाक्यमित्युवाच प्रहृष्टवत्॥ किष्किन्धाकण्ड, ४.१३
२४. वही, श्लोक १८
२५. वाल्मीकीय रामायण, किष्किन्धा काण्ड, सर्ग ६, श्लोक १४, १५, १७, १८, १९
२६. युद्धकाण्ड, सर्ग १४, श्लोक ३
२७. वही, श्लोक १३
२८. वही, श्लोक १४

विभीषण को उठाकर अपने गले लगाया और मधुर शब्दों में कहा कि 'आज से तुम मेरे मित्र हो'।[२९] मैं प्रहस्त और बन्धु-बांधवों सहित दशग्रीव को मारकर तुम्हें लंका का राजा बनाऊँगा।[३०] इस प्रकार रामायण में राम के हृदय में शरणागत के प्रति रक्षा-भाव एवं प्रेम-भाव दर्शाया गया है।

आदर्श राजा

श्रीराम के वनवासोपरान्त अयोध्या का राज्यभार उन्होंने स्वयं वहन कर एक आदर्श राजा सिद्ध हुए। उनके राज्य में न तो विधवाओं का करुण क्रन्दन था, न सर्पों का भय था।[३१] राज्य में किसी प्रकार की लूट खसोट इत्यादि अप्रिय घटनाएँ नहीं थी। सभी अपने-अपने वर्णानुसार धर्मकृत्यों में तत्पर रहते थे।[३२] वृक्ष सदा फूलते और फलते रहते थे। वर्षादि यथासमय होती थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कोई भी लोभी एवं लालची न था। सारी प्रजा सत्यपरायण थी। सब लोग शुभ लक्षणों से युक्त थे और सभी धर्मपरायण थे।[३३]

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि वाल्मीकीय रामायण में राम एक धर्मज्ञ, सत्यवादी, जितेन्द्रिय और शान्त इत्यादि व्यक्तित्व के पुरुष हैं। इसीलिए रामायण के आरम्भ में ही प्रजाजन उनको अयोध्या के राज्याभिषेक से अभिषिक्त करना चाहते हैं। उनकी गुरुओं के प्रति श्रद्धा इस बात का परिचायक है कि उन्होंने कभी भी विश्वामित्र, वसिष्ठ, अगस्त्य इत्यादि अपने गुरुजनों की अवहेलना नहीं की, बल्कि उनकी आज्ञा को, उनके उपदेशों को अपने जीवन का अभिन्न अङ्ग माना है। श्रीराम ने अपने जीवन में श्रद्धा और विनम्रता को अपनाया। पिता के आदेशों को विनयपूर्वक स्वीकार किया। वे किसी भी कीमत पर पिता की अस्मिता पर आँच तक नहीं आने देना चाहते थे। उनकी पितृ-श्रद्धा इस बात की द्योतक है कि जगत् के प्रत्येक पुत्र को पितृ-वचन निभाना चाहिए। रामचन्द्र ने माता कैकेयी और भाई भरत की खुशी के लिये राजवस्त्रों को त्याग कर वल्कल वस्त्रों को धारण किया तथा अपनी माता कौशल्या की खुशी की परवाह न करते हुए, भाई भरत की माता कैकेयी की खुशी के लिये तथा पिता के वचन का पालन करने के लिए चौदह वर्षों तक वन में निवास किया। सुग्रीव के साथ मैत्रीभाव में प्रथमतः उसके दुःख का निवारण किया तदुपरान्त अपने कष्ट की निवृत्ति की। शरण में आये हुए विभीषण का सम्मान किया तथा उसको संरक्षण भी प्रदान किया। इस प्रकार रामायण में वाल्मीकि ने जगत्-कल्याण को ध्यान में रखते हुए श्रीराम के विभिन्न आदर्शों का उल्लेख किया है। संक्षेपतः यही कहना चाहूँगा कि देश के चहुँमुखी विकास के लिये दृढ़संकल्पी, महाप्रतापी, महान्, तेजस्वी, मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम के आदर्शों को अपनाना अत्यन्त आवश्यक है।

---

२९. वही, सर्ग १५, श्लोक २
३०. वही, श्लोक १४
३१. युद्धकाण्ड, सर्ग ७४, श्लोक २५
३२. वही, श्लोक २६, २७
३३. वही, श्लोक २८-३१

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०१० अङ्क १४ (पृ०१९०-१९४) ISSN 0974 – 8830

विश्व शान्ति में बौद्ध धर्म की उपयोगिता

प्रो० मनुदेव बन्धु[1]

गौतमबुद्ध का जीवन परिचय-बौद्ध धर्म के संस्थापक महात्मा बुद्ध का जन्म ५०५ विक्रमपूर्व के वैशाखी पूर्णिमा को शाक्य गणाधिप शुद्धोदन की पत्नी माया देवी के गर्भ से हुआ। १९ वर्ष की अवस्था में उन्होंने पत्नी के प्रेममय आलिङ्गन, नवजात शिशु की मन्द मुस्कान तथा राजपाट के विशाल वैभव को लात मार कर महाभिनिष्क्रमण किया। सांख्य विद्या के उपदेशक आराडकालाम के उपदेशों को उन्होंने सुना। परन्तु उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। अन्ततोगत्वा पच्चीस वर्ष की अवस्था में अपनी प्रज्ञा के प्रकर्ष से गौतम ने उरुवेल में चार आर्यसत्यों की प्रत्यक्ष अनुभूति कर ४७१ विक्रमी पूर्व के वैशाखी पूर्णिमा को 'बुद्धत्व' प्राप्त किया। मृगदाव (सारनाथ) में कौण्डिन्य आदि पञ्चवर्गीय पञ्चभिक्षुओं के सामने अपना प्रथम उपदेश देकर इन्होंने धर्म- चक्र प्रवर्त्तन किया। गणराज्य के आदर्श पर बुद्ध ने भिक्षुओं के संघ की स्थापना की और मानव क्लेशों से उद्धार पाने के लिये 'विनय' तथा 'धर्म' की शिक्षा जनसाधारण को 'मागधी भाषा' में दी। ४२६ विक्रमी पूर्व वैशखी पूर्णिमा को ८० वर्ष की आयु में मल्ल गणतन्त्र की राजधानी कुशीनगर (कसया, जिला गोरखपुर) में निर्वाण प्राप्त किया। जन्म बोधिप्राप्ति तथा निर्वाण प्राप्ति की घटनाएँ एक ही तिथि वैशाखी पूर्णिमा को घटित हुई थीं। अतः बौद्ध धर्म यह तिथि परमपवित्र मानी जाते है।

त्रिपिटक-बुद्ध के उपदेश मागधी भाषा में मौखिक ही होते थे। अतः उन्हें विस्मृति के गर्भ से बचाने के लिए बुद्ध के निर्वाणकाल में महाकश्यप के समापतित्व में बौद्ध भिक्षुओं की प्रथम संगीति (सम्मेलन) राजगृह में सम्पन्न हुई, जिसमें बुद्ध के पट्टशिष्य आनन्द के सहयोग से सुत्त पिटक तथा नापित कुलोत्पन्न उपालि के सहयोग से विनयपिटक का संकलन किया गया। सुत्त पिटक के अन्तर्गत दार्शनिक अंश के पल्लवन से अवान्तर काल में अभिधम्म पिटक का निर्माण किया गया। बुद्ध धर्म के ये ही तीन पिटक (पिटारी) सर्वस्व हैं। सुत्त पिटक में बुद्ध के उपदेश हैं। विनयपिटक में आचार सम्बन्धी ग्रन्थ हैं और अभिधम्म पिटक में दार्शनिक विषयों के विवेचनात्मक ग्रन्थ हैं। इन पिटकों (पिटारियों) में अनेक छोटे मोटे ग्रन्थ हैं।

आर्यसत्य-कर्त्तव्य शास्त्र के विषय में बुद्ध ने चार आर्य सत्यों का अपनी सूक्ष्म विवेक बुद्धि से रहस्योद्घाटन किया है। इस संसार में जीवन दुःखों से परिपूर्ण है (दुःखम्)। इन दुःखों का कारण विद्यमान है। (दुःख समुदाय)। इन दुःखों से वास्तविक मुक्ति मिल सकती है (दुःख निरोध)। इस दुःख निरोधप्राप्ति के लिए उचित उपाय या मार्ग (दुःख निरोध गामिनी प्रतिपत्)। सत्यों की संख्या अनन्त हैं, परन्तु अत्यधिक महत्त्व रखने से ही सत्य-चतुष्टय सर्वश्रेष्ठ हैं। चन्द्रकीर्त्ति के कथनानुसार इन सत्यों को आर्य कहने का अभिप्राय यह है कि आर्य (विद्वज्जन) लोग ही इन सत्यों के तह तक पहुँचते हैं, पामरजन जीते हैं और मरते हैं। तथा दुःखमय जगत् का अनुभव प्रतिक्षण करने पर भी इन सत्यों तक नहीं पहुँच पाते हैं। चिकित्सा शास्त्र के आधार पर मोक्षशास्त्र को चतुर्व्यूह मानना भारत में एक मान्य सिद्धान्त है। वैद्यक शास्त्र की इस समता के कारण बुद्धि की महाभिषक् संज्ञा है। दुःखों के उदय के लिये केवल एक कारण नहीं है, अपितु कारणों की एक लम्बी शृंखला है। इन्हीं कारणों को द्वादश निदान कहते हैं। जरामरण, जाति, भव, उपादान, तृष्णा,

---

१. अध्यक्ष वेद विभाग, अधिष्ठाता प्राच्य विद्या संकाय, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वेदना, स्पर्श, षडायतन, नामरूप, विज्ञान, संस्कार और अविद्या। पूर्व के प्रति पर-निर्दिष्ट कारण है। इस प्रकार समस्त दुःख पुञ्जों का आदिकारण अविद्या है। इन द्वादश निकायों के चक्र को भवचक्र कहते हैं।

प्रतीत्य समुत्पाद-इस भवचक्र का सम्बन्ध भूत, वर्त्तमान तथा भविष्य तीन जन्मों से हैं। इन्हीं द्वादश, निदानों का दूसरा नाम 'प्रतीत्यसमुत्पाद' है, जो बुद्ध धर्म का मौलिक सिद्धान्त माना जाता है। इसका अर्थ है-प्रतीत्य (प्रति इण् गतौ ल्यप्) किसी वस्तु की प्राप्ति होने पर समुत्पाद अन्य वस्तु की उत्पत्ति अर्थात् सापेक्ष कारणतावाद। प्रतीत्य समुत्पाद बुद्ध सम्मत कारणवाद है। इसका उपयोग मानव की स्थिति समझाने के लिए किया गया है। मनुष्य की उत्पत्ति शृंखलाबद्ध होती है। इस शृंखला के बारह अङ्ग हैं। अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना तृष्णा, उपादान, भव, जाति, और जरामरण। ये सभी दुःख के कारण है।

आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग- महात्मा बुद्ध ने दुःख निरोध गामिनी प्रतिपत् अर्थात् निर्वाण मार्ग को खोज निकाला। इस प्रतिपत् को आर्य अष्टांगिक मार्ग भी कहते हैं। इनका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है। सम्यक् ज्ञान (आर्यसत्यों का तत्त्वज्ञान)।२ सम्यक् संकल्प (दृढ़ निश्चय) ३-सम्यक् वचन (सत्यवचन) ४ सम्यक् कर्मान्त (हिंसा, द्रोह, दुराचरण रहित कर्म) ५-सम्यक् आजीव (न्याय पूर्ण जीविका) ६-सम्यक् व्यायाम (बुराईयों को न उत्पन्न होने देना तथा भलाई के वास्ते सतत उद्योग करना) ७-सम्यक् स्मृति (चित्त, शरीर वेदना आदि के अशुचि अनित्य रूप की उपलब्धि और लोभादि चित्त सन्ताप से अलग हटना ८-सम्यक् समाधि (राग-द्वेषादि द्वन्द्व के विनाश से उत्पन्न चित्त की शुद्ध नैसर्गिक एकाग्रता)। इस अष्टांगिक मार्ग के यथार्थ सेवन से प्रज्ञा का उदय होता है और निर्वाण (मुक्ति) की सद्यः प्राप्ति हो जाती है।

त्रिः आर्य सत्यों की समीक्षा करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि बुद्ध का मार्ग उपनिषत् प्रतिपादित मार्ग से नितान्त भिन्न नहीं है। उपनिषदों का ऋते ज्ञानात्र मुक्तिः सिद्धान्त बुद्ध को सर्वथा मान्य था। परन्तु शुद्ध ज्ञान की उत्पत्ति तब तक नहीं हो सकती जब तक उसके धारण करने का सामर्थ्य शरीर में नहीं होता। ज्ञानोत्पत्ति के लिए शरीर-शुद्धि नितान्त आवश्यक है। महात्मा बुद्ध ने शील के द्वारा शारीरिक शोधन पर विशेष बल दिया है। बुद्ध दर्शन में तीन साधन है-शील, समाधि तथा प्रज्ञा। इन्हें त्रिरत्न कहा जाता है।

पञ्चशील-संस्कृत के आचार्यों ने शीलं परंभूषणम् कहकर शील को मानव का आभूषण माना जाता है। शील से समग्र सात्त्विक कर्मों का तात्पर्य है। भिक्षु तथा गृहस्थ दोनों के कतिपय साधारण शील है, जिनका पालन करना प्रत्येक बौद्ध का परम कर्त्तव्य है।[२] अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा नशा का सेवन न करना ये पञ्चशील कहे जाते हैं। इनकी व्यवस्था दोनों के लिए समान है। योग दर्शन में यम पाँच बताये गये हैं- अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इन यमों का पालन योगाभ्यासी के लिए नितान्त अनिवार्य है।[३] भिक्षुओं के लिए अपराह्न भोजन, मालाधारण, संगीत, सुवर्णरजत तथा महार्घशय्या का त्याग।[४]

समाधि-समाधि से तीन प्रकार की विद्यायें उत्पन्न होती हैं-पूर्वजन्म की स्मृति, जीव की उत्पत्ति और विनाश का ज्ञान तथा चित्त के बाधक विषयों की जानकारी। सामञ्ञ फलसुत्त[५] में चार प्रकार की समाधि का दृष्टान्त-सहित-

२ दीर्घ निकाय-पृष्ठ २४-२८

३ अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः। योगदर्शन-पतञ्जलि

४ दीर्घ निकाय ३१ वा सुत्त सिंगालोवादसुत्त'' में गृहस्थाचार का विस्तृत विवरण है।

५ दीर्घनिकाय-पृष्ठ २८-२९

सुन्दर वर्णन किया गया है।

प्रज्ञा-प्रज्ञा तीन प्रकार की है-श्रुतमयी (आप्त प्रमाणजन्य निश्चय), चिन्तामयी (युक्ति से उत्पन्न निश्चय) तथा भावना मयी (समाधिजन्य निश्चय)।[६] शील सम्पन्न, श्रुति-चिन्ता-प्रज्ञा से युक्त पुरुष भावना (ध्यान) का अधिकारी होता है। प्रज्ञा के अनुष्ठान से ज्ञानदर्शन, मनोमय शरीर का निर्माण, ऋद्धियाँ, दिव्य श्रोत्र, परचित्तज्ञान, पूर्वजन्मस्मरण, दिव्यचक्षु की उपलब्धि होने के पश्चात् दु:ख क्षय का ज्ञान हो जाता है। चित्त कामास्रव (भोगनें की इच्छा), भवास्रव (जन्म लेने की इच्छा) तथा अविद्यास्रव (अज्ञानमल) से सदा के लिए निर्मुक्त हो जाता है और साधक निर्वाण प्राप्त कर लेता है।[७] अत: बुद्ध की शिक्षाओं का सारांश शील, समाधि तथा प्रज्ञा इन तीन शब्दों के द्वारा किया जा सकता है।

बुद्धशासन-धम्मपद ने बुद्धशासन के रहस्य को पापाकरण, पुण्यसञ्चय तथा चित्त परिशुद्धि-इन शब्दों में अभिव्यक्त किया गया है।

सब्ब पापस्य अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा। सचित्तपरियोदपनं एतं बुद्धान सासनं।।[८]

त्रिलक्षण-बौद्धमत में एक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक सिद्धान्त है त्रिलक्षण। इसके तीन लक्षण इस प्रकार हैं-

क्षणिकवाद-बौद्धमत की दृष्टि में सभी वस्तुएँ स्वनिर्मित हैं और वे सभी अनित्य हैं और जो भी यहाँपर नित्य या स्थायी भी प्रतीत होता है वहभी विपरिणामी धर्मों और विनाशशील है। अत: कोई भी वस्तु नित्य नहीं। प्रत्येक वस्तु क्षण-क्षण परिवर्त्तन शील है। महाकविमाघ ने अपने अमर ग्रन्थ शिशुपालवध' में इस क्षणिकवाद से सौन्दर्यबोध कराया है-**क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयताया:** अर्थात् जो वस्तु क्षण-क्षण में नवीनता को प्राप्त होती है वही उसकी रमणीयता-सौन्दर्य का नवीनतम रूप है।[९]

दु:खवाद-बौद्ध धर्म में चार आर्य सत्यों का वर्णन किया गया है। दु:ख, दु:ख समुदाय, दु:ख निरोध और दु:ख निरोध गामिनीप्रतिपद्। यही दु:खवाद है। परन्तु यहाँ ध्यातव्य यह है कि विना सुख के दु:ख का अनुभव कैसे होगा। दु:ख से सुख की और सुख से दु:ख की सत्ता है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। यदि संसार में केवल दु:ख ही होता तो कोई जीने की इच्छा नहीं करता। परन्तु चीटीं से हाथी तक और गरीब से अमीर तक सभी लोग जीना चाहते हैं। इससे सिद्ध होता है कि संसार में सुख की मात्रा दु:ख की मात्रा से अधिक है।

अनात्मवाद-महात्मा बुद्ध ने शरीर से भिन्न आत्मा और परमात्मा को स्वीकार नहीं किया है। वे इस मत को नहीं मानते कि आत्मा नित्य, ध्रुव अजर, अमर तथा सदा रहने वाला है। परन्तु यहाँ चिन्तनीय बिन्दु यह है कि कर्म कौन करता है और कर्म का फल कौन भोगता है। शरीर को तो हम मरने पर चिता के हवाले कर देते हैं। बुद्ध पुनर्जन्म को मानते हैं। विना आत्मा के पुनर्जन्म कैसे सम्भव? । कर्मानुसार पुनर्जन्म में शरीर बदल जाता है। अत: आत्मा की सत्ता शरीर में है।

निर्वाण-निर् उपसर्ग पूर्वक वन या वान शब्द से निर्वाण शब्द सिद्ध होता है। बौद्ध धर्म में वन शब्द अत्यधिक महत्त्व का है। वन का अर्थ तृष्णा किया गया है। और निर्वाण का अर्थ तृष्णा से निवृत्त होना अथवा तृष्णा का क्षय होना। निर्वाण जीवनरूपी ज्वाला का बुझना है। यह ज्वाला देहान्त के साथ बुझ नहीं जाती, अपितु मृत्यु के बाद फिर जन्म

---

६ अभिधर्मकोश-६/५

७ सामञ्ञफल सुत्त, दीर्घनिकाय, पृष्ठ ३०-३२

८ धम्मपद १४/५

९ शुशुपालवधम्-माघ

होता है और यह क्रम जारी रहता है। इसकी समाप्ति ज्ञान से होती है। ज्ञान चार आर्यसत्यों का साक्षात करना है और इसके लिए अष्टांगिक आर्य मार्ग पर चलना आवश्यक है। भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुए बुद्ध ने कहा था कि वहाँ पृथ्वी, जल, वायु, तेज, आकाश नहीं हैं, न वहाँ अनन्त चेतना है, न शून्य है, न प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष लोक है। उस निर्वाण अवस्था में आवागमन, स्थिरता, चपलता नहीं है। निर्वाण में दुःखों का अन्त हो जाता है। उपनिषदों के मोक्ष से निर्वाण की तुलना की जा सकती है।

भिक्षु संघ गौतम बुद्ध की तपस्या के दिनो में पाँच साधु उनसे अलग हो गये थे। सारनाथ में बुद्ध के प्रथम उपदेश को सुनकर पुनः वे उनके शिष्य हो गये थे। उसके बाद बुद्ध ने अन्य साधुओं को अपने संघ में शामिल करने का प्रयत्न जारी रखा। जब कोई पुरुष उनके भिक्षुमण्डल में लिया जाता था, तो उसे तीन प्रतिज्ञाएं लेनी होती थीं बुद्धंशरणं गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि।

उनके जीवन में संघ भिक्षुओं की स्थिति एक सी थी। सबके लिए बुद्धवचन अन्तिम प्रमाण था। बुद्ध ने संघ का नेतृत्व अपने शरीरान्त तक किया। वे तीनों प्रतिज्ञाएं आज भी बौद्ध भिक्षुओं के लिए अनिवार्य हैं।

हीनयान-महायान गौतम बुद्ध ने अपने जीवन में कुछ भी नहीं लिखा था। वे केवल उपदेश देते हुए भ्रमण करते रहें। उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके उपदेश तीन भागों में किये गये। पीछे इन में परिवर्त्तन भी समय-समय पर होता रहा तथा इनके संघ में मतभेद भी उभर कर आने लगे। यह मतभेद स्वाभविक है। पुरानी पीढ़ी और नयी पीढ़ी की विचारधारा में अन्तर स्वाभाविक है। परिणामतः बुद्ध की मृत्यु के कुछ समय बाद ही बौद्ध मत की दो शाखाएँ हो गयी। नयी शाखा ने अपने को **महायान** और पुराने विचारों के लोगों के लिए **हीनयान** नाम दिया। पुराने विचारों के लोग अपने मत को स्थिरवाद (थेरवाद-पूर्वजों का मत) कहते हैं और महायान मार्ग के लोग प्रगतिशीलता में विश्वास करते हैं। हीनयान बौद्धधर्म का मूलरूप है और महायान बौद्ध धर्म का विकसित और परिवर्त्तित स्वरूप है। समय के साथ-साथ चलने में ही भलाई है।

शून्यवाद-माध्यमिक लोग न तो बाह्यार्थ को मानते हैं और न विज्ञान को ही। उनकी दृष्टि में शून्य ही परमार्थ सत्य है। यह शून्य कोई अभाववादी शब्द नहीं है। यह एक अनिर्वचनीय तत्त्व का द्योतक है। जो न सत् है, न असत् हैं, न सदसद् है और न इन दोनों से भिन्न है। इन चार कोटियों से भिन्न तथा विलक्षण होने के कारण यह परमार्थ 'शून्य' नाम से अभिहित किया जाता है। इस प्रकार बौद्ध दर्शन में निःस्वभाव, अनिर्वचनीय, अलक्षण आदि शब्दों के द्वारा निरूपित शून्य ही परम तत्त्व है। इस स्थान पर पहुँचाना ही बौद्ध साधना का अन्तिमफल है।

क्षणिकवाद का खण्डन-क्षणिकवाद के अङ्गीकर से विषम अवस्था की झलक जयन्तभट्ट ने न्यायमञ्जरी में बड़े ही सुन्दर शब्दों में अभिव्यक्त की है। बौद्ध लोगों का चरित्र दम्भों की खान है। उनकी कथनी और करनी में कितना अन्तर दीखता है। कहते हैं कि आत्मा नहीं है परन्तु स्वर्गपाने के लिए चैत्य की पूजा करते हैं। संस्कार क्षणिक होते हैं, तब युग-युग में रहने वाले विहार क्यों बनाये जाते हैं। जब सब शून्य ही है तब गुरु को धन देने का आदेश क्यों दिया जाता है? इस प्रकार उनके उपदेश में और व्यवहार में महान् अन्तर उनकी दाम्भिकता को प्रदर्शित कर रहा है।[१०] आचार्य शंकर ने अपने प्रबल तर्कों से शून्यवाद का खण्डन किया है।[११]

बौद्ध धर्म के आचरण से विश्वशान्ति-आज विश्व में सर्वत्र अशान्ति और हिंसा का साम्राज्य दृष्टिगोचर हो रहा

---

१० न्यायमञ्जरी-जयन्तभट्ट, भाग २, पृष्ठ १६-१९
११ ब्रह्मसूत्र २/२/१८ शांकर भाष्य श्लोकवार्त्तिक-कुमारिलभट्ट, पृष्ठ २१७-२२३

है। आतंकवाद अपनी चरम सीमा में है। कोई किसी को देखकर खुश नहीं है। एकदेश दूसरे देश को नष्ट करना चाहता है। जीओ और जीने दो की भावना समाप्त हो गयी है। ऐसी विषय परिस्थिति में बौद्ध धर्म के चार आर्य सत्य, आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग, पञ्चशील, समाधि, प्रज्ञा और अहिंसा परमोधर्मः आदि सिद्धान्त याद आते हैं। पञ्चशील में अहिंसा प्रथम स्थान पर है। अहिंसा से ही विश्व में शान्ति की स्थापना हो सकती है। प्राणिमात्र के प्रति कल्याण का भाव होना चाहिए।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज में रहकर सुखी अनुभव करता है। अपनी उन्नति चाहता है। सर्वे भवन्तु सुखिनः की कामाना करता है। भौतिकवाद की प्रगति होने पर हिंसा और वैमनस्य का होना स्वाभिवक है। भौतिकवादी केवल अपनी उन्नति चाहता है। सभी को कष्ट देकर अपने आपको सुखी करना चाहता है। आज आतंकवाद अपनी चरमसीमा में है। एक आतंकवादी अपने आपको मारकर भी सबको आतंकित करता है। बड़ा देश छोटे देश को निगलना चाहता है। आज सभी साधन सम्पन्न देश सामूहिक विनाश के अस्त्र-शस्त्र का निर्माण कर रहे हैं। भारत के सभी पड़ोसी देश भारत को नष्ट करने में लगे हुए हैं। पाकिस्तान तो अपने जन्मकाल से ही भारत के साथ शत्रुता निभा रहा है। अपनी सीमा में आतंकी शिविरों को संरक्षण देकर वहाँ आतंकवादियों को तैयार करके भारत की सामा में प्रेषित कर देता है। ये विदेशी आतंकवादी भारत की सीमा में आकर विनाशलीला करते हैं।

इस हिंसामय वातावरण में महात्मा बुद्ध के उपदेश अत्यन्त लाभदायक हैं। करुणा और अहिंसा के अवतार महात्मा बुद्ध मद्यपान निषेध का उपदेश देते हैं। अहंसिा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह से विश्व में शान्ति की स्थापना हो सकती है। तेन व्यक्तेन भुञ्जीथाः की वैदिक भावना से ही विश्व में शान्ति की स्थापना हो सकती है। विनाशक हथियार नष्ट किये जाने चाहिये। मोक्ष की प्राप्ति में अहिंसा परमसहायक है।

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०१० अङ्क १४ (पृ०१९५-२०२) ISSN 0974 – 8830

आयुर्वेद की दृष्टि से महाभारत की प्रासङ्गिकता

डॉ० पुष्पा मलिक[1]

महाभारत संस्कृत साहित्य का विशालकाय एवं उत्कृष्ट महाकाव्य है, जो धार्मिक, दार्शनिक, राजनैतिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक दृष्टि से अद्वितीय है। वस्तुतः यह ज्ञान-विज्ञान, साहित्य एवं संस्कृति का विश्वकोष है। इस सन्दर्भ में डॉ० रामप्रसाद मिश्र का यह कथन सर्वथा समीचीन है- यह सत्य है कि यदि समस्त भारतीय वाङ्मय के एकमात्र प्रतिनिधि ग्रन्थ का चयन करना हो- भारतीय वाङ्मय के विश्वकोष का एकमात्र नाम बताना हो तो वह महाभारत ही होगा।[2] अपनी सर्वाङ्गपूर्णता एवं सार्वभौमिकता के कारण यह ग्रन्थ सर्वथा विलक्षण है। श्री अरविन्द के अनुसार- यह (महाभारत) एक बड़े पैमाने पर भारत की अन्तरात्मा का, उसके धार्मिक एवं नैतिक मन का, सामाजिक और राजनैतिक आदर्शों, संस्कृति एवं जीवन का महाकाव्य है। .... दार्शनिक, धार्मिक, नैतिक, सामाजिक और राजनैतिक विचारों की एक असाधारण राशि भी इसमें सम्मिलित की गई है।[3] इस प्रकार महाभारत में विषय वैविध्य प्राप्त होता है। आयुर्वेद से सम्बद्ध प्रचुर सामग्री इसमें उपलब्ध है।

विषय का प्रतिपादन करने से पूर्व आयुर्वेद शब्द के अर्थ, आयुर्वेद के प्रयोजन इत्यादि को स्पष्ट करना उपयुक्त होगा। आयुर्वेद सार्वभौमिक, सार्वकालिक एवं लोकोपकारी प्रत्यक्ष भारतीय शास्त्र है। भारतीय वाङ्मय में इसकी गणना उपवेदों में की गई है। आचार्य चरक ने आयुर्वेद का लक्षण इस प्रकार किया है-

हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।
मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते।।[4]

अर्थात् जिसमें हित, अहित, सुख और दुःख आयु के लिए हित और अहित, उस आयु का मान एवं स्वरूप बताया गया है, उसे आयुर्वेद कहते हैं। इसमें निर्दिष्ट हित एवं सुख आयु का पर्याय स्वस्थ जीवन है तथा अहित एवं दुःख आयु का पर्याय रोगग्रस्त जीवन है। एक अन्य स्थान पर चरक ने आयुर्वेद शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है-

तदायुर्वेदयतीत्यायुर्वेदः .... **यतश्चायुष्याण्यनायुष्याणि च द्रव्यगुणकर्माणि वेदयत्यतोऽप्यायुर्वेदः।**[5] अर्थात् जो आयु का ज्ञान कराता है, वह आयुर्वेद है...................... तथा जो आयु के लिए हितकारी एवं हानिकारक द्रव्य-गुण-कर्म को समझाकर कहता है, उसे आयुर्वेद कहते हैं। भाव मिश्र ने आयुर्वेद का लक्षण निम्नवत् किया है-

आयुर्हिताहितं व्याधेर्निदानं शमनं तथा।

---

१. रीडर एवं अध्यक्ष (संस्कृत) भ०आर्य कन्या स्ना० महाविद्यालय, लखीमपुर-खीरी।
२ विश्व के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य पृ०३२
३ संस्कृत साहित्य का इतिहास- आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृ०७८ से उद्धृत
४ चरक संहिता सू.१.४१
५ वही १.१५

विद्यते यत्र विद्वद्भिः स आयुर्वेद उच्यते।।[६]

अर्थात् आयु की रक्षा के लिए हितकारी एवं अहितकारी तत्त्वों के ज्ञान के साथ रोगों का निदान एवं शमन जिस शास्त्र से विद्वानों के द्वारा ज्ञात किया जाता है, उसे आयुर्वेद कहते हैं।

आयुर्वेद के दो प्रयोजन हैं- स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा तथा रोगी व्यक्ति को रोग से रहित करना- **प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनं च।**[७] **एवं व्याध्यपसृष्टानां व्याधिपरिमोक्षः स्वस्थस्य रक्षणं च।**[८]

आयुर्वेद का प्रथम प्रयोजन स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा करना है। स्वास्थ्य की रक्षा आयुर्वेद में निर्दिष्ट आहार, विहार, जीवनपद्धति आदि से ही सम्भव है, जिसे आयुर्वेद में स्वस्थवृत्त नाम से अभिहित किया गया है। इसका द्वितीय प्रयोजन है- रोगी को रोग मुक्त करना। रोगोपशमन हेतु रुग्णावस्था के लक्षणों का ज्ञान परमावश्यक है, क्योंकि इसके पश्चात् ही रोग का निदान तथा तदनुरूप चिकित्सा सम्भव होती है।

चरक संहिता[९] में चिकित्सा के पर्यायों में पथ्य तथा साधन- इन दो शब्दों का प्रयोग किया गया है। इनमें से पथ्य का प्रयोग आहार और विहार दोनों की पूर्ति के लिए किया गया है तथा साधन के अन्तर्गत वे उपाय समाविष्ट हैं, जिनसे हमारे शरीर के घटक साम्यावस्था में बने रहें तथा हम स्वस्थ रहें। इसके लिए चरक ने समुचित आहार, विहार और सद्वृत्त को अनिवार्य तत्त्वों के रूप में निर्दिष्ट किया है। इनमें से विधिवत् सेवन किया गया आहार शरीर का उपचय करके, सप्त धातुओं को ऊर्जा प्रदान करके सुख, आयुष्य एवं रोग प्रतिबन्धन का फल प्रदान करता है। विहार के अन्तर्गत दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या आदि के नियम समाविष्ट हैं व सद्वृत्त के अन्तर्गत इन्द्रिय एवं मन के लिए हितकारक व्यवहार का समावेश होता है।

महाभारत में आयुर्वेद से सम्बद्ध अनेक उद्धरण विकीर्ण हैं। इसके आदिपर्व में आयुर्वेद के आदि देव धन्वन्तरि का उल्लेख प्राप्त होता है। इसके अनुसार समुद्र मन्थन के समय डाली गई औषधियाँ अमृत के रूप में समुद्र से निकलीं तथा धन्वन्तरि अमृतयुक्त श्वेत कमण्डल धारण किये हुये प्रकट हुए। इस महाकाव्य में चिकित्सकों के लिए वैद्य, चिकित्सक, शल्यकर्त्ता, शल्योद्धरणकोविद, रसायनविद् आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है एवं नकुल और सहदेव को अश्विनी कुमारों के अवतार के रूप में वर्णित किया गया है।

महाभारत में स्वस्थ वृत्त से सम्बन्धित अनेक सन्दर्भ विद्यमान हैं। सर्वप्रथम यह जानना अनिवार्य है कि स्वस्थ किसे कहते हैं? सुश्रुत ने स्वस्थ व्यक्ति का लक्षण इस प्रकार किया है-

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते।।[१०]

इसमें आत्मा, इन्द्रियों और मन की प्रसन्नता तथा शरीर में स्थित दोषों, अग्नि, धातु, एवं मल की साम्यावस्था

---

६ भाव प्रकाश, आयुर्वेद प्रवक्तृ प्रादुर्भाव प्रकरण, ३
७ चरक संहिता, सूत्र स्थान
८ सुश्रुत संहिता, सू० १.१४
९ चरक० चि० स्थान १.३
१० सुश्रुत० सू० १५.४१

को स्वस्थ व्यक्ति के लक्षण के रूप में प्रतिपादित किया गया है। महाभारत के आश्वमेधिक पर्व में स्वस्थ पुरुष का लक्षण करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं-

शीतोष्णे चैव वायुश्च गुणा राजन् शरीरजाः।
तेषां गुणानां साम्यं चेत्तदाहुः स्वस्थलक्षणम्॥
सत्वं रजस्तमश्चेति त्रयस्त्वात्मगुणाः स्मृताः।
तेषां गुणानां साम्यं चेत्तदाहुः स्वस्थलक्षणम्॥[११]

इसमें प्रयुक्त शीत एवं उष्ण शब्दों से क्रमशः कफ एवं पित्त गृहीत होते हैं तथा तीनों गुणों में साम्य सुश्रुत के **प्रसन्नमनाः** से समानता रखता है। आयुर्वेद के समान ही महाभारत के अनेक स्थानों पर स्वास्थ्य के महत्त्व का निरूपण किया गया है। उद्योगपर्व का निम्नांकित श्लोक इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य है-

रोगार्दिता न फलान्याद्रियन्ते न वै लभन्ते विषयेषु तत्त्वम्।
दुःखोपेता रोगिणो नित्यमेव न बुध्यन्ते धनभोगान्न सौख्यम्॥[१२]

स्वस्थ रहने के लिए अनिवार्य तत्त्वों में सम्यक् आहार अन्यतम है, जैसाकि अष्टांगसंग्रह में कहा गया है-**देहो ह्याहारसम्भवः।**[१३] चरक के अनुसार आहार मनुष्य शरीर के तीन आधार स्तम्भों-आहार, स्वप्न (शयन) और ब्रह्मचर्य में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। महाभारत में भी आहार की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है-

आहारात्सर्वभूतानि सम्भवन्ति महीपते।
आहारेण विवर्धन्ते तेन जीवन्ति जन्तवः॥[१४]

आहार पवित्र, शुद्ध और सात्त्विक होना चाहिए। इस प्रकार के आहार से ही शरीर की रक्षा सम्भव है। मानवीय चेतना के मर्मज्ञ मनीषियों के अनुसार आहार से न केवल शरीर अपितु मन भी स्वस्थ रहता है-**आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः।**[१५]

महाभारत के भीष्म पर्व में किया गया आहार सम्बन्धी सूक्ष्म विश्लेषण विचारणीय है। इसमें आहार तीन प्रकार का बताया गया है- सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक। रसयुक्त, स्निग्ध, स्थिर एवं मन को प्रिय लगने वाले पदार्थ सात्त्विक आहार के अन्तर्गत आते हैं। सात्त्विक आहार आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ाने वाला होता है। अत्यधिक कटु, खट्टा, नमकीन, अत्यधिक उष्ण, तीक्ष्ण, रुक्ष, दाहकारक, दुःख, शोक और रोग को उत्पन्न करने वाला आहार राजसिक आंहार कहलाता है। बासी, रसरहित, दुर्गन्धियुक्त, उच्छिष्ट आहार तामसिक होता है। यह भोजन मन को स्थूल बनाता है तथा शरीर में आलस्य, तन्द्रा एवं नींद लाता है-

आयुः सत्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः। रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः। आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥

---

११ महाभारत, आश्व० १२.३, ४
१२ वही, उद्योग० ३६.६७
१३ अष्टाङ्गसंग्रह सू० ९.१०७
१४ महा०. आरण्यक० १३१.६
१५ छान्दोग्योपनिषद्

यातायामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्। उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्।।[१६]

इस प्रकार सात्त्विक आहार के सेवन से मनुष्य नीरोगी रहकर दीर्घायु को प्राप्त करता है। इसी प्रकार के अन्य उदाहरण भी महाभारत में उपलब्ध होते हैं। स्वस्थ रहने के लिए केवल हितकर भोजन ही अनिवार्य नहीं है, अपितु भोजन की मात्रा एवं उसका समय भी महत्त्वपूर्ण होता है जैसाकि कहा गया है-

हिताशी स्यात् मिताशीस्यात् कालभोजी जितेन्द्रियः।

महाभारत के शान्तिपर्व में भीष्म का यह कथन प्रासंगिक है-

ध्यानं तपो दमः क्षान्तिरनसूया मिताशनम्।[१७]

भोजन करने का समय महाभारत में प्रातः और सांयकाल उचित माना गया है-

सायं प्रातरित्यनयोर्मध्ये भोजनं निषिद्धम्।[१८]

इसी प्रकार महाभारत में विहार एवं सद्वृत्त से सम्बद्ध पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। रोग की चिकित्सा करने की अपेक्षा रोग न होने देना ही श्रेष्ठ है और चर्यात्रय अर्थात् ऋतुचर्या, दिनचर्या तथा रात्रिचर्या के सम्यक् परिपालन से व्यक्ति रोगग्रस्त नहीं होता है।

इसके अतिरिक्त आयुर्वेद के आठ अंगों से सम्बन्धित ज्ञान भी महाभारत में प्राप्त है। आयुर्वेद के आठ अङ्ग है- शल्य, शालाक्य, कायचिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्य, विष चिकित्सा, रसायन तथा वाजीकरण। इनमें से शल्य के अन्तर्गत विविध प्रकार के तृण, प्रस्तर, अस्थि और अग्नि के प्रयोग एवं व्रण के विनिश्चय के लिए किये जाने वाले कर्म समाविष्ट हैं। युद्ध से सम्बद्ध होने के कारण महाभारत में शल्य तन्त्र से सम्बन्धित विवरण स्वाभाविक है। इसमें अनेक प्रकार के शस्त्रों और उनसे हुए व्रणों का उल्लेख है। आयुर्वेद में छिन्न, भिन्न, विद्ध, क्षत, पिच्चित और घृष्ट इन छः प्रकार के व्रणों का वर्णन किया गया है। महाभारत में प्रायः इन सभी प्रकार के व्रणों का उल्लेख प्राप्त होता है। पिच्चित व्रण का एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

पीत्वा च शोणितं तत्र वसां पीत्वा च भारत।
मेदोमज्ञवसातृप्तास्तृप्ता मांसस्य चैव हि।।[१९]

युद्धभूमि में रक्त, मेद, मज्ञा और वसा का प्राचुर्य पिच्चित व्रणों की विपुलता को प्रकट कर रहा है। उपरिलिखित छः व्रणों के अतिरिक्त सुश्रुत संहिता[२०] में बताये गये अस्थिभग्न और दग्धव्रण के उदाहरण भी महाभारत में देखने को मिलते हैं यथा इसमें दुर्योधन के वर्णन में भग्नसक्थ[२१] शब्द का प्रयोग किया गया है तथा खाण्डववन में दग्ध लोगों का उदाहरण 'दग्धव्रण'[२२] का है। युद्ध की समाप्ति होने पर उभयपक्षीय योद्धाओं के द्वारा शल्यों को

---

१६ महा०, भीष्म० ३९.८-१०
१७ शान्ति पर्व १८९.९
१८ वही २३५.६
१९ वही कर्ण० ३६.३५
२० सुश्रुत० नि० १५
२१ महा०, सौप्तिक० ९.३
२२ वही, आदि० २१७.५

निकालकर स्नान किये जाने का वर्णन महाभारत के भीष्म पर्व में किया गया है-

रक्षां कृत्वात्मनः शूरा न्यस्य गुल्मान् यथाविधि। अपनीय च शल्यांस्ते स्नात्वा च विविधैर्जलैः॥[२३]

जल को औषधि माना गया है। अथर्ववेद में जल के चिकित्सीय गुण का वर्णन किया गया है-**अप्सु भेषजम्।**[२४]

महाभारत में शल्योद्धरणकोविद् वैद्यों का उल्लेख प्राप्त होता है। ये वैद्य शल्यकर्म से सम्बन्धित उपकरणों से युक्त थे-

उपातिष्ठन् अथो वैद्याः शल्योद्धरणकोविदाः।
सर्वोपकरणैर्युक्ताः कुशलास्ते सुशिक्षिताः॥[२५]

इसके अतिरिक्त इसमें विशल्यकरणी ओषधि का सन्दर्भ उपलब्ध होता है, जिसके प्रयोग से दुर्योधन विशल्य हो गया। यद्यपि इस ओषधि का उल्लेख आयुर्वेदीय ग्रन्थों में नहीं है, परन्तु लाङ्गली, पाटला, गुडूची इत्यादि विशल्य शब्द से अभिहित हैं। इनमें से लाङ्गली शल्यनिर्हरण ओषधि के रूप में उल्लिखित है।

शालाक्य तन्त्र के अन्तर्गत जत्रु (ग्रीवामूल) से ऊपर के अंगों यथा शिर, नेत्र, नासिका, गला इत्यादि के रोगों का वर्णन किया गया है।[२६] शालाक्य तन्त्र के विशेषज्ञ निमिराज का नामोल्लेख महाभारत के अनुशासन पर्व में अत्यन्त आदर के साथ किया गया है[२७] जिससे तत्कालीन शालाक्य तन्त्र की स्थिति ज्ञात होती है। इसके शान्ति पर्व में शीर्ष रोग, नेत्र रोग आदि का उल्लेख प्राप्त होता है-

द्वन्द्वमेति च निर्द्वन्द्वस्तासु तास्विह योनिषु।
शीर्षरोगे चाक्षिरोगे च दन्तशूले गलग्रहे॥[२८]

धृतराष्ट्र की जन्मान्धता तो सर्वविदित है, उनकी जन्मान्धता का कारण बताते हुए कहा गया है-

मातृदोषादृषेः कोपादन्ध एव व्यजायत।[२९]

महर्षि व्यास के तेज को सहन न करने के कारण अम्बिका ने अपने नेत्र बन्द कर लिये थे, अतः धृतराष्ट्र अन्धे ही उत्पन्न हुए। इसी के समान उपमन्यु की अन्धता भी प्रसिद्ध है। वे जन्मान्ध नहीं थे, परन्तु अर्क के पत्ते खा लेने के कारण वे अन्धे हो गये थे।[३०] अगदतन्त्र में अर्क की गणना उपविषों में की गई है, इसका सेवन करने से मनुष्य अन्धा हो सकता है।

कायचिकित्सा आयुर्वेद के अष्टांगों में महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। इसके अन्तर्गत रोगों का लक्षण, कारण और

---

२३ वही, भीष्म० ८२.५३
२४ अथर्व० ६.४.४
२५ महा० भीष्म० ११५.५१
२६ सुश्रुत० सू० १.८
२७ महा०, अनु० १५१.४७
२८ वही, शान्ति० २९२.५
२९ वही, आदि० ६१.७८
३० वही ३.५१, ५२

चिकित्सा निर्दिष्ट होती है। महाभारत में अनेक रोगों का वर्णन उपलब्ध होता है। इसके शान्ति पर्व में रोगों को कर्मज बताया गया है।[३१] पूर्वजन्म के पापकर्मों के फलस्वरूप इस जन्म में मनुष्य व्याधिग्रस्त हो जाता है। ऋतुसन्धि को भी इसमें रोगोत्पत्ति के कारणविशेष के रूप में निरूपित किया गया है। महाभारत में ज्वर, राजयक्ष्मा, अपस्मार, उन्माद, कुष्ठ आदि रोगों का वर्णन किया गया है। ज्वर को आयुर्वेद के ग्रन्थों में प्रधान रोग कहा गया है तथा अपचार की स्थिति में जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त ज्वर की सम्भावना बताई गई है-

.... ज्वरो लोके भविष्यति।

जन्मादौ निधने च त्वमपचारान्तरेषु च।।[३२]

महाभारत में भी ज्वर के विषय में यही बात कही गई है-

मरणे जन्मनि तथा मध्ये चाविशते नरम्।[३३]

वृत्रवध की कथा के प्रसङ्ग में ज्वर के लक्षणों का प्रतिपादन किया गया है,[३४] जो आयुर्वेदीय ग्रन्थों में प्राप्त ज्वर के लक्षणों के समान ही है।

राजयक्ष्मा रोग अत्यधिक भयंकर रोग है। इसमें शरीर की समस्त धातुओं का क्षय हो जाता है। अतः इसे क्षयरोग भी कहा जाता है। इस रोग का कारण शुक्रक्षय बताया गया है। महाभारत में विचित्रवीर्य के राजयक्ष्मा रोग से ग्रस्त होने का वर्णन इस प्रकार किया गया है-

ताभ्यां सह समाः सप्त विहरन् पृथिवीपतिः।

विचित्रवीर्यस्तरुणो यक्ष्माणं समपद्यत।।[३५]

इस रोग की चिकित्सा यज्ञ से सम्भव है यथा शल्यपर्व में वर्णित चन्द्रमा के क्षयरोग का यज्ञोपचार किये जाने का प्रतिपादन है।[३६] अन्य अनेक रोगों का वर्णन महाभारत में प्राप्त होता है, परन्तु विस्तारभय से उनका वर्णन नहीं किया जा रहा है।

भूतविद्या (ग्रह चिकित्सा) के अन्तर्गत गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, ग्रह आदि के आवेश से दूषित शरीर एवं मन की शान्ति के लिए दान, पूजा आदि कर्म किये जाते हैं। रोगों की उत्पत्ति में इनको अदृष्ट कारण माना गया है। विशेषरूप से मानस रोगों (उन्माद, अपस्मार आदि) की उत्पत्ति में इनको प्रमुख कारण बताया गया है। महाभारत में भूतविद्या से सम्बन्धित कुछ ही उद्धरण प्राप्त होते हैं। इसमें यक्ष, राक्षस, ग्रह आदि की शान्ति के लिए अथवा इनसे रक्षा के लिए रक्षोघ्न मन्त्रों का प्रयोग,[३७] मणि का उपयोग,[३८] बलिकर्म का प्रयोग,[३९] सद्वृत्त का पालन[४०] आदि उपायों का उल्लेख है।

---

३१ वही, शा० २६२.४९
३२ चरक० चि० ३.१०
३३ महा०, शान्ति० ७४.५४
३४ वही, २७३.१-३
३५ वही, आदि० ९६.५८
३६ वही, शल्य० ३४.५६
३७ वही, कर्ण० ३०.७०, ७१
३८ वही, सौप्तिक० १५.२८-३०
३९ वही, अनु० १००.१२, १३

चरक संहिता में भी इन्हीं को ग्रह निवारक उपाय के रूप में प्रतिपादित किया गया है।[४१]

कौमारभृत्य को काश्यप संहिता में आयुर्वेद के अष्ट अंगों में श्रेष्ठ अङ्ग माना गया है। इसके अन्तर्गत कुमारभरण, धात्री क्षीर दोष संशोधन और दुष्टस्तन्यग्रहजन्य व्याधियों के उपशमन का वर्णन है।[४२] प्रसूति तन्त्र इसका एक अङ्ग है। महाभारत में आयुर्वेद के इस अङ्ग से सम्बन्धित प्रचुर सामग्री प्राप्त होती है। गर्भधारण के योग्य वय का उल्लेख इसमें किया गया है, प्रकारान्तर से इसको आरण्यक पर्व में कहा गया है-

सप्तवर्षाष्टवर्षाश्च स्त्रियो गर्भधरा नृप।

दशद्वादशवर्षाणां पुंसां पुत्रः प्रजायते।।[४३]

युगान्त के समीपस्थ होने पर कौन-से अनाचार होंगे, इस सन्दर्भ में उपर्युक्त वय को गर्भधारण के अयोग्य बताया गया है। गर्भसम्भव के लिए अनिवार्य चार घटकों (ऋतु, क्षेत्र, अम्बु एवं बीज), गर्भाधान, गर्भवृद्धि, प्रसूति प्रक्रिया इत्यादि का विस्तृत वर्णन महाभारत में किया गया है।

आयुर्वेद के अन्य अंगों की भाँति विष चिकित्सा (अगदतन्त्र) भी एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। इसके अन्तर्गत स्थावर, जंगम विषों के लक्षण एवं उनकी चिकित्सा का वर्णन किया गया है। महाभारत के अध्ययन से तत्कालीन विषवैद्यक की स्थिति का ज्ञान होता है। इसके आदि पर्व में स्थावर, जंगम विष का वर्णन, मन्त्रों द्वारा विष के प्रभाव को कम करने का उल्लेख तथा तक्षक सर्प द्वारा दंशित वृक्ष को महर्षि काश्यप द्वारा मन्त्रों से पुनर्जीवित करने[४४] का वर्णन उपलब्ध होता है। सर्पसत्र के प्रसङ्ग में दधिमुख, पुष्प, शङ्खशिरा, तक्षक, कृष्णसर्प, वासुकि इत्यादि सर्पों की प्रजातियों का उल्लेख है।

रसायन का मुख्य लक्ष्य समस्त धातुओं को आप्यायित कर शरीर और मन को स्वस्थ रखना है। इससे शरीर में ओज की वृद्धि होकर व्याधिक्षमत्व समृद्ध होता है। मनुष्य बहुत समय तक युवा बना रहता है। महाभारत के निम्नलिखित श्लोक में रसायन लाभ का निर्देश किया गया है, जिसमें युधिष्ठिर भीम से पूछते हैं-

तपसा वा सुमहता कर्मणा वा श्रुतेन वा।

रसायनप्रयोगैर्वा कैनोपैति जरान्तकौ।।[४५]

आयुर्वेद के ग्रन्थों में रसायन सम्बन्धी अनेक पदार्थों का वर्णन है। महाभारत में दूध को सर्वोत्तम रसायन के रूप में निर्दिष्ट किया गया है।[४६] रसायन तन्त्र में च्यवनप्राश कल्प के रूप में प्रसिद्ध है। यद्यपि महाभारत में इसका उल्लेख नहीं है, तथापि च्यवन ऋषि का नामोल्लेख एवं अश्विनी कुमारों के द्वारा प्राप्त उनके पुनर्यौवनत्व का उल्लेख इसमें किया गया है-**ताभ्यां च यत्र स मुनिर्यौवनं प्रतिपादितः।**[४७]

---

४० वही, आरण्यक० २१९.५७, ५८
४१ चरक० नि० ७.१६
४२ सुश्रुत० सू० १.८
४३ महा०, आरण्यक० १८६.५२
४४ वही, आदि० ३९.९
४५ वही, शान्ति० ३०७.२
४६ वही, आदि० ९३.१९
४७ वही, आदि० २.११८

आयुर्वेद के रसायन तन्त्र में द्रव्य रसायन के साथ-साथ आचार रसायन यथा सत्य, अहिंसा, अक्रोध, क्षमा इत्यादि को भी महत्त्वपूर्ण माना गया है। महाभारत के अनुशासन पर्व में भी आचार को दीर्घायु का कारण माना गया है-

आचाराल्लभते ह्यायुः..................................।[४८]

दुराचारो हि पुरुषो नेहायुर्विन्दते महत्।[४९]

यौन जीवन को सुखी बनाना तथा स्वस्थ सन्तान को जन्म देना वाजीकरण का मुख्य उद्देश्य है। सम्प्रति कामप्रधान युग में वाजीकरण की अत्यधिक उपयोगिता है। महाभारत में इससे सम्बद्ध उल्लेख प्राप्त होते हैं। इसमें स्वस्थ सन्तान की अनेक प्रकार की प्रशंसा की गई है। यद्यपि इसमें वाजीकरण से सम्बन्धित ओषधियों का वर्णन नहीं है, तथापि अनेक स्थलों पर वाजीकरणभाव वर्णित है। विश्वामित्र की तपस्या से भयभीत इन्द्र मेनका अप्सरा को उनके पास भेजते हैं। मेनका इसके लिए कामदेव और मरुत् की सहायता की अपेक्षा करती है। वे सब मिलकर विश्वामित्र को आकर्षित करने का प्रयत्न करते हैं।[५०] इस प्रसङ्ग में मेनका का रूप, यौवन, स्मित इत्यादि भाव वाजीकरणभाव ही हैं।

इस प्रकार आयुर्वेद की दृष्टि से महाभारत का अनुशीलन करने से तत्सम्बन्धी बहुल ज्ञान इसमें उपलब्ध होता है, जो वर्तमान समय में भी प्रासंगिक है। इसमें आहार, विहार सम्बन्धी जो विवरण उपलब्ध है, उसके अनुसार जीवन यापन करने से आयुर्वेद के दोनों प्रयोजन सिद्ध हो जाएंगे तथा मनुष्य उनको अपने जीवन में अपनाकर स्वस्थ रहकर दीर्घायु को प्राप्त कर सकता है तथा रोग होने की स्थिति में उसके लक्षण को जानकर तथा उपयुक्त चिकित्सा करके नीरोग होकर जीवन व्यतीत कर सकता है तथा वैदिक ऋषि के शब्दों में की गई निम्न अभिलाषा को भी सार्थक कर सकता है-

पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं
शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतम्
अदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्।[५१]

---

४८ वही, अनु० १०७.६
४९ वही, अनु० १०७.७
५० वही, आदि० ६६.३-५
५१ यजुर्वेद ३६.२४

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०१० अङ्क १४ (पृ०२०३-२०६) ISSN 0974 – 8830

बृहस्पति स्मृति में वर्णित दण्ड-व्यवस्था

डॉ० सन्ध्या कुमारी[१]

प्राचीन भारतीय मनीषियों में आचार्य बृहस्पति का नाम अग्रगण्य है। कौटिलीय अर्थशास्त्र के प्रारम्भ में ऋषि वन्दना में शुक्र-बृहस्पति को नमन **(नमः शुक्रबृहस्पतिभ्याम्)**[२] स्पष्ट कर देता है कि कौटिल्य के युग तक बृहस्पति ख्यातिलब्ध अर्थशास्त्री माने जा चुके थे। आचार्य बृहस्पति ने अपने ग्रन्थ बृहस्पति स्मृति में न्याय एवं दण्ड-व्यवस्था का विशद विवेचन किया है। वर्णाश्रमों को अपने-अपने कर्तव्यों के प्रति प्रेरित करना एवं स्वधर्म अर्थात् अपने कर्तव्यों के पालन से विचलित होने वालों को दण्ड देना बार्हस्पत्य मतानुसार राजा का पुनीत कर्तव्य था।[३] बृहस्पति स्वीकार करते हैं कि जो राजा अदण्डयों को दण्ड देता है एवं दण्ड्यों को दण्ड नहीं देता उसके राज्य में मात्स्य-न्याय होता है।[४] अर्थात् समस्त सामाजिक व्यवस्था समाप्त हो जाती है। राजा के भय से ही लोग अपने कार्य करते हैं एवं स्वधर्मपालन से विचलित नहीं होते।[५] धर्म की स्थापना के निमित्त दण्ड की आवश्यकता पड़ती थी। अतः बृहस्पति स्वीकार करते हैं कि अदण्ड्यों को दण्ड एवं दण्ड्यों को दण्ड न देने वाले राजा का अयश होता है एवं वह नरकगामी होता है।[६]

आचार्य बृहस्पति के अनुसार दण्ड एवं न्याय का उद्देश्य था सत्य स्थिति का पता लगाना, वास्तविक अपराधी को दण्ड देना एवं अपराध निरोध द्वारा दुःखी व्यक्ति के दुःख को समाप्त करना।[७] बार्हस्पत्य न्याय व्यवस्था की अन्य विषेशता अपराध के अनुरूप दण्ड देने की आयोजना थी। वे दण्ड के कई प्रकार मानते हैं तथा अपराधी को उसके अपराध के अनुपात में ही दण्ड देने की मान्यता देते हैं।[८] संभवतः उनका विश्वास रहा होगा कि सुशासन के अन्तर्गत बर्बरता एवं अत्याचारी कठोर शासनशक्ति के नग्न प्रदर्शन की आवश्यकता नहीं होती। उनके दण्ड का एक ही उद्देश्य है कि स्वधर्म का त्याग करके लोग अन्य मार्ग पर चल कर शेष प्रजा को भी उस मार्ग पर चलने को बाध्य न कर दें। यह बात अवश्य है कि बृहस्पति वर्णाश्रमधर्म के अनुरूप दण्ड व्यवस्था में भी अन्तर स्थापित करते हैं। संभवतः इस अन्तर का उद्देश्य था सामाजिक महत्त्व एवं प्रतिष्ठा को दृष्टिगत करते हुए अपराधी को दण्ड देना।

एष दण्डः समाख्यातः पुरुषापेक्षया मया।
समन्यूनाधिकत्वेन कल्पनीयो मनीषिभिः॥[९]

कौटिल्य भी व्यक्ति के महत्त्व के अनुरूप दण्ड घटाने-बढ़ाने के समर्थक हैं।[१०] बार्हस्पत्य एवं शेष भारतीय

---

१. वरिष्ठ प्रवक्ता संस्कृत विभाग, पी०सी० बागला (पी०जी०) कॉलेज, हाथरस। मो० नं० :- ९४११९८०१७९
२. कौटिलीय अर्थशास्त्र पृष्ठ १
३. बृहस्पति स्मृति व्य०काण्ड १/७-९
४. नीति पृष्ठ १०५ दण्ड्यं दण्डयति नो यः पापदण्डसमन्वितः। तस्य राष्ट्रे न संदेहो मात्स्यो न्यायः प्रकीर्तितः॥
५. बृहस्पति स्मृति व्य०काण्ड १/७-८
६. बृहस्पति स्मृति व्य०का० १/७७
७. बृहस्पति स्मृति व्य०का० १/७७- ७८
८. बृहस्पति स्मृति व्य०का० २०/१९
९. बृहस्पति स्मृति व्य०का० २०/१९

दण्ड विधानों की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि कोई भी अपराधी अपनी महत्त्वपूर्ण स्थिति के कारण अदण्ड्य नहीं है।[११] अपराध के अनुरूप दण्ड का बार्हस्पत्य आदर्श अपनी विशिष्ट भावना रखता है जिसके अनुसार वर्णों के अनुरूप अपराधों के लिये दण्ड निश्चित किया जाता है।[१२] उदाहरणार्थ, ब्राह्मण महापातकी को प्राणदण्ड नहीं दिया जा सकता। उनके लिये कठोरतम दण्ड होगा--सिर मुड़ा कर देश से निर्वासित कर देना।

महापातकयुक्तोऽपि न विप्रो वधमर्हति।
निर्वासनांकने मौण्ड्यं तस्य कुर्यात् नराधिपः।।[१३]

प्राचीन युग में इस प्रकार के दण्ड की महिमा थी और उद्धत राजकुमारों तक को निर्वासित कर दिया जाता था।[१४] आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय विधान इस प्रकार के निष्कासन की मान्यता नहीं देता, क्योंकि प्रत्येक देश और राज्य किसी न किसी की प्रभुसत्ता में होता है।

बार्हस्पत्य दण्ड विधान के अन्तर्गत सामाजिक शान्ति और व्यवस्था की मंगलमय भावना को आदर्श माना गया था और उसे भंग करने वालों को दण्ड देने का सिद्धान्त, निश्चय ही सुधार की भावना से दण्ड देने के सिद्धान्त की ओर इंगित करता है। बृहस्पति दण्ड के चार प्रकार मानते हैं- **वाग्दण्ड, धिग्दण्ड, धनदण्ड तथा वध दण्ड।**

वाग्दण्डश्चैव धिग्दण्डो विप्राधीनौ तु तावुभौ।
अर्थदण्डवधावुक्तौ राजायत्तावुभावपि।।[१५]

वास्तव में दण्ड के ये चारों प्रकार अपराध की गुरुता और अपराध की पुनरावृत्ति के अनुसार अधिक होते जाते थे। अपराध के स्वरूप के अनुसार दण्ड देने का विधान स्पष्ट रूप से प्रथम दो प्रकारों के दण्ड को सुधारवादी मानने के लिये बाध्य करता है। वाग्दण्ड का यह अर्थ माना जा सकता है कि अपराधी को शाब्दिक चेतावनी दी जाती थी अर्थात् उससे कहा जाता था कि तुमने यह बड़ा ही अशोभनीय कार्य किया है। धिग्दण्ड के अन्तर्गत कठोर वचनों में उससे कहा जाता था, कि तुम पातकी हो। तुम्हें धिक्कार है। वाग्दण्ड एवं धिग्दण्ड में प्रभाव का अन्तर था न कि प्रकार का। इस प्रकार व्यक्ति को उसके महत्त्व, कर्तव्यनिष्ठा और अपनी स्थिति के विपरीत कार्य करने का स्मरण दिला कर उसे फिर से कार्यनिष्ठ बनाया जा सकता था। ये दोनों प्रकार के दण्ड ब्राह्मण (-प्राड्विवाक) के अधीन थे।[१६]

उच्चस्तरीय एवं कठिन दण्ड विधान में अन्तिम दोनों (अर्थात् धनदण्ड एवं वधदण्ड) की गणना होती थी। ये दोनों ही प्रकार राजाधीन थे।[१७] धनदण्ड भी दो प्रकार का होता था। प्रथम प्रकार के अन्तर्गत अपराध अथवा सम्बन्धित धनराशि के अनुरूप दण्ड होता था।[१८] द्वितीय के अन्तर्गत व्यक्ति के महत्त्व के अनुरूप धनदण्ड हीनाधिक होता था।

---

१०. अर्थशास्त्र ४/८, पश्ठ २२०- २२२
११. बृहस्पति स्मृति व्य०का० १/७-८
१२. बृहस्पति स्मृति व्य०का० २०/१९
१३. बृहस्पति स्मृति व्य०का० ९/१०- ११
१४. Early History of ceylon, pp.6-7.
१५ बृहस्पति स्मृति व्य०का० १/९१
१६. बृहस्पति स्मृति व्य०का० १/९१
१७. बृहस्पति स्मृति व्य०का० १/९१
१८. बृहस्पति स्मृति व्य०का० ९/१९, २५ वधार्हकः स्वर्णशतं दमं दाप्यस्तु पुरुषः। अपराधानुरूपो च दण्डोऽत्र परिकल्पितः॥

समानयोः समो दण्डो न्यूनस्य द्विगुणस्तु सः। उत्तमस्याधिकः प्रोक्तः वाक्पारूष्ये परस्परम्॥

विप्रे शतार्धदण्डस्तु क्षत्रियस्याभिशंसने। विशस्तथाऽर्धपंचाशच्छूद्रस्त्वर्धस्त्रयोदश॥[१९]

दण्ड के चतुर्थ प्रकार

वध दण्ड की गरिमा सबसे अधिक होती थी, प्राचीन भारत में वध शब्द का प्रयोग प्राणदण्ड के लिये न होकर शरीर पीड़न, ताड़न, बन्धन, और विडन्नक आदि सभी प्रकारों के लिये हुआ है। इस प्रकार के दण्ड की आयोजना बृहस्पति शूद्रों के लिये करते हैं।[२०] बन्धन का अर्थ सामान्य रूप से स्वतन्त्र व्यवहार से रोक रखने, उसे हथकड़ी तथा बेड़ी पहिनाने और कारागार में डाल देने, सभी कार्यों के लिये होता है। ताड़न के सामान्य पिटाई से लेकर बेंत तथा कशाघात सभी की गणना होती थी। विडन्नक का अर्थ होता था अपराधी को विरूप अथवा कुरूप कर देना। जघन्य अपराधों के लिये वध के अन्तिम प्रकार प्राण वध (प्राण दण्ड) की आयोजना करनी पड़ती थी। इस प्रकार के दण्ड के अवसर उस समय उपस्थित होते थे जब अन्य सभी प्रयोग निष्प्रयोजन तथा गुरुताहीन हो जाते थे। बृहस्पति का स्पष्ट मत है कि यदि एक को प्राणदण्ड देने से बहुतों का कल्याण होता है तो उसे प्राण दण्ड दे दिया जाये।

एकस्मिन् यत्र निधनं प्रापिते पापचारिणि।

बहूनां भवति क्षेमः तस्य पुण्यप्रदो वधः॥[२१]

बृहस्पति विभिन्न प्रकारों के अपराधियों की तालिका प्रस्तुत करते हैं। वे चोरी के कई प्रकार मानते हैं। जिनमें प्रकाश तस्कर तथा सामान्य चोरों की पृथक् श्रेणियाँ होती थी।[२२] दूसरे प्रकार के अपराधी कृत्रिम वस्तु का निर्माण करके व्यापार करते थे।[२३] अपराधियों का तीसरा प्रकार पारूष्य और साहस के कार्य करने वालों का होता था।[२४] चौथे प्रकार के सामाजिक मान्यताओं का उल्लंघन करने वाले महापातकी होते थे।[२५] अपराधियों का अन्तिम प्रकार राजद्रोहियों का होता था।[२६] निगम के सदस्य, वैद्य, कितव, उत्कोचग्राही सभ्य, झूठे साक्षी, तथा कुहकजीवी आदि प्रकाश तस्कर माने जाते थे।[२७] संधि भंग करने वाले, पशुओं की चोरी करने वाले तथा सस्य चुरा लेने वाले प्रच्छन्न तस्कर माने जाते थे।[२८] चोर, भिषग्, ग्लह, कूटदेविन्, क्षुद्र, वंचक तथा कम मूल्य की वस्तु अधिक मूल्य पर बेचने वाले भी चोर माने जाते थे।[२९] स्त्री बालकों को धोखा देने वाले, कृत्रिम-हेम, मुक्ता, प्रवाल बनाने वाले, भ्रमित करने वाले, दूसरे प्रकार के

---

१९. बृहस्पति स्मृति व्य०का० २०/८, २०/१२
२०. बृहस्पति स्मृति व्य०का० ९/२०, १२-१३
२१. बृहस्पति स्मृति व्य०का० २२/७
२२. बृहस्पति स्मृति व्य०का०२२/२-३
२३. बृहस्पति स्मृति व्य०का० २२/४
२४. बृहस्पति स्मृति व्य०का०२०/१, २३/१
२५. बृहस्पति स्मृति व्य०का० ९/११
२६. बृहस्पति स्मृति व्य०का० ९/१२-१३
२७. बृहस्पति स्मृति व्य०का० २२/२३
२८. बृहस्पति स्मृति व्य०का० २२/४
२९. बृहस्पति स्मृति व्य०का० २२/११/१६

अपराधी माने जाते थे।[३०] मारपीट करने वाले, गाली-गलौज करने वाले, राजभार्या का हरण करने वाले परस्त्री के साथ बलात्कार करने वाले छद्मवध करने वाले, तीसरे प्रकार के अपराधी माने जाते थे।[३१] महापातकियों में अनुचित शरीर सम्बन्ध रखने वालों की गणना की जाती थी।[३२]

इन अपराधियों के लिये बृहस्पति अपराध के अनुपात में दण्ड निर्धारित करते हैं। अर्थ दण्ड से लेकर पेड़ में उलटा लटकाना, अंग-भंग तथा वध सभी को वे अवसर के अनुरूप मान्यता प्रदान करते हैं। उनका स्पष्ट कथन है कि एक दुष्टचारी के वध से बहुतों का क्षेम-कल्याण होता है तो उसका वध कर देना पुण्यकारी है। जुआ खेलने वाले, अन्यायवादी, उत्कोचजीवी सभ्य, वंचक ये सभी निर्वासित कर दिये जायें। मनुष्यों की चोरी करने वाले को जलती कड़ाही में जला दे। गौ चुराने वाले की नासिका काट ली जाये (या) उसे जल में डुबा दिया जाय।[३३]

बार्हस्पत्य दण्ड विधान के अन्तर्गत सामाजिक शान्ति और व्यवस्था की मंगलमाय भावना को आदर्श माना गया था। बार्हस्पत्य न्याय एवं दण्ड व्यवस्था का आदर्श है-सत्य स्थिति का पता लगाना और वास्तविक अपराधी को दण्ड देना। इस प्रकार बार्हस्पत्य स्मृति में स्वच्छ भारतीय शासन-व्यवस्था का प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है। उस व्यवस्था का थोड़े भी अंशों में यदि हमारे शासक निष्ठापूर्वक पालन करें तो जनता का बहुत बड़ा उपकार हो सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस सत्य सनातन धर्म पर अवलम्बित बार्हस्पत्य दण्ड व्यवस्था की आवश्यकता समस्त भारतीयों के लिये हैं। अतः बार्हस्पत्य दण्डनीति के अनुसार जो भारतीय शासन व्यवस्था है, वह व्यवस्था न केवल भारतवर्ष के लिये अपितु सम्पूर्ण विश्व के लिये आदर्श एवं उपादेय है। आचार्य बृहस्पति का यह दण्ड विधान मानवतापूर्ण एवं सैद्धान्तिक है।

---

३०. बृहस्पति स्मृति व्य०का०२२/१७-१८

३१. बृहस्पति स्मृति व्य०का० ९/२५ अपराधानुरूपश्च दण्डोऽत्रपरिकल्पितः।

३२. बृहस्पति स्मृति व्य०का० २/२/७, ९/११-१४, २२

३३. बृहस्पति स्मृति व्य०का० २२/९, ११-१४, २२

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०१० अङ्क १४ (पृ०२०७-२१२) ISSN 0974 – 8830

मनुस्मृति के सन्दर्भ में प्राचीन भारत में दण्ड व्यवस्था

डॉ० (श्रीमती) कमलेश शर्मा[1]

वैदिक काल में अपराध शब्द 'पाप' में निहित था। इस काल में अपराधों की गणना एवं निन्दा की गई तथा उनसे उत्पन्न पाप के निराकरण के लिए प्रायश्चित्त, हवन तथा व्रत का विधान किया गया था। उत्तर वैदिक काल तक ऋत धर्म में परिवर्तित हो गया और पाप से अपराध स्पष्ट हो गया। इस समय समाज की शक्तियों का विकास इस प्रकार हो रहा था कि उन्हें नियन्त्रित करने के लिए शक्ति की अपेक्षा थी। शतपथ ब्राह्मण में सर्वप्रथम 'दण्ड' शब्द का प्रयोग शक्ति के अर्थ में हुआ है। शतपथ ब्राह्मण में 'दण्ड' शब्द तीन बिन्दुओं पर प्रकाश डालता है - अपराध निवृत्ति के लिए दण्ड की उत्पत्ति, धर्मरक्षा में दैव स्वरूप दण्ड और धर्मशक्ति के क्रियान्वयन में सर्वोच्च शक्ति राजा के साथ उसका सम्बन्ध।[2] मनुष्य के सुव्यवस्थित जीवन के विधिवत् संचालन हेतु दण्ड की स्थापना की गई। सूत्रकाल में दण्ड का पर्याप्त विकास हुआ तथा अपराधों का वर्गीकरण एवं उनके लिए पृथक-पृथक दण्ड की व्यवस्था की गई। सूत्र एवं स्मृतिकाल में अपराधों की परिगणना विस्तृत रूप में हुई और उसके दण्ड का विधान भी केवल प्रायश्चित्त न होकर शारीरिक एवं आर्थिक होने लगा।

मनु ने अपना दण्ड विधान एक समाजशास्त्री एवं न्यायविद् दोनों रूपों में प्रस्तुत किया है। मनु राज्य की तरह दण्ड की उत्पत्ति भी दैवी मानता है। मनु के अनुसार सत् युग में अपराध नहीं थे। अत: दण्ड की व्सवस्था भी नहीं थी। बाद में रज और तम के विकास से मोह-लोभ, ईर्ष्या, घृणा, द्वेष, खेद आदि की उत्पत्ति हुई। इससे 'मात्स्यन्याय' आया और धर्म, सम्पत्ति तथा जीवन संकटग्रस्त हो गया। इसी कारण 'ब्रह्मतेजोमय' दण्ड की उत्पत्ति हुई।[3] शान्ति भंग होने पर उसकी पुन:स्थापना के लिए दण्ड उत्पन्न हुआ। इसी उद्देश्य की प्राप्ति हेतु मनु ने दण्ड-निर्माण की योजना प्रस्तुत की। इस योजना के अनुसार दण्ड का सृजन ईश्वर ने किया है तथा दण्ड सम्पूर्ण प्राणियों का रक्षक, ब्रह्मतेजमय एवं धर्म का पुत्र है।[4] दण्ड ही प्रजा का शासन करता है। दण्ड ही रक्षा करता है। दण्ड सभी के सोने पर जगा रहता है। इसीलिए विद्वान् लोग दण्ड को धर्म कहते हैं।[5] मनु के दण्ड की आकृति की भी कल्पना की है। दण्ड का रंग काला है, उसकी आँखें लाल हैं, वस्तुत: दण्ड क्रोधज होता है। फलत: क्रोध का जो स्वरूप माना गया है, वही दण्ड का स्वरूप माना गया।[6]

दण्ड का महत्त्व एवं आवश्यकता प्रतिपादित करते हुए मनु कहते हैं कि दण्ड ही राजा है, पुरुष है, नेता है, शासक है और चारों वर्णों एवं आश्रमों के धर्मों का प्रतिभू अर्थात् नियामक है।[7] दण्ड सभी मनुष्यों को भोग का प्राप्त

---

१ एसोशियेट प्रोफेसर, संस्कृत-विभाग, हिन्दू कालेज, मुरादाबाद (उ.प्र.)
२ शतपथ ब्राह्मण : सम्पादक श्री गोपाल शास्त्री, चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी, १९८२, ५.४.४७
३ मनुस्मृति - १५.३०
४ मनुस्मृति - ७.१४
५ मनुस्मृति - ७.१८
६ मनुस्मृति - ७.२५
७ मनुस्मृति - ७.१७

कराने वाला,[८] धर्म से विचलित प्राणियों को स्वधर्म-पालन के निमित्त बाध्य करने वाला;[९] सम्पूर्ण प्रजा को शासन में रखने वाला; प्राणियों के सो जाने पर भी उनकी रक्षा करने वाला;[१०] देव, दानव, गन्धर्व, राक्षस, पशु, पक्षी, सर्प आदि सभी प्राणियों को उनके अनुकूल भोग की व्यवस्था करने वाला[११] तथा समाज में वर्णाश्रम धर्म की संस्थापना करने वाला है।[१२] समाज में शान्ति एवं सुव्यवस्था कायम रखने के लिए दण्ड का बड़ा महत्त्व था। यदि दण्ड व्यवस्था समाप्त हो जाए तो सर्वत्र उच्छृंखलता एवं अराजकता फैल जाएगी; जिस तरह जल में बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को खा जाती हैं, उसी प्रकार समाज के बलिष्ठ व्यक्ति दुर्बलों का भक्षण कर जायेंगे। संसार में किसी वस्तु पर किसी व्यक्ति का स्वामित्व नहीं रह जाएगा। जो सबल होगा वह दुर्बलों की वस्तुओं को भी अधिकृत कर लेगा।[१३] दण्ड के अभाव में लोग दुष्टाचरण में संलग्न होकर कर्तव्य विमूढ़ हो जाते हैं और सम्पूर्ण मर्यादाएँ नष्ट हो जाती हैं।[१४] मनु ने दण्ड एवं विधि को एकाकार सा कर दिया है।[१५] उनके अनुसार दण्ड का उग्रतम रूप भय उत्पन्न करता है, किन्तु इसके उचित प्रयोग से प्रजा सुखी होती है।[१६] मनुस्मृति में प्रस्तुत दण्ड की परिकल्पना समाज एवं व्यक्ति सभी से ऊपर है- दण्ड स्वयं धर्म है, फिर भी विधि से ऊपर नहीं है, अत: दण्ड का प्रयोग करने के लिए प्रभुता तथा आत्मनियन्त्रण दोनों का होना आवश्यक है। दण्ड से सामाजिक स्थिति पर सही नियन्त्रण रहता है और विधि की रक्षा भी दण्ड करता है।[१७]

दण्ड के उद्देश्य का निरूपण करते हुए मनु ने दण्ड के तीन उद्देश्य बताए हैं। प्रथम: मानव की सहज प्रवृत्ति-प्रतिशोध की भावना को नियन्त्रित करना एवं उस भावना को संतुष्टि प्रदान करना। इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट करना सन्दर्भानुकूल होगा कि मनुस्मृति में ऐसे कई उल्लेख मिलते हैं जिनमें अपकारक द्वारा अपकारित के किसी भी अंग को भंग करने के दण्ड स्वरूप राजा अथवा न्यायकर्ता द्वारा अपकारक के भी उसी अंग को भंग करने का आदेश दिया गया है।[१८] दण्ड का द्वितीय उद्देश्य भविष्य में अपराधों को होने से रोकना था। ऐसी विचारधारा थी कि दण्ड के भय से अथवा दण्डित व्यक्ति के कष्टों को देखकर लोग अपराध से विमुख होंगे तथा धर्म का अनुसरण करेंगे।[१९] दण्ड का तीसरा उद्देश्य - आत्मशुद्धि था। मनु कहते हैं कि पाप करने वाला मनुष्य राजा से दण्ड पाकर उसी प्रकार निर्मल होकर स्वर्ग जाता है, जैसे पुण्यात्मा साधुजन। अत: दण्ड भी प्रायश्चित्त के समान पाप का नाश करने वाला होता था।[२०] इस प्रकार दण्ड के पीछे जो उद्देश्य थे, उनमें समाज कल्याण का भाव निहित है। सभी में अपराधी की अपेक्षा अपराध

---

८ मनुस्मृति - ७.२२
९ मनुस्मृति - ७.१५
१० मनुस्मृति - ७.१८
११ मनुस्मृति - ७.२३
१२ मनुस्मृति - ७.१७
१३ मनुस्मृति - ७.२०-२१
१४ मनुस्मृति - ७.२४
१५ मनुस्मृति - ७.१४
१६ मनुस्मृति - ७.२५
१७ मनुस्मृति - ७.१४-२०
१८ मनुस्मृति - ८.१२५, ८.२८०
१९ मनुस्मृति - ७.१५
२० मनुस्मृति - ८.३१८

निवृत्ति को लक्ष्य माना गया है। मनु ने बडे ही सुन्दर शब्दों में कहा है कि दण्ड का प्रयोग शल्य-चिकित्सा के समान है जो रोग की समाप्ति करता है, रोगी की नहीं।[२१]

शक्तिशाली दण्ड को स्वच्छन्द रखना मनु के मतानुसार उचित नहीं है। दण्ड का सम्यक् प्रयोग होना चाहिए। दोषी व्यक्ति को उसके दोष की मात्रा के अनुरूप ही दण्ड मिलना चाहिए, अन्यथा समाज में असंतोष एवं उद्वेग पैदा होगा, जिससे शान्ति एवं सुरक्षा नष्ट हो जाएगी। यदि दण्ड का सम्यक् प्रयोग होगा, तभी संसार सुखी रहेगा। दण्ड का असम्यक् या अनुचित प्रयोग दण्ड प्रयोक्ता एवं जिस व्यक्ति पर दण्ड का प्रयोग किया गया है, दोनों का नाश कर देता है। इसीलिए मनु कहते हैं कि देशकाल, शक्ति, परिस्थितियों पर विचार करके ही अपराधी को उसके अपराध के अनुसार दण्ड देना चाहिए।[२२]

सर्वप्रथम मनु ने ही विभिन्न प्रकार के अपराधों को १८ शीर्षकों (व्यवहार पदों) के अन्तर्गत वर्गीकृत किया है[२३] और बाद के स्मृतिकारों ने उनका अनुसरण किया है। अठारह में से निम्न दस व्यवहार पद दण्ड अपराध विधि में आते हैं- वाक्पारुष्य, दण्डपारुष्य, साहस, स्तेय, स्त्री संग्रहण, सीमा विवाद, स्वामीपाल विवाद, क्रयविक्रयानुशय, अस्वाभाविक विक्रय, द्यूतसमाहाय। आज जिसे हम मानहानि का अपराधी कहते हैं, वह प्राचीन काल में 'वाक्पारुष्य' के अन्तर्गत आता था। किसी को चोट पहुँचाने हेतु स्पर्श करना अथवा हस्त या अस्त्र से प्रहार कर चोट पहुँचाना ही 'दण्डपारुष्य' कहलाता था। 'स्तेय' का अर्थ था- चोरी। मनु के अनुसार 'जो द्रव्य स्वामी के समक्ष खुले रूप में बलपूर्वक हरण किया जाता है वह 'साहस' कहलाता है तथा छुपाकर गुप्त रूप से हरण किया जाय और उसके हरण से निषेध किया जाए तो वह 'स्तेय' कहलाता है।[२४] आज जिसे हम डाका या लूट कहते हैं प्राचीन काल मे वही 'साहस' था। 'स्त्री संग्रहण' का अर्थ है- परस्त्री के साथ नियम विरुद्ध अनुचित सम्बन्ध।

मनु ने अपराध के अनुरूप अनेक प्रकार के दण्डों का विधान किया है। ये दण्ड- वाग्दण्ड, धिग्दण्ड, धनदण्ड (अर्थदण्ड), कायदण्ड (शारीरिक दण्ड), वधदण्ड (मृत्यु दण्ड), कारागारदण्ड,[२५] प्रायश्चित्त दण्ड,[२६] जाति-बहिष्कार दण्ड,[२७] निर्वासन दण्ड (देश निकाला)[२८] आदि हैं। वाणी द्वारा समझाना-बुझाना अर्थात् अपराधी को उसके अपराध से परिचित कराके उसे समझा-बुझाकर छोड़ देना वाग्दण्ड माना गया है। अपराधी द्वारा किये गये अपराध को लक्ष्य करके उसे बुरा-भला कहकर मुक्त कर देना धिग्दण्ड है। अपराधी से दण्ड रूप में धन ग्रहण करके उसे मुक्त कर देना धनदण्ड कहलाता है। विभिन्न प्रकार के शारीरिक दण्ड बेंत या रस्सी से मारना या अंग-भंग कर देना कायदण्ड है। मनु ने कारागार को बन्धनगृह कहा है।[२९] उन्होंने कतिपय अपराधियों को बन्धनगृह में रखने के लिए भी कहा है। कुछ अपराधों के लिए जाति-बहिष्कार दण्ड भी निर्धारित किया गया है। कुछ अपराधों के लिए प्रायश्चित्त का विधान किया

---

२१ मनुस्मृति - ८.१२
२२ मनुस्मृति - ७.१६, १९.३१
२३ मनुस्मृति - ८.३-८
२४ मनुस्मृति - ८.३३२, ९.२५६
२५ मनुस्मृति - ८.३१०
२६ मनुस्मृति - ११.१८९, ११.५३१
२७ मनुस्मृति - ९.२३९
२८ मनुस्मृति - ८.२१९, ९.२७४
२९ मनुस्मृति - ९.२८८

गया है। इन प्रायश्चित्तों का अनुष्ठान कर अपराधी आत्मशुद्धि कर सकता है। कुछ अपराधों के लिए अपराधी व्यक्ति की सम्पत्ति जब्त करने का भी प्रावधान किया गया।[30] मनु ने संक्षेप में दण्ड के दस स्थान माने हैं- लिंग, उदर, जिह्वा, हाथ, पैर, नेत्र, नासिका, कान, धन और देह। मनु कहते है कि राजा अपराधी को सबसे पहले वाक्दण्ड दे। इस दण्ड के प्रभावी न होने पर धिक्दण्ड दे, यदि फिर भी वह अपराध करना न छोड़े तो धनदण्ड दे और उससे भी न माने तो विवश होकर शारीरिक दण्ड दे और सबसे अन्त में वध दण्ड दे।[31]

मनु के अनुसार दण्ड निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर दिया जाना चाहिए। देश, काल और परिस्थिति के अनुसार अपराध की गम्भीरता पर विचार करना चाहिए और अपराधी की सामर्थ्य के अनुसार दण्ड देना चाहिए।[32] अधर्म पूर्वक दण्ड प्रदान कभी नहीं करना चाहिए। अधर्म से दण्ड देने से संसार में अपयश और अपकीर्ति होती है और परलोक में स्वर्ग का नाश होता है।[33] जो राजा दण्ड के योग्य व्यक्तियों को दण्ड नहीं देता और दण्ड के अयोग्य व्यक्तियों को दण्ड देता है तो वह अपयश प्राप्त करता है तथा नरक में जाता है।[34] दण्ड प्रदान करने से पूर्व अपराध का प्रसंग, अपराध की मात्रा, अपराध का प्रकार और स्वरूप, अपराधी की मंशा, अपराधी की सामर्थ्य, देश, काल और परिस्थिति पर गम्भीरता पूर्वक विचार कर लेना चाहिए और इसके बाद ही दण्ड प्रदान करना चाहिए।[35] मनु के अनुसार एक ही अपराध के लिए सभी अपराधियों को समान दण्ड नहीं देना चाहिए। समाज में विभिन्न स्तर के लोग रहते हैं। उनके आचार-विचार, ज्ञान-विद्या आदि में अन्तर होता है। इस अन्तर के अनुरूप ही उनके द्वारा किये गये अपराध के लिए पृथक्-पृथक् दण्ड देना चाहिए। मूर्ख एवं विद्वान् को समान दण्ड देना उचित नहीं होगा। दण्ड व्यक्ति के सामाजिक स्तर के अनुरूप दिया जाना चाहिए।

आधुनिक दण्ड व्यवस्था की भाँति प्राचीन दण्ड विधान में भी दण्ड मुक्ति एवं क्षमा का प्रचलन प्राप्त होता है। किन्तु ऐसा असाधारणतम एवं विशेष परिस्थितियों में ही होता था। मनुस्मृति में कुछ ऐसी परिस्थितियों का उल्लेख पाया जाता है, जिनमें अपराध होने पर व्यक्ति अपराधी नहीं समझा जाता था और इस प्रकार उसे उसके कृत्य के लिए दण्ड नहीं दिया जाता था। किसी भी वस्तु को बिना उसके स्वामी की अनुमति के ले लेना स्तेय (चोरी) कहलाता है। पर मनुस्मृति में कुछ ऐसी परिस्थितियों का उल्लेख किया गया है, जिनमें स्वामी की बिना अनुमति के भी वस्तु ले लेने पर व्यक्ति चोरी के अपराध का अपराधी नहीं समझा जाता था। मनु के अनुसार किसी पेड़ का फल या मूल बिना अनुमति के भी खाने के लिए लेने पर, अहिताग्नि द्वारा अपनी अग्नि की सुरक्षा के लिए लकड़ी लेने पर तथा गाय के लिए घास लेने पर चोरी का दोष नहीं होता है।[36] मनु कहता है कि आत्मरक्षा के प्रयत्न में किसी आततायी ब्राह्मण की मृत्यु कारित करने पर उसे ब्रह्महत्या का अपराधी नहीं माना जायेगा।[37] मनु के अनुसार जहाँ धर्म का नाश होता है, समय एवं

---

३० मनुस्मृति - ८.१२५
३१ मनुस्मृति - ८.१२९
३२ मनुस्मृति - ८.१२६
३३ मनुस्मृति - ८.१२७
३४ मनुस्मृति - ८.१२९
३५ मनुस्मृति - ८.१२६
३६ मनुस्मृति - ८.३३९
३७ मनुस्मृति - ८.३५०

परिस्थिति के कारण द्विजातियों मे विप्लव की स्थिति हो, कोई यज्ञ की दक्षिणा को रोकता हो तथा आत्मत्राण विप्र तथा स्त्रीत्राण के निमित्त किसी को मारने में दोष नहीं लगता।[३८] आधुनिक भारतीय दण्ड संहिता की धारा ९६, १०२, १०४ व १०६ के अन्तर्गत भी स्व एवं सम्पत्ति की रक्षा हेतु इस प्रकार के अधिकार प्राप्त हैं।

मनु ने सवारी, सवारी पर चलने वाले तथा सवारी के मालिक को भी दस अवस्थाओं में दण्ड मुक्त माना है। यदि बैल या घोड़ों के नाक की रस्सी टूट जाये, जुआ टूट जाये, जमीन के ऊँचा-नीचा होने के कारण सवारी उलट जाये, सवारी का धुरा या पहिया टूट जाये, कोई यन्त्र टूट जाये या पशु की गर्दन की रस्सी टूट जाये, चालक द्वारा हटो-हटो कहने के बाद भी अगर कोई नहीं हटता है और चोट ग्रस्त होता है तो चालक दण्ड मुक्त माना जायेगा।[३९] रोगी, वृद्ध, गर्भवती स्त्री अथवा बालक यदि राजमार्ग पर मल-मूत्र कर दें तो उनसे सफाई करायें, उन्हें दण्ड न दें, किन्तु यदि कोई स्वस्थ व्यक्ति ऐसा करे तो उसे आर्थिक रूप से दण्डित भी करे तथा सफाई भी करायें।[४०] अज्ञान के साथ यदि लापरवाही भी हो तो अपराधी दण्ड मुक्त नहीं किया जा सकता।[४१]

वर्ण व्यवस्था का स्पष्ट प्रभाव हमें मनु की दण्ड व्यवस्था में दिखाई देता है। वर्ण भेद के अनुसार दण्ड में भी विभिन्नता का विधान था। एक ही प्रकार के अपराध के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र को भिन्न-भिन्न प्रकार के दण्ड दिये जाते थे। उदाहरण के लिए यदि स्तेय (चोरी) का अपराध किया जाता है तो शूद्र को आठ गुना, वैश्य का सोलह गुना, क्षत्रिय को बत्तीस गुना और ब्राह्मण को चौंसठ गुना दण्ड देना चाहिए, क्योंकि सबसे अधिक गुण-दोषों के ज्ञाता ब्राह्मण ही माने जाते थे।[४२] मनु का दण्ड विधान मानव की उपयोगिता पर आधारित था। आर्थिक दण्ड सबसे अधिक ब्राह्मणों को तथा सबसे कम शूद्रों को दिया जाता था। कुछ आलोचकों का कहना है कि मनु की दण्ड व्यवस्था में ब्राह्मणवध का निषेध तथा अन्य वर्णों के वध का विधान था, जो सरासर अन्याय एवं पक्षपात पूर्ण था। मेरे विचार से ब्राह्मणवध का पूरी तरह निषेध नहीं था। ब्राह्मणों को मृत्युदण्ड दिये जाने के कतिपय उदाहरण मिलते हैं। मनु ने स्पष्ट कहा है कि यदि ब्राह्मण भी आततायी होकर आता हो तो उसे बिना विचारे अर्थात् तत्काल मार देना चाहिए।[४३] सामान्य परिस्थितियों में वध दण्ड के विकल्प में ब्राह्मण को गर्म लोहे से ललाट अंकित कर गधे पर चढ़ाकर देश से निर्वासन का जो दण्ड था, वह वध दण्ड की अपेक्षा अधिक कठोर एवं अप्रतिष्ठाजनक था। यद्यपि मनु की दण्ड व्यवस्था में वर्णभेद है, फिर भी मनु पर यह आरोप नहीं लगाया जा सकता कि उसकी दण्ड व्यवस्था में नैतिकता की कमी है।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि अपराध के साथ-साथ दण्ड की भी उत्पत्ति हुई। दण्ड को ही वह शक्ति स्वीकार किया गया जिसके द्वारा अराजकता का शमन एवं व्यवस्था की स्थापना हो सकती थी। इसी कारण दण्ड की शक्ति को धारण करने वाला राजा दण्डधारी कहलाया। दण्डधारी के रूप में उसके अधिकारों के साथ-साथ कर्तव्यों में भी वृद्धि हुई, क्योंकि विधि सम्प्रभु के ऊपर मानी गई एवं विधि की स्थापना हेतु ही वह दण्डधारी

---

३८ मनुस्मृति - ८.३४९
३९ मनुस्मृति - ८.२९१-२९२
४० मनुस्मृति - ९.२८२-२८३
४१ मनुस्मृति - ९.२३०
४२ मनुस्मृति - ८.३३७-३३८
४३ मनुस्मृति - ८.३५०

कहलाया। मनु ने अपना दण्ड विधान एक समाजशास्त्री एवं न्यायविद् दोनों रूपों में प्रस्तुत किया है। मनु ने दण्ड के सुधारात्मक पक्ष को महत्त्व दिया, ताकि जनाक्रोश से बचा जा सके तथा नियमों का भी पालन कराया जा सके। दण्ड के विषय में इस बात की चेष्टा पर बल दिया गया कि निरपराधी या अल्पवयस्क या स्वरक्षार्थ किये गये अपराधी दण्डित न हों। दण्ड व्यवस्था वर्ण आधारित थी। दण्ड व्यवस्था के वर्ण आधारित प्रावधानों को छोड़कर मनु के दण्ड विधान के शेष मार्ग-दर्शक सिद्धान्त आधुनिक युग में भी महत्त्वपूर्ण हैं।

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०१० अङ्क १४ (पृ० २१३-२१९) ISSN 0974 – 8830

जैन दर्शन में अनेकान्तवाद की अवधारणा

डॉ० सोहनपाल सिंह आर्य[1]

भारतीय दर्शन के अन्तर्गत जैन दर्शन का महत्त्वपूर्ण स्थान हैं। अवैदिक और अध्यात्मवादी दर्शन के रूप में इसके प्रभाव एवं महत्त्व को अनदेखा नहीं किया जा सकता। जैन दर्शन का प्रमुख स्रोत हैं-जैन तीर्थंकरों के उदात्त जीवन चरित्र एवं शिक्षायें। पार्श्वनाथ से लेकर महावीर स्वामी तक जैनों के चौबीस तीर्थंकर हुए हैं। जिनमें महावीर स्वामी अन्तिम तीर्थंकर थे। उन्होंने जैन-धर्म, दर्शन का विशेष प्रचार-प्रसार किया। इसके लिए अहिंसा धर्म और अनेकान्तवाद के सिद्धांत को विशेष रूप से सामने रखा।

यह सुविदित वास्तविकता है कि जहाँ अहिंसा जैनों के आचार पक्ष को प्रतिबिम्बित करता है। वहाँ इसके साथ-साथ अनेकान्तवाद के रूप में जैनों की उदारवादी, सर्वग्राही दार्शनिक दृष्टि भी मुखर रूप में आती है। वस्तुत: जैनों की तत्त्व और ज्ञान सम्बन्धी दार्शनिक दृष्टि को हृदयंगम करने के लिये अनेकान्तवाद के ऊपर गहराई से चिन्तन-मनन की आवश्यकता है।

यद्यपि राहुल सांकृत्यायन का यह विचार है कि अनेकान्तवादी सिद्धांत संजय वेल टिपुत्त के अनेकान्तवाद से प्रभावित है।[2] तथापि इस विचार को अन्य विद्वानों का समर्थन प्राप्त नहीं है, किन्तु यदि राहुल का उपरोक्त मत सत्य भी हो तब भी प्रस्तुत सन्दर्भ में यह मान लेना अधिक उचित होगा कि जैनों ने अनेकान्तवाद को जिस व्यापक सोच और लक्ष्य के दृष्टिगत अंगीकार किया, उसका संजय टिपुत्त के विचारों में कोई संकेत नहीं मिलता। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि जैनों के लिये अनेकान्तवाद एक दार्शनिक चिन्तन की विषयवस्तु मात्र न होकर जैन आन्दोलन के व्यापक प्रचार प्रसार का प्रभावशाली शस्त्र भी बन गया। अत: यह मानना उचित होगा कि जैनों के दार्शनिक चिंतन के वास्तविक स्वरूप, दृष्टि एवं विधि को समझने की कुंजी है- अनेकान्तवाद। सम्भवत: इसी कारण डॉ० एस० राधाकृष्णन् ने 'भारतीय दर्शन' नामक अपने ग्रन्थ में जैन दर्शन का स्वरूप निरूपण करने के लिये शीर्षक दिया है- जैनियों का अनेकान्तवादी यथार्थवाद।[3]

किन्तु जहाँ तक अनेकान्तवाद के स्वरूप विवेचन का प्रश्न है इस सन्दर्भ में जैनाचार्यों की इस आधार भूत मान्यता का उल्लेख करना यहाँ प्रासंगिक है कि प्रत्येक दार्शनिक भिन्न-भिन्न देश, काल, द्रव्य एवं भाव के अनुसार ही सत्य को प्राप्त करता है। जैसे एक व्यक्ति हाथी के उसी अङ्ग का ठीक से वर्णन कर पाता है,-जो उसके सामने होता है। इसलिये यह स्वभाविक है कि एक दाशनिक का सत्य दूसरे से अलग हो। इसी कारण सबका दर्शन सापेक्ष रूप में सत्य है, परन्तु उसको निरपेक्ष या एकान्त रूप में सत्य मानना भ्रामक है। यही अनेकान्तवाद की मूल प्रस्थापना है जैसा कि डॉ० दास गुप्ता का कहना है कि जैनों ने सभी पदार्थो को अनेकान्त माना अर्थात् किसी भी चीज के बारे में पूर्ण अभिप्राय

---

१. एसो० प्रोफेसर, दर्शन शास्त्र विभाग, गु० का० वि०वि० हरिद्वार, मो०न०.०९८९७२४१६६३ ईमेल : sohanpalarya@yahoo.com

२ राहुल सॉकृत्यायन; दर्शन-दिग्दर्शन-१९९०, किताब महल, इलाहाबाद पृ०५९५

३. डॉ० एस० राधाकृष्णन; भारतीय दर्शन-२००४, राजपाल एण्ड संस दिल्ली पृ०२३२-२७५

देना सम्भव नहीं है, क्योंकि कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में ही सम्पूर्ण अभिप्राय सत्य होते हैं।[४]

जैनाचार्य मल्लिषेण सूरि का प्रस्तुत सन्दर्भ में यह विचार है कि -भगवान् महावीर का अनेकान्तवाद के प्रतिपादन में मुख्य ध्येय यह रहा है कि अनेकान्तवादी दृष्टि से सम्पूर्ण दर्शनों को समभाव से देख कर मध्यस्थ भाव प्राप्त किया जाये।[५] यही धर्म एवं शास्त्रों का सार-सन्देश है, क्योंकि जैसे पिता अपनी सन्तानों पर समभाव रखता है, उसी तरह अनेकान्तवाद सभी नयों/मतों,-प्रस्थापनसओं को समान भाव से देखता है और जैसे सभी नदियाँ एक-एक करके समुद्र में जा मिलती हैं, वैसे ही सभी दर्शनों के एकान्त/एकांगी विचारों का समावेश अनेकान्तवाद में हो जाता है। जैसा कि अन्ययोगकार का कथन है कि-

एको भावः सर्वथा येन दृष्टः सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टः।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टः एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः॥

अर्थात् जो एक वस्तु के सकल धर्मों को जानता है, वह सभी वस्तुओं के सभी धर्मों को जानता है और जो सभी वस्तुओं के सभी धर्मो को जानता है वह एक वस्तु के सभी धर्मों को भी जानता है।[६]

इस प्रकार अनेकान्तवाद के इस सर्वग्राह्य स्वरूप को जानने के लिये आवश्यक है कि हम सबसे पहले एकान्त को जानें और उसके बाद यह समझे कि अलग-अलग एकान्त सत् की भिन्न-भिन्न अभिव्यक्तियाँ है, उन सब को मिलाने पर अनेकान्तवादी दृष्टिपूर्ण बनती है। अनेकान्तवाद पर पहुँचने के लिये महावीर स्वामी द्वारा प्रतिपादित विभाज्यवाद को समझना आवश्यक है जो सत्य तक पहुँचने की एक दाशनिक विधि है। एस० गोपालन् का इस सन्दर्भ में यह कहना है कि जैनों का अनेकान्तवाद विभेद के सिद्धान्त पर आधारित है, परन्तु जैन दर्शन में इसे तार्किक स्तर तक पहुँचा दिया है और इस प्रकार वास्तविकता तथा ज्ञान के अनेकान्तवाद की सृष्टि की गयी है।[७]

जैसा कि यह सुविदित है कि इस दार्शनिक विधि के प्रति उनकी गहरी आस्था थी। वे तत्त्व, ज्ञान और आचरण सम्बन्धी समस्याओं के समाधान के लिये इस पद्धति का प्रयोग करते थे। उनके समय में क्रियावाद[८] और अक्रियावाद[९] आदि अनेक दार्शनिक सम्प्रदाय प्रचलित थे। महावीर स्वामी ने उन सब के विरोध को देखा था और यह अनुभव किया था कि ये सभी मत-पंथ दार्शनिक जिज्ञासाओं के एकान्त/एकपक्षीय समाधान प्रस्तुत करते हैं[१०] और यह एकपक्षीय तथा निरपेक्ष उत्तर ही दार्शनिक विवादों का मूल कारण है। उदाहरणतः आत्मा नित्य है अथवा अनित्य? शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न है अथवा अभिन्न? इत्यादि प्रश्नों के जब एकांगी उत्तर दिये जाते हैं, तब वस्तु का वास्तविक स्वरूप सामने नहीं आ पाता। इस एकांगीपन से बचने के लिये जैनों ने अनेकान्तवाद का अवलम्बन ग्रहण किया है। एस० गोपालन् के अनुसार जैनों की यह मान्यता है कि जो कुछ भी वास्तविक/सत् है, उसकी उत्पाद, व्यय

४ डॉ० एस० एन०दास गुप्ता; भारतीय दर्शन का इतिहास-प्र०ख०, पृ०१७५
५ मल्लिषेण सूरि रचित 'स्याद्वाद्व मंजरी' विशेष रूप से दृष्टव्य।
६ स्वामी शान्ती धर्मानंन्द सरस्वती; स्वदर्शन सार-प्र०स० २००१, भारतीय विद्या भवन, मुम्बई, पृ०७५
७ एस० गोपालन; जैन दर्शन की रूपरेखा.१९७३, वाइली इस्टर्न लि० नई दिल्ली पृ०१३१
८ स्वर्गकामो यजेत्, ग्रामकामो यजेत्, -इत्यादि कर्म काण्डवादी प्रवृत्ति का प्रस्तुत संदर्भ मे उल्लेख किया जा सकता है।
९ प्रस्तुत संदर्भ मे अजित केश कम्बल, मक्खलि गोसाल तथा पूर्ण काश्पंक आदि दार्शनिकों का राहुल सांकृत्यायन दर्शन-दिग्दर्शन नामक ग्रन्थ में उल्लेख किया है। दृष्टव्य पृ० ४८७-४९३
१० दृष्टव्य, -उप० टिप्पणी क्र०सं० ३

तथा ध्रुव की विशेषताओं के विना कल्पना ही नहीं की जा सकती।[११]

जैनों के अनुसार इसका कारण यह है कि विश्व एक जटिल और बहुआयामी वास्तविकता है और वस्तु उसका एक अंग/इकाई मात्र है इसलिये वह भी विश्व के अनुरूप बहुआयामी है, परन्तु उसे जानने के लिये मनुष्य के पास साधन और क्षमता सीमित है। सीमित साधन से सद् वस्तु का सीमित ज्ञान पाना तो सम्भव है, परन्तु अन्तिम तथा निरपेक्ष ज्ञान सम्भव नहीं है। यही अनेकान्तिक दृष्टि, पद्धति तथा निष्कर्ष ज्ञान की सीमा भी है। यही अनेकान्तवाद की मुख्य अनुभूति और ध्वनि है।

जैन इसे 'नय' के रूप में ग्रहण करते हैं। एस० राधाकृष्णन् के अनुसार नय का सिद्धान्त अथवा पृथक्-पृथक् दृष्टिकोण युक्त पदार्थों का ज्ञान जैन दर्शन के तर्क शास्त्र का एक अपना निजी एवं विशिष्ट लक्षण है। नय एक दृष्टिकोण है जिसके आधार पर हम किसी पदार्थ के विषय में कोई कथन करते हैं.......किसी विशेष दृष्टिकोण को अपनाने का तात्पर्य यह नहीं है कि हम अन्य दृष्टिकोण का निराकरण करते हैं।[१२]

जैन नय या तर्क को ठीक से समझने के लिये सप्तभंगी नय और स्याद्वाद को समझना भी आवश्यक है। जैनों के अनुसार सत् को प्रस्तुत करने के लिये निम्न सात दृष्टियाँ हो सकती हैं- यथा-१ स्याद् अस्ति २ स्याद् नाऽस्ति ३ स्याद् अस्ति नास्ति ४ स्याद् अव्यक्तव्यं ५ स्याद् अस्ति अव्यक्तव्यं ६ स्याद् नास्ति अव्यक्तव्यम् ७ स्याद् अस्ति च नास्ति च अव्यक्तव्यम्।[१३]

यहाँ स्याद् शब्द का अर्थ कदाचित् न होकर सापेक्ष के अर्थ में प्रयोग किया गया है। इस प्रकार जैननय के अनुसार किसी भी सत्य को समझने एवं प्रस्तुत करने की सात सम्भव दृष्टियाँ हैं। जिससे इस सिद्धान्त की व्यापकता का पता चलता है। जिसे रामधारी सिंह 'दिनकर' ने इन शब्दों में प्रस्तुत किया है-प्रत्येक वस्तु अनन्त गुण, पर्याय और धर्मों का अखण्ड पिण्ड है, वस्तु को तुम जिस दृष्टिकोण से देख रहे हो, वस्तु उतनी ही नहीं है उसमें अनन्त दृष्टिकोणों से देखे जाने की क्षमता है.....चित्त से पक्षपात की दुरभिसन्धि निकालो और दूसरे के दृष्टिकोण के विषय को भी सहिष्णुता पूर्वक खोजो, वह भी वही लहरा रहा है।[१४]

इस तरह हम यह देख सकते हैं कि महावीर स्वामी ने अनेकान्तवाद के आधार पर जिस विभज्यवादी प्रणाली की स्थापना की, वह दार्शनिक चिन्तन और खोज की एक विधि है। जिसके अन्तर्गत प्रत्येक दार्शनिक प्रश्न को अनेक सापेक्षताओं में रख कर उसके समाधान भी सापेक्षता में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। इसकी तुलना डेकार्ते की निगमन विधि से की जा सकती है। जहाँ दार्शनिक समस्या को सर्वप्रथम विभिन्न खण्डों और उपखण्डों में विभाजित किया जाता है और समाधान के लिये सबसे पहले सरल और आरम्भिक विषय को लिया जाता है; तब उसके बाद जटिल, जटिलतर और जटिलतम खण्ड की ओर क्रमशः समाधान के लिये आगे बढ़ते हैं।[१५] परन्तु महावीर स्वामी के विभज्यवाद की यह अलग से विशेषता है कि यह हमें सापेक्षता में उत्तर खोजने की क्षमता भी प्रदान करता है।

प्रस्तुत सन्दर्भ में यदि उपर्युक्त दार्शनिक समस्या पर विचार करे कि आत्मा और शरीर अलग-अलग है अथवा

---

११ एस० गोपालन; उप० पृ० १११
१२ डॉ० एस० राधाकृष्णन; उप० पृ० २४२
१३ डॉ० एस० राधाकृष्णन;उप० पृ० २४५
१४ रामधारी सिंह 'दिनकर'; संस्कृति के चार अध्याय-प्र०सं०-१९५६, भार्गव प्रेस, पृ०१५३
१५ डॉ० दयाकृष्ण; पाश्चात्य दर्शन का इतिहास, द्वि०ख०, पृ०१९८४, रा०हि०ग्र०अ० जयपुर, पृ० १-६३

एक? विभज्यवादी इसका सीधा उत्तर न देकर पहले यह जानना चाहेगा कि १. भिन्नता और अभिन्नता से उसका क्या तात्पर्य है? २. यह भिन्नता और अभिन्नता का सन्दर्भ क्या है? ३. और भिन्नता से उसका तात्पर्य तथ्यात्मक भिन्नता से है अथवा उसकी वैचारिक भिन्नता से है? और भिन्नता का सन्दर्भ आनुभविक जगत् है अथवा परालौकिक जगत्? क्योंकि भिन्नता का अर्थ उसके सन्दर्भानुसार बदल सकता है। उदाहरणत: शरीर और आत्मा को विचारों के स्तर पर तो अलग-अलग किया जा सकता है, परन्तु वास्तविक स्तर पर ऐसा सम्भव नहीं। इसलिये चिंतन के स्तर पर आत्मा और शरीर अलग-अलग माने जा सकते हैं, परन्तु वास्तविक स्तर पर अभिन्न ही कहे जायेंगे; क्योंकि संसार में शरीर के अलावा कहीं चेतना उपलब्ध नहीं है।

इस प्रकार विभज्यवादी पद्धति में एकान्त का परित्याग और अनेकान्त की स्थापना सम्भव है। इसी आधार पर तत्त्व चिन्तक विभाज्यवाद को अनेकान्तवाद का पर्याय समझते हैं। जिसके अनुसार वस्तु अनन्त धर्म युक्त और तत्त्व अनन्त धर्म युक्त है, किन्तु अनन्त से जैनों का अभिप्राय अनेक से है। इस दृष्टि से अनेकान्तवाद जैन तत्त्व मीमांसा का मूल आधार है।[१६] परन्तु अनेकान्तवाद नामक इस पद से जैनों का स्पष्ट और वास्तविक अभिप्राय क्या है?-इसे जानने के लिये अनेकान्तवाद में प्रयुक्त, अनेक और अन्त-इन शब्दों पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। 'अनेक' यह बहु संख्या का बोधक शब्द है और 'अन्त' का अभिप्राय है-धर्म एवं वस्तु। इस प्रकार अनेकान्तवाद का अर्थ हुआ-इस लोक में अनेक वस्तुएँ है और उनमें सें प्रत्येक के अनेक धर्म हैं, परन्तु अधिकांश जैनाचार्यों ने वस्तु को अनन्त धर्मात्मक माना है।[१७]

तब यहाँ यह विचारणीय समस्या उत्पन्न होती है कि वस्तु की अनन्त धर्मात्मकता का अनेकता में समाहार कैसे हो गया? क्योंकि अनेक और अनन्त-दोनों समानार्थवाची शब्द नहीं, अलग-अलग अर्थों के बोधक हैं। जैन दार्शनिकों की ओर से इस समस्या का समाधान इस रूप में किया जाता है कि यद्यपि वस्तु अनन्त धर्मात्मक होती है, तथापि व्यवहार में उसके अनन्त धर्म एक साथ हमारे ज्ञान के विषय नहीं हो सकते। इसका यही भाव है कि प्रत्येक धर्म का ज्ञान 'नय' से होता है। इसीलिये वस्तु की अनेक धर्मात्मकता ही हमारे लिये प्रासंगिक है। वास्तव में, इस चिन्तन में वस्तु की सरंचना और उसके ज्ञान के मध्य खाई की आत्मा स्वीकृति भी है और साथ-साथ इससे यह भी ध्वनित होता है कि वस्तु और ज्ञान के मध्य द्वन्द्व एवं अंतर का समाहार सम्भव नहीं। परन्तु यह अन्तर प्रतिनिधित्ववाद के कारण नहीं, मानव ज्ञान के साधन और क्षमता की सीमा के कारण है। इसीलिये इसे ठीक ही सापेक्षवादी वस्तुवादी दृष्टिकोण के रूप में जाना जाता है।[१८]

अस्तु, जैनों की सत्ता विषयक आन्वीक्षा के लिये अनेकान्तवाद एक सर्वमान्य तथा सटीक शब्द है। इसके पक्ष में एक अन्य तर्क यह दिया जा सकता है कि 'अनेक' को तर्कत: 'असंख्यात' की सीमा तक ले जाया जा सकता है, क्योंकि 'अनेक' शब्द में एक से रहित-बहुसंख्या और असंख्या समाहित हो सकते हैं। तब असंख्यात को अनन्त के अर्थ ग्रहण करने में किसें आपत्ति हो सकती है?

किन्तु वस्तु को तात्विक दृष्टि से अनन्त धर्मों से युक्त मानने पर एक अन्य कठिनाई जड़ एवं चेतना के भेद को लेकर उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि वस्तु में अनन्त धर्म मानने पर जड़ में चेतना के धर्म भी समाविष्ट हो जायेंगें। इससे

---

१६ अनन्तधर्मकम् वस्तु, अनन्तधर्मात्कमेव तत्वत:-अन्य योग, पृ०२२

१७ उप० टिप्पणी १५ दृष्टव्य।

१८ उप० टिप्पणी क्र०सं०२ दृष्टव्य।

दोनों के मध्य विभेद और उसके आधार की समस्यायें उत्पन्न हो जायेंगी। जबकि जैनाचार्य जड़ एवं चेतना में स्पष्टतः विभेद स्वीकार करते हैं। परन्तु जैनाचार्य की दृष्टि में यह समस्या 'अनन्त धर्मात्मक' की अवधारणा को ठीक न समझने के कारण उत्पन्न होती है। उनके अनुसार- वस्तु अनन्त धर्मात्मक है नकि सर्वधर्मात्मक। जिसका अभिप्राय है कि चेतना के सम्भव अनन्त धर्म चेतन द्रव्य में मिलेंगे और जड़ के सम्भव अनन्त धर्म जड़ वस्तु में होंगे। जबकि वस्तु को सर्वधर्मात्मक मानने पर चेतना के जड़ में और जड़ के अनन्त धर्म चेतन में मानने पड़ेंगे और क्योंकि जैन वस्तु को सर्वधर्मात्मक नहीं कहते इसलिये अनन्त धर्मात्मक मानने पर यह समस्या उत्पन्न नहीं होती। वस्तुतः कठिनाई का कारण जैन तात्विक दृष्टि को ठीक से न समझ पाना भी है और सिद्धांत एवं व्यवहार में अन्तर न करना भी है।

अस्तु, अनेकान्तवाद के अनुसार कोई भी पदार्थ निरवयव निरपेक्ष या एक रूप न होकर, अनेक रूपों एवं धर्मों से युक्त है वह कोई एकल, सरल दृव्य न होकर एक जटिल एवं संलिष्ट संरचना है। जिसमें परिवर्तन एवं स्थिरता- दोनों लक्षण साथ-साथ विद्यमान रहते हैं। इस दृष्टि से जैनाचार्य 'द्रव्य' की कल्पना 'प्रक्रिया तत्त्व' के रूप में करते हैं कि स्थिर या निष्क्रिय तत्त्व के रूप में। इस संदर्भ में तत्त्वार्थभिगम सूत्रकार का कथन भी है कि उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त सत्[१९] अर्थात् सत् किसी अपेक्षा से उत्पत्तिशील और किसी अपेक्षा से विनाशयुक्त और किसी अपेक्षा से नित्य है। तीनों गुणों की विद्यमानता सत् का लक्षण है।[२०] क्योंकि इन तीनों के विना अर्थक्रियाकारित्व नहीं घट सकता और अर्थक्रियाकारित्व के विना सत् सम्भव नहीं। स्याद्वाद्व मंजरीकार ने स्वर्ण के उदाहरण से पदार्थ की तीनों स्थितियों/विशेषताओं को स्पष्ट किया है। उनके अनुसार जैसे-किसी राजपुत्री के स्वर्ण घट को तुड़वा कर राजकुमार स्वर्ण-मुकुट बनवा लेता है, परन्तु दोनों ही अवस्थाओं में सुवर्ण का अस्तित्व विद्यमान रहता है। स्वर्णपन ही ध्रौव्य या नित्य गुण है जो सभी परिवर्तनों के दौरान भी अपरिवर्तित बना रहता है, किन्तु उत्पाद और व्यय दोनों सापेक्ष हैं, मुकुट का उत्पाद स्वर्ण आकार के व्यय के कारण सम्भव है। अतः उत्पाद, व्यय और नित्य-ये सत् के तीन लक्षण हैं।

जैन दार्शनिकों का सत् विषयक यह दृष्टिकोण अनेकान्तवाद पर इसलिए आधारित है, क्योंकि सत् के अनेक रूपों अथवा धर्मों को जानने एवं उन्हें समन्वित करने की दृष्टि निहित है। यह सत् विषयक एक व्यापक एवं उदार दृष्टिकोण है जो वेदान्त और बौद्ध दर्शन के साथ विशेष रूप से तुलनीय है। अद्वैतवाद के अनुसार-त्रिकाल अबाधित सत् अर्थात्-जिसका तीनों कालों में बाध/विनाश न हो, वह सत् है। जबकि इस सत् विषयक इस दृष्टिकोण के ठीक विपरीत बौद्ध दार्शनिक सत् को क्षणिक/परिवर्तन शील मानते हैं- **क्षणिकः सतः**। जबकि जैनाचार्य सत् को नित्य और अनित्य दोनों धर्मो से युक्त मानते हैं, क्योंकि जब ये उत्पाद, व्यय को सत् का अनिवार्य लक्षण बतलाते हैं, तब वे सत् के परिवर्तन विषयक बौद्धों के दृष्टिकोण के निकट प्रतीत होते हैं। परन्तु जब वे सत् का एक अन्य प्रमुख लक्षण नित्यता बतलाते हैं, तब वे अद्वैत वेदान्त के निकट दिखलाई पड़ते हैं। इससे जैनों की सत् विषयक व्यापक अवधारणा का पता चलता है श्रीकृष्ण दत्त भट्ट का प्रस्तुत सन्दर्भ में यह कहना है कि जो आदमी अनेकान्त को मानता है, सत्य को अनेक दृष्टिकोण से देखता है, वह अपने किसी हठ को लेकिन नहीं बैठता, वह आपसे किसी बात पर अड़ता या झगड़ता नहीं। समभाव से रहता है।[२१]

किन्तु विरोधी दार्शनिकों की दृष्टि में यह अवधारणा अनेक दोषों से ग्रसित है। जिनमें व्याघात नाम दोष

---

१९ तत्वार्थ अभिगम् सूत्र-५-२१

२० अन्य योग-पृ०२८

२१ श्री दत्त भट्ट; जैन धर्म क्या कहता है ? ६वाँ सं०१९८१, सर्व सेवा संघ प्रकाशन पृ०१५

दृष्टिगोचर होता है। व्याघात दोष वहाँ होता है जहाँ एक ही वस्तु में परस्पर विरोधी गुणों के अस्तित्व को स्वीकार कर लिया जाये, क्योंकि सत् विषयक जैनों की परिभाषा में उत्पत्ति-विनाश के साथ स्थिरता या नित्यता को भी सत् की अनिवार्य विशेषता माना गया है। उल्लेखनीय है कि उत्पत्ति और विनाश का व्याघातक सम्बन्ध है। या तो वस्तु (१) उत्पत्ति एवं विनाश अथवा अनित्य होगी अथवा (२) उत्पत्ति तथा विनाश से रहित वह नित्य स्वरूप युक्त होगी। दोनों को युगपत् मानने पर सत् की परिभाषा व्याघातक दोष से ग्रसित हो जायेगी।

परन्तु यदि सत् विषयक जैनों की अवधारणा के ऊपर अधिक गहराई एवं सहानुभूति पूर्वक विचार किया जाये-तो हम यह पायेंगे कि संसार में दीपक से लेकर आकाश पर्यन्त सभी पदार्थ नित्य-अनित्य स्वभाव युक्त हैं। पदार्थ में नित्यत्व का कारण है-गुण, जो पदार्थ में अविनाभावी सम्बन्ध से रहता है। यही पदार्थ का सामान्यात्मक पक्ष है-जो सदैव अपरिवर्तनशील रहता है। प्रस्तुत सन्दर्भ में एस० गोपालन का यह कथन उल्लेखनीय है कि जीवात्मा-जो कि इसके गुणों का आधार है, स्वयं सिद्ध है, क्योंकि इसके गुण भी स्वयं सिद्ध हैं। जैसा कि घट की स्थिति में है। गुणों की सिद्धि से आधार की भी सिद्धि होती है।[२२] जैसे चीनी का मीठापन, स्वर्ण का स्वर्णपन आदि।[२३] पदार्थ का दूसरा पक्ष है-परिवर्तन युक्त जो देश एवं काल के सन्दर्भ में विचारणीय है। यह वस्तु का विशेषात्मक पहलू है। जैन दर्शन में इसे पर्याय के नाम से जाना जाता है। जैसे चीनी व स्वर्ण का आकार आदि। पदार्थ में गुण सदैव अपरिवर्तित बना रहता है। जबकि पर्याय देश, काल तथा भाव अनुसार बदलते रहते हैं।[२४] प्रस्तुत सन्दर्भ में मणि भद्र-हरि भद्र का यह कथन है कि **द्रव्यपर्यायवियुतमपर्यायवर्जिताः कदा केन किं रूपा दृष्टमानेन केन चेति।**[२५] इसी कारण जैनाचार्य द्रव्य को गुण, पर्याय, युक्त युक्त मानते हैं और इसी कारण एक ही पदार्थ में नित्य तथा अनित्य धर्म दोनों साथ-साथ रह सकते हैं। इसे मानने में व्याघात उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि यदि जैन गुणों को एक साथ नित्य अनित्य मानते अथवा पर्याय को। या एक साथ दोनों को विरोधी धर्मों से युक्त बतलाते। परन्तु जैन दर्शन में स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है एवं व्याघातक दोष से सर्वथा मुक्त है।

इसी प्रसङ्ग में जैनों का यह कथन भी विचारणीय है कि जो भी वस्तु अस्तित्ववान् है, उसका प्रमाण है-उसका अर्थक्रियाकारित्व और इसके लिए वस्तु में उत्पाद, व्यय मानना आवश्यक है। परन्तु वस्तु में उत्पत्ति और विनाश तभी सम्भव है जब उसका नित्य अस्तित्व भी हो। अतः वस्तुतः उसकी सापेक्षता में निहित है। उत्पत्ति एवं विनाश-ये दोनों स्थिरता के सापेक्ष हैं और स्थिरता इन दोनों के सापेक्ष। जिसमें यह सापेक्षता न हो, वह कोई पदार्थ नहीं हो सकता। पदार्थ के अभाव में उसके नित्यत्व/अनित्यत्व का प्रश्न ही अर्थहीन है। इसलिए जैनाचार्य अद्वैतवादियों की भांति नित्य को निरपेक्ष नित्य न मानकर, उत्पाद व्यय सहित नित्य मानते हैं, जैसा कि एस० राधाकृष्णन् ने लिखा है कि जैन दो प्रकार के पर्याय मानते हैं- (१) सहभावी पर्याय-जो पदार्थ एवं उसके गुणों के साथ-साथ रहता है (२) कर्मभावी पर्याय- जो कि अन्य परिवर्तनों के पश्चात् आता है।[२६] इस दृष्टि से जैनों की द्रव्य विषयक अवधारणा में व्याघात दोष नहीं आ पाता।

---

२२ एस० गोपालन; जैन दर्शन की रूप रेखा, उप० पृ०९९-१००

२३ सेना एक द्रव्य है, जिसके लचीलेपन और पीत वर्णरूपी गुणों का परिवर्तन नहीं होता। डॉ० एस० राधाकृष्णन;उप० पृ० २५४

२४ डॉ० एस० राधाकृष्णन; उपयुक्त पृ० २५४

२५ षड् दर्शन समुच्चय पृ०४६

२६ डॉ० एस० राधाकृष्णन्; उप० पृ० २५४

संक्षेप में-अनेकान्तवाद जैनों की तात्विक दृष्टि है- इसकी ज्ञान मीमांसीय अभिव्यक्ति है- स्याद्वाद। अनेकान्तवाद सापेक्षतावादी, बहुतत्त्ववादी तत्त्व मीमांसा की स्थापना करता है। यह व्याधातक और सर्व धर्मात्मक आदि विभिन्न दोषों से मुक्त एक व्यापक एवं उदार दृष्टिकोण है और व्यापक तत्त्व मीमांसा के लिए आधार प्रस्तुत करता है। स्याद्वादी ज्ञानमीमांसा के साथ जोड़कर इसे जैन दर्शन के मौलिक, अनूठी एवं महत्त्वपूर्ण देन कहा जा सकता है- विशेषकर भारतीय दर्शन के लिए।

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०१० अङ्क १४ (पृ०२२०-२२४) ISSN 0974 – 8830

श्रीकृष्णस्य योगविज्ञानम्

डॉ० तुलसी देवी[१]

'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'[२] वैदिकोऽयम् उद्घोषो भारतवर्षस्य आद्योदात्तभावनायाः परिचायको विद्यते। **'आर्य ईश्वरपुत्रः'**[३] इति निरुक्त्या संसूच्यते यत् य ईश्वरः **'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः'**[४] तस्य सन्ततिरपि यदा क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टा भवितुमर्हति आत्मानुसन्धानं कुर्वता तदा सा **'आर्य'** इत्यभिधातुं शक्यते। **'जीव'** ईश्वरस्य सनातन अंश इति भगवद्गीतायामपि स्पष्टमुक्तम्-

'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः'[५]

विश्वमानवमार्यं विधातुं, क्लेशादिजन्य-दुःख-शोक-सागरात् उद्धर्तुं भगवता कृष्णेन समस्तवेदार्थसार-संग्रहभूतं गीताशास्त्रम्[६] उपदिष्टम्। यः तत्त्वतः मानवजीवन-दर्शनस्य आख्यानं विद्यते। अत्रोक्तो योगः पावनतम आत्मिकविज्ञानो यस्य निष्ठापूर्णानुष्ठानेन न मनागपि क्लेशादिदोषोऽवशिष्यते। यथोक्तं गीतायाम्- **'दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्'**[७]

श्रीमद्भगवद्गीतोक्तेषु अष्टादशाध्यायेषु योगशब्दस्य विशेषविनियोगो दृश्यते तद्यथा- आदौ अर्जुनविषादयोगो द्वितीये सांख्ययोगः तृतीये कर्मयोग आदि।

चित्तवृत्तिनिरोधरूपयोगात्[८] पृथक् भगवद् गीतायां योगस्याभिप्रायमभिव्यापकं दृश्यते। योगशब्दमधिकृत्य गीतोक्तानि कतिपयानि प्रमुखानि उद्धरणानीमानि-

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जयः।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥[९]
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥[१०]
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि।[११]

---

१. डॉ० तुलसी देवी-रीडर-संस्कृत विभाग-महात्मा गाँधी बालिका (पी०जी०) कॉलेज, फिरोजाबाद (उ०प्र०)
२. ऋग्वेद- ९.६३.५
३. निरुक्तम्- ६.२६
४. योगदर्शनम्- १.२
५. श्रीमद्भगवद्गीता- १५.७
६. श्रीमद्भगवद्गीता-शाङ्करभाष्यम् उपोद्घातः-पृष्ठ- १४
७. श्रीमद्भगवद्गीता- ६.२३
८. योगदर्शनम्- १.२४
९. श्रीमद्भगवद्गीता- २.४८
१०. श्रीमद्भगवद्गीता- २.५०

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।[१२]

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।[१३]

. . . . .भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते।।[१४]

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।

अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे।।[१५]

अत्रोक्तः समत्वयोगः कर्मयोगः समाधियोगो भक्तियोगो ज्ञानयोगः (सांख्ययोगः) ध्यानयोग इत्यादि शब्दानां कः तात्पर्यार्थः किं प्रयोजनं वा इति नास्ति शङ्का काचित्। यतोहि- भगवद्गीतारूपयोगशास्त्रम्[१६] उपदेशात्मकं ग्रन्थं वर्तते। अत एवात्र विविधविषयाणां सविस्तरेण, विविधदृष्ट्या, विविधैः शब्दैः व्याख्यानं विद्यते। अयमेव कारणं यत् यथासंज्ञम् द्वितीये चतुर्थाध्याये च ज्ञानयोगः तृतीये कर्मयोगः पञ्चमे संन्यासयोगः षष्ठे ध्यानयोगो द्वादशाध्याये भक्तियोगो वर्णयतापि भगवता कृष्णेन एतत् विषयकं योगस्योपदेशम् अन्यान्यस्थलेष्वपि पुनः-पुनः उपदिष्टम्। गीताशास्त्रस्य संवादात्मकता एव अस्य मूलकारणं प्रतीयते परं प्रयोजनञ्च योगेश्वरश्रीकृष्णस्य येन मानवमात्रस्य अज्ञाननिवृत्तिपूर्वकात्मस्वरूपे स्थिति सम्भवा स्यात्। सर्वभूतानाम् आत्यन्तिकदुःखनिवृत्तिरूपयोगे गतिः स्यात्।

भगवद्गीतायां योगशब्दः साध्य-साधन-उभयरूपेण प्रयुक्तो दृश्यते। **दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्**-[१७] इदं लक्षणं योगफलमधिकृत्य वर्णितमस्ति अस्य फलस्य साधनं, उपायः युक्तिरपि योग उच्यते।[१८] अयमेव कारणं यत् भगवता श्रीकृष्णेन समत्वयोगः, कर्मयोगः इत्यादिरूपेण योगस्य विविधाः उपायाः उपदिष्टाः तद्यथा-

समत्वयोगः

फलतृष्णाशून्येन पुरुषेण क्रियमाणे कर्मणि सत्त्वशुद्धिजा सिद्धिः भवति न वा इत्याकांक्षारहिता समबुद्धिः समत्वयोगः।[१९]

बुद्धियोगः

समत्वबुद्धियुक्तेन मनसा पुण्य-पापरूप कर्म-फलस्य त्याग अर्थात् फलाकाङ्क्षाभावो बुद्धियोगः।[२०]

---

११. श्रीमद्भगवद्गीता- २.५३
१२. श्रीमद्भगवद्गीता- ५.२
१३. श्रीमद्भगवद्गीता- ६.२३
१४. श्रीमद्भगवद्गीता- ९.१४
१५. श्रीमद्भगवद्गीता- १३.२४
१६. श्रीमद्भगवद्गीतायामध्यायान्ते पुष्पिका
१७. श्रीमद्भगवद्गीता- ६.३२ आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन। सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥३२॥
१८. अमरकोशः-३.३.२२ योगः संहननोपायध्यानसङ्गतियुक्तिषु।
१९. श्रीमद्भगवद्गीता- २.४८, ६.२९, ३२ योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजयः। सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥
२०. श्रीमद्भगवद्गीता- २.४९ दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजयः। बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥

कर्मयोग:

कर्मसु कौशलं, कुशलभावो युक्तिः चातुर्यं वा योगः।[२१] कर्मणि स्वभावतो विद्यमानं बन्धनं फलस्य अस्ति।[२२] कर्मफलबन्धनस्य विच्छित्तिरसङ्गभावेन भवति। अतैव कर्मणि असङ्गभावना, निष्कामभावना, फलेच्छाभावः समत्वभावः वा सा युक्तिः, उपायः कौशलं वा येन बन्धस्वभावान्यपि कर्माणि स्वभावात् निवर्तन्ते।[२३] फलं प्रति समत्वबुद्धियुक्ताः मनीषिणः कर्मजं फलं त्यक्त्वा ज्ञानिनो भूत्वा जन्म-बन्ध विनिर्मुक्ता भवन्ति। यतोहि पुनर्भवस्य हेतु कर्माशयः (कर्मस्य संस्काराः) एव।

समाधियोग:

समाधीयते चित्तमस्मिन् इति समाधिः, आत्मा तस्मिन् आत्मनि इति। समाधौ निश्चला अचला बुद्धिः समाधियोगः।[२४] समाधियुक्तो योगी सर्वान् मनोगतान् कामान् परित्यज्य आत्मना आत्मन्येव तुष्टः स्थितप्रज्ञः उच्यते।[२५] अपरित्यक्तफलविषयः संकल्पः कश्चन योगी न भवति।[२६] फलसंकल्पस्य चित्त-विक्षेपहेतुत्वात्। व्युत्थेन चित्तेन न योगो सम्भवति।[२७] एतदर्थमेव पातञ्जलयोगशास्त्रे चित्तप्रसादनार्थं विविधाः उपायाः उपदिष्टाः भगवता पतञ्जलिना। भगवद्गीतायां तु अनासक्तिभावरूपसमत्वबुद्धियोगः चित्तस्थैर्यद्वारेण आत्मशुद्ध्यर्थं सर्वश्रेष्ठ उपायो वर्णितः।[२८]

भक्तियोग:

ज्ञानयोगमुपाश्रित्य[२९] अनासक्तिभावेन ईश्वरार्पणं कर्म कुर्वन् परमेश्वरस्योपासना भक्तियोगः।[३०]

ज्ञानयोग: (सांख्ययोग:)[३१]

आत्म-अनात्मविषयकविवेकज्ञानवतां ज्ञाने नित्यस्थितिः ज्ञानयोगः।[३२] ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः[३३] समत्वबुद्ध्या निष्कामतां प्राप्नुवन्ति। तेषामखिलं कर्म ज्ञाने परिसमाप्यते।[३४] तात्पर्यार्थमिदं यत् ज्ञानं विना न निष्कामकर्मयोगः सिद्ध्यति।

---

२१. श्रीमद्भगवद्गीता- २.५०
२२. श्रीमद्भगवद्गीता- ३.९
२३. श्रीमद्भगवद्गीता- २.५१ कर्मजः बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः। जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥
२४. श्रीमद्भगवद्गीता-शाङ्करभाष्यञ्च- २.५३
२५. श्रीमद्भगवद्गीता- २.५५ वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥
२६. श्रीमद्भगवद्गीता- ६.२
२७. श्रीमद्भगवद्गीता- ६.३६
२८. श्रीमद्भगवद्गीता- ५.११ कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि। योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥
२९. श्रीमद्भगवद्गीता- १०.१०-११
३०. श्रीमद्भगवद्गीत- ११.५४-५५, १२.२-१०, १४.२६, १८.५६-५७
३१. श्रीमद्भगवद्गीता- ३.३, ४.१९ ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥
३२. श्रीमद्भगवद्गीता- ५.१६-१७
३३. श्रीमद्भगवद्गीता- ४.३४ तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
३४. श्रीमद्भगवद्गीता- ४.३३

ज्ञानं पूर्वभावी निष्कामकर्मस्य। अत एवोच्यते- ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते।[३५] आकाङ्क्षारहितो ज्ञानयोगी सर्वकर्मबन्धनात् प्रमुच्यते।[३६]

ध्यानयोग:

ध्यानम्-आत्मस्वरूपचिन्तनम्, योग:-आत्मविषये चित्तस्य एकाग्रीकरणमिति ध्यानयोग:।[३७] ध्यानयोगिनो दृष्टादृष्टविषयेषु वैराग्यं समुपाश्रित्य नित्यं ध्यानयोगपरायणा[३८] आत्मना आत्मनि आत्मानं पश्यन्ति।[३९]

संन्यासयोग:

काम्यानां कर्मणां न्यास:-संन्यास: सर्वकर्मफलत्यागं पण्डिता: त्यागं कथयन्ति।[४०] एवं संन्यास-त्यागशब्दयो: एकैव अर्थ:। एतेन सुस्पष्टं यत् भगवद्गीतायां निवृत्तिमार्गस्य सर्वथानिराकरणं विद्यते। योगीराजश्रीकृष्णमतानुसारेण कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते।[४१] पुनश्च-

अनाश्रित: कर्मफलं कार्यं कर्म करोति य:।

स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रिय:॥[४२]

संन्यासयोगिन: काम्यकर्मान् फलासक्तिं च परित्यज्य कायेन, मनसा, बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि आत्मशुद्धये कर्माणि कुर्वन्ति।[४३]

अभ्यासयोग:

सांसारिकविषयेषु चलायमानचित्तस्य एकस्मिन् आलम्बने सर्वत: समाहृत्य पुन:-पुन: स्थापनमभ्यासयोग:।[४४]

साररूपेण इदं वक्तुं शक्यते यत् य: समत्वयोग: सैव बुद्धियोग: किं वा ज्ञानयोग:। कर्म-संन्यास योगयोरभेद:। समाधियोग: ध्यानयोगस्य उत्तमावस्था अभ्यासयोग: पूर्वावस्था च। भक्तियोग: श्रद्धारूप:। एतेन विदितं भवति यत् योगेश्वरश्रीकृष्णस्य मुखारविन्दान्त् नि:सृता: योगस्य विविधस्वरूपा: चतुर्विधात्मका:- १. भक्तियोग: २. ज्ञानयोग: ३. कर्मयोग: ४. ध्यानयोगश्च। यथा हि- श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्,[४५] ज्ञानात् कर्मफलत्याग:,[४६] त्यागात्

---

३५. श्रीमद्भगवद्गीता- ४.३७

३६. श्रीमद्भगवद्गीता- ४.१९

३७. श्रीमद्भगवद्गीता- ८.१२

३८. श्रीमद्भगवद्गीता- १३.२४

३९. श्रीमद्भगवद्गीता- ६.२०

४०. श्रीमद्भगवद्गीता- १८.२ काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदु:। सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणा:॥

४१. श्रीमद्भगवद्गीता- ५.२ तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥

४२. श्रीमद्भगवद्गीता- ६.१

४३. श्रीमद्भगवद्गीता- ५.११

४४. श्रीमद्भगवद्गीता- १२.९ अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।

४५. श्रीमद्भगवद्गीता- ४.३९

४६. श्रीमद्भगवद्गीता- ४.१९-२०

शान्तिरनन्तरं,[४७] शान्तैकाग्रचित्तेन ध्यानम्[४८] ध्यानात् निर्वाणरूपा परं शान्तिरधिगम्यते।[४९]

प्रकारान्तरेण इदमपि कथनीयं यत् चतुर्विधयोगोपायेषु द्वौ एव मुख्यौ-कर्मयोगध्यानयोगौ। फलनिरपेक्षः कर्मयोगः बहिरङ्गसाधनं ध्यानस्य। योगे आरोढुमिच्छतः कर्मयोगः साधनं योगारूढस्य पुनः ध्यानयोगः साधनम्।[५०] श्रद्धारूपा भक्तिः तद्द्वारेण प्राप्यं ज्ञानञ्च समानरूपेण साधकौ कर्मयोगे ध्यानयोगे च। यतोहि श्रद्धावान् अथ च ज्ञानवान् उपासकानामेव प्रवृत्तिः कर्मयोगे ज्ञानयोगे वा सम्भवति। योगस्य व्यावहारिकरूपः निष्कामकर्मयोगो ध्यानयोगश्च पारमार्थिकः।

अधिकारिभेदेन द्विविधा निष्ठापि वर्णिता गीतायाम्- (१) ज्ञानयोगः (२) कर्मयोगश्च।[५१] सैद्धान्तिकज्ञानस्य प्रयोगो ध्यानरूपेण ज्ञायते। ज्ञानयोगरूपोत्तमसाधनानुष्ठाने अशक्ताः साधकाः कर्मफलत्यागरूपयोगात् शान्तिं प्राप्नुवन्ति।[५२] परं श्रद्धा विना न किमपि सिद्ध्यति।

प्रत्यक्षावगमं[५३] ज्ञानमिदमुपाश्रित्य दुःखरूपसंसार-बन्धनात् परमार्थतो विनिर्मुक्तो योगी परमेश्वरस्य समरूपतामधिगच्छति[५४] आत्यन्तिकं सुखम्-अनन्तमानन्दमनुभवति।[५५] गीताशास्त्रोक्त योगस्य इदं परं प्रयोजनम्।

४७. श्रीमद्भगवद्गीता- १२.१२
४८. श्रीमद्भगवद्गीता- ६.१२
४९. श्रीमद्भगवद्गीता- ६.१५, २८: ५.२४
५०. श्रीमद्भगवद्गीता- ६.३ आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते। योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥
५१. श्रीमद्भगवद्गीता- ३.३ लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
५२. श्रीमद्भगवद्गीता- १२.१२
५३. श्रीमद्भगवद्गीता- ९.२ प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥
५४. श्रीमद्भगवद्गीता- १४.२, १८.५३ इत्यादि। इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
५५. श्रीमद्भगवद्गीता- ६.२१

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०१० अङ्क १४ (पृ०२२५-२३२) ISSN 0974 – 8830

संस्कारों के प्रति प्रतिबद्ध काव्यकार कालिदास

डॉ. राकेश शास्त्री[१]

सम् उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातु से 'घञ्' प्रत्यय करके **'संपरिभ्यां करोतौ भूषणे'** सूत्र से भूषण अर्थ में सुट् का आगम होकर 'संस्कार' शब्द की निष्पत्ति होती है। इसका अभिप्राय है- संस्करण, परिष्करण, विशुद्धीकरण आदि। जिस प्रकार किसी वस्तु को धो- पोंछकर शुद्ध बना लिया जाता है। ठीक उसीप्रकार संस्कारों द्वारा जीव के जन्म-जन्मान्तरों से संचित मलों को दूर किया जाता है।

यही कारण है कि भरतीय संस्कृति में बालक के गर्भ में आने से लेकर मरणपर्यन्त विभिन्न संस्कारों का विधान किया गया है। इस विषय में याज्ञवल्क्य स्मृतिकार का कथन विशेषरूप से उल्लेखनीय है -

ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रवर्णास्त्वाद्यास्त्रयो द्विजाः।

निषेकाद्याः श्मशानान्तास्तेषां वै मन्त्रतः क्रियाः॥[२]

धर्मशास्त्रकारों ने मुख्यरूप से गर्भाधानादि से लेकर अन्त्येष्टि-पर्यन्त कुल सोलह संस्कारों को मान्यता प्रदान की है,[३] किन्तु कुछ विद्वान् इनकी संख्या बयालीस से लेकर अड़तालीस तक मानने के पक्षधर हैं। जिनमें महर्षि गौतम का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है, उन्होंने संस्कारों का विस्तार से उल्लेख करते हुए कुल अड़तालीस संस्कारों को मान्यता प्रदान की है। जो अन्य आचार्यों की गणना से कहीं अधिक कही जा सकती है। इनमें गर्भाधानादि संस्कारों के अतिरिक्त इक्कीस संस्कार और बताए गये हैं, जो सात पाकयज्ञ, सात हविर्यज्ञ तथा सात सोमयज्ञ के रूप में निर्दिष्ट हैं।

इनके अतिरिक्त गौतम ने स्थूलकरणों के साथ-साथ सूक्ष्मकरणों के आठ संस्कारों दया, क्षमा, अनसूया, शौच, अनायास, मंगल, अकार्पण्य, अस्पृहा आदि को भी आवश्यक माना है। महर्षि गौतम का कथन है कि जिसके गर्भाधानादि चालीस संस्कार नहीं होते हैं और जो आठ आत्मगुणात्मक संस्कारों से सम्पन्न नहीं है, उन्हें कुछ फल प्राप्त नहीं होता है, उसका जीवन व्यर्थ है, किन्तु जो इन संस्कारों से संस्कृत होता है, वह ब्रह्मलोक में वास करता है और ब्रह्मसायुज्य को प्राप्त कर लेता है।[४] महर्षि अत्रि ने भी इसी मत से अपनी सम्मति व्यक्त की है।[५]

महर्षि वेदव्यास ने पुराणों में भी पद-पद पर संस्कारों की अनुपालना पर विशेष बल दिया है। भागवत, पद्म, स्कन्द, मत्स्य, वामन और नारद आदि पुराणों में यह विषय विस्तार से वर्णित हुआ है। इनमें न केवल शरीर के संस्कार अपितु मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि की शुद्धि के लिए भी विशेष संस्कारों का उल्लेख किया गया है। महर्षि

---

१. अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बांसवाडा (राज.)३२७००१

२. याज्ञवल्क्य स्मृति - १०।

३. आधानं पुंस्वनं सीमन्तोन्नयनं जातकर्म नामकरणं अन्नप्राशनं चौलं उपनयनम्। ब्रह्मव्रतं वेदव्रतं समावर्तनमुद्वाहः, अग्न्याधानं दीक्षां महाव्रतं संन्यासः॥ मीमांसादर्शन इ. गर्भाधानं पुसवनं सीमन्तो जातकर्म च। नामक्रियानिष्क्रमणेऽन्नाशनं वपनक्रिया। कर्णवेधो व्रतादेशो वेदारम्भक्रियाविधिः। केशान्तः स्नानमुद्वाहो विवाहाग्निपरिग्रहः॥ त्रेताग्निसंग्रहश्चेति संस्काराः षोडश स्मृताः॥ व्यासस्मृति - १/१३-१५

४. यस्यैते च चत्वारिंशत्संस्कारा न चाष्टावात्मगुणा न स ब्रह्मणः सायुज्यं सालोक्यं च गच्छतीति॥ गौतमस्मृति

५. यश्चैतैर्लक्षणैर्युक्तो गृहस्थोऽपि भवेद् द्विजः। स गच्छति परं स्थानं जायते नेह वै पुनः॥ अत्रिसंहिता - ४२।

वेदव्यास ने भावशुद्धि पर बहुत बल दिया है, उनकी मान्यता है कि भावशुद्धि के अभाव में स्थूल संस्कारों का कोई महत्त्व नहीं है।

इन सभी दृष्टियों से जब हम महाकवि कालिदास के साहित्य का सूक्ष्मरूप से परिशीलन करते हैं तो देखते हैं कि काव्यकार कालिदास ने अपनी अन्तिम कृति रघुवंश महाकाव्य में पुंसवनादि जातपूर्व संस्कारों से लेकर और्ध्वदैहिक संस्कार पर्यन्त सभी संस्कारों का प्रतिपादन करते हुए इन्हें जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक माना है। इस सम्बन्ध में उनका मानना है कि संस्कारों से व्यक्ति के जीवन में शुद्धता का आधान होता है तथा अच्छे संस्कारों का प्रभाव जन्म-जन्मान्तर तक बना रहता है -**फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तना इव।।**[६]

इस प्रसङ्ग में विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि नाटककार कालिदास ने अपनी द्वितीय कृति विक्रमोर्वशीयम् के अन्तिम अंक में पुरुरवा पुत्र क्षत्रिय बालक आयुष् के जातकर्मादि संस्कारों को च्यवन ऋषि द्वारा किए जाने का कथन किया है -

शृणोतु महाराजः। एष दीर्घायुरायुर्जातमात्र एव उर्वश्या किमपि निमित्तमवेक्ष्य मम हस्ते न्यासीकृतः। यत् क्षत्रियकुमारस्य जातकर्मादिविधानं तदस्य भगवता च्यवनेनाशेषमनुष्ठितम्। गृहीतविद्यो धनुर्वेदेऽभिविनीतः।।[७]

इसीप्रकार अपनी अन्तिम एवं सर्वश्रेष्ठ कृति अभिज्ञानशाकुन्तलम् के अन्तिम अंक में शकुन्तला के पुत्र बालक सर्वदमन के जातकर्मादि संस्कारों का महर्षि मारीच द्वारा किया जाना वर्णित किया है -

मारीचः- वत्स! कच्चिदभिनन्दितस्त्वया विधिवदस्माभिरनुष्ठितजातकर्मा पुत्र एष शाकुन्तलेयः।।[८]

यद्यपि प्रथम स्थल पर प्रयुक्त आदि शब्द से उपनयनादि संस्कारों का भी ग्रहण किया जा सकता है। पुनरपि अन्तिम कृति अभिज्ञानशाकुन्तलम् में तो यह जातकर्म संस्कार तक ही सीमित प्रतीत होता है।

शृणोतु महाराजः। एषाऽपराजिता नामौषधिरस्य जातकर्मसमये भगवता मारीचेन दत्ता।[९]

इसीप्रकार सर्वदमन का नामकरण संस्कार भी भगवान् मारीच द्वारा किया गया है,[१०] यद्यपि पुरुरवा पुत्र आयुः के इसप्रकार से नामकरण करने का उल्लेख वहाँ नहीं हुआ है। इस प्रकार हम देखते हैं कि नाटककार कालिदास यद्यपि संस्कारों के प्रति सचेष्ट अवश्य रहे हैं, किन्तु अन्य आचार्यों द्वारा प्रतिपादित संस्कारों की तो बात ही क्या? उन्होंने तो काव्यकार के समान मनु द्वारा अनुमोदित विभिन्न संस्कारों का ही उल्लेख अपनी नाट्य कृतियों में नहीं किया है। जबकि आचार्य मनु द्वारा बताए गए नियमों में पूर्णतया आस्थावान्[११] काव्यकार कालिदास ने तो अपनी सर्वश्रेष्ठ कृति रघुवंश महाकाव्य के महानायक रघु के पुंसवन,[१२] जातकर्म,[१३] नामकरण,[१४] चौल अर्थात् मुण्डन,[१५] अक्षरारम्भ,[१६] उपनयन,[१७]

---

६. रघु..- १/२०।

७. विक्रमो.- ५/११ से पूर्व

८. अभि. ७/३२ के बाद।

९. अभि. ७/२० के बाद।

१०. 'इहायं सत्त्वानां प्रसभदमनात् सर्वदमनः। पुनर्यास्यत्याख्यां भरत इति लोकस्य भरणात्।' ' अभि. ७/३३

११. रेखामात्रमपि क्षुण्णादामनोर्वर्त्मनः परम्। न व्यतीयुः प्रजास्तस्य नियन्तुर्नेमिवृत्तयः।। रघु. १/१७

१२. रघु.- ३/१०।

१३. रघु..- ३/१८, १४/७५।

१४. रघु..- ३/२१, ५/३६, कु.-१/२६।

गोदान,[१८] विवाह[१९] और अन्त्येष्टि[२०] आदि मनु द्वारा अनुमोदित संस्कारों को सम्पादित किए जाने का गम्भीरतापूर्वक उल्लेख किया है।

इतना ही नहीं यहाँ तो काव्यकार यतियों के अनग्नि संस्कार से भी पूर्णतया परिचित प्रतीत होते हैं। यही कारण है कि वे रघुवंश के अष्टम सर्ग में रघु के देवलोक गमन पर अग्निहोत्र करने वाले पुत्र अज द्वारा उनके शरीर का दाहसंस्कार न कराकर उनके पार्थिव शरीर को अन्य नैष्ठिक योगियों के साथ ही पृथ्वी में समाधि प्रदान कराते हैं -

विदधे विधिमस्य नैष्ठिकं यतिभिः सार्धमनग्निमग्निचित्॥[२१]

कहने का अभिप्राय यही है कि ई.पू. प्रथम शती में स्थित नाटककार कालिदास जहाँ एक ओर अपनी प्रथम कृति मालविकाग्निमित्रम् में संस्कारों की बात भी नहीं करते हैं, वहीं दूसरी ओर काव्यकार कालिदास अपनी सर्वश्रेष्ठ कृति रघुवंशम् के महानायक रघु के मनु द्वारा अनुमोदित अधिकांश संस्कारों को सम्पादित कराने में विश्वास व्यक्त करते हुए उनके प्रति अपनी प्रतिबद्धता अभिव्यञ्जित करते हैं। जो इन दोनों व्यक्तित्वों के पृथक्त्व को अभिव्यञ्जित करता प्रतीत होता है।

अब हम यहाँ काव्यकार द्वारा रघुवंश महाकाव्य में प्रतिपादित संस्कारों का विस्तारपूर्वक विवेचन प्रस्तुत कर रहे हैं -

धर्मशास्त्रकारों ने विधिपूर्वक किए गए गर्भाधान संस्कार द्वारा सुयोग्य सन्तान की उत्पत्ति को स्वीकार किया है। इस संस्कार द्वारा वीर्य एवं गर्भ सम्बन्धी दोषों का परिमार्जन व क्षेत्र का संस्कार माना गया है-

गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौंजीनिबन्धनैः।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते॥[२२]

आचार्य सुश्रुत का इस विषय में मानना है कि गर्भाधान के समय स्त्री-पुरुष जिस भाव से भावित होते हैं, उसका प्रभाव उनके रज और वीर्य दोनों पर पड़ता है।

आहाराचारचेष्टाभिर्यादृशीभिः समन्वितौ।
स्त्रीपुंसौ समुपेयातां तयोः पुत्रोऽपि तादृशः॥[२३]

सम्भवतः इस तथ्य से सम्यक्तया परिचित काव्यकार ने राजा दिलीप और सुदक्षिणा को महर्षि वसिष्ठ के आश्रम में गो-सेवा के लिए भेजा है, जिससे जितेन्द्रिय रहकर वे दोनों राष्ट्र को रघु जैसा ही जितेन्द्रिय पुत्र प्रदान कर सकें।

---

१५. रघु..- ३/२८।
१६. रघु..- ३/२८।
१७. रघु..- ३/२९।
१८. रघु..- ३/३३।
१९. रघु..- ३/३३।
२०. रघु..- ८/७१, १२/५६, १९/५४।
२१. रघु. ८/२५।
२२. (क) मनु.- २/२७। (ख) निषेकाद् बैजिकं चैनो गार्भिकं चापमृज्यते। क्षेत्रसंस्कारसिद्धिश्च गर्भाधानफलं स्मृतम्॥ स्मृतिसंग्रह
२३. सुश्रुत- शरीरस्थान, २/४६।

यही कारण है कि राजा रघु अपनी धर्मपत्नी सुदक्षिणा के साथ वसिष्ठ ऋषि के आश्रम में पूर्णतया त्यागपूर्ण जीवन व्यतीत करते हुए इन्द्रिय-निग्रहपूर्वक नन्दिनी गो की सेवा सम्पादित करते हैं और परिणामस्वरूप प्राप्त होने वाले अमृततुल्य गो-दुग्ध का पान करने के बाद[२४] ही रानी सुदक्षिणा का गर्भाधान काव्यकार द्वारा कराया गया है। जिससे चक्रवर्ती लक्षणों से सम्पन्न पुत्र रघु का उत्पन्न होना सर्वथा निश्चित ही था।[२५] इसे विधिपूर्वक किए गये गर्भाधान संस्कार का ही परिणाम कहा जा सकता है।

तत्पश्चात् गर्भिणी स्त्री की व्यवहार विषयक सूक्ष्मातिसूक्ष्म क्रियाओं एवं परिस्थितियों से पूर्णतया परिचित काव्यकार कालिदास अमूल्य रत्नों से भरी पृथ्वी के समान, अपने भीतर पवित्र अग्नि को छिपाए शमी वृक्ष के तुल्य तथा भीतर ही भीतर जल बहाने वाली सरस्वती नदी जैसी[२६] गर्भिणी रानी सुदक्षिणा का पूरे ठाठ-बाट के साथ पुंसवन संस्कार कराना भी नहीं भूलते हैं, क्योंकि वे इस संस्कार के महत्त्व से भी पूरी तरह परिचित प्रतीत होते हैं-

यथाक्रमं पुंसवनादिकाः क्रिया धृतेश्च धीरः सदृशीर्व्यधत्त सः।।[२७]

वस्तुतः धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में पुत्र-प्राप्ति हेतु पुंसवन संस्कार का विधान किया गया है।[२८] शास्त्रीय मान्यता है कि पुत्र न केवल व्यक्ति के वंश को चलाता है, अपितु वह उसका उत्तराधिकारी भी होता है। यहाँ तक कि वह उसका 'पुम्' नामक नरक से त्राण भी करता है।[२९] इसी भावना की अभिव्यक्ति काव्यकार इस महाकाव्य के प्रथम सर्ग में करते प्रतीत होते हैं -

संततिः शुद्धवंश्या हि परत्रेह च शर्मणे।।[३०]

इसके अतिरिक्त राजा दिलीप पितृ-ऋण से मुक्ति हेतु भी पुत्र-रत्न की प्राप्ति की कामना अपने कुल गुरु महर्षि वसिष्ठ से करते हैं -

तस्मान्मुच्ये यथा तात संविधातुं तथार्हसि।
इक्ष्वाकूणां दुरापेऽर्थे त्वदधीना हि सिद्धयः।।[३१]

इतना ही नहीं पुत्र न होने के कष्ट की अभिव्यक्ति के लिए वे इस प्रसङ्ग में पितरों के भार की उपमा हाथी को खूँटे से होने वाले कष्ट से देते हैं।[३२] कहने का अभिप्राय यही है कि तात्कालिक समाज में पुत्रप्राप्ति की प्रचलित मान्यता एवं महत्ता से परिचित काव्यकार कालिदास ने राजा दिलीप की पत्नी सुदक्षिणा के पुंसवन संस्कार कराना आवश्यक माना है।

---

२४. रघु. - २/६९।
२५. रघु. - २/७५।
२६. निधानगर्भामिव सागराम्बरां शमीमिवाभ्यन्तरलीनपावकाम्। नदीमिवान्तः सलिलां सरस्वतीं नृपः ससत्वां महिषीममन्यत।, रघु.-३/९
२७. रघु.- ३/१०।
२८. गर्भाद् भवेच्च पुंसूते पुंस्त्वरूपप्रतिपादनम्।। (स्मृतिसंग्रह)
२९. पुन्नाम्नो नरकात् त्रायते इति पुत्रः।
३०. रघु.- १/६९।
३१ .रघु. -१/७२।
३२. रघु. -१/७१।

पुंसवन संस्कार के पश्चात् जातकर्म संस्कार का विधान किया गया है। जिसमें बालक का जन्म होते ही नालोच्छेदन से पूर्व स्वर्ण शलाका से शहद एवं घी लगाकर मन्त्रोच्चारपूर्वक चटाया जाता है।"[३३]

आयुर्वेद की दृष्टि से स्वर्ण त्रिदोषनाशक, घृत आयुवर्धक तथा वातपित्त नाशक और मधु कफ नाशक माना गया है। अत: इन तीनों का मिश्रण आयु, लावण्य और मेधा शक्ति में वृद्धि करने वाला और पवित्रता का आधान करने वाला होता है। इन सभी तथ्यों से परिचित काव्यकार पुत्र रघु के जातकर्म संस्कार महर्षि वसिष्ठ को तपोवन से बुलाकर भी कराना आवश्यक मानते हैं। काव्यकार का मानना है कि इस संस्कार के सम्पन्न होने के पश्चात् बालक रघु वैसे ही सुन्दर प्रतीत होने लगते हैं, जैसे खान से निकला खरादा हुआ हीरा -

स जातकर्मण्यखिलो तपस्विनां तपोवनादेत्य पुरोधसा कृते।

दिलीपसूनुर्मणिराकरोदभवः प्रयुक्तसंस्कार इवाधिकं बभौ॥ [३४]

काव्यकार द्वारा इस प्रसङ्ग में की गयी भावाभिव्यक्ति, निश्चय ही संस्कारों के प्रति उनकी पवित्र एवं गहन आस्था को प्रदर्शित करती है। जातकर्म संस्कार के बाद आयु, तेज की वृद्धि एवं लौकिक व्यवहार की सिद्धि के लिए आचार्य मनु 'नामकरण संस्कार' का विधान करते हैं।[३५] साथ ही क्षत्रिय के नाम को बल से युक्त होने की अनिवार्यता का भी प्रतिपादन करते हैं।[३६] इस तथ्य से पूर्णतया परिचित काव्यकार कालिदास ने अपने कथा-नायक रघु का नामकरण 'रघि' धातु के 'जाना' अर्थ को दृष्टि में रखकर कराया है-**अवेक्ष्य धातोर्गमनार्थमर्थविच्चकार नाम्ना रघुमात्मसम्भवम्॥**[३७]

इस नामकरण के पीछे राजा दिलीप का चिन्तन मुख्यरूप से यही रहा है कि यह पुत्र सभी शास्त्रों के अर्थ एवं उनके मर्म को गम्भीरता से ग्रहण करे, साथ ही जब भी यह युद्ध-क्षेत्र में शत्रुओं का सामना करे तो उनके व्यूहों का छेदन करके उनके पार चला जाए,[३८], क्योंकि पुत्र ही पिता की आंकाक्षाओं को पूरा करने वाला होता है।

रघु के पुत्र 'अज'[३९] और मेना पुत्री 'पार्वती' अथवा 'उमा' के नामकरण संस्कार[४०] के प्रति भी काव्यकार की किसी न किसी प्रकार की भावना ही अभिव्यक्त हुई है। तत्पश्चात् किए जाने वाले 'निष्क्रमण' और 'अन्न-प्राशन' संस्कारों का काव्यकार ने उल्लेख नहीं किया है, किन्तु उसके बाद होने वाले 'मुण्डन-संस्कार' का वे स्पष्टरूप से कथन करते हैं, क्योंकि बल, आयु और तेज की वृद्धि करने वाले इस संस्कार की महत्ता से वे भली-भाँति परिचित प्रतीत होते हैं। धर्मशास्त्रकारों ने इस संस्कार के पश्चात् ही अक्षरारम्भ करने का भी निर्देश किया है-

स वृत्तचूलश्चालकापक्षकैरमात्यपुत्रैः सवयोभिरन्वितः।

---

३३. प्राङ् नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते। मन्त्रवत्प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम्॥ मनु.-. २/२९।

३४. रघु.- ३/१८।

३५. मनु.-२/३०।

३६. क्षत्रियस्य बलान्वितम्। मनु. - २/३१

३७. रघु. ३/२१।

३८. श्रुतस्य यायादयमन्तमर्भकस्तथा परेषां युधि चेति पार्थिवः॥ रघु. ३/२१

३९. रघु.-५/३६।

४०. कु.- १/२६।

लिपेर्यथावद् ग्रहणेन वाङ्मयं नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत्॥[४१]

इसके पश्चात् काव्यकार द्विजत्व की प्राप्ति कराने वाले 'यज्ञोपवीत संस्कार' का उल्लेख करते हैं, क्योंकि वे इस बात से भलीभाँति परिचित हैं कि इस संस्कार के पश्चात् ही आत्यन्तिक कल्याण के लिए बालक को वेदाध्ययन, गायत्री जप और श्रौत एवं स्मार्त कर्मों को करने का अधिकार प्राप्त होता है-

अथोपनीतं विधिवद्विपश्चितो विनिन्युरेनं गुरवो गुरुप्रियम्।
अवन्ध्ययत्नाश्च बभूवुरत्र ते क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति॥[४२]

'यज्ञोपवीत संस्कार' किए जाने के पश्चात् ही रघु ने योग्य पण्डितों से सभी विद्याओं का अध्ययन किया है, जिसमें वेदारंम्भ संस्कार भी अभिव्यञ्जित है, क्योंकि वेदादि विद्याओं के अध्ययन से मनुष्य के समस्त पापों का लोप हो जाता है तथा उसे सम्पूर्ण सिद्धियों की प्राप्ति होती है। यहाँ तक कि उसके समक्ष साक्षात् अमृतरस पान के रूप में उपलब्ध हो जाता है।[४३]

इसी संस्कार का प्रभाव है कि जिस प्रकार सूर्य अपने घोड़ों की सहायता से थोड़े समय में ही दिशाओं को पार कर लेता है। उसी प्रकार तीक्ष्ण मेधा सम्पन्न रघु चारों समुद्रों के समान विस्तृत आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति आदि चारों विद्याओं को भी सहज ही सीख लेते हैं।[४४]

विद्या अध्ययन के पूर्ण होने पर बालक के 'केशान्त संस्कार' जिसे 'गोदान संस्कार' भी कहते हैं, का विधान किया गया है।[४५] संस्कारों के प्रति पूर्णतया जागरूक काव्यकार कालिदास भी रघु के 'विवाह संस्कार' से पूर्व इस संस्कार को कराना नहीं भूले हैं -

अथास्य गोदानविधेरनन्तरं विवाहदीक्षां निरवर्तयद् गुरुः॥[४६]

इस प्रसङ्ग में एक बात विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि आचार्य मुन एवं पुराणादि ग्रन्थों से प्रभावित काव्यकार ने सभी विवाहों में एकमात्र 'ब्राह्म विवाह' को ही उत्तम माना है। वे इस बात से भलीभाँति परिचित प्रतीत होते हैं कि ब्राह्मादि उत्तम विवाहों से उत्पन्न पुत्र ही पितरों को तारने वाला होता है।[४७]

यही कारण है कि नाटककार के समान उन्होंने अपने किसी भी कथा नायक को स्वेच्छाचारी होकर 'गान्धर्वादि विवाह' करने की अनुमति प्रदान नहीं की है। ब्राह्म-विवाह के अन्तर्गत किया जाने वाला 'पाणिग्रहण संस्कार' वस्तुतः समस्त देवताओं और अग्नि के साक्षित्व में किए जाने का विधान है। भारतीय संस्कृति के अनुसार- इसप्रकार किए जाने वाला वैवाहिक सम्बन्ध जन्म-जन्मान्तर पर्यन्त रहता है।

कुमारसम्भव महाकाव्य में शिव-पार्वती विवाह एवं रघुवंश महाकाव्य में इन्दुमती स्वयंवर तथा सीता स्वयंवर

---

४१. रघु. - ३/२८।
४२. रघु.- ३/२९।
४३. विद्यया लुप्यते पापं विद्ययाऽऽयुः प्रवर्धते। विद्यया सर्वसिद्धिः स्याद् विद्ययाऽमृतमश्नुते॥ स्मृतिसंग्रह
४४. रघु.- ३/३०।
४५. मनु.-२/६५।
४६. रघु.- ३/३३।
४७. ब्राह्माद्युद्वाहसम्भूतः पितृणां तारकः सुतः। [illegible] महर्षिभिः॥ स्मृतिसंग्रह

के पश्चात् इनके विधिवत् वेदोक्त विधि से कराए गए 'विवाह संस्कार' काव्यकार की शास्त्रोक्त संस्कारों के प्रति प्रगाढ़ निष्ठा के ही द्योतक कहे जा सकते हैं।

भारतीय धर्मशास्त्रकारों ने मृत-शरीर की अन्त्येष्टि-क्रिया को भी एक संस्कार ही माना है। जिसे पितृमेध, अन्त्यकर्म अथवा श्मशान-कर्म की संज्ञा भी प्रदान की गयी है। काव्यकार कालिदास ने इस 'अन्तिम-संस्कार' को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया है, क्योंकि उन्होंने रघुवंश महाकाव्य के क्षय रोगग्रस्त अन्तिम नायक अग्निवर्ण के भी अन्त्येष्टि-संस्कार की विधि को जानने वाले पुरोहितों के माध्यम से ही सम्पादित कराया है-

ते गृहोपवन एव संगताः पश्चिमक्रतुविदा पुरोधसा।
रोगशान्तिमपदिश्य मन्त्रिणः संभृते शिखिनि गूढमादधुः॥ [४८]

इसके अतिरिक्त यहाँ तो वे जटायु के मरने पर भी उसका विधिवत् दाह-संस्कार कराकर उसकी श्राद्धादि क्रियाओं को सम्पादित कराते हैं, क्योंकि उसके मरने पर राम और लक्ष्मण को अपने पिता के मरने के समान ही शोक भी हुआ है-

तयोस्तस्मिन्नवीभूतपितृव्यापत्तिशोकयोः।
पितरीवाग्निसंस्कारात् परा ववृतिरे क्रियाः॥ [४९]

इस संस्कार में परिष्कृत अग्नि द्वारा दाह-क्रिया से लेकर द्वादशाह तक के कर्मों को सम्पादित किया जाता है। मृत व्यक्ति के शरीर को स्नान कराकर, वस्त्रों से आच्छादित करके तुलसी-स्वर्णादि पवित्र पदार्थों को अर्पित करके, शिखासूत्र सहित उत्तर की और सिर करके उसे चिता पर स्थापित किया जाता है।

इसके पश्चात् औरस् पुत्र अथवा सपिण्डी या सगोत्री सुसंस्कृत अग्नि द्वारा मन्त्रोच्चारण पूर्वक चिता में अग्नि देता है। अग्नि प्रदान करने वाला व्यक्ति बारहवें दिन तक सपिण्डन पर्यन्त सभी कर्मों का सम्पादन करता है। तीसरे दिन अस्थि-संचयन और दसवें दिन दशाह करके तिलांजलि प्रदान करता है। दस दिन तक अशौच रहता है, जिसमें कोई भी नैमित्तिक कार्य नहीं किए जाते हैं।[५०]

काव्यकार द्वारा प्रयुक्त 'पश्चिमक्रतुविद् पुरोधस्',[५१] 'दशाह'[५२] एवं 'अग्निसंस्कार क्रिया'[५३] आदि पद इस कथ्य की पुष्टि करते प्रतीत होते हैं। ये सभी तथ्य काव्यकार कालिदास की संस्कारों के प्रति प्रतिबद्धता को अभिव्यक्ति भी प्रदान करते हैं।

इस प्रसङ्ग में एक बात विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि काव्यकार सधवा स्त्री के 'दाह-संस्कार' की विधि से भी पूर्णतया परिचित प्रतीत होते हैं। इसीलिए उन्होंने मृत इन्दुमती के शरीर का श्रृंगार करके ही अगर और चन्दन की लकड़ियों द्वारा ही उसका दाहसंस्कार कराया है -

---

४८. रघु. - १९/५४।
४९. रघु.- १२/५६।
५०. बौधायनीय पितृमेध सूत्रों में इस क्रिया का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।
५१. रघु. - १९/५४।
५२. अथ तेन दशाहतः परे गुणशेषामुपदिश्य भामिनीम्॥ विदुषा विधयो महर्द्धयः पुर एवोपवने समापिताः॥ रघु.- ८/७३।
५३. रघु. - १२/५६।

अथ तस्य कथंचिदंकत: स्वजनस्तामपनीय सुन्दरीम्।
विससर्ज कृतान्त्यमण्डनामनलायागुरुचन्दनैधसै:।।[५४]

इसके अतिरिक्त महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेख्य तथ्य यह भी है कि काव्यकार यतियों के देहत्याग के उपरान्त किए जाने वाले 'अनग्नि-संस्कार' से भी भलीभाँति परिचित प्रतीत होते हैं, तभी तो उन्होंने मोक्षाकांक्षी अपने योगी पिता रघु के देह-त्याग के पश्चात् अग्निहोत्री अज द्वारा अग्नि के माध्यम से 'अन्त्येष्टि-संस्कार' न कराकर उनके शरीर को अन्य नैष्ठिक योगियों के साथ 'पृथ्वी-समाधि' प्रदान करायी है।[५५]

इस प्रसङ्ग में किसी भी सामान्य पाठक द्वारा एक शंका किया जाना स्वाभाविक है कि रघु के नैष्ठिक ब्रहमचारी न होने पर भी काव्यकार ने उनके मृत शरीर को नैष्ठिक ब्रह्मचारी अन्य यतियों के शरीर के साथ पृथ्वी में समाधि क्यों दिलायी? इसके समाधान रूप में इतना ही कहना उचित होगा कि अपने पुत्र अज को राज्यभार सौंपकर अपनी चतुर्थ अवस्था में संन्यास लेकर रघु ने जहाँ एक ओर मनु की 'सरणि' का अनुसरण किया, वहीं दूसरी ओर पूर्णतया शान्तिपूर्ण जीवन भी व्यतीत किया।[५६]

इसी क्रम में मोक्ष पद पाने के लिए तत्त्वदर्शी योगियों से शास्त्रचर्चा की।[५७] कुशाओं के पवित्र आसन पर बैठकर एकान्त में मन को साधने का अभ्यास किया।[५८] अपने योगबल से शरीर में रहने वाले प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान सभी पञ्च वायुओं को अपने वश में किया[५९] और इन सबसे बढ़कर उन्होंने ज्ञान की अग्नि द्वारा अपने सभी कर्मों को भस्म कर दिया।[६०] उनकी मिट्टी और सोने में समान दृष्टि हो गयी तथा उन्होंने प्रकृति के सत्त्व, रजस् और तमस् तीनों गुणों को जीत लिया।[६१] इतना ही नहीं अपनी यौगिक क्रियाओं का उन्होंने तब तक परित्याग नहीं किया, जब तक उन्हें परमात्मा के दर्शन नहीं हो गए।[६२]

कहने का अभिप्राय यही है कि इस प्रकार उच्चकोटि के योगी पुरुष रघु का अनग्नि संस्कार कराकर काव्यकार कालिदास ने आचार्य मनु द्वारा प्रतिपादित संस्कारों के प्रति ही अपनी प्रतिबद्धता प्रदर्शित की है। यद्यपि सूक्ष्मदृष्टि से देखने पर उनके काव्य में आचार्य गौतम द्वारा प्रतिपादित अड़तालीस संस्कारों की स्थिति भी हमें अकेले महाकाव्य रघुवंश में ही उपलब्ध हो जाती है। जो हमें अन्य किसी भी महाकवि में किसी भी स्तर पर भी परिलक्षित नहीं होती है। विस्तार-भय से हम यहाँ उनका उल्लेख नहीं कर रहे हैं।

---

५४. रघु.- ८/७१।
५५. रघु. - ८/२५।
५६. रघु.- ८/१५।
५७. रघु.- ८/१७।
५८. रघु.- ८/१८।
५९. रघु.- ८/१९।
६०. रघु.- ८/२०।
६१. रघु.- ८/२१।
६२. रघु.- ८/२२।

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०१० अङ्क १४ (पृ०२३३-२३८) ISSN 0974 – 8830

प्राचीन भारत में प्रचलित देवदासी प्रथा

डॉ० रेखा सिंह[१]

प्राचीन काल से ही हमें राजाओं, पुजारियों और अभिजात्य वर्ग के लोगों द्वारा संरक्षित स्त्रियों का एक विशेष वर्ग मिलता था, जो मन्दिरों के देवताओं की सेवा से सम्बद्ध था, जिसे सामान्यत: देवदासी कहा जाता था। देवदासी शब्द मूलत: संस्कृत भाषा का है जिसका अर्थ देवताओं की दासी या सेविका से है। विभिन्न साहित्यिक एवं अभिलेखीय स्रोतों में इन्हें भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा गया है। दक्षिणी भारत में तमिलनाडु में इन्हें दावरीदयार, कनार्टक में बासवी या जोगती, आंध्रप्रदेश में दोगम या सानी,[२] गोआ में भाविनी, महाराष्ट्र में मुरलिस जागतिनी, मारवाड क्षेत्र में भगतनी भगतन[३] और उड़ीसा में भतृरी[४] कहा गया है। इसके अतिरिक्त इन्हें रूपपीष्या[५] भी कहा गया है। मन्दिरों के सभी कार्य करने के कारण इन्हें देव परिचारिका[६] कहकर भी सम्बोधित किया गया है।

ये देवदासियाँ मन्दिर में पूजन, अर्चना के समय तथा धार्मिक समारोहों और अवसरों पर नाचती थीं और विभिन्न प्रकार के वाद्यों को बजाती तथा गाती थीं, लेकिन यह प्रथा कब अस्तित्व में आयी, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। वेदों में दासी शब्द का प्रयोग अवश्य मिलता है, परन्तु वहाँ पर दासी शब्द का अर्थ दूसरे रूप में लिया गया है। दास आर्यों के शत्रु थे अत: उनके घर (विश) और गड़ (पुर) को दासी का विशेषण दिया गया (विशोदासी, पुरोदासी)।[७] अथर्ववेद में दासी शब्द घरेलू काम करने वाली पराप्री (अनार्यी) लड़की के अर्थ में प्रयुक्त किया गया।[८] जातकों से इस प्रथा पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। इसी प्रकार मनु तथा याज्ञवल्क्य जैसे स्मृतिकारों ने भी इस प्रथा का कोई उल्लेख नहीं किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि भारत में जब से देव मन्दिरों का निर्माण प्रारम्भ हुआ, तो उनके वैभव और ऐश्वर्य को प्रभायुक्त करने के लिए लोगों ने अपने आराध्य देव के सम्मुख नृत्य करने वाली सुन्दरियों की नियुक्ति की, जो अपने आकर्षण और सुन्दर कार्यक्रम से देव मन्दिरों को गुंजायमान किये रहती थीं। मन्दिरों में रहते हुए भी ये विलासितापूर्ण जीवन व्यतीत करती थीं। समृद्धशाली होने के कारण अनेक देवदासियाँ पर्याप्त मात्रा में दान भी दिया करती थीं।[९]

यदि हम मिश्र, बेबीलोनिया, पूर्वी भूमध्य सागरीय द्वीपों साइप्रस, पर्शिया, रोम, उत्तरी अफ्रीका एवं पश्चिमी एशिया के देशों के प्राचीनकालीन धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन करें, तो वहाँ भी हमें आरम्भ से देवदासी प्रथा का

---

१ डॉ० रेखा सिंह, प्रवक्ता (तदर्थ) भारतीय प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हरिद्वार

२ सिवेल आर., हिस्टोरिकिल इंसक्रिप्सन ऑफ साउदर्न इण्डिया, पृ. १४१

३ साहू, बी.बी., देवदासी सिस्टम इन इण्डिया, इम्प्लायमेंट न्यूज वीकली, १९-२४ मई १९६३, पृ. १

४ सुब्रहमण्यम, पदम - टेम्पल एस द फोकल सेन्टर ऑफ डांस आर्ट कुसुमान्जलि (सम्पादक- एम.एस., नागतज), पृ. १४१

५ बृहत्संहिता ट ७४

६ जयचन्द्रन, ए.वी., द टेम्पल डासपूजेस गिरधर श्री (सम्पादक - ए.वी. नरसिम्हमूर्ति, के.वी. रमेश, पृ. ६६

७ ऋग्वेद ४.२८.४, ४.३२.१०

८ अथर्ववेद १२.३.१३; १२.४.६; ५.२२.६

९ देवेन्द्र कुमार गुप्ता, प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्था, पृ. ३४४-४५

प्रचलन मिलता है। मिश्र के ओसिस व इसिस के मन्दिरों में नृत्यांगनाओं के काफी ज्यादा संख्या में रहने के विवरण मिलते हैं।[१०] ग्रीस के एफ्रोडाइट मन्दिर में ही सर्वप्रथम धर्मिक पूजा हेतु लड़कियों को समर्पित करने की प्रथा स्थापित प्रतीत होती है। स्ट्रेवे के विवरण से पता चलता है कि कोरिन्थ का एफ्रोडाइट मन्दिर इतना धन सम्पन्न था कि वह एक साथ एक हजार नृत्यांगनाओं को रख सकता था, जो कि देवताओं के प्रति सर्मपित रहती थीं।[११] नसांग ने अपने यात्रा विवरण में मुल्तान के सूर्य मन्दिर में नृत्य व संगीत में लीन स्त्रियों का वर्णन किया है, जो कि संभवतः देवदासियाँ ही थीं।[१२] ये देवदासियाँ या तो मन्दिर द्वारा खरीदी जाती थीं या फिर परिवार वालों द्वारा उन्हें मन्दिर में सर्मपित किया जाता था। ऐसे भी उदाहरण प्राप्त होते हैं कि लोग अपनी मनोकामना पूर्ण होने पर श्रद्धा स्वरूप लड़कियों को खरीदकर मन्दिर में सर्मपित करते थे। भारत में भी अनेक ऐसे उदाहरण प्राप्त होते हैं। कल्हण के अनुसार जालुक राजा ने एक सौ एक स्त्रियां, जो कि नृत्य एवं संगीत में प्रवीण थीं, ज्येष्ठ रुद्र मन्दिर में देवताओं की सेवा के लिए सर्मपित किया था।[१३] चित्र लेखा के बयाना शिलालेख में भी विष्णु मन्दिर में दान की गई स्त्रियों का उल्लेख है।[१४]

मौर्यकालीन ग्रन्थ अर्थशास्त्र में सर्वप्रथम देवदासियों का विवरण मिलता है जो कि साथ में कताई का काम भी करती थीं।[१५] द्वितीय शती ईसा पूर्व में रामगढ़ पहाड़ी पर स्थित जोगीमारा गुहादलेख में सुतमुक नामक स्त्री को देवदासी कहकर सम्बोधित किया गया है।[१६] देवदासी प्रथा के विकास के बारे में स्पष्ट जानकारी गुप्तकाल से ही मिलना प्रारम्भ होती है, जबकि पुराण लिखे जा रहे थे। इसका प्रथम उल्लेख मिलता है। जिसके अनुसार मन्दिर के लिए सुन्दर-सुन्दर कन्याएं खरीदी जाती थीं।[१७] हरिवंश पुराण के अनुसार धार्मिक स्थलों पर ये देवदासियां सामूहिक नृत्य करती थीं।[१८] जब कि भविष्य पुराण के अनुसार, सूर्यलोक विजय का एकमात्र उपाय यही है कि बहुत सी वैश्याओं को सूर्य-मन्दिर में सर्मपित कर दिया जाये।[१९] कालीदास ने भी मेघदूत में उज्ञैन के महाकाल मन्दिर में अनेक देवदासियों द्वारा नृत्यगायन में व्यस्त रहने का वर्णन किया है।[२०] मेरुतुंग की प्रबन्ध चिन्तामणि के अनुसार, सोमनाथ के मन्दिर में लगभग ५०० देवदासियाँ थी, जो देवताओं की मूर्तियों के सम्मुख दिन-रात नृत्य एवं संगीत में संलग्न रहती थीं।[२१] इसी प्रकार चोल राजा राजराज ने दसवीं सदी में तंजौर में प्रसिद्ध मन्दिर बनवाया था तो मन्दिर की सेवा के लिए ४०० नृत्य करने वाली कन्याओं की भी व्यवस्था की थी।[२२] इन उदाहरणों के आधार पर, यह स्पष्ट होता है कि लड़कियां प्रायः बाल्यकाल में

---

१० मी-की: अनचेस्टिटी सेग्संड बाई रिलीजन एण्ड माइस्टिक फिचर्स, पृ. ८
११ यूली.सी.लिओनार्ड, द सुमेरियन, पृ. १०६
१२ ब्रेजामिन डब्ल्यू- हिन्दू वर्ल्ड, पृ. २४६
१३ बाजतरंगिणी, पृ. १५१
१४ इपिग्राफिका इण्डिका, जि. २२, पृ. १२४
१५ अर्थशास्त्र २.२३.२
१६ इपिग्राफिका इण्डिका- ग्ग्प् पृ. ३०-३१
१७ पद्म पुराण, सृश्टि खण्ड ५२.९७
१८ हरिवंश पुराण - ५७.४०.६८
१९ भविष्य पुराण १.९३.६७
२० मेघदूत १.३४.३५
२१ प्रबन्ध चिन्तामणि, पृ. १०८
२२ मिश्र, जयशंकर, ग्यारहवी सदी का भारत, पृ. १६०-१६१

ही मन्दिर में देवदासी हेतु समर्पित कर दी जाती थी, जबकि उनकी उम्र सात या आठ वर्ष की होती थी। इन कन्याओं को बाल्यावस्था में ही नृत्य संगीत व गायन का प्रशिक्षण दिया जाता था। दक्षिण भारत में बाल्यावस्था में ही ऐसी एक प्रतियोगिता का विवरण मिलता है, जिसमें अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ही लड़कियां नृत्य का प्रशिक्षण प्राप्त कर 'तलेको' जैसी उच्चतम पदवी धारण करती थीं।[२३] इसी प्रकार छेब्रोलू अभिलेख में उन सभी ३०० नृत्यांगनाओं को भूमि अनुदान देने का विवरण है जो कि आठ वर्ष की आयु से ही मन्दिर में देवताओं की सेवा के लिए समर्पित थीं।[२४]

देवताओं के प्रति सर्मर्पित इन देवदासियों को इनके समर्पण के उद्देश्यों के आधार पर सात भागों में बांटा गया है जो कि निम्न प्रकार है-

१. उपहार स्वरूप अपने आपको मन्दिर में समर्पित करने वाली को 'दत्त' कहा गया।

२. सेवा के बदले भुगतान लेने वाली को 'विकृत' कहा गया।

३. अपने समुदाय या परिवार के भले के लिए अपनी सेवा मन्दिर को देने वाली को 'प्रहूत' या 'भृत' कहा गया।

४. जिसने भक्ति भाव से भगवान् को अपनी सेवा दी हो उसे 'भक्त' कहा गया।

५. जो अपने व्यवसाय में परिपक्व हो व राजा द्वारा मन्दिर को समर्पित की गयी हो तथा आभूषणों से भरी हो उसे 'अलंकार' कहा गया।

६. जो प्रलोभन द्वारा मन्दिर में समर्पित हुई हो उसे 'हत' कहा गया।

७. जिसने अपनी सेवा के बदले मन्दिर से बराबर वेतन लिया हो उसे 'रुद्रगणिका' या 'गायिका' कहा गया।[२५]

सम्भवतः प्रारम्भ में इन देवदासियों का मुख्य कार्य नृत्य करना ही था। जैसा कि हुद्-अल-आलम नामक लेखक ने लिखा है कि शमियान के मन्दिर में तीस नर्तकियां थीं, जिनका मुख्य कार्य प्रतिमा के चारों ओर नृत्य करना था।[२६] गुप्तकाल से मन्दिर वास्तु के विकास के साथ-साथ देवदासियों के कार्यो में भी बढ़ोत्तरी हुई, परिणामस्वरूप देवदासियों के कार्यों का विभाजन भी प्रारम्भ हुआ। पश्चिमी चालुक्य नरेश त्रैलोक्यभल्ल सोमेश्वर प्रथम का नागेश्वर मन्दिर (धारवाड़ जिला) का सुदी लेख देवदासियों उनके द्वारा किये जाने वाले कार्यों के आधार पर छः भागों में विभाजित करता है, जो इस प्रकार है-

१. वे जो देवता को खुश करने का कार्य करती थीं।

२. वे जो नृत्यांगनाओं के प्रबन्धकों से सम्बद्ध थीं।

३. वे जो स्तंभ से दांये व बांये संलग्न रहती थीं।

४. वे जो देवताओं के दांये व बांये पंखा लिए रहती थीं।

५. वे जो नृत्य किया करती थीं।

---

२३ सुब्रह्मण्यम, अय्यर, के.वी. हिस्टोरिकल स्केचस ऑफ एशिएन्ट डेकन, भाग, पृ. ११

२४ मी-की- वही, पृ. ८

२५ चटर्जी, संतोष- देवदासी, पृ. ३२-३३

२६ प्रोसिडिंग्स ऑफ द इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, १९३९, पृ. १५७

६. वे जो सेवा विलासनी का कार्य करती थीं।[२७]

दक्षिण भारत का कोप्परम लेख देवदासियों के कार्यों को चार भागों में विभाजित करता था। क्रमशः नर्तकी का कार्य गायकी, चामरीकाया और सेवाविलासिनी कार्य आदि।[२८]

अभिलेखीय व साहित्यिक विवरणों से देवदासी प्रथा के सम्पूर्ण भारत में होने के प्रमाण मिलते हैं। बंगाल के सेन वंशीय राजा विजयसेन ने देवपारा लेख में उसके द्वारा उत्तरी बंगाल में निर्मित प्रद्युम्नेश्वर शिव मन्दिर में एक सौ सुन्दर देवदासियों के सम्बद्ध होने की बात कही गयी है।[२९] सोमवंशीय राजा उद्योत केसरी की माता के द्वारा निर्मित ब्रह्मेश्वरमन्दिर में, भुवनेश्वर के अनन्तवासुदेव के मन्दिर में तथा राजा वैद्यनाथ द्वारा निर्मित सभानेश्वर के शिव मन्दिर में देवदासियों के होने की सूचना मिलती है।[३०] कामरूप नरेश वनमालवर्मदेव के तेजपुर दानपत्र व दूबी स्थित शिव मन्दिर और नवगौंग जिले में स्थित एक शिव मन्दिर से प्राप्त अभिलेख उत्तर पूर्व में उपसम क्षेत्र के आसपास भी देवदासियों के होने के स्पष्ट संकेत देते हैं।[३१] मारवाड़ क्षेत्र के आसपास इस प्रथा के होने के संकेत, चाहमान नरेश जोजलदेव के एक अभिलेख में मिलता है, जिससे उसने अपने उत्तराधिकारियों को देवदासियों का प्रबन्ध जारी रखने की सलाह दी।[३२] गुजरात में भी इस प्रथा के होने के प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्रमाण मिलते हैं। मुहम्मद गजनी ने जब सोमनाथ के मन्दिर पर आक्रमण किया था तो उस समय वहाँ पर तीन सौ नृत्यांगनाएं सेवारत थीं।[३३] चाऊ-जु-कुऊ के अनुसार गुजरात के चार हजार मन्दिरों में बीस हजार से ज्यादा नर्तकियाँ थी जिनका मुख्य कार्य दिन में दो बार गायन करना था।[३४] ये देवदासियां केवल राजा महाराजा द्वारा निर्मित मन्दिरों में ही नहीं थीं, बल्कि साधारण जनता द्वारा निर्मित मन्दिरों में भी देवदासियां नृत्यगायन एवं देवताओं की सेवा में रत रहती थीं। ऐसा ही एक उदाहरण उत्तरप्रदेश के बदायूँ क्षेत्र में मिलता है, जहाँ ईशान शिव नामक एक संत के द्वारा बनवाये गये शिव मन्दिर में देवदासियाँ नियुक्त थीं।[३५]

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पूर्व मध्यकाल एवं मध्यकालीन भारतीय समाज में देवदासियों की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही थी। दक्षिण भारत में अपेक्षाकृत देवदासी प्रथा का प्रचलन अधिक था जिसका प्रमुख कारण राजाओं द्वारा शैव धर्म को अधिक बढ़ावा देना था, जिसके फलस्वरूप शैव मन्दिरों का अधिक संख्या में निर्माण, साथ ही साथ राजाओं की कला एवं संस्कृति में अभिरुचि थी, जिसके फलस्वरूप अनेकों अनेक मन्दिरों का निर्माण कराया गया। यहाँ देवदासियों के विना मन्दिर अधूरे भी माने जाते थे। संतोष चटर्जी के अनुसार तमिलनाडु में देवदासी प्रथा के अधिक प्रसार का प्रमुख कारण परिवार का मातृसत्तामक होना था।[३६] चिंगलपुर

२७ सिंह, ए.के. - देवदासी सिस्टम इन एंशिण्ट इण्डिया (ए स्टडी ऑफ टेपल डांसिग गर्ल्स ऑफ साउथ इण्डिया), दिल्ली, १९९०, पृ. ७५

२८ वही, पृ. ७५-७६

२९ सरकार, डी.सी., सिलेक्ट इंस्क्रिट शन्स, भाग, १९६९, दिल्ली, पृ. ११५,

३० डॉ. देवेन्द्र कुमार गुप्ता, वही, पृ. ३४६

३१ बरूआ, एस.एल- पोजिशन एण्ड स्टेटस ऑफ वुमन इन एंशिएण्ट असाम, पृ. १९०

३२ इपिग्राफिया इण्डिका ११/२६

३३ मजूमदार, आर.सी. (संपा)द स्ट्रगल फार इम्पायर- पृ. ४९५

३४ वही, पृ. ४९५-४९६

३५ एपिग्राफिया १/६१-६६

३६ चटर्जी, संतोष- वही, पृ. ३२-३३

उत्तर व दक्षिण आर्कोट, तंजाबुर, तिरुवेलवेली, तिरुचिलावल्ली, कृष्णा, गुन्टूर, धारवाड़, कोलार्क आदि क्षेत्र देवदासी प्रथा के प्रमुख केन्द्र थे। वैसे भी दक्षिण भारत के राजा देवदासियों को अपेक्षाकृत ज्यादा सम्मान व अनुदान देते थे।[३७] माना जाता है कि दक्षिण भारत में देवदासियों की संख्या इतनी बढ़ गयी थी कि वे एक अलग उपजाति के रूप में विकसित हो गयी थी, जिनकी अपनी अलग परम्परा सामाजिक नियम एवं पंचायत थी और इसके निर्णय उन्हें मान्य थे।[३८] दक्षिण भारत से ९वीं से १४वीं शताब्दी के मध्य कुल २२० अभिलेख देवदासी प्रथा पर प्रकाश डालते हैं।[३९] इन साक्ष्यों से स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत में प्रचलित ये देवदासी प्रथा १२वीं शताब्दी तक पहुंचते-पहुंचते अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच चुकी थी।

यही नहीं वंशानुगत देवदासियों के प्रमाण भी मिलते हैं। पश्चिमी गोदावरी जिले में स्थित सोमेश्वर मन्दिर में ३०० देवदासियों के वंशानुगत काम करने का वर्णन मिलता है।[४०] इसी तरह राजतरंगिणी में उल्लिखित वे दो देवदासियाँ, जो कि राजा ललितादित्य से सूरवर्धन के निकट जंगल में मिली थीं, वंशानुगत ही थीं।[४१] कभी-कभी लोग अपनी पत्नियों को जो कि नृत्य एवं संगीत में परिपक्व होती थीं, मन्दिर में देवदासी के रूप में समर्पित कर देते थे, ताकि राजा आदि उनसे विवाह कर सकें। राजतरंगिणी में अनेक उदाहरण है जिनमें राजाओं के द्वारा देवदासियों से विवाह के वर्णन हैं।[४२]

उपलब्ध स्रोतों से यह प्रमाणित होता है कि मन्दिर के बाहर भी देवदासियाँ सामाजिक जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग थीं। अनेक महत्त्वपूर्ण अवसरों पर उनकी उपस्थिति अनिवार्य सी मानी जाती थी। विवाह आदि अवसरों पर भी वे सम्मिलित होती थीं। यही नहीं, इस देवदासी प्रथा से मन्दिरों की अर्थव्यवस्था में भी सुधार हुआ, क्योंकि इन देवदासियों के गायन, नृत्य आदि से श्रद्धालु और तीर्थ यात्री मन्दिरों की ओर आकृष्ट होते थे, जिनसे मन्दिर की अर्थव्यवस्था में सुधार हुआ। ऐसे भी प्रमाण मिलते हैं कि देवदासियाँ राजा तक के पास दक्षिणा प्राप्त करने जाती थीं। वे अपने क्षेत्र की आर्थिक समस्याओं के लिए भी अपना सहयोग देने को तत्पर रहती थीं।

इन समस्त उदाहरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि मन्दिरों में देवदासियों का होना साधारण बात थी जिसे राजाओं तथा उच्चवर्गीय वर्ग के लोगों ने अपना संरक्षण एवं प्रोत्साहन देकर वृद्धि की। वास्तव में देवमन्दिरों का निर्माण धार्मिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए हुआ था, जहाँ जाकर मानव सांसारिक भौतिकवादिता से दूर हो आत्मिक शान्ति के लिए पूजा व अर्चना करता था, किन्तु ये मन्दिर अब कामोद्दीपन के प्रधान केन्द्र बन गये थे।[४३] अनेक पुरुष इन पवित्र मन्दिरों में देवदर्शन के लिए नहीं, अपितु मन्दिर में नृत्य करने वाली इन कन्याओं के पास ही विशेष रूप से आते थे।[४४] अरब यात्री अबुजैद लिखता है कि ये कन्यायें मन्दिर में नृत्य करती थीं और मन्दिर की

---

३७ सुब्रह्मण्यम्, पदम- वही, पृ. १३९
३८ सिंह, ए.के.- वही- पृ. १२
३९ वही, पृ. १२-१३
४० सिवेल, आर- वही- पृ. ४०१
४१ राजतरंगिणी- ४/३६५-७५
४२ राजतरंगिणी- ७/९२५, ८५६-८५७
४३ गुप्ता, देवेन्द्र कुमार- वही, पृ. ३४६
४४ लुनीया, बी.एन- प्राचीन भारतीय संस्कृति, पृ. ७६०

आर्थिक सहायता के लिए वैश्यावृत्ति तक अपनाती थीं। इस समय ये मन्दिर के आकर्षण का मुख्य केन्द्र थीं।[४५] असम क्षेत्र से प्राप्त परबतिया ताम्रपत्र लेख व बरगांव दानपत्र से ज्ञात होता है कि देवदासियों, जो कि अपने सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध थीं, हमेशा सुरा के नशे में डूबी रहती थीं।[४६] इनमें बढ़ती नशा तथा वैश्यावृत्ति से इन्हें सामाजिक विरोध को भी सहन करना पड़ा। जैसा कि मारवाड़ के चाहमान, नरेश जोजल्लदेव के दो अभिलेखों से स्पष्ट होता है कि उसने अपने उत्तराधिकारियों को आदेश दिया था कि वे तपस्वियों, बुजुर्ग व्यक्तियों, विद्वान् व्यक्तियों के विरोध के बावजूद देवदासियों की नियुक्ति जारी रक्खे।[४७] अलबेरूनी ने स्वयं देवदासी प्रथा के बारे में दु:ख प्रकट करते हुए कहा कि समाज में कुछ लोगों के निहित स्वार्थ एवं उनके द्वारा प्रदान प्रबल संरक्षण के कारण समाज में व्याप्त इस बुराई में प्रबुद्ध लोगों के विरोध के बावजूद भी दूर नहीं किया जा सकता।[४८] यह सही है कि इस प्रथा से राजाओं और पुजारियों को आर्थिक लाभ हुआ, किन्तु देश तथा समाज का नैतिक पतन हुआ। इस विलासी प्रवृत्तियों ने जनता व समाज की राष्ट्रीय चेतना की भावना को समाप्त कर उनकी शक्ति व आत्मा का इतना खोखला कर दिया कि वे विदेशी आक्रमणकारियों का सामना भी न कर सके और देखते ही देखते इन आक्रमणकारियों ने भारत को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। वास्तव में देखा जाये तो भारतीयों के अध:पतन के कारणों में यह भी एक प्रमुख कारण था।

---

४५ शर्मा, बी.एन.- सोशल एण्ड कल्चरल हिस्ट्री ऑफ नार्दन इण्डिया, पृ. ७४-७६

४६ परबतिया ताम्रपत्र श्लोक २४, बारगाँव दानपत्र ११/३१-३२, ४०-४३

४७ इपिग्राफिया इण्डिका, ११/२६

४८ अलबेरूनी- इण्डिका (अनुवाद सवाद) भाग २, पृ. १५७

Buddhism in Sri Lanka: An appraisal

Dr. Renu Shukla[1]

Buddhism has had a long history in India and has established itself over an enormous area and within a great variety of cultures. The spread of Buddhism to countries outside India can be dated from the third century BC onwards and it played a vital role in the religious history of the world. Ceylon holds an enviable position both as a recipient and contributor to this faith. The island, according to the Sinhalese tradition as recorded in the *Dīpavaṁsa* [1], first came into contact with northern India about the time of Buddha's parinirvāṇa [2] in course of the expedition of Vijaya, who landed in the island of *Tāmraparṇi* [3] after completing his voyage from Lāla (Midnapur) via Bharukaccha (Broach) and settled there along with the seven hundred immigrants following him and the island was then named as 'Siṁhala' after the line possessed by the family of this VijayaSinha. [4] The legends relating how Pāṇḍuvāsudeva came from India to succeed Vijaya, how he subsequently had a Sākya princess brought over from there to be his wife and how her brothers established cities in Ceylon, suggest that Siṁhalese kept up intercourse with India.

The Buddhism was introduced to Ceylon by the Thera Mahinda in the third century B.C. who led a mission to this island from Pātaliputta and Ujjenī via Malayakūṭa or Tāmraparṇi of South India[5]. This mission resulted in the conversion of royal house and people of the island to the religion of Sākyasiṃha and the formation of the powerful Sinhala Sangha. The arrival of the sacred relics, the alms bowl of the Buddha, the Buddhist texts and the bodhi tree from India[6] and the establishment of the Mahāvihāra at Anurādhapura[7] in the third century BC were important events associated with the introduction of Buddhism. It is evident from the chronicles relating to the early history of Sri Lanka that before the introduction of Buddhism there was a mixture of the aboriginal cults such as Yakṣa cults, animistic cults, ancestor worship etc.[8] and the belief of the Aryan new comers. Accounts also show a considerable influence of the religious trends of India on the society of Lanka. With unbounded royal patronage, efforts of Mahinda and popular enthusiasm Buddhism became the accepted religion of the country [9].

Mahinda's mission was quietly followed by the dispatch of an envoy from the king of Ceylon to Aśoka duly returning with a graft from the Bo-tree and the theri Sanghamittā, daughter of Aśoka, leading a mission of Buddhist sisters, which led to the foundation of Bhikkhuṇī order. Mahinda and Samghamitra laboured ceaselessly for the propagation of faith in the island. The ground for Buddhism was prepared also through the political alliance and the exchange of envoys, presents and greetings between Devānāṃpiya Tissa and Devānāṃpiya Aśoka. The memorable works executed by Devanaṃpiya Tissa are carefully enumerated in a chronological order in the twentieth chapter of the *Mahāvaṁsa* [10]. Besides the two nunneries, the most important monastic institution founded by him was the Mahāvihāra or Great Minster the seat of the Theravāda Buddhism. The task left by Devānāṃpiya Tissa was accomplished by his long line of successors. The Buddhist texts were committed to writing for the first time in the first century B.C. [11]

Inspired by Buddhism and under the able guidance of the Buddhist clergy, Ceylon developed her art, literature and other aspects of culture. It served to give an impetus to the erection all over the island of the Vihāras, pariveṇas, cetiyas, dāgobas, dānasālās, vejjasālās, as well as the representation of the Jātakas in sculptures and frescoes (lepacitta). The tradition of Buddhism was continued with unabated zeal. The councils were held during the reign of Devānāṃpiya Tissa, Duṭṭhagāmaṇi and Vaṭṭagāmaṇi for the rehearsal and fresh coronisation of Buddhavacana. The third of them is highly

---

1 Reader, Department of A.I.H.C.A. Kanya Gurukul Mahavidyalaya (II Campus Gurukul Kangri Viswavidyalaya) Dehradun, Uttarakhand, India

important as it led to the first commitment of the then known texts of pāli canon to writing .The three pitakas and their commentaries if any were all transmitted until that time by an oral tradition[12].

If the planting of the Bo-graft from Mahābodhi during the reign of Devānampiya Tissa had made the first landmark of the history of Buddhism in the island, the arrival and enshrinement of the tooth-relic during the reign of Kitti-Siri Meghavanna, the arrival and enshrinement of the Hair relic probably during the reign of Moggalāna I and the enshrinement and worship of the first book of the Abhidhamma Pitaka called *Dhammasangaṇi* during the reign of Kassapa II and Vijayabāhu I [13] went to make three later landmarks of the same.

The descendent of Tissa, called Duṭṭhagāmaṇi erected Stupas, monastries and the tower Lohapasāda [14] which underwent numerous reconstructions and modifications till the reign of Parākrambāhu I. The reign of Vaṭṭagāmaṇi Abhaya was also of great importance for the History of Sinhalese saṁgha. The Abhayagiri monastery, established by him, says the Nikāya Sangraha [15], embraced the doctrines of the vajjiputta sect and was known as Dhammaruci School in Ceylon. This monastery became the enemy of the Mahāvihāra and the dispute resulted in the Tipitaka [16] (consisting of Vinaya, Sutta, Abhidhamma and the Sinhalese commentaries), which was yet orally preserved, being committed to writing. Thus for the first time the selected reciters and scribes brought out in book form the teachings of the Buddha.

About two centuries after the formation of the Dhammaruci sect of Abhayagirivihār in the days of King Vohārika Tissa the monks of the vihāra adopted the Vaitulyavaḍa [17]. In the third century A.D. Vohārika Tissa by suppressing the Vaitulyavāḍa purified the religion [18]. Despite the suppression by Vohārika Tissa, the Vaitulyavādins began to assert themselves again and a few years later the King Goṭhābhaya ordered the Vaitulya books to be destroyed and expelled the Vaitulya monks [19].The struggle did not end here. Saṇghamitta, a Mahāyāna Buddhist monk arrived in Ceylon to undermine the Mahāvihāra Nikāya. He gained considerable influence over Mahāsena and was patronised by him after his accession [20].The new king became a great supporter of the Vaitulyans and due to his hostile attitude towards the Mahāvihār many monks belonging to this sect fled to Rohaṇá in Southern Ceylon and to the Malay hills [21]. Many buildings including the Lohapasāda of the Mahāvihāra were demolished by the ruler [22] but Meghavaṇṇa Abhaya, a minister of Mahāsena restored the Mahāvihāra [23]. The Jetavanārāma was built by king Mahāsena within the precincts of the Mahāvihāra, in spite of the protests of the latter vihāra [24] and it was dedicated to Tissa [25], a friend of the king who dwelt in the Dakkhinārāma [26]. But his chief minister, Meghavaṇṇa Abhaya, in spite of the king's opposition, disrobed Tissa [27] and restored the Mahāvihāra.

Kitti-Sri-Meghavaṇṇa, the son and successor of Mahasena made ample amends for the wrongs done by his father to the Mahāvihāra. He rebuilt the Lhapasāda and caused a golden image of Mahendra to be made and carried in a procession. But he did not neglect the Abhayagiri vihār and gave it partial custody of the celebrated Buddha's tooth relic. In his wise rule, clear foresight, breadth of vision and impartial attitude towards all we see the lost rhythm of the national life of the island fully restored. The Chinese traveller Fa-hien, who visited Ceylon in the reign of Buddhadāsa at the beginning of the fifth century A.D., states that there were five thousand monks at the Abhayagirivihāra and three thousand monks at Mahāvihāra [28].

Fifth century is remarkable for the literary activities of Buddhaghoṣa, [29] the great commentator. He came to Anurādhapura, stayed at Mahāvihāra [30] and translated the Sinhalese commentaries on the Tipitaka in to the Pāli language [31]. His works are in no way coloured by the Mahāyānists tenets which were already prevalent in India, but state in its severest form the Hinayānist creed, of which he is the most authoritative exponent [32].

The Vajiriyavāda was introduced to Ceylon, in the reign of king Sena I [33], by a monk of the Vajraparvata Nikāya. The Vajiriyavādins [34] seems to be identical with the Vajrayānists, a school of Buddhism which flourished in eastern India about this time and which was an exponent of the worst

phases of Tantrism. The *Nikāyasangraha* mentions that about this time the Ratnakūta Sūtra [35] was introduced to Sri Lanka [36]. The Nīlapata-darśana sect [37], which was also introduced in Ceylon about this time [38], was also an extreme form of Tantrism. The political situation in Sri Lanka from about the middle of the fifth century A.D. until the third quarter of the eleventh century A.D. was not favourable towards the progress of Buddhism. This period of Sri Lankan history is marked with continuous warfare between the reigning king and his rival claimants or the foreign invaders. Amidst this political unrest and the resultant religious decline several events important in the history of Buddhism. in Sri Lanka. occurred. In the region of Moggallāna I (478-496AD) the sacred Hair relic of Buddha was brought to Sri Lanka from India. The king placed it in a crystal casket in an image house and held a great festival. The writing of Mahāvaṁsa [39] by a Mahāvihāra monk is ascribed to the reign of his successor Kumāra Dhātussena (512-520). In the reign of Silākāla (522-535). the Mahāyāna book. the Dharmadhātu, was brought to Sri Lanka and in the reign of Aggābodhi I (575-608) the monk Jotipāl defeats Vaitulvādins in a public controversy[40] Apart from these special events several rulers purified the sāsana and repaired the old and neglected monasteries. They also encouraged the recital of Dhamma.

Vijayabāhu I. who became the king. after defeating the cholas. turned his mind to the noble task of repairing the damage that had been inflicted upon the national religion by invaders. His successor Parākrambāhu performed the most important task of purification and the unification of the Saṁgha. He was lavish in building monasteries. temples and libraries. Qualified theras were bought from Burma to make up the deficiency. The king. in order to secure unity among the quarrelling monasteries. summoned a synod at Anurādhapura. The Mahāvihāra was recognised as the standard of orthodoxy.

After Parākramabāhu. the Tamils again occupied many districts and were seldom dislodged. Buddhism tended to decline but was always honoured as the state religion. Buddhism met a further set back occasioned by the Portuguese sovereignty in the sixteenth century A.D. when they wanted to propagate Roman Catholicism. states the Mahāvaṁsa. The Dutch also tried to enforce Christianity and to prohibit Buddhism within their territory. but hatred of the Roman Catholic Church made them favourable to Buddhism. This tendency continued till the possessions were taken by the British in the eighteenth century. But after the independence of the island effective steps are being taken for the restoration and promotion of the national religion and culture.

In the process of origin and growth of Buddhism in Sri Lanka. it is a matter of considerable importance that instead of being merely a passive recipient and a zealous custodian of the priceless treasure brought over from India the enlightened rulers and erudite theras as well as the main people of Ceylon combined to actively react upon it and enriched it with new additions by way of intelligent interpretations of its contents and elaborations of the system of thought. producing distinctive forms and styles of Buddhist art and architecture and helping forward in various way the cause of expansion and better appreciation of Buddhism beyond its confines.

NOTES AND REFERENCES

1. The *Dīpavaṁsa*. composed in Pāli metrical verses. is the earliest literary record giving a continuous history of the kings of Sri Lanka from pre-Buddhist times up to the end of the reign of king Mahāsena. It is not a compilation of one Indian author but is the outcome of several previous works to which additions have been made from time to time. taking its present form about the fourth century A.D. The Chronicle does not name any author but it has been held by some scholars. from the abundant material it contains about nuns. that the *Dīpavaṁsa* is a work compiled and continued by nuns from time to time.
2. According to the tradition current in Sri Lanka. the date of the Buddha's Parinibbāna is 543 BC. but most modern historian tend to place it at 486 BC. which has here been adopted.

3. The island of Çeylon called Tāmravarṇa or Tāmraparṇa was counted among the eight upadvīpas or adjoining minor islands of Bhāratvarsa the remaining seven being Indradvīpa, Kaśeru, Gabhastimat, Sāgara, Sauma, Gandharva and Varuṇa: *Mārkandeya Purāṇa*, 1 vii 2-3 *Vishṇu purāṇa*, iii
4. Singh, S.K., *History and Philosophy of Buddhism*, based mainly on Pāli Canonical and Exegetical literature, Patna , 1982, P.298-99
5. Beal, Buddhist Records, ii PP. 231, 246 associating Mahendra's mission with Malayaputa, the country in south India below Dravidian as well as with Siṁhala. There can be little doubt that Hwen Thsang's Malayakūṭṭa with Mt. po-to-la-ka (vaidūryaka) is the same country as Tāmraparṇi of the Mahābhārata
6. *Dipavaṁsa*, ch. XVII: v.21 *Mahāvaṁsa*, ch. XIX, vv.29-30; *Pāpañcasudāni Majjhimanikāya attakathā*, p.1
7. Ibid.ch.XV.vv.24-25; Rahul. Walpol, *History of Buddhism in Ceylon*, Colombo, 1956, p.52
8. Ibid. p.34
9. The arrival of Buddhist monks from different countries to attend the foundation- laying ceremony of the Mahāthūpa during the reign of DuṭṭaGāmṇī (101-77 B.C.) indicates that Ceylon was fast becoming a popular centre of Buddhism. see *Mahāvaṁsa*, ch.XXIX,v.29
10. Ibid. ch. XV, v. 173
11. Ibid. ch. XXXIII, v.101
12. Ibid. ch. XXX, v.100
13. The barefooted standing on the front face of the boulder at the entrance to the Pothagalavihāra may be identified better with Vijayabāhu I holding reverentially in his hands a palm leaf MS. of *Dhammasangaṇi*.
14. Ibid. ch. XXVII, vv.3,4,20
15. A Sinhalese work of the fourteenth century dealing with history of the Buddhist Order.
16. the version of scripture was not universally accepted
17. the term Vāitulyavāda is used to refer the Māhayāna, Gunawardana, R.A.L.H., *Buddhist Nikāya in Medieval Ceylon, Ceylon Journal of Historical and Social Studies*, vol.9, no. 1 January-June 1966, p.55 fn.
18. *Mahāvaṁsa*, ch, XXXVI, v.41
19. Ibid, ch, XXXVI, vv.111-112
20. Ibid, ch, XXXVI, vv. 112-113
21. Ibid, ch, XXXVII, v. 6
22. Ibid, ch, XXXVII, v. 11
23. Ibid, ch, XXXVII, v. 29
24. Ibid, ch, XXXVII, v. 33
25. Ibid, ch, XXXVII, v. 38
26. Ibid, ch, XXXVI, v. 32
27. Ibid, ch, XXXVI, v. 39
28. Beal Samual, *Si-Yu-Ki, Buddhist Records of the Western world*, translation from the Chinese of Hiun Tsiang (AD 629), London, 1911,pp. LXXIII & LXXVI
29. an Indian according to the *Mahāvaṁsa* and a Thaton according to Burmese tradition. On the advice of his teacher Revata he came over the island in the reign of Mahānāma (409-443), with a view to translating the Sinhalese commentaries into Māgadhi.
30. *Cullavaṁsa*, ch. XXXVIII, vv.231-232
31. Ibid, ch. XXXVII, v.244
32. although there is no evidence that Buddhaghośa or anyone else enlarged or curtailed the canon and allowed himself any distinction of selection in dealing with the sacred text accepted by the

Mahāvihāra but we hear of a convocation about three Pitakas soon after the departure of Buddhaghośa during the reign of Moggāln and his son Kumār Dhātusena. This implies that there was still some doubt as to what the scripture was. see *Cullavaṁsa*. ch. XXXIX. v.49: ch. XLI. vv.1-2

33. *Nikāyasaṅgraha* (eng. trans.) p.28
34. '*The capital of Ceylon during ninth, tenth centuries*' Ceylon Journal of Science. Section G- Archaeology. Ethnology. etc. II. Colombo. 1930. p.39
35. The Ratnacūta Sutra is the second of the seven classes into which the Mahāyāna Sutras of the Chinese Canon are subdivided see '*The capital of Ceylon during ninth, tenth centuries*' Ceylon Journal of Science. Section G- Archaeology. Ethnology. etc. II. Colombo. 1930. p.39
36. *Nikāyasaṅgraha*. by C.M. Fernado. Colombo. 1908. p.18
37. The followers of this sect wore blue robes and preached indulgence in wine and love.
38. *Nikāyasaṅgraha*. p.18
39. *Mahāvaṁsa* was compiled by a thera Mahānāma. either in the late fifth century or the early sixth century A.D.. with DuṭṭaGāmṇī as its hero. It has been continued later times at three stages. giving a connected history of the island up to modern times. This continuation of the chronicle in three parts is called the Cullavaṁsa.
40. *Cullavaṁsa*. ch. XLII. v. 35

विद्वत्परिचयः

१.	प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री	प्रोफेसर, श्रद्धानन्द वैदिक शोधसंस्थान, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
२.	प्रो. शशि तिवारी	मैत्रेयी कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली. आवास-५४ साक्षर अपार्टमेंट्स ३ पश्चिम विहार नई दिल्ली ११००६३ दूरभाष:- (०११)-२५२६५२३७, ०९८१०६९०३२२
३.	डॉ० जया तिवारी	एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल।
४.	डॉ. कृष्णा रंगा	(रीडर) संस्कृत-विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र
५.	डॉ० रूप किशोर शास्त्री	अध्यक्षचरः-वेदविभाग, गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-२४९४०४ (उत्तराखण्ड)
६.	डॉ. लखवीर सिंह	एसोशियेट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, गवर्नमेण्ट गर्ल्स कॉलेज, सेक्टर-४२, चण्डीगढ़.
	डॉ. शगनदीप कौर	असिस्टेंट प्रोफेसर, जन्तुविज्ञान, डी.ए.वी. कालेज, सेक्टर १०, चण्डीगढ़ १६००१०
७.	डॉ० नरेश कुमार	प्रोजेक्ट फेलो, वेदविभाग, गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार।
८.	डॉ. अनीता जैन	असिस्टेंट प्रोफेसर- संस्कृत वनस्थली विद्यापीठ
९.	डॉ. अपर्णा धीर	म.नं०१, रोड २२, पंजाबी बाग एक्सटेंशन, नई दिल्ली ११००२६ मो० ०९९९०४३३३४०
१०.	डॉ० देवेन्द्र कुमार गुप्ता	एसोसियेट प्रोफेसर, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, उत्तराखण्ड
११.	डॉ.मोहर सिंह मीणा	असिस्टेंट प्रोफेसर संस्कृत-विभाग, गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार।
	डॉ० गोपाल लाल मीणा	असिस्टेण्ट प्रोफेसर, आयुर्वेद संहिता, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
१२.	डॉ० नीलम त्रिवेदी	एसोसियेट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, दयानन्द गर्ल्स पी०जी० कालेज, कानपुर address- 4D/3 West Campus, H.B.T.I. Kanpur-208002.
१३.	कु० निधि शर्मा	शोध छात्रा, नृत्य एवं संगीत विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र
१४.	डॉ. विजयलक्ष्मी	प्रवक्त्री संस्कृत-विभाग, एस. डी. कॉलेज, मुजफ्फरनगर
१५.	डॉ० उमा जैन	रीडर संस्कृत-विभाग, मु०ला० एण्ड जयना०खे० गर्ल्स कॉलिज, सहारनपुर।
१६.	डॉ० योगेश शास्त्री	प्राध्यापक (संस्कृत) विद्यालय-विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
१७.	डॉ० सत्यदेव निगमालङ्कार	अध्यक्ष-श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराखण्ड)

१८.	डॉ० दिनेशचद्र शास्त्री	रीडर, वेदविभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराखण्ड)
१९.	डॉ. अरुणिमा रानी	प्रवक्त्री संस्कृत-विभागे, एस. डी. महाविद्यालयः मुजफ्फरनगरम्
२०.	डॉ० सुनीता जायसवाल	विभागाध्यक्षा-संस्कृत, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय चकिया, चन्दौली उ.प्र. २३२१०३
२१.	डॉ० ब्रह्मदेव	उपाचार्य, गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
२२.	साहिब सिंह	शोध छात्र, संस्कृत, पालि एवं प्राकृत विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र।
२३.	डॉ० मृदुल जोशी	असिस्टेंट प्रोफेसर, कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हरिद्वार
२४.	डॉ. देवीसिंह	संस्कृत, पालि एवं प्राकृत विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र
२५.	प्रो० मनुदेव बन्धु	अध्यक्ष वेद विभाग, अधिष्ठाता प्राच्य विद्या संकाय, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
२६.	डॉ० पुष्पा मलिक	रीडर एवं अध्यक्ष (संस्कृत) भ०आर्य कन्या स्ना० महाविद्यालय, लखीमपुर-खीरी।
२७.	डॉ० सन्ध्या कुमारी	वरिष्ठ प्रवक्ता संस्कृत विभाग, पी०सी० बागला (पी०जी०) कॉलेज, हाथरस। मो० नं० :- ९४११९८०१७९
२८.	डॉ० कमलेश शर्मा	एसोशियेट प्रोफेसर, संस्कृत-विभाग, हिन्दू कालेज, मुरादाबाद (उ.प्र.)
२९.	डॉ० सोहनपाल सिंह आर्य	एसो० प्रोफेसर, दर्शन शास्त्र विभाग, गु० का० वि०वि० हरिद्वार, मो०न०.०९८९७२४१६६३ ईमेल : sohanpalarya@yahoo.com
३०.	डॉ० तुलसी देवी	डॉ० तुलसी देवी-रीडर-संस्कृत विभाग-महात्मा गाँधी बालिका (पी०जी०) कॉलेज, फिरोजाबाद (उ०प्र०)
३१.	डॉ. राकेश शास्त्री	अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बांसवाडा (राज.)३२७००१
३२.	डॉ० रेखा सिंह	प्रवक्ता (तदर्थ) भारतीय प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हरिद्वार
३३.	Dr. Renu Shukla	Reader. Department of A.I.H.C.A. Kanya Gurukul Mahavidyalaya (II Campus Gurukul Kangri Viswavidyalaya) Dehradun. Uttarakhand. India

शोधलेख विषयक दिशानिर्देश

- गुरुकुल-शोध-भारती गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय की षाण्मासिक शोध-पत्रिका है। यह प्रमुख रूप से वेद, वैदिक एवं लौकिक साहित्य, धर्म, दर्शन, संस्कृति, योग, आयुर्वेद तथा अन्य प्राच्यविद्या से सम्बन्धित शोधपरक आलेखों को प्रकाशित करने के लिये कृतसङ्कल्प है।
- गुरुकुल-शोध-भारती में शोधनिबन्ध मूल्याङ्कन कराने के पश्चात् प्रकाशित किये जाते हैं। अतः विद्वान् लेखकों से अनुरोध है कि वे वही निबन्ध इस पत्रिका के लिये प्रस्तुत करें, जो सब प्रकार से शोध की कसौटी पर खरे हों।
- शोध-निबन्ध मौलिक होना चाहिये। किसी अन्य विद्वान् की पुस्तक अथवा निबन्ध की नकल करके निबन्ध भेजना बौद्धिक अपराध तथा अपनी प्रतिभा का हनन है।
- गुरुकुल-शोध-भारती में केवल शोध-निबन्ध ही प्रकाश किये जायेंगे। जिनमें शोध-प्रविधि का प्रयोग नहीं किया गया है, ऐसे लेखों को प्रकाशित करना सम्भव नहीं होगा।
- किसी अन्य पत्रिका में पूर्व प्रकाशित निबन्ध को पुनः प्रकाशित करने के लिये कृपया न भेजें।
- शोध-निबन्ध में लेखक का निष्कर्ष सुसङ्गत, प्रामाणिक एवं तथ्यों पर आधारित तथा परम्परा से पोषित होना चाहिये। **साथ ही उसमें अपने कथन या निष्कर्ष को पुष्ट करने के लिये न्यूनतम १५ से अधिक प्रमाण देने चाहिये।**
- अन्धविश्वास को बढ़ावा देने वाले निबन्धों को प्रकाशित करना सम्भव नहीं हो सकेगा, अतः अन्धविश्वास का समर्थन करने वाले निबन्ध कृपया न भेजें।
- गुरुकुल-शोध-भारती में प्रकाशन हेतु शोधनिबन्ध की मूलप्रति प्रेषित करें, **फोटो स्टेट प्रति** स्वीकार्य नहीं होगी। साथ ही **हस्तलिखित लेख** भी स्वीकार नहीं होंगे। अतः विद्वानों से अनुरोध है कि टंकण के उपरान्त शोधन करके लेख प्रेषित करें, जिससे लेख शुद्धतम रूप में प्रकाशित किया जा सके।
- अधिक उचित होगा कि आप अपना निबन्ध **माइक्रोसोफ्ट वर्ड** डाक्यूमेंट में टाइप करायें और फुटनोट **ALT+CTRL+F** के माध्यम से डालें। इस प्रकार फुटनोट डालने में त्रुटि की सम्भावना नहीं रहती है। यदि उक्त उपाय अपनाना संभव न हो तो **फुटनोट निबन्ध के अन्त में दें**, जिससे उनको यथास्थान प्रस्तुत किया जा सके।
- टंकण कराते समय यह ध्यान रखना अपेक्षित है कि निबन्ध **'कृतिदेव ०१०'** अथवा **वॉकमैन चाणक्य** के साइज १४ में टाइप कराया जाए। टंकण के उपरान्त, शोधन करके सी.डी. अथवा ईमेल से प्रेषित करें।
- विद्वान् ईमेल से भी अपने निबन्ध प्रेषित कर सकते हैं। ईमेल का पता है- **gyanprakashshastri@gmail.com or gyanprakashshastri@live.com**
- सी.डी. अथवा ईमेल के साथ-साथ लेखक को अपने शोधलेख की हार्ड कॉपी प्रेषित करना भी आवश्यक है, जिससे मूल्यांकन के लिये शोधलेख प्रेषित किया जा सके।

शोधलेख विषयक दिशानिर्देश

ध-भारती गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय की षाण्मासिक शोध-पत्रिका है। यह प्रमुख रूप से वेद, लौकिक साहित्य, धर्म, दर्शन, संस्कृति, योग, आयुर्वेद तथा अन्य प्राच्यविद्या से सम्बन्धित शोधपरक प्रकाशित करने के लिये कृतसङ्कल्प है।

ध-भारती में शोधनिबन्ध मूल्याङ्कन कराने के पश्चात् प्रकाशित किये जाते हैं। अतः विद्वान् लेखकों से वे वही निबन्ध इस पत्रिका के लिये प्रस्तुत करें, जो सब प्रकार से शोध की कसौटी पर खरे हों।

मौलिक होना चाहिये। किसी अन्य विद्वान् की पुस्तक अथवा निबन्ध की नकल करके निबन्ध भेजना ाध तथा अपनी प्रतिभा का हनन है।

ा-भारती में केवल शोध-निबन्ध ही प्रकाश किये जायेंगे। जिनमें शोध-प्रविधि का प्रयोग नहीं किया खों को प्रकाशित करना सम्भव नहीं होगा।

त्रिका में पूर्व प्रकाशित निबन्ध को पुनः प्रकाशित करने के लिये कृपया न भेजें।

में लेखक का निष्कर्ष सुसङ्गत, प्रमाणिक एवं तथ्यों पर आधारित तथा परम्परा से पोषित होना **ही उसमें अपने कथन या निष्कर्ष को पुष्ट करने के लिये न्यूनतम १५ से अधिक प्रमाण देने चाहिये।**

को बढ़ावा देने वाले निबन्धों को प्रकाशित करना सम्भव नहीं हो सकेगा, अतः अन्धविश्वास का वाले निबन्ध कृपया न भेजें।

ध-भारती में प्रकाशन हेतु शोधनिबन्ध की मूलप्रति प्रेषित करें, **फोटो स्टेट प्रति** स्वीकार्य नहीं होगी। **लिखित लेख** भी स्वीकार नहीं होंगे। अतः विद्वानों से अनुरोध है कि टंकण के उपरान्त शोधन करके करें, जिससे लेख शुद्धतम रूप में प्रकाशित किया जा सके।

त होगा कि आप अपना निबन्ध **माइक्रोसोफ्ट वर्ड** डाक्यूमेंट में टाइप करायें और फुटनोट +F के माध्यम से डालें। इस प्रकार फुटनोट डालने में त्रुटि की सम्भावना नहीं रहती है। यदि उक्त ना संभव न हो तो **फुटनोट निबन्ध के अन्त में दें**, जिससे उनको यथास्थान प्रस्तुत किया जा सके।

समय यह ध्यान रखना अपेक्षित है कि निबन्ध **'कृतिदेव ०१०'** अथवा **वॉकमैन चाणक्य** के साइज कराया जाए। टंकण के उपरान्त, शोधन करके सी.डी. अथवा ईमेल से प्रेषित करें।

से भी अपने निबन्ध प्रेषित कर सकते हैं। ईमेल का पता है- **gyanprakashshastri@gmail.com** **kashshastri@live.com**

ा ईमेल के साथ-साथ लेखक को अपने शोधलेख की हार्ड कॉपी प्रेषित करना भी आवश्यक है, कन के लिये शोधलेख प्रेषित किया जा सके।

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

श्री स्वामी श्रद्धानन्द अनुसंधान प्रकाशन केन्द्र के प्रकाशन

क्र.सं.	पुस्तक का नाम	कीमत रु.
1.	स्वामी श्रद्धानन्द	500 रु.
2.	वेद का राष्ट्रिय गीत	200 रु.
3.	श्रुतिपर्णा	95 रु.
4.	वैदिक साहित्य संस्कृति एवं समाज दर्शन	500 रु.
5.	वेद और उसकी वैज्ञानिकता	300 रु.
6.	शोध सारावली	220 रु.
7.	भारतवर्ष का इतिहास (दो खंडों में)	350 रु. प्रति खंड
8.	क्लासिकल राइटिंग ऑन वैदिक एण्ड संस्कृत लिट्रेचर	80 रु.
9.	दीक्षालोक	500 रु.
10.	स्वामी श्रद्धानन्द के सम्पादकीय लेख	500 रु.
11.	स्वामी श्रद्धानन्द की सम्पादकीय टिप्पणियां	450 रु.
12.	कुलपुत्र सुनें	300 रु.
13.	ग्लिम्प्स आफ इनवायरमेन्टल परसेप्ट्स ऑफ वैदिक लिट्रेचर	50 रु.
14.	स्वामी श्रद्धानन्द समग्र मूल्यांकन	300 रु.
15.	पं0 इन्द्रविद्यावाचस्पति कृतित्व के आयाम	300 रु.
16.	बातें मुलाकातें	125 रु.
17.	वेदों की वर्णन शैलियां	50 रु.
18.	हिन्दी काव्य को आर्यसमाज की देन	400 रु.
19.	श्रुति विचार सप्तक	500 रु.
20.	स्तूप निर्माण कला	55 रु.
21.	ईशोपनिषद्भाष्य	40 रु.
22.	इन्द्रविद्यावाचस्पति	40 रु.
23.	भारतवर्ष का इतिहास (तृतीय खंड)	55 रु.
24.	अग्निहोत्र	25 रु.
25.	वेद विमर्श	25 रु.
26.	आधुनिक भारत में वक्तृत्व कला की प्रगति	25 रु.
27.	आहार	35 रु.
28.	वैदिक वन्दना गीत	25 रु.
29.	ऋषिदेव विवेचन	25 रु.
30.	विष्णु देवता	25 रु.
31.	सोम	20 रु.
32.	ऋषि दयानन्द का पत्र व्यवहार	25 रु.
33.	अध्यात्म रोगों की चिकित्सा	40 रु.
34.	गुरुकुल की आहुति	12 रु.
35.	ब्राह्मण की गौ	25 रु.
36.	ऋषि-रहस्य	25 रु.
37.	धर्मोपदेश (भाग प्रथम और द्वितीय)	25 रु. प्रति खंड
38.	वैदिक कर्तव्य शास्त्र	40 रु.
39.	मेरा धर्म	500 रु.
40.	गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय कलेण्डर भाग-1	250 रु.

विश्वविद्यालय से प्रकाशित होने वाली पत्रिकाओं का विवरण

1.	गुरुकुल पत्रिका	वार्षिक मूल्य 100 रु.
2.	वैदिक पॉथ	वार्षिक मूल्य 100 रु.
3.	प्राकृतिक एवं भौतिकीय शोध विज्ञान पत्रिका	वार्षिक मूल्य 500 रु.
4.	आर्य भट्ट	वार्षिक मूल्य 100 रु.
5.	गुरुकुल बिजनेस रिव्यू (GBR)	वार्षिक मूल्य 100 रु.

नोट :- ये सभी पुस्तकें कुलसचिव, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के नाम ड्राफ्ट भेजकर निम्न पते से प्राप्त की जा सकती हैं। क्रमांक १ से १२ एवं क्रमांक १८ तथा १९ पर ५० प्रतिशत तथा अन्य सभी पुस्तकों पर ३० प्रतिशत की छूट देय है।

पुस्तकें मंगाने का पता :- पुस्तकालयाध्यक्ष/व्यवसाय प्रबन्धक, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-२४९४०४ (उत्तराखण्ड)

मुद्रक : किरण ऑफसैट प्रिंटिंग प्रेस, कनखल, हरिद्वार फोन : 01334-245975, 9837007222